प्रकाशक—

पन्नालाल जैन बाकलीवाल महामंत्री—

गांधी हरिभाई देवकरण एंड संस संरक्षित

भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था

८ महेंद्रबोसलेन श्यामबाजार

कलकत्ता।

मुद्रक—

श्रीलाल जैन,

जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र प्रेस

८ महेंद्रबोसलेन श्यामबाजार

कलकत्ता।



सनातनजैनग्रंथमाला।

१७

आचार्यवर्य-श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचित

तत्त्वार्थसार।

टीका-सहित।

मंगल।

जयत्यशेषतत्त्वार्थप्रकाशि-प्रथितश्रियः।
मोहध्वान्तौघनिर्भेदि-ज्ञानज्योतिर्जिनेशिनः ॥ १ ॥

अर्थ—जिन भगवानकी महिमा समस्त सत्य तत्त्वोंके प्रकाशित करनेसे विख्यात हो चुकी है व सघन मोहान्धकारको जिनकी ज्ञान ज्योतिने नष्ट किया है वे जिन भगवान-उनकी ज्ञानरूप ज्योति जगको सदा मंगलरूप हो।

उपोद्घात।

अथ तत्त्वार्थसारोयं मोक्षमार्गैकदीपकः। मुमुक्षूणां हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥ २ ॥

---

१ जयत्यशेष-ऐसा भी पाठ है। एवं तीसरे चौथे चरणको समासयुक्त एक पद माननेपर प्रथमा बहुवचनका भी यह पद होसकेगा। परंतु उस समय जयन्त्यशेष इत्यादि पाठ मानकर जय क्रियाका उसे कर्ता कहना पड़ेगा। 'प्रकाशप्रथितश्रियः' ऐसा भी दूसरा चरण संभव है। पर उपर्युक्तकी शब्दसिद्धि इससे अच्छी है। जहांतक अभिन्नरूपसे शब्दबोध होसके वहांतक भेदकी रीतिको गौरवयुक्त सदोष माना जाता है। ऊपरके पाठमें

अर्थ—अब हम यहँ 'तत्त्वार्थसार' नाम ग्रंथ रचते हैं। इसमें तत्त्वार्थग्रंथका सारांश कहेंगे और अत एव, यह एक मोक्षमार्ग प्रकाशित करनेकेलिये अनुपम दीपक समझना चाहिये। इससे लाभ यह होगा कि संसारके दुःखोंसे मुक्ति चाहनेवाले भव्य जीव इस ग्रंथके अध्ययनसे अभीष्टसिद्धि प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि, दुःखमोचनका ही उपाय इसमें विशदरूपसे कहा जायगा।

विषयारंभ।

स्यात् सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रत्रितयात्मकः। मार्गो मोक्षस्य भव्यानां युक्त्यागमसुनिश्चितः ॥३॥

अर्थ—यह बात आगम तथा न्याय-युक्तियोंसे ठहर चुकी है कि संसारदुःखोंसे छूटनेकेलिये भव्य प्राणियोंको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इन तीनोंका परिपूर्ण स्वरूप प्राप्त करना चाहिये। इन्हीं तीनोंकी परिपूर्णता उनको मुक्त होनेमें सहायक होसकती है। कितने ही विद्वानोंने अपनी कल्पनासे मोक्षोपाय दूसरी दूसरी तरहसे भी बताये हैं, परंतु उन सर्व प्रकारोंमें न्याय-युक्तियोंसे दोष आते हैं। यदि कोई निर्दोष उपाय है तो एकमात्र ऊपरके श्लोकमें कहा हुआ ही है। इस बातकी परीक्षार्थ, ग्रंथकार आगे स्वयं इन तीनों कारणोंका विशद स्वरूप क्रमसे कहनेवाले हैं और यह भी अभी हालमें दिखानेवाले हैं कि परीक्षाका साधन क्या है।

यह बात आगे बंधप्रकरणके प्रारंभमें हम अधिक खुलासा लिखेंगे। परंतु दर्शन-ज्ञान-चारित्रको इतना अभी समझ लेना चाहिये कि ये तीनों आत्माके अविनाभावी[3] गुण हैं। श्रद्धान जब प्रगट होता है तभी ज्ञानकी मलिनता हटकर ज्ञान शुद्ध होजाता है और आत्माकी वीतरागता बढ़ानेवाला चारित्र भी प्रगट होजाता है। चारित्र यह आत्मस्वरूपके अनुभव करानेमें लगता है। अर्थात्, अनुभव करनेमें प्रवृत्ति होनेका नाम ही चारित्र है। उस प्रवृत्तिका आत्मामें लगना और विषयोंसे हटना यह दो प्रकारका स्वरूप है। जो प्रवृत्ति होगी वह चेतनाके उपयोग करनेमें ही

अभिन्न सवन्ध होता है। इसीलिये वह पाठ अधिक अच्छा है। इसके कर्ता श्री अमृतचंद्र सूरी हैं, जिनका कि अध्यात्मके व्याख्याताओंमें बहुत ऊंचा पद है। १ मनोगत। २ इस श्लोकमें सम्यगादि प्रथम वक्तव्य सब कुछ कह दिया है।

३ रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि। तम्हा तत्तियमइयो तहुब्भीय सदा होइ ॥ (द्रव्यसंग्रह)। ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः। तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥ (आत्मानुशासन)।

होगी। इसलिये सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र ये तीनों शुद्ध आत्माके ही रूप या नाम हैं; दूसरी कोई चीज नहीं हैं। इसका ठीक पता आत्माका अनुभव करनेसे लगेगा।

दर्शनादिकोंके लक्षण।

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्ज्ञानं स्यादवबोधनम्। उपेक्षणं तु चारित्रं तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम्॥ ४॥

अर्थ—सत्य तत्त्वोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। सत्य तत्त्वोंके ठीक समझलेनेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उन्ही सत्य तत्त्वोंमेंसे रागद्वेष छूट जानेको सम्यक चारित्र कहा है। यही वास्तविक मोक्षमार्ग है। इन तीनोंमेंसे जबतक एक-की भी कमी रहती है तबतक मोक्षका मिलना कठिन है। देखो—

संसार, मानों एक नीरोग अवस्थासे उलटी रोग-अवस्था है। रोगका उपाय-औषधिका जानलेना अथवा यद्वा तद्वा खालेना, अथवा औषधिको औषधि समझकर विश्वास करके बैठना—इतनेसे रोग हट नहीं सकता। सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो मालूम पड़ेगा कि रोग दूर करनेमें अथवा अन्य किसी भी कार्यके संपादनमें ऊपरके तीनों प्रकार अत्यावश्यक हैं। बस, इसीलिये मुक्त होनेमें भी मुक्त्युपायका श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र ये तीनों ही उपयोगी समझने चाहिये।

केवल उपायका समझलेना अथवा श्रद्धा करके बैठ रहना, इसको तो प्राय कोई भी कार्यकारी नहीं मानेगा। कार्यकी सिद्धि ज्ञान तथा विश्वासके अधीन नहीं है, किंतु क्रियाके अधीन है। क्रियाका नाम ही चारित्र है। इसलिये कार्यसिद्धिमें चारित्रकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। रही यह बात कि, केवल चारित्रसे ही कार्यकी सिद्धि क्यों न मानी जाय? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानके विना चारित्रका यथोचित विनियोग होना असंभव है और श्रद्धानके विना चारित्रका टिकना तथा सुदृढ होना असंभव है। इसीलिये तीनोंको ही कार्यके साधक मानना उचित है। यदि साक्षात् कार्य साधनेकी तर्फ विचार करना हो तो केवल चारित्रको भी कार्यकारी मानना उचित ही है। मोक्षप्राप्तिके विषयमें भी यही बात है। वहां चारित्रसे ही कर्मबंधन व कर्मकलंकका नाश होना माना गया है। जो 'ज्ञानादेव मोक्षः' ऐसा कहते हैं उनका भी तात्पर्य चारित्रके निषेधमें नहीं होना चाहिये। जैसे कि जैन सिद्धांतमें भी सम्यग्ज्ञानको हित-प्राप्ति व अहित-परिहार करनेवाला माना है। परंतु ज्ञानसे हितकी प्राप्ति तथा अहितपरिहार होनेका अर्थ यही उचित

१ अयमेव मोक्षमार्गः सुनिश्चित इत्यर्थे पुंसा निर्देशः संभवेत्। २ ज्ञानसे मोक्ष कहना वैशेषिक न्यायका मत है।

है कि वह हितप्राप्तिका तथा अहितपरिहारका यथोचित दर्शक है। जो लोग ज्ञानसे हितप्राप्ति होनेका अर्थ यह मान रहे हों कि वह हितको उत्पन्न करदेता है, तो भूल है। किसीको मिलाना या हटाना, यह काम क्रियाका है न कि, ज्ञानका।

मोक्ष प्राप्त करनेमें जिस प्रकार ज्ञानचारित्रकी बड़ी आवश्यकता है उसी प्रकार अथवा उससे भी कहीं बढ़कर सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है। सम्यग्दर्शनका रूढी अर्थ जैन सिद्धांतमें श्रद्धान अथवा विश्वास किया है। जिसको वास्तविक मार्गका ज्ञान होनेपर भी श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता वह उस ज्ञानका फल कभी उठा नहीं सकता है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानका होना श्रद्धान विना नहीं है; और इसीलिये सम्यग्दर्शन न गिनाया जाय तो भी कुछ हानि नहीं है; परंतु लौकिक व्यवहारकी तर्फ देखते हैं तो संशयादिरहित ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। फिर वह ज्ञान श्रद्धारहित हो अथवा सहित। किंतु श्रद्धारहित ज्ञानसे पूर्ण कार्यसिद्धि होना संभव नहीं है। इसीलिये ज्ञानकी पूर्णता व वास्तविकता प्रगट करनेकेलिये सिद्धांतवेत्ता आचार्योंने श्रद्धानको भी एक तीसरा मोक्षकारण बताया है।

और भी यदि हम निश्चयकी तर्फ झुकें तो मोक्षके कारणोंमें तीन या दो भेद भी नहीं रहते हैं। जीवका शुद्ध स्वरूप ज्ञान है। अथवा जीव शुद्ध ज्ञान-मय है। उस ज्ञानमें जितनी मलिनता वास करती हो वही और उतना ही संसार है और वह मलिनता नष्ट हो जानेका नाम मोक्ष है। ज्ञानकी सत्ता रहनेके सिवा चारित्रका दूसरा अर्थ नहीं है। और भी जो वीर्यादिक गुण कहे जाते हैं वे सर्व ज्ञानके ही रूपांतर हैं; अथवा ज्ञानकी सत्ताके अधीन उनकी सत्ता है। ज्ञान ही एक जीवका ऐसा गुण है कि जो कहा सुना व जाना जाता है। वाकी सर्व कल्पना ज्ञानाधीन है। इसीलिये ज्ञान सविकल्पक है और शेष गुण निर्विकल्पक हैं। भावार्थ—ज्ञानकी शुद्धता करनेको ही मोक्षमार्ग कह सकते हैं और वह शुद्धता अखंड एक प्रकार है। परंतु इस निश्चयका आश्रय लेनेपर वर्णनीय मूर्त स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता। और जबतक वर्णन किया न जाय तबतक उपदेशकी घटना कैसे हो सकती है? इसीलिये मोक्षमार्गमें कहने योग्य मुख्य

---

१ हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया। धावन् किलान्धको दग्ध: पश्यन्नपि च पंगुल: ॥ किंतु—अन्धश्च पंगुश्च वने प्रवृत्ता तौ संप्रयुक्तौ नगर प्रविष्टौ ॥ [इति वार्तिकालकारे उक्त च] यह दृष्टांत ज्ञान-चारित्रसे जुडता है।

तीन अंश विभक्त किये हैं। अत एव इस भेदप्रधान व्यवहारकी श्रेणीमें मोक्षकारणके अंश न तो तीनसे कम ही हो सकते हैं और न अधिक ही हो सकते हैं।

ज्ञानके भी उत्तर भेद बहुत हैं और श्रद्धान तथा चारित्रके भी उत्तर भेद बहुत हैं; परंतु उन सबोंका अंतर्भाव इन्हींमें हो जाता है। आठ कर्म आठ गुणोंको घातते हैं इसलिये आठ गुणोंकी प्राप्ति करलेना मोक्ष है। और संक्षेपसे कहें तो आत्माको शुद्ध बनालेना मोक्ष है। परंतु उसी शुद्धिको भिन्न भिन्न करके कहते हैं तो वह दर्शनादि तीन भांतिकी ठहरती है। ये तीनों मोक्षके स्वरूप भी हैं तथा मोक्ष होनेके कारण भी हैं। इसलिये इन तीनोंको ही इस ग्रंथमें मुख्य माना गया है। मोक्षके विषयमें इन्हें कार्यकारण दोनों प्रकारसे मानना कल्पनाधीन है। इसका खुलासा आगे है।

तत्व कहनेका हेतु।

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाविषयत्वमिता ह्यतः। बोध्याः प्रागेव तत्वार्था मोक्षमार्गं बुभुत्सुभिः ॥५॥

अर्थ—जीवादि तत्वोंका ही श्रद्धान तथा ज्ञान, चारित्र होना मोक्षका कारण है। अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान व चारित्रके विषय अथवा आलंबन जीवादि तत्व हैं। और श्रद्धा ज्ञान चारित्रकी पूर्ण प्राप्तिको मोक्षका साधन माना जाता है। तो फिर, जिन्हें मोक्षकारण समझनेकी उत्कंठा हो रही हो उन्हें सबसे प्रथम तत्वार्थका समझ लेना उचित है।

तत्व।

जीवोजीवास्रवौ बन्धः संवरो निर्जरा तथा। मोक्षश्च सप्त तत्वार्था मोक्षमार्गैषिणामिमे॥ ६ ॥

अर्थ—यहां ज्ञानादिके सत्य विषयका नाम तत्वार्थ है। १ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा, ७ मोक्ष ये सात तत्वार्थके भेद हैं। इन जीवादि सातो तत्वार्थोंके उत्तर भेद बहुतसे होते हैं, परंतु उन भेदोंको कहांतक गिनाते रहें? इसलिये ये सात सामान्य भेद इस प्रकारके किये हैं कि इनमें सभी तत्वोंका तथा भेद-प्रभेदोंका संग्रह हो सके। आगे चलकर इनका लक्षण कहेंगे। उन लक्षणोंके देखनेसे यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी कि इन भेदोंसे कोई भी पदार्थका प्रकार जुदा नहीं रहता।

यद्यपि सात भेदोंसे भी कमती भेद किये जासकते हैं। और तब भी सर्व तत्वोंका समावेश हो सकेगा। जैसे कि

'सत्ता' ऐसा एक तत्व माननेसे यावत् तत्वोंका संग्रह होसकता है। क्योंकि, जितने पदार्थ या तत्व संसारमें संभव
होंगे उनमें सत्ता-धर्म अवश्य ही रहेगा। सत्ता नाम अस्तित्व या मौजूदगीका है। जिसका जगमें अस्तित्व नहीं है वह
कोई चीज ही नहीं हो सकती है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि एक 'सत्ता' या 'सत्' तत्व माननेसे यावत् तत्वोंका
समावेश होसकता है।

यदि किसीको यह विचार उत्पन्न होता हो कि सत्ता तो केवल साधारण धर्म है। उसको एक तत्व मान लेनेपर
भी विशेषरूपका वस्तुज्ञान नहीं होसकता। इसलिये जिनसे कुछ विशेष बोध होसके ऐसे भेद तत्वोंके करना उचित
है। तो दो तत्व मान लीजिये, एक जीव, एक अजीव। इन दो भेदोंके मानलेनेसे तत्वोंका जीवाजीवरूपसे विशेष
ज्ञान भी होसकता है, और तत्वोंकी संख्या भी बहुत चढ़ती नहीं है; एवं, संसारके समस्त तत्वोंका समावेश भी
हो सकता है।

इस प्रकार जब देखते हैं तो तत्वोंके सात भेद करना निरुपयोगी जान पड़ता है। और यदि विशदबोधार्थ सात
भेद किये थे तो सात ही क्यों? प्रमाण–प्रमेय, नय–निक्षेप, आदि और भी कई भेद होसकते थे; जिससे कि सातकी
संख्या न टिककर अधिक संख्या होजाना संभव था।

इसका उत्तर यह है कि, मोक्षमार्गका विचार करनेमें उक्त सात भेदोंकी ही आवश्यकता है। इन सात भेदोंका
विचार करनेसे मोक्षका मार्ग स्पष्ट व सुगमतया समझा जासकता है। अर्थात् मोक्षोपायके समझ लेनेमें अधिक भेदोंकी
मुख्यतया आवश्यकता नहीं है और सत्ता आदि एक दो भेद करनेसे तो मोक्षोपायका ज्ञान करनेमें कुछ कहने योग्य
सहायता ही नहीं होसकती है। देखिये,—

सत्ता या जीवाजीवका ज्ञान होनेपर भी मोक्ष तथा संसारस्वरूपके विचारकी जागृति होना नियत नहीं है। जि-
सको संसारका बंधन व उससे मुक्ति होनेमें विशेषता जान नहीं पड़ती—जिसको संसार-दुःखोंसे मुक्त होनेकी अभिलाषा
भी उत्पन्न नहीं हुई हो; उसको भी वस्तुओंके सत्तास्वभावका तथा जीवाजीवपनेका ज्ञान रहना संभव है। जो अज्ञानी
जन हैं वे भी इतना समझते हैं कि हम तथा हमारे समान चेतनापूर्वक क्रियाओंके करनेवाले सर्व जीव हैं-अथवा हमारे
वर्गमें समाविष्ट होने योग्य हैं। और जो माटी पत्थर पानी पवन आदि चेतनामिश्रित क्रिया नहीं करते वे हमसे जुदे अ-

जीव हैं-अथवा जड़ वर्गमें संगृहीत करने योग्य हैं। पर, इतना ज्ञान होनेपर भी मनमें मोक्ष व मोक्षोपायोंकी कल्पना जागृत होनेका नियम नहीं है। मोक्ष तथा इस ज्ञानसे कोई असाधारण संबंध ही नहीं है तो इतने तत्वज्ञानसे मोक्षोपायकी तर्फ झुकाव क्यों होने लगा? इसलिये तत्वोंके आस्रवादि भेद करना आवश्यकीय है।

एवं, यदि सात तत्वोंसे अधिक कुछ कल्पना की जाय तो उसका समावेश इन सातोंमें ही हो सकता है। जैसे कि, जीवके उत्तर भेदोंमें संसारी, मुक्त आदि भेदोंका संग्रह होगा। आकाश, कालादि द्रव्यभेदोंका संग्रह अजीव तत्वमें होगा। पुण्य पाप या शुभाशुभादि कर्मभेदोंका संग्रह आस्रव तथा बधतत्वमें होसकेगा। यदि प्रमाण प्रमेय, नय निक्षेपादि भेदोंको अधिक जोंड़नेकी आकांक्षा उत्पन्न हुई हो तो भी संतोष इसलिये करलेना चाहिये कि इनका भी वर्णन ग्रंथकारने छोड़ा नहीं है। हां, तत्वोंकी संख्यामें न जोड़कर इन्हें जुदी तरहसे कह दिया है। इसका कारण यह है कि तत्व व तत्वज्ञानके साधनभूत प्रमाणनय-निक्षेपोंमें ज्ञान तथा ज्ञेयरूप स्वभाभेद होनेसे एकत्र संग्रह नहीं किया गया है। सात तत्व केवल ज्ञेयस्वभावकी मुख्यतासे एकत्र गिनाये गये हैं। और जो प्रमाण नय निक्षेप हैं वे तत्वज्ञानके साधन होंनेसे ज्ञान या साधनके प्रकरणमें तत्वोंके साथ न जोड़कर साधनतया दिखाये हैं। अर्थात् तत्व तो केवल ज्ञेय हैं किंतु प्रमाणादि ज्ञेय भी हैं और ज्ञानरूप भी हैं। यही इनके वर्गीकरणका हेतु है। 'प्रमेय' तो कोई इनसे जुदी चीज ही नहीं है कि जिसकेलिये सात संख्याका भंग करना पड़े।

अब रहीं यह आशंका, कि सात तत्वोंकी कल्पना मोक्षमार्गमें उपयोगी क्यों है? इसका उत्तर;—

जीवोंकी प्रत्यक्षसिद्ध दुःखदशा छुड़ा देना आचार्य महाराजको अभीष्ट जान पडता है। दुःख, यह एक विकारी दशा है। विकारका होना परसंयोग विना नहीं होता। अत एव शुद्धताके साधनोंसे विकार हट सकता है। बस, इसी विचारके आधारपर इस गूंथकी व इन तत्वोंकी रचना हुई है।

देखिये, जिसकी दशाको अशुद्धसे शुद्ध करना इष्ट है उसका नाम तो अवश्य संगृहीत होना ही चाहिये और उस संगूहमें भी सबसे प्रथम दिखाना उचित है। जो सुवर्णको इतर विकारोंसे शुद्ध करना चाहता हो उसके हृदयमें क्या सुवर्णकी सांगोपांग कल्पना मुख्यतया व प्रथम ही उपस्थित नहीं होगी?

इसके बाद वह नाम रखना ठीक व आवश्यक है कि जिसके संबधसे मल या विकार उत्पन्न होरहा हो- अथवा, जो

विकारमय परिणत हो रहा हो। हम ऊपर कह चुके हैं कि विजातीय संयोगके विना विकार उत्पन्न नहीं होता। इसीलिये हम उस विकारके बीजको यहां जीवसे विरुद्ध स्वभावयुक्त समझकर उसका नाम अजीव रखते हैं। यद्यपि अजीवके आकाशादि कई और भी भेद हैं परंतु इस प्रकरणमें अजीव यह नाम कहनेसे आचार्यको पुद्गल-द्रव्य ही बताना इष्ट था। क्योंकि, आकाशादि द्रव्य जीवके मुक्त होने न होनेमें बाधक-साधक नहीं हैं। तो भी 'पुद्गल' या 'कर्म' ऐसा नाम न रखकर अजीव नाम इसलिये रक्खा है कि जिससे इन तत्वोंका संग्रह करनेमें कोई वस्तु संग्रहमें आनेसे रह न जाय। क्योंकि, मोक्ष-संसारका क्रम बतलाते हुए ग्रंथकारको अमुख्यतया शिष्योंकी विश्वतत्वजिज्ञासा पूर्ण करना भी इष्ट था। इसलिये यदि व्यापक नामोंका उल्लेख करके सर्वसंग्रह न करते तो उनके तत्वोंपदेशमें अपूर्णता रहजाती। इस प्रकार जीवाजीव दो तत्वोंके संग्रह करनेकी आवश्यकता सिद्ध हुई।

शेष तत्वोंमें तीसरा तत्व आस्रव है। आस्रवका अर्थ जीवमें अजीवका प्रवेश होना है। प्रवेश होनेपर दोनोंकी मिश्र अवस्थाका होना चौथा बंधतत्व है। अशुद्ध दशाके कारण-कार्योंका ज्ञान इन दो नामोंसे करा देनेपर मुक्तिका कारण कहना चाहिये। मुक्तिका कारण वही होसकता है, जो कि बंध व बंधके कारणसे उलटा प्रकार हो। बंधका कारण आस्रव है; इसलिये आस्रवनिरोध मुक्तिका प्रथम कारण है। इसीको 'संवर' शब्दसे कहते हैं। इससे उस भविष्यत् बंधका प्रतीकार हो जाता है; जो कि निमित्त मिलनेपर बंध सकता था। इसको पांचवां तत्व कहा है। बद्ध हुए मलको निकालने व निकलनेके कार्यक्रमको निर्जरा कहा है। यह छठा तत्व है। इस तत्वके प्रयोगसे जब जीव अत्यंत शुद्ध हो जाता है तबकी दशाको सातवां मोक्षतत्व कहते हैं; जो कि अंतिम ध्येय या साध्य है। इस प्रकार ये सात तत्व हैं। इनमेंसे प्रथमके दो तत्व तो मुख्य या स्वतंत्र तत्व हैं और बाकीके पांच तत्व कार्यकारणरूप इन्हीं दो तत्वोंकी दशाविशेष हैं। ये पांच तत्व निराले स्वतंत्र तत्व नहीं हैं तो भी मोक्षरूप अभीष्ट प्रकरणमें इन्हींके समझनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इनके समझलेनेपर जीव मोक्षोपायमें लग सकता है। इनका ज्ञान जबतक नहीं हुआ हो तबतक जीवाजीवको जानते हुए भी मोक्षसाधनमें कुछ उपयोग नहीं होता। इसीलिये तत्वोंमें इनका संग्रह किया है। जो मोक्षमार्गमें प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें ये ही तत्व व इसी प्रकारसे मानने चाहिये।

१ 'श्रेयोमार्गप्रतिपित्सा आत्मद्रव्यप्रसिद्धेः' इति वार्तिकालकारे।

प्रयोजनवशात् अमुख्य वस्तु भी मुख्य बन जाती है; और प्रयोजन न रहै तो मुख्य भी अमुख्य भासने लगती है। अथवा, किसीको मुख्यामुख्य कहना ही प्रयोजनाधीन है। मुख्य या अमुख्यताका व्यवहार स्वतंत्र निर्हेतुक नहीं होसकता है। अत एव उक्त सातो तत्वोंमेंसे जीवाजीव ही मुख्य हैं, शेप पांचो गौण हैं या ठीक नहीं हैं; इस प्रकारकी कल्पना करना नितान्त निस्सार है। मोक्षमार्गमें इन सात ही तत्वोंकी क्यों आवश्यकता है? यही बात ग्रथकार स्वयं भी आगे लिखते हैं।

तत्वसमर्थन—

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः। हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनास्रवः स्मृतः॥ ७॥

अर्थ—हम जब कि वास्तविक दुःखमुक्त होना चाहते हैं अथवा शुद्ध होना चाहते हैं तो दुःखदायक परसंयोगमेंसे जुदा करके किसे निकाले; जिससे कि अशुद्धता मिट जाय? और साथ ही किसे दूर करें? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि जुदा निकाल कर ग्रहण करने योग्य जो तत्व है वह 'जीव' है और निकालकर दूर करने योग्य जो तत्व है वह 'अजीव' है। इन्ही हेयोपादेयरूप अजीव व जीवतत्वमेंसे जो हेय अजीवतत्वका जीवके साथ ग्रहण या बंधन करानेवाला कारण है वह 'आस्रव' तत्व है। अजीव छोड़ने योग्य चीज है इसलिये उसे हेय कहते हैं। जीवतत्व अपनाने लायक है इसलिये इसे उपादेय कहते हैं।

हेयोपादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः। संवरो निर्जरा हेयहानहेतुतयोदितौ॥ ८॥
हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः॥ (षट्पद)

अर्थ—निकालकर दूर करने योग्य अजीवतत्वका जो जीवमें आकर मिल जाना है वह 'बन्ध' तत्व है। जीवमें मिलजानेयोग्य तथा मिलनेकेलिये सन्मुख हुए इस आस्रव या अजीवतत्वको न बॅधने देनेका कारण तथा बॅधे हुएको जुदा करके बाहिर निकाल देनेवाला जो कारण है उसे 'संवर' व 'निर्जरा' नामसे दो विभागोंमें विभक्तकर बताया है। हेय अजीवकी जीवमेंसे सर्वथा जुदायगी होजाना, इसीको 'मोक्ष' तत्व कहते हैं। इस प्रकार इन सातो तत्वोंके कल्पित होनेमें उक्त सात प्रयोजन हैं। और लक्षण भी सातोंके ये ही हो सकते हैं।

शब्दोंके अर्थ समझनेकी रीत ।

तत्त्वार्थाः खल्वमी नामस्थापनाद्रव्यभावतः । न्यस्यमाना नयादेशात्प्रत्येकं स्युश्चतुर्विधाः ॥९॥

अर्थ—ये उपर्युक्त प्रत्येक तत्व चार चार प्रकारसे कल्पित किये जाते हैं । १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ भाव ये चार उन कल्पनाओंके नाम हैं । पहिली तीन कल्पनाओंके विषय सामान्य रहते हैं इसलिये उन्हें द्रव्यार्थिक-नयाधीन कल्पना कहते हैं । चौथी भाव-कल्पना विशेप विषयको समझाती है इसलिये उसे पर्यायार्थिक-नयाधीन मानते हैं । इन्ही कल्पनाओंके न्यास तथा निक्षेप ये दो और भी नाम हैं । भावार्थ—बोलनेवालेके मुखसे एक ही प्रकारके निकले हुए शब्द भी अपेक्षावश निरनिराले अर्थोंको दिखाते हैं । उन अर्थोंके सामान्य प्रकार चार किये जासकते हैं । वे चार प्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये हैं । शब्दोंसे प्रगट होनेवाले अर्थोंके जैसे ये चार प्रकार हो सकते हैं वैसे ही शब्दोंके भी ये चार भेद किये जासकते हैं । शब्दोंके भेदोंको न्यास या निक्षेप कहते हैं और अर्थभेदोंको न्यस्यमान या निक्षिप्यमाण विषय कहते हैं । ये कल्पनाएं क्रियापदोंमें नहीं होतीं, किंतु नाम-शब्दोंमें होती हैं । क्रियापदोंके अतिरिक्त जो कुछ शब्द शेप रहते हैं उन्हें नाम-शब्द कहते हैं । नयशब्दका साधारणतः अर्थ अपेक्षा है । उक्त नामशब्दोंके अर्थ चार प्रकारके होसकते हैं; इसलिये उन नामशब्दोंके भी चार भेद होते हैं । इन चारो भेदोंमेंसे पहिला भेद ठीक सामान्य अपेक्षासे हुआ है और आगेके तीनो भेद उत्तरोत्तर अधिक विशेपताको रखते हैं । विशेपताको रखनेपर भी कालसंबधी विशेपता द्रव्यनिक्षेप पर्यंत नहीं रहती इसलिये तीन भेद द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं । चौथा भावनिक्षेप कालसंबधी विशेपताको रखता है इसलिये वह पर्यायार्थिकनयका विषय है ।

---

१ "एवमेषामुद्दिष्टाना सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां च संव्यवहारविशेषव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमाह" इति सर्वार्थसिद्धि ॥ "एवं संक्षास्वालक्षण्यादिभिरुद्दिष्टानां संव्यवहारविशेपव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमाह" इति वार्तिकालकार ॥ अर्थात्, जीवादि व सम्यग्दर्शनादिकोंका जो नामोच्चारण किया है उसका अर्थ अनेक भातसे होसकता है । परंतु प्रयोजनकी सिद्धि जिससे हो सकै वह अर्थ छांटकर लेलेना चाहिये । इसलिये प्रयोजन व व्यवहारके अनुसार शब्दोंका अर्थ कितने भातसे होसकता है यह बात दिखाते हैं ।

२ एवं निक्षेपविधिना नामशब्दार्थाः प्रस्तीर्यते । [इति सर्वा०]

३ नयोंका स्वरूप इसी अधिकारके अतमें कहेंगे । द्रव्य शब्दका 'सामान्य' और पर्यायशब्दका 'विशेप' अर्थ होता है । द्रव्य व पर्यायको ग्रहण करनेवाला, ऐसा अर्थ द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक शब्दोंका होता है । इसलिये ये दोनो शब्द नय-शब्दके विशेपण हैं ।

नामनिक्षेपका लक्षण ।

या निमित्तान्तर किंचिदनपेक्ष्य विधीयते । द्रव्यस्य कस्यचित् संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम् १०।

अर्थ—किसी वस्तुकी उस संज्ञाको नाम कहा है कि जिस संज्ञाके रखनेका केवल उस वस्तुकी पहिचान होजाना ही प्रयोजन हो, दूसरा कुछ भी प्रयोजन न हो । अर्थात्, नाम निक्षेप जहां माना जाता है वहां क्रिया-अर्थ तथा गुण अर्थ नहीं देखा जाता है । केवल यह बात देखी जाती है कि इस शब्दका संकेत किस अर्थके साथ है । जैसे कि हाथीसिंहका अर्थ एक लड़का मान लेना ।

स्थापनानिक्षेपका लक्षण—

सोयमित्यक्षकाष्ठादौ संबन्धेनान्यवस्तुनः । यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते ॥११॥

अर्थ—अनुपस्थित किसी एक वस्तुका दूसरे उपस्थित पदार्थमें संबंध या मनोभावना जोड़कर आरोप कर देनेका नाम स्थापना[1] है । यह आरोप जहां होता है वहां ऐसी मनोभावना होने लगती है कि यह वही है । उदाहरण—सतरंजके पासे लकडी, माटी, या पत्थर आदिके बनाये जाते हैं । परंतु उनको लोग घोड़ा, हाती, राजा, वजीर इत्यादि मानकर खेल खेलते हैं । इसी प्रकार किसी देवी-देवकी मूर्ति बनाकर लोग उसे वह देवी या देव मानने लगते हैं ।

ऐसी कल्पना केवल मुख्य पदार्थके तुल्य आकृतिमें ही होती हो ऐसा नहीं है, अतदाकार वस्तुओंमें भी लोगोंकी ऐसी भावना हो उठती है । इसलिये सदृशताको स्थापना-निक्षेपका कारण नहीं समझना चाहिये; किंतु केवल मनोभावना ही इसका कारण है । जनसमुदायकी यह मानसिक भावना जहां होजाती है वहीं स्थापना-निक्षेप मानना चाहिये ।

द्रव्यनिक्षेपका लक्षण—

भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित् । स्याद्गृहीताभिमुख्यं हि तद्द्रव्यं ब्रुवते जिनाः १२

अर्थ—किसी एक वस्तुमें उत्तर-कालवर्ती होनेवाले जिस पर्यायकी तयारी हो रही हो उस वस्तुको उसी उत्तर-

१ इस निक्षेपको कई लोग विपरीत ज्ञानका कारण मानेंगे । और विपरीत ज्ञानके जनक विषय अथवा पद्धतिको सत्य न कहकर मिथ्या कहना चाहिये । इसीलिये सत्य-पदार्थोंके सग्रहमें स्थापना-निक्षेपका संग्रह न करना चाहिये । इस शकाका समाधान हम यहा इतना ही लिखते हैं कि मनुष्य जिस

कालवर्ती पर्यायके नामसे कहना सो द्रव्य-निक्षेपका मतलव है। ऐसा श्रीजिन भगवानके उपदेशका सारांश समझना चाहिये।

यह लक्षण एक उत्तरकालवर्ती पर्यायकी अपेक्षासे कहा गया है; परंतु वास्तविक यह निक्षेप नैगमनयका विषय है। आगे चलकर नैगमनयके भेद तीन कहेंगे। वे तीनो ही विषय द्रव्यनिक्षेपके द्वारा संगृहीत होजाने चाहिए। इसलिये हम द्रव्यनिक्षेपका लक्षण ऐसा कहते हैं। अनुपस्थित जिस किसी पर्यायकी किसी वस्तुमें योग्यता देखकर उस अनुपस्थित पर्यायके नामसे उस वस्तुको कहना यह द्रव्यनिक्षेपका अर्थ है। अनुपस्थित पर्याय तीन प्रकारका हो सकता है; एक वीत जानेसे अनुपस्थित, दूसरा आगामी होनेके कारण अनुपस्थित और तीसरा वह अनुपस्थित कि जो तयार तो होने लगा हो किंतु परिपूर्ण न हुआ हो। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं कि, राजगद्दीसे उतर जानेवालेको राजा मानना, दूसरा आगामी राजा वननेवाले राजपुत्रको राजा मानना, व तीसरा राजगद्दीकी जिसकी तयारी चलरही हो उसे राजा कहना। इन तीनो उदाहरणोंमेंसे ऐसा एक भी नहीं है कि जो वर्तमान समयमें पूरा उपस्थित हो। इसीलिये इस संकल्पको अनुपस्थित विषयका वतलानेवाला माना गया है। यह संकल्प पहिलेकी तरह सत्य इसलिये है कि इसका उपयोग भी सर्वसंमत है। जिसके द्वारा सर्वसंमत व्यवहार हो सकता हो वह भी यदि असत्य मानलिया जाय तो सत्य पदार्थकी दूसरी पहिचान क्या हो सकती है ?

भावनिक्षेपका लक्षण—

वर्तमानेन यद्येन पर्यायेणोपलक्षितम्। द्रव्यं भवति भावं तं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥ १३ ॥

अर्थ—वर्तमान जिस पर्यायसे वस्तु युक्त हो उस वस्तुको उसी पर्यायके नामसे वोलना-इसको जिन भगवान भाव-निक्षेप कहते हैं। अर्थात्, किसी वस्तुका जैसा पर्याय पूर्ण उपस्थित हो वैसे अर्थवाला उस वस्तुका नाम रखना सो भावनिक्षेप है।

प्रयोजनको साधनेकेलिये जिस वस्तुकी अपेक्षा करता है उस वस्तुद्वारा यदि वह प्रयोजन सिद्ध होजाय तो वह वस्तु सत्य क्यो न माननी चाहिये? मिथ्या या असत्य उसे कहना चाहिये जिससे कि इष्ट प्रयोजन सिद्ध न हो। वस्तुपरीक्षणका यही एक मार्ग है। इसका अधिक खुलासा वहा किया जायगा जहां कि पदार्थोंका लक्षण-स्वरूप लिखेंगे।

तत्वनिश्चयके साधन।

तत्त्वार्थाः सर्व एवैते सम्यग्बोधप्रसिद्धये। प्रमाणेन प्रमीयन्ते नीयन्ते च नयैस्तथा ॥ १४ ॥

अर्थ— तत्त्व सात हैं यह बात पहिले कह चुके हैं। इन तत्त्वोंके अर्थ चार निक्षेपोंके द्वारा चार चार प्रकारसे हो-सकते हैं इसलिये यदि भेदोंको मिलाकर देखें तो सातके चौगुने अट्ठाईस भेद होजाते हैं। ये अट्ठाईस भी सर्व तत्त्वार्थ ही हैं। इनके जो उत्तर भेद तथा प्रभेद होंगे उन सबोंको भी तत्त्वार्थ ही कहना चाहिये। परंतु उनकी शुमार इन्हींमें होसकती है।

यदि इनका प्रमाणके द्वारा निश्चय किया जाय तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। प्रमाणसे निश्चय होजानेपर नाना नयोंद्वारा भी विविध प्रकारसे इनका निश्चय किया जाता है। इसलिए तत्वपरीक्षाकेलिये प्रमाण व नय मुख्य साधन हैं। दूसरे कुछ अमुख्य भी साधन हैं परंतु उन्हें अधिकारके अंतमें कहेंगे।

प्रमाणका लक्षण व भेद—

सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम्। तत्परोक्षं भवत्येकं प्रत्यक्षमपरं पुनः ॥ १५ ॥

अर्थ—नय व प्रमाणोंमेंसे नयका लक्षण ३७ वें श्लोकसे कहेंगे। प्रमाणका अर्थ 'निर्दोष ज्ञान' ऐसा माना गया है। इस प्रमाणके प्रत्यक्ष व परोक्ष ये दो साधारण भेद हैं। सर्वानुभूत होनेसे 'परोक्ष' पहिला भेद समझना चाहिये। और 'प्रत्यक्ष' दूसरा भेद है। वास्तविक प्रत्यक्षका अनुभव विशिष्ट ज्ञानियोंको ही होता है।

परोक्ष ज्ञानका लक्षण—

समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत्। पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम् ॥ १६ ॥

अर्थ— 'अक्ष' यह नाम आत्माका होसकता है। आत्माके अतिरिक्त और भी दूसरे कारण जिस ज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें लगते हों उस ज्ञानको परोक्ष कहा है। यह ज्ञान भी प्रत्यक्षकी तरह वास्तविक पदार्थोंका ही होता है। परंतु अन्य निमित्त–कारणोंके अधीन इसकी उत्पत्ति होनेसे यह पूरा विशद नहीं हो पाता; यही इसकी परोक्षता है।

उन इतर कारणोंके उदाहरणः—अनुमानजनित अग्निज्ञानके समय जैसे धुआं, और इंद्रियजन्य ज्ञानोंके समय

१ प्रमाणोंका अधिक खुलासा भी ३७ न० के श्लोकसे लिखेंगे।

इंद्रियां। इद्रियोंको उपात्त-कारण और धुआं आदिको अनुपात्त कारण कहा है। जाननेवालेके साथसे जुदे न रहनेवालेका नाम उपात्त या मिलित अथवा संगृहीत है। जो शरीर व आत्मासे जुदा रहकर ज्ञानोत्पत्तिमें सहायता दे उसे अनुपात्त या असंगृहीत कारण समझना चाहिये।

मनसहित जीवोंको कोई भी ज्ञान हो, सभीमें इंद्रिय व मनकी जरूरत तो लगती ही है। परंतु मन व इंद्रिय सहायक रहते हुए भी अनुमानादि कुछ ज्ञान ऐसे होते हैं कि तो भी नहीं होते। उनमें इंद्रिय व मनके अतिरिक्त धुआं देखने आदिकी और भी अधिक जरूरत रहती है। वे ज्ञान अतिपराधीन होनेके कारण केवल परोक्ष कहे जाते हैं। और जो चाक्षुपादि ज्ञान केवल मन व इंद्रियोंसे ही उत्पन्न होजाते हैं वे भी वास्तविक या योगियोंकी दृष्टिसे तो परोक्ष ही हैं। परंतु हम लोग उन्हें व्यवहार दशामें प्रत्यक्ष भी कहते हैं। अधिक स्पष्ट ज्ञानको जिनमतमें प्रत्यक्ष कहा है। हमको इंद्रियजन्य ज्ञानके अतिरिक्त अधिक स्पष्ट ज्ञानका कभी स्वप्नमें भी अनुभव नहीं होता। इसलिये हम इसीको प्रत्यक्ष मान बैठे हैं। परतु जिन योगियोंको अतिस्पष्ट दिव्यज्ञान होजाता है वे हमारे ज्ञानको प्रत्यक्ष कैसे कहेंगे? परोक्ष—शब्दके अस्पष्ट व पराधीन ऐसे दो अर्थ होते हैं। संस्कारवश हम इंद्रियकी पराधीनताको पराधीनता नहीं समझपाये हैं इसलिये केवल इंद्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।

वास्तविक प्रत्यक्ष----

इन्द्रियानिंद्रियापेक्षामुक्तमऽव्यभिचारि च। साकारग्रहणं यत्स्यात् तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते॥ १७॥

अर्थ—इंद्रिय व मनकी अपेक्षा न रखकर स्पष्ट जो जानना उसे वास्तविक प्रत्यक्ष कहते हैं। साथ ही यह और भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस पदार्थको उस प्रत्यक्षद्वारा जाना हो उस पदार्थके वैसे स्वरूपमें कोई भी फर्क न होना चाहिये; तभी वह असली प्रर्त्यक्ष कहा जा सकता है।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप व मूलभेद----

सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः। मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम्॥ १८॥

अर्थ—स्व—अपना स्वरूप। अर्थ—विषय। व्यवसाय—यथार्थ निश्चय। ज्ञानमें ये तीन बातें हों तो उसे सम्यग्ज्ञान क-

हना चाहिये। अर्थात् ज्ञानमें विषय प्रतिबोधके साथ साथ यदि अपना स्वरूप भी प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहना चाहिये।

नैयायिक लोगोंका मत ऐसा है कि ज्ञानमें प्रथम तो विषयमात्र ही भासता है। फिर यदि उस ज्ञानका स्वरूप समझना हो तो दूसरे ज्ञानसे वह स्वरूप जाना जायगा। वेदान्तादिका मत ऐसा है कि ज्ञानमय ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ वास्तवमें है ही नहीं। अतएव योगी जब शुद्ध केवलज्ञानको ही समझते रहते हैं तब इतर पदार्थोंका प्रतिभास उनको नहीं होता।

ये दोनों मत जैनोंको मान्य नहीं हैं। प्रत्येक ज्ञानमें विषय व स्वकीय स्वरूपका प्रतिबोध होना ही चाहिये। जिसमें विषयका प्रतिभास न हो उसमें होगा ही क्या? और उसको 'ज्ञान' ऐसा नाम भी कैसे प्राप्त होगा? इसी प्रकार जिस ज्ञानमें स्वबोध नहीं होता वह दूसरेका भी बोध किस तरह करावेगा[१]? तीसरा जो व्यवसाय या निश्चय विशेषण दिया है वह इसलिये कि संशयादि ज्ञान सम्यग्ज्ञान न कहाने लगें। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवल ये पाच इस सम्यग्ज्ञानके भेद हैं।

स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा। प्रत्यभिज्ञानमूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा ॥ १९ ॥
बुद्धिमेधादयो याश्च मतिज्ञानभिदा हि ताः।

सुखादि अन्तरंगविषयोंका ज्ञान = स्वसंवेदन। इद्रियजन्य बाह्य विषयोंका ज्ञान = इद्रियज्ञान। पहिले अनुभूत विषयोंकी याद होना = स्मरण। उपस्थित किसी एक विषयका इद्रियजन्य ज्ञान व पूर्वानुभूत किसी विषयका स्मरण होजानेपर उस उपस्थित व उस स्मरणके विषयमें परस्पर मेल बैठानेवाला जो तृतीय ज्ञान होता है वह = प्रत्यभिज्ञान है। अनुमानोपयोगी साध्यहेतुओंका परस्पर अखंडनीय संबंध दिखानेवाला ज्ञान = ऊह या तर्क। तर्कज्ञान होजानेपर साधन दीखते ही साध्यज्ञानका होना = स्वार्थानुमान। ये सब मतिज्ञानके प्रकार हैं।

व्यवहारी प्रत्यक्ष एक मनसे होता है व दूसरा बाह्य इद्रियोंद्वारा। मानसिक प्रत्यक्षको स्वसंवेदन कहते हैं और बाह्ये-

१ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्? स्वावभासनासक्तस्य परावभासकत्वायोगात्। [परीक्षामुख]

न्द्रियजन्यको विषयप्रत्यक्ष या बाह्यप्रत्यक्ष। जैनशास्त्रोंमें इन्ही दोनों ज्ञानोंको अनुभव भी कहते हैं। इसके होनेपर यदि संस्कार उत्पन्न होजाय तो कालान्तरमें निमित्त मिलनेपर उसका स्मरण होता है। प्रत्यभिज्ञान, तर्क व अनुमान ये तीनों ज्ञान भी पूर्वोल्लिखित ज्ञान होनेपर हो सकते हैं। इसीलिये अनुभवादि अनुमान पर्यंतके ज्ञानोंमें पहिले कारण व उत्तरके कार्यरूप माने गये हैं। अनुभव मूलज्ञान है इसलिये उसके पूर्वमें कारण-ज्ञानकी आवश्यकता नहीं पड़ती और वह व्यवहारमें प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। परंतु स्मरणादि अनुमान पर्यंत चारों ही ज्ञान पूर्वपूर्वज्ञानजनित होते हैं इसलिये वे सब केवल परोक्ष ही माने जाते हैं। अनुमान, एक तो स्वयं साधन दीखनेपर साध्यज्ञान होना, दूसरा, किसीका हेतु तर्कवाक्य सुननेपर होना, ऐसे दो प्रकारका है। पहिलेको मतिज्ञानके भेदोंमें माना है और दूसरेको श्रुत ज्ञानमें गर्भित किया है।

जिस प्रकार अनुभव- स्मरणादि, मतिज्ञानके उत्तर भेद हैं उसी प्रकार बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा-इत्यादि नाम भी मतिज्ञानके ही भेदवाचक हैं। अनुभवादि जो भेद हैं वे पूर्वोत्तर कालवर्ती होनेसे, व कार्यकारणरूप होनेसे माने गये हैं। परंतु बुद्धिमेधादिक भेद इस प्रकारके नहीं हैं। ये भेद कहीं तो तरतम भावकी अपेक्षासे हैं और कहीं उत्पादक सामग्रीभेदकी अपेक्षासे हैं और कहीं उक्त दोनों सबबसे माने गये हैं। किंतु विषय सबके निरनिराले रहते हैं। इसीलिये बुद्धिमेधादिकोंमें परस्पर कालक्रमका तथा कार्यकारणपनेका कोई नियम नहीं जुड़ता है। यह अनुभवस्मरणादि व बुद्धिमेधादिकोंमें परस्परका अंतर है। अनुभव-स्मरणादिकोंमें विषय प्रथमानुभव किया हुआ ही रहता है। और आगे जो अवग्रहादिक भेद कहेंगे उनमें भी विषय एक ही रहता है। केवल जाननेमें तरतमता व दृढता बढती जाती है।

मतिज्ञानके कारण—

इन्द्रियानिन्द्रियेभ्यश्च मतिज्ञानं प्रवर्तते ॥ २० ॥

अर्थ—मतिज्ञानमात्र इंद्रिय तथा मनद्वारा उत्पन्न होता है। मनरहित भी बहुत प्रकारके जीव होते हैं। उनका मतिज्ञान केवल किसी एक एक इंद्रिय द्वारा ही उत्पन्न होता है जिन जीवोंमें मन होता है उनका मतिज्ञान केवल मनद्वारा भी होता है और बाह्य विषयोंका ज्ञान मनकी सहायता मिलनेपर किसी एक एक इंद्रियद्वारा भी होता है।

अवग्रहस्ततस्त्वीहा ततोऽवायोथ धारणा। बहोर्बहुविधस्यापि क्षिप्रस्यानिःसृतस्य च ॥ २१ ॥
अनुक्तस्य ध्रुवस्यातः सेतराणां तु ते मताः। व्यक्तस्यार्थस्य विज्ञेयाश्चत्वारोऽवग्रहादयः ॥२२॥
व्यञ्जनस्य तु नेहाद्या एक एव ह्यवग्रहः। अप्राप्यकारिणी चक्षुर्मनसी परिवर्ज्य सः ॥ २३ ॥
चतुर्भिरिन्द्रियैरन्यैः क्रियते प्राप्यकारिभिः ।

अर्थ—किसी एक विषयका प्रथम ही विशेषज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रथम समयमें मनुष्यका किसी एक वस्तुकी तरफ लक्ष्य जाता है उस समय एक साधारण परिणाम उत्पन्न होता है। उस परिणामको दर्शन कहा है। दूसरे लोग इसे निर्विकल्प-ज्ञान भी कहते हैं। विशेष, आकृति या विकल्प, शब्दका एक ही अर्थ है। विशेषण भी इसीको कह सकते हैं। विशेषण या विशेष आकृतिसे जो उलटा स्वभाव हो उसे साधारण, निर्विशेष, सामान्य—इत्यादि नामोंसे संबोधते हैं। प्रथम समयमें होनेवाला पदार्थका दर्शन केवल साधारण स्वरूपको पकड़ता है, इसलिये उसे निर्विकल्प ज्ञान कहना भी युक्तिसंगत है। परंतु जैन सिद्धांतमें ऐसा माना है कि पदार्थका विशेषाकार जब तक भास न चुका हो तब तक ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं समझनी चाहिये। जिस चेतनमें विशेषाकार कुछ भी भासने लगा हो वही ज्ञान कहाता है। इसीलिये ज्ञानको साकार माना गया है और दर्शनको निराकार। जिसका आकार कहा व ठहराया न जा सकै वही सामान्य होता है। सामान्यका विषय करनेवाला चैतन्य भी इसीलिये निराकार होता है। यही दर्शन (निर्विकल्प ज्ञान) व ज्ञानमें परस्पर अंतर है।

दर्शन होजानेपर दूसरा समय लगते ही चेतनामें थोड़ासा विशेषाकार भासने लगता है। बस, यही प्रथम होनेवाला ज्ञान है। जैन सिद्धांतोंमें इस प्रथम ज्ञानको अवग्रह कहा है। विशेषताके उत्तरोत्तर अनेक भेद होते हैं। अवग्रह ज्ञानमें किसी पदार्थकी जितनी विशेषता भास चुकती है उससे अधिक विशेषता जाननेकी यदि इच्छा हो तो उत्तरके

१ ज्ञान—शब्दका अर्थ चैतन्य भी होसकता है। और इस अर्थके अनुसार ज्ञानके साथ निर्विकल्प विशेषण लगानेसे सामान्यार्थप्रतिभासक दर्शन ऐसा अर्थ होना सभव है। परतु, जैन ग्रथोंमें दर्शनकेलिये ज्ञान—शब्दका उपयोग किया नहीं जाता।

विशेष भेदोंमें संशय उत्पन्न होता है । संशय तो मिथ्या ज्ञान है; परंतु संशयके वाद यदि उपस्थित अथवा सत्य विशेपाकारकी तरफ ज्ञान झुकजाय तो उस ज्ञानको ईहा-ज्ञान कहते हैं । अवग्रहके द्वितीय समयमें संशय व तीसरे समयमें ईहा होती है । ईहा सुदृढ़ नहीं होती । परंतु संशयकी तरह डमाडोल भी नहीं रहती । संशयमें कुछ भी निश्चय नहीं होता इसलिये वह केवल मिथ्या समझना चाहिये । परंतु ईहामें प्राप्त हुए सत्यविषयका यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं हो पाता; तो भी ज्ञानके अधिकांश, विषयके सत्यांशग्राही ही होते हैं, इसलिये ईहाका सत्यज्ञानोंमें संग्रह किया गया है ।

किसी ज्ञानको मिथ्या या सत्य ठहरानेकेलिये इतना ही नियम करना वस होगा, कि जिस ज्ञानमें दो विषय ऐसे आपड़े हों कि एक सत्य दूसरा मिथ्या हो, तो जिस अंशके ऊपर जाननेवालेका अधिक ध्यान हो उसके अनुसार उस ज्ञानको सत्य या मिथ्या मान लेना चाहिये । जैसे एक चंद्रको देखकर यदि दो चन्द्रमाका ज्ञान हुआ हो और देखनेवालेका लक्ष्य केवल चंद्रमाको समझलेनेकी तर्फ हो तो वह ज्ञान सत्य कहना चाहिये । यदि उसी देखने वालेका लक्ष्य एक दो संख्या ठहरानेकी तर्फ हो तो उसे असत्य मानना चाहिये ।

ननु च तत्वज्ञानस्य सर्वथा प्रमाणत्वसिद्धेरनेकान्तविरोध इति न मन्तव्यं, बुद्धेरनेकान्तात्, येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति निरूपणात् । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चंद्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । कथमेवं क्वचित्प्रमाणव्यपदेश एव क्वचिदप्रमाणव्यपदेश एवेति नियता लोकव्यवस्थितिरिति ? उच्यते, तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत् । यथा च प्रत्यक्षस्य संवादप्रकर्षात्प्रमाणव्यपदेशव्यवस्था प्रत्यक्षाभासस्य च विसंवादप्रकर्षादप्रमाणत्वव्यपदेशव्यवस्थितिः । गन्धादिगुणप्रकर्षात्कस्तूरिकादेर्गन्धद्रव्यव्यपदेशव्यवस्था तद्व्यवहारिभिरभिधीयते ।

भावार्थ—तत्वज्ञान यदि सर्वथा प्रमाण ही है तो अनेकात वाद नही रह सकता है, क्योंकि, सर्वथा उसे प्रमाण मान लेनेसे एकातवाद होजाता है। इसका उत्तर देनेकेलिये बुद्धिका उदाहरण सामने रखते हे । बुद्धिमें जितना अश सत्य हो उसे प्रमाण कहना चाहिये और वाकीको अप्रमाण । इसलिये यहा अनेकातवाद सिद्ध हो जाता है । ऐसे ज्ञानोंको सकीर्ण--प्रमाण व सकीर्ण-अप्रामाण्य कहते हैं । उदाहरणार्थ, नेत्रोंमें कुछ दोष हो तो एक चंद्रके दो चद दीखते हैं । यहापर चद्रसवंधी ज्ञानाश तो सत्य मानना पडता है और संख्यासवंधी ज्ञानाश असत्य । ऐसे स्थानमें जिस विषयाशकी जिज्ञासा हो उसकी अपेक्षासे ज्ञानको सत्यासत्य ठहराते हैं । यही व्यवहारमार्ग है । जैसे कि गंध तो सभी पुद्गलोंमें रहता है परंतु उत्कट गध जिसमें हो गधयुक्त उसीको कहा जाता है । [अष्टसहस्री १०१ वीं कारिका व्याख्या]

यदि ईहाके उत्तर कालतक ईहाके विषयपर लक्ष्य रहे तो ज्ञान सुदृढ़ होजाता है और उसे अवाय कहते हैं। अवाय ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञानके तीनों भेदोंमेंसे उत्कृष्ट अथवा सबसे अधिक विशेषज्ञान है। 'धारणा' यह अवायके भी आगे चलकर होती है परंतु उसमें कुछ अधिक दृढ़ता उत्पन्न होजानेके सिवाय दूसरी विशेषता प्राप्त नहीं होती। कालक्रमसे देखा जाय तो धारणा अवायके बाद होती है इसलिये वह अवायका उत्तर भेद माना जाता है। उस धारणासे सुदृढताके वश एक इस प्रकारका संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके होजानेसे बाह्य निमित्त सामने आनेपर पूर्वानुभवका स्मरण होसकै। इसका स्थान चौथा नियत करनेसे यह बात भी साथ ही सिद्ध होजाती है कि अवाय ज्ञान जब तक नहीं होता तबतक उस विषयकी धारणा होना असंभव है। हां, अवाय होजाने पर भी कभी धारणा होती है और कभी फिर भी नहीं होती। ईहा-अवायका भी यही नियम है। अवग्रह होजानेपर वे होते भी हैं और नहीं भी होते हैं; और हों तो भी एक ईहा ही होकर छूट सकती है और कभी कभी अवाय भी हो जाता है।

अवायके बाद होनेवाले धारणा ज्ञानमें यद्यपि विषयकी विशेषता नहीं है तो भी सुदृढ़ता अवायकी अपेक्षा अधिक अवश्य उत्पन्न होती है। अवायकी अपेक्षा धारणामें दृढ़ता ही विशेष है[1] जिससे कि अवाय स्मरणका कारण नहीं हो-सकता तो भी धारणा स्मरणोत्पत्तिकेलिये कारण हो जाती है। यहां प्रश्न—

धारणा नाम किसी उपयोगरूप ज्ञानका है अथवा संस्कारका? यदि उपयोगरूप ज्ञानका नाम है तब तो वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करनेकेलिये समर्थ नहीं होगी। क्योंकि, कार्य-कारणरूप पदार्थोंमें परस्पर कालका अंतर नहीं रह सकता है। धारणा कब होती है और स्मरण कब! इनमें कालका बड़ा ही अंतर पड़ जाता है। यदि उसे संस्काररूप मानकर स्मरणके समय तक विद्यमान माननेकी कल्पना करै तो वह प्रत्यक्षका भेद नहीं हो सकता है। क्योंकि, संस्काररूप ज्ञान स्मरणकी अपेक्षा भी मलिन होगा। स्मरण, उपयोगरूप होनेसे अपने समयमें दूसरा उपयोग होने नहीं देता और कुछ भी विशेष ज्ञान उत्पन्न करता है। परंतु धारणा संस्काररूप होनेसे उसके रहते हुए भी अन्यान्य अनेकों ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। और स्वयं वह धारणा तो अर्थका ज्ञान ही नहीं करा सकती है।

इसका उत्तर—'धारणा' यह उपयोगरूप ज्ञानका भी नाम है और संस्कारका भी नाम है। धारणाको प्रत्यक्ष ज्ञानके

१ सुदृढताको भी विषयविशेष माना जा सकता है इसीलिये धारणको अपूर्वार्थ-ग्राहिणी व प्रमाण कह सकते हैं।

भेदोंमें गिनाया है और उत्पत्ति भी अवायके वाद ही हो जाती है। स्वरूप भी उसका अवायकी अपेक्षा अधिक दृढ़-रूप होता है। इसलिये उसे उपयोगरूप ज्ञानमें गर्भित करना चाहिये। वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करती है और कार्य-के पूर्वक्षणमें कारण रहना ही चाहिये, इसलिये उसे संस्काररूप भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि धारणाके द्वारा एक संस्कार उत्पन्न होता है जो कि स्मरणके समय तक रहता है। उसको कहींपर तो धारणासे जुदा कहकर गिनाया है और कहीं पर धारणाके ही नामसे कहा है। धारणा व उस संस्कारमें कार्यकारण संबंध है। इसलिये भेदविवक्षाको मुख्य माननेपर तो जुदा गिना दिया है और जहां अभेदको मुख्य माना है वहांपर जुदा न गिनाकर केवल धारणाको ही स्मरणका कारण लिख दिया है।

इस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये प्रत्यक्षज्ञानके चार भेद हैं। इनका स्वरूप उत्तरोत्तर तरतम विशुद्ध होता है और इन्हें पूर्वपूर्वज्ञानके कार्य समझना चाहिये। एक विषयकी उत्तरोत्तर विशेषता इनके द्वारा जानी जाती है इसलिये इन चारो ज्ञानोंको एक ही ज्ञानके विशेष प्रकार भी कह सकते हैं। मति-स्मृत्यादिकी तरह कालका असंबंध तथा बुद्धि मेधादिकी तरह विषयका असंबंध इनमें नहीं रहता।

मन व इंद्रियोंसे जानने योग्य विषय तो आगे[2] कहेंगे, परंतु यहांपर यह वताते हैं कि वह एक एक विषय भी कि-तने प्रकारका[3] होता है। प्रथम तो एक व्यक्त एक अव्यक्त ऐसे दो प्रकारका विषय माना गया है। जिस प्रकार एक मट्टीके कोरे वर्तनको पानीकी बूंदें डाल डाल कर भिजाना सुरू किया जाय तो, पहिली एक दो बूंद तो उसपर पड़ते ही

---

१ 'धारण धारणा' ऐसा भाव साधन माननेपर सस्कारका नाम धारणा होसकता है और 'धार्यतेऽनया सा धारणा' ऐसा करणार्थ करनेपर उपयोग-रूप प्रथम कारण–ज्ञानका नाम धारणा होगा। सस्कारोद्‌बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति (परीक्षामुखसूत्र)। धारणा हि तथात्मानं संस्करोति येन कालान्तरेपि ततः स्मृतिः स्यात्। ऐसा वचन है। संस्कारः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो धारणा। तस्योद्‌बोधः प्रबोधः। स निबन्धनं यस्यास्तदित्याकारो यस्याः सा तथोक्ता स्मृतिः।

२ जीवतत्वनाम दूसरे अध्यायमें इन्द्रिय व मनके जुदे जुदे विषय लिखेंगे।

३ 'अवग्रहादिसंबन्धात्कर्मनिर्देशः' इस वार्तिकके कथनसे बहु आदिको कर्म मानना चाहिये। 'क्वचिच्चिरेण' इस आगेके वचनसे यह भी सिद्ध होता है कि क्षिप्र-चिर आदि कुछ शब्द क्रियाविशेषण हे। क्रियाविशेषणोंको भी कर्ममें ग्रहणकरते हैं–यह बात शब्देन्दुशेखर आदि व्याकरणोंमें

ऐसी सूख जायगी कि देखनेवाला उसे भीजा कभी नहीं कह सकता। तो भी वह भीजा है यह बात युक्तिसे तो माननी ही पड़ेगी। इसी प्रकार कान, नाक, जीभ और त्वचा ये चार इन्द्रियां अपने विषयोंसे भिड़कर ज्ञान पैदा करती हैं इसलिये प्रथम ही एक दो समयतक विषयका मंद संबंध होते रहते भी ज्ञान प्रगट नहीं होता। तो भी, जब कि विषयका संबंध सुरू होगया है तो ज्ञानका होना भी सुरू होगया—यह बात युक्तिसे अवश्य माननी पड़ती है। बस, इसीको अव्यक्त ज्ञान कहते हैं। जब कि इसमें विषयका स्वरूप ही स्पष्ट जाननेमें नहीं आता तो उत्तर विशेषताकी शंका तथा समाधान रूप ईहादि ज्ञान तो हो ही कहांसे सकते हैं? इसीलिये अव्यक्तका अवग्रहमात्र ही होता है; ईहादिक नहीं। मनका या चक्षुका ज्ञान विषय भिडनेपर नहीं होता किंतु दूर रहते ही होता है इसलिये वहांका ज्ञान होगा तो व्यक्त ही होगा नहीं तो नहीं। अत एव, चक्षु व मनका ज्ञान अव्यक्तज्ञान नहीं हो सकता है। इस अव्यक्त ज्ञानका नाम व्यंजनावग्रह है। जबसे विषय व्यक्ततया भासने लगा हो तबसे उस ज्ञानको व्यक्तज्ञान कहते हैं। इसका नाम अर्थावग्रह है। यह अर्थयुक्त अवग्रह सभी इन्द्रियोंके व मनके द्वारा होता है। इसी 'अर्थ' नामक विषयके फिर ईहादिक भी होते हैं।

अर्थ व व्यंजनरूप व्यक्ताव्यक्त विषयोंके बारह प्रकार एक दूसरी तरहसे और भी बताये हैं। वे यों कि, एक कोई विषय (१) बहुतसा ज्ञानगोचर हुआ हो, (२) थोड़ासा हुआ हो, (३) युगपत् बहुत तरहका हुआ हो, (४) एक तरहका हुआ हो, (५) शीघ्रतासे हुआ हो, (६) देरीसे हुआ हो, (७) एक देश अव्यक्त रहनेपर होगया हो, (८) पूर्ण व्यक्त होनेपर हुआ हो, (९) उसका वर्णन न सुननेपर ही हुआ हो, (१०) वर्णन सुननेपर हुआ हो (११ दृढ़तासे हुआ हो, (१२) अस्थिरतासे हुआ हो। इस प्रकार विषय व तज्जनित ज्ञानके बारह बारह ये भी भेद हो सकते हैं।

खुलासा की है। इसलिये कर्म तथा क्रियाविशेषण कहनेसे कोई परस्पर विरोध न मानना चाहिये। कुछ लोग 'चिरेण' आदि शब्दोंको भी विषयका ही विशेषण करते हैं परतु वह भूल है।

१ व्यंजनावग्रहकी बहु आदि बारह सख्याको चार इन्द्रियसख्यासे गुणित करनेपर ४८ भेद व्यजनावग्रहके होते हैं। अर्थज्ञानके अवग्रह-ईहादि चारो भेद होना सभव है इसलिये अवग्रहादिकी चार सख्यासे गुणनेपर अर्थज्ञानके चार भेद होंगे। इन चार भेदोंको बहुआदि बारह संख्यासे गुणनेपर ४८ भेद होंगे। ४८ को छह इन्द्रियसख्यासे गुणित करनेपर २८८ भेद होते हैं। इस प्रकार व्यंजन व अर्थरूप मतिज्ञानके मिलकर सर्व ३३६ भेद हो

अनुक्त विषय श्रोत्रज्ञानमें और उक्त विषय नेत्रज्ञानमें कैसे संभव होसकता है? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर ऊपरके अनुसार अर्थ करनेसे होसकता है। श्रोत्रज्ञानमें अनुक्तका अर्थ ईषत् अनुक्त करना चाहिये। अथवा, उक्तका अर्थ विस्तारसे लक्षणादि द्वारा वर्णन किया गया, ऐसा करना चाहिये। नाममात्र सुननेसे भी यदि विशद ज्ञान होजाय तो उसे अनुक्तज्ञान ही कहना चाहिये। ऐसा अर्थ माननेसे नेत्रज्ञानमें भी उक्तानुक्त विशेषण ठीक होजाता है। अर्थात् किसी वस्तुको विस्तारसे सुन भी लिया हो और फिर देखनेमें भी आया हो तो उस समयका नेत्रज्ञान उक्तज्ञान कहावेगा। लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका संबध इसीलिये छहों इंद्रियोंके साथ माना गया है। राजवार्तिकमें इस विषयका प्रमाण लिखा है।

श्रुतज्ञानका स्वरूप—

मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमवस्पष्टार्थतर्कणम् ॥ २४ ॥ तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत् ।

अर्थ—मतिज्ञानद्वारा जाने हुए विषयका अवलंबन लेकर जो उसी विषयसंबंधी उत्तर तर्कणा उत्पन्न हो उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इसके पर्याय आदि वीस भेद किये गये हैं। (१) पर्याय, (२) अक्षर, (३) पद, (४) संघात, (५) प्रतिपत्ति, (६) अनियोग, (७) प्राभृतप्राभृत, (८) प्राभृत, (९) वस्तु, (१०) पूर्व-ये दश भेद मूल हैं और दश भेद इन्हींके एक एक अन्तर्भेद जोड़नेसे होजाते हैं। जैसे, 'पर्याय' यह पहिला भेद है और दूसरा 'अक्षर' यह भेद है। पहिले पर्याय-भेदसे ऊपर ज्ञानकी मात्रा बढ़नेपर भी जो दूसरे भेद तक नहीं पहुची हो उसे पहिले या दूसरे नामसे न कहकर अन्तर्गत 'समास' इस नामसे कहते हैं। पहिलेसे आगेके समासका (१) 'पर्याय समास' नाम है। दूसरे व तीसरेके मध्यस्थानका (२) 'अक्षरसमास' नाम है। इसी प्रकार (३) पदसमास, (४) संघातसमास, (५) प्रतिपत्ति समास, (६) अनियोगसमास, (७) प्राभृतप्राभृत समास, (८) प्राभृत समास, (९) वस्तु समास,

सकते हैं। ये सर्व भेद एक अनुभव-ज्ञानके होते हैं। अनुभवके विषयसे अनुमानादिज्ञानोंका विषय जुदा नहीं रहता। पूर्वानुभुत विषयकी ही अनुमानादि ज्ञानवृत्तिया समझी जाती है। इसीलिये मतिज्ञानके भी ३३६ से अधिक भेद नहीं हो सकते।

१ 'घटोयं रूपमिदमित्यादि यद्विशेषपरिज्ञानं तच्छ्रुतापेक्षं, परोपदेशापेक्षत्वात् । लब्ध्यक्षरत्वात् । श्रुतज्ञानप्रभेदप्ररूपणायां लब्ध्यक्षरश्रुतकथनं षोढा प्रविभक्तम् । तद्यथा—चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरमित्यार्ष उपदेशः। [इति वार्ति०]

व (१०) वां पूर्वसमास–ऐसे समासोंके दश नाम हैं। मिलकर सर्व वीस भेद हो जाते हैं। उत्तरोत्तर वढते हुए श्रुतज्ञानोंके ये नाम हैं। पूर्व व पूर्वसमास समाप्त होनेपर श्रुतज्ञानकी मर्यादा पूर्ण होजाती है। इसका स्पष्ट वर्णन गोमटसार ग्रंथमें है।[1]

श्रुतरूप ज्ञानकी उत्पत्ति देखे तो वीस भेदोंमें विभक्त हैं। परंतु श्रुतज्ञानका वर्णन करनेवाले ग्रथोंकी तर्फ देखें तो बारह भेद किये हैं।[2] अर्थात्, श्रुतज्ञानके गोचर होनेवाले विषयोंका विभागपूर्वक वर्णन करते समय स्थूल विभाग वारह किये हैं। परंतु जो वीस भेद कहे गये हैं वे इस अपेक्षासे कि श्रुतज्ञानकी उत्तरोत्तर होनेवाली वृद्धिके सामान्यतया प्रकार इतने हो सकते हैं। दोनों ही भेदोंमेंसे श्रुतज्ञानका लक्षण कहीं भी वाधित नहीं होता।

प्रश्न—

मतिज्ञानके व विषयोंके भेद ऊपर लिखे हैं। उनमेंसे किसी विषयका एक कोई मतिज्ञान रहनेपर उसकी सहायतासे उस विषयसंबंधी दूसरे किसी विषयमें उत्पन्न हुए ज्ञानका नाम श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञानका हुआ लक्षण।[3] इस लक्षणके अनुसार चाहे जिस मतिज्ञानके बाद होनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान कह सकते हैं। परंतु श्रुतज्ञानका अर्थ 'शास्त्रज्ञान' ऐसा होगा या नहीं ?

---

१ अत्थक्खरं च पदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च। दुगवार पाहुडं च य पाहुडयं वत्थुपुव्वं च ॥ ३४७ ॥
कमवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि। णाणवियप्पे वीसं गंथे वारस य चोद्दसय ॥ ३४८ ॥
छाया–अर्थाक्षरे च पदसंघाते प्रतिपत्त्यनियोगे च। द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च।
क्रमवर्णोत्तरं वर्धिते तेषां समासाश्च अक्षरगतानि। ज्ञानविकल्पेषु विंशतिः ग्रन्थे द्वादश च चतुर्दश च ॥
(गोमटसार–जीवकाण्ड ज्ञानमार्गणा)

२ आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवाद, ये द्वादश भेद हैं।

३ अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं। आभिणिवोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥ ३१४ ॥
[गोमट० जीव०]

उत्तरः—

'श्रुत'शब्दका अर्थ 'सुना हुआ विषय' या 'शब्द' ऐसा होता है। यद्यपि श्रुतज्ञान सर्व प्रकारके मतिज्ञानोंके बाद हो सकता है तो भी वर्णनीय व शिक्षा योग्य सर्व विषय शास्त्रोंमें पाये जाते हैं और वे ही विषय श्रुतज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं। इसलिये श्रुतज्ञानमें श्रुतशब्दका संबंध मुख्यताकी दृष्टिसे होसकता है। शास्त्रज्ञानके अतिरिक्त भी श्रुतज्ञान हो सकता है। शास्त्रज्ञान श्रुतज्ञानका एक मुख्य अंग है। और शास्त्र नाम शब्द व वाक्योंके समूहका है। वाक्य मात्रका ज्ञान जो प्रथम होता है वह मति ज्ञान ही है। इसलिये श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक और श्रुत-नामसे कहा है।

श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति किसी किसी ग्रंथमें आभिनिबोधकज्ञानपूर्वक भी कही है। आभिनिबोधक अनुमानका नाम है। अनुमान, मतिज्ञानका एक भेद है। इसलिये आभिनिबोधकज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञानका उत्पन्न होना मानना यह दिखाता है कि श्रुतज्ञान स्वार्थानुमानपूर्वक होता है। परंतु केवल ऐसा निश्चय करलेना ठीक नहीं है। क्योंकि, ईहादि ज्ञानोंके बाद भी श्रुतज्ञानका होजाना संभव है। श्रुतज्ञानमें जो मतिज्ञानको कारण माना जाता है वह केवल इसलिये कि किसी वस्तुके साधारण ज्ञान हुए विना विशेषावभासी श्रुतज्ञान एक दम कैसे हो? अर्थात्, श्रुतज्ञानके उत्पन्न करनेमें प्रथम उत्पन्न हुए मतिज्ञानके विषयका सहारा लेना पड़ता है। इतना ही यहां कार्यकारणपना है। इसलिये आभिनिबोधकका अर्थ मतिज्ञान करना चाहिये।

मति व श्रुत—ये दो ज्ञान थोड़े बहुत सर्व संसारी जीवोंमें देखे जाते हैं। परंतु आगे जिन ज्ञानोंका वर्णन करेंगे वे सर्व साधारणके अनुभवगोचर नहीं होते। किसी विशेष तपोबलसे अथवा पुण्यके उदयसे प्राप्त होते हैं। इंद्रियोंके सामर्थ्यसे वे ज्ञान दूर हैं इसीलिये उन्हें अतींद्रिय ज्ञान कहते हैं। उस अतीन्द्रिय ज्ञानके भेद तीन हैं; अवधि, मनःपर्यय, कैवल्य। तीनों ही उत्तरोत्तर चढबढकर हैं।

अवधिज्ञान—

परापेक्षां विना ज्ञानं रूपिणां भणितोऽवधिः ॥ २५ ॥

अनुगोऽननुगामी च तदवस्थोऽनवस्थितः। वर्धिष्णुर्हीयमानश्च षड्विकल्पः स्मृतोवधिः ॥२६॥

१ 'स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्' इति परीक्षामु०। यहा आगम शब्दसे श्रुतज्ञान ही लिया गया है।

अर्थ—अनुगामी, अननुगामी, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित-ये छह भेद अवधिज्ञानमें पाये जाते हैं। अनुगामी उसे कहते हैं कि जो क्षयोपशम विद्यमान रहनेसे मनुष्यका साथ बहुत समयतक न छोडे। कोई कोई अवधि तो दूसरे भवतकमें जाते हुए भी साथ नहीं छोडता। जो उत्पन्न होकर जल्दी ही छूट जाय उसे अननुगामी कहते हैं। उत्पन्न होनेके समय अवधिका जितना प्रमाण हो उससे फिर जो घटता जाय वह हीयमान है। उत्पत्तिके समयसे बढता जाय वह वर्धमान है। जैसाका तैसा ही जो बना रहै वह अवस्थित कहाता है। और जो घटता बढता रहे वह अनवस्थित कहाता है।

पैदा होकर छूट जाय उसे प्रतिपाती कहते हैं। और जो केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे पूर्वतक बना रहे उसे अप्रतिपाती कहते हैं। ये प्रतिपाती व अप्रतिपाती दो भेद सामिल करनेसे आठ भेद हो सकते हैं। परंतु छह भेदोंके भीतर ये दो भेद गर्भित हो सकते हैं। जैसे, अनुगामी होनेसे अप्रतिपाती भी हो सकता है। प्रतिपातीको अननुगामी कह सकते हैं। इसलिये सूत्रकारने तथा ग्रंथकर्ताने मुख्य भेद छह ही रक्खे हैं। छह भेदोंमें भी तीन भेदोंके तीन प्रतिपक्षी भेद हैं। जैसे, अनुगामीका उलटा अननुगामी, वर्धमानका उलटा हीयमान, अवस्थितका उलटा अनवस्थित। जो जिसका प्रतिपक्षी है वह उसके साथ नहीं रह सकता है। जैसे अनुगामी अवधिमें अननुगामीपना नहीं रह सकता है। परंतु अनुगामीका विरोध अवस्थित आदि चार भेदोंके साथ नहीं है इसलिये कोई अनुगामी अवधि अवस्थित भी हो सकता है और कोई अनवस्थित भी हो सकता है। इसीप्रकार हीयमान व वर्धमान—ये भेद भी अनुगामीके हो सकते हैं। इसप्रकार अवधियोंके अनेकों भेद हो जाते हैं। परंतु इन सभी भेदोंका एक लक्षण ऐसा होना चाहिये कि जो इन सर्व भेदोंका अंतर्भाव करले और शेष चार प्रकारके ज्ञानोंसे अवधिको जुदा भी दिखासके।

वह लक्षण यह है—किसी सहारेके विना जो रूपी पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान हो वह अवधिज्ञान है। मतिज्ञान व श्रुतज्ञानमें इंद्रियोंकी तथा मनकी अपेक्षा रहती है परंतु अवधिमें किसी भी इंद्रिय या मनका सहारा नहीं लेना पडता है। इसीलिये मतिज्ञानको व श्रुतज्ञानको परोक्ष कहते हैं; क्योंकि वे इंद्रियमनके पराधीन हैं। जिस प्रकार अंधा आदमी देख नहीं सकता इसलिये टटोलनेपर कुछ मलिनसा ज्ञान हुआ मानता है। इसीप्रकार संसारी जीव सीधा समझ नहीं सकते इसलिये इंद्रियमनके सहारेसे विषयोंको टटोलते हैं। इसलिये इंद्रियमनोजन्य ज्ञानको अवधिज्ञानके सामने परोक्ष ही कहना चाहिये। जिसप्रकार जन्मांधको अपने ज्ञानकी मलिनता व अपूर्णता जान नहीं पडती तो भी जो सूझते हैं वे उस अंधेके

ज्ञानको अपने ज्ञानसे अधिक मलिन व अपूर्ण अवश्य मानते हैं। उसीप्रकार संसारी जीवोंको अपना इंद्रियमनोजन्य ज्ञान मलिन व अपूर्ण जान नहीं पडता। वे समझते हैं कि इससे अधिक स्पष्ट और साक्षात् ज्ञान दूसरा नहीं हो सकता। क्योंकि इंद्रियमनका सहारा लिये विना ज्ञान होना ही असंभव है। ऐसी समझ तभीतक है और उन्ही जीवोंकी है जिनका कि जबतक जन्मान्धपना दूर नहीं हुआ है। जिनको तपश्चरण आदिकी महिमासे यह जन्मांधकासा आवरण दूर हो गया है वे इंद्रियमनोजन्य ज्ञानको पराधीन, और अत एव मलिन तथा अपूर्ण ही मानते हैं। हमें चाहें उसका साक्षात्कार नहीं हुआ तो भी इतनी बात अनुमानसे समझ सकते हैं कि अमूर्तिक आत्माका ज्ञान स्वाभाविक धर्म है। इसलिये ज्ञान जब स्वतंत्र होगा तब बहुत ही अधिक निर्मल होगा। इसप्रकार उदाहरण व अनुमानसे सिद्ध हुए अतींद्रिय ज्ञानोंमेंसे ही एक अवधिज्ञान है। इसलिये उसका उपयोग विना ही मन व इंद्रियोंके होता है। अतएव वह सच्चा साक्षात्कारी ज्ञान है। यह अतींद्रियज्ञानोंका पहला भेद है इसलिये इसमें मूर्तिक वस्तुके सिवा औरका प्रकाश नहीं होता। सर्व अमूर्तिक तत्त्वोंका पूरा पूरा प्रकाश जिसमें हो सकता है वह अतींद्रियज्ञानोंका अंतिम और सर्वश्रेष्ठ भेद है। उसे केवलज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञानमें भी अमूर्तीक=संसारी जीवका थोडासा भान होने लगता है परंतु वह मूर्तिक शरीरके संबंधसे। इसलिये इसका असली विषय मूर्तिक ही माना जाता है।

देवानां नारकाणां च स भवप्रत्ययो भवेत्।
मानुषाणां तिरश्चां च क्षयोपशमहेतुकः॥ २७॥

अर्थ—वह अवधिज्ञान देव और नरकगतिके तो सभी जीवोंको होता है परंतु मनुष्यतिर्यंच गतिमें उसीको हो सकता है जिसने कि उस ज्ञानके घातक कर्मका क्षयोपशम करलिया हो। गति, मनुष्य तिर्यंच देव नारक, ये चार हैं। इन्ही गतियोंमें जो जीवोंके जन्म होते हैं उन्हें भव कहते हैं। भवोंके भी ये ही चार नाम हैं। भवमात्रके निमित्तसे देव नारकोंको अवधिज्ञान होता है इसलिये उनके ज्ञानको भवप्रत्यय अथवा भवनिमित्तक कहा है। जो मनुष्य तिर्यंचोंको होता है वह सभीको नहीं होता किंतु विरलोंको होता है इसलिये उसे भवनिमित्तक नहीं कहते किंतु क्षयोपशमनिमित्तक कहते हैं। क्षयोपशम देव नारकोंके अवधिज्ञान होनेमें भी लगता है; नहीं तो वहां आपसके अवधिज्ञान जो हीनाधिक रहते हैं वे कैसे हों? तो भी उन्हें देवनारक भव मिलते ही क्षयोपशम भी मिलता ही है। इसलिये वहां थोडा बहुत अवधि सभीको होता है। मनु-

ष्योंमें तीर्थंकरोंको भी जन्मते ही अवधिज्ञान रहता है। इसलिये उनके अवधिज्ञानको भी भवनिमित्तक ही माना जाता है। परंतु मनुष्योंमें तीर्थंकरसरीके भवनिमित्तक अवधिज्ञानवाले जीव वहुत ही थोडे होते हैं इसलिये यहां ऐसे जीवोंकी उपेक्षा मानकर मनुष्योंके अवधिको क्षयोपशमनिमित्तक कहा है।

अवधिज्ञानके तीन भेद हैं। देशावधि परमावधि व सर्वावधि। देव व नारकोंमें देशावधिके ऊपर दूसरा तीसरा भेद प्राप्त नही हो सकता है। ये भेद मनुष्योंमें ही हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि उग्रतपके माहात्म्यसे किसी किसीको ही इसके आवरणका अभाव हो सकता है। इसीलिये अनुगामी आदि छहो भेद भी ऊपरके अवधिज्ञानमें संभव नहीं होते।

मनःपर्ययः—

परकीयमनःस्थार्थज्ञानमक्षानपेक्षया।
स्यान्मनःपर्ययो भेदौ तस्यर्जुविपुले मती ॥ २८ ॥

अर्थ—दूसरोंके मनकी वातें जानना सो मनःपर्यय है। यहां भी इंद्रियमनके सहारेकी आवश्यकता नहीं रहती इसलिये यह भी अतीन्द्रिय और अतिस्पष्ट होता है। इसके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं।

अवधिज्ञान अतिसूक्ष्म पदार्थको भी जान सकता है। उसकी उत्कृष्ट अवस्था प्रगट होनेपर पुद्गलका परमाणुतक जाना जा सकता है। मनःपर्यय ज्ञान भी मूर्तीक पदार्थोंमें ही प्रवृत्त होता है। परन्तु शरीरविशिष्ट होनेके कारण संसारी जीवोंका भी स्वरूप कुछ जाननेमें आता है। जो अवधिज्ञानका विषय है वह इस मनःपर्ययका भी विषय होता है। अन्तर इतना ही है कि अवधिज्ञान उपयोग लगानेपर सीधा ही विषयोंको जानता है और मनःपर्ययका उपयोग किसीके मनके साथ ही लग सकता है। इसीलिये इसका विषय मनोगत भावमात्र ही माना गया है। उपस्थित विषयोंकी अपेक्षा मनोगत भाव अति सूक्ष्म समझा जाता है। इसीलिये, अवधिज्ञान, जो कि परमाणुपर्यंत सूक्ष्म वस्तुओंको जान लेता है, उससे भी अधिक सूक्ष्मको जान लेनेमें मनःपर्ययका सामर्थ्य माना गया है। फिर भी उस मनःपर्ययमें जो दो भेद है उनमेंसे प्रथम भेदका ऋजुमति ज्ञान जितनी मनोगत विचारोंकी सूक्ष्म अवस्थाको समझ सकता है उससे भी अति सूक्ष्मको दूसरा विपुलमति ज्ञान समझ सकता है। परमाणुसे अधिक सूक्ष्म मूर्तीक पदार्थ नहीं हो सकता है। और परमाणुतक अवधिज्ञान ही जान लेता है। इसलिये मनःपर्ययका विषय अति सूक्ष्म वतानेका यह मतलव मानना चाहिये कि वाह्य वस्तुओंकी अपेक्षा

मनोगत भाव एक अतिसूक्ष्म और विजातीय चीज है। इसीलिये अवधिज्ञानसे मनःपर्यय ज्ञानको एक जुदा ज्ञान माना है। यदि बाह्य विषयमें ही जाननेकी शक्ति अतिसूक्ष्म तक उत्तरोत्तर बढनेमात्रसे मनःपर्ययकी कल्पना होती तो जुदा माननेकी आवश्यकता न थी; और न नाम ही मनःपर्यय ऐसा जुदा रक्खा जाता। विषयके प्रकार जबतक जुदे न हों तबतक ज्ञानोंकी जातिमें भेद मानना निराधार है। इसीलिये मानना चाहिये कि जो अवधिज्ञानका विषय है वह मनःपर्ययका नहीं है और जो मनःपर्ययका है वह अवधिज्ञानका नहीं है। पांचों ही ज्ञानोंके विषयाकारका विवेचन जुदा जुदा है। विष याकार जुदा होनेसे उसको जाननेवाला ज्ञान भी जुदा मानना पडता है। विषयका अर्थ केवल वस्तुमात्र ही नहीं होता किन्तु ज्ञेयत्वधर्मकी मुख्यतासे विषयका आकार ठहराया जाता है। जब कि ज्ञानके विना ज्ञेयत्वधर्मका निश्चय होना कठिन है तो ज्ञानके भेदसे विषयोंमें भेद मानना भी आवश्यक है। ज्ञानोंमें भेद उत्पत्ति-कारण-आदि प्रकारोंसे भिन्न होनेसे जरूर ही मानना पडता है। इस प्रकार मनःपर्ययका विषय अवधिज्ञानके विषयसे जुदा समझना चाहिये। जुदा होकर भी तारतम्यकी अपेक्षासे देखनेपर मालूम पडता है कि अवधिज्ञानके विषयसे मनःपर्ययका विषय अति सूक्ष्म है। सूक्ष्म विषयोंको जानने वाला मनःपर्यय हो जानेपर भी किसी किसीको अवधिज्ञान नहीं होता है। यदि सूक्ष्मतामात्र ही विषयका भेद होता तो मनःपर्ययवालेको अवधिज्ञान अवश्य होता। इसलिये भी विषयकी जाति जुदी जुदी माननी पडती है।

ऋजुमति वर्तमानमें जो विचार जारी हो उसीको जान सकता है और सरल सरलसे विचारोंको जान सकता है। परन्तु विपुलमति उन विचारोंको भी जान सकता है कि जो आगे होनेवाले हों अथवा होकर बीत गये हों। एवं, जो कुटिलसे कुटिल और जटिलसे जटिल हों उन विचारोंको भी वह जान लेता है। इसीलिये पहिलेका अन्वर्थ नाम ऋजुमति और दूसरेका विपुलमति है।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां विशेषश्चिन्त्यतां तयोः।

अर्थ—ऋजुमति और विपुलमतिमें दो बातोंका अंतर है। एक तो यह कि, ऋजुमतिसे विपुलमतिकी निर्मलता अधिक होती है। और दूसरा यह कि, ऋजुमति होकर छूट भी जाता है परंतु विपुलमति केवलज्ञान तक रहता है। पहिलेसे दूस-रेकी निर्मलता इसीलिये सिद्ध हो जाती है कि दूसरा अधिक सूक्ष्मको समझ लेता है। अप्रतिपातका कारण यह है कि दूसरे ज्ञानके होते ही चारित्रकी इतनी तीव्र विशुद्धि बढती है कि वह क्षपकश्रेणीको अवश्य मारंभ करादे। एवं, उस ज्ञा-

नके आवरणका अंतिम क्षयोपशम इतना टिकाऊ होता है कि वह फिर बंद नहीं हो सकता। परिणामोंकी विचित्रता अचिंतनीय है। इसी वातको यों भी कह सकते हैं कि उत्कट चारित्रके होनेसे दूसरे मनःपर्ययका आवरण व चारित्रघाती कर्म एक साथ क्षयोपशमको प्राप्त होते हैं। और चारित्र वर्धमान होनेसे उस ज्ञानावरणको फिर उदयमें आनेका कभी अवकाश ही नहीं मिलता। क्योंकि जितने चारित्ररूप परिणामसे उस आवरणका क्षयोपशम हुआ था उससे चारित्र प्रति समय वढता ही चला जाता है। इसलिये जब चारित्र घटता ही नहीं तो उस आवरणका उदय फिर किस प्रकार हो सकता है? उस चारित्रसे उस आवरणका क्षयोपशम होकर दूसरा मनःपर्यय ज्ञान होता है और उसके होनेसे वह चारित्र वर्धमान होने लगता है। इसप्रकार उत्तरोत्तरके ज्ञान व चारित्र परस्परकी वृद्धि करते हुए केवलज्ञान व यथाख्यात चारित्रकी दशातक पहुंच जाते हैं। इस ज्ञानकेलिये चारित्र प्रथम कारण हुआ था इसलिये परस्पर वृद्धि होते हुए भी प्रथम चारित्र ही पूर्ण होता है।

अवधिमनःपर्ययका परस्पर भेदः—

स्वामिक्षेत्रविशुद्धिभ्यो विषयाच्च सुनिश्चितः ॥ २९ ॥
स्याद्विशेषोवधिज्ञानमनःपर्ययबोधयोः।

अर्थ—अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञानमें परस्पर चार वातोंका अंतर है; (१) स्वामी, (२) क्षेत्र, (३) विशुद्धि और (४) विषय। अर्थात् ये चारो वातें अवधि और मनःपर्ययकी जुदी जुदी हैं तथा हीनाधिक भी हैं। अवधिज्ञान चारो गतियोंमें चाहें जिस सेनी जीवको हो सकता है परंतु मनःपर्यय छट्ठे गुणस्थानवर्ती वर्धमान चारित्रवाले जीव को ही होता है। यह स्वामियोंकी विशेषता हुई। उत्कृष्ट अवधिज्ञानका क्षेत्र असंख्यात द्वीपसमुद्र पर्यंत है और मनःपर्ययका अढाई द्वीप मनुष्यक्षेत्रमात्र ही है। विषयके भेदसे विशुद्धिमें परस्पर अंतर सहज ही मालूम हो सकता है। जवतक अवधिज्ञानकी विशुद्धि अधिक न हो तवतक अति सूक्ष्म विषयकी जानकारी कैसे संभव हो सकती है। विषयका भेद बता चुके हैं कि परमाणु पर्यंतका रूपी द्रव्य अवधिका विषय है और मनःपर्ययका मनोगत विकल्प ही विषय है।

केवलम् —

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम् ॥ ३० ॥
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम् ।

अर्थ–घातिकर्मका पूर्ण क्षय हो जानेपर जो ज्ञान सर्व विषयोंको जाननेवाला प्रगट होता है उसके साथ अन्य ज्ञान कोई भी नहीं रह सकते इसलिये उसे केवलज्ञान कहा है। यह आत्माके शुद्ध स्वरूपसे उत्पन्न होता है और उसे किसी भी सहारेकी जरूरत नहीं पड़ती इसलिये यह असहाय कहाता है। यों तो अवधि व मनःपर्यय भी असहाय हैं-उन्हें भी इन्द्रियोंकी सहायता लेनी नहीं पड़ती। परंतु उनपर फिर भी ज्ञानावरणका जोर रहता है। उनका आवरण कभी भी पूरा नष्ट नहीं होता इसलिये वे क्षायोपशमिक कहाते हैं। केवलज्ञान क्षायिक है इसलिये इसमें आवरणका थोड़ासा भी लेश नहीं रहता। यही कारण है कि इसीको सर्वथा असहाय माना है।

यहांपर शंका यह हो सकती है कि अवधि व मनःपर्यय असहाय न होनेसे पराधीन हुए। जो पराधीन होता है वह प्रत्यक्ष नहीं कहा जासकता? इसका उत्तरः—

अवधि व मनःपर्ययकी लब्धि प्राप्त होनेके लिये आत्माके क्षयोपशमकी आवश्यकता होते हुए भी उपयोगात्मक ज्ञान होनेमें किसीका भी सहारा नहीं लेना पड़ता इसलिये इनकी प्रत्यक्षतामें कोई अंतर नहीं है। प्रत्यक्षतामें अंतर तब हो सकता था जब कि मतिश्रुतकी उत्पत्ति जिस प्रकार इंद्रिय व मनके अधीन है इसीप्रकार अवधि व मनःपर्ययकी भी उत्पत्ति किसीके अधीन होती। चक्षुरिन्द्रियावरणका क्षयोपशम होते हुए भी चक्षु फूट जानेपर चक्षुर्जन्य ज्ञान नहीं हो सकता परंतु अवधि-मनःपर्ययका क्षयोपशम हो तो अवधि व मनःपर्यय ज्ञान चाहे जब हो सकते हैं। और जब नहीं हो सकते तब उनके आवरणोंका भी क्षयोपशम नहीं रह सकता है। इसलिये अवधि व मनःपर्यय असहाय न होनेपर भी प्रत्यक्ष पूरे पूरे होते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञानकी भांति अवधिमनःपर्ययके विषय सर्व जगभर न होकर भी उनके जितने विषयोंमें प्रवृत्ति होती है उनमें पूरा और साक्षात् ज्ञान होनेसे उनकी प्रत्यक्षतामें कोई अंतर नहीं है। जैसी प्रत्यक्षता केवलज्ञानमें होती है वैसी ही अवधिमनःपर्ययमें भी होती है।

सर्वावरण नष्ट हो जानेसे केवलज्ञान युगपत् सर्व विषयोंको जानता है। इसीलिये केवलज्ञानको अक्रम ज्ञान कहते हैं।

दूसरे ज्ञानोंमें यह बात नहीं है। दूसरे सभी ज्ञान क्रमसे ही विषयोंमें प्रवर्तते हैं। चित्तकी स्थिरताके अनुसार एकेक समयमें एकसे अधिक विषय भी मतिश्रुतादिके द्वारा जाने जासकते हैं। परंतु जितनेतक क्रमसे जाननेकी मत्यादिकोंमें योग्यता है उतने सब एकदम कभी नहीं जाने जासकते हैं। इसीलिये पहिले चारो ज्ञान चाहें जितने अधिक बढ जांय परंतु क्षायोपशमिक ही रहते हैं। केवलज्ञान क्षायिक है इसलिये वह अक्रमवर्ती ही होना चाहिये। मतिज्ञानादिकोंके आवरण केवलज्ञानावरणके नाशके साथ ही पूरे नष्ट होते हैं। उससे पहिले पूरे नष्ट नहीं हो पाते हैं। क्रम और अक्रमका यही साक्षात् कारण है।

यद्यपि साक्षात्कारण-अपने अपने ज्ञानावरणोंका पूरा क्षय होना न होना ही ज्ञान पूरे प्रगट होने न होनेमें कारण है परंतु यह नियम क्यों माना जाता है कि प्रथम चार ज्ञानोंके आवरण केवलज्ञानावरणके नाशसे पहिले पूरे नष्ट नहीं हो सकते हैं? यदि पहिले ही तपोबलसे नष्ट हो जांय तो क्या बाधा आवेगी? दूसरी शंकाकी बात यह भी है कि जितने विषयोंको जाननेकी शक्ति क्षयोपशमके ज्ञानों में प्राप्त होती है उतने भी विषय युगपत् क्यों नहीं जाननेमें आते?

उत्तरः—मोहनीय कर्म विषयोंमें आसक्ति पैदा करता है। वह मोहनीय कर्म, जैसे ज्ञानावरण अनादिसे लगा हुआ है वैसे ही, अनादिसे लगा हुआ है। वही चारित्रकी विपरीत अवस्था करता है। चारित्रकी विपरीत अवस्थाका नाम ही मोह है और उसीको रागद्वेष कहते हैं। शरीरेंद्रियादिके अनुकूल पदार्थोंमें मोहद्वारा राग उत्पन्न होता है और प्रतिकूलोंमें द्वेष उत्पन्न होता है। यह रागद्वेष जैसा तीव्र मंद तथा चिरस्थायी अचिरस्थायी पदार्थोंके साथ उत्पन्न होकर रहता है वैसे ही ज्ञान भी उन विषयोंमें फैलता है और रुकता है। इसलिये तीव्र मोहीका ज्ञान संकुचित रहता है। यह बात अनुभवसिद्ध है कि मोहकी मात्रा बढनेके समय ज्ञानकी मात्रा संकुचित रहती है। वह मोह जैसा कम होता है वैसा ही ऊपरके गुणस्थानोंमें ज्ञान बढता है। वहां अवधि व मनःपर्यय चाहें विशिष्ट जातिका मोह तथा आवरण नष्ट न होनेसे प्रगट न हों परंतु मतिश्रुत ज्ञान अत्यंत ही निर्मल हो जाते हैं। इसका प्रमाण यह है कि श्रेणीका चढना श्रुतकेवलज्ञानके विना नहीं होता। इस प्रकार मोहके मंद होनेसे ज्ञान भी बढता अवश्य है परंतु मोहकी सत्ता जब तक निर्मूल नहीं हो पाती तबतक किसी भी ज्ञानके आवरणका क्षय भी नहीं होता। एवं, जितनी योग्यता प्राप्त होती है उतना भी उपयोग नहीं हो पाता है। यह मोहकी महिमा है। दशवें गुणस्थानतक मोह रहता है इसलिये तभी तक ज्ञान भी क्षायोपशमिक रहते हैं और जितना क्षयोपशम होता है उतने भी एकदम तबतक प्रगट नहीं हो सकते हैं। मोह नष्ट होते ही जैसी वीतरागता पूरी प्रगट हुई कि बाधक

कारणका नाश होनेसे साक्षात् बाधकरूप ज्ञानावरणका भी पूरा नाश अनायाससे हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि क्षायोपशमिकपना और क्रमवर्तीपना ये दो उपाधि ज्ञानमेंसे तबतक हट नहीं सकती जबतक कि मोहनीयका निर्मूल नाश न हो जाय। और मोहनीयका नाश हो जानेपर ये दोनो उपाधि रह नहीं सकती हैं। इसलिये मोहका नाश और सर्वज्ञताकी प्राप्ति होनेमें परंपरा कारणकार्यसंबंध बताया है और मोहक्षयको प्रथम बताकर ज्ञानावरणादि बाकी कर्मोंका नाश, जिससे कि केवलज्ञान प्रगट होसके, बादमें बताया है। मोहका नाश होनेपर ज्ञानावरणादिकोंका नाश ठीक उत्तर क्षणमें नहीं होता तो भी यह नहीं कहा जासकता है कि ज्ञानावरण फिर टिक सकेगा। थोडासा समय फिर भी लग जाता है इसका कारण यह है कि मोहका नाश ज्ञानोत्पत्तिका साक्षात्कारण नहीं है। उपयोगकी स्थिरता होनेमें वह बाधक होता था और आसक्तिके होनेसे आवरणका निश्शेष क्षय नहीं हो पाता था सो वह बाधक हट जानेपर आवरणके नाशकी तर्फ जीवकी प्रवृत्ति होने लगजाती है। अर्थात् आवरणका नाश करनेके लिये ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्न उत्पन्न होते हैं। उस प्रयत्नके पूर्ण होनेमें जो कुछ समय लगजाता है उतना ही आवरणके नाश होनेमें विलंब हो जाता है। तो भी यह थोडासा विलंब यह प्रमाणित नहीं करसकता है कि मोहनाशका और आवरणनाशका कारणकार्यसंबंध नहीं है। मोहनाश होनेपर भी आवरणनाश करनेकेलिये प्रयत्न करनेमें विलंब लग जानेका एक यह भी हेतु है कि मोह और आवरण परस्परमें विजातीय है और दोनोंके नाशके असली फल भी जुदे जुदे हैं। ऐसी हालतमें यह मोहनाश अपना साक्षात्कार्य करता हुआ विजातीयके ऊपर अपना असर क्रमसे तथा मंद वेगद्वारा ही डाल सकेगा। परंतु इतना निश्चय अवश्य है कि मोहकी शक्तिके विना निर्वीर्य होजानेवाले शेष घाती कर्म फिर टिक नहीं सकते हैं। इसीलिये उसके बाद सचराचर त्रिकालवर्ती विषयोंको जाननेकी शक्ति वाला असहाय अक्रमवर्ती केवलज्ञान प्रगट होता है।

पाचो ज्ञानोंका विषयविभागः—

मतेर्विषयसंबन्धः श्रुतस्य च विबुध्यताम् ॥ ३१ ॥
असर्वपर्ययेष्वत्र सर्वद्रव्येषु धीधनैः । अवधिः पर्ययेष्विष्टो रूपिद्रव्येषु सोवधेः ॥ ३२ ॥
स मनःपर्ययस्येष्टोऽनन्तांशेवधिगोचरात् । केवलस्याखिलद्रव्यपर्यायेषु स सूचितः ॥ ३३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् मनुष्य थोड़े थोड़े पर्यायोंके साथ सभी द्रव्योंको मति ज्ञान व श्रुतज्ञान द्वारा जान सकते हैं। रूपी

द्रव्य कुछ पर्यायोंके साथ अवधिज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं। अवधिज्ञानके गोचर होनेवाला रूपी द्रव्य अनंतवे भाग सूक्ष्म होजानेतक मनःपर्ययके द्वारा जाना जासकता है। समस्त पर्याय व द्रव्योंका ज्ञान केवलज्ञान द्वारा होता है।

एक साथ ज्ञानोंका परस्पर विरोधाविरोधः—

जीवे युगपदेकस्मिन्नेकादीनि विभावयेत्।
ज्ञानानि चतुरन्तानि न तु पञ्च कदाचन ॥ ३४ ॥

अर्थ–किसी भी जीवमें कभी भी पांचो ज्ञान एक साथ नहीं रहसकते हैं। हां, चारतक एक एक जीवमें एक साथ रहसकते हैं। केवलज्ञान हो तो वही एक होगा। उसके साथ दूसरा कोई भी ज्ञान नही रह सकता है। जैसे सूर्यके ऊपर मेघपटल जबतक रहते हैं तबतक अनेक प्रकारसे अनेक क्षेत्रोंसें खंडशः प्रकाश पडता है। परंतु मेघपटल सर्वथा हट जानेपर उसका प्रकाश अखंडरूपसे सर्वत्र पडने लगता है। उसी प्रकार ज्ञानावरणके रहते हुए जीवका ज्ञानगुण कभी दो प्रकारसे और कभी तीन अथवा चार प्रकारसे निरनिराले विषयोंमें अपना प्रकाश करता है। परंतु जब आवरणका सर्वथा नाश होजाता है उस समय पूर्णरूपसे वह प्रकाशने लगता है। उस समय ज्ञानमें खंड अथवा प्रकार रहनेका कोई कारण नहीं है। जबतक आवरण निःशेष नष्ट नहीं हुए तबतक अवधि व मनःपर्ययके दो आवरणोंका यदि पूरा उदय रहै तो भी मतिश्रुतसंबंधी दो आवरणोंके क्षयोपशमद्वारा दो मतिश्रुतज्ञान विद्यमान रहसकते हैं। यदि अवधिके आवरणका भी क्षयोपशम होने लगे तो अवधिज्ञान भी होने लगता है। उस समय तीन ज्ञान युगपत् कहे जाते हैं। मनःपर्ययका आवरण भी जब क्षयोपशमको प्राप्त होने लगता है तब मनःपर्यय भी होसकता है। उस समय चार ज्ञान तक एक साथ रहने लगते हैं। इस प्रकार जीवोंमें प्रथम चार ज्ञानतक युगपत् हो जाना संभव है।

प्रश्न–जब कि मतिज्ञानादि एकेक ज्ञानके भी अनेक विषय एक साथ जाननेमें आना कठिन है तो अनेक ज्ञान युगपत् किस प्रकार रह सकते हैं?

उत्तरः–आवरणोंका क्षयोपशम एक साथ जितने ज्ञानके संबंधका होजाता है उतनी ज्ञानशक्ति इस लायक होजाती है कि जीव चाहें जब उसका उपयोग करले। इसलिये यद्यपि उपयोग एक समयमें एकके सिवा अधिक नहीं हो सकता है तो भी लाभकी योग्यता मात्र रहनेसे चार ज्ञानतक एक साथ कहनेमें आते हैं। जिन ज्ञानोंमें हम एकसे अधिक वि-

भाग कर सकते हैं वे अनेक ज्ञान एक साथ कभी काममें नहीं आते हैं—यह नियम है। केवलज्ञान यद्यपि तीन लोक और त्रिकालके विषयोंको जानता है और अलोकसे भी अधिकतकके विषयोंको जान सकता है तो भी वह अखंड कहाता है। नाना विषयोंके संबंधसे उसमें अनेकपना नहीं आता। इसीलिये वह सर्व विषयोंको जानते हुए भी क्रमवर्ती नहीं होपाता है। दूसरे ज्ञानोंमें अखंडतासे जाननेकी योग्यता नहीं है इसलिये वे क्रमवर्ती कहे जाते हैं और उनकी लब्धिरूप योग्यता भी एक साथ अत्यंत विशुद्ध जीवमें ही पाई जाती है।

ज्ञान मिथ्या होनेका कारण—

मतिः श्रुतावधी चैव मिथ्यात्वसमवायिनः। मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता ॥३५॥

अर्थ—मिथ्यादर्शनरूप परिणामके होनेसे मति, श्रुत न अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं। ये ज्ञान मिथ्या हों तो प्रमाण नहीं माने जाते। मोहका परिणाम इतना प्रबल है कि उसके रहते हुए ज्ञान अपना असर नहीं करते हैं। मोहके चारित्रमोह व दर्शनमोह ऐसे दो प्रकार हैं। सबसे प्रबल दर्शनमोह होता है। चारित्रमोहके रहनेपर भी ज्ञान की वृद्धि नहीं होती परंतु जो हो सकता है वह प्रमाण माना जा सकता है। यद्यपि चारित्रमोहके भी तीव्र उदयके समय ज्ञान पक्षपातग्रस्त हो सकता है परंतु वह ज्ञानका विपर्यास नहीं है। और जो दर्शनमोह होता है वह ज्ञानमें विपर्यास उत्पन्न करदेता है। दर्शनमोहका नाम मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वके उदयसे पराभूत हुए जीवका ज्ञान अंतरंगसे विपर्यासित होजाता है। इसीलिये विषयोंको बाहिरसे यथावत् जानते हुए भी वह ज्ञान अप्रमाण माना गया है। यह मिथ्यात्वका असर पहिले तीन ज्ञानोंपर ही होता है इसलिये वे ही तीन अप्रमाण कहे गये हैं।

अविशेषात् सदसतोरुपलब्धेर्यदृच्छया। यत उन्मत्तवज्ज्ञानं नहि मिथ्यादृशोऽञ्जसा ॥ ३६ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीव वास्तविक सत् तथा असत् वस्तुस्वरूपकी विशेष पहिचान न होते हुए केवल अपनी रुचिसे ही सत्-असत्-आदिका निश्चय ठहराते हैं इसलिये उनका वह ज्ञान निर्दोष कभी नहीं माना जा सकता। जैसे एक उन्मत्त पुरुषको माता व स्त्रीपनेका भान नहीं है। वह स्त्रीको माता और माताको स्त्री कह देता है। उसका वह ज्ञान कभी सत्य

नहीं हो सकता। जबतक वह इसी प्रकार वेसुध रहेगा तवतक यदि माताको माता भी कहै तो भी उसका ज्ञान सत्य नहीं माना जाता। क्योंकि, अभी तक उसे सत्-असत्का विचार वास्तविक उत्पन्न नहीं हुआ है। यहां तक प्रमाणका वर्णन हुआ। अव [1]—

नयः—

वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यञ्जितात्मनः।
एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः ॥ ३७॥

अर्थ—अनंत धर्म या गुणोंके समुदायरूप वस्तुका स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है और जो उस अनंतधर्मात्मक वस्तुके एक एक अंगोंका ज्ञान करादे वह नय समझना चाहिये। वस्तुओंके धर्म अनंतों होनेसे अवयवकल्पनाऐं भी अनंत पर्यंत होसकती हैं और इसीलिये अवयवोंके ज्ञानरूप जो नय वे भी अनन्तपर्यंत होसकते हैं।

नयोंके भेदः—

द्रव्यपर्यायरूपस्य सकलस्यापि वस्तुनः। नयावंशेन नेतारौ द्वौ द्रव्यपर्ययार्थिकौ ॥ ३८ ॥

अर्थ—वस्तुका पूर्ण स्वरूप द्रव्य व पर्यायोंका स्वरूप मिलानेपर होता है। इसलिये जब कि पूर्ण वस्तुको जानना प्रमाणका कार्य है तो द्रव्य व पर्याय इन दोनों वस्त्वंशोंको जो ज्ञान जान सकते हैं उन दोनों ज्ञानोंको दो नय कहना चाहिये। विषयकी अपेक्षासे उन नयोंके नाम 'द्रव्यार्थिक' व 'पर्यायार्थिक' ऐसे होंगे।

अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचकाः। नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः॥

अर्थ—'द्रव्य' यह नाम वस्तुओंका भी है व वस्तुओंके सामान्य स्वभावमय एक स्वभावका भी है। जब प्रमाणके विषयमें 'द्रव्य' यह नाम उच्चारा जाता है तब उसका अर्थ 'वस्तु' ऐसा करना चाहिये। किंतु जब नयोंके प्रकरणमें 'द्रव्यार्थिक' इत्यादि नाम बोलागया हो तब उस 'द्रव्य' का अर्थ 'सामान्यात्मक धर्म' ऐसा ही करना चाहिये। तदनुसार यहां अनुप्रवृत्ति, सामान्य, द्रव्य, नित्य, ध्रुव इत्यादि शब्दोंका अर्थ एक 'सामान्यात्मक धर्म' करना चाहिये। 'विशेष' शब्दके

[1] प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः। इत्यकलंकदेवाः।

अर्थसे उलटा इसका तात्पर्यार्थ होता है। जब कि सामान्य व विशेषता ये दोनो ही स्वभाव प्रत्येक वस्तुमें उपलब्ध होते हैं तो वस्तुओंका पूर्ण स्वरूप सामान्य व विशेषके एकत्रित करनेसे होगा। अत एव दोनोमेंसे सामान्यको ग्रहण करना–यह एक-देशग्रहण हुआ। और इस ज्ञानको नय ही कहना चाहिये। इस नयका नाम 'द्रव्यार्थिक' होगा। 'अर्थ' इस शब्दका अर्थ प्रयोजन, विषय, धन, वाच्यार्थ, निश्चित इत्यादि अनेक प्रकारसे होता है। परंतु यहांपर पहिले दो अर्थ ही लेना उचित है। 'द्रव्य हो प्रयोजन अथवा विषय जिस नयका वह द्रव्यार्थिक है'[1], यह इस नामका शब्दार्थ हुआ।

व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः। पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिको मतः॥ ४०॥

अर्थ–व्यावृत्ति, विशेष, पर्याय, अनित्य, भेद इत्यादि शब्दोंका अर्थ एक ही होता है। वस्तुओंका यह भी द्रव्यत्वके समान एक अंश है। इस पर्यायको ग्रहण करनेवाला ज्ञान 'पर्यायार्थिक' कहाता है।

नयोंके द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक ये दो मूल भेद हैं। इसके आगे द्रव्य–पर्यायरूप विषयोंके उत्तर भेद जैसे अधिक होंगे वैसे ही इन दोनो नयोंके भेद भी वढ सकते हैं। इसलिये द्रव्य व पर्यायके कुछ उत्तर भेद करके दिखाना चाहिये।

द्रव्य व द्रव्यार्थिकके भेदः—

शुद्धाशुद्धार्थसंग्राही त्रिधा द्रव्यार्थिको नयः। नैगमः संग्रहश्चैव व्यवहारश्च स स्मृतः॥ ४१॥

अर्थ–द्रव्य अर्थात् वस्तुका सामान्य स्वरूप। यह सामान्य स्वरूप एक तो स्वयं ही सामान्य होता है और एक इतर किसी वस्तुका संबंध होनेसे माना जाता है। जो स्वयं ही सामान्य हो उसे शुद्ध सामान्य कहते हैं और जो इतर संबंधसे हो उसे अशुद्ध कहते हैं। ये दोनो ही प्रकारके सामान्य द्रव्यार्थिक नयके विषय होते हैं। शुद्ध सामान्यका उदाहरण आत्माको नित्य माननेमें दीख पडेगा। आत्माकी नित्यता किसी इतर वस्तुके संबंधके विना ही सिद्ध होती है। आत्माको क्रोधी मानना यह अशुद्ध द्रव्यका उदाहरण समझना चाहिये। क्रोधीपनेकी सिद्धि इतर संबंधसे होती है।

दूसरे प्रकारसे भी द्रव्यके भेद होते हैं। वे ऐसे कि, सत् व असत् स्वरूपमें परस्पर भेद न मानकर दोनोंको वस्तुका स्वरूप मानना-यह एक भेद हुआ। असत्को जुदा मानकर किसी सत्के अंतर्भेदोंमें भेद न मानना–यह दूसरा भेद हुआ।

[1] द्रव्यमर्थः-प्रयोजनं विषयो वा यस्यासौ द्रव्यार्थिक। पर्यायोऽर्थः प्रयोजनं विषयो वा यस्यासौ पर्यायार्थिक।

सत्में परस्पर अंतर्भेद मानना-यह तीसरा भेद हुआ। इन तीनो प्रकारके द्रव्य या सामान्यको ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिकके भी तीन भेद माने जाते हैं। तीनोंके क्रमसे नैगम, संग्रह व व्यवहार—ये नाम हैं। इनके लक्षण ग्रंथकार स्वयं आगे कहेंगे।

पर्याय व पर्यायार्थिकके भेदः—

चतुर्धा पर्ययार्थः स्यादृजुः शब्दनयाः परे। उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मसूक्ष्मार्थभेदतः॥ ४२॥
शब्दः समभिरूढैवंभूता ते शब्दभेदगाः॥ ४२॥ षट्पदी.

अर्थ—पर्याय अर्थात् विशेपता। परंतु द्रव्य—द्रव्योंमें जो परस्पर विशेपता होती है वह पर्यायार्थिक नयका विषय नहीं माना गया है। एक एक द्रव्यमें जो काल तथा शब्दोंके संवंधसे विशेपता होती है वही पर्यायार्थिक नयका विषय है। इसीलिये व्यवहार नयके विषयको द्रव्यके प्रकारोंमें गर्भित किया है।

इस पर्यायको ग्रहण करनेवाले नय चार हैं। ऋजुसूत्र—यह पहिला भेद है। वह सीधा वस्तुको विषय करता है। परंतु आगेके तीनो ही भेद शब्दद्वारा वस्तुको विषय कराते हैं। शब्द, समभिरूढ व एवंभूत-ये उनके नाम हैं। इन चारो ही नयोंके विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्म हैं।

चत्वारोर्थनया आद्यास्त्रयः शब्दनयाः परे। उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मगोचरता मता॥ ४३॥

अर्थ—पहिले तीन द्रव्यार्थिक नय व एक ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक नय-ये चार सीधे वस्तुओंको ग्रहण करते हैं इसलिये इन्हें अर्थनय कहते हैं। यहां 'अर्थ' शब्दका अर्थ वस्तु है। आगेके तीन पर्यायार्थिक नय, शब्दद्वारा अर्थको दिखाते हैं इसलिये वे शब्दनय हैं। मिलकर ये सर्व नय सात होते हैं। पर्यायार्थिक नयोंकी तरह सातोंमें उत्तरोत्तर विषयकी मर्यादा घटती हुई है।

नयोंके लक्षण व उदाहरणः—

अर्थसंकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः। प्रस्थौदनादिकस्तस्य विषयः परिकीर्तितः॥ ४४॥

अर्थ—किसी वस्तुमें अमुक एक पर्याय होनेकी योग्यतामात्र देखकर वह पर्याय वर्तमानमें न रहते हुए भी उस वस्तु-

१ यह बात नयोंके लक्षण व उदाहरण कह चुकनेपर कहेंगे।

को उस पर्याययुक्त मानना- यही नैगम नय है। जैसे, एक मनुष्य एक पत्थरमेंसे पंसेरी बनाना चाहता है अथवा चावल सिजाकर भात अभी तयार नहीं है तो भी किया तो हो सकेगा, यही समझकर वह पत्थरको पंसेरी व चावलको अभीसे भात कहने लगता है। इस प्रकारके विषय नैगमके विषय समझने चाहिये । कहीं तो ऐसा संकल्प बीत जानेवाले पर्यायके संबंधमें होता है और कहीं आगे होनेवालेके अभिप्रायसे होता है और कही सुरू होजानेपर पूर्ण होने तक होता है। नैगमके इन तीन भेदोंको भूत नैगम, भावी नैगम व वर्तमान नैगम कहते हैं। यदि वही विषय वर्तमानमें पूर्णतया उपस्थित हो तो फिर नैगमका विषय नहीं रहता।

भेदे[2]ऽप्यैक्यमुपानीय स्वजाते[3]रविरोधतः। समस्तग्रहणं यस्मात् स नयः संग्रहो मतः ॥ ४५ ॥

अर्थ—उत्तर विशेषताके कारण भेद रहते हुए भी स्वजाति-धर्मका परस्पर विरोध न रहनेसे एकता मानता हुआ जिस भावनाके वश प्राणी समस्त अन्तर्भेदोंको एकरूपसे ग्रहण करे या माने उसी भावनाको संग्रहनय कहते हैं।

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः। व्यवहारो भवेद्यस्माद् व्यवहारनयस्तु सः[4] ॥ ४६ ॥

अर्थ--संग्रहनयके द्वारा जिस भेदक धर्मको अमुख्य मानकर विषयोंमें अभेद माना गया था उसी भेदक धर्मकी मुख्य भावना होनेपर संग्रहके विषयोंको मनुष्य भिन्न २ मानने लगता है-यही व्यवहारनय है। संग्रहके समय जिस भेदक धर्मकी उपेक्षा की जाती है उसीकी व्यवहारनयके समय अपेक्षा या मुख्यता रक्खी जाती है। और जिस सामान्य या सजातीय धर्मकी संग्रहमें मुख्यता रक्खी जाती थी उसे यहां गौण समझना पडता है। व्यवहार विधिपूर्वक ही होता है—इस कहनेका भी यही अर्थ है। सग्रह व व्यवहारके क्रमसे उदाहरण देखो:-

चैतन्य व जडत्वादि विशेष लक्षणोंके रहनेसे परस्पर भेद होनेपर भी सत्ता-धर्मको यावद् द्रव्योंमें पाकर 'सर्व सत्'

---

१ अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। निगच्छन्त्यस्मिन्निगमनमात्रं वा निगमः। निगमे कुशलो भवो वा नैगमः। तस्य लोके व्यापारः-अर्थसंकल्पमात्रग्रहण प्रस्थेन्द्रगृहगम्यादिषु। २ 'भेदेनैक्यमुपानीय' यह छपी पुस्तकमें पाठ था। ३ स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तग्रहणं संग्रहः। शुद्धपमिधानानुप्रवृत्तिलिंगसादृश्यं स्वरूपानुगमो वा जातिः। ४ अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। संग्रहगृहीतो योऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः प्रवर्तत इत्ययं विधिः।

—सभी सद्रूप हैं—ऐसा कहना या मानना यह संग्रह नय कहाता है। इसी सन्मात्रको, चैतन्यादि धर्मोंमें भेद देखकर सत्ताकी उपेक्षा करनेसे जीव-पुद्गलादि अनेक द्रव्यें हैं, ऐसा मानना यह व्यवहारनय है । जीवमात्रके संसार व सिद्धत्वादि विशेष धर्म न दीखनेपर चैतन्यमात्रकी सर्वत्र व्यापकता मानकर यावज्जीवोंको एक जीवद्रव्य मानना यह संग्रहनय होता है । चैतन्यकी व्यापकता न गिनते हुए संसार व सिद्धत्वादि विशेष धर्मवश जीवोंमें संसारी व सिद्धादि भेद मानना यह व्यवहारनय होता है । जहांतक विभाग होसकते हैं वहांतक ये दोनों नय इसी प्रकार प्रवृत्त होते हैं ।

व्यवहार नयमें यद्यपि विशेपता दीख पडनेसे पर्यायार्थिक नयका लक्षण संभवता जान पडेगा परंतु कालनिमित्तक पर्यायोंका भेद यहां नहीं होता इसलिये द्रव्यके ही प्रकार इसके विषयभूत हुए मानना चाहिये । और अतएव द्रव्यार्थिक नयका ही यह एक भेद है ।

ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम् । वर्तमानैकसमय-विषयं परिगृह्यते ॥ ४७ ॥

अर्थ—ठीक वर्तमान समयवर्ती पर्यायमात्रका जिसके द्वारा विशेपज्ञान हो वह ऋजुसूत्र नय है। स्थूल दृष्टिसे यदि विचार करें तो कोई दृष्ट पर्याय जबसे जबतक टिकनेवाला हो उतने कालको वर्तमान कहते हैं । उस पर्यायको उतने कालतक ही मानना-यह इस नयका अभिप्राय है । 'समय' यह नाम काल सामान्यका भी है और कालके एक अतिसूक्ष्म अंशका भी है । स्थूल विचार करते समय 'समय' का अर्थ कालसामान्य करना चाहिये और सूक्ष्म विचारके समय कालांश। इसीलिये सूक्ष्म ऋजुसूत्र वह होगा कि जो एक—एक—समयकृत पर्यायोंको भिन्न भिन्न माननेवाला हो । इसप्रकार अर्थविपयक नयोंके चार भेद होगये । अब ?—

शब्दनयोंके भेदः—

लिंगसाधनसंख्यानां कालोपग्रहयोस्तथा । व्यभिचारनिवृत्तिः स्याद्यतः शब्दनयो हि सः ।४८।

अर्थ—शब्दविपयक नय तीन प्रकारसे बताये हैं । शब्द सुननेपर जो (१) सामान्य अपेक्षासे अर्थज्ञान हो, एक तो वह और (२) दूसरा वह कि, जगकी रूढिपरसे अर्थका निश्चय करना; (३) तीसरा, शब्दगर्भित क्रियाका अर्थ जहां दीख पडे वहां उस शब्दका अर्थ मानना । इन तीनोमेंसे पहिलेका लक्षण:—

जिस अभिप्रायसे शब्द सुनते ही शब्दार्थमेंसे लिंग, साधन, संख्या, काल तथा उपग्रहसंबंधी दीखनेवाला व्यभिचार दोष हट जाय वह अभिप्राय-ज्ञान शब्दनय है। लिंग=स्त्री-पुरुष-नपुंसकपना। साधन=कर्ता-कर्मादि कारक[1]। संख्या=एक दो वा बहु वचन। काल=भूत, परोक्ष भूत, अतीत भूत एवं भविष्यत व वर्तमान[2]। उपग्रह=उपसर्ग। ये सर्व धर्म पदार्थोंमें रहनेवाले हैं। परंतु शब्द बोलते समय शब्दोंमें भी माननेकी आवश्यकता पडती है और तदनुसार इन लिंगादिकोंकी कल्पना शब्दोंमें की गई है। अर्थके लिंगादि धर्मोंके साथ शब्दवर्ती लिंगादिकोंका ऐसा नियम नहीं है कि जो शब्दोंमें हों वे ही अर्थमें हों अथवा वे धर्म अर्थमें होने ही चाहिये। तो भी शब्दके ऊपरसे जो अर्थका निश्चय किया जाता है उसमें शब्दसंबंधी लिंगादि विशेषणोंका भान अर्थमें अवश्य ही होने लगता है। जैसे, 'घट है' ऐसा वाक्य सुनते ही घट-ज्ञान होता है और साथ ही वह घट एक है, इस समय है, पुरुषलिंगयुक्त है, कर्ता है-ऐसे ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं। ये जितने प्रकारके ज्ञान एक ही व्यक्तिके संबंधमें उत्पन्न होते हैं उतने सभी अर्थ वाच्यार्थके ही अवयव मानना चाहिये और सत्य मानना चाहिये। 'घट है' इस वाक्यमें घट कर्ताके स्थानमें रक्खा गया है। इसलिये कर्ता मानना पडता है। 'घटको मैं देखता हूं' इस वाक्यमें जब कि घटको कर्मके स्थानमें रखदिया तो घट कर्मरूप मानना पडता है। इसका कारण यही है कि जब शब्दाधीन ज्ञान होता है तब शब्दके विशेषण अर्थमें आरोपित हो जाते हैं। इसप्रकार शब्दके अनुसार अर्थको मानना-यही शब्दनय है।

किसी किसी समय वाक्योंका अर्थ शब्दस्वभावकी अपेक्षा न करके केवल व्यवहाराधीन किया जाता है। परंतु वह अभिप्राय शब्दनयरूप नहीं मानना चाहिये। जैसे कि, 'घट' शब्दका अर्थ पुल्लिंगादिकरूप न मानकर केवल 'व्यक्ति' ऐसा मानना—यह शब्दनयका काम नहीं है। अथवा, आगे होनेवाला समझकर प्रयोग करते हुए 'घट' शब्दका अर्थ उस समय कुछ भी न मानना—यह सब शब्दनयका काम नहीं है।

ज्ञेयः[3] समभिरूढोसौ शब्दो यद्विषयः स हि। एकस्मिन्नभिरूढोर्थे नानार्थान् समतीत्य यः ४९

१ प्रथम पुरुष, मध्यम व उत्तम पुरुष—ऐसा साधनका अर्थ राजवार्तिकमें किया है। कहीं कहीं कारक व साधनको निरनिराला भी गिनाया है।

२ भावि कृत्यमासीदिति वार्तिकालकारे कालव्यत्ययेन।ऽकरणरूपव्यवहारमनुसृत्य प्रत्युदाहृतं।

३ 'यद्विषयो य शब्दो नानार्थानतीत्य एकस्मिनर्थेऽभिरूढ स हि असौ समभिरूढो ज्ञेयः' इत्यन्वयः।

अर्थ—कितने ही शब्द ऐसे भी होते हैं कि उनका एक एक ही अर्थ नहीं होता किंतु कई कई होते हैं। परंतु रूढ अर्थ सभीका एकेक ही रहता है। बस, रूढ अर्थका मानना, बाकी अर्थोंका छोड देना-यह समभिरूढ नय है। जैसे, 'गौ'के अनेक अर्थ हैं-पृथ्वी भी गौका ही अर्थ है और गाय भी गौका ही अर्थ है। परंतु रूढ या प्रसिद्ध अर्थ एक गाय ही होता है। इसलिये 'गौ' सुनकर गाय अर्थ समझ लेना—यह समभिरूढ नयका काम है।

एक शब्दके जहां अनेक अर्थ होते हों वहां शेष अर्थ छुडाकर एक प्रसिद्ध अर्थको मनाना—यह काम जिस प्रकार समभिरूढ नयका है उसी प्रकार जहां एक पदार्थको अनेक शब्द कहनेवाले हों वहां प्रत्येक शब्दका भिन्न भिन्न अर्थ ठहराना—यह भी समभिरूढका ही काम है। श्रीकृष्णके अनेक नामोंका अभेदरूपसे एक ही अर्थ न मानकर देवकीनंदन का देवकीसे पैदा हुआ, वासुदेवका वसुदेवसे पैदा हुआ—इत्यादि निरनिराले अर्थोंकी कल्पना होना इसी नयका काम है। यदि पर्यायवाचक अनेक शब्दोंका एक ही अर्थ माना जाय तो वह शब्दका विषय हो सकता है; न कि समभिरूढका।

शब्दो येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययेत्। यो नयो मुनयो मान्यास्तमेवंभूतमभ्यधुः ॥ ५० ॥

अर्थ—शब्दोंका आत्मा = क्रिया अथवा धात्वर्थ होता है; क्योंकि, सभी शब्द धातुओंसे बनाये जाते हैं। जिस धात्वर्थमें जो शब्द बनाया गया हो उस शब्दका, उसी धात्वर्थमें परिणत होते हुए वस्तुको अर्थ मानना—इसे एवंभूत नय समझना चाहिये। एवंभूतका ऐसा अर्थ मुनिमान्य गणधरादि ऋषियोंने कहा है। उदाहरण,—गौका धातुसिद्ध अर्थ चलने वाला होता है और रूढिसे पशुविशेष अर्थ होता है। एवंभूतका काम यह है कि चलती हुई गायको गौ कहना। सोती बैठी गायको गौ नहीं कहना; और गौके अतिरिक्त दूसरोंको चलते समय भी गौ न कहना—ऐसा इसका तात्पर्यार्थ है।

दूसरा इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि, आत्मामें जिस समय जिस विषयका ज्ञान हुआ हो उस समय उसी नाम-

---

१ 'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोग इति। तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोनर्थक। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्य। इति नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढ। इति वार्तिकालंकारे। गुण या शक्ति अनेकों हैं। और उनको धारण करनेवाला अथवा उन सबका पिण्डसमान वस्तु एक एक ही माना जाता है। जितने शब्द होते हैं वे किसी न किसी गुणके वाचक होते हैं। अत एव वस्तुपिण्डपर दृष्टि डालनेसे तद्गतगुणवाचक नाना शब्दोंका अर्थ एक ही दीखने लगता है और अत एव उन शब्दोंको हम पर्यायवाचक कहते हैं। समभिरूढ नय यह बात न मानकर शब्दोंको गुणभेदवाचक मानता है। इसलिये प्रत्येक शब्दके अर्थोंको वह निरनिराले मनाता है।

से आत्माको कहना—यह एवंभूत नय है। यद्यपि ऐसे एवंभूतका उपयोग आत्मामें ही होगा तो भी यह कोई दोष नहीं है। इसका कारण यह है कि जितने प्रकारके विषय हैं उतने ही प्रकार ज्ञानके हो सकते हैं और नाम भी उन ज्ञानोंके वे ही समझने चाहिये जो कि अर्थोंके हैं। इसलिये उन ज्ञानोंको उन विषयोंके नाम देना उचित ही है। परंतु रही यह बात कि यह शब्दनयका भेद नहीं होगा किंतु अर्थनयका होगा; क्योंकि, अर्थ ही सीधा इस नयका विषय जान पडता है? इसका उत्तर यह है कि ऐसी प्रतीति भी शब्द द्वारा ही होती है इसलिये शब्दनयोंमें इसका समावेश करना अनुचित नहीं है। सीधे अर्थोंका जो ज्ञान होता है वहां भी ज्ञेयकी ज्ञानोंमें कल्पना दिखाना शब्दाधीन ही है।

नयोंका फल—

एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः। निरपेक्षाः पुनः संतो मिथ्याज्ञानस्य हेतवः ॥ ५१ ॥

अर्थ—प्रमाणके द्वारा वस्तु सर्वांग व नयके द्वारा असर्वांग समझनेमें आता है। असर्वांगका 'असर्वांग' ऐसा ज्ञान तभी होगा जब कि शेष रहे हुए अंगका भी मनुष्यको लक्ष्य बना रहा हो। एक असर्वांगके ज्ञानके समय शेष असर्वांगको न भूलनेका नाम ही यहांपर लक्ष्य रखना है। अपेक्षा भी इसीका नाम है। यह परस्पर शेष अंगोंकी अपेक्षा जिन नयज्ञानोंमें रहती हो वे ही नयज्ञान वस्तुका सम्यग्ज्ञान करानेमें हेतु हो सकते हैं। क्योंकि, असर्वांग—ज्ञानके असर्वांग विषयको असर्वांगरूपसे वही ज्ञानी समझ सकता है। जो जैसे तथा जितनेको वैसा तथा उतना ही समझता हो उसीका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो सकता है। यदि वे असर्वांगके ज्ञान शेषांगके लक्ष्यको छोडकर हों तो यों कहना चाहिये कि वे ज्ञान असर्वांगरूपसे हुए ही नहीं हैं। अर्थात् वे ज्ञान असर्वांगके होकर भी जाननेवालेने सर्वांगके समझलिये हैं। क्योंकि, शेष अंगके अज्ञानीकेलिये जो जाना हुआ है वही सर्वांग है। इसीलिये परस्पर शेषांगकी अपेक्षा छोडनेवालेको वे ही नयज्ञान मिथ्याज्ञानके कारण होते हैं। क्योंकि, ऐसे निरपेक्ष ज्ञानोंके द्वारा अपरिपूर्ण तत्त्वस्वरूप परिपूर्ण तत्त्वस्वरूपकी समझ करादेता है। अतएव उन लोगोंका वह ज्ञानगुण मिथ्या हो जाता है।

नयविषयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता—

पहिले नयका विषय सत् तथा असत् अंशोंका समुदाय है। दूसरे नयका सन्मात्र अंश विषय है। असत् यहां कम हो जाता है। सत्का भी एकदेश तीसरेका विषय है। यहां सत्के टुकडे होकर एक टुकडा गृहीत होता है और शेष सब

छूट जाते हैं। चौथे नयमें यह सूक्ष्मता है कि तीसरे नयतक जो कालकृत भेद नहीं हुआ था वह यहां हो जाता है। इसलिये भूत-भविष्यत् सर्व पर्यायें छूटकर एक वर्तमान अवस्थाका संग्रह रह जाता है। चौथेमें यद्यपि केवल वर्तमानवर्ती अवस्था ज्ञानमें रहजाती है तो भी उसके पिण्डमें अनेकों गुण या स्वभाव भरे रहते हैं, जो कि चौथे नयतक अभेदभावसे ही जाननेमें आते हैं। पांचवेंमें वे बहुतसे स्वभाव छूट जाते हैं। वहां केवल उतने ही स्वभावोंकी जानकारी होती है जितने कि उस शब्दके विशेषण कहे जासकते हैं। छट्ठे नयमें वे भी कम हो जाते हैं। जो अनेक रूढ अर्थोंका पांचवेंमें संग्रह था उनमेंसे यहां एक रह जाता है शेष छूट जाते हैं। इसमें यौगिक अर्थकी मुख्यताका विचार न रहनेसे यौगिकार्थ-विशिष्ट रूढार्थ भी ग्रहण करनेमें आता है और यौगिकार्थ-रहित केवल रूढार्थ भी ग्रहण किया जाता है। सातवेंमें यह बात नहीं है-यहां केवल उसी रूढार्थका ग्रहण होता है कि जो यौगिक अर्थसे युक्त हो। इसलिये छट्टेमें जानने योग्य केवल रूढार्थ इस सातवेंमें घट जाता है।

इन सात नयोंको ऊपरके क्रमसे बतानेमें हेतु, विषयोंका स्थूलसूक्ष्मपना ही है। विषयोंके विभाग या अंश क्रमसे कम द्रव्य व पर्याय-ऐसे दो होंगे और अधिकसे अधिक दोनोंके उत्तर भेद सात होंगे। इसलिये इनके ग्राहक नय भी साततक विभक्त किये जासकते हैं। जो ऐसे विभागको या अंशकल्पनाको न कराकर समुदित वस्तुका ग्रहण कराता है उसे प्रमाण कहते हैं।

वास्तविक प्रमाण ज्ञान ही होता है और एकदेशग्राही होनेपर वे ही नय कहाते हैं; इसलिये नय भी ज्ञानके ही नाम हैं। परंतु ज्ञानके द्वारा जाने हुए विषयोंका प्रतिपादन शब्द ही कर सकता है इसलिये शब्दोंको भी नय कहा जाता है। विषयविषयी-संबंधके वश यदि विषयी ज्ञानके नाम विषयोंमें लगादें तो प्रतिपादित होनेवाले पदार्थोंको भी नय कहना उचित ही है। इसलिये नयोंके—ज्ञाननय, शब्दनय, अर्थनय—ये तीन प्रकार हैं।

तत्त्वाधिगमके अमुख्य उपाय—

निर्देशः स्वामित्वं साधनमधिकरणमपि च परिच्चिन्त्यम्।
स्थितिरथ विधानमिति षड् द्रव्याणामधिगमोपायाः ॥५२॥

अथ सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तराणि भावश्च ।
अल्पबहुत्वं चाष्टावित्यपरेप्यधिगमोपायाः ॥ ५३ ॥

अर्थ—प्रमाण व नय तो तत्त्वार्थ समझनेके लिये मुख्य उपाय हैं ही परंतु उन प्रमाणनयोंकी योजना किसी भी वि-
पयमें किस प्रकारसे होसकती है—यह बात समझानेकेलिये ग्रंथकार दो प्रकार बताते हैं। इन प्रकारोंके जानलेनेसे विषय
विवेचन करनेकी पद्धति समझमें आसकती है। ये दो प्रकार देखकर यह नहीं समझना चाहिये कि इन्हीं दो प्रकारोंसे
वस्तु विवेचन करना ठीक है और दूसरे प्रकार हो ही नहीं सकते हैं अथवा दूसरे प्रकार करना ठीक नहीं है। क्योंकि, सम-
झने समझानेकेलिये ये दोनों उदाहरण हैं। अर्थात् आचार्य इन दो प्रकारोंको दिखाकर यह कहते हैं कि जैसे हमने इन दो
प्रकारोंसे वर्णनीय या जानने-योग्य किसी वस्तुके वर्णन योग्य विभाग करके दिखादिये हैं उसी प्रकार तुम अपनी, इच्छा-
के व आवश्यकताके अनुसार ये अथवा दूसरे भी हीनाधिक विभाग करके समझसकते हो और कह सकते हो।

पहिला प्रकार —

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति व विधान ये छह, द्रव्यके व तत्त्वोंके जाननेकेलिये उपाय हैं। जिस वि-
पयको समझना-समझाना हो उसका स्वरूप कहना-यह निर्देश[1] है। उस विपयका किसीकी तरफ अधिकार दीख पडता
हो तो वह कहना-यह स्वामित्व[2] है। उसकी उत्पत्तिके कारणोंको साधन[3] कहते हैं। वर्णनीय वस्तुके निवासस्थानको
अधिकरण समझना चाहिये। उस वस्तुके टिकनेका परिमाण-यह स्थिति है। उसके भेदोंको विधान कहते हैं। उदाहरणार्थ
सम्यग्दर्शनमें ये छहो ही प्रकार देखिये:—

(१) तत्त्वार्थका श्रद्धान-यह सम्यग्दर्शका निर्देश हुआ। (२) चारो गतियोंके समनस्क भव्य जीव इसके स्वामी
होसकते हैं। (३) जिनप्रतिमादर्शन, केवलीका उपदेश-इत्यादिक इसके कारण या साधन हैं। (४) वाह्य दृष्टिसे
अधिकरण लोकनाली है और अंतरंग अधिकरण आत्मा ही होसकता है। (५) जघन्य स्थिति इसकी अन्तर्मुहूर्त व
उत्कृष्ट छयासठ सागर पर्यंत होती है। (६) निसर्गज व अधिगमज—ये दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक

१ निर्देशोऽर्थात्मावधारण। २ स्वामित्वमाधिपत्य। ३ साधन कारण (इति वार्तिकालकारे)।

ये तीन भेद भी हैं। आज्ञा सम्यग्दर्शन, मार्ग, बीज, उपदेश, सूत्र, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ परमावगाढ—ये दश भेद भी होते हैं। इसी प्रकार अन्य विषयोंमें भी इन भेदोंके अनुसार विषयविवेचन किया जासकता है।

दूसरा प्रकारः—

दूसरे प्रकारसे सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव व अल्पबहुत्व--ये आठ तत्त्वनिश्चयकेलिये उपाय बताये गये हैं। जैसे कि सम्यग्दर्शनका विचार करना हो तो प्रथम उसका अस्तित्व कहना--(१) यह सत्—वर्णनरूप पहिला उपाय हुआ। किसीकी सत्ता स्थापित होनेसे पहिले उसका अधिक विचार हो ही नहीं सकता है। (२) फिर सम्यग्दर्शनके भेदोंकी गिनती करना चाहिये। जैसे कि सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं। यह दूसरा उपाय हुआ। (३) सम्यग्दर्शनका निवासस्थान लोकनाली आदि कहनेका नाम क्षेत्र है। यह तीसरा उपाय है। (४) एक कोई भी अवस्था जबतक जहां रहती हो उस अवस्थाके उस स्थानको स्पर्शन[3] कहते हैं। (५) टिकनेकी मर्यादाको काल कहते हैं। (६) किसीका मध्यवर्ती स्वरूप कहना तथा विरहावस्था दिखाना-यह सब अंतरका अर्थ है। जैसे कि क्षायिक सम्यग्दर्शनमें अंतर नहीं पडता है। अर्थात् वह एक वार उत्पन्न होगया कि सदा ही रहता है। यह छठा भेद हुआ। (७) जीवपरिणामोंके औपशमिकादि पांच भेद आगे कहेंगे, उनमेंसे किसी प्रकारमें उसे गर्भित करना--यह सातवां 'भाव' नामक उपाय है। (८)

---

१ आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्। विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च ॥ ११ ॥ आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव, त्यक्तग्रंथप्रपंचं शिवममृतपथं श्रद्धन्मोहशांते। मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता, या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १२ ॥ आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः, सूक्तोसौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः। कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्, संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान्साधु संक्षेपदृष्टिः ॥१३॥ यः श्रुत्वा द्वादशांगीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं, संजातार्थात्कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः। दृष्टिः सांगांगबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा, कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ १४ ॥

इन श्लोकोंका अर्थ आत्मानुशासनकी हिंदी टीकामें देखो।

२ 'सर्वेषां च विचारार्हाणामस्तित्व मूलं' इति वार्ति०। ३ अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपश्लेषनिश्चयार्थं स्पर्शनम्। कस्यचित्तत्क्षेत्रमेव स्पर्शनं, कस्यचिद् द्रव्यमेन, कस्यचिद्रज्जवः षड्ष्टौ वेति। इति वार्ति०।

साथमें कोई दूसरा एक तत्त्व रखकर उसके साथ हीनाधिकताकी तुलना करना-यह अल्पबहुत्वका अर्थ है।

दूसरे प्रकारमें बहुतसे भेद ऐसे हैं कि पहिले प्रकारमें भी वे आजाते हैं। परंतु तो भी अधिक स्पष्ट करनेकेलिये एकेक बातको दो दो भांतसे कहना भी अनुचित नहीं है।

सम्यग्योगी मोक्षमार्गं प्रपित्सुर्न्यस्तां नामस्थापनाद्रव्यभावैः।
स्याद्वादस्थां प्राप्य तैस्तैरुपायैः प्राग् जानीयात्सप्ततत्त्वीं क्रमेण ॥ ५४ ॥

अर्थ—मोक्षमार्गमें प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य प्रथम तो ज्ञानादि गुणोंको सम्यक् बनाले। बाद, नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव इन निक्षेपोंको लगाकर चारो प्रकारसे वस्तुस्वरूपको सिद्ध करले। फिर, प्रमाण व नयरूप सप्तभंगी—स्याद्वादके तथा नैगमादिके द्वारा सातो तत्त्वोंको समझकर निर्देशादि छह तथा सदादि आठ उपायोंद्वारा भी सात तत्त्वोंको समझले। यही इस अध्यायमें वर्णन किया है।

यह सम्यक्साधनादि मत्रध-गो नाका पीठिकात्मक अथवा भूमिकास्थापन नाम प्रथमाधिकार समाप्त हुआ।

---

१ विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहेतुविकल्प । केचित्संक्षेपेण प्रतिपाद्याः केचिद्विस्तरेण । इति सर्वेषामेव [पुनरुक्ताना विषये] परिहारः [शंकाया]। इति वार्ति०। २ ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयाना चैव लक्षणम् । ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेस्मिन्निरूपितम् ॥ ऐसा भी इस अध्यायके साराशका सूचक श्लोक दूसरे प्रथोंमें कहा है।

दूसरा अधिकार।

अथ जीवतत्त्ववर्णनः—

अनन्तानन्तजीवानामेकैकस्य प्ररूपकान्।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना जीवतत्त्वं प्ररूप्यते॥ १॥

अर्थ—अनंतानंत जीवोंमेंसे एकेकको जानने व दिखानेवाले जिनेन्द्र भगवानोंको मस्तक नवाकर नमस्कार करता हूं और फिर उस जीवतत्त्वका निरूपण करता हूं।

अन्यासाधारणा भावाः पञ्चौपशमिकादयः।
स्वतत्त्वं यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते॥ २॥
स्यादौपशमिको भावः क्षायोपशमिकस्तथा।
क्षायिकश्चाप्यौदयिकस्तथान्यः पारिणामिकः॥ ३॥

अर्थः—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक—ये पांच औपशमिकादिक भाव जिस तत्त्वके स्वभाव हों वही जीव कहाता है। जीवके अतिरिक्त ये पांच भाव किसी भी अन्य पदार्थमें नहीं रहते इसीलिये इन्हें जीवके असाधारण भाव कहते हैं। जीवमें इन पांच प्रकारके सिवा छट्ठा प्रकार ऐसा नहीं मिलसकता है जो कि पांचोमेंसे किसी एकमें गर्भित न होता हो। पांचो भावोंके समझते ही जीवकी असाधारणता समझमें आजाती है।

औपशमिक भावो के उत्तर भेदः—

भेदौ सम्यक्त्वचारित्रे द्वावौपशमिकस्य हि।

अर्थ—औपशमिक स्वभाव दो प्रकारका मिलता है; एक सम्यग्दर्शन, दूसरा सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन औपशमिक चौथे गुणस्थानसे ग्यारहवेंतक मिल सकता है और चारित्र औपशमिक केवल ग्यारहवेंमें ही मिलेगा।

मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके परिणाम जो विशुद्ध होते जाते हैं उस विशुद्धिकी उत्तरोत्तर वाढको गुणस्थान कहते हैं। उस वाढके बारह तेरह विभाग करदिये हैं। इसलिये उन्हींको बारह तेरह गुणस्थान कहते हैं। जहांसे वाढ सुरू होती है उस पीठिकास्थानको भी गिनतीमें जोडलेनेसे सर्व गुणस्थान चौदह होते हैं। सम्यक्त्व तथा चारित्रके घातक कर्मोंका उदय सर्वथा थम जानेपर जो स्वभाव प्रगट होते हैं उन्हें औपशमिक कहते हैं।

क्षायोपशमिकके उत्तर भेद—

अज्ञानात्रितयं ज्ञानचतुष्कं पञ्च लब्धयः ॥ ४ ॥
देशसंयमसम्यक्त्वे चारित्रं दर्शनत्रयम्। क्षायोपशमिकस्यैते भेदा अष्टादशोदिताः ॥ ५ ॥

अर्थ–(१) मिथ्या–मति, (२) श्रुत, (३) अवधि,–ये तीन अज्ञान, (४) सम्यक्–मति, (५) श्रुत, (६) अवधि, (७) मनः पर्ययज्ञान, (८) दान, (९) लाभ, (१०) भोग, (११) उपभोग, (१२) वीर्य,–ये पांच लब्धि, (१३) देशसंयम, (१४) सम्यग्दर्शन, (१५) चारित्र, (१६) चक्षुर्दर्शन, (१७) अचाक्षुष दर्शन, (१८) अवधि दर्शन–ये तीन दर्शनोपयोग–ये क्षायोपशमिक स्वभावके अठारह भेद हैं। क्षायोपशमिकपनेका लक्षण–

किसी भी गुणके घातक कर्ममें दो प्रकारके अंश रहते हैं, एक पूर्णघातक, दूसरे एकांगघातक। एकांगघातकका देशघाती नाम है, पूर्णघातकका सर्वघाती। कर्म वर्तमानमें फल देनेसे रुकजाय–इसे उपशम कहते हैं। किसी कर्मका बंधन निर्मूल टूट जानेको क्षय कहते हैं। किसी गुणको क्षायोपशमिक कहना हो तो अर्थ ऐसा होता है कि उस गुणके वर्तमान उदययोग्य सर्वघाती कर्मका क्षय, व आगामी उदययोग्य देशघाती तथा सर्वघातीका उपशम होजाने पर वर्तमान उदययोग्य देशघाती कर्मका उदय जारी रहते हुए वह गुण प्रगट हुआ है। जैसे एक मतिज्ञानको देखिये, मतिज्ञान क्षायोपशमिक ही होता है। मतिज्ञानके वर्तमान घातक सर्वघाती कर्मका उदयाभावरूप क्षय होजाना चाहिये और देशघातक व सर्वघातक आगामी उदययोग्यका उपशम तथा वर्तमान उदययोग्य देशघातकका उदय जारी रहना चाहिये। उस समय मतिज्ञान (क्षायोपशमिक भाव) प्रगट होता है। इसी प्रकार दूसरे क्षायोपशमिक स्वभावोंमें भी उन उन गुणोंके घातक कर्मोंका क्षय,

१ उभयात्मको मिश्रः। क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत्। द्विविधं हि स्पर्धकं देशघातिस्पर्धकं सर्वघातिस्पर्धकं च। तत्र यदा सर्वघाति स्पर्धकस्योदयो

उपशम तथा उदय रहना चाहिये। कर्मकी ऐसी तीन अवस्था होते हुए क्षायोपशमिक भाव होते हैं। इतना और भी समझना चाहिये कि प्रत्येक क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भावके होते समय बलघातक अंतराय कर्मका क्षयोपशम तथा क्षय होना ही चाहिये। औपशमिक भावके समय भी उस अंतरायकर्मका क्षयोपशम ही रहता है। ज्ञानावरण तथा अन्तरायका केवल उपशम कभी नहीं होता। अतएव उपशमजन्य दर्शन व चारित्रमें भी उस अंतरायका क्षयोपशम ही माना जाता है। पांच लब्धि तथा ज्ञान भी औपशमिक इसीलिये नहीं होते कि केवलज्ञानसे प्रथम कुछ न कुछ ज्ञानादि गुणका घात अवश्य होता ही रहता है।

क्षायिक भावके उत्तर भेद—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यदानानि दर्शनम्। भोगोपभोगौ लाभश्च क्षायिकस्य नवोदिताः ॥६॥

अर्थ–(१) सम्यग्दर्शन, (२) ज्ञान, (३) चारित्र, (४) वीर्य, (५) दान, (६) दर्शनोपयोग, (७) भोग (८) उपभोग (९) लाभ–ये नौ स्वभाव क्षायिक हैं। इनमेंसे किसीके भी उत्तर भेद नहीं होते अत एव इनकी एक एक संख्या ही गिननेमें आती है। अपने अपने घातक दर्शनमोहादिका तथा वीर्यांतराय कर्मका पूर्ण क्षय हो जानेपर ये भाव प्रगट होते हैं। बलघाती वीर्यांतराय कर्मका क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर क्षायिक तथा क्षायोपशमिक वीर्य (बल) गुण ही वास्तविक प्रगट होता है। ज्ञानादिकोंका वीर्यांतराय कर्म वास्तवमें घातक नहीं होता। तो भी ज्ञानादि गुण प्रगट होनेमें उसके क्षयोपशमकी आवश्यकता इसलिये बताई जाती है कि विना बलशक्तिके ज्ञानादिगुण टिक नहीं सकते हैं।

क्षायिकादि भावोंका विशेष वक्तव्य—

क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे सातवेंतकके वीचमें किसी भी समय उत्पन्न हो सकता है। क्षायिक चारित्र बारहवेंसे प्रगट होता है। दशवेंतक क्षायोपशमिक चारित्र माना जाता है। बाकी जो सात क्षायिक भाव गिनाये हैं वे सर्व

भवति तदा ईषदप्यात्मगुणस्याभिव्यक्तिर्नास्ति तस्मात् सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद् देशघातिस्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावः। इति वार्ति०। आगामी उदययोग्य सर्वघाती व देशघाती–दोनोंका उपशम इसलिये माना जाता है कि वे कर्म रहते हुए भी वर्तमानमें कुछ कार्यकारी नहीं होते। इसीलिये इस उपशमको सदवस्थारूप बताया गया है। उसे प्रयत्नद्वारा करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो औपशमिकमें उपशम होता है वह प्रयत्नसाध्य होता है और वह वर्तमानका होता है।

केवलज्ञान होते समय तेरहवें गुणस्थानमें ही प्राप्त होते हैं। सभी क्षायिक भावोंका यह साधारण नियम है कि प्रगट होजानेपर वे फिर नष्ट नहीं होते-मुक्त अवस्थामें भी सदा प्रगट ही रहते हैं। यह नियम औपशमिक तथा क्षायिक-इन दोनोंका भी है कि जिन्हें इनमेंसे कोई एक भाव भी प्रगट हो जाता है वे मुक्त हुए विना नहीं रहते। क्षायोपशमिक स्वभावोंमेंसे यह नियम एक सम्यग्दर्शनके साथ ही लगता है, दूसरोंके साथ नहीं। सम्यग्दर्शन यदि क्षायोपशमिक ही प्रगट हुआ हो तो भी वह जीव मुक्त हुए विना रहता नहीं है। सम्यग्ज्ञानका भी यह नियम तो है परंतु सम्यग्दर्शनके सहवाससे ही ज्ञानमें सम्यक्पना प्राप्त होता है इसलिये क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञानके साथ मुक्तिप्रतिनियम करनेकी जुदी जरूरत नहीं है। बाकी दर्शनोपयोगादिकोंमें मुक्ति प्राप्त करनेका नियम सर्वथा ही नहीं कहा जासकता है। देशसंयम-यह एक चारित्रका ही भेद है और वह केवल पांचवें गुणस्थानमें ही होता है। इसकी गिनती साधारणतः चारित्रके कहनेसे हो जाती है।

औदयिक भावके उत्तर भेद—

चतस्रो गतयो लेश्याः षट् कषायचतुष्टयम्। वेदा मिथ्यात्वमज्ञानमसिद्धोऽसंयमस्तथा॥
इत्यौदयिकभावस्य स्युर्भेदा एकविंशतिः॥ ७॥ (षट्पदी)

अर्थ—चार गति-(१) देव, (२) मनुष्य, (३) नारक, (४) तिर्यंच, छह लेश्या-(५) कृष्ण, (६) नील, (७) कपोत, (८) पीत, (९) पद्म, (१०) शुक्ल, चार कषाय-(११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया, (१४) लोभ, वेद तीन (१५) स्त्रीवेद, (१६) पुरुषवेद, (१७) नपुंसकवेद, (१८) मिथ्यादर्शन, (१९) ज्ञानाभाव, (२०) असिद्धता, (२१) असंयम—ये इक्कीस औदयिक स्वभावके भेद होते हैं।

चारों गति गतिनाम कर्मके उदयसे प्राप्त होती हैं। चारों कषायोंका प्रादुर्भाव कषाय कर्मके उदयसे होता है। कषाय कर्म चारित्रमोह कर्मका एक भेद है। तीनों वेद या लिंग वेदकर्मके उदयसे होते हैं। वेदकर्म भी चारित्रमोह कर्मका

१ मूल श्लोकमें वेदोंकी संख्या लिखी नहीं है। इसका कारण यह है कि उस छंदमें अधिक अक्षर जोड़नेकेलिये स्थान नहीं था। परंतु बहुवचनका प्रयोग करनेसे और आगे इक्कीसकी समुदायसंख्या निश्चित कर देनेसे वेदकी तीन संख्या समझनेमें सुगमतासे आसकती है। क्योंकि, तीनसे कममें बहुवचन नहीं होगा और तीनसे अधिक माने तो २१ की संख्या नहीं रहेगी।

भेद है। वेद—शब्दका अर्थ द्रव्यवेद भी हो सकता है। इसका प्रादुर्भाव अंगोपांग नामकर्मके उदयसे होता है इसलिये यह भी औदयिक भाव ही है। मिथ्यात्वका प्रादुर्भाव दर्शनमोहनामक मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है। अज्ञान ज्ञानावरणके उदयसे प्राप्त होता है। यद्यपि पूर्ण अज्ञानावस्था कभी किसीको होती ही नहीं है। तो भी जहां जितना अज्ञान हो वहां वह ज्ञानावरणके किसी उदयका ही कार्य समझना चाहिये। कषायके उदयसे होनेवाली मिथ्या प्रवृत्तिको असंयम[2] कहते हैं। जबतक कर्मका थोडा भी उदय रहता है तबतक सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं होती और इसीका नाम असिद्धत्व है। इसमें सामान्य कर्ममात्रका उदय कारण समझना चाहिये।

अब लेश्याका विचार करिये,-कषायके[3] उदयसे जो योगकी चंचलतामिश्रित प्रवृत्ति होती है वही लेश्या है। कषाय चारित्रमोहको कहते हैं। इसके उदयसे कषाय होता है। और शरीर व निर्माणादि कर्मोंके उदयसे आत्मामें चंचलता उत्पन्न होती है। इसीको योग कहते हैं। इसलिये शरीर व शरीराविनाभावी निर्माण आदि कुछ कर्म ही योगोदयके कारण कहना उचित है। योग व कषायके मेलको लेश्या कहते हैं। इसलिये लेश्याकेलिये उपयुक्त दोनों ही कर्मोंका उदय कारणीभूत मानना चाहिये। यद्यपि शरीरनाम कर्मसे शरीर उत्पन्न होता है परंतु जबतक शरीरकी वृद्धि होती है तभीतक योग रहता है। इसलिये शरीरादि दो तीन कर्मोंका उदय ही योगका भी मुख्य कारण कहना ठीक है। देखो, तेरहवें गुणस्थान तक पांचो शरीर व छहो ही संहनन इत्यादि कर्म उदयमें आते हैं इसलिये तेरहवेंसे आगे अयोगावस्था प्राप्त होजाती है। योग तेरहवें गुणस्थान तक ही रहता[5] है ॥

पारिणामिक भावोंके उतर भेद—

जीवत्वं चापि भव्यत्वमभव्यत्वं तथैव च।
पारिणामिकभावस्य भेदत्रितयमिष्यते ॥ ८ ॥

क 3028

१ क्षायोपशमिक भावोमे भी तीन अज्ञान गिनाये हे। और औदयिकभावोमे भी एक औदयिक अज्ञान गिनाया है। यहाका अज्ञान उदयजन्य होनेसे ज्ञानाभावरुप समझना चाहिये। और क्षायोपशमिक अज्ञानका अर्थ मिथ्या ज्ञान किया जाता है। २ असयमका अर्थ मिथ्या सयम करना चाहिये। क्योंकि. कषायका उदय सयमका नाश न करके उसे केवल विपरीत ही करता है। ३ कषायोदयानुरजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ॥ [सर्वार्थसिद्धि] ४ तदिएक्कवज्जणिमिण थिरसुहसरगदिउरालतेउदुग। सठाण वण्णागुरुचउक्कपत्तेय जोगिम्हि ॥ २७१ ॥ [गोम० कर्म०] ५। योगका आस्रवप्रकरणमे खुलासा होगा।

अर्थ—जीवत्व, भव्यत्व व अभव्यत्व—ये तीन गुण पारिणामिक स्वभावके भेदरूप माने गये हैं। यहांपर 'पारिणामिक' शब्दका ऐसा अर्थ किया है कि कर्मके उदयादिकी अपेक्षा न करता हुआ जो गुण आत्मामें मूलसे रहनेवाला हो वह पारिणामिक है। ऊपरके तीनो गुणोंको कर्मके उदयादिकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है इसीलिये ये कर्मके रहते हुए भी रहते हैं और कर्मनाश होनेपर सिद्धगतिमें भी रहते हैं। भव्यत्वगुणका सिद्धगतिमें आगे चलकर नाश हुआ बतावेंगे परंतु उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि वह वहां निरुपयोगी होजाता है। इसलिये असत्के तुल्य ही है।

जीवत्वका अर्थ जीवन है। ज्ञानादिगुणयुक्त रहनेको जीवन कहते हैं। एक शरीर छूट जानेपर दूसरा शरीर जबतक मिलता नहीं तबतक संसारी जीवको मरा हुआ कहते हैं। इसका भी यही अर्थ है कि विग्रहगतिके क्षेत्रमें जीव ज्ञानदर्शन-रहित होजाता है। ज्ञान होनेकी केवल क्षयोपशमरूप योग्यता रहजाती है, परंतु उपयोगी ज्ञान वहां कुछ भी नहीं[२] रहता। कार्य-शरीरका नाश होनेसे नवीन ज्ञान तो नहीं ही होता परंतु पूर्वके संस्कार भी शरीरके साथ ही छूट[३] जाते हैं। यही कारण है कि उत्तर जन्ममें पूर्वजन्मसंबंधी थोड़ासा स्मरण भी किसीको नहीं होता। मंदज्ञानियोंकी समझमें इतना कार्यकारणसंबंध जीवन सिद्ध करनेवाला कदाचित् नहीं आसकेगा इसलिये ग्रंथकारोंने यों कहदिया है कि चार श्वासादि प्राणोंको धारण करे वह जीव है। अर्थात् व्यवहारसे श्वासादिका नाम ही प्राण है।

भव्यत्व व अभव्यत्व-ये दोनो गुण ऐसे हैं कि यावज्जीवोंमें दोनो नहीं रहते। जिसमें भव्यत्व रहता है उसमें अभव्यत्व नहीं रहता और जिस जीवमें अभव्यत्व रहता हो उसमें भव्यत्व नहीं रहता। भव्यत्वका अर्थ मुक्ति प्राप्त होनेकी योग्यता। अभव्यत्वका अर्थ भव्यत्वसे उलटा है। अत एव अभव्य जीव कभी मुक्त नहीं हो पाता है।

---

(१) आत्मलाभमात्रहेतुकः परिणाम । तत्र भवस्तत्प्रयोजन यस्य वेति पारिणामिक । इति सर्वार्थसिद्धि । [२] 'निरुपभोगमन्त्यम्' इस सूत्रकी व्याख्यामे कार्मण शरीरको इंद्रियज्ञान करानेकेलिये असमर्थ बताया है। [३] क्योंकि, संस्कार भी उपयोगी ज्ञान है। [४] किसी किसीको सुनते हैं कि स्मरण होता है। परतु इसका कारण यह होना चाहिये कि जो जीव एक ही समयमें दूसरा शरीर धारलेते हैं वे अनाहारक नहीं होपाते और अतएव संस्कारशून्य भी एकदम नहीं होपाते हैं। उन्हीको सभव है कि पूर्वजन्मका स्मरण कुछ होता हो। परतु अनाहारक न होकर उत्तर शरीर धारण करनेवाले विरले ही होते हैं। [५] आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेन्न पुद्गलद्रव्यसबन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात्। इति वार्ति०।

२ अभव्यजीवे वहिरात्मा व्यक्तिरूपेण, अतरात्मपरमात्मद्वय शक्तिरूपेणैव, न च भाविनैगमनयेनेति । शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुन शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञान नास्ति तदा केवलज्ञानावरण न घटेत। अर्थात्, भव्य-अभव्योंकी केवलज्ञानादिरूप शक्ति समान ही है, केवल व्यक्त

इन तीनोंके अतिरिक्त और भी बहुतसे गुण जीवमें ऐसे रहते हैं कि जिनका कर्मके उदयादि होने न होनेसे कोई संबंध नहीं रहता। अत एव वे भी पारिणामिक स्वभाव ही समझने चाहिये। तो भी वे गिनती करनेसे यहां छोड इसलिये दिये हैं कि उनके गिननेकी यहा आवश्यकता नहीं है। यहां यह प्रकरण है कि किसी प्रकार जीवतत्त्वका ज्ञान हो। जीवका ज्ञान तभी होगा जब कि जीवके असाधारण स्वभावोंको दिखाया जायगा। जीवके बाकी जो सत्तादि गुण हैं जिन्हें कि यहां गिनाया नहीं है वे साधारण हैं। साधारण होनेसे सत्तादि गुण जीवकी तरह पुद्गलादिमें भी रहते हैं। इसीलिये उनके द्वारा जीवसंबंधी विशेषज्ञान होना संभव नहीं है।

जीवका लक्षण—

अनन्यभूतस्तस्य स्यादुपयोगो हि लक्षणं। जीवोऽभिव्यज्यते तस्मादवष्टब्धोऽपि कर्मभिः॥ ९॥

अर्थ—जीव जबतक कर्मोंसे लिप्त है तबतक निराला समझनेमें या दीखनेमें नहीं आता। निराला हो जानेपर भी हम उसे प्रत्यक्ष देख नहीं सकते। क्योंकि, संसारी प्राणियोंकी प्रत्यक्ष देखनेकी शक्ति केवल मूर्तिक वस्तुमें ही रहती है। शेष

अवस्थाके होने न होनेसे फर्क पडता है। [इति द्रव्यसंग्रहटीका]। सर्वार्थसिद्धिके कर्ताने भी सम्यक्त्वोत्पत्ति आदि वर्णनके समय भव्यत्वको कारण बताया है। **किंकृतोयं विशेषः? द्रव्यस्वभावकृतः। अतः पारिणामिकत्वमनयोः।** अर्थात् भव्यत्व-अभव्यत्वमें परस्पर किस कारणसे फर्क है? इस प्रश्नका उत्तर राजवार्तिककार यो देते हैं कि यह भेद द्रव्यस्वभावसे ही है, अन्य कोई इसका कारण नहीं। इसीसे तो इसे पारिणामिक कहा है। भव्यत्वके दूर व समीप ऐसे दो तीन भेद भी माने जाते हैं। अति दूर भव्य वे होते हैं कि जिन्हे अभव्यके समान ही संसारमें सदा रहना पडता है। तो भी उन भव्य तथा अभव्योंमें फर्क बतानेकेलिये कुछ लोग सती विधवाका व वंध्या स्त्रीका उदाहरण देते हैं। सती स्त्री, विधवा होनेपर पुत्र जननेकी शक्ति रखते हुए भी पुरुषका निमित्त न रहनेसे पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकती। परंतु वंध्या पुरुषसंबंध होनेपर भी पुत्रोत्पत्ति नहीं करसकती है। इसी प्रकार अतिदूर भव्यको कभी निमित्त नहीं मिलते इसलिये वह मुक्त नहीं हो पाता। परंतु अभव्य निमित्त मिलनेपर भी मुक्त नहीं हो सकता है। द्रव्यसंग्रहटीकाके व इसके कथनमें यह फर्क पडता है कि एक तो शक्तिमें कुछ भेद नहीं मानता और दूसरा शक्तिभेदको मानता है।

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्। साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः॥ १००॥

इस कारिकामें **समंतभद्रस्वामीने** भी भव्यत्वाभव्यत्व गुणोंमें वास्तविक भेद माना है। **अकलंक** व **विद्यानंद** स्वामीने भी अपनी व्याख्याओंमें भेद सिद्ध किया है। इसलिये जीवोंको दो प्रकारके ही मानना चाहिये। अभव्यत्व जुदा माननेपर भी ज्ञानादि गुणोंमें बाधा नहीं आती है।

सूक्ष्मदर्शक शक्ति दवी हुई रहती है। ऐसी अवस्थामें जीव जब तक शरीरादि कर्मनोकर्मोंसे व्याप्त है तबतक शरीरादिके अतिरिक्त कुछ भी दिखाई न पडना उचित ही है। तो भी उसके किसी चिन्हद्वारा परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। यदि जीवसिद्धि न हो तो धर्मादिके उपदेश करनेका परिश्रम निष्फल होजायगा। वह जीवसिद्धि इस लक्षणसे होती है कि,-

उपयोग, जिसे कि 'ज्ञान दर्शन' शब्दसे कहते हैं, सभी जीवोंमें मिलता है और जीवके अतिरिक्त किसीमें भी नहीं मिलता। इसलिये यही जीवका असाधारण लक्षण है। कर्मनोकर्मादिसे मिश्रित रहनेपर भी उपयोगके द्वारा जीवका निराला अनुभव किया जाता है। यद्यपि औपशमिकादि पांच भाव जो प्रथम ही इस अधिकारमें गिनाये गये हैं वे भी जीवके ही लक्षण हैं। उनके द्वारा भी जीवकी परीक्षा हो सकती है। वे भी जीवके विना केवल पुद्गलादिकोंमें नहीं रह सकते हैं। परंतु औपशमादि भावोंका ज्ञान जीवसिद्धि होनेसे पहिले नहीं हो सकता है। उनके ज्ञान होनेमें जीवसिद्धिकी प्रथम आवश्यकता पडती है। इसलिये यह जुदा लक्षण कहा है। दूसरी वात यह भी है कि उन भावोंका वर्णन विस्तारसे किया गया है। किंतु लक्षण ऐसा होना चाहिये कि शीघ्रतासे व स्वयं समझलेने योग्य हो। ऐसा संक्षिप्त व स्वयंप्रसिद्ध यदि जीवका कोई लक्षण हो सकता है तो वह उपयोग ही है।

उपयोगके भेद—

साकारश्च निराकारो भवति द्विविधश्च सः। साकारं हि भवेज्ज्ञानं निराकारं तु दर्शनं ॥१०॥

अर्थ—उस उपयोगके साकार तथा निराकार ऐसे दो प्रकार हैं। साकार ज्ञानको कहते हैं और निराकार दर्शनको कहते हैं।

कृत्वा विशेषं गृह्णाति वस्तुजातं यतस्ततः।
साकारमिष्यते ज्ञानं ज्ञानयाथात्म्यवेदिभिः॥ ११ ॥

अर्थ—यदि किसीकी आकृति कही जासकती है तो वह विशेप पदार्थ ही होगा। सामान्य पदार्थकी आकृति अनियत होनेसे कहने व समझानेमें नहीं आसकती। और ज्ञान पदार्थोंको विशेप विशेष करके जानता है इसीलिये उसे साकार कहते हैं। ज्ञानका स्वरूप जिन्होंने वास्तविक जानलिया है वे ऋषी—लोग ज्ञानको इसलिये साकार नहीं कहते कि वह पदार्थके विशेषाकारके तुल्य स्वयं होता हो। ज्ञान अमूर्त आत्माका गुण है। उसमें ज्ञेय पदार्थोंके आकार उतरनेकी आवश्यकता

नहीं है। केवल विशेष पदार्थ उसमें भासने लगते हैं—यही उसकी आकृति माननेका मतलब है। सारांश, ज्ञानमें आकृति वास्तविक नहीं मानी जासकती किंतु ज्ञानज्ञेयसंबंधके कारण ज्ञेयका आकृतिधर्म ज्ञानमें उपचारनयसे कल्पित किया जाता है। इस आरोपका फलितार्थ इतना ही समझना चाहिये कि पदार्थोंकी विशेषाकृति निश्चय करानेवाले चैतन्य-परिणामको हम ज्ञान कहें।

यद्विशेषमकृत्वैव गृह्णीते वस्तुमात्रकम्।
निराकारं ततः प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शिभिः ॥ १२ ॥

अर्थ—पदार्थोंकी विशेपता न समझकर जो केवल सामान्यका अथवा सत्ता-स्वभावका ग्रहण करता है उसे दर्शन कहते हैं। उसे निराकार कहनेका भी यही प्रयोजन है कि वह ज्ञेय वस्तुओंकी आकृति-विशेपको समझ नहीं पाता। इसका विपय जो सामान्य है उसे सत्ता कहते हैं। इसीलिये दर्शनको कहीं कहींपर 'सत्तालोचन' ऐसा नाम भी दिया गया है। सत्ता विश्वाकारके तुल्य है इसलिये उसका आकार नियमित नहीं किया जासकता। और अतएव उसका ग्राहक दर्शन भी निराकार ही माना जाता है। ज्ञान, दर्शनके बाद भी होता है व ज्ञानके उत्तरोत्तर भी होता है। परंतु दर्शन सबके प्रारंभमें ही होता है। एक विपयका कुछ भी ज्ञान उत्पन्न होजानेपर जबतक उसकी शृंखला टूटती नहीं है तबतक फिर बीचमें दर्शन नहीं होपाता।

ज्ञानमष्टविधं प्रोक्तं मतिज्ञानादिभेदतः।
चक्षुरादिविकल्पाच्च दर्शनं स्याच्चतुर्विधम् ॥ १३ ॥

अर्थ—सम्यक् (१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनःपर्यय, (५) कैवल्य, तथा मिथ्या (६) मति, (७) श्रुत, (८) अवधि—ये मिलकर सर्व आठ ज्ञान हैं। ज्ञानोंका विशेष स्वरूप पीठिका-प्रकरणमें, लिखचुके हैं। दर्शनके चार भेद हैं। चाक्षुप ज्ञानके प्रथम होनेवाला चाक्षुप दर्शन पहिला। इतर इंद्रियों द्वारा होनेवाले ज्ञानोंके पूर्व होनेवाला अचाक्षुप दर्शन दूसरा। अवधिज्ञानके प्रथम आत्मद्वारा होनेवाला अवधिदर्शन तीसरा। केवलज्ञानी जीवोंको सं-

सारी जीवोंकी भांत चौथा केवल दर्शन व ज्ञान आगे पीछे नहीं होते—एक साथ ही होते हैं। तो भी दोनों ज्ञानदर्शनोंका सद्भाव वहां आवरणके भेद वश तथा विषयविभागादि कारणोंके वश कल्पित किया जाता है। दर्शनोत्तर अवग्रह तथा ईहा–ज्ञान पर्यंत मतिज्ञान होजानेपैर मनः–पर्यय ज्ञानका स्वरूप प्रगट होता है। इसलिये मनः-पर्यय ज्ञान प्रथम ही सीधा नहीं होता। अतएव अवधिदर्शनकी भांत मनःपर्यय–नामका दर्शन होना नहीं माना गया है। श्रुतज्ञान भी मतिज्ञानपूर्वक होता है इसलिये श्रुतदर्शन भी कोई निराला नहीं है। एक मतिज्ञानके प्रथम होनेवाले दर्शनके चाक्षुष व अचाक्षुष ऐसे दो भेद किये हैं। मनःपर्यय व श्रुतके पूर्व होनेवाले दर्शन न मानकर केवलज्ञान व अवधिज्ञानके संबंधी केवल व अवधि नामवाले दो दर्शन माने गये हैं। इस प्रकार पांच अथवा आठ ज्ञानोंके साथ जुडनेवाले दर्शन चार हैं। मिलकर उपयोगोंके सर्व बारहभेद होते हैं।

जीवोंके भेदः—

संसारिणश्च मुक्ताश्च जीवास्तु द्विविधा स्मृताः। लक्षणं तत्र मुक्तानामुत्तरत्र प्रवक्ष्यते ॥ १४ ॥
सांप्रतं तु प्ररूप्यन्ते जीवाः संसारवर्तिनः। जीवस्थानगुणस्थानमार्गणादिषु तत्त्वतः ॥ १५ ॥

अर्थ—जीव दो प्रकारके माने गये हैं; संसारी व मुक्त। मुक्तोंका लक्षण तो ग्रंथके अंतमें कहेंगे परंतु संसारी जीवोंका लक्षण अभी कहते हैं। कर्म व शरीरसे युक्त रहनेवाले जीवोंका नाम संसारी है। वास्तव इनका खुलासा जीवस्थान, गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा व मार्गणाओंके द्वारा होगा इसलिये क्रमसे जीवस्थानादिकोंका सामान्य स्वरूप व भेद कहते हैं।

गुणस्थानोंके नाम—

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयतः।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वानिवृत्तिकरणौ तथा ॥ १६ ॥

१ दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा। जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ॥ [श्रीनेमिचन्द्र कृत द्रव्यसंग्रहः।] २ परमणसि ट्ठियमत्थं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय। पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा ॥ ४८७ (गोम० जीव०) ३ जीवस्थान गुणस्थानके बाद कहेंगे। क्योंकि, गोमट्सारमें भी बादमें ही कहेगये हैं।

सूक्ष्मोपशान्तसंक्षीणकषाया योग्यऽयोगिनौ ।
गुणस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश ॥ १७ ॥

अर्थ–गुणस्थान–शब्दका अर्थ पहिले लिखचुके हैं कि मोक्षसाधक गुणोंके उत्तरोत्तर प्रकर्षका नाम गुणस्थान है। गुणस्थान सर्व चौदह हैं [१] मिथ्यादर्शन, [२] सासन अथवा सासादन, [३] मिश्र अथवा सम्यग्मिथ्यात्व, [४] असंयत सम्यग्दर्शन, [५] देशसंयत, [६] प्रमत्तसंयत, [७] अप्रमत्तसंयत [८] अपूर्वकरण, [९] अनिवृत्तिकरण, [१०] सूक्ष्मकषाय, [११] उपशान्तकषाय, [१२] क्षीणकषाय, [१३] सयोगकेवली, [१४] अयोगकेवली। अब इनके लक्षण क्रमसे कहते हैं।

(प्रथम गुणस्थान)

मिथ्यादृष्टिर्भवेज्जीवो मिथ्यादर्शनकर्मणः ।
उदयेन पदार्थानामश्रद्धानं हि यत्कृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ–मिथ्यादर्शन एक कर्म है। इस कर्मका उदय होनेसे जीवका श्रद्धान मिथ्या तत्त्वोंपर होजाता है और सत्य तत्त्वों की रुचि प्रगट नहीं होती। इस गुणस्थानको तथा गुणस्थानवर्ती जीवको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। शब्दार्थ यों है कि जिसकी दृष्टि मिथ्या हो वह मिथ्यादृष्टि।

(द्वितीय गुणस्थान)

मिथ्यात्वस्योदयाभावे जीवोनन्तानुबन्धिनाम् ।
उदयेनास्तसम्यक्त्वः स्मृतः सासादनाभिधः ॥ १९ ॥

अर्थ–मिथ्यादर्शन का उद नहीं होते हुए ही अनंतानुबंधी कर्मका उदय होजाय तो भी सम्यग्दर्शन नष्ट होजाता है। इसीका नाम सासादन है। अनन्त संसारपरिभ्रमणके कारण सर्वाधिक कषायको अनंतानुबंधी कहते हैं।

मिथ्यादर्शन–गुणस्थानमें मोक्षोपयोगी शक्तिका प्रादुर्भाव नहीं होता इसलिये यह सबसे निकृष्ट जीवस्वभावका सूचक

स्थान है। इससे ऊपर जब कुछ परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे थोडासा आत्मज्ञान होजाता है तब जीवको जो स्थान, पहिला स्थान बदलकर, मोक्षोपयोगी प्राप्त होता है उसे चौथे स्थानपर रक्खा है। उससे नीचे गिरते समय जो कुछ मलिन परिणाम होते हैं उनके तीन विभाग हैं। परिणाम अत्यन्त मलिन होगया हो तो प्रथम गुणस्थान होजाता है। उस समय मिथ्यादर्शन व अनन्तानुबंधी कषाय–इन दोनोंका उदय प्रगट होजाता है। यदि केवल मिथ्यात्वका उदय न होकर अनंतानुबंधी का ही उदय हुआ हो तो परिणाम कुछ कम मलिन होंगे। उस स्थानको दूसरा गुणस्थान कहते हैं। यदि परिणाम इससे भी कम मलिन हुए हों तो जो गुणस्थान होता है उसे तीसरा गुणस्थान कहते हैं।

(तीसरा गुणस्थान)

सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञायाः प्रकृतेरुदयाद्भवेत्।
मिश्रभावतया सम्यग्मिथ्यादृष्टिः शरीरवान् ॥ २० ॥

अर्थ–सम्यङ्मिथ्यात्व नामक कर्मके उदयसे जीवके परिणाम आधे समीचीन व आधेसे मिथ्या होजाते हैं इसलिये जीव सम्यङ्मिथ्यादृष्टि बन जाता है। यही तीसरे गुणस्थानका स्वरूप है। दूसरे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन कुछ भी नहीं रहता है। परंतु तीसरेमें आधेसे परिणाम विशुद्ध होजानेसे तीसरेका स्थान दूसरेसे ऊंचा माना गया है। न इसे पूरा मलिन ही कहसकते हैं और न निर्मल ही कहसकते हैं। इसीलिये यह दूसरे और चौथेके बीचका स्थान है।

(चौथा गुणस्थान)

वृत्तमोहस्य पाकेन जनिताविरतिर्भवेत्।
जीवः सम्यक्त्वसंयुक्तः सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥ २१ ॥

अर्थ–चारित्र अथवा वृत्तगुणको मलिन करनेवाले कर्मको चारित्रमोह कहते हैं। इसका सबसे उत्कट पहिला भेद अनंतानुबंधी नाम कषाय है। दूसरा कषाय कुछ मंद बाधा करने वाला है। उसका नाम अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। अनंतानुबंधी व मिथ्यात्वका उदय थम जानेसे यद्यपि सम्यग्दर्शन प्रगट होजाता है परंतु इस द्वितीयकषायका उदय होरहा हो तो असंयम–अवस्था जारी रहती है। इसीका नाम चौथा गुणस्थान है। इसे असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

थोडासा भी संयम न होने देना यह उक्त दूसरे कषायका कार्य है। अविरति व असंयमका एक ही अर्थ होता है। अविरति जारी रहनेसे यद्यपि यहां विषयसंबंध छूट नहीं पाता परंतु आत्मज्ञानमें संशय अथवा विपर्यास तो भी नहीं रहता। इसीलिये यह चौथा गुणस्थान मोक्षसिद्धिका प्रथम स्थान माना जाता है।

(पाचवां गुणस्थान)

पाकक्षयात्कषायाणामप्रत्याख्यानरोधिनाम्।
विरताविरतो जीवः संयतासंयतः स्मृतः ॥ २२ ॥

अर्थ—आत्मज्ञान तो चौथे गुणस्थानमें ही हो चुका है। अब आत्मज्ञान रहते हुए चारित्रप्रवृत्तिकी जैसी विशुद्धता होती जाती है वैसे ही गुणस्थान भी बढते जाते हैं। दूसरे कषायका नाम अप्रत्याख्यानरोधक कषाय है। इस कषायका उदय नष्ट होते ही संयमकी आधीसी अवस्था प्रगट होजाती है। इसीको विरताविरत अथवा संयमासंयम कहते हैं। इस अर्धसंयमके धारी जीवको सयतासंयत कहते हैं। यही पांचवां गुणस्थान है। इसमें स्थावर वनस्पत्यादि जीवोंका विराधन होना पूरा बंद नहीं होसकता तो भी द्वीन्द्रियादि त्रस [चर] जीवोंका संकल्पी घात पूरा छूट जाता है। इसीसे इसे अर्धसंयमी कहते हैं। यह पांचवें गुणस्थानका जीव उत्कृष्ट गृहस्थोंमें गिना जाता है। गृहस्थीका धर्म यहींतक है। इसके ऊपर चढनेपर छट्ठे गुणस्थानसे लेकर सन्यासी अथवा योगी, मुनि, तपस्वी आदि नाम प्राप्त होते हैं।

[छट्ठा गुणस्थान]

प्रमत्तसंयतो हि स्यात् प्रत्याख्याननिरोधिनाम्।
उदयक्षयतः प्राप्तसंयमर्द्धिः प्रमादवान् ॥ २३ ॥

अर्थ—कषायका जो तीसरा स्थान है उसे प्रत्याख्याननिरोधी अथवा प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। विषयभोगोंके पूर्ण त्यागको यहां प्रत्याख्यान कहा है। यह कषाय उस त्यागके योग्य विरक्त भावनाको नहीं होने देता। इसलिये प्रत्याख्यानावरण कहाता है। इस कषायका उदय नष्ट हो जानेसे पूर्ण संयमधन तो जिसे प्राप्त हुआ हो परंतु उत्तर चतुर्थ कषायका उदय तीव्र रहनेसे अनेक प्रमाद भी होरहे हों उसे प्रमत्तसंयमी कहते हैं। यह छट्ठे गुणस्थानका स्वरूप है।

[सातवां गुणस्थान]

संयतो ह्यप्रमत्तः स्यात्पूर्ववत्प्राप्तसंयमः ।
प्रमादविरहाद्वृत्तेर्वृत्तिमस्खलितां दधत् ॥ २४ ॥

अर्थ—सातवें गुणस्थानका नाम अप्रमत्तसंयत है। छट्ठे गुणस्थानकी भांत यहां भी संयम तो पूर्ण होता ही है परंतु प्रमादजनक चौथे संज्वलन कषायका उदय मंद होजानेसे प्रमाद होना भी रुक जाता है । इसलिये चारित्र या संयमकी वृत्ति निष्प्रमाद होने लगती है। अत एव इसे अप्रमत्तसंयमी कहते हैं।

चौथे संज्वलन कषायकी शक्ति किसी संयमको दबा तो नहीं सकती है परंतु कुछ मलिनता अवश्य उत्पन्न करती है। वह भी तब, जब कि उस कषायका उदय तीव्र होरहा हो। इस कषायका संज्वलन नाम भी इसीलिये है कि वह संयमके साथ साथ प्रज्वलित रहता है किंतु संयमका नाश नहीं करसकता। इसके तीव्र उदयसे शिष्य, सद्धर्म, गुरु—इत्यादि मोक्षोपयोगी विषयोंमें प्रेम उत्पन्न होता है तथा भोजनादि कार्योंमें प्रवृत्ति होती है। ऐसी अवस्था साधुओंकी छट्ठे गुणस्थानतक ही होती है और इसीलिये वहांका संयम प्रमादयुक्त रहता है । यह प्रमाद छूटते ही जब साधु धर्मध्यानमें लीन होता है तब गुणस्थान सातवां कहाता है। वहां प्रमादयुक्त आचार कुछ नहीं रहता।

(आठवां गुणस्थान)

अपूर्वं करणं कुर्वन्नपूर्वकरणो यतिः । शमकः क्षपकश्चैव स भवत्युपचारतः ॥ २५ ॥

अर्थ—करणका अर्थ परिणाम है। अपूर्व परिणाम प्रगट करता हुआ योगी अपूर्वकरण गुणस्थानवाला कहाने लगता है। इसको भी उपचारसे मोहोपशमक तथा मोहक्षपक कहते हैं।

जब योगी सातवें गुणस्थानमें धर्मध्यानी होकर और भी अधिक विशुद्धता उत्पन्न करनेकेलिये तत्पर होता है तब शुक्लध्यान प्रगट करता है। वही आठवें गुणस्थानका प्रारंभ है। शुक्लध्यानयुक्त परिणाम इससे पहिले नहीं होते इसीलिये इसे अपूर्वकरण कहते हैं। मोहादि कर्मोंका क्षय तो यहां नहीं होता परंतु क्षयप्रारंभकी क्रिया होने लगती है। इसी-

१ संयमेन सह 'सम्'—एकीभूय ज्वलन्तीति सज्वलनाः ।

लिये यद्यपि मोहक्षपक इसे कहना पूर्णतया युक्तिसंगत नहीं दीखता तो भी प्रारंभकी अपेक्षा लेकर उपचारसे क्षपक कहसकते हैं। यदि योगीकी विशुद्धता कुछ कम हो तो क्षपक योगी जिन कर्मोंका क्षय करना प्रारंभ करता है उन्हींका यह उपशम करना प्रारंभ करता है। उपशमवाले योगीको उपशमक या मोहोपशमक कहते हैं। कर्म सत्तामें रखते हुए उनका उदय न होनेदेना-यह उपशमका अर्थ है। क्षपणका अर्थ कर्म नाश करना है। जो यहां उपशम करना प्रारंभ करता है उसका आगे दशवें-ग्यारहवें गुणस्थानतक उपशम ही होता जाता है। फिर वह ग्यारहवेंसे ऊपर न जाकर उपशम विगडते ही नीचेकी तरफ आ गिरता है। क्योंकि, उपशमके रहनेकी मर्यादा सबसे अधिक ग्यारहवें गुणस्थानतक है। उपशमी योगी अंततक पहुंच नहीं पाता यह नियम है। जो योगी आठवें गुणस्थानमें कर्मक्षपणाका आरंभ करके क्षपक वनता है वह नीचेकी तरफ न आकर अंततक पहुंचता है यह भी नियम है। यह ठीक ही है, जिसने कर्मोंका नाश करना आरंभ किया है वह फिर कर्मोंके बंधनकी निकृष्ट अवस्थातक क्यों आने लगा ?

[नववां गुणस्थान]

कर्मणां स्थूलभावेन शमकः क्षपकस्तथा ।
अनिवृत्तिरनिर्वृत्तिपरिणामवशाद्भवेत् ॥ २६ ॥

अर्थ—शुक्लध्यानादि चारित्ररूप परिणामोंकी उत्कट वृद्धि होनेसे अनिवृत्तिकरण नाम नवम गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थानवाला योगी मोहकर्म या कषायके स्थूल अंशोंका उपशम तथा क्षपण करता है। जो आठवेंमें उपशम-का प्रारंभ करता है वह यहां भी उपशम करता है और जो आठवेंमें क्षपक हुआ था वह यहां भी क्षपण ही करता है। स्थूल मोहका उपशम तथा क्षय करते हुए जब कि सूक्ष्ममात्र एक लोभ कषाय शेष रहा तब वह—

[दशवां गुणस्थान]

सूक्ष्मत्वेन कषायाणां शमनात्क्षपणात्तथा ।
स्यात्सूक्ष्मसाम्परायो हि सूक्ष्मलोभोदयानुगः ॥ २७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म लोभयुक्त होनेसे सूक्ष्मसाम्पराय नामको प्राप्त होता है। सूक्ष्म लोभ भी इस गुणस्थानका नाम है। सा-

म्परायका अर्थ-कषाय है। जिसका कषाय अति सूक्ष्म होगया हो वह सूक्ष्मसाम्पराय-नामवाला योगी होसकता है। यह गुणस्थान प्राप्त होते ही रहे हुए सूक्ष्म कषायोंका उपशम तथा क्षय होने लगता है।

(ग्यारह-बारहवें गुणस्थान)

उपशान्तकषायः स्यात्सर्वमोहोपशान्तितः।
भवेत्क्षीणकषायोपि मोहस्यात्यन्तसंक्षयात् ॥ २८ ॥

अर्थ-बचे हुए सूक्ष्म लोभका भी यदि उपशम होगया तो निःशेष मोहका उपशम सिद्ध होनेसे योगीका उपशान्तकषाय नाम पड़ता है। यह ग्यारहवां गुणस्थान है। आठवें गुणस्थानमें जिस योगीने क्षय करना प्रारंभ किया था वह यहां मोहका निःशेष नाश करके क्षीणकषाय बनता है। यह क्षीणकषाय नाम बारहवें गुणस्थानका है। उपशम तथा क्षपण करनेवाले योगी दशवें गुणस्थानके ऊपर एक साथ ही एकस्थान ऊंचा चढते हैं तो भी क्षपककी विशुद्धता अधिक आदरयोग्य होनेसे उपशमी ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती योगीकी अपेक्षा उसका स्थान बारहवां माना जाता है और उपशमीका ग्यारहवां ही रहता है।

(तेरह-चौदहवें गुणस्थान)

उत्पन्नकेवलज्ञानो घातिकर्मोदयक्षयात्।
सयोगश्चाप्ययोगश्च स्यातां केवलिनावुभौ ॥ २९ ॥

अर्थ-योगी बारहवें गुणस्थानके अंतमें ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अंतराय इन तीन घाती कर्मोंका समूल नाश करनेका प्रयत्न करने लगता है। वह नाश हुआ कि उसे केवलज्ञान उत्पन्न होजाता है। बस, इसीका नाम तेरहवां गुणस्थान है। योगोंका निर्मूल नाश अभीतक नहीं होपाता है इसलिये इसे सयोगकेवली कहते हैं। योगोंका नाश होजानेपर अयोगकेवली नाम प्राप्त होता है जिसे कि चौदहवां गुणस्थान कहते हैं। इस प्रकार केवलज्ञानियोंके सयोग व अयोग ये दो अंतिम गुणस्थान समझना चाहिये। यह शरीरसे तथा कर्मोंसे पूर्ण मुक्त होनेकी अंतिम दशा है। इसके अनंतर आत्मा संसारातीत बनजाता है।

ये चौदह गुणस्थानोंके लक्षण हुए। इन गुणस्थानोंके अन्तर्गत सभी संसारवर्ती जीव आजाते हैं। इसलिये संसारी जीवोंके विशेष वर्णन करनेका यह एक पहिला प्रकार हुआ। दूसरा प्रकार जीवसमास अथवा जीवस्थान है। उसका स्वरूप आगे कहते हैं—

जीवस्थान।

एकाक्षा बादराः सूक्ष्मा द्व्यक्षाद्या विकलास्त्रयः। संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्चैव द्विधा पञ्चेन्द्रियास्तथा॥३०॥
पर्याप्ताः सर्व एवैते सर्वेऽपर्याप्तकास्तथा। जीवस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश॥ ३१॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंके (१) वादर, (२) सूक्ष्म ये दो भेद होते हैं। (३) द्वीन्द्रिय, (४) त्रीन्द्रिय, (५) चतुरिन्द्रिय इन तीन भांतके जीवोंको विकलत्रय कहते हैं। विकलका अर्थ अपूर्ण है। इन तीनोंमें इंद्रिय पूर्ण नहीं हैं इसलिये ये विकल कहाते हैं। पंचेंन्द्रिय कुछ (६) असंज्ञी व कुछ (७) संज्ञी ऐसे दो प्रकारके होते हैं। मनसहित को संज्ञी व रहितको असंज्ञी कहते हैं। ये दो भेद पंचेंद्रिय जीवोंमें ही होते हैं। बाकी चतुरिंद्रियतकके सर्व जीव असंज्ञी ही होते हैं। ये सर्व मिलनेसे सात प्रकार हुए। सातों ही भेदोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त ये दो अवस्थाएं मिलती हैं। इसलिये पर्याप्त अपर्याप्तकी अपेक्षा दो दो भेद करनेसे चौदह भेद होजाते हैं।

पर्याप्ति।

आहारदेहकरणप्राणापानविभेदतः। वचोमनोविभेदाच्च सन्ति पर्याप्तयो हि षट्॥ ३२॥

अर्थ—शरीर धारण करनेके प्रारंभसे लेकर जबतक वह शरीर किसी कार्ययोग्य नहीं बनपाता तबतक उस शरीरको अपूर्ण कह सकते हैं। पूर्ण होनेका नाम पर्याप्त व अपूर्णका नाम अपर्याप्त है। पूर्णता जिन बातोंकी होती है उन्हीको पर्याप्ति कहते हैं। शरीरके कार्योंपरसे शरीरपूर्णताके प्रकार समझनेमें ठीक आसकते हैं। शरीरमें पूर्णता होने पर इतने कार्य देखनेमें आते हैं—एक शरीरक्रिया, दूसरी इंद्रियक्रिया, तीसरी श्वासोच्छ्वासक्रिया, चौथी वचनक्रिया और पांचवीं हिताहित विचार करनेकी मनःक्रिया। इन पांच क्रियाओंके भी प्रथम, शरीर तयार होनेयोग्य एक सामग्री इकट्ठी होनेकी क्रिया चलती है उसे आहारक्रिया कहते हैं। वह सबसे प्रथम होती है। उसकेद्वारा इतनी सामग्री इकट्ठी होजाती है कि जिससे वह शरीर बनसके।

उसको सबसे प्रथम गिनते हैं। आगेकी शरीरक्रिया आदि पांच क्रियाओंको जोड़नेसे सर्व क्रिया छह होजाती हैं। इन छह क्रियाओंके करानेवाली शक्तियां भी छह मानी गई हैं। आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन व मन ये छह उनके नाम हैं। इन छहो शक्तियोंकी पूर्णता होनेको छह पर्याप्ति कहते हैं और अपूर्णता रहनेको छह अपर्याप्ति कहते हैं।

एकाक्षेषु चतस्रः स्युः पूर्वाः शेषेषु पञ्च ताः। सर्वा अपि भवन्त्येताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु षट्॥३३॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंमें वचन व मन नहीं रह सकता है। इसलिये पहिली चार पर्याप्ति ही उनमें मिल सकती हैं। द्वीन्द्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय व असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत मन नहीं होता इसलिये इनमें मनरहित पांच पर्याप्ति रहसकती हैं। संज्ञी जीवमें छहो ही पर्याप्ति देखी जाती हैं। जहां चार पर्याप्तियोंकी योग्यता है वहां चार पर्याप्तिसे ही पर्याप्त नाम मिल जाता है। और जहां पांच या छहकी योग्यता है वहां उतनेसे ही पर्याप्त नाम प्राप्त होता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि पूर्ण होने पर ही वे पर्याप्ति कहाती हैं। जबतक इनकी पूर्णता न हो अथवा पूर्णता होनेसे प्रथम ही कोई जीव मरजानेवाला हो तो वहां अपर्याप्ति ही कहीजाती हैं। पर्याप्ति पूर्ण न करनेवाले जीवको अपर्याप्त व पूर्ण करनेवालेको पर्याप्त कहते हैं। ये पर्याप्त अपर्याप्तके भेद उक्त सातो ही प्रकारके जीवोंमें मिलते हैं इसलिये सातके चौदह भेद दोगुणित करनेसे होजाते हैं।

प्राण—

पञ्चेन्द्रियाणि वाक्कायमानसानां बलानि च। प्राणापानस्तथायुश्च प्राणाः स्युः प्राणिनां दश॥३४॥

अर्थ—शरीरादि क्रियाओंकी करानेवाली निदानरूप आत्मशक्तिको पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्ति पूर्ण होते ही जो क्रियाएं होने लगती हैं उन्हें प्राण कहते हैं। अर्थात्, पर्याप्ति कारण हैं व प्राण उनके कार्य हैं। पांच इंद्रिय, वचन मन तथा शरीरके तीन बल अथवा तीन क्रिया, श्वासोच्छ्वास एक और आयु एक ये दश प्राण माने जाते हैं।

इंद्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेपर इंद्रियोंमें जो प्रवृत्ति होती है वह इंद्रियप्राण है। वचनपर्याप्तिके पूर्ण होनेपर जो बोलना सुरू होता है उस क्रियाको वचनबल प्राण कहते हैं। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होते ही शरीर अपना हलनचलनका काम देनेलगता है उसे शरीरबल-प्राण कहते हैं। मनःपर्याप्ति पूर्ण होते ही जो मनकी क्रिया सुरू होती है उसे मनोबल प्राण कहते हैं। श्वासोच्छ्वास—पर्याप्ति पूर्ण होते ही श्वासोच्छ्वास प्राणक्रिया सुरू होजाती है वह श्वासोच्छ्वास प्राण है। आयुका कार्य आत्मामें

शरीरका रोक रखना है। यह कार्य शरीरपोषक आहार मिलनेसे होसकता है। इसीलिये आहारपर्याप्तिके पूर्ण होते ही आयुःप्राण सुरू होजाता है। इस प्रकार पर्याप्ति तथा प्राणोंका क्रमसे कार्यकारणसंबंध जुडता है।

किस जीवमें कितने प्राण है—

कायाक्षायूंषि सर्वेषु पर्याप्तेष्वान इष्यते। वाग् द्व्यक्षादिषु पूर्णेषु मनः पर्याप्तसंज्ञिषु ॥ ३५ ॥

अर्थ—शरीरबल, इंद्रिय, आयु तथा श्वासोच्छ्वास ये प्राण सभी पर्याप्त जीवोंमें रहते हैं। इंद्रियप्राणोंमेंसे जिस जीव में जितने संभव हों उतने वहां समझने चाहिये। द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर ऊपरके सभी पर्याप्त जीवोंमें वचनबल प्राण रहता है। मनोबल प्राण केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंमें ही रहता है। एकेन्द्रियोंमें वचन नहीं और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत मन नहीं रहता यह नियम है।

आहारादि वाञ्छाएं—

आहारस्य भयस्यापि संज्ञा स्यान्मैथुनस्य च। परिग्रहस्य चेत्येवं भवेत्संज्ञा चतुर्विधा ॥ ३६ ॥

अर्थ—आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चार विषयोंकी तीव्र वाञ्छाको चार प्रकारकी संज्ञा कहते हैं। ये चारों संज्ञाएं भी जीवमात्रमें रहती हैं। आहारादि उक्त चारो विषयोंकी तरफ प्रवृत्ति होना केवल मनके विचारका काम नहीं है किंतु ऐकेन्द्रियादि जीवमात्रमें ये प्रवृत्तियां होती हैं। चारित्रमोह कर्मके उदयका यह साधारण कार्य है। अतएव इन प्रवृत्तियोंमें हिताहितकी अपेक्षा नहीं रहती और न इन प्रवृत्तियोंके होनेसे मनका अस्तित्व ही मानलेना चाहिये।

चौदहे मार्गणा—

गत्यक्षकाययोगेषु वेदक्रोधादिवित्तिषु।
वृत्तदर्शनलेश्यासु भव्यसम्यक्त्वसंज्ञिषु। आहारके च जीवानां मार्गणाः स्युश्चतुर्दश ३७ (षट्पदी)

---

१ आहारसंज्ञाभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। यह नीतिकारोंका वचन है। इसलिये उनके होनेसे मनका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। २ जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जते जहा तहा दिट्ठा। ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ॥ १४१ ॥ छाया—याभिर्वा यासु वा जीवा मृग्यन्ते यथा तथा दृष्टाः। ताश्चतुर्दश जानीहि श्रुतज्ञाने मार्गणा भवति ॥ (गोमट० जीवकाण्ड)

अर्थ—[१] गति, [२] इंद्रिय, [३] काय, [४] योग, [५] वेद, [६] क्रोधादि कषाय, [७] ज्ञान, [८] संयम, [९] दर्शनोपयोग, [१०] लेश्या, [११] भव्यत्व, [१२] सम्यग्दर्शन, [१३] संज्ञित्व तथा [१४] आहारकत्व ये चौदह मार्गणा जीवोंके रहनेके आश्रय हैं। अर्थात् इन चौदह प्रकारोंमें संसारके सभी जीव रहते हुए दीख पडते हैं।

गति (प्रथम मार्गणा)—

गतिर्भवति जीवानां गतिकर्मविपाकजा। श्वभ्रातिर्यग्नरामर्त्यगतिभेदाच्चतुर्विधा ॥ ३८ ॥

अर्थ--जीवोंकी गति गतिनाम कर्मके उदयसे होती है। गतिके नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव ये चार भेद हैं। देवादि चारो भेदोंके जो कारण हैं वे गतिकर्मके ही उत्तर चार भेद हैं। देव, मनुष्य व नारक इन तीन भांतके जीवोंके अतिरिक्त संसारवर्ती सभी जीवोंको तिर्यंच कहते हैं ऐसा आगे कहेंगे। देव व नारकियोंका वर्णन भी आगे आनेवाला है।

इंद्रिय (दूसरी मार्गणा)—

इंद्रियं लिंगमिन्द्रस्य तच्च पञ्चविधं भवेत्। प्रत्येकं तद् द्विधा द्रव्यभावेन्द्रियविकल्पतः ॥ ३९ ॥

अर्थ--' इन्द्र ' शब्दका अर्थ ' परमैश्वर्ययुक्त ' ऐसा होता है। आत्मा सभी परमैश्वर्ययुक्त हैं इसलिये इन्द्र नाम आत्माको भी माना गया है। इंद्र अर्थात् आत्माका जो चिन्ह हो वह इंद्रिय[3] है। अथवा आत्माके अस्तित्व सिद्ध करनेका जो साधन हो वह भी इंद्रिय होसकता है। इंद्रियोंकी प्रवृत्ति देखनेसे उनके प्रेरक आत्माका अस्तित्व[4] मानना पडता है। प्रत्येक इंद्रियमें द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय ये दो दो भेद होसकते हैं। ये इंद्रिय सर्व पांच हैं।

इंद्रियके भेद—

निर्वृत्तिश्चोपकरणं द्रव्येन्द्रियमुदाहृतम्। बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यमनयोरपि ॥ ४० ॥

अर्थ—द्रव्येंद्रियका विचार करें तो उसमें निर्वृत्ति व उपकरण ऐसे दो प्रकार दीख पडते हैं। निर्वृत्ति व उपकरण भी

१ इदि परमैश्वर्ये। इन्द्रिय या इन्द्र शब्द परमैश्वर्य सूचित करनेवाले 'इदि' धातुसे बनता है। २ इन्द्र आत्मा इति सर्वार्थसिद्धि। ३ इन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियम्। इन्द्रलिंगमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रियम्। यह पाणिन्यादि वैयाकरणों का वचन है। इससे इन्द्रिय शब्द बनाया जाता है। ४ तत्प्रयोक्त्रस्तित्व गमयति।

प्रत्येक दो दो प्रकारके होते हैं। बाह्य निर्वृत्ति, आंतर निर्वृत्ति, बाह्य उपकरण, आंतर उपकरण। ज्ञानोत्पत्तिमें कार्यकारी जो इंद्रियका अंश रचागया हो वह निर्वृत्ति समझना चाहिये। जो उस निर्वृत्ति (मुख्यांश) की रक्षा करनेवाला अवयव हो वह उपकरण कहा जाता है।

द्रव्येन्द्रियकास्वरूप—

नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम्। विशुद्धात्मप्रदेशानां तत्र निर्वृतिरान्तरा॥ ४१ ॥

अर्थ—बाह्य व आंतर निर्वृत्तियोंमेंसे आंतर निर्वृत्ति वह है कि जो कुछ आत्मप्रदेशोंकी रचना नेत्रादि इंद्रियोंके आकारको धारण करके उत्पन्न होती है। वे आत्मप्रदेश इतर आत्मप्रदेशोंसे अधिक विशुद्ध होते हैं। ज्ञानके व ज्ञानसाधनके प्रकरणमें ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्य निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं।

तेष्वेवात्मप्रदेशेषु करणव्यपदेशिषु। नामकर्मकृतावस्थः पुद्गलप्रचयोऽपरा ॥ ४२ ॥

अर्थ—इंद्रियाकार धारण करनेवाले अंतरंग इंद्रियनामक आत्मप्रदेशोंके साथ उन आत्मप्रदेशोंको अवलंबन देनेवाले जो शरीरावयव इकट्ठे होते हैं उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। इन शरीरावयवोंकी इकट्ठे होकर इंद्रियावस्था बननेकेलिये अंगोपांगादि नामकर्मके कुछ भेद सहायक होते हैं।

आभ्यन्तरं भवेत्कृष्णशुक्लमण्डलकादिकम्। बाह्योपकरणं त्वक्षिपक्ष्मपत्रद्वयादिकम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—बाह्य व आंतर दोनो उपकरणोंमेंसे आंतरोपकरण उसे कहते हैं कि जो भीतर रहकर निर्वृत्तिरूप इंद्रियकी रक्षा करता हो। जैसे, नेत्रेन्द्रियके भीतर काले सफेद आदि रँगका मंडल। किसी इंद्रियके सबसे ऊपरकी तरफ रहनेवाला रक्षाका साधन बाह्योपकरण कहाता है। जैसे, नेत्रेन्द्रियके ऊपर दो पापनी व पापनियोंपरकी दोनो विनूनी (केश)। इन दोनो प्रकारके उपकरणोंके भीतर जो देखनेकी शक्ति रखनेवाली रचना होती है वह सब 'निर्वृत्ति' नामसे कही जाती है। ये सर्व उपकरण तथा निर्वृत्तिके भेद द्रव्येन्द्रिय इसलिये कहेजाते हैं कि आत्माके तथा पुद्गलद्रव्योंके पर्याय हैं।

भावेन्द्रियका स्वरूप—

लब्धिस्तथोपयोगश्च भावेन्द्रियमुदाहृतम्। सा लब्धिर्बोधरोधस्य यः क्षयोपशमो भवेत् ॥४४॥

स द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते यतः । कर्मणो ज्ञानरोधस्य क्षयोपशमहेतुकः ॥ ४५ ॥
आत्मनः परिणामो य उपयोगः स कथ्यते । ज्ञानदर्शनभेदेन द्विधा द्वादशधा पुनः ॥ ४६ ॥

अर्थ—भावेन्द्रिय दोनोंको कहते हैं; एक लब्धिको, दूसरे उपयोगको। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका लाभ होना लब्धि है। उस आत्माके चैतन्य परिणामको उपयोग कहते हैं कि—जिसके होनेसे आत्मा ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमद्वारा द्रव्यनिर्वृत्तिनामक इंद्रियमें प्रवृत्ति करने लगता है। अर्थात् आत्मा इंद्रियोंद्वारा पदार्थोंको तभी जान सकता है जब कि उक्त विषयके ज्ञानको घातनेवाला कर्म क्षीणोपशान्त होगया हो और उस क्षयोपशमकी सहायतासे आत्मा इंद्रियोंमें प्रवर्तने लगा हो। ऐसी आत्मप्रवृत्तिको उपयोग कहते हैं और घातक कर्मके क्षयोपशमको लब्धि या लाभ कहते हैं। क्षयोपशमरूप लाभ भी जबतक प्राप्त न हुआ हो तबतक ज्ञान होना असंभव है और क्षयोपशमलाभ होनेपर भी जबतक जाननेकी प्रवृत्ति न कीगई हो तबतक भी ज्ञान प्रगट होना कठिन है। एकेन्द्रिय जीवोंमें रसनादि चार इंद्रियोंका क्षयोपशम न रहनेसे उन इंद्रियोंका वहां ज्ञान कभी नहीं होता। और मनुष्योंमें सर्व इंद्रियोंके ज्ञानावरणका क्षयोपशम रहते हुए भी एक किसी इंद्रिय-संबंधी ज्ञान होते समय इतर इंद्रियोंका ज्ञान नहीं होता। ये दोनो, लब्धि व उपयोगकी कारणता दिखानेकेलिये उदाहरण हैं। इसीलिये दोनोंको भावेन्द्रिय मानना आवश्यकीय है। उक्त दोनोंको भावेन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि ये द्रव्यपर्याय न होकर गुणपर्याय हैं। क्षयोपशम भी एक गुण या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है। धर्म, स्वभाव, भाव इत्यादि शब्दोंका एक ही अर्थ होता है। उपयोगके ज्ञान, दर्शन ये दो प्रकार भी कहे जाते हैं और उत्तर भेद देखनेपर बारह भेद भी पहिले कह चुके हैं। आत्माके परिचयका हेतु होनेसे उपयोगको भी इंद्रिय कहना अयोग्य नहीं है। हां, व्यवहारमें उन्हींको इंद्रिय कहते है कि जो नेत्रादि शरीरावयव हैं। परंतु ज्ञानोंकेलिये उक्त अपेक्षासे कहा हुआ इंद्रियनाम शास्त्रदृष्टिसे अनुचित नहीं है।

इंद्रियोंके नाम और क्रम—

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमतः परम् । इतीन्द्रियाणां पञ्चानां संज्ञानुक्रमनिर्णयः ॥ ४७ ॥

अर्थ—प्रथम स्पर्शन, दूसरी रसना, तीसरा घ्राण, चौथा नेत्र, पांचवां श्रोत्र इस प्रकार इंद्रियोंके अनुक्रमसे नाम हैं।

एक दो आदि इंद्रियोंकी वृद्धि भी इसी अनुक्रमसे होती है यह नियम है। किसी जीवमें दो इंद्रिय होंगे तो स्पर्शन तथा रसना ये ही दो होंगे, अन्यथा नहीं।

इंद्रियोंके विषय—

स्पर्शो रसस्तथा गन्धो वर्णः शब्दो यथाक्रमम्। विज्ञेया विषयास्तेषां मनसस्तु तथा श्रुतम् ॥४८॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये पांच क्रमसे पांचो इंद्रियोंके विषय हैं। मन जो अन्तर्गत इंद्रिय है उसका मुख्य विषय श्रुतज्ञानको उत्पन्न करना है और गौण विषय सभी इंद्रियोंको सहायता देना है।

इंद्रियोंका विषयसंबंध—

रूपं पश्यत्यसंस्पृष्टं स्पृष्टं शब्दं शृणोति तु। बद्धं स्पृष्टं च जानाति स्पर्शं गन्धं तथा रसम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—आत्मा चक्षुसे जो रूपको देखता है वह रूपसे संबंध न करता हुआ दूर रहकर ही देखता है। कानोंसे जो शब्द सुनाई पडता है वह स्पर्श होनेपर पडता है। शब्दका कानोंके साथ संयोग हुए विना सुनना नहीं होता। स्पर्श, रस तथा गंध इन तीन विषयोंका ज्ञान तब होता है जब कि इंद्रियोंके साथ संयोग होकर एकमेक सरीखे विषय व इंद्रिय एकत्रित भिड जाते हैं। मनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें विषयके संबंधकी भी अपेक्षा नहीं होती तथा अव्यवधानकी भी, नेत्रकी भांत, अपेक्षा नहीं होती।

इंद्रियोंकी आकृति—

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात्। श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाःस्युः स्पर्शनं नैकसंस्थिति ॥५०॥

अर्थ—कानोंका यवकी मध्य नलीकासा आकार है। नेत्र मसूरके तुल्य होता है। नाक तिलपुष्पके समान होती है। अर्ध चंद्रके समान जीभका या रसनेंद्रियका आकार है। स्पर्शन इंद्रियका कोई एक आकार नियत नहीं है। शरीरोंके आकार अनेक हैं इसलिये स्पर्शनेंद्रिय शरीराकार होनेसे अनेकविध है। मन यद्यपि बाह्य इन्द्रिय नहीं है तथा अतिसूक्ष्म भी है परंतु विकसित[2] अष्टदल कमलके तुल्य माना गया है।

१ यस्य येनार्थसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स। यह वैशेपिक नैयायिकोंका वचन इसी प्रकरणमें है। इससे सिद्ध होता है कि चाक्षुष ज्ञानमें विषयके साथ संबंधकी आवश्यकता नहीं है। २ हिदि होदि हु दव्वमण वियसियअट्ठच्छदारविंद वा ॥ इति गोम० ॥

जीवोंमें इंद्रियविभाग—

स्थावराणां भवत्येकमेकैकमभिवर्धयेत्। शम्बूककुन्थुमधुपमर्त्यादीनां ततः क्रमात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—पृथिव्यादि स्थावर जीवोंमें पहिला एक इंद्रिय होता है। इसके आगे शम्बूक, कुन्थु, भ्रमर व मनुष्यादिकोंमें एकएक इंद्रिय क्रमसे वढ जाते हैं।

एकेन्द्रियादि जीवोंके भेद—

स्थावराः स्युः पृथिव्यापस्तेजो वायुर्वनस्पतिः। स्वैः स्वैर्भेदैः समा ह्येते सर्व एकेन्द्रियाःस्मृताः५२

अर्थ—पृथिवी जल अग्नि वायु तथा वनस्पति ये पांचो तथा इनके अन्तर्गत भेद सब स्थावर हैं और सभी एकसमान एकेन्द्रिय हैं। इनके उत्तर भेद आगे चलकर लिखेंगे।

शम्बूकः शङ्खशुक्ती वा गण्डूपदकपर्दकाः। कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ॥५३॥

अर्थ—शम्बूक, शंख, सीप, गेंडुआ, कौडी, कांखोंमें होने वाली कृमी इत्यादि सर्व द्वीन्द्रिय प्राणी हैं।

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकाः। घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाःसन्ति जन्तवः ५४

अर्थ—कुंथु, चेंटी, कुछ जातिके सर्प, वीछू, गिंजाई, घुन, खटमल, जूं इत्यादि जीव त्रीन्द्रिय हैं।

मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा। वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—भौंरा, कीडे, डांस, मक्खी, पतंग, पिस्सू, वर्र, इत्यादि प्राणी चतुरिन्द्रिय कहाते हैं।

पञ्चेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युर्नारकास्त्रिदिवौकसः। तिर्यञ्चोप्युरगाभोगिपरिसर्पचतुष्पदाः ॥५६॥

अर्थ—मनुष्य, नारकी व देव ये सभी पंचेन्द्रिय होते हैं और संज्ञी भी होते हैं। तिर्यंचोंमें चतुरिन्द्रियपर्यंतके जीवोंको छोडकर जो पंचेन्द्रिय होते हैं उनमेंसे कुछके नाम ये हैं, जैसे, उरग, आभोगी व परिसर्प इन नामों वाले सर्प, तथा चार पैर वाले सर्व तिर्यंच—ये सर्व पचेन्द्रिय हैं।

पृथिव्यादि जीवोंकी आकृति—

मसूराम्बुपृषत्सूचीकलापध्वजसन्निभाः। धरातेजोमरुत्काया नानाकारास्तरुत्रसाः ॥ ५७॥

अर्थ—पृथिवीके जीवोंका शरीराकार मसूरके तुल्य, जलके जीवोंका शरीर जलकणके तुल्य, अग्निके जीवोंका शरीर सुइयोंके पिण्डके समान, वायुकायिकोंका ध्वजकासा आकार होता है। बाकी रहे वनस्पति व त्रस जीवोंका किसी एक प्रकारका आकार नहीं है। इनमें अनेक आकृति मिलती हैं।

पृथिवीके प्रकार—

मृत्तिका बालुका चैव शर्करा चोपलः शिला। लवणोऽप्ययस्तथा ताम्रं त्रपुः सीससकमेव च ॥ ५८ ॥
रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिंगुलम्। मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं सप्रवालकम् ॥ ५९ ॥
क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च बादराः। गोमेदो रुचकांकश्च स्फटिको लोहितप्रभः ॥ ६० ॥
वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभः। गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा ॥ ६१ ॥
मोठो मसारगल्लश्च सर्व एते प्रदर्शिताः। षट्त्रिंशत्पृथिवीभेदा भगवद्भिर्जिनेश्वरैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—(१) माटी, (२) बालू, (३) धूल, (४) पत्थर, (५) शिला, (६) निमक, (७) लोहा, (८) तांबा, (९) सुरमा, (१०) सीसा, (११) चांदी, (१२) सुवर्ण, (१४) हरताल, (१५) ईंगुर (१६) मनसिल, (१७) तूतिया, (१८) अंजन, (१९) प्रवाल, (२०) क्रिरोलक (२१) अभ्रक, (२२) गोमेद, (२३) रुचकांक, (२४) स्फटिक, (२५) लोहितप्रभ, (२६) वैडूर्य, (२७) चन्द्रकांत, (२८) जलकांत, (२७) सूर्यकांत, (३०) गेरू, (३१) चन्दन (३२) वर्चुर, (३३) रुचक, (३४) मोठ, (३५) मसार, (३६) गल्ल—ये सर्व पंद्रह प्रकारके मणि या रत्न तथा ऊपरके धातु आदि सर्व मिलकर छत्तीस भेद होते हैं। मूल प्रकार जिनेश्वर भगवानने इतने ही कहे हैं। बाकी पृथिवीकी जितनी चीजें दीखपडें वे सर्व इन्हींमेंसे किसी न किसीमें गर्भित समझनी चाहिये।

जलके प्रकार—

अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः ॥६३॥

अर्थ—अवश्याय=एक प्रकारकी ओस, हिमबिन्दु=एक प्रकारकी ओसकी बूंद, शुद्धजल, मेघजल, शीतक=ठंढक,

इत्यादि और भी बरफ आदि अनेक प्रकारके जलको जलकायिक जीव समझना चाहिये ।

अग्निके प्रकार—

ज्वालाङ्गारस्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च । अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः ६४

अर्थ—ज्वाला, अंगार, अर्चि, मुर्मुर, शुद्ध अग्नि ये सर्व अग्निकायिक जीवोंके भेद हैं। इनके सिवा और भी ऐसे बहुत प्रकार हैं जो कि अग्निमें ही गर्भित करने चाहिये ।

वायुके प्रकार—

महान् घनस्तनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः । वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः ६५

अर्थ—महावायु, घनवायु, तनुवायु गुंजामंडलि, उत्कलि, शुद्ध वायु इत्यादि सर्व वायुकायिक जीवों के भेद समझने चाहिये ।

वनस्पतिके प्रकार—

मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा । सम्मूर्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः ॥६६॥

अर्थ—मूलसे उत्पन्न होनेवाले, अग्रभाग—पर्व—कन्द इनसे उत्पन्न होनेवाले, स्कन्ध या बीजसे उत्पन्न होनेवाले, सम्मूर्छन जन्मवाले घास आदि तथा प्रत्येक, अनंतकाय ये सर्व वनस्पतिकायिक जीवोंके भेद हैं। यह सर्व इंद्रियमार्गणाका स्वरूप हुआ ।

योगमार्गणा—

सति वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमसम्भवे । योगो ह्यात्मप्रदेशानां परिस्पन्दो निगद्यते ॥ ६७ ॥

अर्थ—वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मप्रदेशोंमें चंचलता उत्पन्न होती है उसे योग कहते हैं। इस योगकी प्रवृत्ति यद्यपि आत्मामें होती है परंतु शरीर, मन अथवा वचनके सहारेसे होती है—विना सहारे नहीं होती। इन तीनो सहायकोंकी तर्फ देखें तो योग के तीन भेद होजाते हैं ।

योगोंके उत्तर भेद—

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम् । काययोगाश्च सप्तैव योगाः पञ्चदशोदिताः ६८॥

अर्थ—मनोयोगके चार भेद, वचनयोगके चार भेद तथा काययोगके सात भेद ऐसे सर्व पंद्रह योग कहे गये हैं।

मनोयोगोंके नाम—

मनोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा । तथाऽसत्यमृषा चेति मनोयोगश्चतुर्विधः ॥ ६९ ॥

अर्थ—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, सत्या सत्य मनोयोग तथा सत्यासत्यरहित मनोयोग इस प्रकार मनोयोग चार हैं।

वचनयोगोंके नाम—

वचोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा । तथाऽसत्यमृषा चेति वचोयोगश्चतुर्विधः ॥ ७० ॥

अर्थ—वचनयोग भी सत्य वचन, असत्य वचन, सत्यासत्य वचन तथा सत्यासत्यसंकल्प रहित—अनुभय वचन ऐसे चार प्रकारके हैं।

काययोगोंके नाम—

औदारिको वैक्रियिकः कायश्चाहारकश्च ते । मिश्राश्च कार्मणश्चैव काययोगोपि सप्तधा ॥७१॥

अर्थ—औदारिक शरीर, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक मिश्र, कार्मणशरीर ये सात काययोग हैं। औदारिकादि मिश्र तीनो योग उस समय होते हैं जब कि जीवका धारण किया हुआ शरीर अपूर्ण रहता है। शरीर पूर्ण होते ही औदारिकादि तीनो योग शुद्ध होजाते हैं। कार्मण शरीर—योग तब होता है जब कि जीव प्रथम शरीर छोड-कर दूसरे नवीन शरीरकेलिये जाता हुआ अंतरालमें रहता है। औदारिकादि शरीर जबतक पूर्ण समर्थ नहीं होपाते तबतक वे अकेले आत्माको धारण नहीं कर सकते इसलिये कार्मण शरीरकी सहायता लेकर उस समय वे आत्माको रखते हैं। इसीलिये औदारिकादि शरीर तथा कार्मण मिलकर योग उत्पन्न करते हैं और उस योगका मिश्र नाम पडता है। योगके कारण चार शरीर हैं इसलिये चार शुद्ध योग और कार्मणके साथ तीन शरीरोंका मेल होकर तीन मिश्र योग

होते हैं। शरीर सर्व पांच हैं परंतु चौथा तैजस शरीर योगमें सहायक कभी नहीं होता।

शरीरोंके प्रकार—

औदारिको वैक्रियिकस्तथाहारक एव च। तैजसः कार्मणश्चैवं सूक्ष्माः सन्ति यथोत्तरम् ॥७२॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण ये सर्व पांच प्रकारके शरीर होते हैं। ये एकसे दूसरे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं। परंतु इनमें प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर अधिक होती है।

प्रदेशवृद्धिका गुणकार—

असंख्येयगुणौ स्यातामाद्यादन्यौ प्रदेशतः। यथोत्तरं तथानन्तगुणौ तैजसकार्मणौ ॥ ७३ ॥

अर्थ—औदारिक पहिला शरीर है। इससे वैक्रियिक व आहारक ये उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे अधिक-प्रदेशयुक्त होते हैं। चौथे पांचवें तैजस कार्मणके प्रदेश तीसरेसे अनंत अनंत गुणे उत्तरोत्तर अधिक रहते हैं। इस प्रकार असंख्यात व अनंत गुणे उत्तरोत्तर होकर भी इन शरीरोंकी आकृति या रचना उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती है। यह बंधनकी विचित्रता है।

तैजसकार्मणका विशेष स्वरूप—

उभौ निरुपभोगौ तौ प्रतिघातविवर्जितौ। सर्वस्यानादिसंबन्धौ स्यातां तैजसकार्मणौ ॥७४॥

अर्थ—अंतिम दोनो तैजस कार्मण शरीर किसी इंद्रियविषयके द्वारा होनेवाले उपभोगको नहीं करा सकते हैं; क्योंकि, उक्त दोनोंमें ही इंद्रियरचना नहीं होती। इन दोनों शरीरोंका किसीसे भी जाते आते आघात नहीं हो सकता और न ये किसीको रोकते हैं। जीवमात्रमें ये पाये जाते हैं तथा अनादिसे इनका शाश्वतिक संबंध है। दूसरे शरीर कभी रहते हैं कभी नहीं। परंतु ये दोनो अवश्य रहते हैं।

युगपत् अनेक शरीरोंकी मर्यादा—

तौ भवेतां क्वचिच्छुद्धौ क्वचिदौदारिकाधिकौ। क्वचिद्वैक्रियिकोपेतौ तृतीयाद्ययुतौ क्वचित् ॥७५॥

अर्थ—विग्रहगतियुक्त जीवमें उक्त दो ही शरीर रहते है। उस समय अन्य शरीर कोई नहीं रहता। मनुष्य तिर्यंचका पर्याय धारण करनेवाले जीवमें उक्त दोनो शरीर तो रहते ही हैं परंतु औदारिक और भी प्राप्त हो जाता है। जो

देव या नारकी हो जाते हैं उनको वैक्रियिक मिलनेसे तीन शरीर हो जाते हैं। किसी किसी तपस्वीको औदारिक तो रहता ही है परंतु तीसरा आहारक भी उत्पन्न होजाता है। उस समय तैजस, कार्मण जोडनेसे चार शरीर होजाते हैं। चार शरीर युगपत् हों तो इसी प्रकारसे होते हैं। वैक्रियिकके साथ औदारिक रहकर कभी चार शरीर नहीं होते यह नियम है। यद्यपि आगे यह बात कहने वाले हैं कि साधुओंको कभी कभी वैक्रियिक शरीर तपोवलसे प्राप्त हो जाता है परंतु वह औदारिकका ही एक प्रकार है।

तैजसवैक्रियिककी विशेषता—

औदारिकशरीरस्थं लब्धिप्रत्ययमिष्यते। अन्यादृक् तैजसं साधोर्वपुर्वैक्रियिकं तथा ॥ ७६ ॥

अर्थ—तपोवलके किसी विशेष सामर्थ्यसे किसी किसी साधुके औदारिक शरीरमें स्वाभाविक तैजस व वैक्रियिककी अपेक्षा विलक्षण तैजस व वैक्रियिक शरीर भी उत्पन्न होजाते हैं। तैजस तो प्रथमसे ही रहता है परंतु वह तैजस वाहिर निराला प्रगट कभी नहीं होता और तपोवलसे प्राप्त होनेवाला तैजस दुर्भिक्ष मिटाने या किसीको भस्म करनेके अभिप्रायसे वाहिर निकल आता है। वैक्रियिक तो मनुष्योंके हो ही नहीं सकता इसलिये इस वैक्रियिकको औदारिकका प्रकार मानना ही उचित है। औदारिक शरीरके साथ वैक्रियिक नहीं रह सकता इसका एक यह भी हेतु है कि औदारिकके साथ आहारक रहनेसे तो युगपत् चार शरीर वताये गये हैं परन्तु वैक्रियिकके रहनेसे कहींपर चार नहीं लिखे हैं। इसी प्रकार यह भी एक नियम है कि मनुष्योंमें वैक्रियिक कर्मका उदय नहीं होता। इस युक्तिसे जब कि तपोवलद्वारा प्राप्त हुआ वैक्रियिक शरीर वास्तविक औदारिक ही मानना चाहिये तो तैजस भी जो तपोवलसे प्राप्त हुआ हो उसे औदारिक शरीरमें ही गिनना युक्त है। केवल तेजःपुंज होनेसे तैजस व विक्रिया करनेवाला होनेसे वैक्रियिक नाम प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार अग्निके

१ मणुवे ओघो थावरतिरियादग्वदुगएयवियलिंदी। साहरणिदराउतिय वेगुव्वियछक्कपरिहीणो ॥ २९८ ॥ [गोम० कर्मकाण्ड] इस गाथासे यह सिद्ध होता है कि वैक्रियिक शरीर–कर्मका उदय मनुष्य गतिमें कभी नहीं हो सकता। वैक्रियिक कर्म जब उदयमें नहीं आता तो वास्तविक वैक्रियिक मनुष्योंमें कैसे होसकता है? फिर निराले शरीर होनेकेलिये निरनिराले कर्मोदयकी आवश्यकता मानी गई है। साधुके लब्धिप्राप्त शरीरको विक्रिया का साधन होनेसे वैक्रियिक कहते हैं। २ अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि। अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहारकतैजसकार्मणानि। इति विभाग. क्रियते। [सर्वार्थसिद्धि द्वितीयाध्याय] तैजस योगका कारण नहीं है परतु पृथक् तैजस जो साधुओंको प्राप्त होता है उसे योगका निमित्त क्यों न माने? इस आशंकाका उत्तर भी यही हो सकता है कि वह तैजस यद्यपि योगनिमित्त होगा तथापि वह वास्तविक औदारिक ही है।

शरीरमें तथा कुछ सर्पादि तिर्यंचोंमें विक्रिया माननेपर भी उनके शरीर औदारिक ही मानना उचित है। मनुष्योंकी भांत तिर्यंचोंमें भी वैक्रियिक नामकर्मका उदय कभी नहीं होता यह नियम है।

औदारिकवैक्रियिकके उत्पत्तिस्थान—

औदारिकं शरीरं स्याद्गर्भसंमूर्छनोद्भवम्। तथा वैक्रियिकाख्यं तु जानीयादौपपादिकम् ॥७७॥

अर्थ—तैजस व कार्मण शरीर तो सभी जीवोंको सदा ही बँधते रहते हैं परंतु औदारिक शरीर गर्भ तथा संमूर्छन जन्मोंद्वारा उत्पन्न होता है। वैक्रियिक शरीरकी उपपाद जन्मसे उत्पत्ति जाननी चाहिये। गर्भ, संमूर्छन व उपपादके लक्षण आगे कहेंगे।

आहारकका स्वरूप—

अव्याघाती शुभः शुद्धः प्राप्तर्द्धेर्यः प्रजायते। संयतस्य प्रमत्तस्य स स्यादाहारकः स्मृतः॥७८॥

अर्थ—आहारकशरीर उत्पन्न करनेवाली तथा इतर ऋद्धियां प्राप्त होनेपर तपस्वीके शरीरसे कभी कभी एक शरीर उत्पन्न होता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। वह शरीर तब उत्पन्न होता है जब कि तपस्वीको किसी सूक्ष्म तत्त्वके विषयमें ऐसी शंका उत्पन्न हो गई हो जो केवली या श्रुतकेवलीके अतिरिक्त किसीसे दूर न हो सकती हो। केवली भी इतने समीपमें न हों कि स्वयं जाकर वह कुछ पूछ सके। उस समय आहारक शरीर द्वारा केवली पर्यंत पहुंच कर वह तपस्वी अपनी[1] आशंकाको दूर कर लेता है और तत्काल ही वापिस आकर पहिले औदारिक शरीरमें अपना प्रवेश कर जाता है। मुहूर्तके भीतर ही आहारक शरीरकी उत्पत्ति और विलय हो जाते हैं। वह अधिक ठहर नहीं सकता। कुछ धार्मिक और भी कार्य ऐसे हैं कि जिनकेलिये आहारक शरीर उत्पन्न किया जाता है। आहारक शरीर किसी वस्तुसे टकरा नहीं सकता इसलिये उसे अव्याघाती कहते हैं। वह शरीर शुभ है अर्थात् पुण्यकर्मके योगसे प्राप्त होता है। प्रगट होकर विशुद्ध कार्य करता है इसलिये उसे विशुद्ध भी कहते हैं। 'प्रमत्तसंयत' यह छट्ठे गुणस्थानका नाम है। इसी गुणस्थानमें आहारक शरीर प्रगट हो सकता है, दूसरेमें नहीं।

वेदमार्गणा—

भाववेदस्त्रिभेदः स्यान्नोकषायविपाकजः। नामोदयनिमित्तस्तु द्रव्यवेदः स च त्रिधा ॥ ७९ ॥

१ आहरदि अनेन मुणी सुहुमे अत्थे सयस्स संदेहे। गत्ता केवलिपास तम्हा आहारओ जोगो [गोम० जीवकांड]—

अर्थ—आत्माको मोहित करनेवाले मोहकर्ममेंसे 'नोकषाय' इस नामका एक कषाय है। उसी नोकषायके अन्तर्गत तीन वेदकर्म हैं। उन तीनों वेदकर्मोंके उदयवश स्त्री पुरुष व नपुंसक ये तीन जातिके परिणाम उत्पन्न होते हैं। इन्हींको वेद कहते हैं। वेदका ही दूसरा नाम लिंग है। अंगोपांगनिर्मापक नामकर्मके उदयसे द्रव्यवेद प्राप्त होते हैं। ये भी तीन हैं। शरीरमें जो स्त्री पुरुष तथा नपुंसकताके सूचक योनि आदि शरीरावयव होते हैं इन्हींको द्रव्यवेद कहते हैं। भाववेद उसे कहते हैं जो कि भोगनेकी परस्पर आकांक्षा उत्पन्न होती है। द्रव्यवेदके अनुकूल स्त्रीको भोगनेकी इच्छा पुरुषमें, पुरुषको भोगनेकी इच्छा स्त्रीमें, एवं सामान्यतया भोगनेमात्रकी इच्छा नपुंसकमें रहती है। परंतु कभी कभी प्रतिकूल इच्छा भी उत्पन्न होती है। इसलिये द्रव्यवेद तथा भाववेद सर्वथा समान ही रहते हैं यह नियम नहीं हो सकता। एवं यह भी नहीं कह सकते हैं कि कौनसा भाववेद किसमें नियमसे रहता है।

लिंगनियम——

द्रव्यान्नपुंसकानि स्युः श्वाभ्राः संमूर्छिनस्तथा। पल्यायुषो न देवाश्च त्रिवेदा इतरे पुनः॥८०॥

अर्थ—द्रव्यवेदकी अपेक्षासे नारकी तथा संमूर्छन तिर्यंच ये सर्व नपुंसक ही होते हैं। पल्यप्रमाण आयुष्यके धारक भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंच तथा सर्व देव इनमें नपुंसक एक भी नहीं होता। ये सर्व स्त्री तथा पुरुषवेदी ही होते हैं। शेष रहे हुए कर्मभूमीके पंचेंद्रिय तिर्यंच तथा यावत्कर्मभूमीगत मनुष्योंमें तीनों ही वेद मिलते हैं।

उत्पादः खलु देवीनामैशानो यावदिष्यते। गमनं त्वच्युतं यावत् पुंवेदा हि ततः परम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—देवांगनाओंकी यदि उत्पत्ति देखें तो सौधर्म ईशान इन दो स्वर्गोंतक होती है। परंतु वे जाकर रहती हैं अच्युत सोलहवें स्वर्ग पर्यंत। इसलिये सोलहवें स्वर्गपर्यंत देवगतिके जीवोंमें दो वेद मानने चाहिये। सोलहवेंसे ऊपर सभी पुरुषवेदी होते हैं।

छट्ठी कषायमार्गणा—

चारित्रपरिणामानां कषायः कषणान्मतः। क्रोधो मानस्तथा माया लोभश्चेति चतुर्विधः ॥८२॥

अर्थ—चारित्रपरिणामोंका कषण अर्थात् हिंसन कषायोंसे होता है इसलिये उन्हें कषाय कहते हैं। क्रोध मान माया

लोभ ये चार उस कषायके प्रकार हैं। ये प्रत्येक प्रकार शक्तिकी तरतमतासे चार चार प्रकारके और भी होकर सर्व सोलह भेद होजाते हैं। [१] अति तीव्र कषायको अनंतानुबंधी कहते हैं। [२] कुछ कम हो तो अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। [३] और भी मंद हो उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। [४] अत्यंत मंद शक्तिको संज्वलन कहते हैं। क्रोध व मानको राग तथा माया, लोभको द्वेष भी कहते हैं। संसारी प्रत्येक जीवमें उक्त सोलह कषायोंमेंसे एक न एक अवश्य बना ही रहता है। उसमें भी जो एकेंद्रियसे असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत जीव हैं उनमें अनंतानुबंधी ही चार कषाय रहते हैं। आगेके बारह भेद कदाचित् हों तो संज्ञी पंचेंद्रियोंमेंसे किसी किसीमें होते हैं।

सातवीं ज्ञान–मार्गणा–

तत्वार्थस्यावबोधो हि ज्ञानं पंचविधं भवेत्। मिथ्यात्वपाककलुषमज्ञानं त्रिविधं पुनः ॥ ८३ ॥

अर्थ–तत्त्वार्थोंके वास्तविक बोधको पांच प्रकारका ज्ञान कहते हैं। इनका वर्णन पीठिकामें किया गया है। पहिले तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे कलुषित हों तो उन्हें तीन अज्ञान कहते हैं। इन आठ ज्ञानोंमेंसे कोई न कोई सदा सभीमें रहता है।

आठवीं संयम–मार्गणा–

संयमः खलु चारित्रमोहस्योपशमादिभिः। प्राण्यक्षपरिहारः स्यात्पञ्चधा स च वक्ष्यते ॥ ८४ ॥

अर्थ–चारित्रमोहक कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर संयम होता है। प्राणियोंकी हिंसा न करना तथा इंद्रियोंको विषयोंमें न जाने देना यह संयमका अर्थ है। इसका कुछ तो वर्णन छट्ठे गुणस्थानादिके वर्णन समयमें किया है और पांच भेद करके इसका और भी अधिक वर्णन अंतमें करेंगे।

विरताविरतत्वेन संयमासंयमः स्मृतः। प्राणिघाताक्षविषयभावेन स्यादसंयमः ॥ ८५ ॥

अर्थ–अर्धविरत अवस्थाको विरताविरत तथा संयमासंयम कहते हैं। ऐसी अवस्थाका जीव एकेंद्रियकी हिंसाका पूरा बचाव नहीं कर सकता है। केवल त्रस जीवका संकल्पपूर्वक घात करना छोड देता है। यह उसकी प्रारंभिक अवस्था समझनी चाहिये। इससे आगे जैसा जैसा वह जीवोंका घात अधिक अधिक बचाने लगता है और विषयाकांक्षा कम कम करता जाता है वैसी वैसी ही उत्तर अवस्था होती जाती है। ऐसी अवस्थाऐं इस संयमासंयमकी ग्यारह–बारह कही हैं।

जो प्राणिघात की व इंद्रियविषयकी कुछ भी मर्यादा नहीं कर सकता उसे असंयमी कहते हैं। संयमी जीवोंके अतिरिक्त सभी जीव इस असंयम—स्वभावके धारक कहे जाते हैं। प्रत्येक मार्गणामें संसारके सभी जीवोंकी सुमार हो जानी चाहिये ऐसा मार्गणाके उपदेशक भगवानका अभिप्राय है। इसीलिये संयममार्गणामें संयमविरुद्ध असंयम—स्वभावका भी ग्रंथकार वर्णन करते हैं।

नौमी दर्शनोपयोग—मार्गणा—

दर्शनावरणस्य स्यात् क्षयोपशमसन्निधौ। आलोचनं पदार्थानां दर्शनं तच्चतुर्विधम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—दर्शनावरण कर्मका क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर जो पदार्थोंका सामान्य अवलोकन हो वह दर्शन है। इस दर्शनके चार भेद हैं जो कि उपयोगके प्रकरणमें कहे गये हैं और अब मूल ग्रंथकार उन्हें स्वयं कहते हैं।

चक्षुर्दर्शनमेकं स्यादचक्षुर्दर्शनं तथा। अवधिदर्शनं चैव तथा केवलदर्शनम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—चक्षुसे होनेवाला चाक्षुष दर्शन पहिला, दूसरा शेष इंद्रियोंसे होनेवाला अचाक्षुष दर्शन, तीसरा अवधिनामक दर्शन, और चौथा केवल दर्शन—ये चारो दर्शनोंके नाम हैं।

दशवीं लेश्यामार्गणा—

योगवृत्तिर्भवेल्लेश्या कषायोदयरञ्जिता। भावतो द्रव्यतः कायनामोदयकृतांगरुक् ॥ ८८ ॥

अर्थ—लेश्या एक भावरूप दूसरी द्रव्यरूप ऐसे दो भांतकी मानी जाती है। कषायोदयमिश्रित योगप्रवृत्तिको भावलेश्या कहते हैं। शरीरनामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शरीरकांतिको द्रव्यलेश्या कहते हैं।

कृष्णा नीलाथ कापोती पीता पद्मा तथैव च। शुक्ला चेति भवत्येषा द्विविधापि हि षड्विधा ८९

अर्थ—उक्त दोनो ही लेश्याओंके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्ल ये छह छह भेद होते हैं। भावलेश्याके प्रकरणमें इन रंगोंका यह अर्थ लेना चाहिये कि आत्मभावोंकी हीनाधिक मलिनता तथा निर्मलताके सूचक ये छह उदाहरणा मात्र हैं। द्रव्य लेश्याके विषयमें ये छहो शरीरवर्णोंके नाम हैं। भावलेश्या सर्वत्र छहो प्रकारकी मिल सकती है परंतु द्रव्यलेश्या एक जीवकी जन्मसे मरणपर्यंत एक ही रहती है। द्रव्यलेश्या निरनिराले देशके मनुष्य तथा तिर्यंचोमें छहो देखनेमें आसकती हैं।

ग्यारहवीं भव्यत्वमार्गणा।

भव्याभव्यविभेदेन द्विविधाः सन्ति जन्तवः। भव्याः सिद्धत्वयोग्याःस्युर्विपरीतास्तथा परे॥९०॥

अर्थ—भव्य तथा अभव्य इस प्रकार जगत्के जीव दोरूप हैं। सिद्धि जिन्हें प्राप्त होसकती है वे भव्य कहाते हैं। जिनकी सिद्धावस्था कभी न होसके वे अभव्य कहाते हैं। इन स्वभावोंका वर्णन पारिणामिक भावोंके समय किया गया है।

बारहवीं सम्यक्त्वमार्गणा—

सम्यक्त्वं खलु तत्त्वार्थश्रद्धानं तत् त्रिधा भवेत्। स्यात् सासादनसम्यक्त्वं पाकेऽनन्तानुबन्धिनाम्। सम्यग्मिथ्यात्वपाकेन सम्यङ्मिथ्यात्वमिष्यते। मिथ्यात्वमुदयेनोक्तं मिथ्यादर्शनकर्मणः॥९२॥

अर्थ—तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके तीन भेद मुख्य हैं। पहिला एक भेद औपशमिक है। सम्यग्दर्शनघातक मिथ्यात्वकर्मके उदयसे तथा अनंतानुबंधी चारों कषायोंमंसे किसीका उदय होनेसे मिथ्यात्व होता है इसलिये औपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति उक्त पांचों कर्मोंके उपशमसे होती है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको एक वार सम्यग्दर्शन होते ही ऐसी एक शक्ति प्रगट होती है कि एक मिथ्यात्वकर्मके तीन टुकड़े वह कर डालती है। पहले टुकड़ेको सम्यक्त्व या सम्यक् प्रकृति कहते हैं। इस मिथ्यात्वके टुकड़ेमें सम्यग्दर्शनघातक शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि केवल कुछ मलिनताके सिवा सम्यग्दर्शनमें कुछ भी विशेषता नहीं कर सकती। दूसरा एक टुकड़ा ऐसा हो जाता है कि वह सम्यग्दर्शनका आधासा घात कर सके। इसे सम्यङ्मिथ्यात्व कहते हैं। तीसरा कुछ अंश फिर भी ऐसा वाकी रह जाता है कि जो मूल मिथ्यात्वकी जातिका होता है। यह कर्म भी मूल मिथ्यात्वकी भांत ही सम्यक्त्वका घात करता है परंतु मूलशक्तिका भेद हो जानेसे फिर उसमें अनंत संसारके वढानेकी योग्यता नहीं रहती। अतएव एक वार उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व चाहें वह मुहूर्तके भीतर ही नष्ट होजाय परंतु अपने स्वामीकी संसारदुःखमें रहनेकी स्थितिको अर्धपुद्गल[2]-परिवर्तन-प्रमाण समयसे अधिक नहीं रहने देता। और तवसे लेकर उस जीवमें फिर क्षायिकसम्यग्दर्शन हुए

---

१ जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभाव जंतेण। मिच्छादव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा॥ २६॥ [गोमट० कर्मकाण्ड] २--औदारिकादि तीन शरीर व पर्याप्तियोंके उत्पन्न करनेवाला पुद्गलपिंड एक किसी समय जैसा कुछ व जो कुछ ग्रहण किया हो वही तथा वैसा ही फिर जब कभी ग्रहण करने तक जो कुछ समय वीतता है उसे अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल कहते हैं।

पर्यंत मिथ्यात्वके तीन तीन ही टुकडे बने रहते हैं। फिर उनका एक पिंड कभी नहीं होता। इसीलिये फिर जब कभी सम्यक्त्व उसे हो तो सात कर्मोंकी उपशमादि व्यवस्था करनी पडती है। औपशमिक सम्यग्दर्शन उक्त सातोंके उपशमसे होता है, क्षायिक सातोंका पूर्ण क्षय होने पर होता है। और क्षायोपशमिक हो तो सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय व बाकी छह प्रकृतियोंका उपशम होनेसे होता है। यह तीन सम्यग्दर्शनोंकी व्यवस्था हुई।

इन सम्यग्दर्शनोंमेंसे क्षायिक तो कभी छूटता ही नहीं है। शेष दोकी यह अवस्था है कि छूटते समयसे कुछ पहिले यदि अनंतानुबंधी चारो कषायोंमेंसे किसी एकका उदय होजाय और मिथ्यात्वका उदय न होपावे तो दूसरा सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान हो जाता है। आसादनका अर्थ विराधना है। सम्यक्त्वकी विराधना इस समय होजाती है इसलिये इसे 'सासादन सम्यक्त्व' ऐसा नाम प्राप्त होता है। सम्यक्त्व तो अनंतानुबंधीका उदय हो जानेसे नहीं माना जाता और मिथ्यात्वका उदय न होनेसे मिथ्यात्व नाम भी प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें इस दशाका 'सासादन सम्यक्त्व' यही नाम उचित है।

सम्यङ्मिथ्यात्व यह मिथ्यात्वका दूसरा टुकडा है। इसका जब उदय होता है तब सम्यङ्मिथ्यात्व अवस्था होती है। इसको तीसरा गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मिथ्यात्व परिणाम होता है। यह पहिले गुणस्थानमें होता है। सम्यक्त्वसे इसका स्वभाव सर्वथा उलटा है।

सम्यक्त्वमार्गणामें [१] सम्यक्त्व, [२] सम्यग्मिथ्यात्व अर्थात् अर्धमिथ्यात्व, [३] सासादनसम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्-मिथ्यात्वरहित अवस्था और [४] सम्यक्त्वसे उलटा मिथ्यात्व—इन चार प्रकारोंका वर्णन करनेसे सभी संसारी जीव गर्भित होजाते हैं।

तेरहवी संज्ञित्वमार्गणा—

यो हि शिक्षाक्रियालापग्राही संज्ञी स उच्यते। अतस्तु विपरीतो यः सोऽसंज्ञी कथितो जिनैः॥

१ सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥ २०॥
आदिमसम्मतद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे। अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो॥ २१॥
२—सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण। ण य सम्म मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो॥ २२॥

अर्थ--जो शिक्षा स्वीकारता हो, दूसरोंको कुछ करते हुए देखकर वैसे ही जो कर सकता हो, अपने नमोच्चारको समझता हो वह जीव संज्ञी कहाता है। मन रहनेके ये सर्व चिन्ह हैं। ये सर्व बातें जिसमें न मिलती हों उसे जिन भगवान्ने असंज्ञी कहा है। संज्ञी व असंज्ञी इन दो भेदोंमें सभी संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं।

चौदहवीं आहारमार्गणा—

गृह्णाति देहपर्याप्तियोग्यान् यः खलु पुद्गलान्। आहारकः स विज्ञेयस्ततोऽनाहारकोऽन्यथा॥

अर्थ–औदारिक, वैक्रियिक व आहारक शरीर तथा छह पर्याप्तियोंमेंसे यथायोग्य पर्याप्ति-इन सर्वकी रचना होनेकेलिये जो इस योग्य पुद्गलवर्गणाओंका ग्रहण करना–इसको आहार कहते हैं। ऐसा आहार जो जीव जिस समय ग्रहण करता रहता है उसे उस समय आहारक जीव कहते हैं। जो जीव जिस समय ऐसा आहार ग्रहण नहीं करता उसे उस समय अनाहारक कहते हैं। कर्मका ग्रहण करना भी एक आहार है परंतु आहारक अनाहारकके विचारमें उसको गिनाया नहीं जाता। यदि कर्म ग्रहण करनेवालेको आहारक माना जाय तो संसारमें कोई अनाहारक ही नहीं हो सकेगा। जबतक संसार है तबतक कर्मबंधन सदा ही होता है। इसलिये कदाचित् प्राप्त होनेवाले शरीरकी सामग्रीको ही आहार मानना ठीक है।

आहाररहित जीव—

अस्त्यनाहारको[2]ऽयोगः समुद्घातगतः परम्। सासनो विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिस्ततोऽव्रतः॥९५॥

अर्थ–अयोगकेवली चौदहवें–अंतिम गुणस्थानवर्ती जीव, समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली तेरहवें गुणस्थानके जीव, योगरहित सिद्ध परमात्मा, और एक शरीर छोडकर दूसरा नवीन शरीर धारनेकेलिये जाते हुए जीव जबतक अंतरालमें रहते हैं तबतक–ये सर्व अनाहारक होते हैं। दूसरा शरीर धारण करनेकेलिये जाते हुए जीव जबतक अंतरालमें रहते हैं तब तककी गतिको विग्रहगति कहते हैं। विग्रहगतिमें रहनेवाले पहिले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती, दूसरे सासादन-द्वितीय गुणस्थानवर्ती, तीसरे असंयत–चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ये तीन गुणस्थानवर्ती जीव ही होसकते हैं। किसी गुणस्थानसे भी जीव मरण करता हो परंतु विग्रहगतिमें उक्त तीन गुणस्थानोंसे अधिक गुणस्थान नहीं रहसकते हैं।

---

१ णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो। ओजमनोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥ २ विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य। सिद्धा य अणाहारा सेसा अहारिणो जीवा॥ ६६५॥ [गोमट० जीवकांड]

तेरहवें गुणस्थानवर्ती योगी, तेरहवें गुणस्थानका कुछ अंतिम समय शेष रहजानेपर यदि आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय इन शेष रहे हुए अघाती चार कर्मोंकी स्थिति हीनाधिक हो तो उसे सम करनेकेलिये समुद्घातक्रिया करते हैं। इस समुद्घात क्रियाका फल यह है कि आयुकर्मके समान उक्त तीन कर्मोंकी स्थिति बनजाती है। इसलिये आयु समाप्त होते ही शेष तीनो कर्म भी निर्जीर्ण होजाते हैं। घाती कर्म तो चारो बारहवें गुणस्थान तक ही निःशेष क्षीण होचुकते हैं। इसलिये अंत समयमें उन्हें सिद्ध होनेसे कोई भी बाधा नही पहुंचा सकता है।

प्रत्येक आत्माके प्रदेश तो लोकके बराबर ही होते हैं। परंतु संसारमें शरीरकी परतंत्रतासे शरीरमात्र होकर रहते हैं। जब किसी प्रकारका समुद्घात होनेवाला हो तो शरीरसे बाहिर बहुतसे आत्मप्रदेश निकलते हैं और फिर मुहूर्तके भीतर ही शरीरके भीतर संकुचित होकर समाजाते हैं। इसीका नाम समुद्घात है।

समुद्घात होनेके प्रयोजन व निमित्त कई हैं। (१) वेदना तीव्र होनेपर एक समुद्घात होता है। उस समय वेदनाशामक किसी वनौषधि आदि पदार्थकी जगह तक आत्मप्रदेश पसरते हैं और उस औषधि आदिका स्पर्श होते ही वेदना कम हो जाती है और आत्मप्रदेश संकुचित हो जाते हैं। इसे वेदनासमुद्घात कहते हैं।

(२) कषायसमुद्घात दूसरा है। किसीपर अति क्रोध हुआ हो, किसीके साथ अतिमान हुआ हो, किसीके साथ अति मायाचार किया हो अथवा किसी पदार्थका अति लोभ बढ़ गया हो तो आत्मप्रदेश कदाचित् उस पदार्थतक पसर कर उसका स्पर्श करते हैं और फिर शीघ्र ही संकुचित होकर पूर्वप्रमाण हो जाते हैं। यह कषाय—समुद्घात है।

(३) वैक्रियिकसमुद्घात कोई भी विक्रिया करते समय होता है। जो विक्रिया की जाती है उसमें आत्मप्रदेश जाते हैं और विक्रिया मिटते समय संकुचित हो जाते हैं। एक बार की हुई विक्रिया मुहूर्तके भीतर ही मिट जाती है। आगे फिर भी वैसी विक्रिया यदि रखनी हो तो पहिली मिटते ही दूसरी कर ली जाती है। वह भी इतनी शीघ्र हो जाती है कि देखनेवाला उसका भेद समझ नहीं सकता।

(४) मारणांतिक समुद्घात मरनेसे कुछ समय पहिले किसी किसीको होता है। जीव को उत्तरकालमें जहां उपजना

१ मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमणं देहादो हवदि समुग्घादयं णाम ॥ ६६७ ॥
मूलशरीरमत्यक्त्वा उत्तरदेहस्य जीवपिण्डस्य। निर्गमनं देहाद् भवति समुद्घातको नाम ॥ [गोम० जीवकाण्ड]

है उस क्षेत्रका स्पर्श करके संकुचित हो जाता है। (५) उत्तर तैजस व (६) आहारक शरीर समुद्घातरूप ही हैं।

(७) केवलिसमुद्घात होकर संकुचित होनेमें आठ समय लगते हैं। पहिले समयमें शरीरके आत्मप्रदेश ऊपर नीचेकी तरफ वातवलयके सिवा लोकांततक पसर जाते हैं। दूसरे समयमें सीधे व बांये तरफ लोकांततक पसर जाते हैं। तीसरे समयमें आगे पीछेकी तरफ लोकपर्यंत पसर जाते हैं। चौथे समयमें वातवलयमें अभीतक जो व्यापे नहीं थे वे व्याप जाते हैं। पांचवें समयमें संकुचित होकर तीसरे समयके तुल्य, छट्ठे समयमें दूसरे समयके तुल्य, सातवें समयमें प्रथम समयके तुल्य व आठवें समयमें शरीरप्रमाण हो जाते हैं। यह केवलिसमुद्घात है।

केवलिसमुद्घातके दूसरे तीसरे, छट्ठे व सातवें समयोंमें औदारिक मिश्र योग हो जाता है। और चौथे पांचवें दो समयोंमें कार्मणकाय--योग रहता है। इसी कार्मण काययोगके दो समयमें केवली जीव अनाहारक रहते हैं। समुद्घातके बाकी चार समयोंमें अनाहारक नहीं होते। अयोगी भगवान् चौदहवें गुणस्थानके यावत्समयोंमें अनाहारक ही रहते हैं।[1] विग्रहगतिके जीवोंका अनाहारक स्वरूप आगे कहेंगे।

विग्रहगति--शब्दका अर्थ---

विग्रहो हि शरीरं स्यात्तदर्थं या गतिर्भवेत्। विशीर्णपूर्वदेहस्य सा विग्रहगतिः स्मृता ॥ ९६ ॥

अर्थ--विग्रह नाम शरीर, इस शरीरकेलिये जो गमन वह विग्रहगति--ऐसा अर्थ होता है। जीव जब दूसरा शरीर धारण करनेकेलिये निकलता है उस समय पहिला शरीर नष्ट करके निकलता है।

देहांतरकेलिये गति होनेका हेतु---

जीवस्य विग्रहगतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः। प्राहुर्देहान्तरप्राप्तिकर्मग्रहणकारणम् ॥ ९७ ॥

अर्थ--योगोंकी चंचलता उत्पन्न हुए विना शरीरसंबंधी कुछ भी हीनाधिकता नहीं हो पाती। इसलिये विग्रहगतिमें भी कोई योग होना चाहिये। विग्रहगतिमें कर्मबंधनका कार्य व दूसरे शरीरकी जगहतक पहुंचनेका कार्य ये दो कार्य होते हैं जो कि किसी योगकी अपेक्षा रखते हैं। दूसरा कोई योग वहां संभव नहीं होता इसलिये उक्त दोनों कार्योंका साधक

१ वेयण-कसाय-वेगुव्वियमरणतिओ समुग्घादो। तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीण दु ॥ ६६६ ॥ (गो० जीव०)

कार्मण योग ही है ऐसा जिनेश्वर भगवानने कहा है। कर्मोंके पिंडका नाम कार्मण शरीर है। इसीका अवलंबन लेकर आत्मा वहां उक्त दोनों कार्य करता है।

विग्रहगतिका मार्ग—

जीवानां पञ्चताकाले यो भवान्तरसंक्रमः। मुक्तानां चोर्ध्वगमनमनुश्रेणि गतिस्तयोः ॥९८॥

अर्थ—जीवोंका मरते समय जो भवान्तरकी तरफ गमन होता है तथा जो मुक्त होने पर ऊर्ध्वगमन होता है वे दोनों गमन आकाश प्रदेशोंकी श्रेणीके अनुकूल होते हैं। आकाशप्रदेशोंकी रचना दिशाओंके अनुकूल रहती है इसलिये दिशानुकूल ही गमन होता है।

विग्रहगतिके भेद—

सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा। अविग्रहैव मुक्तस्य शेषस्यानियमः पुनः ॥ ९९ ॥

अर्थ—विग्रह शब्दका जैसा शरीर अर्थ है वैसा मुडना तथा अग्रहण भी अर्थ होता है। विग्रहगति मुडकर भी होती है और वेमुडे भी होती है। मुक्त जीवोंका वेमुडे ही ऊर्ध्वगमन होता है। संसारी जीवोंका कुछ नियम नहीं है। किसीकी गति मुडकर भी होती है और किसीकी वेमुडे ही होजाती है।

विग्रह गतियोंके कालनियम तथा नाम—

अविग्रहैकसमया कथितेषुगतिर्जिनैः। अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा ॥ १०० ॥
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लांगलिकां जिनाः। गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यात् त्रिविग्रहा १०१

अर्थ—वेमोडेकी गति दूसरे नवीन शरीरतक एक समयमें ही होजाती है। उसका नाम जिनेश्वरदेवने इषुगति कहा है। एक मोडेवाली दूसरी गतिमें दो समय लगते हैं। इसका नाम पाणिमुक्ता है। लांगलिका तीसरी गतिका नाम है। इसमें तीन समय व दो मोडे लगते हैं। चौथीका नाम गोमूत्रिका है। इसमें चार समय व तीन मोडे लगते हैं। एक समय तो सभी गतियोंमें कमसे कम लगना ही चाहिये। एकके सिवा जितने समय लगते हैं वे मोडेके कारण लगते हैं। जिसमें जितने मोडे लिये जाते हैं उतने ही उसमें अधिक समय खर्च होते हैं। गमन दिशाके अनुसार ही होता है इसलिये जिसका

उत्पत्तिस्थान दिशाओंकी मर्यादासे जितनी जगह वक्र होगा उतने ही वार मोडे लेने पडते हैं। परंतु तीन वक्रताके सिवा अधिक वक्रता जहां हो ऐसा कोई स्थान नहीं है। इसीलिये तीन मोडेसे अधिक मोडे लेनेकी आवश्यकता नहीं पडती है। गमनमें विलंब होनेके कारण जो संभव हैं वे वहांपर नहीं रहते इसलिये अधिक समयतक विग्रह–गतिमें रहना असंभव है। जरासा अंगुलीमें विकार होजानेपर जो जीव अशांतिसे पूर्ण होजाता है वह संसारी जीव सर्व शरीर छूट जानेपर नवीन शरीर ग्रहण करनेमें किस तरह विलंबित हो सकता है!

अनाहारककी समयमर्यादा–

समयः पाणिमुक्तायामन्यस्यां समयद्वयम् । तथा गोमूत्रिकायां त्रीण्यनाहारक इष्यते ॥ १०२ ॥

अर्थ–जिसमें जितने मोडे हों उसे उतने ही समयतक अनाहारक रहना पडता है। इसीलिये एक समयवाली गतिमें अनाहारक रहना नहीं पडता है। जिस समय विग्रहगतिमें रहता है उसी समय वह जाकर नवीन शरीर ग्रहण करलेता है। एक मोडेकी गतिमें एक समयपर्यंत अनाहारक, दो मोडेकी गतिमें दो समयतक अनाहारक, तीन मोडेवाली गतिमें तीन समय तक अनाहारक रहता है। इन तीनों गतियोंमें भी जो मोडेके बाद अंतका एक समय अधिक लगता है उसमें जीव अनाहारक नहीं रहता।

जीवोंके जन्मभेद–

त्रिविधं जन्म जीवानां सर्वज्ञैः परिभाषितम् । सम्मूर्छनात्तथा गर्भादुपपादात्तथैव च ॥ १०३ ॥

अर्थ–कीडे आदि बहुतसे जंतुओंका अनियमित स्थानोंमें चारो तर्फसे परमाणु इकट्ठे होकर जन्म–शरीर बन जाता है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं। कितने ही जीवोंका गर्भद्वारा जन्म होता है। उसे गर्भजन्म कहते हैं। 'उपपाद' यह जैनसिद्धांतका रूढी शब्द है। देव व नारकोंके उत्पत्तिस्थानका यह नाम है। इसलिये देव व नारकोंका उपपाद जन्म कहना चाहिये। इसके अतिरिक्त कोई चौथा जन्मका प्रकार नहीं है ऐसा जिन भगवान सर्वज्ञदेवने बताया है।

गर्भ व उपपादवाले जीव—

भवन्ति गर्भजन्मानः पोताण्डजजरायुजाः । तथोपपादजन्मानो नारकास्त्रिदिवौकसः॥१०४॥

१ उपेत्य पद्यते अस्मिन्नसावुपपादः । देवनारकजन्मविशेषसंज्ञा ।

अर्थ—पोत, जरायुज, अंडज ये जीव गर्भज कहाते हैं। जो जन्मते ही चलने फिरने लगें वे पोत[1] हैं। उनके ऊपर जन्मते समय झिल्ली नहीं रहती। जैसे सिंहका बच्चा। झिल्लीके साथ जो जन्मते हैं वे जरायुज हैं। जो अंडेमेंसे पैदा हों वे अंडज हैं। देव नारकी जीव उपपाद जन्मवाले माने जाते हैं। गर्भ व उपपाद जन्मके अतिरिक्त जिनका अनियत जन्म हो वे सर्व संमूर्छन[2] जन्मवाले कहाते हैं।

योनिप्रकरण—

योनयो नव निर्दिष्टास्त्रिविधस्यापि जन्मनः ॥ १०५ ॥

सचित्तशीतविवृता अचित्ताशीतसंवृताः। सचित्ताचित्तशीतोष्णौ तथा विवृतसंवृतः ॥ १०६ ॥

अर्थ—तीनों प्रकारके जन्म जिनमें हों ऐसी योनि नौ बताई गई हैं। (१) सचित्त, (२) शीत, (३) विवृत, (४) अचित्त, (५) उष्ण, (६) संवृत, (७) सचित्ताचित्त-मिश्र, (८) शीतोष्ण-मिश्र, तथा (९) विवृतसंवृत-मिश्र।

उत्पत्तिके स्थानका नाम योनि है। वह जीवयुक्त हो तो सचित्त कहना चाहिये। निर्जीव हो तो अचित्त कहना चाहिये। जिस स्थानका कुछ भाग जीवसे युक्त हो और कुछ न हो उसे सचित्ताचित्त-मिश्र कहते हैं। उत्पत्ति स्थान कुछ शीत व कुछ उष्ण होते हैं और कुछ शीतोष्ण मिश्रित भी होते हैं। ढके हुए स्थानको संवृत और खुले स्थानको विवृत कहते हैं। कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जो कि कुछ खुले और कुछ ढके हों।

जन्मोंके साथ योनियोंका विभाग—

योनिर्नारकदेवानामचित्तः कथितो जिनैः। गर्भजानां पुनर्मिश्रः शेषाणां त्रिविधो भवेत् ॥१०७॥

उष्णः शीतश्च देवानां नारकाणां च कीर्तितः। उष्णोग्निकायिकानां तु शेषाणां त्रिविधो भवेत् ॥

नारकैकाक्षदेवानां योनिर्भवति संवृतः। विवृतो विकलाक्षाणां मिश्रः स्याद्गर्भजन्मनाम् ॥१०९॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्ने देव व नारकोंकी योनि अचित्त बताई है। गर्भजोंकी योनि मिश्र है। शेष जीवोंकी योनि

१ परिवरणमन्तरेण योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोत । २ समन्तान्मूर्छनं सम्मूर्छनम् अवयवप्रकल्पनम् ॥। सर्वार्थसिद्धि ।

तीनों प्रकार की है। कुछ देव व नारकोंकी योनि शीत व कुछकी उष्ण होती है। अग्निजीवोंकी योनि उष्ण ही होती है। वाकी जीवोंमें किसीकी उष्ण, किसीकी शीत व किसीकी शीतोष्णमिश्र रहती है। देव, नारक व एकेन्द्रिय जीवोंकी योनि संवृत रहती है। विकलेन्द्रियोंकी योनि विवृत रहती है। गर्भजोंकी योनि संवृत विवृतकी मिश्ररूप रहती है।

योनियोंके उत्तर भेद—

नित्येतरनिगोदानां भूम्यम्भोवाततेजसाम्। सप्त सप्त भवन्त्येषां लक्षाणि दश शाखिनाम्॥११०॥
षट् तथा विकलाक्षाणां मनुष्याणां चतुर्दश। तिर्यग्नारकदेवानामेकैकस्य चतुष्टयम्॥
एवं चतुरशीतिः स्याल्लक्षाणां जीवयोनयः॥ १११ (षट्पदी)

अर्थ—नित्यनिगोद, अनित्यनिगोद, भूमी, जल, वायु, अग्नि इनमेंसे प्रत्येककी सात सात लाख योनि हैं। वनस्पति की दश लाख हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियमेंसे प्रत्येककी दो दो लाख होनेसे सर्व विकलेन्द्रियोंकी छह लाख हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच व नारक, देव इनमेंसे प्रत्येककी चार चार लाख हैं। इस प्रकार सर्व जीवोंकी योनि चौरासी लाख हैं।

कुलोंकी संख्या—

द्वाविंशतिस्तथा सप्त त्रीणि सप्त यथाक्रमम्। कोटीलक्षाणि भूम्यम्भस्तेजोऽनिलशरीरिणाम्॥११२॥
वनस्पतिशरीराणां तान्यष्टाविंशतिस्तथा(स्मृताः)। स्युर्द्वित्रिचतुरक्षाणां सप्ताष्ट नव च क्रमात्॥११३॥
तानि द्वादश सार्धानि भवन्ति जलचारिणाम्। नवाऽहिपरिसर्पाणां गवादीनां तथा दश॥११४॥
वीनां द्वादश तानि स्युश्चतुर्दश नृणामपि। षड्विंशतिः सुराणां तु श्वाभ्राणां पञ्चविंशतिः॥११५॥
कुलानां कोटिलक्षाणि नवतिर्नवभिस्तथा। पञ्चाऽयुतानि कोटीनां कोटीकोटी च मीलनात्॥११६॥

अर्थ—जिस स्थान अथवा पर्यायमें रहकर उत्पत्ति हो उस आधारको योनि कहते हैं और कुल उसे कहते हैं कि जो परमाणु स्वयं जीवके शरीरमय परिणमते हों। यही कुल तथा योनिमें भेद है। योनियोंका प्रकार ऊपर कहा। अब यहां कुल गिनाते हैं।

भूमिके बाईस कोटिलाख, तथा जलके सात, अग्निके तीन, वायुके सात, वनस्पतिके अठाईस, द्वीन्द्रियके सात, त्रीन्द्रियके आठ, चतुरिन्द्रियके नौ, पंचेंद्रिय जलचर तिर्यंचोंके साडे बारह, भूमिके भीतर रहनेवाले सर्पादिकोंके नौ, गौ आदि पशुओंके दश, पक्षियोंके बारह, मनुष्योंके-देवोंके छब्बीस, नारकोंके पचीस कोटिलाख—इस प्रकार एक एक जातिके जीवोंके कुल समझने चाहिये। सर्वजातिके कुलोंके सर्व कोटिलक्ष जोड़नेसे एक कोटी कोटी, निन्यानवे कोटिलाख व पाच लाख इतने होते हैं।

मनुष्य व तिर्यंचोंका उत्कृष्ट जीवन-प्रमाण—

द्वाविंशतिर्भुवां सप्त पयसां दश शाखिनाम्। नभस्वतां पुनस्त्रीणि वीनां द्वासप्ततिस्तथा ११७
उरगाणां द्विसंयुक्ता चत्वारिंशत् प्रकर्षतः। आयुर्वर्षसहस्राणि सर्वेषां परिभाषितम् ॥११८॥

अर्थ—भूमिका बाईस हजार वर्ष, जलका सात हजार, वनस्पतिका दश हजार, वायुका तीन हजार, पक्षियोंका बहत्तर हजार, सर्पोंका ब्यालीस हजार वर्ष-इस प्रकार इन सबोंका उत्कृष्ट आयु समझना चाहिये।

दिनान्येकोनपंचाशत् त्र्यक्षाणां त्रीणि तेजसः। षण्मासाश्चतुरक्षाणां भवत्यायुः प्रकर्षतः ११९

अर्थ—त्रीन्द्रिय जीवोंके आयुका प्रमाण उनंचास दिन, तेजःकायिक जीवोंका तीन दिन, चतुरिन्द्रियोंका छह महीना इतना आयु-प्रमाण उत्कृष्ट है।

नवायुः परिसर्पाणां पूर्वांगाणि प्रकर्षतः। द्व्यक्षाणां द्वादशाब्दानि जीवितं स्यात्प्रकर्षतः १२०

अर्थ—परिसर्प जातिके सर्पोंका उत्कृष्ट आयु नौ पूर्वांगप्रमाण[1] होता है। द्वीन्द्रियोंका उत्कृष्ट जीवन बारह वर्षका है।

असंज्ञिनस्तथा मत्स्याः कर्मभूजाश्चतुष्पदाः। मनुष्याश्चैव जीवन्ति पूर्वकोटिं प्रकर्षतः॥१२१॥

अर्थ—कर्म भूमिके पशु, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मच्छ, कर्म भूमिके मनुष्य, एक पूर्वकोटि पर्यंत उत्कृष्ट जीते हैं।[2]

---

१ चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि पूर्वांगम्। इति वार्तिकालङ्कारे। चौरासी लाख वर्षको एक पूर्वांग कहते हैं। ऐसे नौगुणे प्रमाणको नौ पूर्वांग कहना चाहिये। चतुरशीतिपूर्वांगशतसहस्राणि पूर्वम्। इति वार्तिकालङ्कारे। चौरासी लाख पूर्वांगको एक पूर्व कहते हैं।

२ यह आयुष्य कर्मभूमिके प्रारंभमें समझना चाहिये। आगे उत्तरोत्तर कम होकर आज बहुत ही कम हो चुका है।

एकं द्वे त्रीणि पल्लानि नृतिरश्चां यथाक्रमम् । जघन्यमध्यमोत्कृष्टभोगभूमिषु जीवितम् ॥
कुभोगभूमिजानां तु पल्लमेकं हि जीवितम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—सुभोग भूमियोंमेंसे जघन्यमें एक पल्ल, मध्यममें दो पल्ल, तथा उत्कृष्ट भोग भूमिमें तीन पल्लका उत्कृष्ट जीवन रहता है। कुभोगभूमिज जीवोंका एक पल्लमात्र जीवन होता है।

नारकियोंका जीवनप्रमाण—

एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशेति च । द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशद् घर्मादिषु यथाक्रमम् ॥१२३॥
स्यात् सागरोपमाण्यायुर्नारकाणां प्रकर्षतः । दश वर्षसहस्राणि घर्मायां तु जघन्यतः ॥ १२४ ॥
वंशादिषु तु तान्येकं त्रीणि सप्त तथा दश । तथा सप्तदश द्व्यग्रा विंशतिश्च यथोत्तरम् ।१२५।

अर्थ—(१) घर्मा (२) वंशा, (३) मेघा, (४) अंजना (५) अरिष्टा, (६) मघवी, (७) माघवी-ये सात नरकोंके नाम हैं। इनमें रहने वाले नारकोंका उत्कृष्ट आयु क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर तथा तेतीस सागर तक होता है। जघन्य आयु पहिले घर्मा नरकमें दश हजार वर्ष मात्र होता है। वंशादि दूसरे तीसरे आदि नरकोंमें जघन्यका प्रमाण इस प्रकार है कि, दूसरेमें एक सागर तीसरेमें तीन सागर, चौथेमें सात सागर, पांचवेमें दश सागर, छट्ठेमें सत्रह सागर तथा सातवें नरकमें बाईस सागर।

देवोंका जघन्योत्कृष्ट आयु:—

भावनानां भवत्यायुः प्रकृष्टं सागरोपमम् । दशवर्षसहस्रं तु जघन्यं परिभाषितम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—भवन वासियोंका उत्कृष्ट आयु एक सागर है। जघन्य दश हजार वर्षका है।

पल्लोपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः । पल्लोपमाष्टभागस्तु ज्योतिष्काणां जघन्यतः १२७

अर्थ—ज्योतिष्क देवोंका उत्कृष्ट, एक पल्लसे कुछ अधिक आयु होता है और जघन्य, पल्लके आठवें भाग प्रमाण होता है।

वैमानिक देवोंका उत्कृष्ट आयुः—

द्वयोर्द्वयोरुभौ सप्त दश चैव चतुर्दश । षोडशाऽष्टादशाप्येते सातिरेकाः पयोधयः ॥ १२९ ॥
समुद्राः विंशतिश्चैव तेषां द्वाविंशतिस्तथा । सौधर्मादिषु देवानां भवत्यायुः प्रकर्षतः ॥१३०॥

अर्थ—स्वर्गवासी देवोंका उत्कृष्ट आयु इस प्रकार है। सौधर्म व ईशान इन दो स्वर्गोंमें थोडा अधिक दो सागर है। तीसरे व चौथे सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गमें सात सागरसे थोडा अधिक है। पांचवें छट्ठे ब्रह्म ब्रह्मोत्तरमें दश सागरसे थोडा अधिक है। सातवें आठवें लांतव कापिष्ठमें थोडा अधिक चौदह सागर है। नौवें दशवें शुक्र महाशुक्रमें सोलह सागरसे थोडा अधिक है। ग्यारह वारहवें सतार-सहस्रारमें अठारह सागरसे थोडा अधिक है। तेरह चौदहवें आनत-प्राणत स्वर्गमें वीस सागर प्रमाण है। पंद्रहवें सोलहवें आरण व अच्युत स्वर्गमें वाईस सागर प्रमाण है।

एकैकं वर्धयेदब्धिं नवग्रैवेयकेष्वतः । नवस्वनुदिशेषु स्याद् द्वात्रिंशदविशेषतः ॥ १३१ ॥
त्रयस्त्रिंशत्समुद्राणां विजयादिषु पञ्चसु ।

अर्थ—ऊपर सोलह स्वर्गोंका उत्कृष्ट आयु लिखा। अब जो सोलह स्वर्गोंसे भी ऊपर देवोंके स्थान हैं वहांपर देखिये। एकके ऊपर दूसरा ऐसे नौ ग्रैवेयक हैं। इन सवोंमें वाईसके ऊपर एक एक सागर वढकर इकतीस सागरतक अंतिम ग्रैवेयकमें उत्कृष्ट आयु होजाता है। इसके ऊपर एक और पटल है जिसे अनुदिश कहते हैं। इस पटलके एक बीचावीच व आठ दिशाओंमें, ऐसे नौ विमान हैं। इनमें एक सागर और भी पहिलेसे वढजाता है जिससे कि उत्कृष्टका प्रमाण वत्तीस सागर होजाता है। इसके ऊपर एक ही पटलमें पांच विमान और भी हैं। इनके नाम विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि हैं। पहिले चार चारो दिशाओंमें और सर्वार्थसिद्धि मध्यमें है। यहां एक सागर और भी वढनेसे तेतीस सागर तक उत्कृष्ट आयु होजाता है।

वैमानिक देवोंका जघन्य आयु:—

साधिकं पल्लमायुः स्यात्सौधर्मैशानयोर्द्वयोः ॥ १३२ ॥
परतः परतः पूर्वं शेषेषु च जघन्यतः । आयुः सर्वार्थसिद्धौ तु जघन्यं नैव विद्यते ॥ १३३ ॥

अर्थ—सौधर्म व ईशान इन प्रथम द्वितीय स्वर्गोंमें जघन्य आयु एक पल्यसे थोडा अधिक है। यहांसे ऊपरके स्थानोंमें अंतपर्यंत अपनेसे नीचे नीचेका उत्कृष्ट आयु ऊपर ऊपर सर्वत्र जघन्य समझना चाहिये। हाँ, अंतिम पटलके मध्यवर्ती सर्वार्थसिद्धि विमानमें जघन्य आयु नहीं मिलता। वहां केवल तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट ही रहता है।

मनुष्यातिर्यंचोंका जघन्य आयुः—

अन्यत्रानपमृत्युभ्यः सर्वेषामपि देहिनाम्। अन्तर्मुहूर्तमित्येषां जघन्येनायुरिष्यते ॥ १३४ ॥

अर्थ—मनुष्य व तिर्यंचोंका जघन्य आयु अभीतक नहीं कहा था वह यहां दिखाते हैं। मनुष्य व तिर्यंचोंमेंसे कुछका आयु ऐसा लिखेंगे कि जिसका वीचमें घात नहीं होता। उन्हें छोडकर शेष तिर्यंच—मनुष्योंमें जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र तक होता है।

किनका आयु नहीं घटता है।

असंख्येयसमायुक्ताश्चरमोत्तममूर्त्तयः। देवाश्च नारकाश्चैषामपमृत्युर्न विद्यते ॥ १३५ ॥

अर्थ—असंख्यात वर्षके आयुवाले भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच, कर्मभूमिके उसी जन्मसे मुक्त होनेवाले मनुष्य तथा देव, नारकी—इतने जीवोंका जो आयु नियत हुआ हो उसका शस्त्रादि निमित्तोंसे अपघात नहीं हो सकता है। यद्यपि अन्तकृत केवली आदि कुछ ऐसे हुए हैं कि जिनका शरीर उपसर्गोंसे विदीर्ण किया गया था। परंतु उन्हें भी हम अनपवर्त्यायुवाले ही मानते हैं। सूत्रकारने तथा इस ग्रथके कर्ताने भी उन चरमशरीरी जीवोंके आयुको अनपवर्त्य लिखा है कि जो उत्तम हों। परंतु उत्तमका अर्थ चर्मशरीरकी केवल प्रशंसा है। अधिक कुछ भी नियम नहीं समझना चाहिये। जो लोग उत्तमका अर्थ मोक्षगामियोंमेंसे त्रिषष्टिशलाकावाले अथवा कामदेवादि पदवीयुक्त ऐसा करते हैं वह ठीक नहीं है। अर्थात्

१ उत्तमग्रहण चरमस्योत्कृष्टत्वख्यापनार्थं, नार्थान्तरविशेषोऽस्ति। इति सर्वार्थसिद्धि॥ चरमग्रहणं भवतीति चेन्न तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात्। इति वार्तिकालकारे। चरमदेहा इति वा पाठ इति सर्वार्थसिद्धौ वार्तिकालकारे चोक्तम्। 'चरमदेहा' इतना ही पाठ कोई कोई मानते हैं ऐसा सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक इन दोनोंमें उल्लेख किया है। २ - "चरमागवरावेतौ नानयो काचन क्षति।" यह वचन श्री जिनसेनाचार्यके महापुराण पर्व ३६ में लिखा है। इसका अर्थ यह है कि भरत व बाहुबली ये दोनो मोक्षगामी जीव हैं। इनका कुछ नहीं विगड सकता है। केवल चरमशरीरी होनेका

मोक्षगामी जीव सभी अनपवर्त्यायु वाले मानने चाहिये। शेष जीवोंका घात हो सकता है।

सर्व जीवोंका शरीरमान—

घर्मायां सप्त चापानि सपादं च करत्रयम्। उत्सेधः स्यात्ततोन्यासु द्विगुणो द्विगुणो हि सः ॥१३६॥

अर्थ—पहिले नरकमें रहने वाले नारकोंके शरीरकी ऊंचाई सात धनुष तथा सवा तीन हाथ प्रमाण होती है। नीचे सातों नरक पर्यंत प्रत्येक नरकके नारकियोंकी ऊंचाई दूनी दूनी है। दो हाथ प्रमाणको गज कहते हैं। चार हाथ या दो गजको दंड या धनुष कहते हैं।

शतानि पञ्च चापानां पञ्चविंशतिरेव च। प्रकर्षेण मनुष्याणामुत्सेधः कर्मभूमिषु ॥१३७॥

अर्थ—कर्म भूमिके मनुष्योंकी सबसे अधिक ऊंचाई सवा पांचसो धनुष हो सकती है।

एकः क्रोशो जघन्यासु द्वौ क्रोशौ मध्यमासु च। क्रोशत्रयं प्रकृष्टासु भोगभूषु समुन्नतिः ॥१३८॥

अर्थ—जघन्य भोगभूमियोंके मनुष्योंकी ऊंचाई एक कोस, मध्यम भोगभूमियोंमें दो कोस, उत्कृष्ट भोगभूमियोंमें तीन कोस प्रमाण रहती है।

कारण दिखाकर अक्षय बतानेमे भी यही बात सिद्ध होती है कि यावत् चरमशरीरी जीव अनपवर्त्यायुही होने चाहिये। १—विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, संक्लेश, श्वासावरोध तथा आहारनिरोध ये असमय मरनेके कारण हैं।

१ विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं। उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ गोमट० कर्म० ॥

२ अत आदि- मध्यसे रहित अविभागी अतीन्द्रिय एकेक रसगंधवर्णसे युक्त दो स्पर्शयुक्त परमाणु होता है। अनंतानंतपरमाणुसंघातके परिमाणसे एक उत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञा नाम परिमाण होता है। आठ इनसे एक सञ्ज्ञासञ्ज्ञा आठ संज्ञासंज्ञा का एक त्रुटरेणु। आठ रेणुओंका एक त्रसरेणु। आठ त्रसरेणुओंका एक रथ रेणु, आठ रथ रेणुओंसे एक देवकुर्वादि मनुष्यकी केशाग्रकोटी होती है। आठ उनकी एक हरिवर्षादि मनुष्यकी केशाग्रकोटी। इन आठोंकी एक हैमवत मनुष्यकेशाग्रकोटी इन आठोंकी एक भरत मनुष्यकेशाग्रकोटी। इन आठ कोटीकी एक लीख। आठ लीखकी एक यूका। आठ यूकाका एक यवमध्य। आठ यवमध्यका एक उत्सेधांगुल। इसी अंगुलके प्रमाणसे [धनुष्यादि प्रमाण बनाकर] नारक, तिर्यंच, देव मनुष्योंका तथा अकृत्रिम जिनालय प्रतिमा इत्यादिका शरीरोत्सेध निश्चित किया जाता है। उक्त अंगुलका छहगुणा एक पैर। बारह अंगुल प्रमाण वितस्ति [बिलांयद]। दो वितस्तिका एक हाथ। दो हाथका एक किष्कु [गज]। दो किष्कुका एक दंड या धनुष। दो हजार धनुषका एक कोस। चार कोसका एक योजन होता है। [राजवार्तिक तृतीयाध्याय]

ज्योतिष्काणां स्मृता सप्तासुराणां पञ्चविंशतिः। शेषभावनभौमानां कोदण्डानि दशोन्नतिः॥ १३८

अर्थ—ज्योतिष्क देवोंकी ऊंचाई सात धनुष होती है। भवनवासियोंमेंसे असुरोंकी पच्चीस धनुष होती है। शेष सर्व भवन वासियोंकी तथा व्यंतरोंकी ऊंचाई दश धनुष होती है।

द्वयोः सप्त द्वयोःषट् च हस्ताः पञ्च चतुर्थतः। ततश्चतुर्षु चत्वारः सार्धास्त्रातो द्वयोस्त्रयः॥ १३९॥

द्वयोस्त्रयश्च कल्पेषु समुत्सेधः सुधाशिनाम्। अधोग्रैवेयकेषु स्यात्सार्धं हस्तद्वयं यथा॥ १४०॥

हस्ताद्वितयमुत्सेधो मध्यग्रैवेयकेषु तु। अन्त्यग्रैवेयकेषु स्याद्धस्तोऽध्यर्धं समुन्नतिः।

एकहस्तःसमुत्सेधो विजयादिषु पञ्चसु॥ १४१॥ (षट्पदी)

अर्थ—प्रथम-द्वितीय स्वर्गोंमें शरीरकी ऊंचाई सात हाथ है। तृतीय-चतुर्थमें छह हाथ है। चौथेसे ऊपर आठवें पर्यंत-पांच हाथ है। नौवेंसे बारहवें पर्यंत चार हाथ है। तेरहवें चौदहवेंमें साडे तीन हाथ है। पंद्रहवें सोलहवेंमें तीन हाथ है। इसके ऊपर पहिले तीन ग्रैवेयक विमानोंमें अढाई हाथ है। बीचके तीन विमानोंमें दो हाथ है। अंतिम तीन ग्रैवेयकोंमें डेढ़ हाथ है। (इसके ऊपर एक पटलमें जो नौ अनुदिश विमान हैं उनमें भी डेढ़ हाथ प्रमाण[1] है)। विजयादि पांच अनुत्तर विमानोंमें एक हाथ[2] प्रमाण है।

तिर्यंच गतिके शरीरोंका परिमाण—

योजनानां सहस्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः। एकेन्द्रियस्य देहः स्याद्विज्ञेयः स च पद्मानि॥ १४२॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंमें सबसे बडा शरीर कमलका हो सकता है। उसका प्रमाण थोडा अधिक एक हजार योजनका होता है।

त्रिकोशः कथितः कुम्भी शङ्खो द्वादशयोजनः। सहस्रयोजनो मत्स्यो मधुपश्चैकयोजनः १४३

1. अनुदिशविमानेषु चाध्यर्धाऽरत्निः। इति वार्तिकालङ्कारे। 2 यहांपर हाथके प्रमाणसे ऊंचाई लिखी है। परंतु राजवार्तिकादि ग्रंथोंमें अरत्निका प्रमाण है। कोहनीसे मध्यम अंगुली पर्यंतको हाथ कहते हैं और कोहनीसे कनिष्ठांगुली पर्यंतको अरत्नि कहते हैं।

अर्थः—द्वींद्रियोंमें कुंभीका शरीर तीन कोशका होता है। त्रींद्रियोंमें बारह योजनका शंखका शरीर होता है। पंचेंद्रियोंमें हजार योजनका मच्छका शरीर होता है। चौइन्द्रियोंमें भौंराका सबसे बडा मिलता है। वह एक योजनका है। पंचेन्द्रियोंमें शरीरकी अवगाहना देवादिगतियोंको जुदा जुदा करके लिख ही चुके हैं। ये सर्व बडीसे बडी अवगाहनाएं हैं।

असंख्याततमो भागो यावानस्त्यङ्गुलस्य तु। एकाक्षादिषु सर्वेषु देहस्तावान् जघन्यतः॥१४५॥

अर्थ—एकेन्द्रियादि पांचो प्रकारके जीवोंमें सबसे छोटी शरीरावगाहना अंगुलके असंख्यातवें भागमात्रतक होती है। यह अंगुल घनांगुल समझना चाहिये।

योनियोंमें गमनागमनकी योग्यता—

घर्मामसंज्ञिनो यान्ति वंशान्ताश्च सरीसृपाः। शैलान्ते च विहंगाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिनः॥१४६॥

तामरिष्टां च सिंहास्तु मघव्यन्तास्तु योषितः। नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवीं तां च पापिनः॥१४७॥

अर्थ—असंज्ञी जीव प्रथम घर्मा नरकतक जाकर उत्पन्न होते हैं। दूसरे वंशा नामक नरक पर्यंत सरीसृप मरकर उत्पन्न होते हैं। मेघा नाम तीसरे नरक पर्यंत पक्षी मरकर जासकते हैं। चौथे अंजना नाम नरकपर्यंत सर्प जाकर उत्पन्न हो सकते हैं। सिंह अरिष्टा नाम पांचवें नरक पर्यंत मरकर जाते हैं। स्त्री जातिके जीव मघवी नाम छट्ठे नरकपर्यंत मरकर उत्पन्न होते हैं। पापी पुरुष व मच्छ ये माघवी नाम सातवी नरकभूमी पर्यंत मरकर उपजते हैं।[1]

न लभन्ते मनुष्यत्वं सप्तम्या निर्गताः क्षितेः। तिर्यक्त्वे च समुत्पद्य नरकं यान्ति ते पुनः॥१४८॥

मघव्या मनुष्यलाभेन षष्ठ्या भूमेर्विनिर्गताः। संयमं तु पुनः पुण्यं नाप्नुवन्तीति निश्चयः॥१४९॥

निर्गताः खलु पंचम्या लभन्ते केचन व्रतम्। प्रयान्ति न पुनर्मुक्तिं भावसंक्लेशयोगतः॥१५०॥

---

१ णेरइयाण गमण सण्णीपज्जत्तकम्मतिरियणरे। चरिमचऊतित्थूणे तेरिच्छे चेव सत्तमिया॥ ५३८। गो० क०॥ णिरयचरो णत्थि हरी बलचक्की तुरियपहुदि णिस्सरिदो। तित्थचरिमंगसञ्जदमिस्सतियं णत्थि णियमेण॥ २०४॥ असण्णसरिसपविहगभफणिसिंहत्थीण मच्छमणुवाण। पढमादिसु उप्पत्ती अडवारादो दु दोण्णिवारोत्तिं॥ २०५॥ (त्रिलोकसार)

लभन्ते निर्वृतिं केचिच्चतुर्थ्या निर्गताः क्षितेः । न पुनः प्राप्नुवन्त्येव पवित्रां तीर्थकर्तृताम् १५१
लभन्ते तीर्थकर्तृत्वं ततोन्याभ्यो विनिर्गताः । निर्गत्य नारका न स्युर्बलकेशवचक्रिणः॥१५२॥

अर्थ—सातवीं नरकभूमीसे मरकर जीव मनुष्य पर्याय नहीं पासकता है। वह तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होगा। और वहांसे मरकर एक वार फिर भी वह नरकमें जाता है। छट्ठी मघवी नाम नरकधरासे मरकर आया हुआ जीव मनुष्य होसकता है परंतु वह पवित्र संयमकी आराधना करनेयोग्य विशुद्ध नहीं होपाता यह निश्चय है। पांचवें नरकसे मरकर आये हुए जीव मनुष्य होते हैं व व्रत धारण करनेयोग्य विशुद्ध परिणाम भी कर सकते हैं परंतु इतनी विशुद्धता नहीं होपाती कि क्षपक श्रेणी प्राप्तकर वे मुक्तिमें जासके। यह सर्व मलिन परिणामोंका फल है। चौथे नरकसे मरकर आनेवाले कुछ जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं परंतु तीर्थंकर नहीं होसकते। धर्मके नेताको तीर्थंकर कहते हैं। यह अतिपवित्र पदवी है। तीसरे आदि नरकोंसे मरकर आये हुए जीव तीर्थंकर भी बन सकते हैं परंतु बलभद्र, नारायण तथा चक्रवर्तीका पद किसी भी नरकसे आये हुए जीवको प्राप्त नहीं होसकता है।

सर्वेऽपर्याप्तका जीवाः सूक्ष्मकायाश्च तैजसाः । वायवोऽसंज्ञिनश्चैषां न तिर्यग्भ्यो विनिर्गमः १५३

अर्थ—सभी अपर्याप्त जीव, तैजस कायिक सूक्ष्म जीव, वायु कायिक सूक्ष्म जीव तथा असंज्ञीजीव ये सर्व मरकर भी तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होते हैं। एकदम इनकी तिर्यंचगति छूट नहीं पाती है।

त्रयाणां खलु कायानां विकलानामसंज्ञिनाम् । मानवानां तिरश्चां चाविरुद्धः संक्रमो मिथः १५४

अर्थ—द्वीन्द्रिय, त्रीद्रिंय व चतुरिद्रिंय इन तीन विकलेद्रिंय कायोंका, असंज्ञी जीवोंका एवं मनुष्य व संज्ञी तिर्यंचोंका परस्परमें उत्पाद होसकता है। अर्थात् ये एकसे मरकर दूसरोंमें उपज सकते हैं।

नारकाणां सुराणां च विरुद्धः संक्रमो मिथः । नारको नहि देवः स्यान्न देवो नारको भवेत् १५५

अर्थ—नारक व देवोंका परस्पर संक्रम नहीं होसकता है। अर्थात् नारक मरकर देव नहीं होसकता और देव मरकर सीधा नारक नहीं होसकता है।

कोनसे स्थावर मनुष्यादिकोंमें उत्पन्न हो सकते है ?—

भूम्यापः स्थूलपर्याप्ताः प्रत्येकांगवनस्पतिः । तिर्यग्मानुषदेवानां जन्मैषां परिकीर्तितम् ॥१५६॥

अर्थ—वादर पर्याप्तक भूमिकायिक व जलकायिक तथा प्रत्येक शरीरवाले वनस्पति एवं तिर्यंच, मनुष्य व देव ये सर्व एक दूसरेंमें उत्पन्न होसकते हैं।

मनुष्योंमें कोनसे स्थावर उत्पन्न नहीं होते ?—

सर्वेपि तैजसा जीवाः सर्वे चानिलकायिकाः । मनुजेषु न जायन्ते ध्रुवं जन्मन्यनन्तरे ॥ १५७ ॥

अर्थ—सभी तैजस जीव तथा सभी वायुकायिक जीव मरकर सीधे मनुष्योंमें उत्पन्न कभी नहीं होसकते हैं।

असञ्ज्ञीका जन्म चारोगतियोंमें हो सकता है ?—

पूर्णासंज्ञितिरश्चामविरुद्धं जन्म जातुचित् । नारकामरतिर्यक्षु नृषु वा न तु सर्वतः ॥ १५८ ॥

अर्थ—असंज्ञी पर्याप्तक तिर्यंचोंका जन्म नारक देव व तिर्यंचोंमेंसे किसीमें भी होसकता है। एवं मनुष्योंमें भी कभी कभी वे उपज सकते हैं। परंतु सर्वदा ऐसा नही होता

भोगभूमिमें कोन उपजते है ?—

संख्यातीतायुषां मर्त्यतिरश्चां तेभ्य एव तु । संख्यातवर्षजीविभ्यः संज्ञिभ्यो जन्म संस्मृतम् १५९

अर्थ—असंख्यात वर्षवाले—भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यचोंमें जन्म उन्ही मनुष्य-तिर्यचोंका होता है जो कि संज्ञी पर्याप्तक संख्यातवर्षवाले कर्मभूमिज हों। इनके सिवा अपर्याप्तक या असंज्ञी तिर्यचोंका तथा संमूर्छन मनुष्योंका भोगभूमिमें जन्म नहीं होता। देव नारक भी वहां नहीं उपज सकते हैं।

भोगभूमिके जीव कहा उपजते है ?—

संख्यातीतायुषां नूनं देवेष्वेवास्ति संक्रमः । निसर्गेण भवेत्तेषां यतो मन्दकषायता ॥ १६० ॥

अर्थ—असंख्यात वर्षवाले—भोगभूमिज मनुष्य—तिर्यचोंका जन्म देवोंमें ही होता है। वहां स्वाभाविक मन्दकषाय रहता है। इसलिये उन जीवोंमें देवायुका ही बंध होता है।

शलाकापुरुषोंका जन्मनिश्चय—

शलाकापुरुषा नैव सन्त्यनन्तरजन्मनि । तिर्यञ्चो मानुषाश्चैव भाज्याः सिद्धगतौ तु ते ॥ १६१ ॥

अर्थ—शलाकापुरुष उन्हें कहते हैं जो कि चक्रवर्त्यादि पदोंके धारक हों। ऐसे पुरुष मरकर सीधे तिर्यंच भी नहीं होते और मनुष्य भी नहीं होते हैं। वे प्राय तो सिद्ध होते हैं। परंतु यह भी नियम नहीं है। जो तद्भव सिद्ध नहीं होते वे स्वर्ग या नरकमें जाते हैं। चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलिभद्र, नौ प्रतिनारायण—ये त्रेसठ शलाका-पुरुष कहाते हैं।

कर्मभूमिके मिथ्यादृष्टी जीवोंकी उत्पत्ति—

ये मिथ्यादृष्टयो जीवाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनोथवा । व्यन्तरास्ते प्रजायन्ते तथा भवनवासिनः ॥१६२॥

अर्थ—जो संज्ञी तथा असंज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव मरते हैं वे व्यंतर देवोंमें तथा भवनवासी देवोंमें उपजते हैं।

भोगभूमिके मिथ्यादृष्टियोंकी और तापसोंकी उत्पत्ति—

संख्यातीतायुषो मर्त्यास्तिर्यञ्चश्चाप्यसद्दृशः । उत्कृष्टास्तापसाश्चैव यान्ति ज्योतिष्कदेवताम् १६३

अर्थ—भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि मनुष्य तिर्यंच तथा उत्कृष्ट तापसी ये सर्व मरकर ज्योतिष्क देव होते हैं।

इतरतपस्वियोंका जन्म—

ब्रह्मलोके प्रजायन्ते परिव्राजः प्रकर्षतः । आजीवास्तु सहस्रारं प्रकर्षेण प्रयान्ति हि ॥ १६४ ॥

अर्थ—संन्यासी लोग अधिकसे अधिक ब्रह्मलोक नामक पांचवें स्वर्गपर्यंत मरकर उत्पन्न होते हैं। आजीव नामके साधु बारहवें सहस्रार स्वर्ग पर्यंत मरकर जन्म लेते है। यहांसे ऊपर वे नहीं जाते।

सम्यक्त्वी और देशव्रतीका जन्म—

उत्पद्यन्ते सहस्रारे तिर्यञ्चो व्रतसंयुताः । अत्रैव हि प्रजायन्ते सम्यक्त्वाराधका नराः ॥ १६५ ॥

अर्थ—व्रतयुक्त—पंचमगुणस्थानवर्ती यदि कोई तिर्यंच मरें तो वे बारहवें स्वर्गतक उत्पन्न होते हैं। सम्यक्त्वके धारी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती मनुष्य भी बारहवें स्वर्गतक मरकर जाते हैं।

अन्यलिंगियोंके जन्मकी मर्यादा—

न विद्यते परं ह्यस्मादुपपादोन्यलिंगिनाम् । निर्ग्रन्थश्रावका ये ते जायन्ते यावदच्युतम् ॥१६६॥

अर्थ—जैन वेषके अतिरिक्त वेषधारी कोई भी साधु मरकर बारहवें स्वर्गसे ऊपर नहीं जन्म लेसकते हैं—यह नियम है। निर्ग्रंथ जैन साधु तथा श्रावक मरकर अच्युत नाम सोलहवें स्वर्गतक उपजते हैं।

कल्पातीत देवोंमें कोन उपजते है ?—

धृत्वा निर्ग्रन्थलिंगं ये प्रकृष्टं कुर्वते तपः । अन्त्यग्रैवेयकं यावदभव्याः खलु यान्ति ते ॥ १६७ ॥

यावत्सर्वार्थसिद्धिं तु निर्ग्रन्था हि ततः परम् । उत्पद्यन्ते तपोयुक्ता रत्नत्रयपवित्रिताः ॥ १६८ ॥

अर्थ—जो अभव्य अर्थात् मोक्षके पात्र न होकर भी निर्ग्रन्थ वेष धारण कर अतिशय तप करते हैं वे मरकर अंतिम ग्रैवेयक पर्यंत जाते हैं। जो भव्य हैं और रत्नत्रय धारणकर उत्कृष्ट तप करते हैं वे ग्रैवेयकके भी ऊपर सर्वार्थसिद्धि अंतिम विमान पर्यंत मरकर उपजते हैं।

कल्पवासी देव कहां उपजते हैं ?—

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः । तिर्यक्त्वमानुषत्वाभ्यामा सहस्रारतः पुनः ॥१६९॥

ततः परं तु ये देवास्ते सर्वेऽनन्तरे भवे । उत्पद्यन्ते मनुष्येषु नहि तिर्यक्षु जातुचित् ॥ १७० ॥

अर्थ—दूसरे ईशान स्वर्गतकके देव मरकर एकेन्द्रियतक होते हैं। और बारहवें सहस्रार स्वर्गतकके देव मरकर तिर्यंच भी होसकते हैं तथा मनुष्य भी होसकते हैं। यहांसे ऊपरके जितने देव हैं वे मरकर मनुष्य ही होते हैं, तिर्यंच कभी नहीं होते।

शलाकापुरुषा न स्युर्भौमज्योतिष्कभावनाः । अनन्तरभवे तेषां भाज्या भवति निर्वृतिः ॥ १७१॥

अर्थ—व्यंतर, ज्योतिष्क तथा भवनवासी देवोंमेंसे मरकर आनेवाले जीव शलाकापुरुष नहीं होसकते हैं। परंतु व्यंतरादि तीन प्रकारके देवोंमेंसे जो आते हैं वे तद्भवमुक्त होसकते हैं।

कल्पातीत देव कहा उपजसक्ते है ?—

ततः परं विकल्प्यन्ते यावद् ग्रैवेयकं सुराः । शलाकापुरुषत्वेन निर्वाणगमनेन च ॥ १७२ ॥

अर्थ—इसके ऊपर जितने ग्रैवेयक पर्यंतके देव हैं वे शलाकापुरुष भी होसकते हैं तथा निर्वाण भी जासकते हैं।

अनुदिशादि देव कहां उपजसक्ते हैं?—

तीर्थेशरामचक्रित्वे निर्वाणगमनेन च। च्युताः सन्तो विकल्प्यन्तेऽनुदिशानुत्तरामराः ॥१७३॥

अर्थ—ग्रैवेयकके ऊपर अनुदिश तथा अनुत्तर विमानवासी जो देव हैं वे जब मरकर मनुष्य होजाते हैं तब उसी भवसे वे निर्वाण जासकते हैं और मरनेपर तीर्थंकर राम तथा चक्रवर्तीतक होसकते हैं।

कोनसे कल्पातीत देव चरमशरीरी हैं?—

भाज्यास्तीर्थेशचक्रित्वे च्युताः सर्वार्थसिद्धितः। विकल्प्या रामभावेपि सिध्यन्ति नियमात्पुनः१७४

अर्थ—सर्वार्थसिद्धिसे आए हुए देव तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती होसकते हैं, राम भी होसकते हैं। परंतु उसी मनुष्य भवसे वे मोक्षको अवश्य पाते हैं।

कल्पवासीपर्यंत चरमशरीरी कोनसे देव हैं—

दक्षिणेन्द्रास्तथा लोकपाला लौकान्तिकाः शची।शक्रश्च नियमाच्च्युत्वा सर्वे ते यान्ति निर्वृतिम्॥

अर्थ—दक्षिण दिशाके स्वर्गवासी इन्द्र, लोकपाल, सर्व लौकान्तिक देव, इन्द्राणी तथा सौधर्म इन्द्र ये सर्व मरकर मनुष्य भव धारण कर मुक्त ही होते हैं। उस मनुष्यभवसे आगे उन्हें फिर भव धारण नहीं करना पडता है।

लोकका स्वरूप—

धर्माधर्मास्तिकायाभ्यां व्याप्तःकालाणुभिस्तथा।व्योम्नि पुद्गलसंछन्नो लोकःस्यात्क्षेत्रमात्मनाम्॥
अधो वेत्रासनाकारो मध्येसौ झल्लरीसमः। ऊर्ध्वं मृदंगसंस्थानो लोकः सर्वज्ञवर्णितः ॥ १७७ ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा कालपरमाणुओंसे सर्वत्र व्याप्त एवं पुद्गलद्रव्यसे भरा हुआ आकाशके बीचाबीच लोक है। यही लोक जीव रहनेका क्षेत्र है।

१ सक्को सक्कमहिस्सी दक्खिणइंदा य लोयपाला य। लोयंतिया य देवा तदो चुदा णिव्वुदिं जंति॥ यह गाथा द्रव्यसंग्रह टीकामें उद्धृत किया है।

लोकका आकार स्थूलरूपसे देखें तो वह अधोभागमें वेतके आसन (मूंढा) समान है, मध्यमें झल्लरके समान सपाट है, और ऊपरकी तर्फ मृदंगके समान है; ऐसा सर्व चराचरके ज्ञाता भगवानने कहा है। वेंतके आसनपर पखावज ऊंची करके रखनेपर जो आकार दीख पडेगा वैसा ही लोकका आकार मनागया है।

तिर्यंचोंका क्षेत्रविभाग—

सर्वः सामान्यतो लोकस्तिरश्चां क्षेत्रमिष्यते । श्वाभ्रमानुषदेवानामथातस्तद्विभज्यते ॥ १७८ ॥

अर्थ—तिर्यंच त्रस पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्यंत जीव यद्यपि मध्य लोकमें ही रहते हैं तो भी एकेन्द्रिय तिर्यंच सर्वलोक भरमें रहनेवाले हैं। इसलिये तिर्यंचोंका क्षेत्रविभाग कुछ भी विशेष न दिखाकर केवल देव मनुष्य तथा नारकोंका क्षेत्र विभाग लिखते हैं।

नारकोंका क्षेत्र--विभाग—

अधोभागे हि लोकस्य सन्ति रत्नप्रभादयः । घनाम्बुपवनाकाशैः प्रतिष्ठाः सप्त भूमयः ॥ १७९ ॥
रत्नप्रभादिमा भूमिस्ततोधः शर्कराप्रभा । स्याद्वालुकाप्रभातोऽधस्ततः पंकप्रभा मता॥ १८० ॥
ततो धूमप्रभाधस्तात्ततोधस्तात्तमःप्रभा । तमस्तमःप्रभातोधो भुवामित्थं व्यवस्थितिः ॥ १८१ ॥

अर्थ—इस लोकके अधोभागमें रत्नप्रभादि सात नरकभूमी हैं। प्रत्येक भूमीके नीचे आश्रय देनेवाले तीन भांतके पवन हैं। प्रथम घनपवन है, दूसरा अंबुपवन है, तीसरा सूक्ष्म पवन है। ऐसे तीन तीन पवन सर्वत्र हैं। प्रत्येक वीस वीस हजार योजनका मोटा है।

नीचेकी तर्फ सवसे प्रथम रत्नप्रभा भूमी लगती है। फिर दूसरी भूमी शर्कराप्रभा है। इसके नीचे बालुकाप्रभा है। इसके भी नीचे चौथी भूमी पंकप्रभा है। इसके वाद पांचवीं धूमप्रभा है। फिर नीचे छट्ठी भूमी तमःप्रभा है। इसके भी नीचे सातवीं भूमी तमस्तमःप्रभा अथवा महातमःप्रभा है। इस प्रकार सात भूमियोंके स्वरूप तरऊपर समझने चाहिये। ये नाम रंग—स्वरूपकी अपेक्षासे लिखेगये हैं। वास्तविक घर्मा वंशादि नाम हैं जो कि पहिले लिखे जाचुके हैं।

नरकोंमें उत्पत्तिस्थानोंकी संख्या—

त्रिंशन्नरकलक्षाणि भवन्त्युपरिमाक्षितौ। अधः पञ्चकृतिस्तस्यास्ततोधो दश पञ्च च ॥ १८२॥
ततोधो दशलक्षाणि त्रीणि लक्षाण्यधस्ततः। पंञ्चोनं लक्षमेकं तु ततोधः पंच तान्यतः ॥ १८३ ॥

अर्थ—प्रथम नरकमें नारक जीव उत्पन्न होनेके स्थान तीस लाख हैं। दूसरेमें पच्चीस लाख हैं। तीसरेमें पंद्रह लाख हैं। चौथेमें दश लाख हैं। पांचवेमें तीन लाख हैं। छट्ठेमें पांच कम एक लाख हैं। सातवेंमें पांच हैं। सर्वका जोड चौरासी लाख होता है।

नारकोंका स्वरूप—

परिणामवपुर्लेश्यावेदनाविक्रियादिभिः। अत्यन्तमशुभैर्जीवा भवन्त्येतेषु नारकाः ॥ १८४ ॥

अर्थ—ऊपर लिखे हुए विलोमें नारक जीव उत्पन्न होते हैं। इनके शरीरके स्पर्शादिक पर्याय अत्यंत असह्य होते हैं। शरीर अति असुहावना होता है। शरीरकी लेश्या या वर्ण अति अशुभ रहता है। वेदना इन्हें अत्यंन्त रहती है। शरीरको नानारूप करनेकी शक्ति होती है। परंतु वह भी अति दुःखके कामोंमें लगाई जाती है।

नारकोंके दुःख—

अन्योन्योदीरितासह्यदुःखभाजो भवन्ति ते। संक्लिष्टासुरनिर्वृत्तदुःखाश्चोर्ध्वक्षितित्रये॥ १८५॥
पाकान्नरकगत्यास्ते तथा च नरकायुषः। भुञ्जते दुष्कृतं घोरं चिरं सप्तक्षितिस्थिताः ॥ १८६ ॥

अर्थ—ऊपरकी तीन नरकधराओंमें नारकोंको कुछ दुष्ट असुर परस्परमें भिडाया करते हैं। जिससे कि वे अति दुःख भोगते हैं। स्वयं भी नारकी जीव परस्परमें लडते भिडते रहते-ही हैं। उससे भी अति दुःख भोगना पडता है। परस्पर लड भिडकर एक दूसरेको दुःख देनेकी चाल सातो ही नरकोंमें एक समान है। सातो भूमियोंके जीव अशुभ नरकगति तथा नरकायु कर्मके उदयवश अपने पूर्वकृत दुष्कर्मोंका फल इसी प्रकार आयु समाप्त हुए पर्यंत भोगते हैं। उनका आयु भी अति विशाल रहता है। इनके जघन्य व उत्कृष्ट आयुका प्रमाण प्रथम ही कह चुके हैं।

मध्यलोकका स्वरूप—

मध्यभागे तु लोकस्य तिर्यक्प्रचयवर्तिनः । असंख्याः शुभनामानो भवन्ति द्वीपसागराः ॥१८७॥
जम्बूद्वीपोऽस्ति तन्मध्ये लक्षयोजनविस्तरः । आदित्यमण्डलाकारो बहुमध्येस्य मन्दरः ॥१८८॥

अर्थ--लोकके ऊपर नीचेके भाग छोडकर जो मध्यका भाग है उसमें तिरछे चारो तरफ पसरे हुए असंख्यातों द्वीप व समुद्र हैं। नाम सभीके ऐसे हैं कि जो सुननेमें मधुर लगते हैं। सबके बीचमें पहिला जंबूद्वीप है। जंबूद्वीपका व्यास अर्थात् एक किसी किनारेसे दूसरे सामनेके किनारेतकका विस्तार एक लाख योजनका होता है। सूर्यमंडलके समान वह गोल है। उसके ठीक बीचमें मंदर नामका सुमेरु पर्वत है।

द्वीपसमुद्रोंकी रचना—

द्विगुणद्विगुणेनातो विष्कम्भेणार्णवादयः । पूर्वं पूर्वं परिक्षिप्य बलयाकृतयः स्थिताः ॥ १८९ ॥

अर्थ—इस जंबूद्वीपके बाद क्रमसे समुद्र व द्वीप एक दूसरेको घेर कर पडे हुए हैं। इस द्वीपसे आगेके सभी द्वीप व समुद्रोंका विस्तार पूर्वपूर्वके द्वीप तथा समुद्रोंसे दूना दूना है। द्वीपके बाद एक महासमुद्र रहता है और समुद्रके बाद एक महाद्वीप रहता है। इस प्रकार जब कि एक दूसरेको घेरकर समुद्र व द्वीपोंकी रचना है तो जंबूद्वीपके सिवा सभीकी आकृति कंकणके तुल्य हुई।

कुछ क्रमवर्ती द्वीपसमुद्रोंके नाम—

जंबूद्वीपं परिक्षिप्य लवणोदः स्थितोर्णवः । द्वीपस्तु धातकीखण्डस्तं परिक्षिप्य संस्थितः ॥१९०॥
आवेष्ट्य धातकीखण्डं स्थितः कालोदसागरः । आवेष्ट्य पुष्करद्वीपःस्थितः कालोदसागरम् १९१
परिपाट्यानया ज्ञेयाःस्वयंभूरमणोदधिः । यावज्जिनाज्ञया भव्यैरसंख्या द्वीपसागराः ॥ १९२ ॥

अर्थ—जंबूद्वीपको बेढकर रहनेवाले प्रथम समुद्रका नाम लवणोद है। इस लवणोदको बेढकर रहनेवाला धातकीखंड द्वीप है। धातकीखंडका घेरा देकर कालोदसमुद्र पडा हुआ है। कालोद सागरका घेरा देकर रहनेवाला पुष्करद्वीप है। इसी

भांत स्वयंभूरमण नाम अंतिमसमुद्रपर्यंत असंख्यातों द्वीप व समुद्र हैं। यद्यपि उनका प्रत्यक्ष होना कठिन है परंतु जिनेन्द्र भगवानके उपदेशसे भव्य जीवोंको वे मानने चाहिये।

जंबूद्वीपके क्षेत्र—

सप्त क्षेत्राणि भरतस्तथा हैमवतो हरिः। विदेहो रम्यकश्चैव हैरण्यवत एव च ॥
ऐरावतश्च तिष्ठंति जम्बूद्वीपे यथाक्रमम् ॥ १९३ ॥ (षट्पद)

अर्थ—जंबूद्वीप सबके मध्यका द्वीप है। इसलिये जंबूद्वीपका वर्णन करनेसे वाकी द्वीपोंका वर्णन सुगमतासे होगा। जंबूद्वीपकी दक्षिणसे उत्तर वाजू तक सात क्षेत्र हैं। (१) भरत, (२) हैमवत, (३) हरि, (४) विदेह (५) रम्यक, (६) हैरण्यवत, (७) ऐरावत-ये-उन क्षेत्रों के नाम हैं।

जबूद्वीपके कुलाचल—

पार्श्वेषु मणिभिश्चित्रा ऊर्ध्वाधस्तुल्यविस्तराः। तद्विभागकराः षट् स्युःशैलाः पूर्वापरायताः१९४
हिमवान् महाहिमवान् निषधो नीलरुक्मिणौ। शिखरी चेति संचिन्त्या एते वर्षधराद्रयः॥१९५॥
कनकार्जुनकल्याणवैडूर्यार्जुनकांचनैः। यथाक्रमेण निर्वृत्ताश्चिन्त्यास्ते षण्महीधराः ॥१९६॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए सातो क्षेत्रोंका विभाग छह पर्वतोंद्वारा होता है। (१) हिमवान् (२) महाहिमवान् (३) निषध (४) नील, (५) रुक्मी, (६) शिखरी—ये उन पर्वतोंके नाम हैं। वर्ष या क्षेत्रका एक ही अर्थ है। सीमाओंके विभाग करनेवाले ये छहो पर्वत हैं इसलिये वर्षधर इन्हें कहते हैं। नीचेसे ऊपरतक भीतोंके तुल्य इनकी चौडाई एकसी है। पार्श्वभागोंमें प्रत्येक पर्वतकी दोनों वाजू नाना भांतके रत्न—मणियोंसे घिरी हुई हैं। प्रत्येक पर्वत पूर्व दिशासे पश्चिमकी तरफ लंबे पडे हुए हैं। इतने लंबे हैं कि पूर्वपश्चिमके समुद्रोंतक पहुंचे हुए हैं। प्रथम पर्वत सुवर्णका है। दूसरा चांदीका है। तीसरा तांबेके समान रंगवाले सुवर्णका है। चौथा बैडूर्यका नीलमणिमय है। पांचवां चांदीका है। छट्ठा सुवर्णका है।

१ कुछ लोगोंकी यह समझ है कि हिमवान् आदि पर्वत सोने चादी आदिके बने हुए नही हैं। सादृश्य अर्थमें भी मय प्रत्यय होता है। " विकारागमसादृश्यानि मयडर्थाः " ऐसा कहा भी है। परंतु ऊपरके श्लोकमें बने हुए—कहनेसे सोने आदिके बने हुए ही मानने चाहिये।

पद्मस्तथा महापद्मस्तिगिञ्छः केशरी तथा। पुण्डरीको महान् क्षुद्रो ह्रदा वर्षधराद्रिषु॥१९७॥

अर्थ—एक एक पर्वत पर एक एक तालाव है। पहिले पर पद्म, दूसरे पर महापद्म, तीसरे पर तिगिंछ, चौथे पर केशरी, पांचवें पर महापुंडरीक तथा छट्ठे पर पुंडरीक ये उनके नाम हैं।

ह्रद व पुष्करोंका परिमाण—

सहस्रयोजनायाम आद्यस्तस्यार्धविस्तरः। द्वितीयो द्विगुणस्तस्मात्तृतीयो द्विगुणस्ततः॥१९८॥
उत्तरा दक्षिणैस्तुल्या निम्नास्ते दशयोजनीम्। प्रथमे परिमाणेन योजनं पुष्करं ह्रदे॥१९९॥
द्विचतुर्योजनं ज्ञेयं तद्द्वितीयतृतीययोः। अपाच्यवदुदीच्यानां पुष्कराणां प्रमा श्रिता॥२००॥

अर्थ—सर्व ह्रद या तालाव पर्वतोंकी भांत पूर्व पश्चिम दिशाओंकी तरफ लंबे हैं। पहिलेकी लंबाई एक हजार योजन है। उत्तर-दक्षिणकी तरफ विस्तार, लंबाईसे आधा है इसलिये, पांचसो योजन है। दूसरे पर्वतपरका ह्रद पहिलेसे दूना है। दूसरेसे तीसरा दूना है। आगेके चौथे पांचवे छट्ठे ह्रद तीसरे दूसरे व पहिलेके समान विस्तीर्ण तथा चौडे हैं। इनकी दश योजनकी गहरई रहती है। प्रथम ह्रदके बीच एक योजनका एक कमल है। बीचकी कर्णिका दो कोश तथा आजू बाजूके दो पत्र एक एक कोशके हैं। इसलिये उस पुष्पका एक योजन व्यास हो जाता है। दूसरे ह्रदमेंका कमल दो योजनका है। तीसरेमेंका चार योजन है। ह्रदोंकी भांत कमल भी जो आगेके तीन हैं उनका व्यास विस्तार तथा गहराई तीसरे दूसरे पहिलेकी भांत दूने दूने हैं।

कमलोंपरकी देवीं—

श्रीश्च ह्रीश्च धृतिः कीर्तिर्बुद्धिर्लक्ष्मीश्च देवताः। पल्योपमायुषस्तेषु पर्षत्सामानिकान्विताः॥२०१॥

अर्थ—छहो ह्रदोंके छहो मुख्य कमलोंपर महल बने हुए हैं। उनमें क्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि तथा लक्ष्मी ये छह देवीं रहती हैं। इनका एक पल्यके प्रमाण आयु होता है। ये अपने स्थानोंकी स्वामिनी हैं। इनके पास सभासद तथा सामानिक ये दो प्रकारके आश्रित देव होते हैं। वे आस पासके शेप कमलोंपर रहते हैं। ये वास्तव कमल नहीं हैं किंतु कमलाकार पर्वत है।

महानदियोंके नाम—

गंगासिन्धू उभे रोहिद्रोहितास्ये तथैव च। स्तो हरिद्धरिकान्ते च शीताशीतोदके तथा ॥२०२॥
स्तो नारीनरकान्ते च सुवर्णार्जुनकूलिके। रक्तारक्तोदके च स्तो द्वे द्वे क्षेत्रे च निम्नगे ॥२०३॥

अर्थ-(१) गंगा सिन्धू, रोहित् रोहितास्या, (२) हरित् हरिकान्ता, (४) शीता शीतोदा, (५) नारी नरकान्ता, (६) सुवर्णकूला रूप्यकूला, (७) रक्ता रक्तोदा-ये चौदह नदियोंके सात जोडे हैं। क्रमसे ये सातो जोडे सात क्षेत्रोंमें वहते हैं।

नदियोंका प्रवाह किधर वहता है ?—

पूर्वसागरगामिन्यः पूर्वा नद्यो द्वयोर्द्वयोः। पश्चिमार्णवगामिन्यः पश्चिमास्तु तयोर्मताः २०४
गंगासिन्धुपरीवारः सहस्राणि चतुर्दश। नदीनां द्विगुणास्तिस्रस्तिसृतोऽर्धार्धहायनम् ॥ २०५ ॥

अर्थ-प्रत्येक क्षेत्रकी पूर्वपश्चिम दिशाओंमें समुद्र है। ये नदियां जो प्रत्येक क्षेत्रमें वहनेवाली दो दो लिखी हैं उनमेंसे पहिली पहिली पूर्व समुद्रमें जाकर मिलती हैं और दूसरी दूसरी वहते हुए पश्चिम समुद्रकी तरफ जाती हैं। गंगा सिंधु इनमेंसे प्रत्येक नदीमें दूसरी छोटी छोटी नदियां चौदह चौदह हजार आकर मिलती हैं। आगेके तीन जोडोंमें इनसे दूनी दूनी नदिया मिलती हैं। उससे भी आगेके तीन जोड़ोंमें फिर आधी आधी संख्या कम होती गई है।

भरतादि क्षेत्रोंका विस्तार—

दशोनद्विशतीभक्तो जम्बूद्वीपस्य विस्तरः। विस्तारो भरतस्यासौ दक्षिणोत्तरतः स्मृतः ॥२०६॥
द्विगुणा द्विगुणा वर्षधरवर्षास्ततो मताः। आ विदेहात्ततस्तु स्युरुत्तरा दक्षिणैः समाः ॥ २०७॥

अर्थ—एकसौ नव्वेकी संख्यासे लाख योजन जंबूद्वीपको विभक्त करनेसे जो एक भागका प्रमाण हो उतना दक्षिण उत्तर दिशामें भरतक्षेत्रका विस्तार है। विदेह पर्यंत आगेके पर्वत तथा क्षेत्र सर्व दूने दूने विस्तारयुक्त हैं। विदेहसे आगेके आधे आधे कम होकर आधे आधे विस्तारयुक्त हैं।

एकलाख योजनके एकसौ नब्बे भाग करनेसे पांचसौ छब्बीस पूर्ण योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग (अपूर्णांश) आते हैं। यही भरतक्षेत्रका दक्षिणोत्तर विस्तार है। विदेह पर्यंत सर्व पर्वत तथा क्षेत्रोंका विस्तार भरतक्षेत्रके हिसावसे दूना दूना रखलें तथा विदेहसे आगेका आधा आधा करदें तो सातो क्षेत्र तथा छहो पर्वतोंका सर्व विस्तार लाख योजन होजाता है, और भाग सर्व एकसौ नब्बे होजाते हैं। योजनोंका व भागोंका जोड लगाकर देखिये—

भाग—१+२+४+८+१६+३२+६४+३२+१६+८+४+२+१ =(मिलकर) १९० हुए। योजन—५२६ $\frac{६}{१९}$+ १०५२ $\frac{१२}{१९}$ +२१०५२ $\frac{५}{१९}$+४२१० $\frac{१०}{१९}$+८४२१ $\frac{१}{१९}$+१६८४२ $\frac{२}{१९}$+३३६८४ $\frac{४}{१९}$ +१६८४२ $\frac{२}{१९}$+८४२१ $\frac{१}{१९}$ +४२१० $\frac{१०}{१९}$+२१०५ $\frac{५}{१९}$+१०५२ $\frac{१२}{१९}$+५२६ $\frac{६}{१९}$ =(मिलकर एक लाख) १००००० होते हैं।

नदीपर्वतोंका विशेष स्वरूप—

भरत क्षेत्रमें एक पर्वत पूर्वपश्चिमकी तरफ समुद्रपर्यंत और भी है। उसे विजयार्ध कहते हैं। भरतके छह खंडोंमेंसे तीन खंड विजयार्धके उत्तरकी तरफ हैं। चक्रवर्ती सम्राट् कोई भी तब बनपाता है जब कि छहो खंडोंका विजय करले। उत्तरके उन तीन खंडोंका विजय जबतक न हो तबतक चक्रवर्ती अर्धविजयी ही कहावेगा। उस अर्ध विजयका विभाग दिखानेवाला वह पर्वत है। इसीलिये उसे विजयार्ध कहते हैं। विजयाद्रि तथा रजताद्रि भी इसके नाम हैं। इसमें उत्तर दक्षिणकी तरफ मुखयुक्त दो गुफाएं हैं। उनमेंसे निकलकर क्षेत्रमें फिरती हुई गंगासिंधू नदी पूर्व पश्चिमकी तरफ समुद्रमें मिलजाती हैं। विजयार्धके उत्तर भागमें इन दो नदियोके प्रवाहसे तीन टुकडे हो जाते हैं और दक्षिण भागमें भी तीन टुकडे होजाते हैं। इन्हीं छह टुकडोंको भरतके छह खंड कहते हैं। विजयार्धके उत्तरके तीन खंड तथा दक्षिणमें आजूवाजूके दो खंड—ये पांच खंड म्लेच्छखंड कहाते हैं। वीचका एक आर्य खंड है। भरतके पश्चिम दक्षिण पूर्व दिशाओंमें सर्वत्र समुद्र है और उत्तरमें कुलपर्वत है। जम्बूद्वीपके सातवें क्षेत्रमें भी ऐसी ही खडोकी रचना है।

पहिले व सातवें क्षेत्रके अतिरिक्त वीचके पांचों ही क्षेत्रोंमें एक एक गोल पर्वत है। दूसरे हैमवत क्षेत्रमें जो गोल पर्वत है उसका नाम शब्दवद्वृत्तवेदाढ्य है। हिमवान् पर्वतके पद्म ह्रदमेंसे दो नदी तो निकलकर भरतक्षेत्रमें आई हैं और एक चौथी रोहितास्या नदी निकलकर इस दूसरे क्षेत्रमें वहती है। वह नदी वृत्तवेदाढ्य पर्वतकी आधीसी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम समुद्रको चली जाती है। इस क्षेत्रकी उत्तर सीमापर जो महाहिमवान् है उसपरके ह्रदमेंसे तीसरी नदी निकलकर

वृत्तवेदाढ्यकी आधीसी प्रदक्षिणा देकर पूर्व समुद्रमें चली जाती है। तीसरे क्षेत्रकी भी यही स्थिति है। दोनो सीमाओंके दूसरे तीसरे पर्वतवर्ती ह्रदोंमेंसे छट्ठी पांचवी नदी निकलकर वृत्तवेदाढ्य नाम मध्यवर्ती गोल पर्वतकी आधी आधी प्रदक्षिणा देकर पश्चिमके व पूर्वके समुद्रोंमें जाकर मिलजाती हैं। इन दूसरे तीसरे क्षेत्रोंमें जघन्य व मध्यम भोगभूमी मानीगई हैं।

चौथा क्षेत्र विदेह है। विदेहके गोल पर्वतको सुमेरु कहते हैं। सुमेरुके उत्तर दक्षिण भागोंमें उत्कृष्ट भोगभूमी हैं। पूर्व पश्चिम दिशाओंमें बत्तीस देश कर्मभूमीके हैं। उन्हींको बत्तीस विदेह कहते हैं। इनमें एक एक विजयार्ध व दो दो उपनदी-यह सर्व रचना है। सीता सीतोदा ये दो महानदी भी यहां हैं। जो कि मेरुकी दूरसे आधी आधी प्रदक्षिणा देकर सीता पूर्वकी तरफ तथा सीतोदा पश्चिमकी तरफ समुद्रमें जामिलती हैं।

पांचवें, छट्टे क्षेत्रमें दो दो नदी, एक एक पर्वत-ये सर्व तीसरे दूसरे क्षेत्रकी भांत हैं और ये क्षेत्र मध्यम व जघन्य भोगभूमी हैं। विशेष रचना त्रिलोकसार राजवार्तिकादि ग्रंथोंमेंसे देखनी चाहिये।

भरत ऐरावतमें हानिवृद्धीका हेतु—

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्समे वृद्धिहानिदे। भरतैरावतौ मुक्त्वा नान्यत्र भवतः क्वचित्॥१०८॥

अर्थ—भरत प्रथम क्षेत्र तथा ऐरावत सातवां क्षेत्र-इन दोनोमें कालचक्रके फेरसे आयुः शरीर शक्ति आदि सभी बातोंकी हानि वृद्धि होती रहती है। वृद्धिके कालचक्रको उत्सर्पिणी व ह्रास करनेवाले कालचक्रको अवसर्पिणी कहते हैं। एक एक इस कालमें छह छह भेद किये गये हैं। पहिला दूसरा तीसरा चौथा पांचवां तथा छट्ठा ये काल जैसे क्रमसे आते जाते हैं वैसे ही सर्व पदार्थोंमें ह्रास होता जाता है। आज उसी ह्रासका कारण पांचवां काल है। छट्ठा काल बीतनेपर पुनः छट्ठा पांचवां चौथा तीसरा दूसरा पहिला-ऐसी वृद्धि होने लगती है। उस समय सभी वस्तुओंके परिवर्तन अधिक शक्तिवाले होते जाते हैं। इस ह्रास व वृद्धिका परिणाम भूमीपर भी हुए विना नहीं रहता। भूमीकी रचना यथावत् न रहकर उथलापथल होती रहती है। भरत तथा ऐरावतके सिवा ऐसी हीनाधिकता दूसरे किसी भी क्षेत्रमें नहीं होती।

धातकीखंडका व पुष्करार्धका स्वरूप—

जम्बूद्वीपोक्तसंख्याभ्यो वर्षा वर्षधरा अपि। द्विगुणा धातकीखण्डे पुष्करार्धे च निश्चिताः॥१०९॥

अर्थ—जंबूद्वीपके चारो तरफसे घेरा देकर रहनेवाला लवणोदका विस्तार किसी भी एक तरफकी समुद्रकी बाहिरी वेदीसे लेकर बीचके जंबूद्वीपमें होकर दूसरी तरफके समुद्रांत पर्यंत यदि रेखा कीजाय तो उसका पांच लाख योजन प्रमाण होगा।

उस लवणोदको घेरकर रहनेवाला धातकी खंड नाम द्वीप है। लवणोदसे दूना व जंबूद्वीपसे चतुर्गुण इसका विस्तार है। सूचीव्यास इसका तेरह लाख योजनका है। यहां जंबूद्वीप तो सूर्यमंडलके अथवा थालीके समान गोल है इसलिये उसके क्षेत्र पर्वत एक तरफसे दूसरी तरफतक आगे आगे पड़े हुए हैं। परंतु धातकी खंड कंकणके समान बीचमें खाली है इसलिये इसमें जो रचना है वह सब तरफ है। रथके पहियेमें जैसे बीच बीचमें अरा रहते हैं वैसे इस द्वीपमें पर्वत हैं। अराओंके बीचमें जैसे खाली जगह रहती है वैसे पर्वतोंके बीच बीचमें क्षेत्र हैं। इसीलिये इसका दृश्य ठीक पहियेके समान है। इस द्वीपमें सर्व रचना जंबूद्वीपकी रचनासे दूनी दूनी है। यहां पर्वत बारह हैं। छह छह पर्वतोंके बीच एकेक मेरु-इस प्रकार दो मेरु हैं। क्षेत्र सर्व चौदह हैं। विदेह चौसठ हैं। बारह भोगभूमी हैं।

धातकीखंडके आगे कालोद समुद्र है और उसके आगेका द्वीप पुष्करद्वीप है। कालोदकी चौडाई आठ लाख योजन तथा पुष्करकी सोलह लाख है। पुष्कर द्वीपके भीतरके आठ लाख योजन प्रमाण क्षेत्रमें धातकी खंडकी भांत दो दो हिमवदादि पर्वत तथा दो ही दो भरतादि क्षेत्र हैं। उसका सर्व स्वरूप धातकीखंडकासा है। आगेके आधे विभागमें ऐसी रचना क्यों नहीं है? इस प्रश्नका उत्तर आगे है।

मनुष्यक्षेत्रकी सीमा—

पुष्करद्वीपमध्यस्थो मानुषोत्तरपर्वतः। [1]ख्यते वलयाकारस्तस्य प्रागेव मानुषाः ॥ २१० ॥
द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु द्वयोश्चापि समुद्रयोः। निवासोत्र मनुष्याणामत एव नियम्यते ॥ २११ ॥

अर्थ—पुष्करद्वीपके ठीक बीचमें एक मानुपोत्तर नाम पर्वत है। वह भी उस द्वीपकी भांत कंकणाकार सर्वत्र पडा हुआ है- ऐसा सुनते हैं। उस पर्वतके भीतरकी तरफमें ही मनुष्य हैं। इसीलिये उसको मानुपोत्तर कहते हैं। उसके आगे मनुष्योंका

१ नास्मादुत्तर कदाचिदपि विद्याधरा ऋद्धिप्राप्ता अपि मानुषा गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम्। ततोस्यान्वर्थसंज्ञा। (इति वार्तिकालंकारे) जो मनुष्य होनेवाले जीव विग्रहगतिमें हों तथा केवल समुद्घात जिन्होंने किया हो वे मनुष्य कहलाकर भी बाहिर मिल सकते हैं।

गमन नहीं होता। और तो क्या, विद्याधर तथा ऋद्धिधारी ऋषी भी उसके आगे नहीं जासकते हैं। पर्वतक्षेत्रादिकोंकी रचना भी इन पर्वत क्षेत्रोंकीसी आगे नहीं है। आगे सर्वत्र भोगभूमी हैं। उन सभी द्वीपोंमें तिर्यंच रहते हैं। मनुष्योंके रहनेके केवल अढाई द्वीप और दो समुद्र—ये ही स्थान हैं।

मनुष्योंके प्रकार—

आर्यम्लेच्छविभेदेन द्विविधास्ते तु मानुषाः। आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः॥
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि॥ २१२॥ (षट्पद)

अर्थ—मनुष्य, आर्य तथा म्लेच्छ ऐसे, दो प्रकारके होते हैं। जिनमें उत्तम गुण तथा मोक्षकी प्रवृत्ति पाई जाती हो उन्हें आर्य कहते हैं। जिनमें ये बातें नहीं मिलती वे म्लेच्छ समझने चाहिये। आर्यखण्डमें आर्य मनुष्य मिलते हैं। आर्यखंडके भीतर जो शक, भील आदि जातियां हैं ये म्लेच्छ हैं। पांच म्लेच्छखंडोंमें जो रहते हैं वे भी म्लेच्छ ही हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे स्थान हैं कि जहां म्लेच्छ रहते हैं। उन स्थानोंको अन्तर्द्वीप कहते हैं।

अढाई द्वीपोंके बाजुओंमें अन्तर्द्वीप हैं। लवणोदके आठ दिशाओंमें आठ और आठ उनके एक एक अंतरालमें-ऐसे सोलह हैं। हिमवान् शिखरी ये दो आद्यन्तके वर्षधर पर्वत, तथा आद्यन्तक्षेत्रगत दो विजयार्ध पर्वत-इन चारो पर्वतोंकी आठ टोकोंमें आठ अन्तर्द्वीप हैं। लवणोदका उत्तर तीर व धातकी खंडकी भीतरी वेदी इनमें भी चौवीस अन्तर्द्वीप हैं। चौवीस कालोद समुद्रके भीतरी तीर तथा धातकीखंडकी वाहिरी वेदीके वीचमें भी हैं। कालोदके वाहिरी तीर तथा पुष्करकी भीतरी वेदीके बीचमें भी चौवीस अन्तर्द्वीप हैं। सर्व मिलकर ९६ अन्तर्द्वीप हैं। इन द्वीपोंकी सौ सौ पचास पचास योजनके करीब विस्तीर्णता है। इनमें रहनेवाले मनुष्य भोगभूमिज कहाते हैं। एक टांग, लंबे कान, वानर अश्वादिकोंकेसे मुख ऐसी उन मनुष्योंमें यहांके मनुष्योंसे अनेक विचित्रताएं मानीगई हैं। ये सभी म्लेच्छ कहाते हैं। जो आर्यखंडके अतिरिक्त पांच पांच खंड प्रत्येक क्षेत्रमें भीतर रहते हैं वे भी म्लेच्छ खंड ही हैं। आर्यखंडके अन्तर्गत जंगली जो जातियां हैं वे भी म्लेच्छ कहाती हैं।

१ गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते (सेव्यन्ते) इत्यार्याः।

आर्यपुरुष कई कारणोंसे आर्य कहाते हैं। (१) क्षेत्रकी अपेक्षा—जो काशी आदि आर्यक्षेत्रोंमें रहते हैं वे क्षेत्रार्य कहाते हैं। (२) इक्ष्वाकु आदि उत्तम कुलोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य जात्यार्य कहाते हैं। (३) वाणिज्यादि जीविका कर्म करनेवाले, संयमासंयमधारी गृही श्रावक, पूर्णसंयमी साधु-ये सर्व कर्मार्य कहाते हैं। जीविका करनेवाले सावद्यकर्मार्य हैं। श्रावक अल्पसावद्यकर्मार्य हैं। साधु असावद्यकर्मार्य हैं। (४) मोक्षसाधनीभूत चारित्रकी जिन्हें जितनी प्राप्ति हुई हो वे उतने अंशोमें चारित्रार्य कहाते है। असावद्य-कर्मार्य तथा चारित्रार्य-ये दोनों ही साधु होते हैं। परंतु पुण्य कर्मका जब वे बन्धन करते हैं तब असावद्य-कर्मार्य कहाते हैं और जब कर्मोंकी निर्जरा करते हैं तब वे ही चारित्रार्य कहाते हैं। (५) सम्यग्दर्शनके धारियोंको दर्शनार्य कहते हैं। ऋद्धियोंके द्वारा भी आर्य नाम विशेषतासे प्राप्त होता है। बुद्धि-ऋद्धि, क्रिया ऋद्धि, तप ऋद्धि बल-ऋद्धि, औषध-ऋद्धि, रस-ऋद्धि, क्षेत्र-ऋद्धि विक्रिया ऋद्धि ये आठ ऋद्धिया हैं। ये सर्व-साधुओंको प्रगट होती हैं।

कर्मभूमि तथा भोगभूमि—

जहां राज्य करके व्यापार करके खेती करके, विद्या सिखाकर तथा सेवा करके पेट भरना हो वहां कर्मभूमि कही जाती है। कर्मभूमीका एक ऐसा भी अर्थ किया है कि संसारसे छूटनेका जहा मार्ग जारी हो उसे कर्मभूमि कहना चाहिये। अथवा सर्वाधिक पुण्य पाप कर्मोंका जहां बन्धोदय होता हो वे कर्मभूमी समझनी चाहिये। ऐसा जहां न हो वे भोगभूमी हैं। यह सब कल्पना मनुष्योंकी मुख्यतासे की गई है।

जंबूद्वीपमें, एक भरत दूसरा ऐरावत ये दो आद्यन्तक्षेत्र तथा बत्तीस विदेहवर्ती क्षेत्र—ये चौतीस कर्मभूमी हैं। धातकी खंडमें तथा आधे पुष्करमें दूनी दूनी हैं। इसलिये ३४+६८+६८=१७० सर्व कर्मभूमी होती हैं। विदेह क्षेत्रमें बत्तीस कर्मभूमी इस प्रकार होती हैं कि, विदेहके बीच सुमेरु पर्वत है। उसकी आधी आधी प्रदक्षिणा देकर सीता तथा सीतोदा ये दो महानदी विदेहक्षेत्रके बीचाबीच वहती हुई पूर्व पश्चिम समुद्र पर्यंत जाती हैं। इसलिये मेरुके दोनो तरफ पूर्व पश्चिम दिशाओंमें दो दो भाग होजाते हैं। उन दो भागोंके भी आठ आठ टुकडे करनेवाले चार पर्वत तथा तीन नदियां-ये कारण हैं।

१ प्रकृष्टशुभाशुभकर्मोपार्जननिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः कर्मभूमय.। प्रकृष्ट शुभकर्म सर्वार्थसिद्धिसौख्यप्रापक तीर्थकरत्वमहार्द्धिनिर्वर्तक, प्रकृष्टमशुभं कर्म कलकलपृथ्वीमहादुःखप्रापक कर्मभूमिष्वेवोपार्ज्यते, संसारकारणनिर्जराकर्म चात्रैव प्रवर्तते। षट्कर्मदर्शनाच्च। असिमषिकृषिविद्यावणिक्शिल्पानामत्रैव दर्शनाच्च कर्मभूमिव्यपदेशो भारतादिष्वेव युक्तिमान्॥ [इति वार्ति०]

ये सातो उत्तर दक्षिणकी तर्फ पसरे हुए हैं। प्रथम त्रिकूट तथा दूसरा वैश्रवणकूट इन दो पर्वतोंके बीच एक विभंगनदी है। दूसरेके वाद दूसरी विभंगनदी है और फिर तीसरा अंजन नाम पर्वत है। इसके आगे तीसरी विभंगनदी और फिर चौथा आत्मांजन नाम पर्वत है। चार पर्वत तथा तीन नदी—इन सबके अंतमें समुद्रके पास तथा आदिमें सुमेरुके पास एक एक वेदी है। इस प्रकार नौ पदार्थोंके बीच आठ क्षेत्र हैं। ये भेद सीता नदीके दक्षिण भागवाले क्षेत्र तथा पर्वत नदियोंके हैं। इसी प्रकार सीताके उत्तरमें आठ और सीतोदा नदीके दोनो तरफ आठ आठ मिलानेसे बत्तीस कर्मभूमियां होती हैं। इन सर्व पर्वतादिकोंके नाम दूसरे दूसरे हैं। इन बत्तीसों कर्मभूमियोंमें भरत ऐरावतकी भांत छह छह खंड होते हैं। वहांके जो चक्री होते हैं वे इन एक एक क्षेत्रवर्ती छह छह खंडोंके उपभोक्ता होते हैं। यहां भी छह खंड होनेके कारण एकेक विजयार्ध तथा दो दो नदियां हैं। यह सब विदेह[1] का वर्णन है।

भोगभूमियोंका संक्षिप्त वर्णन यह है कि जहा पर वाणिज्य तथा कृषि आदि कर्म न किये जाते हों, राजा—प्रजाकी परस्पर कल्पना न हो, मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति न चलती हो उस क्षेत्रको भोगभूमि कहते हैं। भरत तथा ऐरावत क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी गिरते हुए कालके चक्रमें प्रथम ही तीन काल तक भोगभूमी रहती है। परंतु फिर तीन कालोंमें कर्मभूमी होजाती है। ऐसा ही परिवर्तन उत्सर्पिणी चढते कालचक्रमें भी रहता है। इन दोनो क्षेत्रोंको कर्मभूमीकी मुख्यता मान कर कर्मभूमियोंमें गिनाया है। यद्यपि कर्मभोग—भूमियोंकेलिये तीन तीन ही काल नियत हैं परंतु मोक्षमार्गप्रादुर्भावका कारण होनेसे कर्मभूमी जहां थोडीसी भी हो वहांके क्षेत्र को कर्मभूमीमें ही गिनाना उचित है। अधिकांश होनेपर भी निकृष्ट वस्तुकी उतनी प्रसिद्धि नहीं होती जितनी कि थोडा प्रमाण होनेपर भी उत्कृष्ट वस्तुकी प्रसिद्धि होती है। भरतैरावतको भोगभूमियोंमें न गिनने का यही कारण है।

सात क्षेत्रोंमेंसे वाकी पांच रहे। परंतु विदेहमें बत्तीस कर्मभूमी जिस प्रकार हैं उसी प्रकार शाश्वत रहनेवाली दो भोगभूमी भी हैं। मेरुके पूर्व पश्चिम भागोंमें कर्मभूमी हैं और दक्षिणोत्तर भागोंमें भोगभूमी हैं। दक्षिण भोगभूमीको देवकुरु व

१ सीतया नद्या पूर्वविदेहो द्विधा विभक्त उत्तरो दक्षिणश्च। तत्रोत्तरो भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्नदीभिर्विभक्तोष्टधा भिन्नः। सीताया दक्षिणत पूर्वविदेहश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभगनदीभिर्विभक्तोष्टधा भिन्नः अष्टभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः। सीतोदया महानद्याऽपरविदेहो द्विधा विभक्तो दक्षिण उत्तरश्च। तत्र दक्षिण उत्तरश्च (प्रत्येक) भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभगनदीभिश्च विभक्तोष्टधाष्टधा भिन्न [एव द्वात्रिंशद्विदेहा] इति वार्तिकालंकारे।

उत्तर भोगभूमीको उत्तरकुरु कहते हैं। ये दो उत्कृष्ट भोगभूमी हैं। दूसरे हैमवत क्षेत्रमें तथा हैरण्यवत छट्ठे क्षेत्रमें जघन्य भोगभूमी हैं। तीसरे हरि, पांचवें रम्यक—इन दो क्षेत्रोंमें मध्यम भोगभूमी हैं। जघन्य भोगभूमियोंमें आयु एक पल्लप्रमाण, मध्यमोंमें दो पल्ल तथा उत्कृष्टोंमें तीन पल्ल रहता है। भोगभूमियोंमें लिखने योग्य जघन्य आयु नहीं मिलता। इस प्रकार जंबूद्वीपकी छह भोगभूमी हुई। धातकीखंड तथा पुष्करकी बारह बारह मिलानेसे सर्व शाश्वत भोगभूमी ३० होती हैं। यह अढाई द्वीपकी व्यवस्था है। अढाई द्वीपके आगे सर्व भोगभूमी ही हैं परंतु उन्हें कुभोगभूमी कहते हैं। वहां केवल तिर्यंच ही उपजते हैं। अंतरद्वीप जो म्लेच्छोंके स्थान गिनाये हैं वे भी सर्व कुभोगभूमी ही हैं।

देवोंके भेद प्रभेद—

भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकविभेदतः। देवाश्चतुर्णिकायाः स्युर्नामकर्मविशेषतः॥ २१३ ॥
दशधा भावना देवा अष्टधा व्यन्तराःस्मृताः। ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेयाः सर्वे वैमानिका द्विधा।

अर्थ—देव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक-ऐसे चार प्रकारके हैं। भवनवासी देवोंके उत्तर भेद दश हैं। व्यंतरोंके आठ भेद हैं। ज्योतिष्कोंके पांच हैं। वैमानिकोंके दो हैं। ये सर्व प्रकार एकेक विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं। देवगति यह सामान्य एक गतिकर्म है। इसके उदयसे वे देव कहाते हैं। भवनवासी आदि देवगति कर्मके उत्तर भेद हैं। इन कर्मोंके उदयसे भवनवासी आदि विशेष अवस्था प्राप्त होती हैं।[1]

भवनवासियोंके दश भेद—

नागासुरसुपर्णाग्निदिग्वातस्तनितोदधिः। द्वीपविद्युत्कुमाराख्या दशधा भावनाःस्मृताः॥२१५॥[2]

अर्थ—प्रत्येक भेदके साथ 'कुमार' शब्द जोडनेकी यहां रूढि है। (१) नागकुमार, (२) असुरकुमार, (३) सुपर्ण कुमार, (४) अग्निकुमार, (५) दिक्कुमार, (६) वात कुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) उदधिकुमार, (९) द्वीपकुमार, (१०) विद्युत्कुमार, भवनवासियोंके ये दश भेद हैं।

---

१ देवगतिनाम्नो मूलस्य उत्तरोत्तरप्रकृतिभेदस्योदयाद्विशेषसंज्ञा भवन्ति। २ पहिला यह भाग नियमानुसार नहीं दीखता। क्योंकि तीसरे दूसरे चरणोंमें समास नहीं होता। इसलिये या तो इसे श्लोकसम गद्य मानना चाहिये। नहीं तो—'नागोऽसुर सुपर्णोग्निर्दिग्वातः स्तनितोदधी।' ऐसा पाठ मान लेना ठीक है।

व्यंतरोंके आठ भेद–

किन्नराःकिंपुरुषाश्च गन्धर्वाश्च महोरगाः। यक्षराक्षसभूताश्च पिशाचा व्यन्तराः स्मृताः २१६

अर्थ–(१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गंधर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत, (८) पिशाच-ये आठ व्यंतरोंके उत्तर भेदोंके नाम हैं।

ज्योतिष्कोंके पांच भेद–

सूर्याचन्द्रमसौ चैव ग्रहनक्षत्रतारकाः। ज्योतिष्काः पञ्चधा द्वेधा ते चलाचलभेदतः॥ २१७॥

अर्थ–सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारे ये पांच भेद ज्योतिष्क देवोंमें होते हैं। इन ज्योतिष्कोंमें बहुतसे चल हैं और बहुतसे अचल हैं।

वैमानिकोंके दो भेद–

कल्पोत्पन्नास्तथा कल्पातीता वैमानिका द्विधा।

अर्थ–स्वर्गवासी देवोंका वैमानिक नाम है। इनमेंसे सोलहवे स्वर्गतकके देवोंको कल्पोत्पन्न या कल्पोपपन्न कहते हैं। ऊपरवालोंको कल्पातीत कहते है। इन्द्र सामानिक इत्यादि अथवा राजा–प्रजा इत्यादि कल्पना सोलहवें स्वर्गतक है; ऊपर नहीं है। ऊपरके सभी देव अपने अपनेको इन्द्र या स्वामी मानते हैं। इसीलिये उन्हें अहमिन्द्र भी कहते हैं। यह राजा-प्रजादिकी कल्पना रहनेसे सोलह स्वर्गविमानोंको कल्प कहना सार्थक है।

ये दो भेद तो हैं ही परंतु सोलह स्वर्ग पर्यंत राजा-प्रजाके व्यवहारार्थ बारह इंद्र माने गये हैं। उनका एक एक परिकर जुदा जुदा गिननेसे बारह भेद भी हो जाते हैं। भवनवासी तथा व्यंतरोंमें भी जो दश तथा आठ भेद किये हैं वे भी दश–आठ इंद्र अपने अपने परिकरके स्वामी निरनिराले होनेसे किये हैं। इसीलिये वैमानिकोके भेद सूत्रकारने बारह लिखे हैं।

१ दशाष्टपचद्वादशविकल्पा कल्पोपपन्नपर्यन्ता ॥ [इति सूत्रकाराः] 'कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्च' ऐसे दो भेद भी सूत्रकारने ही लिखे हैं।

यहांतक चार मूल भेदोंके उत्तर भेद व नाम लिखकर बताये। अब उन प्रत्येक भेदोंमें किस किस प्रकारके देव रहते हैं यह बात दिखाते हैं—

इन्द्राः सामानिकाश्चैव त्रायस्त्रिंशाश्च पार्षदाः ॥ २१८ ॥
आत्मरक्षास्तथा लोकपालानीकप्रकीर्णकाः। किल्बिषा आभियोग्याश्च भेदाः प्रतिनिकायकाः।
त्रायस्त्रिंशैस्तथा लोकपालैर्विरहिताः परे। व्यन्तरज्योतिषामष्टौ भेदाः सन्तीति निश्चिताः २२०

अर्थ—(१) इन्द्र, (२) सामानिक, (३) त्रायस्त्रिंश, (४) पार्षद, (५) आत्मरक्ष, (६) लोकपाल, (७) अनीक, (८) प्रकीर्णक, (९) किल्बिषक, (१०) आभियोग्य—ये दश भेद प्रत्येक उत्तरभेदमें पाये जाते हैं। ये पूरे दश भेद तो वैमानिक तथा ज्योतिष्कोंमेंही रहते हैं। भवनवासी तथा व्यंतरोंमें त्रायस्त्रिंश व लोकपाल ये दो भेद न होनेसे आठ आठ भेद मिलते हैं।

देवोंमें मैथुनकर्मका विचार—

पूर्वे कायप्रवीचारा व्याप्यैशानं सुराः स्मृताः। स्पर्शरूपध्वनिस्वान्तःप्रवीचारास्ततः परे ॥
ततः परेऽप्रवीचाराः कामक्लेशाल्पभावतः ॥ २२१ ॥ (षट्पदी)

अर्थ—भवनवासी, व्यंतर तथा ज्योतिष्क-ये सर्व और वैमानिकोंमेंसे सौधर्म व ईशान इन दो स्वर्गोंके देव—ये सर्व शरीरसंबंधपूर्वक मनुष्य तिर्यंचोंकी भांत स्त्रीसंभोग करते हैं। इसके आगे तीसरे चौथे स्वर्गवर्ती देव अपनी स्त्रीका केवल आलिंगन करके अपने मनका संतोष मानते हैं। यहां विषयभोगकी यही पद्धति है। इसके भी ऊपर पाचवें स्वर्गसे आठवें तकके देव अपनी स्त्रीका रूप देखते ही संतुष्ट हो जाते हैं। आगे बारह स्वर्गतक चार स्वर्गोंके देव अपनी स्त्रियोंके शब्द-मात्र सुनकर संतुष्ट हो जाते हैं। तेरहवेंसे सोलहवें स्वर्गतकके देव अपनी देवांगनाओंका मनमें चिंतवन करते ही संतुष्ट हो जाते हैं। इससे आगेके ग्रैवेयकादि देवोंमें मैथुनकी वासना उत्पन्न ही नहीं होती। इतनी उनकी कामवासना मंद रहती है।

संततिकी उत्पत्ति तो देवोंमें गर्भद्वारा होती ही नहीं और न उनका वीर्य तथा इतर धातुओंसे बना हुआ शरीर ही होता है। केवल मनकी कामभोगरूप वासना तृप्त करनेके ये उपाय हैं। सो उत्तरोत्तर वेगमंद होनेसे थोडे ही साधनोंसे

वह वेग मिट जाता है। नीचेके देवोंकी वासना तीव्र होनेसे वीर्यस्खलनका संबंध न रहते हुए भी शरीरसंबंध हुए बिना वासना दूर नहीं होती। इसके आगे वासना कुछ मंद हो जाती है इसलिये आलिंगनमात्रसे उन्हें संतोष हो जाता है। आगे आगे और भी वासना मंद हो जानेसे रूप देखते ही तथा शब्द सुनते ही वासना शान्त होने लगती है। और भी ऊपर चलने पर केवल चिंतवन करते ही कामशान्ति हो जाती है। यह रीति सोलहवें स्वर्गपर्यंत है। आगे इस बातकी ही वासना नहीं है। इसीलिये वे नीचेके देवोंसे असंख्यगुणे सुखी रहते हैं। अप्राप्त वस्तुकी इच्छा न रहनेका नाम सुख है। जो अप्राप्त वस्तुकी इच्छा होनेपर उसे प्राप्त करनेका वेग उठाकर पीछेसे अपनेको सुखी मानते हैं उनसे वे ही वास्तविक सुखी मानने चाहिये कि जिन्हें इच्छा ही न हो। इसीलिये कामवासना न रखनेवाले ऊपरके देवोंको कामवासनापरक नीचेके देवोंसे अधिक सुखी माना गया है। सहज अधिक सुखी कौन हो सकता है?

भवनवासी देवोंके निवासस्थान—

घर्मायाः प्रथमे भागे द्वितीयेपि च कानिचित्। भवनानि प्रसिद्धानि वसन्त्येतेषु भावनाः २२२

अर्थ—प्रथम नरकका जो स्थान अथवा भूमी मानी गई है उसके तीन भाग हैं। पहिले भागको खरभाग कहते हैं। दूसरेको पंकभाग, कहते हैं। तीसरेको अब्बहुल भाग कहते हैं। उसके दूसरे भागमें भवनवासियोंके दश भेदोंमेंसे एक असुरकुमार नामवाले देवोंके निवास हैं। शेष सात भेदोंका रहना प्रथम खरभागके भीतर है। इन्हीं दो भागोंमें इन सर्व भवनवासियोंके भवन बने हुए हैं।

व्यंतर देवोंके स्थान—

रत्नप्रभाभुवो मध्ये तथोपरितलेषु च। विविधेष्वन्तरेष्वत्र व्यन्तरा निवसन्ति ते॥ २२३॥

अर्थ—रत्नप्रभा नाम प्रथम नरकके दूसरे भागमें राक्षस नाम व्यंतरोंके भवनस्थान हैं और प्रथम खर भागमें शेष सात प्रकारके व्यंतरोंके निवासस्थान हैं। इन स्थानोंके अतिरिक्त द्वीपोंमें भी नाहिं जहां व्यंतरोंके स्थान रहते हैं। कोई अकृत्रिम पर्वत, गुफा, समुद्रप्रांतादिकोंमें रहते हैं और कोई शून्यगृह, वृक्षकोटर, चौपथ रास्ता इत्यादि स्थानोंमें भी रहते हैं।

१ भूमितलेपि द्वीपाद्रिसमुद्रदेशग्रामनगरत्रिकचतुष्कचत्वरगृहांगणरथ्या, जलाशयोद्यानदेवकुलादि, निशा संध्ये। निवसन्ति वानव्यन्तराः। [illegible]

इसीलिये इन्हे व्यंतर कहते हैं। इनकी पिशाचादि[2] संज्ञा कर्मोदयवश तथा रूढिवश मानी जाती है।

ज्योतिष्क देवोंके निवासस्थान—

उपरिष्टान्महीभागात् पटलेषु नभोंगणे। तिर्यग्लोकं समाच्छाद्य ज्योतिष्का निवसन्ति ते २२४

अर्थ—भूमीसे ऊपर जहांतक मध्यलोक है उस सीमाके भीतर आकाश पटलोंमें ज्योतिष्क देव रहते हैं। इनकी मद-त्तिणाके तथा रहनेके आकाशपटल इस प्रकार हैं—

इस भूमितलपरसे ऊपर सातसौ नव्वे योजनतक तो किसी जातिके भी ज्योतिष्क देव नहीं रहते। सातसौ नव्वेसे उनका रहना शुरू होता है, सो नौसौ योजनतक एकसो दश योजनकी मोटाईमें ये सर्व ज्योतिष्क रहते और संचार करते हैं। प्रथम ही सातसौ नव्वे योजनके वाद तारे हैं। ये तारे सर्व ज्योतिष्कोंके नीचे वाले भागमें समझे जाते हैं। इससे दश योजन ऊपर जानेपर आठसौ योजन ऊंचे सूर्यविमान फिरते हैं। सूर्यसे अस्सी योजन ऊपर चलकर चंद्रके विमान रहते हैं। चंद्रसे तीन योजन ऊपर जानेपर नक्षत्रोंका भ्रमण है। नक्षत्रोंके ऊपर तीन योजन जानेपर बुधके विमान भ्रमते हैं। बुधसे तीन योजन ऊपर शुक्र हैं। शुक्रसे तीन योजन ऊंचे गुरु या बृहस्पति हैं। गुरुसे चार योजन ऊंचे मंगल ग्रह हैं। मंगलसे चार योजन ऊंचे शनैश्चर विमान विचरते हैं। इस प्रकार यह ज्योतिश्चक्र एकसौ दश योजन ऊपरसे नीचेतक मोटे आकाशमें है। तिरछी तरफ में देखें, तो मध्यलोकके अंतिम घनोदधिपर्यंत यावत् द्वीप समुद्रोंके ऊपर सर्वत्र आकाशमें ये ज्योतिष्क मिलेंगे।

इनके फिरनेकी निरनिराली असंख्यातों परिधि हैं। अभिजित् नामका एक नक्षत्र है उसकी परिधी सब परिधियोंके भीतर है और मूल नाम नक्षत्रकी परिधि सबसे बाहिरी है। शेष ज्योतिष्क यथायोग्य परिधियोंमें रहते व फिरते हैं। भरणी नक्षत्र सबके नीचे विचरता है और स्वाति सबके ऊपर। इसी प्रकार दूसरोंके यथायोग्य वीचमें स्थान हैं।

---

१ विविधदेशान्तरनिवासित्वाद् व्यन्तराः। २ नहि ते शुचिवैक्रियिकदेहा अशुच्यौदारिकशरीरान् नरान् कामयन्ते नापि पिशितमश्नन्ति। मांसमदिरादिषु दृष्टा लोके प्रवृत्तिरिति चेन्न, क्रीडासुखनिमित्तत्वात्। (इति वार्तिकालंकारे)

३ णवदुत्तर सत्त सया दस सीदी च दुगे तिय चउक्के। तारिण ससि रिक्ख बुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी॥ इति त्रिलोक०॥

सूर्य–विमानकी कांति तप्त सुवर्णके समान है। उसकी मणिमय अकृत्रिम रचना है। अडतालीस योजन तथा एकयोजनका इकसठवां भाग–इतना व्यास है। कुछ इससे अधिक तिगुनी परिधि है। चौवीस योजन तथा एक योजनका इकसठवां भाग इतनी मोटाई ऊपरकी तरफ है। इसकी आकृति आधे गोलेकी भांत हैं। सोलह हजार सेवक देव इसको धारण करते है। इन विमानोंमें सूर्यनामका देव स्वामी रहता है और उसके परिवार जन भी रहते हैं। यह सूर्यका स्वरूप हैं। बाकी सबका यथागम समझ लेना चाहिये।

भवनवासी आदि देवोंमें जैसे असुरादि भेद होते हैं और उन प्रत्येक भेदोंमें इन्द्र सामानिक आदि कल्पना की गई है वैसी ज्योतिष्कोंके पांचो भेदोंमें इन्द्रादि कल्पना नहीं है। ये पांच भेद-केवल हीनाधिक प्रभाव, शक्ति, ऐश्वर्य इत्यादि हेतुवश माने गये हैं। इंद्रादिक भेदोंकी अपेक्षासे देखें तो चंद्र प्रति इन्द्र है और सूर्य इन्द्र है। बाकी सर्व सैनिकादि भेदोंमें गर्भित होते हैं। ऐसा सूर्य चंद्रादिकोंका समुदाय निरनिराला एक एक देखें, तो असंख्यात है। जंबूद्वीपके ऊपरी भागमें दो चंद्र, दो सूर्य तथा प्रत्येकके निरनिराले परिवार हैं। लवणोद समुद्रके ऊपर चार सूर्य तथा चार चंद्र हैं। इसके आगे प्रतिद्वीप तथा, प्रति समुद्रके ऊपर साधारण दूने दूने समझने चाहिये। अढाई द्वीप में दूनेका हिसाब नहीं है।

अढाई द्वीपोंके भीतर रहनेवाले ज्योतिष्क जो भ्रमते हैं वे सुमेरुकी प्रदक्षिणा देते हुए फिरते हैं। अढाई द्वीपके आगेके सभी ज्योतिष्क स्थिर हैं। इनकी गति एकसी होती है। जिसकी जितने समयमें जितनी गति होती है उसकी उतने समयमें सदा उतना ही होती है। इसीलिये इनकी गतिपरसे समयका निश्चय हो जाता है।

वैमानिक देव–

ये तु वैमानिका देवा ऊर्ध्वलोके वसन्ति ते। उपर्युपरि तिष्ठत्सु विमानप्रतरेष्विह ॥ २२५ ॥

अर्थ–देवोंका चौथा भेद वैमानिक है। ये देव ज्योतिष्क देवोंसे बहुत ऊंचे रहते हैं। ज्योतिष्क देवोंकी वस्ती मध्यलोकमें गिनी जाती है और वैमानिक जहांसे सुरू होते हैं वह ऊर्ध्वलोक[1] है। सुमेरुकी शिखाके ठीक ऊपरसे वैमानिकोंके आवास तथा ऊर्ध्वलोककी कल्पना सुरू होती है। ऊपर ऊपर स्वर्ग और स्वर्गोंके अंतर्गत प्रतरोंकी रचना है। उन्हींमें ये वैमानिक देव रहते हैं।

१ मेरुस्स हिट्ठभागे सत्तवि रज्जु घणो अधोलोओ। उड्ढम्हि उड्ढलोओ मेरुसमो मज्झिमो लोओ ॥ कार्तिकेयानु०।

विमान व पटलों के भेद—

ऊर्ध्वभागे हि लोकस्य त्रिषष्टिः प्रतराः स्मृताः। विमानैरिन्द्रकैर्युक्ताः श्रेणीबद्धैः प्रकीर्णकैः॥२२६॥

अर्थ—लोकके ऊर्ध्व भागमें ये स्वर्ग अथवा कल्प है। इनके अन्तर्गत त्रेसठ पटल हैं। प्रत्येक पटलमें एक एक इंद्रक विमान तथा कुछ श्रेणीबद्ध, व कुछ प्रकीर्णक नामके विमान हैं।

कल्पोंके नाम—

सौधर्मैशानकल्पौ द्वौ तथा सानत्कुमारकः। माहेन्द्रश्च प्रसिद्धौ द्वौ ब्रह्मब्रह्मोत्तरावुभौ॥२२७॥
उभौ लान्तवकापिष्ठौ शुक्रशुक्रौ महास्वनौ। द्वौ सतारसहस्रारावानतप्राणतावुभौ॥२२८॥
आरणाच्युतनामानौ द्वौ कल्पाश्चेति षोडश।

अर्थ—प्रथम एक पटलमें (१) सौधर्म व (२) ईशान ये दो कल्प उत्तर दक्षिण दिशाओंमें हैं। इसी प्रकार ऊपर (३) सानत्कुमार, (४) माहेन्द्र कल्प हैं। और ऊपर (५) ब्रह्म (६) ब्रह्मोत्तर ये दो कल्प हैं। इसके भी ऊपर [७] लांतव, (८) कापिष्ठ ये दो कल्प हैं। इसके ऊपर (९) शुक्र, [१०] महाशुक्र ये दो कल्प हैं। इसके ऊपर [११] सतार [१२] सहस्रार ये दो कल्प हैं। इसके ऊपर [१३] आनत [१४] प्राणत ये दो कल्प हैं। इसके ऊपर [१५] आरण, [१६] अच्युत ये दो कल्प हैं। ये सर्व मिलकर सोलह कल्प होते हैं।

कल्पोंकी अपेक्षा ये सोलह भेद होते हैं परंतु इन सोलहोंके स्वामी इन्द्र सर्व बारह हैं इसलिये बारह भेद भी कह सकते हैं [१] सौधर्म कल्पका स्वामी सौधर्मेन्द्र है। [२] ईशान कल्पका ईशानेन्द्र है। [३] सनत्कुमारका सनत्कुमार इन्द्र है। [४] माहेन्द्रका माहेन्द्र इन्द्र है। ऊपर [५] ब्रह्म ब्रह्मोत्तर दो कल्पोंका स्वामी एक ब्रह्मेन्द्र है। [६] सातवें आठवें दो स्वर्गोंका एक लांतव नाम इन्द्र है। [७] शुक्र महाशुक्र इन नौवें दशवें दो कल्पोंका एक शुक्रेन्द्र है। ग्यारहवें बारहवें दो कल्पोंका एक सतार नाम इन्द्र है। आगे आनत तेरहवे कल्पका एक आनत नाम इन्द्र है। [१०] प्राणत चौदहवें कल्पका प्राणत नाम इन्द्र है। [११] आरण पंद्रहवें कल्पका आरण नाम इन्द्र है। [१२] अच्युत सोलहवेंका एक अच्युत नाम इन्द्र है।

यहांतक चारो देवोंके भेदोंमें इन्द्र सामानिकादिकी कल्पना है आगे फिर यह कल्पना नहीं है। इन्द्रादि दश भेदोंके अर्थ इसप्रकार हैं। [१] इन्द्र=सबका स्वामी। [२] इन्द्रके तुल्य सुख भोगनेवाले कुछ देव होते हैं जो कि माता पिता आदिके समान माने जाते हैं उन्हें सामानिक देव कहते हैं। तो भी उनकी आज्ञा इन्द्रके समान नहीं रहती और न सैन्यादिका ऐश्वर्य ही उतना रहता है। [३] मंत्री-पुरोहितादिके तुल्य प्रत्येक इन्द्रके पास तेतीस देव रहते हैं। उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। [४] इन्द्रकी सभामें जिनका बैठनेका नियोग होता है वे पारिषद अथवा सभासद कहाते हैं। [५] इंद्रकी बाजुओंमें खडे रहकर जो इंद्रकी रक्षा करनेको तयार रहते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। [६] पुलिसकी भांत दुष्टका निग्रह करनेकी सँभाल रखनेवालोंको लोकपाल कहते हैं। [७] अनीकका अर्थ सैन्य है। [८] शहरोंमें रहनेवाले प्रजाजनोंका नाम प्रकीर्णक है। [९] सेवा करनेवालोंको आभियोग्य कहते हैं। [१०] चांडालादिकोंकी भांत जो अतिनिकृष्ट माने जाते हैं उन देवोंको किल्विषक कहते हैं।

ये दश भेद जहां नहीं है उनका वर्णन—

ग्रैवेयाणि नवातोऽतो नवानुदिशचक्रकम् ॥ २२९ ॥
विजयं वैजयन्तं च जयंतमपराजितम्।
सर्वार्थसिद्धिरित्येषां पञ्चानां प्रतरोन्तिमः ॥ २३० ॥

अर्थ—सोलह स्वर्गोंके ऊपर ग्रैवेयेक नामवाले नौ विमान अथवा नौ पटल हैं। उन नौ पटलोंके ऊपर अनुदिश नाम पटल है। अनुदिशके ऊपर एक पटल और है। इस अंतिम पटलमें चारो दिशाकी तरफ विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित ये चार नामवाले चार विमान हैं और एक सर्वार्थसिद्धि नाम विमान मध्यमें है। यहांतक सर्व त्रेसठ पटल हैं यह बात प्रथम कह चुके हैं।

उन त्रेसठ पटलोंका हिसाव—

एक समान आकाशभागमें सौधर्म ईशान जो दो कल्प हैं उनमें पटल इकतीस हैं। १ ऋतु, २ विमल, ३ चंद्र, ४ वल्गु, ५ वीर, ६ अरुण, ७ नंदन, ८ नलिन, ९ कांचन, १० रोहित, ११ चंचत्, १२ मारुत, १३ ऋद्धीश, १४ वैडूर्य,

१५ रुचक, १६ रुचिर, १७ अंक, १८ स्फटिक, १९ तपनीय, २० मेघ, २१ अभ्र, २२ हारिद्र, २३ पद्म, २४ लोहिताक्ष, २५ वज्र, २६ नन्द्यावर्त, २७ प्रभंकर, २८ पृष्टक, २९ गज, ३० मित्र, ३१ प्रभ, ये नाम हैं। तीसरे-चौथे कल्पमें पटल सात हैं।३२ अंजन, ३३ वनमाल, ३४ नाग, ३५ गरुड, ३६ लांगल, ३७ वलभद्र, ३८ चक्र, ये सातोंके नाम हैं। पांचवे-छट्टे कल्पमें चार पटल हैं। ३९ अरिष्ट, ४० देवसमित, ४१ ब्रह्म, ४२ ब्रह्मोत्तर, ये चारोंके नाम हैं। सातवें आठवें कल्पोंमें दो पटल हैं। ४३ ब्रह्महृदय, ४४ लांतव ये दोनोंके नाम हैं। नौमे दशवें कल्पोंका एक ४५ महाशुक्र नाम पटल है। ग्यारहवें-बारहवें कल्पोंका भी एक ४६ सतार नाम पटल है। तेरह-चौदह-पंद्रह--सोलहवें चार कल्पोंमें छह पटल हैं। ४७ आनत, ४८ प्राणत, ४९ पुष्पक, ५० सातक, ५१ आरण, ५२ अच्युत ये छहोंके नाम हैं। इसके ऊपर ग्रैवेयकके तीन भेदोंमेंसे अधोग्रैवेयक तीन पटलवाला है।५३ सुदर्शन, ५४ अमोघ, ५५ सुप्रबुद्ध ये तीनोंके नाम हैं।पुनः मध्यम ग्रैवेयकके तीन पटल हैं। उनके नाम ५६ यशोधर, ५७ सुभद्र, ५८ विशाल हैं। उपरिम ग्रैवेयकके तीन पटल हैं। उनके नाम ५९ सुमन, ६० सौमन, ६१ प्रीतिंकर हैं। इनके ऊपर एक अनुदिश नाम विमान है। उसका एक ही पटल है। इसका नाम ६२ वां आदित्य है।इसके ऊपर अंतिम एक अनुत्तर नाम विमान है। इसमें भी एक ही पटल है। पटलका नाम ६३ वां सर्वार्थसिद्धि है।

सोलहवें स्वर्गतक जो बावन पटल हैं उनकी रचना इस प्रकार है कि प्रत्येक पटलमें तीन तीन प्रकारके आवास हैं। १ इंद्रक विमान, २ श्रेणीवद्ध, ३ प्रकीर्णक। इंद्रक विमान सबके बीचमें रहता है और वह एक ही होता है। उसके चारों दिशाओंमें विमानोंकी चार श्रेणी रहती हैं। प्रत्येक श्रेणीमें प्रथम तो विमानसंख्या त्रेसठ है। परंतु ऊपर ऊपर प्रत्येक पटलकी प्रत्येक श्रेणीमें एक एक विमान कम होता गया है। इस प्रकार बासठवें पटलमें इंद्रक विमान एक तथा चार दिशाओंमें चार विमान श्रेणीवद्ध हैं। यहांतक जितनी श्रेणीवद्ध विमानोंकी हीनाधिक रचना है वैसी ही चार चार विदिशाओंमें हीनाधिक विमानसंख्या है। विदिशाओंके विमानोंको प्रकीर्णक या पुष्पप्रकीर्णक कहते हैं। त्रेसठवें पटलमें चार दिशाओंमें चार और मध्यमें एक इंद्रक विमान ऐसे पांच विमान हैं। प्रकीर्णक विमान इस अंतिम पटलमें नहीं हैं। इसके पांचो विमानोंके विजयादिक नाम ऊपर बताये हैं।

ऊपर नीचेके देवोंमें अंतर क्या है?

एषु वैमानिका देवा जायमानाः स्वकर्मभिः। द्युतिलेश्याविशुद्ध्यायुरिन्द्रियावधिगोचरैः २३१

तथा सुखप्रभावाभ्यामुपर्युपरितोधिकाः । हीनास्तथैव ते मानगतिदेहपरिग्रहेः ॥ २३२ ॥

अर्थ—इन विमान या पटलोंमें देव अपने अपने कर्मके अनुसार ऊपर नीचे उत्पन्न होते हैं। इन देवोंमें ऊपर ऊपर द्युति, लेश्याविशुद्धि, आयु, इंद्रियज्ञान, अवधिज्ञान, सुख, तथा प्रभाव ये बढते हुए होते हैं और मानकषाय, गमन, शरीर-प्रमाण, परिग्रह—ये सर्व घटते हुए होते हैं।

मानकषाय[1] नीचेके देवोंको जैसा होता है वैसा ऊपर ऊपर नहीं है। ऊपर ऊपरके देव अपने स्थान छोडकर इधर उधर कम फिरते हैं। शरीरकी ऊंचाई उत्तरोत्तर कम है—यह बात प्रथम कह चुके हैं। विषयलोलुपता कम होनेसे ऊपर ऊपर परिग्रहका[3] संग्रह भी कम रहता है।

शरीरका तेज उत्तरोत्तर अधिक होता है। भवनवासी, व्यंतर तथा ज्योतिष्कोंकी लेश्या कृष्ण, नील, कपोत, पीत—ये चार तक रहती हैं। अर्थात् शरीरके वर्ण ऐसे होते हैं। वैमानिक देवोंमेंसे सौधर्म ईशान इन दो स्वर्गवालोंमें पीतलेश्या रहती है। तीसरे चौथे स्वर्गोंमें कुछ पीत कुछ पद्म ये दो लेश्यावाले देव हैं। पांचवेंसे आठवें तक पद्मलेश्या है। फिर ऊपर बारहवेंतक पद्म तथा शुक्ल दोनो ही लेश्याएं हैं। तेरहवेंसे ऊपरके सर्व देवोंमें केवल शुक्ल लेश्या ही पाई जाती है।

संसारी व सिद्धोंका क्षेत्र—

इति संसारिणां क्षेत्रं सर्वलोकः प्रकीर्तितः । सिद्धानां तु पुनः क्षेत्रमूर्ध्वलोकांत इष्यते ॥२३३॥

अर्थ—इस प्रकार संसारी जीवोंका सर्व लोक क्षेत्र है। यह बात दिखादी गई। सिद्ध जीवोंका केवल लोकके ऊपर अंतिम थोडासा भाग ही निवासक्षेत्र है। संसारी जीव यद्यपि सभी सर्वत्र नहीं रह सकते हैं। त्रस जीव त्रसनालीमें ही

१ प्रतनुकषायाल्पसंक्लेशावधिविशुद्धितत्त्वावलोकनसंवेगपरिणामानामुत्तरोत्तराधिक्यादभिमानहानिः। २ देशांतरप्राप्तिहेतुर्गतिः कायपरिस्पन्दः। ३ लोभकषायस्योदयान्मूर्छा परिग्रहः। ४ शरीरवसनाभरणादिदीप्तिर्द्युतिः। ५ ये सर्व लेश्याए शरीरके वर्ण विशेष हैं। जो परिणामोंमें कषायकी हीनाधिकतावश भावलेश्याए होती हैं वे क्षणक्षणमें बदल सकती हैं इसलिये यद्यपि उनके विषयका कुछ निश्चय वर्णन नहीं हो सकता तो भी भावलेश्या प्राय द्रव्यलेश्याओंके अनुसार ही रहती हैं। ६ आयुकी अधिकता उत्तरोत्तरकी लिख चुके हैं। इन्द्रियोंकी तथा अवधिज्ञानकी मर्यादा देवोंमें कहातक बढती हैं यह बात राजवार्तिकसे मालूम हो सकती है। हा, अवधिका प्रथमभेद देशावधि ही देवोंमें होता है। मनःपर्यय, परमावधि साधुओंके सिवा कहीं नहीं रहती।

रहते हैं। नारक मनुष्य तथा देवोंके स्थान भी त्रसनालीके अंतर्गत थोडेसे नियत किये हुए ही हैं। तिर्यंच भी जो पंचेंद्रिय हैं वे केवल मध्यलोकमें ही रहते हैं। तो भी संसारी जीवोंका सर्वलोक निवासक्षेत्र कहनेका मतलब यह होना चाहिये कि एक भवका क्षेत्र नियत होगा परंतु भवांतरोंका क्षेत्र नियत नहीं हो सकता है। एक ही जीव चाहें वहां उत्पन्न हो सकता है। दूसरी वात यह भी है कि निगोद जीवोंकी अपेक्षासे सर्वलोक ही भरा हुआ है। सिद्ध जीवोंका ऐसा भ्रमण सर्वत्र नहीं हो सकता है: इसलिये उनका निवासक्षेत्र सदाकेलिये नियत हो जाता है।

जीवोंके भंग—

सामान्यादेकधा जीवो बद्धो मुक्तस्ततो द्विधा। स एवासिद्धनोसिद्धासिद्धत्वात्कीर्त्यते त्रिधा॥२३४॥

अर्थ—उपयोगको लक्षण मानकर जीवका विचार किया जाय तो जीव एक ही प्रकारका है। उपयोग लक्षण सवोंका समान है। संसारी तथा मुक्त ऐसे दो भेद भी होते हैं। संसारी, जीवन्मुक्त पूर्णमुक्त ऐसे तीन भेद भी होते हैं। अथवा मिथ्यादृष्टिको असिद्ध कहना चाहिये; सम्यग्दृष्टीको पत्सिद्ध कहना चाहिये और रत्नत्रयप्राप्त जीवको सिद्ध कहना चाहिये—ऐसे भी तीन भेदोंकी योजना जुडती है।

श्वाभ्रतिर्यङ्नरामर्त्यविकल्पात् स चतुर्विधः। प्रशमक्षयतद्द्वन्द्वपरिणामोदयो भवेत् ॥२३५॥
भावपञ्चविधत्वात्स पञ्चभेदः प्ररूप्यते।

अर्थ—नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच इन गतियोंके भेदसे देखा जाय तो चार प्रकारके जीव होसकते हैं। उपशम, क्षय, क्षयोपशम परिणाम तथा उदय ये पांच स्वभाव जीवोंमें मिलते हैं इसलिये जीव पांच प्रकारके मानने चाहिये।

षण्मार्गगमनात् षोढा सप्तधा सप्तभंगतः॥ २३६॥ अष्टधाऽष्टगुणात्मत्वादष्टकर्मकृतोपि च।
पदार्थनवकात्मत्वान्नवधा दशधा तु सः। दशजीवभिदात्मत्वादिति चिन्त्यं यथागमम्॥२३७॥

(षट्पद)

अर्थ—गमनका अर्थ ज्ञान है और जाननेके साधनका नाम मार्ग होसकता है। छह इंद्रियोंके द्वारा जीव ज्ञान उत्पन्न

करते हैं अथवा विषयोंमें प्रवृत्ति करते हैं इसलिये एकेन्द्रिय, द्वींद्रिय। त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (असंज्ञी], तथा समनस्क ऐसे छह भेद जीवोंमें होसकते हैं।

१ स्याज्जीवोस्ति, २ स्याज्जीवो नास्ति, ३ स्याज्जीवोस्तिनास्ति, ४ स्याज्जीवोऽवक्तव्यः ५ स्याज्जीवोऽस्त्यवक्तव्यः, ६ स्याज्जीवो नास्त्यवक्तव्यः, ७ स्याज्जीवोस्तिनास्ति चावक्तव्यः—इन सात भंगोंसे जीवको सात प्रकारका कह सकते हैं।

अष्टगुण जीवमें स्वाभाविक गुण माने जाते हैं जो कि सिद्धात्मामें पूर्ण प्रगट होते हैं। १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ वीर्य, ४ सूक्ष्मत्व, ५ अवगाहन, ६ अगुरुलघु, ७ सम्यक्त्व, ८ अव्याबाध—ये आठ गुणोंके नाम हैं। ये आठ गुण जीवमें रहते हैं इसलिये जीवको आठ प्रकारका कह सकते हैं। अथवा आठ कर्मोके द्वारा आठ पर्याय उत्पन्न होते हैं इसलिये भी जीवको आठ प्रकारका कह सकते हैं।

सात तत्त्व तथा पुण्य पाप ये नौ स्वरूप जीवमें ही मिलते हैं इसलिये जीवके नौ भेद भी कहे जासकते हैं। जीवोंमें दश प्राण रहते हैं। प्राणोंके अतिरिक्त जीवका कोई दूसरा स्वरूप नहीं होसकता। इसलिये जीवको दश प्रकारका भी मान सकते हैं।

उपसहार—

इत्येवं जीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥२३८॥

अर्थ—इस प्रकार जो मनुष्य अजीवादि छह तत्त्वोंके साथ जीवतत्त्वकी श्रद्धा, ज्ञान तथा हेयांशकी उपेक्षा करता है वही निर्वाणका पात्र है। उसीको निर्वाण प्राप्त होसकता है।

जीवतत्त्ववर्णन हुआ।

सप्तभंगीका स्वरूप—

१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादवक्तव्यः, ४ स्यादस्तिनास्ति, ५ स्यादस्त्यवक्तव्यः, ६ स्यान्नास्त्यवक्तव्यः, ७ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यः—ऐसे सात भंग प्रत्येक तत्त्वकी सिद्धिमें उपयोगी पडते हैं। जैसे एक जीव द्रव्यको ही यदि हम केवल सद्भावरूप माने तो 'जीव' शब्द बोलनेपर भी जीवका पूर्ण निश्चयज्ञान नहीं होसकता है। किसी भी वस्तुकी विशेपता दू-

१ सप्तभंगीका स्वरूप अभी कहनेवाले हैं।

सरोंसे मिलती नहीं है। इसलिये जीवकी विशेषता दूसरोंसे जुदी समझनेकेलिये दूसरे पदार्थोंका निराकरण जीवका अस्तित्व कहते समय ही करना पडता है। अतएव यह मानना चाहिये कि जीवका स्वरूप इतरनिषेधमय है। इतर निषेधका ज्ञान जीव–शब्द बोलनेपर हुआ हो तो उसे जीवका स्वरूप न मानकर अन्यका स्वरूप मानना उचित नहीं है। अन्यका वह निषेध स्वरूप तब होसकता है जब कि अन्यके देखने पर निषेध ज्ञान हो। परंतु अन्यके देखनेपर तो उसका अस्तित्व भासता है, न कि निषेध। इसलिये जीव–शब्द बोलनेपर जो जीवेतर वस्तुओंका निषेध भासता है वह जीवका ही स्वरूप होना चाहिये। जिसके देखने या बोलने पर जैसा मानस ज्ञान हो वैसा उस प्रकृत वस्तुका ही स्वरूप मानना चाहिये। जो पदार्थ जीव–के समय उपस्थित ही नहीं है उसका वह निषेध स्वरूप ठहराना अप्रासंगिक है। नहीं तो चाहें जो स्वरूप चाहें जिसका मानलेनेमें कोई भी रोधक नहीं होगा। बस, इसलिये यह मानना चाहिये कि 'जीव' शब्द बोलनेपर जो जीवविषयक सत्ता भासती है वह भी जीवका ही स्वरूप है और इतरनिषेध भासता है वह भी जीवका ही स्वरूप है। अंतर केवल अपेक्षाओंका है। जीवके अस्तित्वज्ञानमें स्वतःकी अपेक्षा होती है और इतरनिषेधात्मक माननेमें इतर वस्तुओंकी अपेक्षा होती है। इस प्रकार प्रथम दो भंग सिद्ध हुए।

जब किसी अपेक्षाको खुलासा दिखाना हो तो 'स्यात्' शब्द बोलनेकी आवश्यकता नहीं है। और यदि 'स्यात्' बोला हो तो स्यात्–शब्दसे ध्वनित होनेवाली अपेक्षाको बोलना न चाहिये। स्यात्–यह शब्द अपेक्षाओंका सामान्य सूचक है। इसीलिये दोनो शब्द एक वाक्यमें बोलनेसे पुनरुक्ति दोष आसकता है। 'स्यात्' इस शब्दको यहां संशयसूचक न मानना चाहिये। 'कथंचित्' शब्दका भी स्यात्के बदलेमें प्रयोग हो सकता है।

३ यद्यपि अस्ति तथा नास्ति ये दो स्वभाव जीवके सिद्ध हुए तो भी उन दोनोंको एक दम बोलना अशक्य है। एक वाक्यके परस्पर विरोधी दो अर्थ होना संभव नही हैं। इसलिये युगपत् बोलनेकी अपेक्षाके समय जीव अवक्तव्य हो जाताहै।

१ आप्तमीमांसा (११२वीं कारिका) के व्याख्यानमें अकलंक स्वामी लिखते हैं कि "वाचः स्वभावोयं येन स्वार्थसामान्यं प्रतिपादयन्ती तदपरं निराकरोति"। अर्थात् वचनका यही स्वभाव है कि स्वविषयका अस्तित्व दिखाता हुआ वह तदितरोंका निराकरण करे। "तद्विधेयप्रतिषेध्यात्मविशेषात् स्याद्वादः प्रक्रियते सप्तभंगीसमाश्रयात्"। इसलिये अस्तित्व तथा नास्तित्व इन दो मूल धर्मोंके आश्रयसे सप्तभंगी कल्पना करते हुए स्याद्वादकी सिद्धि करते हैं।

४ क्रमसे बोलना हो तो अस्ति–नास्ति ऐसे दोनो धर्ममय जीव होगा। इसी को 'स्यादस्तिनास्ति' ऐसा कहते हैं।

५ अस्तित्व कहनेकी उत्कंठा हुई कि नास्तित्वधर्मके विचारने यदि उसे दवा दिया तो उस समय यही कहना चाहिये कि जीव अस्ति होकर भी अवक्तव्य है। अर्थात् अस्त्यवक्तव्य है।

६ नास्तित्व बतानेकी इच्छाके समय अस्तिरूप यदि अस्तित्व धर्मभी प्रतिपक्षी रूप से मनमें खडा हो जाय तो नास्तित्व होकर भी अवक्तव्य हो जाता है। इसीको 'स्यान्नास्त्यवक्तव्यः' ऐसा कहते हैं।

७ क्रमसे दोनो धर्म वक्तव्य हैं परंतु युगपत्की दृष्टिसे अवक्तव्य हैं। किसी मनुष्यने जीवको क्रमापेक्षया जिस समय अस्ति नास्ति ऐसे दोनो धर्मयुक्त कहना चाहा हो उसी समय यदि युगपत्की अपेक्षा भी मनमें उठ खडी हो तो जीव स्या-अस्तिनास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य होजाता है। इसीको 'स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य' कहते हैं। इस सातवें भंगमें अस्तिना-स्तित्वका अवक्तव्यपना विशेषण करना चाहिये। जो अस्तिनास्ति-इन दो धर्मोंकी भांत अवक्तव्यको एक तीसरा धर्म स्वतंत्र मानते हैं उनके अनुसार सातवां भंग बन नहीं सकता है।

इन सात भंगोंमेंसे ईप्सितको[1] विधेय बनालेनेसे स्याद्वाद व्यवहारोपयोगी होता है। इसीलिये यह संशयवाद नहीं है। क्योंकि, संशयवादमें एक भी कोटी विधेय नहीं बनपाती है।

---

१ विधेयमीप्सितार्थांग प्रतिषेध्याविरोधि यत। तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः। (आप्तमीमांसा)

तीसरा अधिकार ।

अथ अजीवतत्त्व ।

मंगल और विषयप्रतिज्ञा—

अनंतकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान् । प्रणिपत्य जिनान् सर्वानजीवः संप्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अर्थ—केवलज्ञानरूप अपार प्रकाशके द्वारा जिन्होंने तीनो जगत्को प्रकाशित किया उन सर्व जिनेंद्र भगवानोंको नमस्कार करके अजीवतत्त्वका वर्णन करता हूं। सात तत्त्वोंमेंसे जीवतत्त्वका वर्णन हो चुकनेपर दूसरा अजीवतत्त्व ही वर्णन करनेके योग्य दीख पडता है ।

अजीवके प्रकार—

धर्माधर्मावथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः । अजीवाः खलु पंचैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥ २ ॥

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश काल तथा पुद्गल ये पांच अजीवरूप पदार्थ पाये जाते हैं—ऐसा सर्वदर्शी भगवानने कहा है । अजीवके सामान्यापेक्षया ये पांच ही भेद हैं ।

द्रव्योंकी छह संख्या—

एते धर्मादयः पंच जीवाश्च प्रोक्तलक्षणाः । षड् द्रव्याणि निगद्यंते द्रव्ययाथात्म्यवेदिभिः ॥ ३ ॥

अर्थ—जीवोंका लक्षण-स्वरूप कह चुके हैं। पांच धर्मादिकोंके साथ उक्त जीवको मिलानेसे सर्व द्रव्य छह हो जाते हैं। द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप जाननेवाले सर्वज्ञ देव इस प्रकार छह ही द्रव्य कहते हैं।

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुंगवैः । पंचास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः ॥४॥

अर्थ—कालके सिवा पांचो द्रव्योंमें अनेक अनेक प्रदेश माने गये हैं । काल-द्रव्यमें प्रत्येक सूक्ष्म प्रदेश निरनिराला रहता है। जिस वस्तुमें एकसे अधिक प्रदेशोंका समुदाय मिल रहा हो उसे संचय कह सकते हैं। कायशब्दका भी अर्थ

संचय ही होता है। अस्ति-शब्दका अर्थ सद्भाव अथवा विद्यमान होता है। पांचो द्रव्य विद्यमान हैं और अनेकप्रदेशी होनेसे संचयरूप भी हैं। इसीलिये जिन भगवानने पांचोंको अस्तिकाय कहा है। द्रव्योंकी केवल सत्ता गिनानी हो तो द्रव्य छह हैं।

द्रव्यलक्षण—

समुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः। गुणपर्ययवद् द्रव्यं वदंति जिनपुंगवाः ॥ ५ ॥

अर्थ—वीतराग जिनेंद्र भगवानने द्रव्यका लक्षण इस प्रकार कहा है कि,-उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य जिसमें हों वह द्रव्य है। अथवा गुणपर्याययुक्त वस्तुका नाम द्रव्य है। गुणपर्यायोंका लक्षण आगे कहेंगे। परंतु दोनो लक्षणोंका तात्पर्य एक ही है। शाश्वत शक्तियोंको गुण कहेंगे और एकेक समयमें तथा कुछ कालतक टिककर रहनेवाले विकारको पर्याय कहेंगे। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका मतलब है। शाश्वतिक शक्तिको ध्रौव्य कहते हैं और पर्यायको उत्पाद तथा व्यय नामसे कहते हैं। जहां उत्पाद-व्यय होते हैं वहां ही मूल वस्तुमें विक्रिया होती है। विक्रिया हुए विना एक क्षणभर भी कोई वस्तु रह नहीं सकता है। एक विक्रिया नष्ट हुई कि दूसरी विक्रिया उत्पन्न हो जाती है। हम वस्तुमात्रका यह स्वभाव देखते हैं। विक्रियाओंका जो आधार रहता है वही ध्रौव्य है। आधार रहे विना भी विक्रिया होना असंभव है। इसलिये ध्रौव्य वह धर्मको भी वस्तुमात्रका स्वभाव मानना उचित ही है।

कितने ही लोगोंका ऐसा मत है कि ध्रौव्यमात्र वस्तुका मूल स्वभाव है। विक्रिया मूल स्वभाव नहीं है। विक्रिया किसी उपाधिवश होती है। इसलिये विक्रियाको वस्तुस्वभाव मानना अन्याय है।

कितने ही यह कहते हैं कि विक्रिया परनिमित्तसे नहीं होती किंतु स्वयं ही होती है। देखते हैं कि कुछ भी निमित्त न मिलनेपर भी पका हुआ खेत सूखता ही है। फिर वह टिक नहीं सकता। ऐसे और भी बहुत उदाहरण हैं। इसलिये विक्रियाको ही वस्तुका स्वभाव मानना चाहिये। विक्रियाके सिवा क्षणभर भी ध्रौव्य स्वभाव स्वतंत्र नहीं रह सकता है और निराला ध्रौव्य देखनेमें भी नहीं आता है। इसलिये विक्रिया ही वस्तुका स्वभाव है, ध्रौव्य नहीं। यह मत बौद्धोंका है; और ध्रौव्यको माननेवाले वेदांती तथा सांख्य हैं। नैयायिक ऐसा है कि आकाशादि कुछ पदार्थोंको केवल नित्य ही मानता है और पृथ्वी आदिको कारण दशामें नित्य व कार्यदशामें अनित्य मानता है। इस प्रकार हमारे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणमें निरनिराले लोगोंकी निरनिराली शंकाऐं तथा विरुद्ध मत हैं।

हम इसका उत्तर ऐसा देते हैं कि कोई भी वस्तु न केवल ध्रुव ही है और न क्षणिक-पर्यायरूप ही है । प्रत्येक वस्तु ध्रुव भी है और अध्रुव भी है। देखनेसे वस्तुस्वभावकी परीक्षा सहज हो सकती है। जो वस्तु जिस प्रकारका दीखता हो उसे वैसा ही मानना चाहिये । विशेषतासे देखते हैं तो वही वस्तु विशेष तरहका भासता है। सामान्यतासे देखते हैं तो वही वस्तु सामान्य भासने लगता है। अथवा जब पूर्वापर पर्यायोंका विचार छोडकर देखते हैं तो वस्तु ध्रुव दीखता है। जब पूर्वापर पर्यायोंपर लक्ष्य देते हैं तो पर्याय या क्षणिकरूप ही भासने लगता है। इसीलिये वस्तुओंको क्षणिक भी मानना चाहिये और ध्रुव भी मानना चाहिये। एक घटको जब हम सामान्य दृष्टिसे देखते हैं तो कपालादि तथा माटी आदि पूर्वोत्तर अवस्थाओंसे उस घटमें कुछ भी विशेषता नहीं भासती। उस समय हम यही कहते हैं कि घट भी एक माटी है और कपाल भी एक माटी है। इसीलिये कपाल तथा घटमें परस्पर कुछ भी अंतर नहीं है। जब हम विशेषतासे या पर्यायदृष्टिसे देखते हैं तब घट तथा कपालमें अंतर मानने लगते हैं। उस समय हम कहते हैं कि घट, कपाल एक नहीं हैं। इसकेलिये प्रमाण देते हैं कि दोनोंके नाम भिन्न हैं, लक्षण[1] भिन्न हैं। वस्तु एक ही हो तो उसके लक्षण दो नहीं हो सकते और प्रयोजनमें भी अंतर नहीं रह सकता है। घटमें जो हम पानी भर सकते हैं वह प्रयोजन कपालसे सधता नहीं है। यदि ये दोनो एक होते तो कपालसे पानी भरनेका काम निकलना चाहिये था। बस, इसीलिये घट कपाल परस्पर भिन्न हैं। ये एक ही माटीके पर्याय हैं। परंतु भिन्न प्रयोजनसाधक[2] होनेसे दोनों सत्य हैं। इस प्रकार माटीकी दृष्टिसे घट व कपाल ध्रुव हैं और घट—कपालकी दृष्टिसे अध्रुव हैं। माटी भी उसीको कहते हैं, घट—कपाल भी उसीको कहते हैं। इसलिये घट—कपालको ध्रुवाध्रुवरूप माननेमें हानि नहीं है। अध्रुवको पर्याय या उत्पाद—व्यय कहते हैं। इसलिये घट—कपाल उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सिद्ध हुए। इसी प्रकार सर्व वस्तु ध्रुवाध्रुवरूप हैं।

जो केवल क्षणिक या पर्यायरूप वस्तुको मानते हैं उनके कथनमें निराधारताका दोष लगता है। ध्रुव आश्रयको न मानकर केवल पर्यायको वस्तुस्वरूप कहें तो बीज तथा वृक्षका कुछ भी संबंध सिद्ध नहीं होगा। जिनका संबंध ही कुछ परस्परमें न हो वे एक दूसरेके अधीन नहीं रह सकते हैं। इसीलिये बीजके बिना भी वृक्ष उत्पन्न होना चाहिये। परंतु होता नहीं है। इसीलिये, बीजका वृक्षके साथ सामान्यरूप संबंध मानना पडता है। वह सामान्यरूप ऐसा है कि बीज—वृक्ष

१ संज्ञासंख्यालक्षणप्रयोजनादिभेदात् भेदः। २ अर्थक्रियाकारित्वं (प्रयोजनसाधकत्वं) हि वस्तुनो वस्तुत्वं।

इन दोनों अवस्थाओंमें शाश्वत रहता है। इसीलिये उसे नित्य या ध्रुव माननेकी आवश्यकता है।

इससे उलटा यह भी नहीं कह सकते हैं कि अध्रुवको न मानकर केवल ध्रुव ही मानलेना चाहिये। क्योंकि, केवल ध्रुव माननेसे पर्याय बदलनेका सामर्थ्य सर्वथा माना ही नहीं जा सकता। और अतएव पदार्थोंका स्वरूप सदा एकसरीखा रहने लगेगा। परंतु यह संभव नहीं है। माटीसे घट पर्याय बदलता है और घटसे कपाल, शर्करा आदि पर्याय बदलते जाते हैं। इसलिये केवल ध्रुव मानना भी ठीक नहीं है।

इस प्रकार कथंचित् ध्रुवाध्रुव होनेसे उत्पादव्ययध्रौव्य—स्वरूपकी सिद्धि होती है। यहांपर एक यह शंका होना संभव है कि उत्पाद जब होता है तब व्यय नहीं होता और जब किसीमें व्यय होता है तब उत्पाद नहीं होता। इसलिये किसी एक समयमें व्ययोत्पाद, ये दोनो संभव नहीं होसकते हैं। अतएव लक्षण व्ययध्रौव्य तथा उत्पादध्रौव्य ऐसे भिन्न भिन्न समयोंकी दृष्टिसे दो क्यों न मानने चाहिये ?। इसका उत्तर:—

व्ययोदय, ये दोनो प्रत्येक समयमें रहते हैं और युगपत् रहते हैं। देखिये, घटनाशके समयमें ही यदि कपालोत्पाद न हो तो माटीकी या उस घटनाशकी अवस्था निराकार होजायगी। क्योंकि, पूर्वाकारका नाश है और उत्तराकार आगे होगा। इसलिये एक भी आकार व्ययके समयमें नहीं रहा। जो निराकार या निर्विशेष है अथवा जिसकी कोई अवस्था सिद्ध नहीं है उसे अवस्तु मानना न्याय्य है। इस प्रकार उत्पाद व व्ययका कालभेद मानना मानो व्ययके समय वस्तुका अभाव करदेना है। परंतु सत्का अभाव मानना न्यायविरुद्ध है। अतएव ऐसा मानना ठीक होगा कि जब किसी वस्तुमें किसी पूर्वावस्थाका व्यय होता है तभी उत्तरावस्थाका उत्पाद होता है। इस प्रकार उत्पाद व्ययको युगपत् मानना युक्तियुक्त हुआ। सूक्ष्म परिवर्तनकी तरफ देखें तो कुछ न कुछ सदा ही परिवर्तन होना सिद्ध होगा। इसलिये वस्तुका उक्त लक्षण त्रिकालाबाधित होसकता है।

उत्पादलक्षण—

द्रव्यस्य स्यात् समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च। भावान्तरपरिप्राप्तिर्निजां जातिमनुज्झतः ॥ ६ ॥

अर्थ—चेतन अथवा अचेतन किसी पदार्थमें उत्तर किसी अवस्थाका प्रादुर्भाव होना—यही द्रव्यका उत्पाद है। प्रत्येक उत्पादके होते हुए भी पूर्वकालसे चलाआया हुआ जो स्वभाव या स्वजाति है वह कभी छूट नहीं सकती। इसीलिये जैन सिद्धांतके अनुसार जो उत्पाद होता है वह बौद्धोंके उत्पादकी भांत निरन्वय नहीं है।

व्ययलक्षण—

स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि। विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते ॥ ७ ॥

अर्थ—स्वजाति या मूल स्वभावको नष्ट न करते हुए जो चेतनाचेतन वस्तुओंमें पूर्वावस्थाका विनाश होना है वही व्यय समझना चाहिये। बौद्ध सर्वथा नाश मानते हैं, वे लोग मूल स्वभावको कायम नहीं मानते। इसलिये जैन सिद्धांतसे वह सिद्धांत विरुद्ध है।

ध्रौव्यलक्षण—

समुत्पादव्ययाभावो यो हि द्रव्यस्य दृश्यते। अनादिना स्वभावेन तद् द्रव्यं ब्रुवते जिनाः ॥८॥

अर्थ—अनादि कालसे लेकर कायम रहने वाले मूल स्वभावका जो व्यय तथा उत्पाद होता नहीं दीखता उसीको जिन भगवान् ध्रौव्य कहते हैं।

गुण—पर्याय—द्रव्यके लक्षण—

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया। द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात् समुदायस्तयोर्द्वयोः॥९॥

अर्थ—किसी द्रव्यमें शक्तिकी अपेक्षासे भेद कल्पित करना, यही गुण—शब्दका अर्थ है। जैसे अखंड एक घटमें रूप रसादिक अनेक भेद ठहराना। यही घटकी गुण—अवस्था समझनी चाहिये। द्रव्यमें जो विकार उत्पन्न होता है अथवा जो अवस्था बदलती है—उसीका नाम पर्याय है। इन गुणपर्यायोंके शाश्वत अपृथक् संबंधसे जो मिश्रित कल्पना होती है उसी मिश्रणको द्रव्य कहते हैं। अयुत शब्दका 'तादात्म्य संबंध' ऐसा अर्थ होता है। पर्याय व गुणोंमें परस्पर तादात्म्य संबंध माना जाता है। एक दूसरेका परस्परमें जो तन्मय होकर रहना है उसीको तादात्म्य कहते हैं। पर्याय व गुणोंमें परस्पर यही संबंध होता है। इसीलिये वे कभी जुदे जुदे नहीं होते। केवल सामान्य विशेषताके कारण उनका भेद समझमें आता है। इसीलिये गुण—पर्यायोंको परस्परमें केवल संबंधी न मानकर कथंचित् अभिन्न भी कहते हैं।

गुण—पर्याय—शब्दका अर्थ—

सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः। व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः॥१०॥

अर्थ—सामान्य, अन्वय, अनुवृत्ति, उत्सर्ग, विधि, शक्ति इत्यादि शब्दोंका अर्थ गुण होता है। व्यतिरेक, भेद, व्यावृत्ति, परिणाम इत्यादि शब्दोंका अर्थ पर्याय होता है।

द्रव्य से गुणोंका अभेद—

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः। द्रव्यस्य च गुणानां च तस्माद्व्यतिरिक्तता ११

अर्थ—गुणोंके विना द्रव्य नहीं हो सकता और द्रव्यके सिवा एकाकी गुण नहीं रहते। इसलिये द्रव्य व गुणोंको परस्पर अभिन्न माना जाता है।

पर्याय—द्रव्यका अभेद—

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः। वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः॥ १२ ॥

अर्थ—पर्यायके विना द्रव्य दीख नहीं पडता और द्रव्यके विना पर्याय भी नहीं हो सकते हैं। इसलिये आचार्य द्रव्य-पर्याय, इन दोनोंको भिन्न भिन्न न मानकर अनन्यभूत मानते हैं।

उत्पाद—व्ययकी सत्यार्थता—

नच नाशोस्ति भावस्य न चाभावस्य संभवः। भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च ॥ १३ ॥

अर्थ—सत् वस्तुका अभाव होना असंभव है और असत्का सद्भाव होना असंभव है। इसलिये व्ययका अर्थ 'नाश' तथा उत्पाद-शब्दका अर्थ 'असत्का प्रादुर्भाव' ऐसा नहीं करना चाहिये। किंतु ऐसा अर्थ मानना चाहिये कि पदार्थ अपने पर्याय तथा गुणोंमें व्ययोत्पाद करते हैं। इसीको भूत्वा-भवन अर्थात् होकर होना ऐसा भी कहते हैं। भूत्वा-भवन शब्द बोलनेसे जो व्ययोत्पादका सत्—नाश तथा असत्—उत्पाद ऐसा अनर्थ करनेरूप विपर्यास होना संभव था वह नहीं रहता। क्योंकि, होकर होना—ये पूर्वोत्तर दोनो क्रियाएं एक पदार्थाश्रित हो सकती हैं। इसलिये जो पहिले हुआ था वही अब भी होता है, ऐसा भूत्वा भवन—शब्दका अर्थ मानना उचित है। अर्थात् अवस्थाओंका परिवर्तन अवश्य होता है तो भी किसी भी सत्का नाश नहीं होता और न किसी असत्का प्रादुर्भाव ही होता है।

१ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत । इति स्मृतिकारा । २ 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा' यह व्याकरणका वचन है । क्त्वा प्रत्यय करते समय पूर्व क्रियाका भी कर्ता वही होगा जो कि उत्तरका है।

सभी गुणोंके परिवर्तनको यद्यपि पर्याय कह सकते हैं परंतु यहा ऐसा नहीं किया है। यहां द्रव्यकी आकृति बदलनेको पर्याय कहते हैं और शेष गुणोंको या गुणोंके पर्यायोंको 'गुण' शब्दसे कहते हैं। इसीलिये पर्याय तथा गुण, इन दोनोंमें व्ययोत्पादका वर्णन किया है।

द्रव्योंकी नित्यता—

द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भावान्न व्ययन्ति यत्। प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते॥१४॥

अर्थ—पूर्वोक्त सभी द्रव्य अपने अपने मूल स्वभावोंसे कभी च्युत नहीं होते। इसीलिये द्रव्योंको नित्य कहते हैं। द्रव्योंके मूल स्वभावोंकी परीक्षा करनेका उपाय यह है कि जो एकत्वप्रत्यभिज्ञानको उत्पन्न कर सकते हों वे ही मूल स्वभाव हैं और उन्हें नित्य मानना चाहिये।

प्रत्यभिज्ञान परोक्षज्ञानका एक प्रकार है। इसका स्वरूप पीठिकामें मतिज्ञानका वर्णन करते समय कह चुके हैं। प्रथमानुभवका स्मरण होनेपर तथा वर्तमान किसी वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेपर जो दोनो ज्ञानोंके विषयोंमें किसी प्रकारका संबंध जोडना है वह तृतीय ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहाजाता है। सादृश्य–प्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य–प्रत्यभिज्ञान, एकत्वप्रत्यभिज्ञान, इत्यादि अनेकों उसके भेद हैं। यहांपर जो नित्यता कायम करानेवाला प्रत्यभिज्ञान कहागया है वह केवल एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। किसी एक ही वस्तुको प्रथम देखा हो और फिर भी वही देखनेमें आवे तो प्रथमानुभवका स्मरण होते ही ऐसा संकल्प उत्पन्न होता है कि अमुक जो चीज प्रथम देखी थी वही यह है। यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान, पूर्वोत्तर पर्यायोंको भिन्न माननेसे, नहीं हो सकता है। परंतु होता अवश्य है। इसलिये जहां ऐसा एकत्वप्रत्यभिज्ञान हो वहां मानना चाहिये कि उन पूर्वोत्तर पर्यायोंमें कोई मूल स्वभाव शाश्वत है, इसीलिये एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है। यह नित्यताकी सिद्धि हुई।

द्रव्योंके अपरिहार्य भेद—

इयत्तां नातिवर्तन्ते यतः षडिति जातुचित्। अवस्थितत्वमेतेषां कथयन्ति ततो जिनाः॥१५॥

अर्थ—द्रव्योंके जो मूल भेद छह किये गये हैं और उत्तर भेद जिसके जितने किये गये हैं उनकी मर्यादाका भंग कभी नहीं हो सकता। इसीलिये सर्व द्रव्य ज्योंके त्यों बने रहते हैं, ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। ज्योंके त्यों कायम रहनेका नाम अवस्थित है। द्रव्योंको इसीलिये अवस्थित कहते हैं।

अवस्थित तथा नित्य शब्दका अर्थ एक ही है परंतु सूत्रकारादिक द्रव्योंको नित्य भी कहते हैं और अवस्थित भी कहते हैं। वह इसलिये कि, जिस प्रकार एक एक द्रव्यमें कालक्रमसे अनेक पर्याय होते हैं तो भी द्रव्य शाश्वत माना जाता है, इसी प्रकार एक द्रव्य स्वयं किसी दूसरे द्रव्यमय यदि हो जाय तो वह जुदा नहीं रहेगा तो भी सत्का निरन्वय नाश शायद न कहा जा सकेगा। क्योंकि, जिस द्रव्यमें वह लीन हुआ था वह अभी कायम है। ऐसा होनेसे द्रव्योंकी संख्या निश्चित करना कठिन हो जायगा और वास्तविक सत्ता कदाचित् किसी एकाद द्रव्यकी ही रह जायगी। जिस प्रकार वस्तुगत पर्यायोंकी सर्वकालिक संख्या ठहराना कठिन है उसी प्रकार द्रव्योंकी अवस्था भी होगी। परंतु जिन भगवानका उपदेश ऐसा है कि द्रव्योंकी मूलोत्तर संख्या सदा कायम रहती है। न्यायसे भी यही सिद्ध होता है। यदि द्रव्यान्तरोंमें भी परिवर्तन होने लगा तो नाना विरुद्ध कार्योंकी उत्पत्तिका वास्तविक कारणभेद सिद्ध न होसकेगा। परंतु कारणभेदके विना कार्यगत भेद मानना न्यायविरुद्ध है। कार्यकी सत्ता दीखनेसे कारणको सत्रूप मानना, यह जैसा न्याय है वैसा ही कार्यभेदसे कारणका भेद मानना भी न्याय है। वेदान्ती लोग कार्यसत्तासे कारणसत्ताका होना मानकर भी कार्यभेदसे कारण—भेदकी कल्पना नहीं करते।[1] यह उनकी भूल है। जैन सिद्धांतमें कार्यसत्तासे कारणसत्ताके न्यायको नित्य-विशेषणद्वारा स्वीकार किया है और कार्यभेदसे कारणभेदके न्यायको अवस्थित-विशेषण देकर स्वीकार किया है। दोनो विशेषणोंका[2] यह जुदा जुदा फल समझना चाहिये।[3]

द्रव्यों की मूर्तामूर्तत्वव्यवस्था—

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धात्यन्तव्युदासतः। पञ्चद्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः ॥१६॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, आत्मा ये पांच द्रव्य शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—गुणोंसे सर्वथा शून्य हैं। इसलिये इन्हें अरूपी तथा अमूर्तीक कहते हैं। पुद्गल द्रव्यमें ये पांचो गुण रहते हैं। इसलिये पुद्गलोंको रूपी तथा मूर्तीक कहते हैं। रूपादि गुणोंका नाम ही मूर्ति है।

---

१ 'नाभाव उपलब्धेः' यह ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्यायमें है। वे सर्व उत्पत्तिका एक ब्रह्मको कारण मानते हैं, यह शांकर सिद्धांत प्रसिद्ध ही है। २ दोनों विशेषणोंमेंसे बौद्ध एक भी नहीं मानते और वेदान्ती एक मानते हैं किंतु हम दोनो मानते हैं। ३ जो फल अवस्थित विशेषणका है वह अगुरुलघु गुणद्वारा पूरा हो सकता है।

द्रव्योंमें उत्तर भेदोंका निश्चय—

धर्माधर्मान्तरिक्षाणां द्रव्यमेकत्वमिष्यते। कालपुद्गलजीवानामनेकद्रव्यता मता॥ १७ ॥

अर्थ–धर्म, अधर्म, आकाश ये तीनो द्रव्य ऐसे हैं कि सर्वत्र अखंड रूपसे व्यापक हैं। आकाश है वह सर्वत्र एक ही है। धर्माधर्म भी सर्वत्र एकेक ही हैं। परन्तु जीव, पुद्गल, काल–ये तीन द्रव्य अनेक उत्तर भेद रखने वाले हैं। आकाशादिकी भांत सर्वत्र एक ही जीव नहीं है। भिन्न भिन्न शरीरो में तो भिन्न भिन्न हैं ही परन्तु एक एक स्थानमें कहीं कहींपर अनंतों अनंतों जीव रहते हैं। यही अवस्था पुद्गलकी है। पुद्गल द्रव्य भी अनंतों हैं। काल द्रव्यके परमाणु एक एक जगह-में एक एक ही हैं। तो भी कालकी सर्व संख्या असंख्यात है। इस प्रकार तीन द्रव्योंकी अनेक अनेक संख्या रहते हुए भी केवल छह द्रव्य इसलिये कहे गये हैं कि सामान्य छह लक्षणोंमें सभीका अन्तर्भाव हो जाता है।

चलनशक्तिका निश्चय—

धर्माधर्मौ नभः कालश्चत्वारः सन्ति निष्क्रियाः। जीवाश्च पुद्गलाश्चैव भवन्त्येतेषु सक्रियाः॥१८

अर्थ–छह द्रव्योंमेंसे इधर उधर हलनेकी क्रिया जीव तथा पुद्गल इन दो द्रव्योंमें ही रहती है। शेष, धर्म्म-अधर्म, आकाश, काल–ये चार द्रव्य केवल स्थिर हैं। इनमेंसे कभी कोई भी इधर उधर हल नहीं सकता है।

द्रव्योंकी प्रदेशसंख्या—

एकस्य जीवद्रव्यस्य धर्माधर्मास्तिकाययोः। असंख्येयप्रदेशत्वमेतेषां कथितं पृथक्॥ १९ ॥

अर्थ–एक एक जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या असंख्यात है। धर्माधर्मके प्रदेश भी असंख्यात असंख्यात हैं। तीनोंकी असंख्यात–संख्या समान है। जितनी लोकाकाशकी संख्या है उतनी ही इनकी है।

संख्येयाश्चाप्यसंख्येया अनन्ता यदि वा पुनः। पुद्गलानां प्रदेशाः स्युरनन्ता वियतस्तु ते॥२०॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्यके परमाणु स्कन्ध, ये प्रकार माने जाते हैं। जिसमें फिर विभाग नहीं हो सकता हो उस सूक्ष्म पुद्गलको परमाणु कहते हैं। वैसे अनेक परमाणु इकट्ठे होनेसे जो पिण्ड हो चुका हो उसे स्कन्ध कहते हैं। निमित्तोंके मिलनेपर परमाणुओंसे पिण्ड और पिण्डसे परमाणुओंकी अवस्था बदलती रहती है। परमाणु पुद्गलोंमें पुनर्विभाग नहीं हो

सकता है। इसलिये उनमें अन्तर्गत अवयवोंकी या प्रदेशोंकी कल्पना नहीं हो सकती है। और जो स्कन्ध है उनमें प्रदेशोंकी संख्या मानी गई है। कोई पुद्गल—स्कन्ध संख्यात प्रदेशवाले होते हैं, कोई असंख्यात व कोई अनन्तवाले। प्रदेश व परमाणुओंमें आकारसे तो कुछ अन्तर पडता नहीं है। परंतु अन्तर यह है कि जब जुदे जुदे रहते हैं तब परमाणु नाम रहता है। जब मिले हुए हों तब प्रदेश नाम होता है। प्रदेशका अर्थ अतिसूक्ष्म अवयव है। परमाणुका अर्थ केवल अति सूक्ष्म स्वतंत्र वस्तु, ऐसा होता है। प्रदेश शब्द विशेषणवाची है और परमाणु विशेष्यवाची है। किसी वस्तुमें प्रदेशोंकी मर्यादा देखनी हो तो परमाणुओंकी मर्यादासे ही मालूम हो सकती है। परंतु बद्ध अवस्थामें परमाणु कहनेकी रूढि नहीं है। परमाणुमें अंतर्भेद नहीं होते इसलिये उसे अप्रदेशी कहते हैं। परंतु परमाणु भी होता प्रदेशमात्र ही है। पुद्गलके सिवा अन्य किसी भी द्रव्यमें पुद्गलकीसी मिलनशक्ति नहीं है। आत्मा भी अशुद्ध होकर पुद्गलोंमें मिलता है परंतु तभी तक, जबतक कि पुद्गलसे सर्वथा जुदा न हो पाया हो। परंतु पुद्गल परमाणुतक शुद्ध हो जानेपर भी फिर मिलजाता है।

आकाश लोकालोकमें सर्वत्र व्याप्त है। उसके प्रदेश या सूक्ष्म अवयव देखें तो अनन्तानन्त हैं। परंतु केवल लोकाकाशके असंख्यातमात्र ही हैं। उतनेही एक एक जीवके प्रदेश बताये गये हैं।

पुद्गल द्रव्यके स्कन्धोंकी उत्पत्ति परमाणुओंके मिलनेपर होती है। और टूटने फूटनेपर परमाणु प्रगट हो जाते हैं। इसलिये स्कन्धोंमें प्रदेश मानना तो ठीक है परंतु जिन कालादिकोंमें प्रदेशोंका प्रादुर्भाव ही जुदा कभी नहीं होता उनमें प्रदेश क्यों माने जाते हैं ?

उत्तर—प्रदेशोंकी कल्पना इसलिये नहीं कीगई है कि वे जुदे होने ही चाहिये अथवा प्रथम जुदे हों। तो ? इसलिये कि लंबाई चौडाई आदिका ज्ञान हो। एक पुद्गलका परमाणु तथा एक हाथभर चौडी पत्थरकी शिल, इन दोनोंकी चौडाई आदिका अंतर, यदि प्रदेशकल्पना न की जाय तो, किस प्रकार जाना जा सकता है ? जिस प्रकार हाथ गज इत्यादि किसी चीजको नापनेके साधन है उसी प्रकार प्रदेशकल्पना भी एक एक अवयवसंख्या समझनेका साधन है। हाथ गज इत्यादि मोटे साधन हैं और प्रदेश सबसे छोटा साधन है। जब कि परमाणुकी अपेक्षा एक हाथ लंबी शिलमें लंबाई अधिक है तो वह कितनी अधिक है, यह प्रश्न परमाणुओंसे मीजान लगानेपर ही दूर होसकता है। भावार्थ, उसकी लंबाईपर जितने परमाणु क्रमसे रक्खे जासकते हों उतने ही उसकी लंबाईमें प्रदेश होंगे, यह उत्तर होजाता है। यदि घनफलके

परमाणुओंकी संख्या जोडली जाय तो सर्व उस शिलके प्रदेश जाने जासकते हैं। यदि इस प्रकार प्रदेशकल्पना वस्तुओंमें नहीं की जायगी तो परमाणु तथा परमाणुसे अधिक वडी वस्तुमें अंतर ही क्या रहेगा। वस, यही प्रदेशकल्पना करनेका प्रयोजन है। जवतक यह प्रयोजन सत्य है तवतक प्रदेशकल्पनासे सिद्ध हुए किसी वस्तुके प्रदेश भी सत्य ही मानने चाहिये।

यह प्रदेशकल्पनाके द्वारा जो प्रदेशसिद्धि हुई वह जैसी एक पुद्गल स्कन्धमें सत्य है वैसी ही आकाशादिक सतत अखंड पदार्थोंमें भी सत्य ही माननी चाहिये। क्योंकि, वर्तमानमें जैसा पुद्गल स्कन्ध अखंड है वैसे ही आकाशादिक भी अखंड हैं। जव कि स्कन्धमें परमाणु वद्ध होकर एकमय हो जाते हैं तभी स्कन्ध नाम प्राप्त होता है। इसलिये पूर्वोत्तर कालमें परमाणु जुदे जुदे रहनेके कारण केवल इस समयके स्कन्धमें प्रदेशकल्पना नहीं माननी चाहिये, नहीं तो, वर्तमानमें भी वह स्कन्ध एक नहीं ठहरसकेगा और उसकी अधिक मोटाई भी नहीं ठहर सकेगी। यह दोष हटानेकेलिये जव कि अखंड स्कन्धमें प्रदेश माने जासकते हैं तो आकाशादिकोंमें माननेसे क्या हानि है?

प्रदेशकल्पना कहांपर नहीं है?—

कालस्य परमाणोश्च[1] द्वयोरप्येतयोः किल। एकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वमिष्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—काल भी छह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य है। कालके दो प्रकार माने हैं, एक व्यवहार, दूसरा निश्चय। कालके निमित्तसे प्रत्येक द्रव्यपर्यायमें जो उत्पन्न होनेवाली भूत भविष्यत् वर्तमान रूप तथा समय घडी मुहूर्त आदि रूप कल्पना, उसको व्यवहार काल[2] कहते हैं। जो भूत भविष्यत् आदि कल्पनाएं उत्पन्न करनेका मूल कारण है उसे निश्चय काल कहते हैं। इनमेंसे जो निश्चय काल तथा पुद्गलद्रव्यके परमाणु हैं, उनका एक एक प्रदेश मात्र स्वरूप है। प्रत्येक कालका एक एक परमाणु जुदा जुदा है। एक दूसरेमें कोई भी कालाणु मिलकर अखंड एक द्रव्यरूप नहीं होता और न अनादिसे ही रहा है। इसलिये काल सदा ही एकप्रदेशमात्र है। उसके अंतर्गत प्रदेशकल्पना नहीं होती। इसलिये उसे अप्रदेशी कहते हैं। स्वयं यद्यपि प्रदेशमात्र है तो भी उसे प्रदेश नहीं कह सकते हैं। प्रदेश वह कहा जासकता है जो कि किसी वडे पदार्थका एक सूक्ष्म अंश हो। कालमें परम अणु अवस्था स्वयं है। इसलिये वह एक अणु रहनेपर भी प्रदेश या प्रदेशयुक्त कहनेमें

---

१ 'कालस्य परिमाणस्तु' ऐसा छपी हुई पुस्तकमें पाठ है, परन्तु हम उपर्युक्त पाठ को ही ठीक समझते हैं। २—व्यवहारकाले कालव्यपदेशो गौण भूतादिव्यपदेशो मुख्य। निश्चयकाले तु भूतादिव्यपदेशो गौण कालव्यपदेशो मुख्य। तयोः कालकृतत्वाद् द्रव्यान्तरापेक्षकृतत्वाच्च (सर्वार्थसिद्धिः)।

नहीं आता है। पुद्गलोंके परमाणुओंकी भी यही बात है। वे जब जुदे जुदे स्वतंत्र रहते हैं तब स्वतः एक प्रदेशमात्र हैं। इसलिये अप्रदेशी कहे जाते हैं। व्यवहार कालको भी काल कहते हैं परंतु प्रत्येक द्रव्यके कालकृत पर्यायका नाम व्यवहार काल है। वे पर्याय अपने अपने द्रव्योंमें सुमार हो जाते हैं। वह कोई जुदा काल नामक द्रव्य नहीं है जिससे कि उसका अप्रदेश आदि विशेषणों द्वारा वर्णन करें। इसीलिये उसको काल कहना भी अमुख्य है। उसे केवल भविष्यत् आदि तथा घटिका आदि नामोंसे कहना ही वास्तविक है।

कुछ लोग वस्तुगत क्रियाओंको ही काल कहते हैं। वे निश्चयकाल को जुदा नहीं मानते हैं। परंतु वास्तवमें एक जुदा काल द्रव्य होना ही चाहिये। नहीं तो जगत्मेंसे कालका नाम ही नष्ट हो जाना चाहिये। मुहूर्तादिक जो कालके नाम हैं वे विना एक स्वतंत्र कालद्रव्यके[3] नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार 'देवदत्त' यह एक स्वतंत्र नाम रहते हुए भी उसको जो दंडी कहें तो वह दंडी नाम एक देवदत्तकी अपेक्षासे नहीं हो सकता किंतु संबंध रखनेवाला दंड भी वहां मानना ही पडता है। इसी प्रकार मुहूर्तादि साध्य पर्यायोंके 'घटादि' ये नाम स्वतंत्र रहते हुए भी मुहूर्तादि नाम, विना अन्यसंबंधके नहीं कहे जा सकते हैं। इसीलिये मुहूर्तादि विशेषण उत्पन्न करनेवाला काल एक स्वतंत्र जुदा भी अवश्य मानना ही उचित है। नहीं तो कालवाचक नामोंका व्यवहार निराधार होजायगा।

द्रव्य रहनेका क्षेत्र—

लोकाकाशेऽवगाहःस्याद् द्रव्याणां न पुनर्बहिः। लोकालोकविभागः स्यादत एवाम्बरस्य हि॥२२

अर्थ—लोकाकाशके भीतर ही सर्व द्रव्योंका ठहरना है। अथवा द्रव्यें जितने आकाशमें ठहरी हुई हैं उसीका नाम लोकाकाश है। उससे वाहिर कभी भी द्रव्यें नहीं जातीं और न रहतीं ही हैं। इसीलिये आकाशके, लोक व अलोक, ये

१ यथा वृक्षपङ्क्तिमनुसरतो देवदत्तस्य एकैकतरुं प्रति प्राप्त प्राप्नुवन् प्राप्स्यन्निति व्यपदेशस्तथा तत्कालाणूननुसरता द्रव्याणां क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवता भूतवर्तमानभविष्यद्व्यवहारसद्भावः। तत्र परमार्थकाले भूतादिव्यपदेशो गौणः, व्यवहारकाले मुख्यः। (इति वार्तिकालंकारे)।

२ क्रियामात्रमेव कालस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न, कालाभिधानलोपप्रसंगात्। ३ समय उच्छ्वासो निश्वासो मुहूर्त इति स्वसंज्ञाभिर्निरूढानां काल इत्यभिधानमकस्मान्न भवति। ४ यथा देवदत्तसंज्ञया निरूढे पिण्डे दण्डयभिधानमकस्मान्न भवतीति दण्डसंबन्धसिद्धिः। तथा कालसिद्धिरपि (इति वार्तिकालंकारे)।

विभाग मान लिये गये हैं। वास्तविक आकाश दोनों जगहका एकसा ही है परंतु इतर द्रव्योंके रहनेकी मर्यादा होजानेसे उतने आकाशका जुदा नाम पड गया है।

धर्माधर्मकी अवगाहना का परिमाण—

लोकाकाशे समस्तेपि धर्माधर्मास्तिकाययोः। तिलेषु तैलवत्प्राहुरवगाहं महर्षयः ॥ २३ ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्योंका समस्त लोकाकाशमें, तिलोंमें तेलकी भांत, रहना है। आकाशका एक अंश भी इन दोनों द्रव्योंसे रहित नहीं है। ऐसा महर्षी योगी केवली भगवान् कहते हैं।

जीवकी अवगाहना का परिमाण—

संहाराच्च विसर्पाच्च प्रदेशानां प्रदीपवत्। जीवस्तु तदसंख्येयभागादीनवगाहते ॥ २४ ॥

अर्थ—लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर जीवके भी प्रदेश हैं परंतु जीन शरीरादिजनक कर्मोंके वश शरीरके भीतर ही रहता है। प्रत्येक जीवकी यही अवस्था है। एक शरीर छूटता है तो दूसरा शरीर एक दो समयके भीतर ही मिल जाता है। इसलिये जीव शरीरके बाहिर न रह कर सदा भीतर ही रहता है। शरीरोंका आकार एकसा नहीं होता इसलिये जैसा जिस समय शरीर मिलता है वैसा ही उस समय अपने आकारको पूर्वकी अपेक्षा कुछ संकोच या विस्तार करके जीव शरीराकार हो जाया करता है। यदि कोई जीव मुक्त हो तो भीजे हुए कपडेकी तरह जैसे शरीरके आकारमेंसे छूटना है वैसा ही सदाकेलिये रह जाता है।

शरीरोंमें प्रवेशकर रहनेकेलिये कर्मोंका उदय तो निमित्त कारण है ही परंतु जीवोंमें स्वयं शक्ति भी ऐसी होनी चाहिये कि जिससे संकोच व विस्तार वह कर सके। यदि स्वयं शक्ति न हो तो केवल निमित्त क्या कर सकता है?

निमित्त मिलनेपर संकोच व विस्तार होना असंभव बात नहीं है। पुद्गलोंमें भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं। देखिये, दीपक यदि खुली जगहमें रक्खा हो तो उसके प्रकाशका परिमाण नहीं हो सकता है। परंतु वही दीपक एक घडेके भीतर रख दिया जाय तो सर्व प्रकाश उसीके भीतर आ जाता है। यदि घडेमेंसे निकालकर एक घरमें रख दिया जाय तो घरभरमें प्रकाश पसर जाता है। इसी प्रकार शरीरोंके वश जीवोंका संकोच विस्तार होता रहता है।

१ ऐसा माने तो पुद्गलस्कन्धोंकी भांत जीवके अवयव भी कदाचित् टूटते फूटते रहते होंगे? यह शंका अनुचित है। यह बात उसीमें संभव हो

लोकाकाशके प्रदेश भी सर्व असंख्यात हैं और उस असंख्यातसे एक छोटीसी असंख्यात संख्याद्वारा लोकाकाशप्रदेशोंको भाजित करदें तो भाग भी असंख्यात हो जाते हैं। असंख्यात संख्या असंख्यातों प्रकारकी हो सकती है। इसीलिये भाजकसंख्या असंख्यात होकर भाज्य असंख्यात संख्याको विभक्त कर सकती है। और फिर एक एक भागमें भी प्रदेशसंख्या असंख्यात रहती है। जीवोंके एक एक शरीरकी आकृति छोटी वडी अनेक प्रकारकी है। उनमेंसे सवसे छोटा जो शरीर होता है उसे निगोद शरीर कहा है। वह लोकाकाशका असंख्यातवां एक भाग है। उसमें आकाशके प्रदेश असंख्यातों घिर जाते हैं। जब जीवको वह शरीर मिलता है तव उसकी उतनी छोटी अवगाहना हो जाती है। इसके ऊपर एक प्रदेशादिक वढते हुए असंख्यातों प्रकारकी वडी शरीराकृति भी होती हैं। सवसे वडी शरीराकृति एक मच्छकी होती है। उस योनिको जव जीव पाता है तव उतना प्रदेशविस्तार भी करलेता है।

समुद्घातोंके[3] समय तीव्र कषायादि निमित्त उत्पन्न होनेपर जीवका शरीरसे वाहिर भी निर्गमन हो जाता है परंतु वह कदाचित्, और थोडेसे समयोंकेलिये ही होता है। और फिर भी शरीरको एकदम छोड नहीं देता, कुछ आत्मप्रदेश तव भी मूल शरीरमें रहते हैं। मूल शरीरके वाहिर जहांतक वे प्रदेश जाते हैं वहांतक एक दूसरे प्रदेशोंमें परस्पर संबंध बना रहता है। ये प्रदेश पुद्गलकी भांत टूटते नहीं हैं। संकोच होनेपर फिर मूल शरीरमात्र हो जाते हैं। यह सर्व अवगाहनाओंमें परस्पर अनेक भेद दिखाना शरीरोंकी अवगाहनावश है। वास्तवमें प्रदेश संख्याकी तरफ देखें तो प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशी होता है। वे प्रदेश सवोंके एकवरावर होते हैं। वे प्रदेश जव केवल—समुद्घातके समय पसरते हैं तो ठीक लोकके वरावर हो जाते हैं। जव संकोच होने लगता है तो अत्यंत संकोच हो जाता है। परंतु अणुप्रमाण संकोच कभी नहीं होपाता क्योंकि, उतना सूक्ष्म कोई भी शरीर नहीं है।

सकती है जो कि प्रथम कुछ जुदी जुदी चीजोंसे बना हो। जीव अमूर्त, अखड है। केवल प्रदेशोंमें प्रदेश घुस जाते हैं। तो भी प्रदेशोंकी सख्या कम नही होती है। **सावयवत्वाद्विशरणप्रसंग इति चेन्न अमूर्तस्वभावापरित्यागात्। इति घटादिवन्न प्रदेशविशरणम्। किंच, तत्प्रदेशा नामकारणगुणपूर्वकत्वात्।** यस्यावयवा कारणपूर्वकास्तस्यावयवविशरणं भवति। यथा घटस्य। न तथात्मनोऽन्यद्रव्यसघातपूर्वका प्रदेशाः। (इति वार्तिकालंकारे) १ असख्येयस्याविशेषादवगाहाविशेष इति चेन्न, असंख्येयस्यासख्येयविकल्पत्वात्। (वार्तिकालकारे) २ सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि। अगुलअसखभागो जहण्णमुक्कस्सय मच्छे॥ ३ अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा। असमुहदो ववहारा— ४ णिच्छयणयदो असखदेसो वा॥ (द्रव्यसंग्रह)

पुद्गलोंकी अवगाहना का परिमाण—

लोकाकाशस्य तस्यैकप्रदेशादींस्तथा पुनः। पुद्गला अवगाहन्ते इति सर्वज्ञशासनम् ॥ २५ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यकी अवगाहनाके विषयमें सर्वज्ञका उपदेश ऐसा है कि लोकके अन्तर्गत आकाशके एक प्रदेशसे लेकर अवगाहना सुरू होती है और इसके ऊपर असंख्यातों प्रकारकी छोटी वडी अवगाहनाएं मिलती हैं।

पुद्गलका परमाणु तो एक ही आकाशप्रदेशको घेर सकता है परंतु जो स्कन्ध पुद्गल हैं वे एक प्रदेशमें भी रहनेवाले कुछ होते हैं और कुछ एक प्रदेशसे अधिक प्रदेशोंको भी अपनी अवगाहनाओंसे घेरनेवाले होते हैं। यहां यह वात ध्यानमें रखनेकी है कि जितने किसी स्कन्धमें प्रदेश या परमाणु होंगे वह स्कन्ध उतने आकाशप्रदेशोंसे कममें तो रहसकता है परंतु अधिक आकाशको कभी नहीं घेर सकता है। यदि कोई स्कन्ध वहुत अधिक पसरा तो जितने उसमें परमाणु हैं उतने आकाशके प्रदेशोंतक पसर सकता है और संकोच करे तो एक आकाशप्रदेशपर्यंत भी सूक्ष्म हो सकता है। यह बंधनकी विचित्रता है। देखिये, एक तरफ रुई और दूसरी तरफ लोहेका एक टुकडा। बंधकी विचित्रता कहनेमें नहीं आती कि कितनी भांतकी है।

शंका—

एक आकाशप्रदेशमें एक परमाणु या प्रदेश आजाना तो न्याययुक्त है। क्योंकि, जितना सूक्ष्म आकाशका प्रदेश होता है उतना ही सूक्ष्म परमाणु होता है। परंतु अनेक परमाणु या प्रदेश एक आकाश प्रदेशमें समाना संभव कैसे हो सकता है?

उत्तर—

परमाणु अति सूक्ष्म होता है। इसलिये उसमें दूसरे परमाणुओंको वाधा करनेकी शक्ति नहीं रहती है। वहुतसे स्थूल पदार्थ भी ऐसे देखनेमें आते हैं जो कि परस्पर दूसरोंको अपनी जगहमें आते हुए वाधा नहीं करते हैं। देखिये, पानीमें सक्कर डालदेनेसे उसीके भीतर आजाती है। यदि फिर भी थोडीसी राख डाली जाय तो वह भी आजाती है। वर्तनमें, जिसमें पानी भरा होता है उसमें, कोई एक प्रदेश भी पानीके अवयवसे खाली नहीं रह सकता है। तो भी उसमें कुछ सक्कर और ऊपरसे राख क्यों आ जाती है? इसका कारण यही कहना पडता है कि पानीमें उन चीजोंको पुनः स्थान देनेकी शक्ति है। जो पत्थर आदि कुछ ऐसी स्थूल चीजें हैं जो कि अपनी जगहमें दूसरे स्थूल पदार्थों को नहीं आने देतीं

उनमें स्थूलता कारण है। बस, इसीलिये असंख्यातप्रदेशी छोटे आकाशके एकेक प्रदेशमें अनंतों अनंतों पुद्गल तथा शेष द्रव्यें आजाती हैं।

इसका भी कारण यह है कि किसी भी शुद्ध द्रव्यमें किसीको बाधा देनेकी योग्यता नहीं रहती है। जितने पदार्थ एक दूसरेको बाधा देते हैं वे सर्व अशुद्ध द्रव्य हैं। बाधा देनेवाला भी अशुद्ध ही होता है और जो बाधा सहता है वह भी अशुद्ध ही होता है। हॉ, बहुतसी चीजें अशुद्ध होकर भी बाधा नहीं करती हैं परन्तु बाधा करती हैं वे सर्व अशुद्ध ही होती हैं यह इकतर्फा व्याप्ति है। जो बाधा नहीं करती हैं उनमें यों कहना चाहिये कि अभीतक और प्रकारकी अशुद्धताएं उत्पन्न हो जानेपर भी बाधाकरणयोग्य अशुद्धता उत्पन्न नहीं हुई है। बाधाकरणयोग्य अशुद्धता एक प्रकारकी स्थूलताका सहभावी धर्म है। स्थूलताएं असंख्यातों प्रकारकी होसकती हैं। परंतु वे सभी स्थूलताएं बाधक नहीं होती हैं। इसलिये स्थूलताके थोड़ेसे प्रकार ही बाधक मानने चाहिये। देखिये, पानी, सक्कर आदिकी भांत अग्नि, हवा इत्यादिकोंमें भी परस्पर बाधा करनेकी योग्यता नहीं रहती है। हवा चाहे जिसके भीतर समाजाती है। अग्नि एक कठोरसे कठोर लोहके पिण्डमें भी प्रवेश करजाती है।

अब यह देखिये कि जो अनेकों परमाणु परस्पर एक ही जगहमें आकरके ठहर जाते हैं वे किस प्रकारके होते हैं? वे अति शुद्ध होते हैं। जो अशुद्ध स्कन्धोंमें सहस्रशः वैभाविक स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं वे धीरे धीरे, जैसा वह स्कन्ध फूटता टूटता हुआ कम होता जाता है वैसे ही, कम होते जाते हैं। अतिस्थूल एक कोई स्कन्ध जब एक बार फूटता है तभी कमसे कम उसका एक वैभाविक रूप भी नष्ट हो जाता है। ऐसे, स्कन्धके फूटते फूटते वैभाविक पर्याय नष्ट होते जाते हैं। इस प्रकार अंतमें जब परमाणु—अवस्था होजाती है तब एक भी वैभाविक पर्याय उसमें नहीं रहता है। बस, इसीलिये परमाणु किसी दूसरेका बाधक भी नहीं हो सकता है और दूसरोंसे बाध्य भी नहीं हो सकता है। स्थूलताका साधारण लक्षण यह है कि जो इंद्रियग्राह्य हो वह स्थूल मानना चाहिए। शेष सर्व सूक्ष्म मानने चाहिये। यह स्थूल—सूक्ष्मकी मध्यगत सीमा हुई। परस्परमें जो स्थूल सूक्ष्मोंके और भी अनेकों भेद होसकते हैं वे आपेक्षिक मानने चाहिये। जैसे बेलसे आमला सूक्ष्म है और झरबेरसे स्थूल है।

एक आकाशप्रदेशमें अनेक वस्तु—

अवगाहनसामर्थ्यात्सूक्ष्मत्वपरिणामिनः । तिष्ठन्त्येकप्रदेशेपि बहवोपि हि पुद्गलाः ॥ २६ ॥

अर्थ—आकाशमें यह गुण सर्वत्र और सदा विद्यमान ही है कि जो जहां चाहें वह वहां अवस्थान कर ले। अब रही यह बात कि घट-पटादिक सर्व पदार्थ एक ही आकाशस्थानमें क्यों नहीं समाते हैं? इसका उत्तर यह है कि अवकाश देनेवाले आकाशका सामर्थ्य जो अवकाश देना था वह तो कभी कम नहीं होता। हां, जहां स्थूल पदार्थ एक-एकत्र रहता है दूसरा कोई वहां आना चाहे तो, प्रथम पदार्थ उसे रोकता है। यह हुई पदार्थोंकी परस्पर की लडाई। परंतु वह भी केवल स्थूल पदार्थोंकी परस्पर लडाई है। आकाश तब भी किसीको आनेसे नहीं रोकता। पदार्थोंमें भी जो परस्पर अवगाहन न होने देनेका विरोध है वह मात्र स्थूलोंमें है। इसलिये यदि अवगाहन लेनेवाला पदार्थ सूक्ष्म हुआ तो अवरोधक शक्ति उसमें भी नहीं रहती है। इस प्रकार आकाशके एक एक प्रदेशमें यदि बहुतेरे पुद्गल रहें तो रह सकते हैं।

इसकेलिये कोई दृष्टान्त भी है? है, कोनसा?—

एकापवरकेऽनेकप्रकाशस्थितिदर्शनात् । न च क्षेत्रविभागः स्यान्नचैक्यमवगाहिनाम् ॥ २७ ॥

अर्थ—एक किसी घरमें एक दीपकका प्रकाश सर्वत्र व्यापजानेपर भी दूसरे तीसरे दीपकोंका प्रकाश समा जाता है। प्रकाश भी पुद्गल है। प्रत्येक दीपप्रकाशका स्थान जुदा जुदा विभक्त नहीं रहता और अवकाश लेनेवाले प्रकाश-पुद्गल एक भी नहीं हो जाते हैं। प्रकाश अनेकों हैं और क्षेत्र यहां एक ही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी एक एक क्षेत्रमें अनेक पुद्गल समा जाना संभव हो सकता है।

उपसंहार—

अल्पेऽधिकरणे द्रव्यं महीयो नावतिष्ठते । इदं न क्षमते युक्तिं दुःशिक्षितकृतं वचः ॥ २८ ॥

अर्थ—छोटे आधारमें बडा समा नहीं सकता ऐसी शंका ठीक नहीं है। यह शंका केवल अज्ञानवश होती है।

---

१ "परमाणुर्मूर्तिमान् परिच्छिन्नो भवति। द्वाभ्यां चाणुभ्यां पार्श्वद्वये संयुज्यमानस्तयोर्व्यवधानं करोति" इति वैशे० सूत्र चतुर्थाध्यायगद्वितीयसूत्रस्थभाष्य चन्द्रकान्तकृतम्। न चैतत्प्रामाणिक नियामकाभावात् ॥

एक क्षेत्रमें अनेक वस्तु मनानेवाला दूसरा दृष्टांत—

अल्पक्षेत्रे स्थितिर्दृष्टा प्रचयस्य विशेषतः । पुद्गलानां बहूनां हि करीषपटलादिषु ॥ २९ ॥

अर्थ—पुद्गलके परमाणुओंका परस्पर बंधन अनेक भांत होता है। उस बंधनकी ही यह महिमा है कि बहुतसे पुद्गल भी छोटीसी जगहमें समाजाते हैं। इसका उदाहरण करीषपटल है ईंधन है। सुगंधित पुष्पादिक भी इसीके उदाहरण हो सकते हैं। पुष्पके गंधप्रदेश पुष्पके ही भीतर रहनेवाले होते हैं। परंतु वायुके संबंधसे सर्व दिशाओंमें कोसों दूरतक फैल जाते हैं। इसी प्रकार ईंधनका तथा करीष-पटलका बंधन होता है। करीष सूखे हुए गोवरको कहते हैं। उसका पटल छोटीसी जगहमें रहनेवाला होकर भी जब जलाया जाता है तब आकाश मडलभरको धुआं बनकर घेर लेता है। क्या धुआं ईंधनमेंसे ही अथवा करीषमेंसे ही नहीं निकसता है? इसलिये मानना पडता है कि दिङ्मंडलको धुआं बनकर व्यापने वाले सर्वप्रदेश करीषकी तथा ईंधनकी अवस्थामें अल्पक्षेत्रमें ही संकुचित होकर रहा करते हैं। यह सब बंधनकी महिमा है कि थोडेसे आकाशमें अधिक पुद्गल समा सकें। असंख्यात आकाशप्रदेशोंमें अनंतानंत पुद्गल इसी प्रकार रहते हैं।

धर्म-अधर्म-आकाशका उपयोग—

धर्मस्य गतिरत्र स्यादधर्मस्य स्थितिर्भवेत् । उपकारोऽवगाहस्तु नभसः परिकीर्तितः ॥ ३० ॥

अर्थ—धर्म द्रव्यका उपयोग यह है कि सभी जीव तथा पुद्गलोंका गमन उसके आश्रयसे होता है। मच्छियां चलें तो जल प्रेरणा नहीं करता और ठहरें तो भी वह चलानेकी प्रेरणा नहीं करता। वे चलें तो चलो, और ठहरें तो ठहरो। केवल उनकी इच्छापर चलना या ठहरना अधीन है। तो भी जलके सहारे विना वे चल नहीं सकती। इसलिये उनके चलनेमें जलको सहायक माना जाता है। यही बात धर्मद्रव्यकी है। वह उदासीनतासे सबके गमनमें सहायक होता है। वह जहां न हो वहां किसी भी वस्तुका गमन नहीं हो सकता है। इसीलिये लोकालोककी मर्यादा बनी हुई है।

लोक मूर्तिमान् है अत एव अवधियुक्त है। यदि कोई पदार्थ गतिसाधक जुदा न हो तो अवधिसे आगे भी गमन होने लगेगा। यदि लोकवर्ती एक एक वस्तुओंका लोकाकाशके आगे गमन होने लगा तो वस्तुओंकी जो एकत्र शृंखला दीख पडती है वह न रहेगी। क्योंकि, अमर्यादित अलोकमें एक पदार्थ चला गया तो फिर लोकके भीतर उसे लानेवाला

कौन है ? इस क्रमसे आजतक अलोकमें एक एक पदार्थ जाते जाते आज एक भी पदार्थ यहां दृष्टिगत न होता। परंतु अनेकों पदार्थ यहां परस्परमें मिश्रित दीखपडते है। इसलिये मानना चाहिये कि जिसके विना गति नहीं होती ऐसा दूसरा पदार्थ है। और वह लोकमें ही है। अलोकमें नहीं है। अत एव लोकके भीतर गति होती है, और लोकके बाहिर पदार्थ जा नहीं पाते हैं।

जब कि पदार्थोंके गमनका एक दूसरा कारण है तो गमन एकवार जो हुआ वह सतत न होता रहै किंतु स्थित होनेके समय पदार्थ ठहर भी जाय, इसलिये स्थितिसाधक उदासीन निमित्त भी एक मानना चाहिये। उस निमित्तको अधर्म द्रव्य कहते हैं। इसका उदाहरण यह है कि एक पुरुष जो सूर्यके किरणोंसे संतापित होकर ठहरना तो चाहता है परन्तु छाया देखकर जहां हो वहां ठहरता है। यद्यपि छायामें यह शक्ति नहीं है कि वह मनुष्यको बलात्कार ठहराले परन्तु तो भी ठहरनेवालेकेलिये वह कारण है। इसी प्रकार उदासीन कारणता अधर्म–द्रव्यमें है। यह अधर्म द्रव्यका उपयोग हुआ। आकाशका उपयोग अवगाह देना है।

ऐसे ये धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य तथा काल द्रव्य, ये चारो द्रव्य ऐसे हैं कि जीव–पुद्गलके संबंधसे इनका सद्भाव जाना जाता है। जीव-पुद्गल न होते तो इन चारोका सिद्ध होना भी कठिन होता। इन चारोंकी सिद्धि आगे खुलासा लिखेंगे।

पुद्गलोंका उपयोग—

पुद्गलानां शरीरं वाक् प्राणापानौ तथा मनः। उपकारः सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ ३१ ॥

अर्थ–पुद्गल द्रव्यके उपयोग क्या हैं ? शरीर बनना, वचन उत्पन्न होना, श्वासोच्छ्वास चलना, मनका होना, एवं सुख, दुःख, जीवित, मरण-ये सर्व पुद्गलके कार्य हैं। यद्यपि जीवके संबंधसे ये सर्व होते हैं तो भी उपादान कारण इन सवोंकेलिये पुद्गल द्रव्य ही है। प्रथम चारकेलिये पुद्गल उपादान व जीव निमित्त है। परंतु सुखादि चार कार्योंकेलिये जीवकी मुख्यता है। तो भी वे पुद्गलसंबंधके विना नहीं हो सकते हैं इसलिये वे भी पुद्गलके उपयोग बताये गये हैं।

जीवोंका और कालका उपयोग—

परस्परस्य जीवानामुपकारो निगद्यते। उपकारस्तु कालस्य वर्तना परिकीर्तिता ॥ ३२ ॥

अर्थ—जीव परस्परमें एक दूसरेकी सहायता करते हैं—यह उनका उपयोग है। कालका उपयोग वर्तना है। अर्थात् काल सभी वस्तुओंको परिणमाता है। परिणमनका नाम वर्तना है।

धर्मद्रव्यका समर्थन—

क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम्। आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते ॥ ३३ ॥

अर्थ—स्वयं जो गमन–सामर्थ्य युक्त हों और गमन-करने लगे हों उन्हें जो सहायता देता है या सहायता पहुचाता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं।

धर्म द्रव्यका दृष्टात—

जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे। जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः ॥ ३४ ॥

अर्थ—गमन शक्तिवाले दो ही द्रव्य हैं, एक जीव दूसरा पुद्गल। इन दोनो द्रव्योंका जब जब गमन होता है तब तब धर्म द्रव्य एक साधारण सहायक बन जाता है। जैसे मच्छियोंके चलनेमें जल सहायक होता है।

साधारण सहायक लिखनेका यह मतलब है कि जलचारी, स्थलचारी, आकाशचारी जितने जीव विचरते हैं उन सबोंके गमनमें वह सहायक होता है और जड पदार्थोंके गमनमें भी वही सहायक होता है। भावार्थ, कुछ भी जो इधरसे उधर होता है उसमें धर्मकी सहायता लगती है। जलचारीको जल, स्थलचारीको स्थल, व आकाशचारीको आकाश, इत्यादि एक एक विशेष आश्रयकी भी गमनमें आवश्यकता पड़ती ही है परंतु धर्म द्रव्यकी सहायता सभीमें लगती है। जैसे कि मच्छीके गमनमें जल और जलके वहनेमें भूमी–ये एक एक सहायक लगते ही हैं। परन्तु धर्म दोनोंमें ही सहायक होता है।

अधर्म द्रव्यका समर्थन—

स्थित्या परिणतानां तु सचिवत्वं दधाति यः। तमधर्मं जिनाः प्राहुर्निरावरणदर्शनाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—स्थित होनेमें लगे हुए पदार्थोंको जो सहायता देता है उस द्रव्यको जिनेन्द्र भगवान् अधर्म कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान् अनावरणज्ञानी हैं। वे जो कहते हैं वह सर्व सत्य है।

अधर्म द्रव्यका दृष्टांत—

जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये स्थित्युपग्रहे। साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ ॥३६॥

अर्थ–स्थित तो सभी पदार्थ हैं परन्तु जो चलता चलता स्थित हो वह स्थित कहा जाता है। इसीलिये अधर्मको जीव पुद्गलोंके स्थित होनेमें सर्वसामान्य सहायक मानते हैं। जैसे, पशुओंके ठहरनेमें भूमी अवश्य लगती ही है। उसी प्रकार गमनमें धर्म द्रव्यकी भांत यह अधर्म यावत पदार्थोंके ठहरनेमें एक सामान्य कारण है।

आकाश–शब्दकी निरुक्ति–

आकाशन्तेत्र द्रव्याणि स्वयमाकाशतेथवा। द्रव्याणामवकाशं वा करोत्याकाशमस्त्यतः ॥३७॥

अर्थ–सर्व द्रव्य इसमें प्रकाशित होते हैं और स्वयं भी यह प्रकाशित होता रहता है। एवं, द्रव्योंको यह अवकाश देता है। इसलिये इसे आकाश कहते हैं। इस प्रकार इस द्रव्यका आकाश–नाम पड़नेमें उक्त तीन हेतु हैं।

आकाश द्रव्यका समर्थन–

जीवानां पुद्गलानां च कालस्याधर्मधर्मयोः। अवगाहनहेतुत्वं तादिदं प्रतिपद्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ–जीव, पुद्गल, काल, अधर्म, धर्म–इन पांचो द्रव्योंका प्रवेश कर रखना ही आकाशका प्रयोजन है। छह द्रव्योंमेंसे पांच प्रवेश करने वाले हैं और छट्ठा यह आकाश द्रव्य प्रवेश करालेने वाला है। जो दूसरोंको प्रवेश कराlेता है उसे अपने रहनेकेलिये स्थान देखनेकी जुदी जरूरत नहीं पड सकती है। इसलिये वह आप भी आपनेमें ही रहता है। अपने लिये उसे जुदा आधार नहीं चाहिये।

धर्म द्रव्यकी क्रिया गमन करानेकी है, अधर्म द्रव्यकी ठहरानेकी क्रिया है और आकाशकी क्रिया इतर द्रव्योंका प्रवेश करालेनेकी है। ये सर्व क्रिया कब होसकती हैं जब कि क्रिया करानेवाले धर्मादि द्रव्य स्वयं चंचल हों। परन्तु धर्मादि द्रव्योंमें चंचलता है नहीं तो फिर वे किस प्रकार दूसरोंमें क्रिया करा सकेंगे?

इस प्रश्नका उत्तर–

क्रियाहेतुत्वमेतेषां निष्क्रियाणां न हीयते। यतः खलु बलाधानमात्रमत्र विवक्षितम् ॥ ३९ ॥

अर्थ–धर्मादि द्रव्य स्वयं निश्चल हैं। तो भी क्रिया करादेना असंभव नहीं है। जो प्रेरणा करके किसीको चंचल करना चाहे उसे स्वयं चंचल होना पडता है। परन्तु ये प्रेरणा नहीं करते हैं। केवल गमनादि क्रियाओंका बल द्रव्योंमें आरोपित कर देते हैं।

जैसे, एक मनुष्य पुस्तक पढना चाहे तो पढेगा वह स्वयमेव, परंतु दीप या सूर्यादिका प्रकाश न हो तो नहीं पढसकता है। इसलिये दीपक स्वयं पढानेकी प्रेरणा न करता हुआ भी कारण माना जाता है। क्योंकि, पढनेका वह सामर्थ्य उसीने दिया है।

कालका प्रयोजन व लक्षण—

स कालो यन्निमित्ताः स्युः परिणामादिवृत्तयः । वर्तनालक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चितः ॥४०॥

अर्थ—जिसके निमित्तसे वस्तुओंमें परिणाम, क्रिया इत्यादि कार्य हो सकते हैं और छोटे बडेका व्यवहार होता है उसे काल कहते हैं।

१ वस्तुओंमें जो इधरसे उधर जानेकी क्रिया होती है उसे यहां क्रिया कहा है। २ क्रियाके सिवा जितने और परिवर्तन होते हैं उन्हें परिणाम कहते हैं। ३ प्रथम उत्पन्न हुएको बडा कहते हैं। ४ पीछेसे उपजनेवालेको छोटा कहते हैं। ये चारों बातें कालके निमित्तसे होती हैं परत्वापरत्वका अर्थ छोटा-बडा होता है और आगे-पीछे ऐसा भी होता है । ये दोनो अर्थ वस्तुओंमें रहते हैं तथा क्षेत्रमें भी दीख पडते हैं। परंतु यहां कालसंबंधसे जो वस्तुओंमें होते हैं वे ही लेने चाहिये। क्योंकि, यह प्रकरण कालका है। उक्त चारों ही कार्य इस कालद्रव्यके सूचक हैं। परंतु निर्दोष लक्षण 'वर्तना' है। ऐसा विद्वान लोग कहते हैं।

वर्तनाका लक्षण—

अन्तर्नीतैकसमया[3] प्रतिद्रव्यविपर्ययम् । अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना ॥ ४१ ॥

अर्थ—प्रत्येक द्रव्योंके प्रत्येक सूक्ष्म पर्यायोंमें जो एक समयके भीतर उनकी सत्ताका अनुभव होते दीखता है वह वर्तना[3] समझनी चाहिये।

वर्तनाकी सहायकता—

आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः । वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥ ४२ ॥

---

१ यथा कारीषोग्निरध्यापयतीति । २ द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः । ३ प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ।

४ णिजन्तात्युचि वर्तना । इति वार्तिकालङ्कारे। ५ तद्योजको हेतुः ॥ क्रियायाः कर्तुर्यः प्रयोजको भवति स हेतुकर्तृसंज्ञको भवेत् । हेतौ ॥ णिच् ।

अर्थ—द्रव्योंमें जो अपने अपने पर्याय होते रहते हैं वे अपने आप ही होते हैं तो भी उनका वर्तन कराना कालके अधीन है। इसलिये वर्तन-क्रियाका मूलकर्ता तो अपना द्रव्य ही होता है परंतु हेतुकर्ता काल है। क्रियाके कर्ताको जो सहायता देता है उसे हेतुकर्ता कहते हैं। सभी पदार्थ अपने पर्यायोंके करनेमें कर्ता आप ही रहते हैं। तो भी काल उन सबोंको सहायता देता है। इसलिये मूल कर्ताओंकी क्रिया देखी जाय तो पर्यायोंका वर्तना है और सहायक कालकी क्रिया देखी जाय तो वर्तना है। यहा जो वर्तनाको कालका लक्षण कहा है उस वर्तनाका अर्थ वर्तना ही है। 'वर्तना' का अर्थ वर्तना भी होता है। परंतु वह शक्ति या क्रिया वस्तुओंके अन्तर्गत रहनेवाली हो सकती है। इसीलिये वह कालकी चाहे सूचक हो परंतु कालमें रहनेवाली न होनेसे कालका असली लक्षण नहीं हो सकती है। और जो वर्तना-धर्म है वह कालमें रहता है इसलिये वह कालका ठीक लक्षण है।

कालकी निष्क्रियताका समर्थन—

न चास्य हेतुकर्तृत्वं निष्क्रियस्य विरुध्यते। यतो निमित्तमात्रेपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्योंकी भांत काल भी स्वयं निष्क्रिय है। तो भी पर्याय उत्पन्न करनेवाले द्रव्योंकी निमित्तमात्र सहायता करनेमें कुछ असंभवता नहीं हो सकती है। क्योंकि, जो उदासीन होते हैं वे भी हेतुकर्ता या कर्ताओंके सहायक कहे जा सकते हैं। यहां भी उदाहरण दीपकका समझिये। दीपक पढनेमें सहायक हो सकता है तो भी वह स्वयं किसी क्रिया को करता नहीं है।

निश्चय कालद्रव्यकी स्थिति—

एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निष्क्रियाः। लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थिताः ॥४४॥

अर्थ—लोकाकाशके प्रदेशोंमें कालद्रव्यके एक एक अणु ठहरे हुए हैं। वे अणु परस्परमें बद्ध नहीं हैं परंतु एक दूसरेसे भिडे हुए हैं। इसीलिये, वे एक रत्नराशिके समान कहे जाते हैं। सर्व वे अणु जुदे जुदे होनेसे काल द्रव्यकी असंख्यात संख्या मानी जाती है।

व्यवहार कालके चिन्ह—

व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया। परत्वं चापरत्वं च लिंगान्याहुर्महर्षयः ॥ ४५ ॥

अर्थ—निश्चय कालके द्वारा जो पदार्थोंमें विशेषता होती है उसे महर्षियोंने व्यवहार कालकी सूचक कहा है। उसके चार प्रकार हैं-(१) परिणाम, (२) क्रिया, (३) परत्व, (४) अपरत्व।

परिणामका लक्षण—

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः। परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः॥४६॥

अर्थ—अपनी जातिको न छोडते हुए जो वस्तुओंमें विकार हो उसे जिन भगवान् परिणाम कहते हैं। परंतु इतना विशेष है कि वह विकार चंचलतायुक्त न होना चाहिये। क्रियाको आगे कहते हैं। उससे इस परिणाममें चंचलता न होनेकी ही विशेषता है।

कालकृत क्रियाका लक्षण—

प्रयोगविस्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते। द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया॥४७॥

अर्थ—द्रव्योंमें जो चंचलतायुक्त विकार हो उसे क्रिया कहते हैं। क्रिया कुछ तो ऐसी होती हैं कि जो मनुष्योंके प्रयत्नसे उत्पन्न हों और कुछ ऐसी होती हैं जो कि स्वयं ही निमित्त मिलनेपर उत्पन्न होजाती हैं। जो क्रिया स्वयं होती हैं उन्हें वैस्रसिक क्रिया कहते हैं। जो मनुष्योंके प्रयत्नसे होती हैं उन्हें प्रायोगिक कहते हैं।

कालकृत परत्वापरत्व—

परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत् सन्निकृष्टता। ते च कालकृते ग्राह्ये कालप्रकरणादिह॥ ४८॥

अर्थ—दूरका नाम परत्व है और समीपका नाम अपरत्व है। यहां कालका प्रकरण होनेसे कालसंबंधी दूरता व समीपता समझनी चाहिये।

कालके द्योतक—

ज्योतिर्गतिपरिच्छिन्नो मनुष्यक्षेत्रवर्त्यसौ। यतो नहि वहिस्तस्माज्ज्योतिषां गतिरिष्यते॥४९॥

अर्थ—इस व्यवहारकालकी प्रवृत्ति मनुष्यक्षेत्रमें सूर्यादिकोंके गमनसे सिद्ध होती है। क्योंकि, सूर्यादि ज्योतिश्चक्रका गमन मनुष्यलोकके भीतर ही है; वाहिर नहीं है। सूर्यादिकोंके गमनसे दिनरातका विभाग सिद्ध होता है। दिनरातका

विभाग सिद्ध हुआ कि घडी मुहूर्त, मास वर्ष आदिकी कल्पनाएं सहजमें ही सिद्ध हो जाती हैं। इसीका नाम व्यवहार काल है। जहांपर सूर्यादिकोंकी गति नहीं होती, ऐसे क्षेत्र अढाई द्वीपके बाहिरके द्वीप समुद्र हैं तथा स्वर्ग नरकादिक हैं। वहांपर दिनरातकी कल्पना भी नहीं होती है और अत एव इस प्रकारका व्यवहार काल भी वहांपर नहीं है। यद्यपि इस प्रकारका काल व्यवहार वहांपर नहीं है परंतु अवतव आदि दूसरा अनेक प्रकारका काल व्यवहार वहां भी होना ही चाहिये उस व्यवहारकी सिद्धि वहांके अन्य पर्यायों द्वारा वन सकती है। उन कारणोंका यहां पर प्रयोजन न होनेसे उल्लेख नहीं किया है।

व्यवहार कालके पर्याय—

भूतश्च वर्तमानश्च भविष्यन्निति च त्रिधा। परस्परव्यपेक्षत्वाद् व्यपदेशो ह्यनेकशः ॥ ५० ॥

अर्थ—जो परिणामादिद्वारा सूचित होनेवाला व्यवहार काल है उसके भूत, भविष्यत्, वर्तमान—ये तीन भेद हैं। परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा जब देखनेमें आती है तभी भूतादि कल्पनाएं होतीं हैं। इसीलिये इन कल्पनाओंके और भी अनेक भांत नाम रक्खें जा सकते हैं। जैसे, एक वीती हुई चीजको भूत कहते हैं। परंतु जो उससे भी प्रथम वीत चुकी हो उसे परभूत कहेंगे और इसे अपरभूत कहेंगे। इसी प्रकार वर्तमान तथा भविष्यत् व्यवहार कालमें भी भेद हो सकते हैं।

भूत-भविष्यत् आदि व्यवहारका दृष्टांत व निदान—

यथानुसरतः पङ्क्तिं बहूनामिह शाखिनाम्। क्रमेण कस्यचित्पुंस एकैकानोकहं प्रति ॥ ५१ ॥
संप्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् व्यपदेशः प्रजायते। द्रव्याणामपि कालाणूंस्तथानुसरतामिमान् ॥५२॥
पर्यायं चानुभवतां वर्तनाया यथाक्रमम्। भूतादिव्यवहारस्य गुरुभिः सिद्धिरिष्यते ॥ ५३ ॥
भूतादिव्यपदेशोसौ मुख्यो गौणो ह्यनेहसि। व्यावहारिककालोपि मुख्यतामादधात्यसौ ॥५४॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य बहुतसे वृक्षोंकी एक पंक्तिमेंसे पार होना चाहता हो तो वह क्रमसे एक एक वृक्षके पास होकर गमन करता जायगा। चलते चलते जो वृक्ष उस मनुष्यके पीछे रह गये हों उनको तो वह प्राप्त हो चुका, और जिनके पासमें अभी है उनको प्राप्त हो रहा है, एवं जो वृक्ष अभी आगे हैं उनको वह प्राप्त होगा। ऐसे भूतभविष्यद्वर्तमान-

संबंधी संयोगकी अपेक्षासे जुदे जुदे विशेषण उस मनुष्यमें जोडे जा सकते हैं। इसी प्रकार द्रव्य भी कालाणुओंकी पंक्तिका स्पर्श करते हुए क्रमसे भूत भविष्यत् वर्तमान नामोंको पाते है।

गुरुओंका इस भूतादि नामकरणके विषयमें ऐसा उपदेश है कि द्रव्योंको कालाणुओंका स्पर्श तथा वर्तना स्वभावके पर्यायोंका अनुभव होनेसे यथाक्रम भूत भविष्यत् व वर्तमान विशेषण प्राप्त होते हैं। द्रव्योंके पर्यायोंमें भूतादि व्यवहार होनेका यही असाधारण हेतु है। भावार्थ, कालकी गति अविच्छिन्न सदा चलती ही रहती है। उसका गतिप्रवाह होनेकेलिये अन्य सहायकोंकी आवश्यकता नहीं पडती है। और इतर कारणोंका संपर्क न होनेसे औपाधिक कोई विशेष नाम भी कालको प्राप्त नहीं हो सकते हैं। काल कहना ही निरुपाधि नाम दीख पडता है। भूतादिक नाम—कालनिमित्तक केवल वस्तुपर्यायोंके नाम हो सकते हैं।

लोगोंकी प्रवृत्ति भी ऐसी ही देखनेमें आती है। औपाधिक विशेपनाम उसी चीजमें संभव हो सकते हैं जो कि स्वयं अकेली भी आप प्रसिद्ध हो और फिर कदाचित् उसका दूसरे किसी पदार्थसे संबंध जुडा हो। जो स्वयं प्रसिद्ध न हो किंतु इतर प्रसिद्ध पदार्थोंकी किसी अवस्थाका उत्पादन होनेसे प्रसिद्ध होता हो उसमें औपाधिक विशेपनाम कहांसे प्रसिद्ध हो सकते हैं? क्योंकि, उसकी सिद्धि होना भी स्वयं अनुमानाधीन है। ऐसे पदार्थका नाना भांत लोगोंमें उपयोग होना असंभव है। यही अवस्था कालकी है। काल इसलिये मानाजाता है कि जीवादि वस्तुओंके पर्यायोंको भूत—वर्तमानादि—विशेषणयुक्त कहना कालके विना नहीं बनता। इसीलिये उक्त वस्तुओंके पर्यायोंमें भूतादि नाम जोडना तो मुख्य व्यवहार हो सकता है। परंतु जो कोई कालको ही भूतादि नाम लगाते हैं वह उनका औपचारिक लगाना है। क्योंकि, काल स्वयं अप्रसिद्ध है; और इतर वस्तुएं स्वयं प्रसिद्ध हैं। इसलिये इतर वस्तुओंमें लोगोंकी औपचारिकादि अनेक कल्पनाएं जुडना युक्त है। पर निमित्तसे सिद्ध हुए नामों को औपाधिक या औपचारिक नाम कहते हैं। औपचारिक कल्पनाएं भी परनिमित्तसे ही होती हैं।

कालका स्पष्टीकरण—

इस कालकी कल्पना दो भांत दीख पडती है, एक निश्चित, दूसरी व्यावहारिक। मूल तत्त्व तो निश्चित काल कहाजाता है। उसके अधीन जो भूतादि व्यवहार होता है वह व्यावहारिक काल है। व्यावहारिक कालका दो भांत अर्थ होता है।

१ यथा वृक्षपङ्क्तिमनुसरतो देवदत्तस्यैकैकतरुं प्रति प्राप्त प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् व्यपदेशस्तथा तत्कालाणूननुसरता द्रव्याणा क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवता भूतवर्तमानभविष्यद्व्यवहारसद्भाव। (इति वार्तिकालकारे)

कितने ही लोग निश्चय कालको वस्तुपर्यायें उत्पन्न करनेका कारण मानते हैं और उससे उत्पन्न हुए वस्तुपर्यायोंको व्यवहार काल—ऐसा कहते हैं। कितने ही लोग, वस्तुपर्याय में कालकी जिस रूपसे सहायता लगती है उसे व्यवहार काल कहते हैं। इस दूसरे अर्थकी तरफ लक्ष्य दिया जाय तो व्यवहार काल भी मुख्य कालका ही पर्यायरूप हो जाता है। उसमें भूतादिक नाम जोडना केवल गौण पक्ष है। उसे केवल काल तथा समयादि शब्दोंसे ही संबोधना बन सकता है। इस दूसरे अर्थके अनुसार व्यवहार कालको भूतादि पर्यायोंका तथा पचन गमन आदि क्रियाओंका हेतुमात्र कह सकते हैं। जैसे कि धर्म द्रव्यको गतिहेतु कह सकते हैं, न कि स्वयं गतिरूप कह सकते हों। इसी प्रकार 'अब, तब' इत्यादि कल्पनाओंसे भी कालद्रव्यकी ही सिद्धि होती है।

किसी भी पर्यायमें जो अब तब इत्यादि कल्पना होती है उसका कुछ भी कारण होना चाहिये। उसी कारणको काल कहते हैं। अब तब ऐसी कल्पना यद्यपि वस्तुओंके देखनेपर ही होती है परंतु उन वस्तुओंका वह स्वाभाविकसा धर्म जान नहीं पडता है। इसीलिये जो उस कल्पनाकी उत्पत्तिका कारण काल माना जाता है उसे सर्व द्रव्योंसे एक भिन्न द्रव्य मानते हैं। जिसकी उत्पत्तिका कारण भिन्न नहीं होता वह स्वाभाविकसा उत्पन्न हुआ जान पडता है। यदि अब तब इत्यादि कल्पना स्वाभाविक हो तो एक ही वस्तुमें नाना प्रकारकी नहीं हो सकती है। या तो वह कल्पना 'अब' इसी प्रकारकी होनी चाहिये और या 'तब' इसी प्रकारकी होनी चाहिये। स्वाभाविक गुण धर्म, विना पर निमित्तके अपना विरूप कभी नहीं कर सकते हैं। इसीलिये वे सदा एकसे रहते हैं।

जैसे ज्ञान गुणमें जबतक पर निमित्त नहीं मिलता तबतक उसका विपर्यास नहीं होता। पर निमित्त मिलनेपर विपर्यास अवश्य ही होता है। इसी प्रकार स्वयं वस्तु 'अब' तथा 'तब' ऐसे दो रूप बदल नहीं सकती है। इसलिये अब तब आदि भिन्न स्वरूपोंके होनेसे उन स्वरूपोंका उत्पादक भिन्न कारण मानना पडता है। यदि इस युक्तिसे काल द्रव्यकी सिद्धि न होगी तो आकाशादि द्रव्य भी सिद्ध होना कठिन हो जायगा।

पुद्गल—शब्दका अर्थ—

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद्गलनादपि। पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति ॥ ५५ ॥

अर्थ—विदारण या संयोगादि निमित्तोंसे जो टूटते फूटते भी रहते हैं और बढते भी रहते हैं—उपचित होते हैं, उन्हें गल कहते हैं। पुद्गलस्वभावके ज्ञाता जिनेन्द्रने पुद्गलका यह शब्दार्थ कहा है।

पुद्गलोंके मूल भेद—

अणुस्कन्धाविभेदेन द्विविधाः खलु पुद्गलाः । स्कन्धो देशः प्रदेशश्च स्कन्धस्तु त्रिविधो भवेत् ।५६।।
अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते । देशस्तस्यार्धमर्धार्धं प्रदेशः परिकीर्तितः ॥ ५७ ॥

अर्थ—पुद्गलोंमें दो प्रकार देखनेमें आते हैं एक अणु दूसरा स्कन्ध । इनके लक्षण आगे कहेंगे । स्कन्धका साधारण अर्थ 'अनेक-परमाणुपिण्ड' ऐसा होता है । परमाणु अतिसूक्ष्म एक टुकडेको कहते हैं। स्कन्ध तीन प्रकारके मिलते हैं। उनमेंसे एकका नाम स्कन्ध ही है । दूसरेका नाम देश और तीसरेका नाम प्रदेश है । अनंतों परमाणु जिस पिंडमें मिले हुए हों उसे स्कन्ध कहते हैं। उससे आधे परमाणुओंके पिण्डको देश तथा उससे भी आधे परमाणुओंके पिण्डको प्रदेश कहते हैं । स्कन्धोंसे देशमें या प्रदेशमें कोई अधिक भेद नहीं है केवल अपेक्षाकृत भेद हो जाता है । जहां स्कन्धके आधे चौथाईपनकी अपेक्षा होती है वहीपर देश-प्रदेश संज्ञा हो जाती है ।

स्कन्ध—परमाणु बननेका कारण—

भेदात्तथा च संघातात् तथा तदुभयादपि । उत्पद्यन्ते खलु स्कन्धा भेदादेवाणवः पुनः ॥ ५८ ॥

अर्थ—स्कन्धोंमेंसे कुछकी उत्पत्ति फूटनेपर होती है । कुछकी जुडनेपर होती है । और कुछकी उत्पत्ति होनेमें फूटना तथा जुडना—ये दोनो ही बातें लगती हैं । परन्तु परमाणु सदा फूटनेपर ही उत्पन्न होता है । संयोगसे उसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती; क्योंकि, यदि जघन्यसे जघन्य पुद्गलका भी संघात हुआ तो दो अणु तो अवश्य ही इकठ्ठे हो जायंगे। और दो अणु एकत्र हुए कि वह स्कन्धोंकी सुमारमें आजायगा । इस प्रकार संघात होनेपर पुद्गलमें परम अणु अवस्था रहना कठिन है । इसलिये परमाणुकी उत्पत्तिका कारण भेद होना ही है । वह भेद भी अंतिम भेद लेना चाहिये । बीचमें भेद ऐसे भी होते हैं जो कि स्कंधोंके ही देश प्रदेशके बनाते हैं ।

अब रहे स्कन्ध, उनकी उत्पत्ति तीन भांत होती है। वह यों कि (१) कोई एक स्कन्ध फूटने टूटनेपर दो स्कन्ध जो तयार होंगे वे भेदपूर्वक हुए कहना चाहिये । (२) दो स्कन्ध अथवा दो परमाणु जुड जानेपर जो एक स्कन्ध होगा

१ अन्यतो भेदेन अन्यस्य संघातेनेत्येव भेदसंघाताभ्यामेकसमयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते । (इति वार्तिकालंकारे) ।

वह संघातपूर्वक हुआ मानना चाहिये। इसी प्रकार दोसे अधिक परमाणु या स्कन्धोंका मेल होनेपर भी जो स्कन्ध तयार होते हैं ये सब संघातपूर्वक हुए ही माने जाते हैं। (३) स्थूल सूक्ष्मादि विसदृश दो स्कन्धोंका जब मेल होता है तो पूर्ण मेल नहीं होता। निर्बल एक स्कन्ध दूसरे सबल स्कन्धमें पूर्णतया मिल नहीं सकता। उस समय निर्बलका कुछ अंश फूट टूट कर जुदा रह जाता है और कुछ मिल जाता है। इस प्रकार वहां जो तृतीय स्कन्ध उत्पन्न होता है वह भेद व संघात–इन दोनोंकी क्रियासे होता है। ऐसे ही स्कन्धोंको भेदसंघातपूर्वक उत्पन्न हुआ माना जाता है। जब ये भेद संघात दोनो एक दम हों तभी दोनोंको[1] जुदा कारण मानना चाहिये। जब भिन्न भिन्न समयोंमें भेद तथा संघात, ये दोनों हों तो उनके कार्योंको भेद और संघातमेंसे एक–कारणजन्य ही मानना ठीक है। प्रकार स्कन्धोंकी उत्पत्तिके तीन कारण जुदे जुदे कहे गये हैं।

परमाणुका लक्षण—

आत्मादिरात्ममध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियैः। गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते ॥५९॥
सूक्ष्मो नित्यस्तथान्त्यश्च कार्यलिंगश्च कारणम्। एकगन्धरसश्चैकवर्णो द्विस्पर्शवांश्च सः ॥६०॥

अर्थ–किसी भी पदार्थमें आदि, मध्य, अन्त–ये तीन भेद कमसे कम अवश्य हो सकते हैं–ऐसी लोगोंकी समझ है। परन्तु जो अतिसूक्ष्म हो उसमें ये भेद होना असंभव है। अतिसूक्ष्म कहनेका अर्थ इतना ही है कि वह फिर विभाग नहीं करा सकता है। जिसमें विभाग नहीं होसकते हों उसके आदि मध्यादि भेद किस प्रकार होंगे? परमाणु भी ऐसा ही होता है। वह अतिसूक्ष्म होता है। किसी स्थूल पदार्थके टुकडे होते होते जो अविभागी टुकडेतक पहुच जाता है उसी अवस्थाको परमाणु कहते हैं। उसकी सूक्ष्मताका वर्णन यों करते हैं कि,—

आदिम विभाग करनेका यदि प्रयत्न किया जाय तो जो आप संपूर्णही आदिमें आजाता हो, मध्य विभाग करनेपर जो मध्यमें सबका सब आजाता हो और अंतिम विभाग करनेपर अंतमें भी सबका सब आजाता हो--अर्थात् जो

१–भेद व सघातको जब जुदा जुदा कारण मानलिया है तो भेदसघात जो एक–समयवर्ती होंगे वे भी उक्त दो कारणोंमें गर्भित होसकते हैं। परन्तु एक समयवर्ती दोनोंको ही वहा कारण मानना चाहिये। वहा किसी एकको कारण मानना ठीक नहीं है। ऐसा इस तृतीय भेदको जुदा गिनानेका प्रयोजन है।

विभागयोग्य ही न हो उसे परमाणु कहते हैं। यह भी अति सूक्ष्मताका ही कारण है कि वह इंद्रियगोचर नहीं हो सकता है। वह अतिसूक्ष्म होता है और नित्य भी होता है। पुद्गलकी अंतिम दशा वही है। बहुतसे परमाणु मिलनेपर ही कार्ययोग्य स्थूल घटपटादि पदार्थ तयार होते हैं इसलिये वे परमाणु ही उन सबोंके मूल कारण हैं। परंतु स्कंधोंसेही वे जाने जाते हैं।

एकसे अधिक परमाणुओंके मिलनेपर भी सूक्ष्मता शीघ्र नष्ट नहीं होपाती है इसलिये कुछ स्कन्धोंका भी सूक्ष्म स्वभाव मानागया है। परंतु उस सूक्ष्मताका भी कारण परमाणुगत सूक्ष्मता ही है। इसलिये परमाणुओंका सूक्ष्मतास्वभाव ही वास्तविक सूक्ष्मतास्वभाव है।

परमाणु जबतक एक स्कन्धमें मिल न चुका हो तब तक जैसा कुछ रहता है वैसा ही मिलकर छूटनेपर भी रहता है। यह बात किसी भी स्कन्धमें दीख नहीं पडती है। स्कन्ध एक समय एक प्रकारका होता है तो दूसरे समय उन्हीं परमाणुओंका होकर भी वह दूसरे प्रकारका होजाता है। यह बंधनकी विचित्रता है। इसीलिये किसी भी स्कन्धको नित्य नहीं कहसकते हैं। परंतु परमाणुओंको उक्त अपेक्षासे नित्य कहसकते हैं। यदि यह अपेक्षा न मानी जाय तो कार्यमय घटपटादिक स्कन्ध तथा परमाणुओंको एकसे विशेषण भी लगाये जासकते हैं। अर्थात्, परमाणु तथा स्कन्धमें परस्पर अवयवावयविरूप संबंध होता रहता है और छूटता भी रहता है। इसलिये नित्य हैं तो दोनो ही नित्य हैं और अनित्य हैं तो दोनो ही अनित्य हैं; ऐसा मानना पड़ता है। यह सापेक्ष नित्यानित्यपना, द्रव्यलक्षण लिखते समय लिखचुके हैं और उसका समर्थन भी करचुके हैं।

परमाणुओंको कार्यरूप घटादिद्रव्योंका जो कारण माना है वह अपेक्षावश माना है। किसी स्कन्धके फूटने टूटनेपर जो परमाणु व्यक्त होते हैं उन परमाणुओंका कारण वह स्कन्ध है और स्कन्ध बनते समय उस स्कन्धका कारण वे परमाणु हैं। इस प्रकार दोनो ही एक दूसरेके कारण होते रहते हैं और दोनो ही एक दूसरेके कार्य हैं। परंतु शुद्ध पुद्गल द्रव्यका स्वरूप देखना चाहें तो स्कन्धमें नहीं रहता किंतु परमाणुओंमें रहता है। स्कन्धकी अवस्था सदा अशुद्ध होती है। इसीलिये मूल अवस्थाकी तरफ विचार करनेसे वास्तविक कारण परमाणु द्रव्य ही जान पडता है। इसी बातको यों भी कहसकते हैं कि स्कन्धरूप अशुद्धताका आश्रय तथा उपादान कारण परमाणु ही है। वह अशुद्धता जब नष्ट हो जाती है तब फिर परमाणुओंका शुद्ध स्वरूप शेष रहजाता है। इसीलिये स्कन्धरूप विकारी पर्यायके उत्पन्न होनेमें परमा-

णुओंकी अपेक्षा पडती है परंतु परमाणुरूप शुद्धता, विकार नष्ट होनेपर, स्वय प्रगट होजाती है । अत एव परमाणु सदा कारण हैं और स्कन्ध सदा कार्य माने जाते हैं।

स्कन्धके समय अनेकों विकारी धर्म व्यक्त होते हैं परंतु परमाणुओंकी शुद्ध अवस्थामें एक गन्ध, एक रस, एक कोई वर्ण तथा दो स्पर्शोंके अतिरिक्त वे सर्व विकार नष्ट होजाते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु—ये सर्व स्वरूप बंधविचित्रताके वश स्कंधके समय ही दीख पडते हैं। परमाणुता प्राप्त होनेपर ये जलादि नाम या विशेष पर्याय नष्ट हो जाते हैं। जलादि भाव इसी लिये स्कन्ध–पर्यायगत धर्म हैं। मूलमें ये परमाणुगत भेद नहीं हैं। यदि वास्तवमें जलादि जातियोंके परमाणु भिन्न भिन्न रहते तो जलसे वायु तथा वायुसे जल एवं जलसे पृथिवी, पृथिवीसे जल–वायु–अग्नि इत्यादि रूपांतर बनना संभव न होता। परंतु ऐसा होते हुए दीखता है। यंत्रोंद्वारा जलका वायु और वायुसे जल बनते हुए दीख पडता है। दीवासलाई एक लकडी और गंधक आदि पृथिवीके पर्यायोंका संयोग है। परंतु घिसनेपर उसमेंसे अग्नि प्रगट होजाता है । ऐसे अनेक उदाहरणोंको देखकर यही निश्चय करना ठीक जान पडता है कि ये सब बंधनकी विचित्रतासे नानारूप हो जाते हैं; किंतु जाति सबकी एक है।

पुद्गलका लक्षण—

वर्णगन्धरसस्पर्शसंयुक्ताः परमाणवः। स्कन्धा अपि भवन्त्येते वर्णादिभिरनुज्झिताः ॥ ६१ ॥

अर्थ—वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श–ये चारो गुण परमाणुओंमें रहते हैं। जब कि ये चारो गुण परमाणुओंमें रहते हैं तो परमाणुओंसे स्कन्ध बनते हैं इसलिये स्कन्ध भी उक्त चारो गुणोंसे रहित नहीं हो सकते हैं।

वर्णके स्थूल भेद पांच मानेगये है, (१) काला, (२) हरा, (३) लाल, (४) पीला, (५) सफेद। गन्धके सुगंध व दुर्गंध ये दो प्रकार हैं। रसके पांच भेद हैं; (१) तीखा, (२) कडुवा, (३) कषाय, (४) खट्टा, (५) मीठा। स्पर्श आठ प्रकारका है; (१) कठोर, (२) मृदु, (३) हलका, (४) भारी, (५) चिकना, (६)रूखा,

---

१ कारणमेव तदन्त्यः सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु । एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्श कार्यलिंगश्च ॥ इत्युक्त वार्तिकालकारे।

१ वण्णव रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ० इति द्रव्यसंग्रहे उक्तम्। २ काले व नीले ऐसे दो भेद मानकर हरे रंगको कितने ही लोग जुदा नहीं मानते परतु गोमटसार संस्कृतटीकामें काले नीलेकी जगह एक ही वर्ण माना है और हरा जुदा एक रंग माना है। यही ठीक भी है।

(७) ठंडा, (८) गरम। नेत्र–स्पर्शनादि इंद्रियोंसे इतने प्रकारोंका अनुभव सर्वत्र व सुगमतासे होता हुआ दीख पडता है। भेद इनके अतिरिक्त अधिक भी हो सकते हैं परंतु वे सूक्ष्म भेद होंगे। इसीलिये उन्हें जुदा गिनानेसे ग्रंथकारने उपेक्षा की है। हरा रंग कुछ रंगोंके मिलानेपर होजाता है; और अत एव पांच भेद जो वर्णोंके बताये हैं वे मूल भेद कैसे ठहर सकते हैं? ऐसी आशंका कुछ लोग करते हैं। परंतु यह आशंका निर्मूल है। यहांपर मूल सत्ताकी अपेक्षासे ये भेद नहीं लिखेगये हैं। किंतु परस्परके स्थूल अंतरकी अपेक्षासे हैं। इसी प्रकार रसादिकसंबंधी आशंका भी दूर करलेनी चाहिये। क्योंकि, वर्णादि भेदोंकी संख्या नियत होना अशक्य है।

वर्णादि चारो गुण तथा उत्तर बीस पर्यायोंका रहना पुद्गलके सिवा दूसरे किसी द्रव्यमें नहीं होता। इसीलिये इनका रहना पुद्गलद्रव्यका लक्षण है। बीसो भेद यद्यपि स्कन्धमें मिलते हैं परंतु एक दम नहीं मिलते। रसके पांच भेद, गंधके दो, वर्णोंके पांच—ये परस्परमें विरोधी पर्याय हैं। इसलिये एक समयमें उक्त तीनो गुणोंके कोई तीन पर्याय ही रह सकते हैं। परन्तु कालक्रमसे ये सभी भेद रहते हैं। ये सर्व पर्याय कालक्रमवर्ती हैं। इसीलिये कालके भेदसे उक्त सर्व पर्यायोंका एक एक पदार्थमें रहना होसकता है। स्पर्शके जो आठ भेद लिखे गये हैं उनके चार जोडे किये गये हैं। जैसे कि शीत–उष्ण, कर्कश–मृदु, गुरु–लघु, स्निग्ध–रूक्ष। ये चारो अपने जोडोंमें एक दूसरेके विरोधी रहते हैं। जब एक रहता है तब दूसरा नहीं रहता। परंतु चार चार एकदम रह सकते हैं। जैसे कि शीत, मृदु, गुरु, रूक्ष। ऐसा न समझना चाहिये कि चारो जोडोंमेंके या तो पहिले ही चार रह सकते हैं अथवा अंतिम चार ही रह सकते हैं। किंतु इतना ही समझना चाहिये कि, किसी भी जोडेके दोनो गुण युगपत् नहीं रहते, शेष कोई भी चार रह सकते हैं। अब रही परमाणुओंकी बात, सो सर्व आठ भेदोंमेंसे स्निग्ध व रूक्ष ये दो गुण तो परमाणुओंमें रहते ही हैं। क्योंकि, सूत्रकारने स्वयं परमाणुओंका बंध स्निग्ध रूक्षताके वश होनेसे लिखा है। इनके सिवा उष्ण-शीत ये दो गुण और भी परमाणुओंमें रह सकते हैं। क्योंकि, इन दो गुणोंका स्थूलताके साथ कोई विशेष संबंध नहीं है और परमाणुओंके साथ कोई विरोध भी नहीं हो सकता है। इसीलिये परमाणुमें उक्त चारो स्पर्शोंमेंसे दो स्पर्श रहसकते हैं। वर्णादिक तीनके मिलनेसे पांच गुण परमाणुमें एक साथ होजाते हैं। शेष जो चार स्पर्श हैं वे स्कन्धके ही विकार हैं। परमाणुओंमें उनका प्रादुर्भाव होना असंभव है। वर्णादि तीन गुणोंके भेद सर्व बारह हैं। वे जिस प्रकार स्कन्धमें मिलते हैं उसी प्रकार परमाणुओंमें भी मिल सकते हैं। सारांश, पर-

माणुओंमें स्पर्श गुणके आठ पर्यायोंमेंसे चार नहीं मिलते परंतु वर्णादि तीन गुणोंके जो मुख्य भेद हैं वे सभी मिलते हैं। अर्थात्, एक समयमें एक परमाणुमें चार गुणोंके वीस उत्तर भेदोंमेंसे पांच भेद[1] मिलसकते हैं और स्कन्धोंमें एक समयमें सात तक मिल सकते हैं।

पुद्गलके मुख्य पर्याय–

शब्दसंस्थानसूक्ष्मत्वस्थौल्यबन्धसमन्विताः। तमश्छायातपोद्द्योतभेदवन्तश्च सन्ति ते ॥६२॥

अर्थ–शब्द, संस्थान, सूक्ष्मता, स्थूलता, बन्धन, तम, छाया, आतप, उद्द्योत, ये अवस्थाएं पुद्गलकी ही असाधारण अवस्थाएं हैं। इनमेंसे कुछ तो ऐसी हैं कि जो स्कन्ध परमाणु दोनोंमें मिलती हैं और कुछ केवल स्कन्धके ही पर्याय हैं। इनका आगे खुलासा करते हैं।

शब्दोंके भेद—

साक्षरोऽनक्षरश्चैव शब्दो भाषात्मको द्विधा। प्रायोगिको वैस्रसिको द्विधाऽभाषात्मकोपि च ॥६३॥

अर्थ–कानोंसे जो सुना जाता है उसे शब्द कहते हैं। उसके भाषात्मक अभाषात्मक, ऐसे दो भेद हैं। मुखसे जो उत्पन्न हो वह भाषात्मक है। इसके अतिरिक्त जो दो वस्तुओंके आघातसे उत्पन्न हो वह अभाषात्मक कहा जाता है। अभाषात्मक शब्दके उत्पन्न होनेके दोनो निमित्त हैं: प्राणी तथा जड पदार्थ। जो केवल जड पदार्थोंके आघातसे उत्पन्न होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। प्राणियोंके प्रयत्नसे जो उत्पन्न हो उसे प्रायोगिक कहते हैं। बांसुरी, भेरी, वीणा, ताल आदिके शब्दोंको प्रायोगिक कहते हैं। मेघगर्जना आदि शब्दोंको वैस्रसिक माना गया है। मुखसे निकलनेवाले शब्द जो अक्षर–पद–वाक्यरूप हों उन्हें साक्षर भाषात्मक कहते हैं। जो निरक्षर ध्वनि की जाती है उसे अनक्षर भाषात्मक कहते हैं। इन्हीके दूसरे नाम वर्णात्मक व ध्वन्यात्मक भी हैं।

शब्दकी मूर्तिकता–

शब्दको नैयायिक लोग आकाशका गुण मानते हैं। परन्तु यह मानना ठीक नहीं है। आकाश अमूर्तीक है। उसके

---

१ वर्णगन्धरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्वयमिति आलापपद्धति ॥

१ परमाणुर्न नित्यो मूर्तत्वात्, घटवत् एव रूपवत्त्वरसवत्त्वादय प्रत्येक हेतव उन्नेया । एवं षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता ॥ इत्युक्तं वैशिषिकोपस्कारे ४ अ०, ५ मसूत्रे ।

गुण भी जितने होंगे वे अमूर्तीक ही होंगे। शब्द कानोंसे सुना जाता है इसलिये अमूर्तीक नहीं होसकता और अतएव आकाशका गुण भी नहीं होसकता है। अमूर्तीक पदार्थ तथा अमूर्तीक गुण वाहिरी इंद्रियोंका विषय नहीं होसकता है। कंठ, तालु आदि मूर्तीक वस्तुओंके संबंधसे शब्दका प्रादुर्भाव होता है इसलिये शब्दकी उत्पत्तिके कारण भी मूर्तीक ही हैं। अमूर्तीक पदार्थ या गुण किसी मूर्तीक वस्तुको आघात नहीं पहुचा सकता है। परन्तु शब्दसे आघात उत्पन्न होता है। कुछ लोग उस आघातको उच्छ्वासादि वायुका कार्य मानते हैं। परन्तु ध्वनि भी उसी वायुमें उत्पन्न होती है। उसे शब्द कहते हैं। वायुके अतिरिक्त ध्वनिका कोई दूसरा उपादान या आधार मानना युक्तिरहित है। इस प्रकार शब्दको मूर्तीक पुद्गलपर्याय मानना ही युक्तियुक्त जान पडता है।

संस्थानके भेद व उदाहरण—

संस्थानं कलशादीनामित्थंलक्षणमिष्यते । ज्ञेयमम्भोधरादीनामनित्थंलक्षणं तथा ॥ ६४ ॥

अर्थ--संस्थान आकृतिको कहते हैं। नाना आकृतियोंका होना पुद्गल द्रव्यमें ही संभव है। आकृति एक तो ऐसी होती है कि जो कुछ नियत हो और जिसका मनुष्य कुछ नाम रख सकता हो। जैसे कि घटादि वस्तुओंकी आकृति। घटकी आकृतिको कंबुग्रीवाद्याकृति कहते हैं। ऐसी आकृतियोंको इत्थंलक्षण ऐसा संस्कृत भाषामें कहते हैं। तिकोन, चौकोन, गोल, वर्तुल, इत्यादि इसी इत्थंलक्षण आकृतिके विशेष भेद हैं। जो नियत आकृति न हो और जिसका नाम रक्खा न जासकै उसे अनित्थंलक्षण आकृति कहते हैं। जैसे कि मेघोंकी आकृति।

सूक्ष्मत्वके भेद व उदाहरण—

अन्त्यमापेक्षिकं चेति सूक्ष्मत्वं द्विविधं भवेत् । परमाणुषु तत्रान्त्यमन्यद्विल्वारुणादिषु ॥६५॥

अर्थ—सूक्ष्मता स्वभाव भी पुद्गलोंमें ही पाया जाता है। (१) एक दूसरेको अपेक्षासे जहां सूक्ष्म कहते हैं वहां आपेक्षिक सूक्ष्मता कहीजाती है। जैसे कि बेलके फलसे मजीठका फल छोटा या सूक्ष्म माना जाता है। (२) जिससे अधिक

१ स भवान् स्पर्शवति द्रव्ये दृष्ट धर्मं [व्यूहविष्टम्भाविभुत्वादिक] विपरीते [अमूर्ते आकाशे] नाशकितुमर्हति । अर्थात् स्पर्शवान् मूर्तीक द्रव्योंमें दीखने वाले आघातादि धर्मोंको अमूर्तीक आकाशके धर्म मानना अनुचित है। ऐसा स्वयं न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने चतुर्थाध्याय द्वितीयान्हिकके बाईसवें सूत्रके भाष्यमे कहा है।

सूक्ष्मता किसीमें न मिल सकती हो उसे अंतिम सूक्ष्मता कहते हैं। जैसे कि परमाणुकी सूक्ष्मता। इस प्रकार सूक्ष्मताके अंतिम व आपेक्षिक ये दो प्रकार हैं।

स्थूलताके भेद व उदाहरण—

अन्त्यापेक्षिकभेदेन ज्ञेयं स्थौल्यमपि द्विधा। महास्कन्धेऽन्त्यमन्यच्च बदरामलकादिषु ॥ ६६ ॥

अर्थ--स्थूलता होना भी पुद्गलोंका पर्याय है। अंतिम स्थूलता व आपेक्षिक स्थूलता ऐसे स्थूलताके भी दो भेद हैं। सबसे बडे महास्कन्धकी स्थूलता अंतिम स्थूलता है। बेर, आंवले आदिकोंको जो स्थूल कहते हैं वह स्थूलता एक दूसरे-की अपेक्षावश कही जाती है।

बन्धके भेद व उदाहरण—

द्विधा वैस्रसिको बन्धस्तथा प्रायोगिकोपि च। तत्र वैस्रसिको वन्हिविद्युदम्भोभ्ररादिषु ॥
बन्धः प्रायोगिको ज्ञेयो जतुकाष्ठादिलक्षणः ॥ ६७ ॥ (षट्पद)
कर्मनोकर्मबन्धो यः सोपि प्रायोगिको भवेत्।

अर्थ--बन्धन होना भी पुद्गलमें ही पाया जाता है। कोई कोई बंधन स्वाभाविक होते रहते हैं उन्हें वैस्रसिक बन्धन कहते हैं। जैसे कि अग्नि, विद्युत, मेघ। इनमें जो परस्पर बंधन होता है उसे कोई मनुष्य अपने प्रयत्नसे नहीं करता। प्रयत्न-साध्य बन्धनको प्रायोगिक बन्धन कहते हैं। जैसे कि एक लकडीमें लाख लगा देना। ये दो भेद बन्धनके हुए। कर्मका तथा शरीरादि नोकर्मोंका जो बन्धन होता है वह आत्माके प्रयत्नसे होता है इसलिये उसे भी प्रायोगिक बंधन कहना चाहिये। उक्त दो भेदोंके अतिरिक्त वह कोई तीसरा भेद नहीं है।

तमका स्वरूप—

तमो दृक्प्रतिबन्धः स्यात्प्रकाशस्य विरोधि च ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिसके प्रसारमें देखनेकी शक्ति रुकजाती है उसे तम या अंधकार कहते हैं। प्रकाशसे उलटा यह पर्याय है। नैयायिक लोग इसे नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रकाशके अभावका नाम अंधकार है। अभावमें अंतर्भाव होसकता है

उसे जुदा पदार्थ क्यों मानें ? इसका उत्तर यह है कि अभाव कोई जुदी वस्तु नहीं है। किसीके रूपान्तर होजानेको ही उसका अभाव कहते हैं। इसलिये चाहे प्रकाशसे उलटा ही अंधकार हो परंतु वह भी एक वस्तुपर्याय ही मानना चाहिये। प्रत्येक वस्तु जिस प्रकार बदलती है परंतु सत्तासे वंचित नहीं होती उसी प्रकार प्रकाश पर्याय जब नष्ट होता है उस समय उन प्रकाश परमाणुओंका भी कोई दूसरा पर्याय रहना ही चाहिये। वह पर्याय अंधकारके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता है। यदि उत्तर पर्याय न होकर ही प्रकाशका नाश हो जाता हो तो कहना पडेगा कि एक सत् पदार्थका अभाव होगया। परंतु जो एक समय सत् है उसका नाश होना न्यायविरुद्ध है। इसलिये तमको सत्य वस्तु मानना ही ठीक दीख पडता है। नीलं अंधकार[3] हट रहा है ऐसी जो प्रतीति उत्पन्न होती है उसे झूठा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। रही यह बात कि वह क्या चीज है सो विचार करिये कि दृष्टिका प्रतिबंध करना—यह एक बाह्य इंद्रियका आवरण है। बाह्य इंद्रियका विषय जिस प्रकार पुद्गलमय ही हो सकता है उसी प्रकार बाह्येन्द्रियके आवरण करनेवाले पदार्थको भी पौद्गलिक पर्याय ही कहना ठीक है। जगत्में मूर्तिक व अमूर्त ऐसे दो ही पदार्थोंके भेद हैं। मूर्तिक पदार्थकी हम एक ही जाति मानते हैं जिसे कि पुद्गल कहते हैं। बंधनकी विचित्रतासे जब कि अनेकों भांतके पर्याय एक ही प्रकारके मूर्तिक पदार्थसे होना संभव है तो मूर्तिक पदार्थके वास्तविक उत्तर भेद माननेकी क्या आवश्यकता है। इसलिये हम तमको पुद्गलपर्याय ही मानते हैं।

१ नेवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोस्ति। इति श्रीसमन्तभद्रेण चतुर्विंशस्तवे उक्तम् ॥ २ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इति स्मृतिवचनम् ॥ ३ नीलं तमश्चलतीति प्रतीतेर्भ्रान्तत्वे मानाभावः ॥

४ देखो, वैशेषिक भाष्यका कदली–टीकाकार भी तमको अभाव मानना नहीं चाहता है:–

न वयमन्धकारस्य प्रत्यर्थिनः किं त्वारम्भकानुपपत्तेर्नीलिममात्रप्रतीतेश्च द्रव्यमिदं न भवतीति ब्रूमः। तर्हि भासामभाव एवायं प्रतीयेत न, तस्य नीलाकारेण प्रतिभासायोगात् मध्यन्दिनेपि दूरगगनाभोगव्यापिनो नीलिम्नश्च प्रतीतेः। किं च गृह्यमाणे प्रतियोगिनि संयुक्तविशेषणतया तदन्यप्रतिषेधमुखेनाभावो गृह्यते न स्वतन्त्रः। तमसि च गृह्यमाणे नान्यस्य ग्रहणमस्ति न च प्रतिषेधमुखः प्रत्ययः। तस्मान्नाभावोयम्। न चालोकादर्शनमात्रमेवैतत् बहिर्मुखतया तम इति छायेति च कृष्णाकारप्रतिभासनात्। तस्माद्रूपविशेषोयमत्यन्तं तेजोभावे सति सर्वतः समारोपितस्तम इति प्रतीयते। दिवा चोर्ध्वं नयनगोलकस्य नीलिमावभास इति वक्ष्यामः। यदा तु नियतदेशाधिकरणो भासामभावस्तदा तद्देशसमारोपिते नीलिम्नि छायेत्यवगमः। ◇◇◇◇◇◇◇ ◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇ अत एव दीर्घा ह्रस्वा महती अल्पीयसी छायेत्यभिमानः तद्देशव्यापिनि नीलिम्नि प्रतीतेः। अभावपक्षे च भावधर्माध्यारोपोपि दुरुपपादः। तदुक्तम्–न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम्। छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः ॥ दूरासन्नप्रदेशादिमहदल्पचलाचला। देहानुवर्तिनी छाया न वस्तुत्वाद्विना भवेदिति ॥ दुरुपपादश्च क्वचिच्छायायां कृष्णसर्पभ्रमः चलतिप्रत्ययोपि गच्छत्यावरके द्रव्ये यत्र यत्र तेजसाभावस्तत्र तत्र रूपोपलब्धिकृतः। एवं परत्वादयोप्यन्यथासिद्धाः। तत्र चालोकाभावव्यञ्जनीयरूपविशेषे तमसि आलोकानपेक्षस्यैव चक्षुषः सामर्थ्यं तद्भावभावित्वात् यथालोकाभावस्तमस्त्वन्मते।

छायाके भेद व लक्षण—

प्रकाशावरणं यत् स्यान्निमित्तं वपुरादिकम्[1]। छायेति सा परिज्ञेया द्विविधा सा च जायते ॥६९॥
तत्रैका खलु वर्णादिविकारपरिणामिनी। स्यात्प्रतिबिम्बमात्रान्या जिनानामिति शासनम् ॥७०॥

अर्थ—शरीरादिके निमित्तसे जो प्रकाशका निरोध होजाता है उसे छाया कहते हैं। उसके जिनशासनमें दो भेद माने गये हैं। एक वह छाया कि जिसमें रूप तथा आकृति ज्यों की त्यों उतर आती है। इसका उदाहरण दर्पणका प्रतिबिम्ब है। दूसरी वह छाया होती है कि जिसमें रूपादिका दृश्य नहीं उतरता, केवल प्रकाश रुकनेसे उतनी आकृति जुदी दीख पडती है। जैसे कि धूपमें चलनेसे एक प्रकारका धूपका आवरण उत्पन्न होता जाता है। उसको भी प्रतिबिंब ही कहते हैं।

आतपका व उद्योतका लक्षण—

आतपोपि प्रकाशः स्यादुष्णश्चादित्यकारणः। उद्योतश्चन्द्ररत्नादिप्रकाशः परिकीर्तितः॥७१॥

अर्थ—सूर्यसे जो उष्णतायुक्त प्रकाश उत्पन्न होता है उसे आतप कहते हैं। उष्णतारहित जो चन्द्रमासे या रत्नादिकोंसे केवल प्रकाश उत्पन्न होता है उसे उद्योत कहते हैं। आतप तथा उद्योतमें अंतर उष्णताका ही है: नहीं तो प्रकाश दोनों समान हैं।

भेदके भेद—

उत्करश्चूर्णिका चूर्णः खण्डोऽनुचटनं तथा। प्रतरश्चेति षड् भेदा भेदस्योक्ता महर्षिभिः॥७२॥

अर्थ—भेद होना-यह पुद्गलमें ही संभव है। मिले हुए एक स्कन्धके निमित्तवशात् टुकडे होना-यह भेदका लक्षण है। भेदके छह प्रकार देखनेमें आते हैं। [१] उत्कर, [२] चूर्णिका, [३] चूर्ण, [४] खण्ड, [५] अनुचटन, [६] प्रतर-ये उन छह प्रकारोंके नाम हैं। आरीसे लकडीको चीरनेपर जो टुकडा हुआ हो वह उत्कर कहाता है। मूंग आदि द्विदलके जो टुकडे किये जाते हैं वह चूर्णिका है। हिंदी भाषामें इसको चुनी भी कहते हैं। गेंहूके पीसनेपर जो टुकडे होते हैं उसे चूर्ण या चून कहते हैं। घट फूटनेपर जो कपाल या उससे भी छोटे टुकडे होते हैं उन्हें खंड कहते हैं। तप्त लोहेपर घन मारनेसे जो फुलिंगा निकलते हैं वे अनुचटन कहाते हैं। अभ्रकके जो पटल निकलते हैं वे प्रतर कहाते हैं।

---

[1] ' वपुरादिनिमित्तकम् " ऐसा बहुव्रीहि समासवाला वाक्य ठीक जान पडता है।

यह एक एक उदाहरण देकर छहो भेदोंके स्वरूप लिखे हैं। परंतु इनके सिवा और भी उदाहरण यथायोग्य हो सकते हैं। व्यवहारमें ये छह भांतके भेद दीख पडते हैं इसलिये छह भेद ग्रंथकारने लिखे हैं। इनके अतिरिक्त जो टुकडे होंगे उनके नाम इन्हींमेंसे रक्खे जासकते हैं।

पुद्गलमें बन्धनकी योग्यता—

विसदृक्षाः सदृक्षा वा ये जघन्यगुणा नहि। प्रयान्ति स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धं ते परमाणवः ॥७३॥
संयुक्ता ये खलु स्वस्माद् द्व्याधिकगुणैर्गुणैः। बन्धः स्यात्परमाणूनां तैरेव परमाणुभिः ॥ ७४ ॥

अर्थ—'जघन्यगुण' शब्दका अर्थ जघन्यांश है। गुण शब्दके भाग तथा शक्ति ये दोनो अर्थ होते हैं। स्नेह तथा रूक्षता बन्धका कारण है। स्नेहयुक्त परमाणुओंका भी बंध होता है, रूक्ष परमाणुओंका भी होता है और स्नेह रूक्ष इन दोनो गुणवाले परमाणुओंका भी परस्परमें बंध होता है। परंतु गुणोंकी मात्रा जिन परमाणुओंमें सबसे जघन्य होगी उन परमाणुओंका उस समय बंध किसीके साथ भी नहीं होगा। जघन्यका प्रमाण यहांपर एकांश माना गया है। स्नेहरूक्षताके एकांशसे अधिक अंश रहनेपर भी सर्वत्र बंध नहीं होता। और समान अंश रहनेपर भी नहीं होता है। तो? दो अंशका अंतर रहना चाहिये। दो अंशकी हीनाधिकतावाले स्नेही या रुक्ष अथवा स्निग्धरुक्ष परमाणु परस्परमें इकट्ठे होनेपर बंधको प्राप्त हो जाते हैं।

दो अंशकी अधिकता रहनेका क्या कारण है?—

बन्धेऽधिकगुणो यः स्यात्सोन्यस्य पारिणामिकः। रेणोरधिकमाधुर्यो दृष्टः क्लिन्नगुडो यथा ॥७५॥

अर्थ—दो परमाणुओंकी अवस्था जो प्रथम जुदी जुदी रहती है वह बंध होनेपर नष्ट होजाती है और तीसरी नवीन अवस्था उत्पन्न होती है। इसीका नाम बंध है। जबतक पूर्व अवस्था कायम है तबतक दोका संयोग रहते हुए भी बंध नहीं होता। जब कि बंधमें पूर्वकी दोनो अवस्थाएं नष्ट होजाती हैं तो तीसरी अवस्था जो उत्पन्न होगी वह कैसी होनी चाहिये? सुनिये, पूर्व दोनो अवस्थाओंमेंसे किसी एक अवस्थाका रूपान्तर होजाता है और दूसरेकी अवस्था उसीमें मिलकर तन्मय होजाती है। वह कैसे?

वह ऐसे कि, दो अंश जिस परमाणुमें अधिक होते हैं वह परमाणु हीनांशवाले परमाणुकी स्निग्धता या रूक्षताको अपने समान एक कर लेता है। अर्थात्, अधिकांश गुणवाला परमाणु अपनी अवस्थाका रूपांतर होने नहीं देता किंतु हीनांश गुणवाले परमाणुके स्पर्शको बदल कर अपने समान कर लेता है। जहां दोनों ही स्निग्ध परमाणु हों वहां बन्ध होनेपर स्निग्धता कायम रहती है। जहां दोनों ही रूक्ष होते हैं वहां उनकी रूक्षता कायम रहती है। परंतु अधिकांशका परमाणु स्निग्ध हो तथा हीनांशवाला रूक्ष हो तो दोनोंका पर्याय स्निग्धरूप हो जाता है। इसी प्रकार जहां अधिकांश गुणवाला परमाणु रूक्ष हो तथा हीनांशवाला स्निग्ध हो वहां बंधोत्तर अवस्था केवल रूक्ष हो जाती है। यह इसका प्रकार है। यह नियम सर्वत्र ही दीख पडता है। गीला गुड, यदि उसमें धूल माटी आकर मिल जाय तो भी वह गुड ही रहता है। धूलमाटीका स्वाद दब जाता है। परंतु गुडका स्वाद फिर भी कायम रहता है। क्योंकि, गुडकी मधुरता तेज होती है।

यह उदाहरण केवल इसलिये दिया गया है कि हीन शक्ति प्रबल शक्तिद्वारा दब जाती है। परंतु बंधका यह उदाहरण नहीं है। क्योंकि, बंधके कारण स्निग्ध–रूक्षता गुण हैं और यहांपर रसका प्रकरण है। अर्थात् गुडके रसद्वारा धूलमाटीका रस दब या बदल जाता है, न कि उनकी स्निग्धता या रूक्षता बदल जानेकेलिये यह बात कही गई है। इसीलिये स्निग्धता या रूक्षताके द्वारा बंधोत्तर पर्यायका एक स्पर्श होजानेपर भी रसरूपादि गुण जुदे जुदे अवयवोंमें जुदे जुदे रह सकते हैं। देखो, एक आमका फल अधपका होनेके समय दो दो रंग और रस धारण करता है। डांठलेकी तरफ खट्टा और नीचेकी तरफ मीठा होता है। एवं एक तरफ पीला हो जाता है। दूसरी तरफ हरा बना रहता है। घटका पाकज रूप एक तरफ तो पीला हो जाता है और दूसरी तरफ काला भी बना रहता है। इसीलिये इन पर्यायोंको एकांगी या प्रादेशिक पर्याय कहते हैं। यह हुई परमाणुओंके बंधनकी व्यवस्था। इसी प्रकार स्कन्धोंके परस्पर मिलनेपर जो बंध होता है उसकी कारणसामग्रीको भी यथायोग्य विचार लेना चाहिये।

बंधके भेद–

द्व्यणुकाद्याः किलानन्ताः पुद्गलानामनेकधा। सन्त्यचित्तमहास्कन्धपर्यन्ता बन्धपर्ययाः ॥७६॥

अर्थ–यह बन्ध जब जघन्यसे जघन्य दो परमाणुओंका होता है तब उसे द्व्यणुक-स्कन्ध कहते हैं। इसी प्रकार सबसे

अधिक परमाणुओंका जो स्कन्ध उत्पन्न होता है उसे महास्कन्ध कहते हैं। यह महास्कन्ध भी केवल पुद्गल परमाणुओंका हीं जड पिंड है। इसमें जीवका संबंध नहीं मानना चाहिये। जीवका संबंध रहकर भी शरीर—स्कन्ध उत्पन्न होते हैं परंतु अजीवतत्त्वके प्रकरणमें यहां जीवके बंध कहनेकी आवश्यकता नहीं है। दूसरी यह भी बात है कि जीवमें भी जो बंध होता है वह तभी तक होता है जब तक कि उसमें पुद्गलका संबंध रहता है। इसलिये बांधनेकी असली योग्यता पुद्गलमें ही है। इस प्रकार जघन्य स्कन्धसे उत्कृष्ट स्कन्धपर्यन्त पुद्गलमें अनेकों प्रकारके बन्धपर्याय होते हैं।

उन स्कन्ध पर्यायोंके प्रदेशतरतमादिकी अपेक्षासे बाईस भेद किये गये हैं; (१) संख्याताणुवर्गणा, (२) असंख्याताणुवर्गणा (३) अनन्ताणुवर्गणा, (४) आहार वर्गणा, (५) अग्राह्य वर्गणा (६) तैजस वर्गणा, (७) अग्राह्य वर्गणा, (८) भाषा वर्गणा, (९) अग्राह्य वर्गणा, (१०) मनोवर्गणा, (११) अग्राह्य वर्गणा, (१२) कार्मण वर्गणा, (१३) ध्रुव वर्गणा, (१४) सांतरनिरन्तर वर्गणा, (१५) शून्य वर्गणा, (१६) प्रत्येकशरीर वर्गणा, (१७) ध्रुवशून्य वर्गणा, (१८) बादरनिगोद वर्गणा, (१९) शून्य वर्गणा, (२०) सूक्ष्मनिगोद वर्गणा, (२१) नभोवर्गणा, (२२) महास्कन्ध वर्गणा।

संख्याताणुवर्गणा नामके प्रथम भेदमें द्व्यणुकादिक स्कन्ध गर्भित होते हैं। सबसे अधिक परमाणुओंके पिण्डको महास्कन्ध वर्गणा कहते हैं। चौथी, छट्ठी, आठवीं, दशवीं और बारहवीं वर्गणा जीवके उपयोगमें आती हैं। बाकी सर्व जीवसे जुदी ही रहती हैं। जो जीवसे संबद्ध होती हैं उनके बीच बीचमें भी एकेक स्कन्धभेद ऐसे होते हैं जो कि जीवसे संबद्ध नहीं होते हैं। उन्हें अग्राह्य नामसे कहा है। यह सर्व बंधकी विचित्रता है।

अजीवतत्त्ववर्णनका उपसंहार—

इतीहाऽजीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत् ॥ ७७ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो शेष आस्रवादि छह तत्त्वोंके साथ साथ अजीवतत्त्वका श्रद्धान करता है, समझ लेता है और हेयको समझ कर छोडता है अथवा उससे उपेक्षित हो जाता है वह जीव संसारबंधनसे छूटकर मुक्त हो सकता है।

इति अजीवतत्त्ववर्णन।

अमूर्तद्रव्योंका समर्थन—

अजीव व जीवके मिलाकर छह भेद माने गये हैं परंतु सर्वप्रसिद्ध व सर्वोपयोगयोग्य एक पुद्गल द्रव्य ही है। बाकीके पांच द्रव्य सर्वानुभवगोचर नहीं हैं। अत एव पुद्गल द्रव्य सभीको मान्य है परंतु पांच द्रव्योंके विषयमें अनेकों विवाद हैं। कितने ही तो जीवद्रव्यको ही नहीं मानते और कितने ही बाकी चार द्रव्योंके माननेमें आनाकानी करते हैं। परंतु उन द्रव्योंकी सिद्धि इस प्रकार होती है:—

जीवद्रव्यसिद्धि—

पुद्गलद्रव्य तो सर्वमान्य है ही। रूपरसगंधस्पर्श-गुणयुक्त होना पुद्गलका लक्षण है। जबतक इतर जड द्रव्य सिद्ध नहीं हुए तबतक जडता भी पुद्गलका लक्षण हो सकता है। मूर्त भी हम पुद्गलको ही कहते हैं। मूर्तका अर्थ हम 'स्पर्शादि चारो गुणोंका एकत्र निवास' ऐसा करते हैं और दूसरे लोग 'मध्यम परिमाण' ऐसा करते हैं। मध्यम परिमाण भी पुद्गलमें ही रहता है। यद्यपि मध्यम परिमाणवाले पौद्गलिक शरीरद्वारा बद्ध जीवका भी मध्यम परिमाण हो सकता है परंतु उसे मूर्त नहीं कह सकते हैं। एवं पुद्गलोंके परमाणु स्वयं मध्यम—परिमाणयुक्त नहीं होते परंतु मूर्त द्रव्योंके निदान कारण होनेसे मूर्त नाम पा सकते हैं। अच्छा, अब यह देखिये कि पुद्गलका लक्षण क्या हुआ? संक्षिप्त लक्षण जडता व मूर्तिकपना हुआ। जीवका स्वरूप इसपुद्गलसे उलटा मानना चाहिये। इसलिये हम जीवको अमूर्तीक तथा चेतन कहते हैं। रूपरसादिरहित अवस्थाका नाम अमूर्तीक है। पुद्गल द्रव्यसे जीव सर्वथा उलटा है। इसीलिये वह चर्मेन्द्रियोंसे या बाह्येंद्रियोंसे जाना नहीं जाता। तो भी जो मनमें प्रत्येक ज्ञानके समय एक आन्तरिक दृष्टि उत्पन्न होती है वह जीवका अनुभव कराती है। उस अन्तर्विषयका हम 'अहं=मैं, मम=मेरा' इत्यादि शब्दों द्वारा उल्लेख भी कर सकते हैं।

कितने ही लोग द्राक्षादि अमादक वस्तुओंसे मादक मद्यकी भांत जड पुद्गलमेंसे संयोगविशेषताके वश चैतन्य-गुणका प्रादुर्भाव होना मानलेते हैं। उन्हें जीवद्रव्य निराला मान्य नहीं होता। परंतु जहा चैतन्य वास्तविक स्वतंत्र कोई गुण ही नहीं है वहां मद्य मादक है या नहीं इस बातकी परीक्षा होना भी असंभव हो सकता है। मद्यकी शक्तिका उपयोग जीवपर ही होता है, पत्थरपर नहीं हो[3] सकता है। इसलिये कहना चाहिये कि जीवकी शक्ति ठीक मद्यके तुल्य नहीं है किंतु

१ रूपादिसंस्थानो मूर्तिः। इति सर्वार्थसिद्धावुक्तम्। २ तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः। भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातन ॥
३ उन्मादिका शक्तिरचेतना या गुडादिसंभवा न्यदर्शि। सा चेतने ब्रूहि कथ विशिष्टदृष्टात्तकक्षामधिरोहतीह ॥ धर्मश० ॥

मद्यसे विलक्षण है। अत एव मादक मद्यकी सत्ता पुद्गलमें रह सकती है परंतु चैतन्यसत्ता उसके आश्रित नहीं रहसकती है। संस्कार तथा स्मरण, एवं रागद्वेषादि कुछ ऐसे चैतन्यपरिणाम भी सर्वानुभवसिद्ध हैं कि जिनका पौद्गल शरीरकी हानि-वृद्धि होनेके साथ अविनाभाव जुडता नहीं है। शरीरमें कुछ भी हीनाधिकता न होते समय भी ये परिवर्तन होते ही रहते हैं। पुत्रमृत्यु सुनते ही जो दुःख होता है वह अकस्मात् होता है। शरीरके विपरिणामका उसमें कोई संबंध जुडता नहीं दीख पडता है। इसीलिये इस गुणका आश्रय निराला जीवद्रव्य मानना पडता है।[1]

कितने ही लोगोंका यह कहना है कि जडता गुण चैतन्य अवस्थामें जब बदल जाता है तब उसे जीव कहने लगते हैं। जिस प्रकार एक हरा रंग बदलकर पीला हो जाता है। खट्टा रस बदलकर मीठा रस उत्पन्न होजाता है। यही हालत जड चेतनकी है। उन दोनोंको एक ही पुद्गलके किसी मूल गुणका विपरिणामरूप मानलेनेसे जब कि काम चल सकता है तो जीव द्रव्यको निराला माननेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—रूप गुणका हरा पर्याय बदलकर पीला होजाना अथवा रस गुणका खट्टेसे मीठा हो जाना जिस प्रकार निराधार नहीं है उसी प्रकार जड—चैतन्यको कालक्रमवर्ती पर्याय माना जाय तो इनका आधार कोई त्रिकालाबाधित गुण सिद्ध होना चाहिये। परंतु वह नहीं सिद्ध होता है। हरे पीले आदि पर्यायोंके आधारभूत गुणका हम लक्षण ऐसा करते हैं कि जो नेत्रग्राह्य होसके वह रंग या रूप है। रसका लक्षण जीभका विषय होना है। ये लक्षण रूप रसके प्रत्येक पर्याय बदल जानेपर भी कायम रहते हैं। चैतन्य-जडता पर्यायोंका ऐसा एक भी आधार सिद्ध नहीं होता कि जो दोनो अवस्थाओंमें कायम रह सकता हो और अव्याप्ति आदि दोषोंसे मुक्त हो सके।

कुछ लोगोंका कहना ऐसा है कि जडत्व व चैतन्य ये दोनों गुण पुद्गलके ही आश्रित हैं। एकके उद्भूत होते समय दूसरा दबकर रहने लगता है। इसीलिये जड पत्थर आदि वस्तुओंमें चेतना और चेतन मनुष्यशरीरादिकोंमें जडता दीख नहीं पडती है। ये दोनों किसी गुणके पर्याय नहीं हैं किंतु स्वतंत्र दो गुण हैं। ऐसा मानें तो भी जीवद्रव्यको जुदा माननेकी आवश्यकता नहीं रहती है?

१ "स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं हि स्वस्य व्यवसाय." इति परीक्षा०।

उत्तर—परस्पर विरोधी दो गुणोंका एक पदार्थमें रहना संभव नहीं है। शीतोष्णादि परस्पर विरोधी होकर भी एक पदार्थमें रहते हुए दीख पडेंगे परंतु युगपत् नहीं। और वह भी इसलिये कि एक गुणके वे पर्याय हैं। उस गुणको हम स्पर्श कहते हैं। स्पर्श गुणका लक्षण ऐसा है कि जो छूनेपर अपना ज्ञान करादे। यदि इसी प्रकार किसी एक गुणके जडतादि दो पर्याय माने जाय तो उनका आधारभूत कोई त्रिकालाबाधित अन्य गुण होना चाहिये। परंतु नहीं है। यह बात कह चुके हैं। यदि ये दोनो गुण ही माने जांय तो इनकी सत्ता सर्वदा रहेगी। हरे-पीले आदि पर्यायोंकी भांत एकके समय दूसरा न रहे, ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि, गुण सर्वदा अपनी सत्ता कायम रखते हैं। पर्याय सर्वदा नहीं टिकते। यही गुणपर्यायोंमें परस्पर अंतर है। गुणके विना पर्याय नहीं होते, यह भी नियम है। यदि यों ही पर्याय उत्पन्न होने लगें तो बीजके विना भी अंकुर हो सकेगा। और ऐसा हुआ तो कार्यकारण-संबंध माननेकी आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये। एवं, अनियमित चाहें जो कार्य चाहें जहांपर हो उठना चाहिये। परंतु ऐसा होनेसे सृष्टिका क्रम ही जुड नहीं सकेगा। इसलिये प्रत्येक पर्यायोंके आश्रयभूत जुदे जुदे गुण मानने पडते हैं और वे शाश्वतिक माने जाते हैं। जैसा, गुण न माननेपर पर्याय होना संभव नहीं होता वैसा ही गुण जुदे जुदे माने विना भी काम नहीं चलसकता है। एकके जो पर्याय होंगे वे विजातीय नहीं हो सकते हैं। इसीलिये प्रत्येक गुण निरनिराले रहने चाहिये। इसी युक्तिके बलपर प्रत्येक पदार्थमें अनंतों गुण मानने पडते हैं। विजातीयका लक्षण ऐसा हो सकता है कि जिसका एक लक्षणसे अन्तर्भाव न होसके वह विजातीय है। साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि सत्ता गुणका लक्षण करनेपर एक भी गुण बाकी नहीं रहता—सभी सजातीय हो सकते हैं। परंतु नानाजातीय पदार्थोंको माने विना सृष्टिका उथलापथल होना संभव नहीं हो सकेगा इसलिये सत्ताके सिवा अवातर पदार्थोंमें परस्पर विजातीयता देखनी चाहिये।

इस कथनका तात्पर्य यह हुआ कि जडता व चेतनता ये दोनो किसी एक गुणके पर्याय नहीं हो सकते और न ये दो गुण होकर एक पदार्थके अधीन ही रहसकते हैं। दूसरी यह भी बात समझलेनी चाहिये कि जो गुण होता है वह निराधार नहीं रहता। प्रत्येक गुणकेलिये किसी न किसी आधारकी आवश्यकता रहती ही है। जडता गुणके आधारको पुद्गलद्रव्य कहते हैं। इसी प्रकार चैतन्य गुणका आधार भी कोई द्रव्य होना चाहिये। और वह आधार जडताका आधार नहीं हो सकता इसलिये वह निराला एक जीवद्रव्य मानना पडता है।

जीवसिद्धिका दूसरा प्रकार—

(१) किसी भी पदार्थमें जब तक विजातीय संयोग नहीं होता तब तक पूर्वावस्थाका परिवर्तन नहीं होता । पूर्वावस्था बदलनेका कारण सर्वत्र विजातीय संयोग ही देखनेमें आता है । यह एक नियम हुआ । इसके उदाहरण—

शीतस्वभावयुक्त पानी तब तक नहीं सूखता जबतक कि उसमें उष्णताका थोडा बहुत मेल न हो । इसीलिये वह जाडेके दिनोंमें देरसे सूखता है और गरमीमें जल्दी । वह सडता भी तभी है जब कि उसमें विजातीय किसी माटी आदिका संयोग होजाता है।इसी प्रकार एक कठोर पदार्थसे किसी नरम चीजमें जखम हो जाती है। बीज माटीसे एक जुदी चीज है । वह जब माटीमें डाला जाता है तब अंकुर उत्पन्न होता है । ऐसे उदाहरणोंसे ऊपरका नियम दृढ होता है ।

[२] जिसकी सत्ता होगी उसका सर्वथा नाश नहीं होगा। जो नहीं है उसका निर्मूल उद्भव भी नहीं होगा। बीजके बिना अंकुर नहीं होता और बीजनाश होते ही अंकुर अवश्य उत्पन्न होता है। यह देखकर उक्त नियमको सत्य मानना चाहिये ।

[३] कारण अनेक तथा अनेक प्रकारके जबतक न हों तबतक नाना विचित्र कार्य नहीं हो सकते हैं।

इन तीन नियमोंके मानलेनेसे जीव सिद्ध होता है । कैसे ? जगमें यदि दृश्यमान एक रूपी ही पदार्थ सत्य हो तो उसमें नाना तरु-तृणादि विकार या रूपांतर होना संभव नहीं हो सकता है । क्योंकि, रूपी यावत् पदार्थोंका वास्तविक एक ही लक्षण सिद्ध होता है । यह लक्षण जब कि सर्वत्र रह सकता है तो सभी पदार्थ एकजातीय होने चाहिये । जो एकजातीय पदार्थ होते हैं वे परस्पर मिलनेपर भी किसीमें उथलापथल या विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हैं । यह बात प्रथम नियमद्वारा सिद्ध होती है।

अब यह विचार करिये कि, यद्यपि माटी-बीज इत्यादि जिन पदार्थोंके मिलनेसे अंकुरादि विकार होते हैं वे भी परस्परमें विजातीय दीख पडेंगे । परंतु हम उनमें भी यह प्रश्न कर सकते हैं कि जहां एक ही मूल द्रव्य है वहां बीजादि विचित्रता भी क्यों उत्पन्न हुई? तीसरे नियमको देखिये कि, कारण वास्तविक व नाना न हों तो कार्य नाना तथा विचित्र उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । अर्थात्, जब कि अंतमें मूल द्रव्य एक ही था तो नाना विचित्र सृष्टिकार्य, जो आज दीखरहे हैं वे, कभी नहीं हो सकते थे । इसलिये मानना चाहिये कि दृश्यमान पदार्थ जगमें जबसे हैं तभीसे इससे उलटे लक्षणवाला भी कोई पदार्थ जगमें अवश्य है । वह कैसा है ?

दृश्यमान पदार्थ जब कि रूपरसगंधस्पर्शयुक्त और जड है तो इससे असली उलटा वही हो सकता है जो कि रूपरसगंधस्पर्शरहित और चैतन्ययुक्त हो। दृश्यमान पदार्थोंमें रूपादिलक्षण सर्वत्र रहता है, यह हम लिख चुके हैं। इसलिये दृश्यमान पदार्थोंमें परस्पर विजातीयता नहीं है। दूसरे नियमके अनुसार यह शंका भी दूर हो सकती है कि जड पदार्थ ही कदाचित् चेतन हो जाता हो। यदि जडकी जडता नष्ट हो जा सकती हो तो सत्का लोप होना भी न्याययुक्त हो सकता है। और फिर सत्का विनाश तथा असत्का प्रादुर्भाव माननेमें भी कुछ हरकत नहीं होनी चाहिये। परन्तु ये बातें न्यायविरुद्ध हैं ऐसा हम दिखा चुके हैं।

विजातीय संयोगके विना जड पदार्थमें कोई भी विकार उत्पन्न नहीं होसकता है और जिस प्रकार दूसरे विकार होना संभव नहीं है उसी प्रकार हलन–चलन होना भी संभव नहीं है। हलन–चलन भी एक विकार है। यद्यपि यह विकार जीवका भी गुण नहीं है इसलिये जीवके मिलजानेपर भी वह उत्पन्न होना नहीं चाहिये–यह शंका होना सहज है; परन्तु विरुद्धजातीय पदार्थोंके योगसे वस्तुओंमें क्षोभ उत्पन्न होना संभव है। उसी क्षोभका कार्य हलन–चलन माना गया है। इसलिये हलन–चलन किसी एक पदार्थका स्वभाव न होनेपर भी विरुद्धसंयोगज स्वभाव होसकता है। यहांपर एक दूसरी बात यह भी विचारने योग्य है कि जीव ऊर्ध्वगामी ही क्यों न हो परन्तु गतिस्वभावयुक्त माना गया है। वह इसीलिये कि यदि गतिस्वभाव जीवका मूल स्वभाव न हो तो जडका संयोग होनेपर भी वह जडकी भांत हलचल न सकेगा। जो मूलमें गुण नहीं होता वह उत्तर अवस्थाओंमें भी प्रगट नहीं होसकता है। परन्तु संसारकी जडमिश्रित अवस्थाओंमें हलना चलना देखा जाता है इसलिये मूलावस्थामें भी वह गुण अवश्य होना चाहिये। हां, इतना परिवर्तन उस गुणमें जडयोगवशात् होसकता है कि जो जीव शुद्धावस्थाके समय ऊर्ध्वगामी है वह अशुद्धावस्थाके समय सर्वतोगामी होजाय। इस प्रकार निष्क्रिय जड पदार्थोंको हलानेवाला और उथलापथल कराने वाला एक सर्वथा विरुद्धस्वभावधारी जीवद्रव्य अवश्य मान लेना पडता है।

यद्यपि वह दीखता नहीं है परन्तु जड पदार्थोंकी चेष्टा दीखनेसे प्रेरक जीवका अनुमान हो जाता है[1]। दीखै भी क्यों वह? जो दीखने योग्य होता है वह जड वस्तुओंके विरुद्ध नहीं कहा जासकता है। और जो जडसे विरुद्ध नहीं होगा वह जड

[1] यन्त्रप्रतिमाचेष्टित यथा प्रयोक्तुरस्तित्व गमयति। इति सर्वार्थसिद्धिः।

वस्तुओंमें विक्रिया कैसे करेगा ? इसीलिये जो जड वस्तुओंमें विक्रिया करता है वह दृश्यमान जड वस्तुओंसे विरुद्ध अदृश्यमान व चेतन ही होना चाहिये। जड निष्क्रिय होते हैं तो वह सक्रिय होना चाहिये। इस प्रकार जुदा जीवसिद्धि होती है।

जिस प्रकार जीवके संयोग विना जड पदार्थोंसे विशेष कार्य होना संभव नहीं है उसी प्रकार जडके विना चेतन जीव द्रव्य भी कोई विकार धारण नहीं कर सकता है। क्योंकि, विजातीय संयोगके विना अवस्थान्तर होना सर्वत्र न्यायविरुद्ध है। इसीलिये जगमें जो केवल जीवके सिवा कुछ नहीं मानते हैं वे अविचारी हैं। हां, यह होसकता है कि जीव सर्वत्र हो और सर्व क्रियाओंका जनक हो। क्योंकि; जड पदार्थोंमें स्वयं संचार--शक्ति नहीं है, किसी विषयको योजित करने की शक्ति भी नहीं है। केवल जीवके संबंधसे संचरित होनेकी शक्ति है और किसी भी भांत योजित होजानेकी शक्ति है। इसीलिये किसी भी कार्यका मुख्य कर्ता जीव ही हो सकता है। जड पदार्थ केवल उपभोग्य होसकते हैं, न कि किसी कार्यके कर्ता। यह वात यद्यपि सत्य है परन्तु यह भी नियम साथ ही मानना पडता है कि जीव कार्यजनक शक्तिका धारक होनेपर भी शुद्ध रहनेपर या होनेपर कुछ भी नहीं कर सकता है। इसीलिये सर्व सृष्टि या विश्वके कर्ता जीव अवश्य हैं परन्तु वे जडयुक्त अथवा सकर्म होने चाहिये। जो लोग जीवकी कर्तृत्व शक्तिके विना विश्वकी रचना होना असंभव समझकर निराले किसी शुद्ध ब्रह्म या ईश्वरकी कल्पना करते हैं उनकी कल्पना व्यर्थ और असंभव है। एक तो जीव जडमें फसनेवाला जव स्वयं विद्यमान है, जो कि कर्ता होनेकी शक्ति रखता है तव निराले किसी कर्ताकी कल्पना क्यों करनी चाहिये ? दूसरें, जो जडमें लिप्त होगा वह उस जडको विकारयुक्त करेगा, जो स्वयं अलिप्त होगा उसके द्वारा दूसरे जीवोंकी सृष्टि होनेका क्या संवंध है ? यदि फिर भी कोई उस ईश्वरकी कल्पना करे तो वह उसकी अंध श्रद्धा ही कहना चाहिये।

फलितार्थ यह हुआ कि पदार्थ जगमें दो ही हैं; एक चेतन जीव दूसरा जड पुद्गल। जो नाना कार्य अनुभवगोचर होते हैं वे इन्हीं दोनोंकी संयोगज अवस्थाएं हैं। इन्हींको विश्वकार्यकारी द्रव्यें कहना चाहिये। जितना भोज्यभोजकताका अथवा विषयविषयिताका प्रकार देखने और जाननेमें आता है वह सर्व इन्हीं दो द्रव्योंका आडम्वर है।

धर्माधर्माकाशकाल—सिद्धि—

हम लिखचुके हैं कि विजातीय पदार्थके संयोग विना किसी पदार्थमें अवस्थान्तर नहीं होसकता है। इसीको दूसरे श-

१ "कर्ता जीवः षट्सु नान्ये" इत्यसकविकृते वर्धमानपुराणे अ० १५, श्लोक १६।

ब्दोंमें कहें तों यों कह सकते हैं कि कारणके विना कार्य नहीं होसकता है। कारण एक तो ऐसे होते हैं कि जो स्वयं कार्यकी अवस्थामें वदलकर कार्यरूप होजाते हैं। जैसे माटी घटकार्यरूप स्वयं होजाती है। इस कारणको हम उपादान कहते हैं। दूसरे कारण ऐसे होते हैं कि जो कार्योत्पत्ति होनेमें सहायता करते हैं। परन्तु कार्य उत्पन्न होजानेपर भी स्वयं वे जुदे कायम बने रहते हैं। उनको हम निमित्त या सहायक कारण कहते हैं। नैयायिकोंने भी इसे निमित्त ही कहा है परन्तु प्रथम कारणका नाम समवायी रक्खा है। निमित्त कारणके उदाहरण घटोत्पत्तिके समय चाक, कुँभार इत्यादि हो सकते हैं। कोई भी कार्य क्यों न हो परन्तु उसके तयार होनेमें उक्त दोनो ही कारणोंकी आवश्यकता पडती है।

उपादान कारण प्रत्येक कार्यके विषयमें जीव व पुद्गल ये दो ही होसकते हैं। यद्यपि ये द्रव्य हैं इसलिये नित्य हैं। अत एव कार्योंकी उत्पत्ति एकदम होजानेकी आशंका उत्पन्न होगी। परन्तु यह ध्यान रहे कि हम यहांपर जीव-पुद्गल-के संबंधसे होने वाले विकारोंका विचार कर रहे हैं। इस समय वे ही हमारी दृष्टिमें कार्य हैं। वे सर्व कार्य जीव--पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। और संयोग सदा एकसा रहता नहीं है इसलिये वे कार्य यथासमय ही होते हैं, न कि सर्वदा। जिस प्रकार प्रत्येक कार्यका उपादान कारण जुदा जुदा होना चाहिये उसी प्रकार प्रत्येक कार्यके निमित्त कारण भी जुदे जुदे ही होने चाहिये।

प्रत्येक कार्यके निमित्त कारण जैसे जुदे जुदे होने चाहिये वैसे ही उन निमित्तोंके उपयोग भी प्रत्येक कार्यमें कुछ न कुछ जुदे ही जुदे होने चाहिये। उनमेंसे जो निमित्त कारण प्रत्येक कार्यकी जुदी जुदी जिन विशेषताओंको उत्पन्न करते हैं उन विशेषताओंको तथा उन निमित्त कारणोंको यहां जुदा जुदा गिनाकर दिखाना तो अशक्य है परन्तु कार्योंकी जो विशेष अवस्थाए स्थूल तथा परिमित हैं वे दिखाई जासकती हैं।

उपभोग्य व दृश्यमान पर्यायोंमें चार बातें ऐसी दीख पडती हैं कि जिनका संबंध केवल उनके उपादानोंके साथ ही नहीं कहा जा सकता है। (१) एक कोई भी पदार्थ देखिये, यहां है, वहां है, नीचे है, ऊपर है, ऐसा एक न एक विशेषण उसमें अवश्य दीख पडेगा। [२] दूसरा विशेषण जब, तब—ऐसा दीख पडेगा। तबसे अबतक, इत्यादि प्रकार भी इसी दूसरे विशेषणके समझने चाहिये। [३] रक्खा है, स्थित है, ठहरा है, स्तब्ध है, निश्चल है इत्यादि जो कल्पनाएं होती हैं वे भी एक तीसरी भांतके विशेषणको मनाती हैं। [४] चलता है, हल रहा है, चंचल है, अस्थिर है, जा रहा है,

पड रहा है, फेंका जा रहा है, सकुड रहा है, पसर रहा है—इस भांतके विचार भी पदार्थके देखनेपर कभी कभी हो उठते हैं। यह चौथा विशेषण है। प्रत्येक विशेषणको और भी अनेकों भांतसे दिखा सकते हैं परंतु वे सभी उक्त चार प्रकारके ही प्रकारांतर होंगे।

ये जो चार बातें देखनेमें आती हैं वे निष्कारण नहीं हो सकती हैं, क्योंकि, पदार्थके न रहते हुए ज्ञानका होना असंभव है। हां, मिथ्या ज्ञान ऐसे भी हो सकते हैं कि जिनका विषय जैसा कुछ दीख पडता है वैसा नहीं होता। परंतु वे मिथ्या ज्ञान सदा सर्वत्र सभीको एकसे उत्पन्न नहीं होते। और जिसको होते हैं उसको भी उनका मिथ्यापना कभी न कभी मालूम पडजाता है। परतु उक्त चार वातें जो भासती हैं उनका स्वरूप सर्वत्र सर्वदा व सभीको एकसा भासता है। उत्तर कालमें भी मिथ्यापना कभी किसीको प्रतीत नहीं होता। इसलिये उक्त चार वातोंकी निदान--कारणभूत चीजें अवश्य माननी चाहिये।

यद्यपि ये चारो वातें पदार्थोंके देखनेपर ही समझमें आती हैं तो भी इन वातोंके द्वारा पदार्थोंकी कोई भी आकृति वदलती नहीं है। कोई भी पदार्थ जैसा चलने फिरनेमें दीख पडता है वैसा ही ठहरनेपर भी दीख पडता है। यदि किसी किसीमें अस्थिरसे स्थिर अवस्था होनेके समय कुछ फेरफार होता भी दीख पडता हो तो उसे गमन या ठहरनेका कारण नहीं कहसकते हैं। क्योंकि, जो फेरफार ठहरनेकी अवस्थामें एकवार दीख पडता है। वही दूसरे वार पदार्थके चलते फिरते समय भी दीख पडता है। इसलिये फलितार्थ यह हुआ कि वस्तुओंका फेरफार होना जुदी चीज है और ये चारो वातें जुदी चीज हैं। अत एव उक्त चारो विशेषण जो दीख पडते हैं वे जीवपुद्गलोंके गुणस्वभाव नहीं हो सकते और असत् भी नहीं होसकते हैं। एवं, निराधार भी ये नहीं रह सकते हैं। जो गुणस्वभाव होते हैं वे किसी न किसी द्रव्यके अधीन रहते हैं। ये चारो गुणस्वभाव हैं और परस्परमें विजातीय हैं। इसलिये इनका आधार होना ही चाहिये। परन्तु वह आधार एक कोई पदार्थ नहीं हो सकता है। जिस प्रकार जडता तथा चैतन्य विजातीय होनेसे उनके आधार पुद्गल व जीव ऐसे जुदे जुदे माने जाते हैं उसी प्रकार उक्त चारो गुणस्वभावोंके आधार भी चार मानने पडते हैं। [१] प्रथम प्रकारके गुणके आधारको आकाश कहते हैं। [२] दूसरे विशेपणके आधारका नाम काल है। [३] तीसरेका "आधार अधर्म कहाता है। (४) चौथेका आधार धर्म द्रव्य है।

भावार्थ, इन चारों द्रव्योंमें उक्त चार सामर्थ्य हैं। इसीलिये दृश्यमान पदार्थोंमें इन चारोंके सहवाससे चार बातें पैदा होती हुई दीख पडती हैं। ये चारो द्रव्य व्यापक हैं इसलिये,कहीं और कभी भी इनके उक्त चारो कार्योंमें अंतर नहीं पडता। यदि आकाशादिद्रव्योंको अव्यापक माना जाय तो उक्त चारो कार्योंका सदा सर्वत्र होते रहना असंभव हो जायगा। परंतु हम देखते हैं कि सदा और सर्वत्र ही उक्त चारो बातें दीखती हैं। इसीलिये उनके आधारोंको भी व्यापक मानना न्यायसंगत है। यद्यपि काल कोई अखंड एक द्रव्य न मानकर अणुरूप माना गया है परंतु वे अणु यावत् आकाशमें भरे हुए हैं। इसलिये कालको व्यापक कहना भी सिद्धान्तविरुद्ध नहीं हो सकता है। शेष तीन द्रव्य तो अखण्ड रूपसे व्यापक माने ही गए हैं।

अखंडसखंडताका हेतु—

धर्म, अधर्म तथा आकाशको अखंड एक द्रव्य मानकर कालको अणुरूप असंख्यात द्रव्य माना है। परन्तु इसकेलिये कोई युक्ति भी है या नहीं ? ऋषियोंके कहनेपरसे भी सूक्ष्म तत्त्वोंको मानलेना अनुचित नहीं हैं। परन्तु इसकेलिये एक युक्ति भी है। वह यह कि, अणुमात्र प्रमाणसे अधिक प्रमाणवाले जीव तथा पुद्गलके पर्याय बहुतसे दीख पडते हैं। उन पर्यायोंमें जो गति, स्थिति या अवगाहना होती दीखती है वह तिरछी होती हुई दीख पडती है। लंबाई चौडाई व ऊंचाई-को लेकर जो परिवर्तन होता है उसे तिरछा परिवर्तन कहते हैं। अथवा ऊपरसे नीचेतक, नीचेसे ऊपर तक तथा पूर्व पश्चिमादि दिशाओंमें जो एक तरफसे दूसरी तरफतक विस्तार लिये हुए परिवर्तन हो उसे तिर्यक् पर्याय कहते हैं। अर्थात् जिनमें क्षेत्रका आश्रय लिये हुए पर्याय उत्पन्न होता जान पडे वे सर्व तिर्यक् पर्याय कहे जाते हैं। और जिस पर्यायमें जब तबकी कल्पना होती जान पडे वह ऊर्ध्वपर्याय कहाता है। 'ऊर्ध्व' शब्दका अर्थ भी क्षेत्रके संबंधसे होसकता है परन्तु कालके प्रकरणमें वह अर्थ न लेकर पूर्वापरादि शब्दार्थकी भांत कालसंबंधी अर्थ लेना चाहिये। इन कालसंबंधी ऊर्ध्व पर्यायोंमें क्षेत्रकी अपेक्षा नहीं लीजाती है।

कालका कार्य उत्तरोत्तर अवस्थाओंका बदलते जाना है। वह बदलना एक तो अतिशीघ्र होता है और दूसरा कुछ विलंबसे होता है। जो विलंबसे होता है उसे अज्ञानी ज्ञानी सभी देखते हैं। जो अति शीघ्र होता है उसे तीव्रान्तर्दृष्टि ज्ञानी मनुष्य ही समझ पाते हैं। इसी दो प्रकारके परिवर्तनको यों भी कह सकते हैं कि परिवर्तन एक ही है और वह प्रति

क्षण होता है। परंतु परिवर्तन होते होते जब अंतर बहुतसा पडजाता है तब मंददृष्टियोंकी समझमें आता है। मन्ददृष्टिका अर्थ ही यह है कि वह अधिक स्थूल होनेपर इंद्रियके विषयको देख सके।

इस परसे जब हम विचार करते हैं तो दीख पडता है कि कालके कार्योंमें क्षेत्रकी व क्षेत्रके कार्योंके कालकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है। जब तब–इत्यादि कल्पनाओंके द्वारा जब पर्याय बदलता हुआ हमारी समझमें आता है तब पर्यायकी लंबाई चौडाईका हमें कुछ भी भान नहीं होता है। परंतु जब हम अवगाहन तथा गति–स्थितिके विषयका विचार करते हैं तब हमें लंबाई चौडाई वा ऊंचाईकी कल्पना उठती है। कोई भी पदार्थ चलते चलते ठहर गया–ऐसी जब हमारी कल्पना होती है तब उसके ठहरनेकी क्रियाका विस्तार पदार्थके विस्तारपरसे ध्यानमें आता है। इसी प्रकार गमन भी एक वार होकर जब तक चालू रहता है तब तककी गमनक्रियाको हम एक कहते हैं और उसकी अखंडता एक प्रदेशसे अधिक प्रदेशतक जान पडती है। इसी प्रकार अवगाहन भी इधर उधर पसरा हुआ सदा जान पडता है। परंतु कालकी क्रियाएं जितनी होती हैं उनके साथ इधर उधरके प्रसारकी कल्पना नहीं होती है जिनके कार्योंमें पसरनेकी कल्पना होती है उन कारणभूत पदार्थोंको भी पसरा हुआ मानना चाहिये। जिसके कार्योंमें पसरनेकी भावना कभी नहीं होती उस कारणभूत द्रव्यको भी पसरा हुआ माननेकी आवश्यकता नहीं है। इसीलिये कालको परमाणुमय भिन्न भिन्न मानते हैं और आकाश तथा धर्माधर्मको अखंड एक द्रव्य मानते हैं।

अत एव काल लोकाकाशमात्रवर्ती होकर भी अलोकाकाशके ऊर्ध्व पर्याय करानेमें कारण माना गया है। जैसे कुंभारके चाकके नीचे एक कील रहती है। उसका चाकसे सर्वत्र संबंध नहीं रहता तो भी वह चाकको फिराती है। यही अवस्था कालकी है। परंतु धर्मादि द्रव्य जहांपर हैं वहींपर अपना कार्य करसकते हैं, अन्यत्र नहीं।

यहां शंका यह होना सहज है कि जिस प्रकार लोकवर्ती काल अलोकवर्ती आकाशके पर्यायोंको दूर रहकर भी बदलता है उसी प्रकार लोकके भी किसी एक देशमें उसकी सत्ता मानली जाय तो सर्व लोकवर्ती सर्व जीवपुद्गलोंके पर्यायोंको वह बदलता रहेगा। और यदि ऐसा है तो कालके असंख्य अणु सर्वत्र व्याप्त मानना अनुचित है?

१ लोकबहिर्भागे कालाणुद्रव्याभावात् कथमाकाशद्रव्यस्य परिणतिरिति चेदखण्डद्रव्यत्वादेकदेशदण्डाहतकुम्भकारचक्रभ्रमणवत्। इति द्रव्यसंग्रहटीकायामुक्तम्।

उत्तर—कोई भी निमित्त कारण कार्यका निमित्त तभी हो सकता है जब कि कार्यकी सामग्रीके साथ जुड़गया हो। कार्यकी सामग्रीसे अंतरित रहनेवाला कारण कार्यकी सहायता कभी नहीं कर सकता है। काल जब कि पदार्थोंके ऊर्ध्व पर्याय उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण है तो यह अवश्य मानना पडेगा कि उन पदार्थोंके साथ उसका थोडासा संबंध अवश्य होता है। अलोकवर्ती आकाशके ऊर्ध्व पर्याय होनेमें भी वह इसीलिये कारण होता है कि उसका आकाशके लोकवर्ती भागके साथ संबंध है। आकाश अखंड है इसलिये सर्वत्र एक है। इसीलिये एकत्र संबंध होनेसे सर्वत्र उपयोग होता है। परंतु ऐसा कभी कहीं नहीं होसकता कि असंबद्ध पदार्थोंमें कोई कारण कुछ भी अपना उपयोग दिखा सके। लोकके भीतर जीव पुद्गलोंके जो ऊर्ध्व पर्याय होते हैं वे भी कालके निमित्तसे होते हैं। जीव पुद्गल अव्यापी पदार्थ हैं इसलिये किसी एक स्थानमें रहनेवाले कालाणुके साथ सर्व वे जीव पुद्गल संबंध नहीं कर सकते हैं। इसीलिये कालको अणुरूप मानकर भी वैसे अणु असंख्यों और लोकभरमें व्याप्त मानने पडते हैं। यदि किसी व्यापक द्रव्यका पर्यायमात्र उत्पन्न होनेमें कालको कारण माना होता तो एक अणु भी कार्यकारी हो सकता था। परन्तु अव्यापक पदार्थोंकेलिये भी काल कारण है इसलिये इसकी असंख्य संख्या माननी पडती है।

असंख्य कालके माननेमें यही युक्ति है। जो पदार्थ प्रत्यक्षसे सिद्ध है उसके सिद्ध करनेकेलिये युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती और न कोई उसके स्वीकार करनेमें विवाद ही करता है। परंतु जो परोक्ष पदार्थ हैं उनकी उतनी ही सिद्धि हो सकती है जितनेकेलिये कि युक्ति हो और उतना ही लोग उसका स्वरूप निःशंक माननेकेलिये तयार होते हैं। अधिक स्वरूप मानना और मनाना मानो एक प्रकारका अज्ञान और सख्ती है। इसीलिये हम आकाशादि तीनों द्रव्योंको अखंड एक एक और कालको असंख्य ऐसा युक्तिद्वारा सिद्ध करते हैं। कालद्रव्यके परमाणुओंको भिन्न भिन्न माननेकेलिये ग्रंथोंमें इसी प्रकार की युक्तियां दीख पडती हैं।

१ ते कालाणवः कतिसंख्योपेता ? लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीति द्रव्यसंग्रहटीकायामुक्तम्।

२ "प्रत्यक्षसिद्धत्वेनात्र पर्यनुयोगस्यानवकाशात्। व्यापारस्य तु प्रत्यक्षसिद्धत्वाभावान्न तथा स्वभावावलम्बनं युक्तम्।" इत्युक्तं प्रमेयकमलमार्तण्डे ज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वप्रतिषेधप्रकरणे प्रथमसूत्रव्याख्याने।

३ सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

४ कालस्यैकप्रदेशत्वविषये युक्तिं प्रदर्शयति—तद्यथा, किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतं शुद्धात्मद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव। यथा वा मनुष्यदेवादिपर्यायोपादानकारणभूतं संसारिजीवद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव। तथा कालद्रव्यमपि समयरूपस्य कालपर्यायस्य विभागेनोपादानकारणभूतमविभाग्येकप्रदेश एव भवति। अथवा मन्दगत्या गच्छतः पुद्गलपरमाणोरेकाकाशप्रदेशपर्यन्तमेव कालद्रव्यं गमने सहकारिकारणं भवति। ततो ज्ञायते—तदप्येकप्रदेशमेव। इति द्रव्यसंग्रहटीका २५वीं गाथा।

भावार्थ, कालको व्यापक होनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, कालकी अपेक्षासे जो प्रकार पदार्थोंमें दीख पडता है वह जब कि व्यापक नहीं है तो उसके कारणको व्यापक होनेकी क्या आवश्यकता है ? कार्योंकी उत्पत्ति जैसी हो वैसा ही कारणका स्वरूप मानना ठीक है। गति, स्थिति व अवगाहन—ये पसरे हुए स्वभाव जान पडते हैं इसलिये इन स्वभावोंके जनक आकाशादि द्रव्योंको भी पसरा हुआ मानना पडता है। जैन सिद्धांतोंमें तिर्यक्शब्दका जो अर्थ किया है उसीको हम पसरा हुआ लिखते हैं।

दूसरी भांतसे यों भी इसका समर्थन होसकता है कि पर्यायोंके भेद दो हैं; एक ऊर्ध्व पर्याय दूसरे तिर्यक् पर्याय। तिर्यक् पर्यायोंके उत्तर भेद तीन हैं; गति, स्थिति व अवगाहन। इसीलिये ये तीनो तिर्यक् पर्याय अपने अपने उन धर्मादि कारणोंको तिरछे संवद्ध हुए मनाते हैं। ऊर्ध्व पर्यायोंमें उत्तर भेद भी नहीं है और तिरछे पर्यायोंसे उलटे होनेके कारण कालके पर्यायोंको तिरछे पसरे हुए माननेकी भी आवश्यकता नहीं है। इसीलिये उनके कारणभूत कालाणुओंको भी परस्पर संवद्ध माननेकी आवश्यकता नहीं है। गत्यादि चारो पर्यायोंको हम तिर्यक् व ऊर्ध्व इन दो भेदोंमें इसलिये गर्भित करते हैं कि ये चारो ही पर्याय हैं और पर्यायोंके मूल भेद उक्त दो ही किये गये हैं। यदि गत्यादि तीनों पर्यायोंको तिर्यक् पर्याय न मानाजाय तो पर्यायोंके दो भेद कहना संगत न होगा अथवा गत्यादिक पर्याय ही नहीं कहे जासकेंगे। परंतु ये गत्यादिक पर्याय ही हैं और पर्यायोंके दो ही भेद हैं। इसलिये गत्यादिकोंको तिर्यक् पर्याय मानना सर्वथा उचित है।

यद्यपि आकाशादि अमूर्त द्रव्य प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हैं तो भी गत्यादि चार प्रकार वस्तुओंमें दीख पडनेसे उनके चार कारणोंको मानना अवश्य पड़ता है। यह हम कह चुके हैं कि कारणके विना कार्य नहीं होता और कार्योंकी विचित्रता कारणभेद माने विना नहीं बनसकती है। गत्यादि चारो प्रकार परस्परमें विसदृश हैं और वस्तुस्वभावमें कुछ भी भेद करनेवाले नहीं हैं। इसलिये उक्त चारो प्रकारकी अवस्थाएं उत्पन्न करनेकेलिये चार जुदे जुदे ही कारण मानने पड़ते हैं। यदि ये वस्तुओंके स्वभाव ही हों तो वस्तुओंमें विशेषता करनेवाले होने चाहिये। परंतु वस्तुओंमें इनके द्वारा कोई विशेषता नहीं होती इसलिये ये सर्व वस्तुस्वभावमय नहीं होसकते हैं। एवं असत् ही नहीं होसकते हैं। इसीलिये ये प्रकार औपचारिक अथवा इतर संबंधसे हुए माने जाते हैं। अथवा यों कहिये कि जीवपुद्गल द्रव्यें गत्यादि रूपसे परिणत होनेकी

१ सामान्य द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्। विशेषश्च [इति परीक्षामुखसूत्रम्]। तिर्यग् यथा, गोत्वे खण्डमुण्डादयो विशेषाः। ऊर्ध्वत्वे यथा, मृत्त्वे घटकपालादयः।

योग्यता रखते हैं और धर्मादि द्रव्यें गत्यादि धर्म उत्पन्न करानेकी शक्ति रखते हैं। इसीलिये धर्मादि द्रव्यें गत्यादि कार्योंके हेतु कहे जाते हैं और जीव पुद्गल गतियुक्त कहे जाते है। इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार अमूर्त द्रव्योंकी सत्ता युक्तिसाध्य मानी जा सकती है।

पृथिवी, जल, इत्यादि और और द्रव्यें भी गत्यादिजनक होते हैं परंतु उनमेंसे कोई भी यावत् गत्यादि धर्मोंके जनक नहीं होसकते किंतु गत्यादि धर्मोंकी विशेषता मात्र प्रगट करते हैं। इसलिये गत्यादिकोंके सामान्य कारणोंको जुदा ही मानना चाहिये। दूसरी वात यह है कि जल पृथिव्यादिक दूसरे पदार्थोंकी गतिमें सहायक होते अवश्य हैं परंतु जव स्वयं वे गमन करते हैं तव उन्हें भी दूसरेकी सहायता लेनी पडती है। जो स्वयं गमनशक्तिका धारक हो उसे स्वयं चलते दूसरेका सहारा क्यों लेना चाहिये? इसलिये मानना चाहिये कि जो धर्मादिकोंके अतिरिक्त गत्यादिकारण दीखपड़ते हैं वे गत्यादि धर्मोंकी विशेषतामात्रके साधक हैं। इसलिये सामान्यसाधक धर्मादि द्रव्य जुदे ही मानना न्यायसंगत जान पडता है। जो गत्यादि धर्मोंके सामान्य साधक होंगे उनको यदि स्वयं वे क्रियाएं करनी पडें तो दूसरेका सहारा न लेकर ही वे उन क्रियाओंको कर सकते हैं। इसीलिये आकाशको अपना अवगाहन करनेकेलिये, कालको अपने ऊर्ध्व पर्याय उत्पन्न करनेकेलिये, अधर्मको अपनी स्थिति करनेकेलिये अन्य वस्तुओंकी सहायता लेनी नहीं पडती है। और इसीलिये अनवस्थादि दोष भी दूर होजाते हैं। इसकेलिये दृष्टांत यह है कि जो दीपक दूसरोंको प्रकाशित करता है वह अपनेको स्वयं प्रकाशित क्यों न करलेगा?[१]

जिस प्रकार दृश्यमान पदार्थोंको वडा छोटा कहना इतर छोटे वडे पदार्थोंकी अपेक्षासे होसकता है उसी प्रकार गति स्थिति आदि कहना भी इतर पदार्थोंकी अपेक्षासे होना चाहिये। आमको नारियलकी तरफ लक्ष्य देकर देखें तो छोटा जान पडता है और आंवलेकी अपेक्षासे देखें तो वडा जान पडता है। किसी भी दूसरेकी तरफ न देखकर देखें तो छोटे वडेकी भावना ही नहीं होती है। इसीलिये वडा या छोटापन केवल किसी एक एक पदार्थका धर्म नहीं है किंतु इतरापेक्षित है। ऐसे धर्मोंको 'प्रतिजीवी स्वभाव' ऐसा नाम भी देते हैं। और जो स्वभाव अपने प्रगट होनेमें इतरकी अपेक्षा नहीं रखते वे सत्तात्मक अनुजीवी गुण–स्वभाव कहाते हैं। यहांपर यह प्रश्न होसकता है कि गत्यादि धर्मोंका प्रादुर्भाव धर्मादिद्रव्याधीन है, स्वतंत्र नहीं है इसलिये गत्यादि धर्म अनुजीवी गुण नहीं होसकेंगे। यदि होसकते हैं तो कैसे?

१ स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्। इति न्यायदी०।

उत्तर—जहां इतरकी अपेक्षा मात्रसे किसीका व्यवहार होता हो और वह इतर पदार्थ व्यवहारयोग्य पदार्थके साथ जुडकर कुछ विशेषता करता न हो वहां उस व्यवहारके धर्मको प्रतिजीवी स्वभाव कहते हैं। छोटे–वडेपनका व्यवहार इसी प्रकारका है। इसीलिये छोटा पदार्थ भी अधिक छोटेकी अपेक्षासे वडा मानलिया जाता है। जिसकी अपेक्षा छोटा या वडापन माना जाता है उसका छोटे व वडे पदार्थके साथ कमी संवंध नहीं होता। परंतु गत्यादिकोंमें यह बात नहीं है। जिस प्रकार धर्मादिकोंमें गति आदि स्वभावोंकी साधकता–यह एक एक धर्म अनुजीवी व सत्तात्मक मानाजाता है उसी प्रकार जीव–पुद्गलोंमें गतिमत्ता आदि धर्म भी अनुजीवी व सत्तात्मक मानने चाहिये। क्योंकि, धर्मादिक द्रव्य पदार्थोंके साथ जुडते हैं और गत्यादि रूपसे पदार्थोंकी विशेषता उत्पन्न करते हैं। छोटे वडेपन आदि व्यवहारोंसे यह भी यहां एक भेद है कि एक ही पदार्थको एक ही समयमें भिन्न भिन्न अपेक्षावश कोई मनुष्य छोटा मानता है और कोई मनुष्य वडा मान लेता है। परंतु गत्यादि स्वभाव ऐसे हैं कि जव जिसमें एक मनुष्यको गति दीख पडती है तव सवोंको गति ही दीख पडती है। उस समय किसीको भी स्थिति दीख नहीं पडती। इसलिये ये स्वभाव सत्तात्मक मानने चाहिये। जो सत्तात्मक होंगे और परस्पर विरोधवाले होंगे वे एक समयमें एक साथ नहीं रह सकेंगे। इसीलिये गतिके समय गति ही होती है, स्थिति नहीं होती। एवं स्थितिके समय स्थिति ही रहती है, गति नहीं रहती है।

यद्यपि सत्तात्मक गुण गिनाते हुए ग्रंथकारोंने धर्मादि द्रव्योंके गतिहेतुत्वादि गुण तो गिनाये हैं परंतु जीव–पुद्गलोंके गतिमत्त्व आदि गुण नहीं गिनाये हैं तो भी इनका अंतर्भाव दूसरे सत्तात्मक गुणोंमें होसकता है। प्रदेशवत्त्व तथा द्रव्यत्व गुणोंमें गत्यादि चारो स्वभाव गर्भित होसकते हैं। गति, स्थिति व अवगाहना ये तीनो स्वभाव निराले गुण न होकर केवल धर्मादि उपाधियोंके संवंधसे प्रदेशवत्त्व गुणके विकार कहे जासकते हैं। यद्यपि विकार क्रमभावी होते हैं और गति तथा अवगाहना ये दोनों एक साथ रहते हैं तो भी कुछ दोष नहीं है। ऐसे भी वहुतसे गुण देखनेमें आते है कि जिनके अनेकों विकार एक साथ भी होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, स्पर्श गुणके स्निग्ध या रूक्षत्व, तथा गुरुत्व या लघुत्व, एवं मृदु या कठिन, तथा शीत या उष्ण-ये चार चार विकार ऐसे हैं कि एक साथ वने रहते हैं। इसी प्रकार गत्यादि पर्यायोंको एक प्रदेशवत्त्व गुणके पर्याय मानना अनुचित नहीं है।

अथवा प्रत्येक पदार्थमें अनंतों ऐसे गुण भी रहते हैं कि जो गिनाये नहीं गये हैं और न गिनाये ही जासकते हैं।

परंतु उनके द्वारा पृथक् पृथक् कार्योत्पत्ति दीख पडनेसे वे अनुमानसाध्य होते हैं। उन्हींमेंसे गत्यादि गुण भी जुदे मानलिये जांय तो भी अनुचित नहीं है। परंतु यह अवश्य मानना चाहिये कि ये गुणस्वभाव अनुजीवी व सत्तात्मक हैं। इस प्रकार धर्माधर्माकाशकाल-द्रव्योंकी जुदी सत्ता सिद्ध हुई।

परमाणु—स्कन्ध—विचार—

परमाणुओंसे स्कन्ध व स्कन्धोंसे परमाणु होते अवश्य हैं परंतु शाश्वतिकपना तो भी कायम रहता है। जो परमाणु परस्पर मिलते हुए स्कन्धकी अवस्था धारण करते हैं वे अपनी परमाणुता तथा सूक्ष्मताको छोडते नहीं हैं। तो भी उनके मिलनेपर एक नवीन अवस्था होजाती है। यह पुद्गल द्रव्यकी एक वैभाविक शक्तिका कार्य है। परमाणुओंके जितने गुण होते हैं उनका अनुभव स्कन्धावस्था प्राप्त होनेपर होता है और उन एक एक गुणोंके व्यक्त होनेकेलिये निरनिराले स्कन्ध माने जाते हैं। एक स्कन्धमें जो गुण व्यक्त होता है वह दूसरेमें नहीं होता। परंतु परमाणुओंकी शक्ति या गुण सर्वत्र एकसे माने जाते हैं। इससे ऐसा जान पडता है कि सर्व स्कन्धोंका बन्धनमात्र परस्पर विचित्र है और उनकी संतति भी अनादिसे रह रही है। गेहूसे गेंहूकी उत्पत्ति होना, मनुष्य प्राणीसे मनुष्यकी उत्पत्ति होना इत्यादि उदाहरणोंसे स्कन्धोंकी अनादिकालीन सन्तति जान भी पडती है। यद्यपि जो परमाणु एक समय एक स्कन्धमें मिल जाते हैं वे ही दूसरे समय वहांसे हटकर दूसरोंमें भी मिल जाते हैं तो भी केवल परमाणु मिलते मिलते गेंहू आदि व्यक्त स्कन्धाकारको कभी धारण नहीं कर सकते हैं। इसीलिये यों कहना चाहिये कि जितने स्कन्ध केवल परमाणुओंसे बनते हैं वे इंद्रिय तथा शरीरके उपभोग योग्य नहीं होसकते हैं। उपभोगयोग्य वे ही होसकते हैं कि जो एकसमयसंबंधी भेदसंघात—क्रिया द्वारा आकर किसी पूर्वबद्ध स्कन्धमें मिल जाते हैं। इसीलिये भेद व संघातके सिवा एक—समयवर्ती भेदसंघातको तृतीय कारण माना गया है।

इस तृतीय कारणका उपयोग ग्रंथकारोंने स्कन्धोंमें चाक्षुपत्व होना बताया है।[1] परंतु चाक्षुपत्वका अर्थ उपभोगयोग्यता ही हो सकता है। चक्षुके विषयको चाक्षुप कहते हैं। इस शब्दको उपलक्षण मानकर स्पार्शन आदि सभी उपभोगयोग्य विषयोंका अर्थ संग्रह करलेना चाहिये। यदि ऐसा न माना जाय तो बीजादिकी संततिको न मानकर भी केवल परमाणुओंसे सर्व स्कंधोंका होना क्यों नहीं माना जाता है? यदि ऐसा मानें भी तो कार्यकारण—व्यवहारके विरुद्ध है।

---

[1] भेदसंघाताभ्या चाक्षुप ॥ इति सूत्रकारवचनम्।

परमाणुओंके केवल जुडनेसे जो स्कन्ध बनते हैं उनमें जिस प्रकार उपभोगयोग्यता नहीं रहती उसी प्रकार स्थूलता भी नहीं रहती है। क्योंकि, स्थूलता प्राप्त हुए विना पदार्थ, इंद्रियोंसे ग्राह्य नहीं होसकता है। इसलिये जब कि इंद्रियग्राह्यता नहीं होती तो स्थूलता होना भी असंभव ही समझना चाहिये। इसीलिये कार्यकारी स्कन्ध तथा स्थूलता इन दोनोंका अविनाभाव-संबंध मानना चाहिये। इसीलिये ऐसे स्कन्धोंकी उत्पत्तिमें भेद व संघात इन दोनोंकी आवश्यकता रहती है, यह बात प्रथम कह चुके हैं।

जब कि परमाणु सूक्ष्म स्वभाववाले होते हैं तो परमाणुओंसे बननेवाले स्कन्धोंमें स्थूलता कहांसे आजाती है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि स्थूलता यद्यपि मूल धर्म है तो भी अनादिसे जिन स्कन्धोंमें स्थूलताका पर्याय प्रगट होरहा है उन्हींमें आकर मिलनेवाले परमाणु अपनी प्राथमिक सूक्ष्मता छोडकर स्थूलताको धारण करलेते हैं। जिस प्रकार कि कर्मबद्ध जीवमें अनादिबन्धन रहनेसे नवीन नवीन पुद्गलबन्ध भी होता रहता है। परंतु जो जीव एक वार मुक्त होचुका हो वह फिर बद्ध नहीं होता। इसी प्रकार स्थूल स्कन्धमेंसे टूट फूट कर जो एकाद परमाणु जुदा होजाता है वह फिर स्वयं स्थूल नहीं होता। हाँ, जीव जिस प्रकार फिर कभी बद्ध नहीं होता उस प्रकार परमाणुओंमें परस्पर बंध होनेका निषेध नियत नहीं है। वे फिर भी बद्ध होते हैं और किसी स्थूलमें बद्ध हों तो स्वयं स्थूल भी होजाते हैं। परंतु स्वयं किसी स्थूलकी सहायताके विना वे स्थूलताको प्राप्त नहीं कर सकते-इतना नियम अवश्य है। इसीलिये असली बन्धक शक्ति पुद्गलोंमें ही मानी जाती है। जो जीवकी बद्ध अवस्था मानी जाती है वह केवल बद्ध होनेकी योग्यता रहनेसे। परंतु उस जीवका भी बन्धक पुद्गल ही कहाजाता है। अर्थात्, सर्वत्र बन्धनकर्ता पुद्गल ही होता है और जीव केवल उसके पराधीन होनेसे बद्ध होजाता है। स्वयं जीव बन्धन करनेकी शक्ति नहीं रखता। नहीं तो, मुक्त होनेपर भी फिर बद्ध होसकता था। यही कारण है कि मुक्त होनेपर जीव बध्यमानतारूप शक्तिके रहते हुए भी बद्ध नहीं होता। उस समय उसकी वैभाविकी शक्ति स्वभावमें ही परिणत होती रहती है।

परमाणुओंकी बन्धनशक्ति जीवके समान सापेक्ष नहीं है किंतु निरपेक्षही काम देती है। इसीलिये परमाणु होकर भी पुद्गल परस्परमें बद्ध हो जाते हैं। तो भी स्थूलता प्राप्त होना पराधीन ही है। शुद्ध परमाणुओंके बँधते बँधते अनन्तानन्त परमाणु भी यदि एकत्र होगये हों तो भी वह स्कन्ध सूक्ष्म ही रहता है। इसीलिये सूक्ष्मता पुद्गलका शुद्ध पर्याय माना

जाता है और स्थूलता विकारी। इसका उदाहरण, जीवका सम्यक्त्व गुण कर्मबन्धनकी दशामें मिथ्यात्वरूप होकर रहता है और सम्यक्त्वघातक कर्मका नाश होजानेपर स्वभावमय हो जाता है। एवं, सम्यक्त्व प्रकृति रहते समय भी स्वभावमय रहता है परंतु किंचित् अशुद्ध रहता है। इसी प्रकार स्थूलता विपरीत पर्याय है और परमाणुगत सूक्ष्मता पूर्ण शुद्ध पर्याय है। कुछ स्कन्धोंमें भी सूक्ष्मता रहती है परंतु वह वेदक सम्यक्त्वके समान किंचित् अशुद्ध सूक्ष्मता माननी चाहिये।

स्थूलता स्वयं उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि, वह विकारी पर्याय है। विकार होनेकेलिये विजातीय कारणोंकी अपेक्षा पडती है। परंतु स्थूलता, टूटते फूटते, सूक्ष्मतामें अपने आप परिणत होजाती है। सूक्ष्मता होनेकेलिये परसंयोगकी गरज नहीं रहती। परमाणुकी दशापर्यंत यही प्रकार है। जैसे जैसे परमाणुओंके विशिष्ट बंधनवश एक एक कार्यकारिणी शक्ति स्कंधोंमें प्रगट होती जाती है वैसे ही वैसे उनके परमाणु टूटनेपर वह एक एक शक्ति अव्यक्त होती जाती है। ऐसा होते होते परमाणुदशा प्राप्त होनेतक कार्यकारिणी सर्व शक्तियां दब जाती हैं। उस समय परमाणु केवल सत्ताकी दशाको धारण करता है। उसमें कुछ भी उस समयपर वस्तुको हलाने चलानेकी तथा फेरफार करनेकी योग्यता नहीं रहती है। इसीलिये उस समय एक परमाणुकी जगह यदि दूसरे अनंतों परमाणु आजांय तो भी एक दूसरेमें बाधा नहीं होती है। एक ही स्थानमें वे सर्व रह सकते हैं। केवल मूर्त या स्थूल पदार्थमें ही एक दूसरेको बाधित करनेकी योग्यता रहती है। परमाणु अमूर्त नहीं माना गया है परंतु स्थूल भी नहीं माना गया है[1]। इसीलिये परमाणुओंमें बाधक या घातक शक्ति नहीं रह सकती है। किसीका घात या बाध करना—यह एक विकारी स्वभाव है। शुद्ध पदार्थ किसीको भी बाधित नहीं करता और न कर ही सकता है। वह पुद्गलकी पूर्ण शुद्धावस्था परमाणु है[2]।

कितने ही लोगोंको इस बातको सुनकर संतोष नहीं होता कि एक एक स्थानमें अनेक अनेक परमाणु भी आकर रह सकते हैं और वे बद्ध होकर भी रहसकते हैं तथा जुदे होकर भी रह सकते हैं। ऐसी समझ होनेका कारण यह होता है कि अपने देखने व अनुभवनेमें सदा विकारी स्थूल पर्याय ही आते हैं। बस, वैसा ही स्वभाव हम परमाणुका समझ बैठते हैं।

---

१ परमाणुको भी मूर्तत्व—गुणयुक्त मानते हैं परतु वह केवल इसलिये कि मूर्त द्व्यणुकादिकोंका वह उत्पादक है ओर द्व्यणुकादिकोंमेंसे ही टूट फूट कर निकलता है। अर्थात् उसके पूर्वोत्तर कारणकार्य मूर्तिक हैं इसलिये वह भी मूर्तिक है। यह एक प्रकारका उपचारसिद्ध धर्म हुआ।

२—अविभागी पुद्गलपरमाणु स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः। इति आलापपद्धति।

अर्थात्, परमाणु कैसा भी सूक्ष्म हो परंतु वह थोडीसी जगह तो भी घेरेगा यह हमारी समझ रहती है। परंतु यह समझ ठीक नहीं है। हम लिख चुके हैं कि परमाणु केवल एक सूक्ष्म अंशका ही नाम नहीं है। किंतु कार्यकारिणी जितनी शक्तियां हैं उनके पूर्ण अव्यक्त या तिरोधान होनेका नाम परमाणु है। दूसरेमें आघात करना तथा दूसरेका आघात भोगना, यह एक अशुद्धताका कार्य है। इसलिये जो आघात करता है या सहता है वे दोनो ही अशुद्ध पर्याय होने चाहिये। अशुद्धता इतर संयोगके विना होती नहीं है। तो फिर शुद्ध परमाणुमें आघात होना और दूसरेको करना किस प्रकार संभव होसकता है? इसी प्रकार चाहें इतरसंयोगी कुछ अशुद्ध स्कन्धपर्यायोंमें आघातकता शक्ति प्रगट हो जाती हो परंतु उसकी भी कुछ सीमा है। वह यावत् स्कन्धोंमें नहीं होती है। आघातकता व स्थूलताका अविनाभाव संबंध होसकता है। इसलिये जबतक स्कन्धोंकी सूक्ष्मता नहीं जाती तबतक आघातकता भी उत्पन्न नहीं होती।

देखो, आघातकता अनेक प्रकारकी अशुद्धताओंमेंसे एक अशुद्धता है। इसलिये द्व्यणुकसे अशुद्धताका प्रारंभ हुआ कि आघातकता भी उत्पन्न होगई ऐसा नियम भी नहीं होसकता है। द्व्यणुकमें एक किसी प्रकारकी अशुद्धता उत्पन्न होगी, त्र्यणुकमें दूसरे प्रकारकी, चतुरणुकमें तीसरे प्रकारकी। इसी प्रकार जैसी परमाणुसंख्या बढती जाती है वैसी ही अशुद्धाओं-की संख्या भी बढती जाती है। कोई कोई अशुद्धता परमाणुसंख्या बढनेपर दब भी जाती है। अशुद्धताओंकी उत्पत्तिका परमाणुसंख्याके साथ कोई नियम तो बताया नहीं जासकता परंतु तो भी इतना कह सकते हैं कि अनेकों अशुद्धताओंकेलिये परमाणु भी अनेकों ही लगते हैं। समान आकृति और उतना ही वजन रहनेपर भी जो एक स्कंधमें एक शक्ति व्यक्त रहती है वह दूसरेमें नहीं रहती। ऐसे पदार्थोंमें यही मानना पडता है कि परमाणुसंख्या हीनाधिक है अतएव बन्धनकी विचित्रतासे दोनोकी अशुद्धता समान नहीं है। ऐसे अंतर अनेक प्रकारके मिल सकते हैं और एक एक स्कन्धमें असंख्यातों अशुद्धताएं व्यक्त भी रहती हैं। इसलिये यह मानना पडता है कि स्थूल स्कन्धोंमें अनंतों परमाणुओंसे कभी कम नहीं रहते। इसलिये स्कन्धमें आकृतिके सूक्ष्म विभागोंकी संख्याकी अपेक्षा परमाणुओंकी संख्या अधिक माननी पडती है। अतएव एक परमाणुकी जगहमें दूसरे परमाणुओंका आजाना भी सिद्ध होता है। एवं, जहांतक स्थूलता प्राप्त नहीं होती वहांतकके सूक्ष्म स्कन्धोंमें भी यह प्रवेशशक्ति माननी पडती है।

देखो, पानी-सकर इत्यादि कुछ स्थूल चीजें भी ऐसी देखनेमें आती हैं कि जो एक दूसरेमें मिलकर प्रविष्ट होजाती हैं। तो

फिर सूक्ष्म पदार्थोंमें प्रवेशशक्ति मानना क्या असंभव हे ? उन चीजोंके बीच बीचमें छिद्र या रिक्तताकी कल्पना करना निर्हेतुक है। यह परमाणुस्कन्धका विचार हुआ।

इस प्रकार द्रव्य सर्व छह हैं। इन छह भेदोंसे न तो कम ही हो सकते हैं और न अधिक। हां, कालद्रव्यकी संख्या असंख्यात है और वह युक्तिसे सिद्ध की गई है। जीव व पुद्गलके भेद अनंत अनंत हैं और वे अनुभवगोचर हैं। जीव विनाशीक सिद्ध न हो इत्यादि प्रयोजनवश जो जीवको एक अखंड या व्यापक मानते हैं वह मानना निर्हेतुक है। शरीरावच्छिन्न जीवकी तो लक्षणद्वारा सिद्धि होती है परंतु अन्यत्र उसकी सत्ता माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। जीवका लक्षण चैतन्य है; वह शरीरके बाहिर नहीं मिलता। नित्यता ठहरानेकेलिये भी जीवको व्यापक माननेकी आवश्यकता नहीं है। कोई भी पदार्थ केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं होसकता यह बात हम प्रथम लिखचुके हैं। पर्याय बदलते हुए भी जीवकी सामान्यदृष्ट्या जो नित्यता है वह नष्ट नहीं होती और वैसी नित्यता मध्यम या शरीरप्रमाण आकार माननेपर भी कायम रह सकती है। यह नियम नहीं हो सकता कि मध्यम परिमाणवाले पदार्थ अनित्य ही होते हैं। अथवा अवयवोंकी अपेक्षासे देखाजाय तो जीवके प्रदेश मध्यम परिमाणके योग्य भी नहीं हैं। हां, लोकके प्रदेशोंके तुल्य उसके प्रदेश होकर भी वह सुख दुख भोगनेकेलिये सुख-दुःखाधिष्ठानरूप शरीरमें समाकर रहता है। शुद्ध होनेपर जिस शरीरमेंसे छूटता है उस शरीरकी आकृतिको सदाकेलिये धारण करके रहता है। क्योंकि, प्रदेशोंकी संख्या व्यापक बनने योग्य रहते हुए भी विजातीय संयोग न रहनेसे संकोचविस्तार-क्रियाका अभाव होजाता है। इसलिये जीवद्रव्यको व्यापक माननेकी आवश्यकता नहीं है। शेष रहे धर्माधर्माकाश, सो ये तीनो अखंड एकेक ही हैं। हां, गुण पर्याय तो भी सभीमें होते रहते हैं।

इस प्रकार द्रव्यें सर्व छह हैं और गुण अनंतों हैं। द्रव्योंकी संख्या जो छहसे अधिक मानते हैं वह ठीक नहीं है। एवं, गुणोंकी जो संख्या नियत करदेना है वह भी ठीक नहीं है। जो लोग द्रव्योंकी संख्या छह नहीं मानते वे एक पुद्गलको पांच विभागरूप मानते हैं और धर्माधर्मको इधर नहीं मानते परंतु आकाशके आकाश और दिशा ऐसे दो भेद मानते हैं। इस प्रकार उनके मतमें जीव और काल द्रव्यको मिलानेसे द्रव्य सर्व नौ हो जाते हैं।

आघातकता अथवा मूर्तिमत्ता और रूप रस गंध स्पर्श, ये चिन्ह जिनमें पाये जाते हैं उन्हें हम पुद्गल द्रव्य कह चुके हैं। ये चिन्ह ऐसे असाधारण और लक्ष्यभरमें व्यापने वाले हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा मनमें तो सर्वत्र मिलते हैं

और आत्मा तथा आकाशादिक भिन्नजातीय द्रव्योंमें कहीं भी नहीं मिलते। इसलिये उक्त पांच द्रव्यों के स्थानमें उक्त एक ही द्रव्य मानलेना निर्दोष तथा उपयोगी है।

मनमें आघातकता और आहतता दीख पडती है। जैसे कि, भयंकर शब्द सुननेपर जैसे कानोंकी झिल्ली फट जाती है वैसे मनपर भी आघात पहुंचता है और वह मन शरीरके इतर अवयवोंको आघात पहुंचाता है। इसके सिवा यह भी देखना चाहिये कि मन है क्या चीज?

कर्मोंकी परतंत्रतासे जीवके साथ शरीरबंधन होता है। उस बंधनमें अनेक प्रकार रहते हैं। उन प्रकारोंको साधारण दो विभागोंमें विभक्त करसकते हैं; एक ज्ञानके साधक बाधक, दूसरे क्रियाओंके साधक बाधक। इन्हींको कुछ लोग ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके नामसे कहते हैं। हाथ पांय आदि कर्मेन्द्रिय हैं और मन चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय हैं। जैसे शरीरावयव सर्व जीवोंके समान नहीं होते वैसे ही ज्ञानसाधनके अवयव भी समान नहीं होते।

वनस्पतिमें हाथ पांय आदि जुदे प्रगट नहीं होते और आगे द्वीन्द्रियादि जीवोंमें वे अवयव क्रमसे प्रगट होने लगते हैं। इसी प्रकार ज्ञानसाधक इंद्रियोंकी भी क्रमसे वृद्धि होती है। वह वृद्धि होते होते जहांपर बाह्य इन्द्रिय पूर्ण प्रगट होजाते हैं उसे अमनस्क पंचेन्द्रिय कहते हैं। इसके भी ऊपर जहां मनन करनेकी योग्यता प्राप्त होजाती है उसे समनस्क कहते हैं। जिस प्रकार बाह्य विषयके ग्राहक नेत्रादि इन्द्रिय शरीरावयव हैं उसी प्रकार मननरूप ज्ञान होनेके जिस आधारको मन इन्द्रिय कहते हैं वह भी शरीरका ही एक अवयव होना चाहिये। उसीके मन हृदय अंतःकरण इत्यादि अनेकों नाम हैं। मन हृदय इत्यादिकोंमें कुछ लोग कुछ भेद मानते हैं परंतु वह वास्तविक भेद न होकर प्रयोजनादिके भेदसे भेद माना जा सकता है। इस प्रकार जब कि मन शरीरावयव है तो उसे शरीरसे जुदी जातिका द्रव्य मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार सर्व इंद्रियोंको भी एक पुद्गलसे हुए ही मानना ठीक होता है। एवं, उन इंद्रियोंके जो शब्दादि विषय हैं उन्हें भी पुद्गलके पर्याय मानना ही ठीक है। दिशाओंकी कल्पना आकाशमें ही की जाती है। इसलिये दिशाओंको भी जुदा द्रव्य नहीं मानना चाहिये। इस प्रकार द्रव्य सर्व छह ही सिद्ध होते हैं। विशेषताओंको गुण कहते हैं। इसलिये उनकी संख्या होना कठिन है।

यह परिशिष्ट द्रव्यस्वरूप हुआ।

चतुर्थ अधिकार

अथ आस्रव प्रकरण।

मंगल व विषय प्रतिज्ञा—

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् सर्वानास्रवः संप्रचक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—जिन भगवान् अपरिमित केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा तीनो लोकको प्रकाशित करते हैं इसलिये उन सबोंको नमस्कार करके उनके उपदेशानुसार मैं आस्रवतत्त्वका स्वरूप लिखता हूं।

आस्रवका लक्षण—

कायवाग्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः। शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः ॥२॥

अर्थ—जबतक जीव जड पुद्गलमिश्रित है तबतक उसे सदा ही कर्मोंका या पुद्गलोंका नवीननवीन बंधन प्राप्त होता रहता है। जिस पुद्गलसे जीवका मेल हो रहा है उसे शरीर या काय कहते हैं। पुद्गलका स्वभाव ऐसा है कि क्षण भरके लिये भी वह स्थिर नहीं रहता। कुछ न कुछ परमाणु उसमेंसे प्रतिसमय निकलते हैं और कुछ आकर मिलते भी हैं। इन पुद्गलोंमें जीव फस रहा है इसलिये पुद्गलोंके बदलनेके साथ साथ वह भी स्वस्थ होकर रह नहीं पाता=कुछ न कुछ उसके प्रदेशोंमें भी चंचलता होती ही रहती है। बस, इसी चंचलताको योग भी कहते हैं। विशेष प्रयोजन दिखानेकी अपेक्षासे आस्रव, यह नाम भी पडा है। किसीमें जुडना, लगना, लगाना, ऐसा अर्थ युज धातुका है। उसीका बना हुआ यह योग शब्द है। आस्रवका अर्थ आगे लिखनेवाले हैं।

जीव तथा शरीर जुदे नहीं रहते इसलिये जीवकी चंचलता कहनेका और शरीरकी चंचलता कहनेका एक ही अर्थ होता है। क्योंकि, चंचलता न केवल शरीरमें ही होती है और न जीवमें ही। केवल शरीरमें हो तो मृतमें भी होनी चा-

---

१ " कायवाङ्मनसा कर्म=कायवाङ्मन कर्म (स एव योग)। आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग । स निमित्तभेदात् त्रिधा भिद्यते। काययोगो, मनोयोगो, वाग्योग इति " सर्वार्थसिद्धौ तदुभयस्यापि योगत्वमुक्तम्।

हिये; एवं केवल जीवमें हो तो मुक्त होनेपर भी चंचलता चलनी चाहिये। इस चंचलताके द्वारा कुछ न कुछ पुद्गल सदा आते रहते हैं और जीवको पूर्ववत् बद्ध करते रहते हैं।

साधारणदृष्टिसे देखें तो शरीरके किसी भी अंगोपांगके हलनेसे जो योग माना जाता है वह एक शरीरयोग ही कहा जाना चाहिये। परंतु इतर शरीरचंचलताकी अपेक्षा मन तथा वचनकी क्रिया कुछ विचित्र दीख पडती है। इसलिये शरीर, मन, वचन ये तीन भेद जुदे जुदे कर दिये गये हैं। मनकी चंचलतामें विचार होना एक विशेपता है। वचनमें मनकीसी विशेपता तो नहीं है परंतु यह विशेपता है कि कंठादि स्थानोंके प्रयत्नसे पासके कुछ सूक्ष्म पुद्गलोंमें ध्वनि उत्पन्न होजाती है। वह ध्वनि उच्छ्वासवायुके आघातसे मुखके बाहिर निकलती हुई सर्व दिशाओंमें पसरने लगती है। उच्छ्वासका जैसा वेग हो वैसी ही दूर तक वह ध्वनि पहुचती है। इसीको वचन कहते हैं। यद्यपि वचन स्वयं शरीर नहीं है तो भी वचनोत्पत्तिके समय शरीरमें क्रिया अवश्य होती है; इसीलिये मनकी भांत वचनके योगको भी शरीरके योगमें गर्भित कर सकते हैं। परंतु शरीरकी क्रियाओंसे मनवचनकी क्रियाओंमें उक्त विशेपता दीख पडती है इसलिये दोनोंको शरीरसे जुदा मानकर योगके तीन भेद कर दिये हैं। इन दोनोंकी चंचलताके स्वरूपसे शरीरचंचलता एक जुदी ही दीख पडती है। उसका न तो मनकासा विचार होना ही कार्य है और न ध्वनि उत्पन्न करना ही कार्य है। यद्यपि शरीरके आघातसे भी ध्वनि हो सकती है परंतु उसे वचन नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार जीवमें चंचलता उत्पन्न होनेके कारण तीन हुए। तीन कारणोंकी अपेक्षासे योगके भी मनोयोग, वचनयोग, काययोग--ये तीन नाम रक्खे गये हैं।

धर्म या पुण्यके कार्योंमें इनकी जब प्रवृत्ति होती है तब तीनों योगोंको शुभ कहते हैं और जब ये पापके कार्योंमें लगते हैं तब अशुभ योग कहाते हैं। अर्थात्, शुभ इच्छा होनेपर उत्पन्न हुआ जो योग वह शुभ कहाता है और अशुभेच्छासे जो हो वह अशुभ कहाता है।

शुभाशुभका सूक्ष्म स्वरूप तो विस्तीर्ण है और आगे कहेंगे भी परंतु साधारणतः न्यायको शुभ तथा अन्यायको अशुभ कहते हैं। उदाहरणार्थ, (१) किसीके हितका चिंतवन करना शुभ मनोयोग, (२) हितकारी बोलना शुभ

१ " प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ " इति न्यायदर्शनकारस्यापि सूत्रात्मकं वचनम्। २ कथं योगस्य शुभाशुभत्वं ? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः। न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्येत, शुभयोग एव न स्यात्। " इति सर्वार्थसिद्धिः।

वचनयोग, (३) दान देना, गुरुको मस्तक नवाना, शुभ काययोग। (४) अहितचिंतवन अशुभ मनोयोग, (५) गाली देना अशुभ वचनयोग (६) थप्पड मारना अशुभ काययोग। ये सामान्य छह भेद हुए।

आस्रवका शब्दार्थ—

सरसः सलिलावाहि द्वारमत्र जनैर्यथा। तदास्रवणहेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥ ३ ॥
आत्मनोपि तथैवैषा जिनैर्योगप्रणालिका। कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥४॥

अर्थ—वह कर आनेवालेको आस्रव कहते हैं और वहकर आनेका कारण भी आस्रव कहाता है। प्रथमको द्रव्यास्रव कहते हैं और दूसरेको भावास्रव कहते हैं। वह कर आनेवाला पदार्थ द्रव्य होगा इसलिये द्रव्यास्रव-नाम सार्थक है। कर्म-बन्धनके प्रकरणमें कर्मका संग्रह करनेवाला जो आत्मीय परिणाम होता है वह गुणपर्यायात्मक होता है इसलिये उसे भावास्रव कहते हैं। ये दो भेद कुछ ग्रंथकारोंने वस्तुस्थिति जतानेकेलिये लिखे अवश्य है परंतु इस प्रकरणमें केवल भावास्रव दिखानेकी ग्रंथकारकी इच्छा है। बन्धनयोग्य द्रव्यकर्म जिस कारणसे बन्धनकी अवस्थामें आकर प्राप्त हों उसे आस्रव कहते हैं। यह आस्रवका लक्षण तात्पर्यसिद्ध है। यह लक्षण द्रव्यास्रव व भावास्रव दोनोंमें ही जुडता है। कितने ही लोग तो क्रियायुक्त पदार्थको कार्यका मुख्य कारण कहते हैं और कितने ही कार्योत्पत्तिसे पूर्वक्षणवर्ती क्रियाको ही मुख्य कारण या करण कहते हैं। प्रथम अर्थ लेनेपर तो बंधका कारण भावास्रव होसकता है और दूसरे अर्थके अनुसार द्रव्यास्रव।

सरोवरके भीतर पानी आनेकी जो मोरी होती हैं उनमें होकर पानी भीतर वह आता है इसलिये मनुष्य उन्हें आस्रव कहते हैं। संस्कृत भाषामें 'आस्रवका' अर्थ वह आनेका द्वार—ऐसा होता है। योगरूपनली भी इसीप्रकार आत्माके भीतर कर्मयोग्य परमाणुपिंडको वहाकर लाती है इसलिये योग—नलीको जिनेन्द्रने आस्रव कहा है। क्योंकि, पानी वह आनेकेलिये मोरी जिस प्रकार कारण है उसी प्रकार योग भी कार्मण स्कन्धोंको कर्मपर्याय बनानेलिये कारण हैं। प्रत्येक आत्माके साथ या भीतर कर्मपर्याय होने योग्य बहुतसे पुद्गलपिंड संचित रहते हैं। उन्हींमेंसे कुछ एक

१ आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ। भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि। [द्रव्यसंग्रह] २ व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्। ३ यद्व्यापारादनन्तरं कार्यमुत्पद्यते स व्यापारः करणम्। ४ कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वे सति असाधारणकारणं करणम्। साधकतमः करणमिति तु जैनेन्द्रे।

योगवशात् कर्मरूप होते रहते हैं इसलिये घर भर आनेका जलका दृष्टान्त कर्मके आनेमें तुलना नहीं रखता। ऐसी तुलना तभी होसकती है जब कि बाहिरसे कर्म भीतर आते हों। यदि ऐसा है तो योगको आस्रव क्यों कहा जाता है? उत्तर—द्वार तथा आस्रव शब्दका जो अर्थ लोग मानते हैं वह कारण समझकर मानते हैं और कारणार्थ योगोंमें भी दीख पड़ता है। इसलिये योगोंको कर्मद्वार तथा आस्रव कहनेकी रूढि चल रही है। अर्थात्, कारण मात्रकी अपेक्षासे यहां तुलना है और आस्रव—शब्दका प्रयोग उचारसे कियागया है।

कर्मके दो प्रकार—

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते सांपरायिकम्। अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे ॥ ५ ॥
सांपरायिकमेतत्स्यादार्द्रचर्मस्थरेणुवत्। सकषायस्य यत्कर्म योगानीतं तु मूर्छति ॥ ६ ॥
ईर्यापथं तु तच्छुष्ककुडचप्रक्षिप्तलोष्टवत्। अकषायस्य यत्कर्म योगानीतं न मूर्छति ॥ ७ ॥

अर्थ—जिन जीवोंमें क्रोधादि कषाय होते हैं वे सांपरायिक कर्मका बंध करते हैं। जिनके कषाय उपशांत या क्षीण होगये हों वे ईर्यापथ कर्मका ही संग्रह करते हैं। संपरायका अर्थ संसार है। संसारकी अथवा अशुद्धताकी उत्पत्ति करने वाला कर्म सांपरायिक कहा जाता है। सकषाय जीवोंमें जो कर्म इकट्ठे होते हैं वे कषायके सामर्थ्यसे जीवप्रदेशोंमें ऐसे बद्ध हो जाते हैं कि कुछ काल पर्यंत उसी पर्यायमें टिकसकें। इसीलिये उनमें जीवको संसारी बना कर रखनेकी योग्यता मानी जाती है। उन कर्मोंको सांपरायिक[१] कर्म कहते हैं। जिन जीवोंका कषाय शांत या क्षीण होगया हो उनके भीतर भी योग जब तक नष्ट नहीं होपाता तब तक कर्मोंका संग्रह होता ही है। क्योंकि, कर्मप्रदेशोंको संग्रह करनेका काम योगका है। परंतु केवल योगके द्वारा संगृहीत हुए कर्मोंमें टिकनेका सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता और न ज्ञानावरणादि नाना घातक शक्ति व्यक्त होती हैं। इसीलिये वे कर्म जिस जिस समयमें आते हैं उसी उसी समयमें निकल भी जाते हैं। एवं उन कर्मोंमें आठ या एकसौ अडतालीस भेद भी उत्पन्न नहीं होते, किंतु केवल एक प्रकार रहता है जिसे कि सद्वेद्य या सातावेदनीय कहते हैं।

वह सातावेदनीय ही क्यों रहता है? इस प्रश्नका उत्तर यह होसकता है कि कर्म जितने प्रकारके हैं उन सभीमेंसे

१ संपरायः संसारः। तत्प्रयोजनं कर्म सांपरायिकम्। ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम्। इति सर्वार्थसिद्धिः।

यदि कोई अधिक आत्मानुकूल होसकता है तो वह सातावेदनीय ही है। उपशांतकषायवाले जीवसे लेकर ऊपरके सभी जीवोंमें आत्मानुकूलताकी सामग्री अधिक एकत्रित होजाती है। इसलिये जो कर्मबंधन होगा वह सब कर्मोंमेंसे अच्छा होगा। सातासे अच्छा दूसरा कोई कर्म नहीं है। इसलिये साताका ही बंध होना वहां संभव है।

सातापना एक कर्मरस है। कर्मरसका व्यक्त होना कर्माधीन है। जब कि कषायका लेश भी न रहा हो तब साता-रस का भी उत्पन्न होना कैसे संभव है ? इस प्रश्नका उत्तर यह हो सकता है कि असली टिकाऊ कर्म कषायद्वारा ही बंधता है। तो भी कर्म्मप्रदेशोंका लानेवाला योग जबतक है तबतक कर्म थोडा बहुत आवेगा अवश्य। और जो आवेगा वह किसी न किसी कर्मशक्तिको रखनेवाला भी होगा ही। वह शक्ति भी एकसौ अडतालीस प्रकारके भीतरकी ही हो सकती है। उनमेंसे शेष अनुभावक शक्तियोंके कारण उपस्थित न रहनेसे साताका अनुभाग ही स्वीकार करना पडता है। और फिर वह साता भी कषायके न रहनेसे टिकाऊ नहीं होती।

यहांपर तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कषाय न रहते हुए भी शुक्ल लेश्या यहां मानी जाती है उसी प्रकार यहां कर्मबंधन और वह सातारूप माना जासकता है। कषायोंके न रहनेसे कर्मोंकी टिकाऊ अवस्था नहीं होती इसलिये यह कहना भी अनुचित नहीं है कि अकषाय जीवोंके कर्म कर्म ही नहीं है। कर्मोंसे मुक्त होनेका यह ठीक पूर्वरूप है। यहांपर कर्मबंध-संबंधी कारणकार्योंके नाशका क्रम चालू है। वह नाश होते होते टिकाऊपनेका और कषायका सर्वनाश होजाता है और अनुभाग-शक्तियोंमेंसे भी साताके सिवा सभी रुक जाती हैं। कारणोंमें योग और कार्यांशोंमें साता शेष रह जाती है।

उस साताके विषयमें भी ऐसा न समझना चाहिये कि शेष अनुभाग शक्तियोंकी ही भांत बंध होते समय यह विशेषतासे व्यक्त होती है। तो ? जिन कार्मण वर्गणाओंमें सातारूप शक्ति रहती है वे ही वर्गणा उस समय केवल बद्ध होती हैं। और इसीलिये उन्हें हम साताकर्म कहते हैं। जिस प्रकार साता आदि अनुभागशक्तियां व्यक्त होनेकेलिये कषायरूप सहकारी कारणकी आवश्यकता मानी जाती है उसी प्रकार वर्गणाओंमें रहनेवाली उपादान शक्तियां भी कारण माननी पडती हैं। हां, सहकारीका तो नियम भी नहीं है परंतु उपादान कारण अवश्य मानना पडता है। इसी बातको हम और

१ योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः। इति द्रव्यसंग्रह । २ " सहकारिणामप्रतिनियमात् " इति ३५ तमकारिकाव्याख्याने उक्तमाप्तपरीक्षायाम्।

भी सीधे शब्दोंमें कहें तो यों कहसक्ते हैं कि उस समयके कर्मको सातारूप कहना भी कहनामात्र है । क्योंकि, कर्मोंका असली कार्य यह है कि आत्मामें स्वरूपविपर्यास तथा परतंत्रता उत्पन्न हो। परंतु वह साताकर्म स्वरूपविपर्यास भी नहीं कर सकता और परतंत्रता भी नहीं कर सकता। इसीलिये वह नाममात्र कर्म है। साताकर्म भी जो जीवको परतंत्र करनेमें समर्थ होसकते हैं वे कषायके विना वद्ध नहीं होते।

यदि यह साताकर्म योगियोंको वास्तविक बंध ही उत्पन्न नहीं करता तो इसे कर्म क्यों कहते हैं और इसके रहते हुए आत्मा पूरा मुक्त क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर;—

आत्माको पूरा मुक्त होनेमें यह साताकर्म विघ्न नहीं डालता किंतु कषायके सहवाससे बँधे हुए पूर्वकर्म बाधक होते रहते हैं। इसीलिये वे जबतक पूर्ण नष्ट नहीं हो पाते हैं तबतक इस साताकर्म की अयोगावस्थाके समय रुकावट हो जाने पर भी पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं होती। और इस साताकर्मको कर्म कहनेका हेतु यह नहीं है कि इसका कुछ कार्य होता रहता है। तो? एक देश कारणभूत योगके रहनेसे कर्म आनेकी क्रिया चालू रहती है । इसलिये इस क्रियामें समाविष्ट हुई कार्मण वर्गणाओंको कर्म न कहें तो क्या कहें ?

इस प्रकार कर्मोंके सांपरायिक व ईर्यापथ ये दो भेद हुए। अब दोनोंके उदाहरण तथा समर्थन लिखते हैं—

कषायके द्वारा जीवकी अवस्था गीले या चिकने चमडेकीसी होजाती है। इसलिये जिस प्रकार गीले चमडेपर आकर पडी हुई धूल जम जाती है उसी प्रकार कषायद्वारा आर्द्र या स्निग्ध हुए जीवमें आये हुए कर्म कुछ कालकेलिये जम जाते है। इसीको सांपरायिक कर्म कहते हैं। जहांपर कषाय नहीं रहता वहांपर गीलापन या चिकणता नहीं होसकती। इसीलिये जिस प्रकार माटी पत्थरके सूखे या रूक्ष पडे हुए ढेरमें डेल उससे चिपटते नहीं हैं उसी प्रकार कषायरहित जीव निस्नेह या सूखा हो जानेके कारण उसमें आये हुए कर्म जम नहीं पाते। जैसे वे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। इस कर्मको ईर्यापथ कर्म कहते हैं। ये दोनों भेद[1] हैं तो कर्मोंके या जीवोंके, परंतु उपचारसे आस्रवके कहे जाते हैं।

सांपरायिक कर्मके आनेके कारण—

चतुःकषायपंचाक्षैस्तथा पंचभिरव्रतैः। क्रियाभिः पंचविंशत्या साम्परायिकमास्रवेत् ॥८॥

१ स्वामिभेदादास्रवभेदः। इति सर्वार्थसिद्धिः।

अर्थ—चार कषाय, पांच इंद्रियां, पांच अव्रत, पचीस क्रिया-इनके द्वारा सांपरायिक कर्मोंका आस्रव होता है। यद्यपि सांपरायिक कर्मका कारण कषाय ही है तो भी इंद्रियादिकोंको जुदा कारण इसलिये गिनाया है कि कषायोंके कार्यकारण-संबंधकी अवस्थाएं मालूम पडजांय। जबतक कषाय मनोगत रहै तबतक उसे कषाय कहना चाहिये और इंद्रिय, अव्रत तथा क्रियाओंको कषायोंका कार्य कहना चाहिये। उन पचीस क्रियाओंके नाम तथा अर्थ दिखाते हैं:—

१—चैत्य-गुरु-प्रवचनकी पूजा करना-इत्यादि कार्योंसे सम्यक्त्वशुद्धि होती है इसलिये यह सम्यक्त्वक्रिया है।

२—जिनसे मिथ्यात्व बढे ऐसे कार्य करनेका नाम मिथ्यात्वक्रिया है। जैसे कि अन्य मिथ्यादेवोंकी स्तुति करना।

३—हात पांय आदि हलानेकी जो क्रिया हो वह प्रयोगक्रिया कहाती है। जैसे कि चलना-फिरना।

४—संयमी होकर जो असंयमकी तरफ झुकना, सो समादान क्रिया कहाती है। अथवा योगसाधक पुद्गलवर्गणाओंके संग्रह करनेको भी समादानक्रिया कहते हैं। इस समादान क्रियाका तात्पर्यार्थ इतना ही है कि जो पुद्गल ग्रहण करनेसे कुछ समयसे रुक रहे हैं उनका फिर ग्रहण करना अथवा नवीन नवीन पुद्गलोंको ग्रहण करनेकी तरफ प्रवृत्त होना।

५—ईर्यापथक्रिया पांचवीं है। समादान क्रियासे यह उलटी है। साधुको लक्ष्यकर चौथी व पांचवी ये दो क्रियाएं बताई हैं। संयमीकी ऐसी कोई क्रिया होने लगे कि जिससे विषय ग्रहण हो वह संयमीकी एक सामादान नामक पाप-क्रिया कही। साधु संयम बढानेवाली जिस क्रियाको करै उसे ईर्यापथ क्रिया कहते हैं। ईर्यापथ एक समिति है। ईर्यापथका अर्थ आगे कहेंगे। इस क्रियाको यद्यपि ईर्यापथ नामसे कहा है परंतु पांचो समितियोंका अर्थ इसमें गर्भित है।

इन पांच क्रियाओंमेंसे पहिली दो सम्यक्त्व सुधरने बिगडनेकी अपेक्षासे हैं। चौथी पांचवीं संयम बिगडनेकी अपेक्षासे है। बीचकी तीसरी सामान्य जीवमात्रकेलिये है। यहां आस्रवका प्रकरण है इसलिये जो आस्रवकी सहायक क्रियाएं हों उन्हीका उल्लेख यहां होना चाहिये। पांचों समितियोंका जो आगे स्वरूप कहेंगे उससे मालूम होगा कि समिति पांचो ही जैसे संवरकेलिये कारण हैं वैसे कुछ आस्रवकेलिये भी कारण हैं। इसीलिये संयमवर्द्धक ईर्यापथ समितिको यहां क्रियाओंमें गिनाया है। ईर्यापथका अर्थ भी इसीलिये पांचों समिति करना चाहिये। उपलक्षण न्यायसे पांचोंका ग्रहण करना असंबद्ध भी नहीं है।

१ "सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रिया पञ्च" इति वार्ति०।

आगे जिन पांच क्रियाओंको कहते हैं वे परहिंसाकी मुख्यतासे है। देखो—

६—क्रोधके आवेशसे जो द्वेषादिरूप बुद्धिका करलेना सो प्रादोषिक क्रिया है।

७—वह प्रदोष उत्पन्न होजानेपर हाथसे मारने लगना, मुखसे गाली देने लगना—ऐसी प्रवृत्तिको कायिक क्रिया कहते हैं।

८—हिंसाके साधनभूत बंदूक छुरी इत्यादि चीजोंका लेना, देना, रखना—इस सबको आधिकरणिकी क्रिया कहते हैं।

९—दूसरोंके दुःख देनेमें लगना सो परिताप क्रिया है।

१०—दूसरोंके शरीर—इंद्रिय—श्वासोच्छ्वासको नष्ट करना सो प्राणातिपात क्रिया है।

अब पांच क्रिया ऐसी लिखते हैं जिनेका इंद्रियभोगोंसे सम्बन्ध है।—

११—सौंदर्य देखनेकी इच्छा सो दर्शनक्रिया है।

१२—किसी चीजको छूनेकी इच्छा होना सो स्पर्शनक्रिया है। इन दो इन्द्रियविषयों की वांछाओंमें शेष इन्द्रियविषय वांछाओंका समावेश करलेना ठीक है। क्योंकि, दूसरी वांछाएँ जुदी गिनाई नहीं हैं।

१३—इन्द्रियभोगोंकी पूर्तिकेलिये नये नये सामान इकट्ठे करना या उत्पन्न करना सो प्रात्ययिकी क्रिया है।

१४—स्त्री पुरुष तथा पशुओंके बैठने उठनेके स्थानोंको मलसे मूत्रसे खराब करडालना सो समन्तानुपात क्रिया है।

१५—न झाडी पोछी हुई भूमिपर बैठना, उठना, सोना सो अनाभोग क्रिया है।

अब पांच क्रिया ऐसी लिखते हैं कि जो ऊंचे धर्माचरणमें धक्का देनेवाली हैं।

१६—दूसरेके नियोगी कामको स्वतः करना सो स्वहस्तक्रिया है। वर्णाश्रित कार्योंके बदलनेसे यह दोष मुख्यतया लगता है और इसीसे देशकी व्यवस्थाका भंग या अव्यवस्थितपना होजाता है।

१७—पापसाधनोंके देने लेनेमें संमति रखना सो निसर्ग क्रिया है। पापिष्ट कामोंकी छूट देना ऐसा निसर्ग शब्दका अर्थ है।

१८—अच्छे कामोंको आलस्यवश स्वयं नहीं करना अथवा दूसरोके निंद्य कार्यका भंडाफोड करना—यह सब विदारण क्रियाका अर्थ है।

---

१ प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रिया पंच। २ दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगक्रिया: पंच। ३ स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनानाकांक्षाक्रिया: पंच।

१९–प्रमादवश आवश्यकादि धर्मकार्योंको न कर सकना और अतएव विपरीत उपदेश करना सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

२०–प्रवचनमें दिखाये हुये धर्मानुष्ठानके करनेमें उन्मत्तताके तथा आलस्यके वश होकर आदर या प्रेम न रखना सो अनाकांक्षा क्रिया है।

अब पांच क्रिया ऐसी गिनाते हैं कि जिनके रहनेसे धर्म धारनेमें विमुखता रहे—

२१–कांटना, तोडना, कुचलना–इत्यादि कार्योंमें लगे रहना और दूसरा कोई ऐसा करे तो हर्षित होना सो आरम्भ क्रिया है।[1]

२२–परिग्रहोंका कुछ कभी विध्वंस न हो जाय ऐसे उपायोंमें लगे रहना सो परिग्रह क्रिया है।

२३–ज्ञानादि गुणोंको मायाचारसे छिपाये रखना सो माया क्रिया है।

२४–मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यात्वपूर्ण कामोंकी प्रशंसा करना सो मिथ्यादर्शन क्रिया है। ऐसी प्रशंसामें वही लगसकता है कि जिसे सत्य धर्मकी अभिरुचि न हो।

२५–देशव्रतके घातके[2] कषायकर्मोंका उदय रहनेसे जो व्रतोंसे सर्वथा विमुख रहना सो अप्रत्याख्यान क्रिया है। प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग होता है। विषयत्याग न होकर उलटी आसक्ति होना–यह अप्रत्याख्यान शब्दका अर्थ है।

कषाय सर्व प्रवृत्तियोंके कारण हैं। इन्द्रिय–शब्दसे इन्द्रियज्ञान लेना चाहिये[3]। अव्रत शब्दका अर्थ विषयासक्ति है। विषयासक्ति मनोविकार है। इसलिये क्रियाओंसे उक्त तीनों ही जुदे कहे गये हैं। क्योंकि, क्रियाएँ जितनी हैं वे सर्व शरीरावयवोंकी सकंप अवस्थाएँ हैं। इन्ही सकंपावस्थाओंको कारणभेदवश अनेक नाम प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्रियका अर्थ इन्द्रियोपयोग है। परन्तु स्पर्शन क्रियाका अर्थ स्पर्शनेंद्रियव्यापार है। बुरे भले सांपरायिक कर्मबंधनोंके ये कारण हैं।

आस्रव की तरतमताके कारण—

तीव्रमन्दपरिज्ञातभावेभ्योऽज्ञातभावतः। वीर्याधिकरणाभ्यां च तद्विशेषं विदुर्जिनाः॥ ९॥

अर्थ–इंद्रियादिक सांपराय कर्मके कारण उन्तालीस कहे परन्तु सांपरायिक कर्मोंका फल भोगनेवाले संसारी जीवोंमें अनंतों विचित्रताएं देखनेमें आती है। क्या वे विचित्रताएं निष्कारण होती हैं? यदि नहीं तो उनकेलिये कोनसे कर्म कारण हैं और वे कर्म कैसे बँधते हैं? इस प्रश्नका उत्तर उक्त श्लोकमें है।

---

१ आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रियाः पञ्च ॥ २ देशव्रतके घातक कर्मोंको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

३ पूर्वत्रेन्द्रियविज्ञानग्रहणमिह तत्पूर्वपरिस्पन्दग्रहणम्। इति वार्ति०।

वह यों कि, सांपरायिक कर्मबंधके कारण तो जो उन्तालीस ऊपर कहे वे ही हैं परंतु परिणामोंकी तीव्रता, मंदता अनंतों भांतकी होसकती है। वस, उसीसे कर्मसामर्थ्यमें अनंतो भेद पैदा होजाते हैं। इसके भी सिवा जो कर्म ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं वे दूसरे प्रकारके होते हैं और विना जाने किये जाते हैं वे दूसरे प्रकारके होते हैं। शक्ति तथा आश्रयसे भी अंतर पडजाता है। शक्ति नाम बलका है। विशेषताके ये छह कारण हुये।

अधिकरण या आश्रयका विस्तारार्थ—

तत्राधिकरणं द्वेधा जीवाजीवविभेदतः। त्रिःसंरम्भसमारम्भारम्भैर्योगैस्तथा त्रिभिः ॥ १० ॥
कृतादिभिस्त्रिभिश्चैव चतुर्भिश्च क्रुधादिभिः। जीवाधिकरणस्यैते भेदा अष्टोत्तरं शतम् ॥ ११ ॥
संयोगौ द्वौ निसर्गास्त्रीन्निक्षेपाणां चतुष्टयम्। निर्वर्तनाद्वयं चाहुर्भेदानित्यपरस्य तु ॥ १२ ॥

अर्थ—यहां कषायोंके आधारको अधिकरण कहा है। वे अधिकरण दो प्रकारके हैं, जीव व अजीव। कषाय कहां उत्पन्न होता है इस प्रश्नका उत्तर देखने लगें तो जीवको अधिकरण कहना पडता है। कषाय किस विषयमें उत्पन्न हुआ या होता है इस प्रश्नका निश्चय करना चाहें तो अजीवको अधिकरण कहना पडता है।

जीवमें उत्पन्न हुआ किसी विषयसंबंधी कषाय कैसी कैसी जीवकी अवस्था करता है या कैसे कैसे कार्य जीवसे कराता है यह बात दिखाते हैं—

जिस विषयमें कषाय उत्पन्न हुआ हो उस विषयको, इष्ट हुआ तो अपनाने और अनिष्ट हुआ तो हटानेका संकल्प मनमें उत्पन्न होजाता है। इस इच्छा या संकल्पके होते ही करने योग्य प्रयत्नकी तर्फ झुकाव होता है। इसीको (१) संरंभ[1] कहते हैं। उस झुकावके बाद साधन इकट्ठे करने लगना इसको (२) समारंभ कहते हैं। फिर हटाने या अपनाने का कार्य शुरू होजाना सो (३) आरंभ है। मनके करनेकी यदि कोई बात हो तो ये संरंभादि मनमें होते हैं; वचनसे करने योग्य कार्यके विषयमें वचनमें होते हैं; शरीरसे करनेयोग्य कार्योंके समय शरीरमें होते हैं। इसीलिये हम यदि तीनो— योग संबंधी संरंभ समारंभ आरंभोंको तीन योगोंमें विभक्त करें तो नौ प्रकारके संरंभादिक होजाते हैं।

१ प्रयत्नावेश परंभः। साधनसमभ्यासीकरणं समारंभः। प्रक्रम आरंभ। [इतिवा०]

इन नौ प्रकारोंको कोई मनुष्य स्वयं करता है कोई दूसरोंको ऐसे कार्योंके करनेमें लगाता है और कोई दूसरोंको वैसा करते देख प्रसन्न होता है या उसे अच्छा मानता है। इसलिये तीन प्रकार और भी होगये। स्वयंकृत, अन्यकारित, अनुमत या अनुमोदित ये तीनो प्रकारोंके नाम हुए। इन तीनोंसे ऊपरके संरंभादि नौ प्रकारोंको गुणित करें सर्वभेद सत्ताईस होजाते हैं।

ये सत्ताईस बातें कहीं तो क्रोधद्वारा कीजाती हैं, कहीं, मानकषाय द्वारा, कहीं मायाचारके वश और कहीं लोभके वश इसीलिये उन सत्ताईसोंको क्रोध–मान–माया–लोभकी चार संख्यासे गुणित करने पर एक सौ आठ भेद भी होजाते हैं।

१ क्रोधकृत काय संरंभ, २ मानकृतकाय संरंभ, ३ मायाकृतकाय संरंभ,
४ लोभकृतकाय संरंभ, ५ क्रोधकारितकाय संरंभ, ६ मानकारितकाय सरंभ,
७ मायाकारितकाय संरंभ, ८ लोभकारितकाय संरंभ, ९ क्रोधानुमतकाय सरंभ,
१० मानानुमत काय संरंभ, ११ मायानुमत काय संरंभ, १२ लोभानुमत काय संरंभ,
१३ क्रोधकृतवचन संरंभ, १४ मानकृतवचन संरंभ, १५ मायाकृतवचन संरंभ,
१६ लोभकृतवचन संरंभ, १७ क्रोधकारितवचन संरंभ, १८ मानकारितवचन संरंभ,
१९ मायाकारित वचन सरंभ, २० लोभकारित वचन संरंभ, २१ क्रोधानुमत वचन संरंभ,
२२ मानानुमत वचन सरभ, २३ मायानुमत वचन संरंभ, २४ लोभानुमत वचन सरभ,
२५ क्रोधकृतचित्त संरभ, २६ मानकृतचित्त संरभ, २७ मायाकृतचित्त संरंभ,
२८ लोभकृतचित्त संरंभ, २९ क्रोधकारितचित्त संरंभ, ३० मानकारितचित्त संरंभ,
३१ मायाकारित चित्त संरंभ, ३२ लोभकारित चित्त संरंभ, ३३ क्रोधानुमतचित्त संरभ,
३४ मानानुमत चित्त संरंभ, ३५ मायानुमतचित्त संरंभ, ३६ लोभानुमतचित्त संरंभ,
३७ क्रोधकृतकाय समारंभ, ३८ मानकृतकाय समारंभ, ३९ मायाकृतकाय समारंभ,
४० लोभकृतकाय समारंभ, ४१ क्रोधकारितकाय समारंभ, ४२ मानकारितकाय समारंभ,
४३ मायाकारितकाय समारंभ, ४४ लोभकारितकाय समारंभ, ४५ क्रोधानुमतकाय समारंभ,

४६ मानानुमतकाय समारंभ,
४७ मायानुमतकाय समारंभ,
४८ लोभानुमतकाय समारंभ,
४९ क्रोधकृतवचन समारंभ,
५० मानकृतवचन समारंभ,
५१ मायाकृतवचन समारंभ,
५२ लोभकृतवचन समारंभ,
५३ क्रोधकारितवचन समारंभ,
५४ मानकारितवचन समारंभ,
५५ मायाकारितवचन समारंभ,
५६ लोभकारितवचन समारंभ,
५७ क्रोधानुमतवचन समारंभ,
५८ मानानुमतवचन समारंभ,
५९ मायानुमतवचन समारंभ,
६० लोभानुमतवचन समारंभ,
६१—क्रोधकृतचित्तसमारंभ,
६२—मानकृतचित्तसमारंभ,
६३—मायाकृतचित्तसमारंभ,
६४—लोभकृतचित्तसमारंभ,
६५—क्रोधकारितचित्तसमारंभ,
६६—मानकारितचित्तसमारंभ,
६७—मायाकारितचित्तसमारंभ,
६८—लोभकारितचित्तसमारंभ,
६९—क्रोधानुमतचित्तसमारंभ,
७०—मानानुमतचित्तसमारंभ,
७१—मायानुमतचित्तसमारंभ,
७२—लोभानुमतचित्तसमारंभ,
७३—क्रोधकृतकायारंभ,
७४—मानकृतकायारंभ,
७५—मायाकृतकायारंभ,
७६—लोभकृतकायारंभ,
७७—क्रोधकारितकायारंभ,
७८—मानकारितकायारंभ,
७९—मायाकारितकायारंभ,
८०—लोभकारितकायारंभ,
८१—क्रोधानुमतकायारंभ,
८२—मानानुमतकायारंभ,
८३—मायानुमतकायारंभ,
८४—लोभानुमतकायारंभ,
८५—क्रोधकृतवचनारंभ,
८६—मानकृतवचनारंभ,
८७—मायाकृतवचनारंभ,
८८—लोभकृतवचनारंभ,
८९—क्रोधकारितवचनारंभ,
९०—मानकरितवचनारंभ,
९१—मायाकारितवचनारंभ,
९२—लोभकारितवचनारंभ,
९३—क्रोधानुमतवचनारंभ,
९४—मानानुमतवचनारंभ,
९५—मायानुमतवचनारंभ,
९६—लोभानुमतवचनारंभ,
९७—क्रोधकृतचित्तारंभ,
९८—मानकृतचित्तारंभ,
९९—मायाकृतचित्तारंभ,
१००—लोभकृतचित्तारंभ,
१०१—क्रोधकारितचित्तारंभ,
१०२—मानकारितचित्तारंभ,
१०३--मायाकारितचित्तारंभ,
१०४--लोभकारितचित्तारंभ,
१०५—क्रोधानुमतचित्तारंभ,
१०६--मानानुमतचित्तारंभ,
१०७--मायानुमतचित्तारंभ,
१०८ -लोभानुमतचित्तारंभ,

इस प्रकार जीवाधिकरणके १०८ भेद होते हैं।

अजीवाधिकरणके प्रकार—

कषायपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है वह जिन विषयोंपर हो उसीको अजीवाधिकरण कह चुके हैं। उस अजीवाधिकरणको देखने जांय तो इतने प्रकारोंमें दीखपडेगा; (१) कुछ चीजोंका संयोग या मिश्रण किया जाना, (२) योगोंका निसर्ग या लगाना, (३) वस्तुओंका कहींपर रखना = निक्षेप, (४) शरीरकी तथा बाकी चीजोंकी नई तयारी करना। अजीवपुद्गलके उपयोगके ये चार प्रकार हैं।

१--प्रथम संयोग। इसके दो प्रकार--(१) भक्तपानसंयोग, (२) उपकरणसंयोग। खाने पीनेकी वस्तुओंका इकट्ठा करना = भक्तपानसंयोगरूप अधिकरण। चूल चक्की आदि उपभोग साधनोंका इकट्ठा करना = उपकरणसंयोगनामक अधिकरण।

२--दूसरा निसर्ग नामका अजीवाधिकरण। इसके तीन भेद; [१] शरीरनिसर्ग, [२] वचननिसर्ग, [३] चित्तनिसर्ग। शरीरको कहींपर टेकना या रखना = शरीरनिसर्ग। वचन निकलना = वचननिसर्ग। किसी चीजमें मनका आसक्त होना चित्तनिसर्ग।

३--तीसरा निक्षेपाधिकरण। इसके [१] अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप, (२) अप्रमार्जितनिक्षेप, (३] सहसानिक्षेप, [४]

१—गोम्मटसारमें ऐसे सयोगजभंगोंकी सख्यायत्रद्वारा करलेनेकी विधी लिखी है। तदनुसार यह जीवाधिकरणोंकी सख्या दिखानेवाला एक यहा भी यंत्र देते हैं। इसमे 'क्रोध–कृत–काय–संरभ' ऐसाप्रथम भेद होगा। दूसरा मान–कृत–काय–सरभ' ऐसा होगा। इसी प्रकार सर्व भंग जुड जाते हैं। चारो कोष्ठकोंके एक एक नाम व एक एक सख्या जोडनेसे भग सख्या भी मालूम हो जाती हैं।

क्रोध १	मान २	माया ३	लोभ ४
कृत ०	कारित ४	अनुमत ८	
काय ०	वचन १२	मन २४	
सरभ ०	समारभ ३६	आरभ ७२	

अनाभोगनिक्षेप ये चार भेद हैं। न देखीभाली जमीन पर कुछ रखदेना = अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण। न झाडी हुई जमीनपर कुछ रखदेना = अप्रमार्जित निक्षेपाधिकरण। किसी चीजको एकदम जमीनपर कहीं डालदेना = सहसानिक्षेपाधिकरण। जहांपर कभी कोई जाता नहीं, बैठता उठता नहीं उस जमीनपर कुछ रखना = अनाभोगनिक्षेपाधिकरण।

४--चौथा निर्वर्तनाधिकरण। इसके दो भेद--[१] मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण, (२) उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण। पांच शरीर तथा वचन, मन, श्वासोच्छ्वासकी रचना होना=मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण, घर बांधना माटी--ईंट--पत्थरोंके दूसरे कुछ काम करना, लकडी कागदके घोडे आदि बनाना, इत्यादि=उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण कहाते हैं। ये सर्व अजीवाधिकरणके ग्यारह उत्तर भेद होते हैं। कर्ममात्रके लिये ये सर्व आस्रव कारण लिखे। परंतु कर्मोंके भेद आठ हैं। इसलिये अब प्रत्येक कर्मके आस्रवकारण जुदे जुदे भी लिखते हैं--

मात्सर्यमन्तरायश्च प्रदोषो निह्नवस्तथा। आसादनोपघातौ च ज्ञानस्योत्सूत्रचोदितौ ॥ १३ ॥
अनादरार्थश्रवणमालस्यं शास्त्रविक्रयः। बहुश्रुताभिमानेन तथा मिथ्योपदेशनम् ॥ १४ ॥
अकालाधीतिराचार्योपाध्यायप्रत्यनीकता। श्रद्धाभावोऽप्यनभ्यासस्तथा तीर्थोपरोधनम् ॥१५॥
बहुश्रुतावमानश्च ज्ञानाधीतेश्च शाठ्यता। इत्येते ज्ञानरोधस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ १६ ॥

अर्थ--आगे जो दिखाते हैं वे ज्ञानको घातनेवाले ज्ञानावरण नामक कर्मके आस्रवकारण हैं।

१--जो ज्ञान अपनेमें हो और दूसरा उसे समझना चाहे परंतु न कहना-न बताना यह मात्सर्य[1]-दोष है। मत्सरका अर्थ द्वेष होता है। द्वेष मानकर ज्ञानका प्रकाश न करनेवाला मनुष्य मत्सरी कहावेगा और उसकी न प्रकाश करनेकी भावनाको मात्सर्य कहना चाहिये। इसके होनेसे ज्ञानका घात होता है इसलिये यह ज्ञानावरणका आस्रव माना गया है।

२--दुष्टता या कालुष्यके वश होकर ज्ञानाभ्यासमें विघ्न डालना--सो अंतराय[2] दोष कहाता है। ३-मति-श्रुतादि ज्ञानोंको मोक्षसाधन मानकर यदि कोई प्रशंसा करै तो उत्तरमें कहना तो कुछ नहीं परंतु मनके भीतर उस बातसे ईर्ष्या करने लगना यह प्रदोष[3] कहाता है। ४-- किसी तत्त्वज्ञानके पूछने पर मुकर जाना--कह देना कि मैं जानता ही नहीं हूं--इसे

[1] यावद्यावद्द्वेषज्ञानाप्रदान मात्सर्यम्। [2] ज्ञानव्यवच्छेदकरणमन्तराय। [3] ज्ञानकीर्तनानंतरमनभिव्याहरतोन्त पैशुन्यं प्रदोष।

निह्नव कहते हैं। ५—कोई मनुष्य किसी दूसरेको किसी तत्त्वज्ञानका उपदेश करना चाहे और वह सुननेवाला पात्र भी हो परंतु उपदेशदाताको मना करदेना अथवा इशारेसे रोकदेना—इसे आसादनदोष कहते हैं। ६—निर्दोष तत्त्वज्ञानको दोष लगादेना सो उपघात है। ७—तत्त्वोंका उत्सूत्र कथन करना, ८—तत्त्वोपदेश सुनने में अनादर रखना, ९—आलस रखना, १०—शास्त्र वेचना, ११—अपनेको वहुश्रुत मानकर अभिमानसे मिथ्या उपदेश देना, १२—अध्ययन के लिये जो समय निषिद्ध हैं उन समयोंमें पढना, १३—आचार्य तथा उपाध्याय के विरुद्ध रहना, १४—तत्त्वोंमें श्रद्धा न रखना, १५—तत्त्वोंका अनुचिंतन न करना, १६—सर्वज्ञ भगवान् के शासनप्रसार में बाधा डालना, १७—वहुश्रुतज्ञानियोंका अपमान करना, १८—तत्त्वाभ्यास करनेमें शठता करना ये सर्व ज्ञानावरणके आस्रवहेतु हैं । परंतु तात्पर्य इतना समझना चाहिये कि जिन कामों के करनेसे अपने तथा दूसरों के तत्त्वज्ञानमें बाधा आवै, मलिनता होजाय वे सर्व ज्ञानावरणके आस्रवकारण समझने चाहिये । उनमेंसे वहुतसे कामोंका ग्रंथकारने उल्लेख करदिया है परंतु और भी वहुत हैं कि जिन्हें ऊपरसे समझना चाहिये। जैसे कि एक ग्रंथको असावधानी से लिखते हुए कुछ पाठ छोड देना या कुछका कुछ लिख जाना—यह ज्ञानावरण के आस्रवका कारण होगा ।

२—दर्शनावरणके आस्रवहेतु—

दर्शनस्यान्तरायश्च प्रदोषो निन्हवोपि च । मात्सर्यमुपघातश्च तस्यैवासादनं दिवा ॥ १७ ॥
नयनोत्पाटनं दीर्घस्वापिता शयनं दिवा । नास्तिक्यवासना सम्यग्दृष्टिसंदूषणं तथा ॥ १८ ॥
कुतीर्थानां प्रशंसा च जुगुप्सा च तपस्विनाम् । दर्शनावरणस्यैते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ १९ ॥

अर्थ—१—देखने में अंतराय डालना २—किसीके देखनेकी प्रशंसा होती हो वहां पर मुखसे कुछ न कहकर भीतर ईर्ष्या द्वेष करना, ३—अपने देखनेको छिपाना, ४—दूसरोंको दिखाना नहीं, ५—अच्छे दर्शनको दोष लगादेना, ६—दूसरे किसीको कुछ दिखाना चाहें तो मना करदेना—ये दर्शनसंबंधी दोष दर्शनावरणके आस्रवकारण हैं इनके सिवा और भी दर्शनावरण के वहुत से आस्रव कारण हैं। उनमें से कुछ ग्रंथकार स्वयं दिखाते हैं। जैसे कि किसी की आंखें निकलवा लेना,

१ पराभिसंधानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः । २ वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम् । ३ प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः । इति वार्तिं० ।

वहुत सोना, दिनमें सोना इत्यादि काम भी दर्शनावरणके आस्रव कारण हैं। नास्तिकताकी वासना रखना, सम्यग्दर्शन में दोष लगाना, कुतीर्थों की प्रशंसा करना, तपस्वियोंको देखकर उनके विषयमें ग्लानि करना—ये भी दर्शनावरणके आस्रवहेतु हैं।

यहां शंका यह होगी कि नास्तिकताकी वासना आदिक वातोंसे दर्शनावरणका आस्रव क्यों होता है? यदि हो तो दर्शन मोह का आस्रव होना संभव है। क्योंकि, सम्यग्दर्शनके विपरीत कार्योंसे सम्यग्दर्शन मलिन होसकता है न कि दर्शनोपयोग।

उत्तर—जैसे वाह्य इद्रियोंसे मूर्तिक पदार्थोंका दर्शन होता है वैसे ही विशेषज्ञानियोंको अमूर्तिक आत्माका भी तो दर्शन होता है। जिसप्रकार सर्व ज्ञानोमेंसे आत्मज्ञान अधिक पूज्य है उसीप्रकार वाह्यविषयके दर्शनोंकी अपेक्षा अन्तर्दर्शन या आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। इसलिये आत्मदर्शनके वाधक कारणोंको दर्शनावरणके आस्रवका हेतु मानना अनुचित नहीं है। नास्तिकताकी वासना आदि जो लिखे हैं वे इसप्रकार दर्शनावरणके आस्रवहेतु होसकते हैं।

३—तीसरा वेदनीय कर्म है। इसके सात असात ये दो प्रकार है। दोनोंमेंसे असातवेदनीयके आस्रवका कारण—

दुःखं शोको बधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम्। परात्मद्वितयस्थानि तथा च परपैशुनम्॥ २०॥
छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा। तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो विश्वसनं तथा॥ २१॥
पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च। शस्त्रप्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम्॥ २२॥
शृङ्खलावागुरापाशरज्जुजालादिसर्जनम्। धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा॥ २३॥
तपस्विगर्हणं शीलव्रतप्रच्यावनं तथा। इत्यसद्वेदनीयस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥ २४॥

अर्थ—पीडा होने का नाम दुःख[2] और खेदका नाम शोक[3] है। शरीरेन्द्रियोंका घात करना सो[4] वध है। पश्चात्ताप या ताप[5]का एक ही मतलव है। विलापका नाम क्रन्दन[6] है। ऐसी तरहसे रोना सुननेवाले भी दुखी होजांय सो परिदेवन[7] कहाता है। इन वातोंको स्वयं करना या दूसरोंमें उत्पन्न करदेना अथवा स्वयं भी करना दूसरोंमें भी उत्पन्न

१ सातका अर्थ सुख व असातका अर्थ दुःख है। २ पीडालक्षणः परिणामो दुःखम्। ३ अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोक। ४ आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरण बधः ५। परिवादादिनिमित्तमाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्ताप। ६ परितापजाश्रुपातप्रचुरविलापाद्यभिव्यक्तं क्रन्दनमाक्रंदनम्। ७ संक्लेशप्रवण स्वपरानुग्रहाभिलापविषयमनुकम्पाप्राय परिदेवनम्। [इति वार्तिकालंकारे]

करदेना, ऐसा करनेसे असातवेदनीय कर्मका आस्रव होता है।

इनके सिवा दूसरेंकी चुगली खानेसे, छेदने से भेदनेसे, ताडने से, दमन करनेसे, डरानेसे, तरासनेसे अति शीघ्र किसी के भी विश्वासमें आजानेसे पापकर्म के द्वारा आजीविका करनेसे, वक्रस्वभाव रखने से, शस्त्रदान करनेसे, विश्वास-घात करनेसे, विषमिलानेसे, सांकल–वागुरा--पाश–जाल इत्यादि पशु पक्षी पकडने की चीजें देनेसे, धर्मका घात करनेसे, धर्ममें विघ्न डालनेसे, तपस्वियोंकी निंदा करनेसे शीलव्रतके छोडने छुडाने से असातवेदनीयकम का आस्रव होता है।

इन कारणोंके सिवा असात वेदनीयके दूसरे भी कारण हैं। जैसे कि, दूसरोंकी निंदा करना, चुगली खाना, दया न रखना, किसीको रोकलेना, दूसरे जीव पर सवार होकर चलना, अपनी प्रशंसा करना, महा आरंभ परिग्रह रखना ये सव भी असातवेदकर्मास्रवहेतु हैं।

वक्र स्वभावको अशुभ नाम कर्मका भी आस्रवकारण लिखेंगे और ऊपर असातवेदनीयका कारण लिखचुके हैं। परन्तु यह कोई विरोध नहीं है। एक ही क्रिया अनेक भातके परिणाम उत्पन्न कराती है। दूसरें, जैसे अभिप्रायसे वह क्रिया कीजाय वैसा ही वह फल देती है। वक्रस्वभाव आनन्दकेलिये धारण किया जाय तो असातवेदनीयका कारण हो। यदि वही वक्र स्वभाव किसी जीवका सहज स्वभावसा पडगया हो तो अशुभ गति आदि नामकर्मोंका भी कारण होसकता है। इसी प्रकार यदि वहुतसे आरम्भ–परिग्रहमें रत होजाय तो उससे नरक आयुका आस्रव हो और उसीको आनन्दका हेतु माननेसे असातवेदनीयका आस्रव होसकता है। एक एक कषायक्रियाओंमें इसीप्रकार और भी अनेक[2] अविरोधी कर्म लानेकी शक्ति रहसकती है।

---

१ इतिकरणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः अर्थात् इस आस्रव प्रकरणके अन्तमें राजवार्तिकालंकारके कर्ता श्रीअकलंकदेव लिखते हैं कि सूत्रके एक 'इति' शब्दको प्रथमसे लेकर यहातक लायाजासकता है और उसके लानेका फल यह समझना चाहिये कि जिन कारणोंकी जिक्र नही की गई है वे भी उस उस कर्मास्रवके कारण समझे जाय। २ ज्ञानावरणे वध्यमाने युगपदितरेषामपि वन्ध इष्यते आगमे। अतो यत्प्रदोषनिन्हवादयो ज्ञानावरणादीनामास्रवा प्रतिनियता उच्यन्ते सर्वेषां कर्मणां आस्रवा भवन्ति। किंच यद्यपि प्रदेशादिवन्धनियमो नास्ति तथापि अनुभागविशेषनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषादय प्रविभज्यन्ते। [इति वार्ति० । अर्थात्, अनुभाग भी प्रदेशादिवन्धकी भांत सामान्य तो सातो आठो प्रकृतियोंमे उत्पन्न होता ही है परन्तु विशेषानुभाग उसी कर्ममें उत्पन्न होगा कि जिसका नियत कारण उपस्थित हो।

सातवेदनीयके आस्रवहेतु—

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा । वैयावृत्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा ॥ २५ ॥
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा । भूतवृत्यनुकम्पा[1] च सद्वेद्यास्रवहेतवः ॥ २६ ॥

अर्थ—दया रखना, दान देना, तपश्चरण करना, शील धारण करना, सत्य बोलना, आत्मशौचको पालना, इंद्रिय दमन करना, क्षमा धारण करना, धर्मात्माओंकी सेवामें उपस्थित रहना, विनययुक्त रहना, जिनपूजा करना, परिणाम सरल रखना, मुनियोंका सराग संयम या महाव्रत धारण करना, गृहस्थियोंके देशव्रत धारण करना, प्राणिमात्र पर करुणा रखना और व्रतियोंपर विशेष करुणा रखना—ये सातवेदनीय कर्मके आस्रवकारण हैं ।

इन कारणोंके सिवा अकामनिर्जरा[2] बालतप[3], समाधि[4] इत्यादि कारण भी सातवेदनीयमें उपयोगी पडते हैं । सराग संयमका अर्थ मुनिचारित्र है परन्तु मुनि वीतराग भी होते हैं, इसलिये जब तक राग नाश नहीं हुआ तब तकके सर्व मुनि यहां लिये जासकते हैं । अत एव संयमका अर्थ अशुभनिवृत्ति[5] करना चाहिये । शुद्ध चारित्रवाले जो साधु हैं वे सराग नहीं होते । दानादिका लक्षण आगे कहेंगे ।

मोहनीयके दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं इनका स्वरूप तो आगे कहेंगे परन्तु इनके आस्रव हेतु यहीं लिखते हैं ।

दर्शनमोहनीयके आस्रवहेतु—

केवलिश्रुतसंघानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम् । अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थकृतामपि ॥ २७ ॥
मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम् । इति दर्शनमोहस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ २८ ॥

अर्थ—केवली भगवान्‌की, शास्त्रकी, संघकी, धर्मकी, देवोंकी तथा तीर्थकरोंकी झूठी निंदा करना सो दर्शनमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है । झूठी निंदा का मतलब यह है कि मनमें ईर्ष्याद्वेष उत्पन्न होनेसे झूठे दोष लगाना । इसीको

---

१ अनुग्रहार्द्रीकृतचेतस परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा । २ विषयानर्थनिवृत्तिंचात्माभिप्रायेणाकुर्वत पारतन्त्र्याद्भोगनिरोधोऽकामनिर्जरा । ३ यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषां तपो बालतपः । अग्निप्रवेशकारीषसादनादिप्रतीतम् । ४ निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योग समाधि । ५ प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः ।

अवर्णवाद भी कहते हैं। इसके सिवा सत्य मोक्षमार्गको दूषित ठहराना, असत्य मोक्षमार्गको सच्चा बताना ये भी दर्शन मोहास्रवके कारण हैं।

इंद्रियों द्वारा व क्रमसे संसारी जनोंको ज्ञान होता रहता है। यह क्रमसंबन्धी तथा इंद्रियपराधीनतासम्बन्धी दोष जिनके पवित्र आत्मामेंसे निकलगया हो–जो केवल आत्मसहायतासे सर्व विषयोंको युगपत् जानते रहते हों वे केवली कहाते हैं। उस केवलीने जो तत्त्वोपदेश किया हो और ऋषियोंने फिर तदनुसार लिखा हो उसे शास्त्र कहते हैं। उस निर्दोष प्रमाण शास्त्रको अप्रमाण बताना, मांसभक्षणोपदेशयुक्त उसे कहना–इत्यादि श्रुतावर्णवाद है। इसी प्रकार धर्मका अवर्णवाद भी कहते हैं।

रत्नत्रयपूर्ण ऋषी–मुनि–यती–अनगार इन चारोंका समूह सो संघ है। ये चारो साधु हैं। परन्तु चार नाम पडनेके चार कारण हैं। कर्मक्लेशोंका नाश करनेमें जो उद्यत हों वे ऋषी हैं ऋद्धि धारण करनेवाले मुनियोंको भी ऋषी कहते हैं आत्मविद्याओंके अभ्यासी हों सो मुनि हैं। जो पापनाश करनेकेलिये यत्न करें वे यती हैं। जो शरीररूप घरसे भी प्रीति छोड चुके हों वे अनगार हैं। यह शब्दार्थ हुआ। तदनुसार गुण भी इनमें रहते हैं। इनको शूद्र और अशुचि कहना सो सब संघावर्णवाद है। देवोंको मद्यादिसेवी कहना देवावर्णवाद है।

ये दोषारोपण झूठे क्यों हैं? इसलिये कि धर्म, देव, श्रुत, संघका वैसा स्वरूप नही माना गया है। धर्ममें मद्यादिसेवनकी उलटी निंदा की है देव भी मांसादिसेवी नहीं मानेगये हैं। शास्त्रोंमें वैसा स्वरूप वर्णन भी नहीं किया गया है। साधुओंका आत्मा अतिपवित्र है। जो अपने स्वरूपको समझचुके हों और अतएव शरीरसंस्कारको मिथ्या मानकर शरीरसंस्कारसे विमुख होचुके हैं उनसे भी अधिक शुचि कौन होगा? शरीरको आत्मा माननेवाले संसारी जन शरीरके पोषणसे अपना हित समझते हैं। उन्हे आत्मज्ञान नहीं हुआ है इसीलिये वे शरीरशौचको अपना शौच मानतेहैं। परंतु आत्मज्ञानीकेलिये वह क्रिया तुच्छ है। वे पुद्गलसे मिले हुए आत्माको निष्कलंक करनेमें लगे हुए हैं इसलिये वे ही सबसे शुचि

---

१ रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः । मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥ यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् । योऽनीहो देहगेहेपि सोऽनगारः सतां मतः ॥ इति यशस्ति० ८ आ० । २ अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः । मांसभक्षणानवद्याभिधानं श्रुतेवर्णवाद । सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः । निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मावर्णवाद शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघावर्णवादः ।

है। शूद्रताका दोष भी उनमें नहीं आता। शूद्रका अति असंस्कृत आत्मा साधुपदके योग्य आत्मविशुद्धि नहीं करसकता इसलिये साधुओंमें शूद्रका समावेश नहीं होता। इसीलिये वे शूद्र नही होते। इसलिये साधुओंमें शूद्र भी रहते हैं यह कहना मिथ्या है।

केवलियोंको कवलाहारका दोप लगाया जाता है यह भी मिथ्या है। तीर्थकरोंमें स्त्रीवेदका दोप लगाया जाता है यह भी मिथ्या है। ये दोनो बातें केवलज्ञानका लक्षण लिखते समय दिखावेंगे।

आत्माके सम्यग्दर्शनगुणको मलिन करनेवाले और भी सभी काम दर्शनमोहास्रवके कारण होते हैं। ऊपर जो अवर्णवाद बताये हैं उनसे आत्मस्वरूपका श्रद्धान तथा तत्त्वश्रद्धान विरुद्ध होजाता है। इसलिये वे सब सम्यग्दर्शनघातक दर्शनमोहकर्मके अनुभाग सामर्थ्यको बढाते हैं। आत्माको न मानना इत्यादि दोप भी दीर्घ दर्शनमोहास्रवके कारण समझने चाहिये।

चारित्रमोहनीयके आस्रवहेतु—

स्यात्तीव्रपरिणामो यः कषायाणां विपाकतः। चारित्रमोहनीयस्य स एवास्रवकारणम् ॥ २९ ॥

अर्थ—क्रोधादि कपायोंका उदय होनेसे जो परिणामोंमें तीव्रता उत्पन्न होती है वह चारित्रमोहनीयकर्मका आस्रवकारण है। क्रोधकी तीव्रता क्रोधकर्मका आस्रवकारण है। मान—माया—लोभकी तीव्रता मान-माया-लोभकर्मकेलिये कारण है। परंतु सामान्यभावसे देखें तो जगके अनुग्रहमें लगे हुए व्रतशीलसंपन्न तपस्वियोंकी निंदा, धर्मका विध्वंसन अथवा धर्म सेवनमें विघ्न डालना, मधुमांसादिसे विरत रहनेवालेके चित्तमें भ्रम उत्पन्न करना, व्रतोंमें दोप लगाना क्लेशदायक वेशधारणकरना अपनेको कषाय उत्पन्न हो या दूसरेको हो ऐसा कार्य करना, इत्यादि कामोंसे चारित्रमोहनीयकर्मका आस्रव होता है। खूब हसना, दूसरोंकी हसी करना, इत्यादि बातोंसे हास्यकर्मका आस्रव होता है। कामोत्पादक कुचेष्टा करना, भोगोपभोगविपयोंमें अतिप्रेम रखना ये बातें रतिकर्मास्रवकी कारण हैं। किसी चीजसे आप द्वेप करना, दूसरोंको अरति उत्पन्न करना पापियोंकी संगत करना ये सब काम अरतिकर्मास्रवके हेतु हैं। दूसरोंको शोक होनेपर आनंदित होना, शोक उत्पन्न करना, दुख उत्पन्न करना ऐसी बातसे शोककर्मका आस्रव होता है। निर्दय रहनेसे, अधिक भययुक्त रहनेसे, दूसरोंको भयउत्पन्न करनेसे भयकर्मका आस्रव होता है। सत्य धर्मके धारक चारो वर्णवालोंका जो वर्ग कुलक्रियाचार उसमें ग्लानि दिखानेसे जुगुप्साकर्मका आस्रव होता है। अर्थात् अपने अपने वर्ग या कुलोंके अनुसार जो क्रियाचार होते हैं वे बहुतसे लोगोंको पसंद नहीं होते—उसमें वे ग्लानि करते

हैं। परंतु ऐसा करना जुगुप्साकर्मका कारण है। पुरुष-स्त्री-नपुंसककी भांत दूसरेको भोगनेकी वांछा रखनेसे स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेदका आस्रव होता है। इसके सिवा स्त्रीवेदकर्मका आस्रव होनेमें अतिमान असत्यभाषण ऐसी बातें भी कारण होजाती हैं स्त्रीभोगकी अल्प आकांक्षा, मायाचार न रखना इत्यादि स्वभाव पुरुषवेदके कारण होते हैं। भोगकी अतिआसक्ति, गुह्येन्द्रियछेदन इत्यादि क्रियाएं नपुंसकवेदास्रवके लिये कारण होती हैं।

चार आयुकर्मोंमेंसे नरकायुके आस्रवकारण—

उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता। मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता ॥ ३० ॥
अजस्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता। परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ॥ ३१ ॥
कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता। जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम् ॥ ३२ ॥
मार्जारताम्रचूडादिपापीयःप्राणिपोषणम्। नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह ॥ ३३ ॥
कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम्। आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ३४ ॥

अर्थ—कठोर पत्थरके समान तीव्र मान रखना, पर्वतमालाओंके समान अभेद्य क्रोध रखना, मिथ्यादृष्टि होना, तीव्रलोभ होना, सदा निर्दयी बने रहना, सदा जीवघात करना, सदाही झूंठ बोलनेमें प्रेम मानना, सदा परधन हरनेमें लगे रहना, नित्य मैथुनसेवन करना, कामभोगोंकी अभिलाषा सदा जाज्वल्यमान रखना, जिन भगवान्की आसादना करना साधुधर्मका उच्छेद करना, बिल्ली—कुत्ते—मुर्गे इत्यादि पापी प्राणियोंको पालना, शीलव्रतरहित बने रहना और आरंभ परिग्रहको अति बढाना, लेश्या कृष्ण रहना, चारो रौद्रध्यान जो आगे निर्जराके वर्णनमें लिखेंगे उनमें लगे रहना इतने अशुभकर्म नरकायुके आस्रवहेतु हैं। अर्थात् जिन कर्मोंको क्रूरकर्म कहते है और जिन्हें व्यसन कहते हैं वे सभी नरकायुके कारण हैं।

तिर्यंच आयुके आस्रवहेतु—

नैःशील्यं निर्व्रतत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम्। मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां च देशनम् ॥ ३५ ॥
कृत्रिमागरुकर्पूरकुंकुमोत्पादनं तथा। तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम् ॥ ३६ ॥

सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितिः । वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा ॥ ३७ ॥
तक्रक्षीरघृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम् । वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा ॥ ३८ ॥
कापोतनीललेश्यात्वमार्तध्यानं च दारुणम् । तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः ॥ ३९ ॥

अर्थ–शील न रखना, व्रत न रखना, मिथ्यादृष्टि होना, दूसरोंको ठगते रहना, मिथ्यादृष्टियोंकेखोटे धर्मोंका उपदेश करना, अगर, कपूर, कुंकुम इत्यादि चीजोंको नकली तयार करना बांट तराजू इत्यादि चीजोंको हीनाधिक रखना, सोना मोती इत्यादि वस्तुओंको नकली तयार करना, किसी चीजके रस–गंध–वर्ण–स्पर्शको बदलना, दूध, घी, मठा आदि चीजोंमें दूसरी चीजें मिला देना वचन या शरीरकी कियासे दूसरोंको घबडाहट पैदा करदेना ।

कपोत या नील नामकी लेश्या रहना तीव्र आर्तध्यान करते रहना, ये सर्व तिर्यंच योनिके आयुकर्मकेलिये आस्रव कारण हैं। इनके सिवा मायाचार सबसे मुख्य कारण है। दूसरोंको ठगनेमें अति प्रयत्न रखना, दूसरेको ठगलेने पर प्रसन्न होना, ये सर्व मायाचारके ही भेद हैं और ये तिर्यंच आयुके कारण हैं। आर्तध्यानको जो कारण कहा है वह यदि मरण समयमें हो तो अवश्य ही तिर्यंच आयुका कारण हो। बाकी समयमें किसी भी आयुका कारण मिलनेपर भी बन्ध होनेका नियम नहीं रहता। क्योंकि भुज्यमान वर्तमान आयुकर्मकी स्थितिका एक तृतीयांश शेष रहजाने पर उत्तर भवके आयुकर्मका बन्ध होसकता है। उससे प्रथमतो कभी होता ही नहीं। उस प्रथम तृतीयांशमें यदि बन्ध न हो तो उस शेष स्थितिका भी एक तृतीयांश शेष रहनेपर हो। तब भी न हो तो उस शेपके भी तृतीयांश शेष रहने पर हो। ऐसे तृतीयांशोंके प्रसंग किसी किसीको आठ बारतक होजाते हैं। यदि इन आठोंमें बन्ध न हो तो मृत्यु समय अवश्यही हो। इसीलिये चाहे जब आयुबन्ध नहीं होता। यह सभी आयुकर्मोंका सामान्य नियम है।

मनुष्यायुके आस्रवहेतु–

ऋजुत्वमीषदारम्भपरिग्रहतया सह । स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता ॥ ४० ॥
अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः । आयुषो मानुषस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४१॥

अर्थ—परिणाम सदा सरल रखनेसे, आरंभ व परिग्रह थोडा रखनेसे, स्वभाव कोमल रखनेसे, गुरुजनोंकी पूजा विनय करनेमें सदा तत्पर रहनेसे, कुटुंवादि संवंधी विषयोंके इष्टानिष्ट वियोग संयोग होनेपर संक्लेश कम करनेसे, दान देनेसे, प्राणियोंके घातको छोडनेसे मनुष्यायुकर्मका आस्रव होता है। मनुष्यायुके कारण और भी होसकते हैं। जैसे कि शीलव्रत धारण न करके भी मंद कषाय रखनेसे मनुष्यायुका आस्रव होता है। वह मंदकषाय धूलमें की हुई लकीरके समान जल्दी मिट जानेवाला हो। रति थोडी करनेसे, संतोष रखनेसे, प्रायश्चित्त लेनेसे पापकर्म न करनेसे, थोडा बोलनेसे मधुर स्वभाव रखनेसे जन्मनिर्वाहके लिये दूसरोंके अनुग्रहकी प्रतीच्छा न रखनेसे, कपोत व पीत लेश्या धारनेसे, और मरते समय धर्मध्यान रखनेसे भी मनुष्यायुका आस्रव होता है।

देवायु: कर्मास्रवहेतु—

अकामनिर्जरा बालतपो मन्दकषायता। सुधर्मश्रवणं दानं तथायतनसेवनम् ॥ ४२ ॥
सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः। इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ४३ ॥

अर्थ—बालतप व अकामनिर्जराका अर्थ लिखचुके हैं इनके होनेसे कषाय मंद रखनेसे, श्रेष्ठ धर्मको सुननेसे, दान देनेसे, आयतनसेवी बननेसे, सराग साधुओंका संयम धारण करनेसे, देशसंयम धारण करनेसे, सम्यग्दृष्टी होनेसे देवायुका आस्रव होता है। आयतन नाम स्थानका है। यहांपर प्रसंगवशात् धर्मायतन या धर्माश्रय ऐसा आयतनशब्दका अर्थ होता है। धर्मायतन छह हैं, देव, गुरु, शास्त्र व देवोपासक, गुरूपासक, श्रुतोपासक शिष्यगण। इन धर्मायतनोंकी सेवा करनेसे, संगति रखनेसे धर्मलाभ होता है इसीलिये ये आयतन शुभायुके आस्रवहेतु माने गये हैं।

अकामनिर्जरा, बालतप तथा मंदकषाय ये देवायुके कारण अवश्य हैं परंतु जीव मिथ्यादृष्टि हो तो भवनत्रिक देवोंमें तथा सहस्रारपर्यंत स्वर्गके क्षुद्रक देवोंमें जन्म ले सकता है। तेरहसे सोलहवेंतकके स्वर्गोंमें सम्यग्दृष्टि ही जीव जन्म लेता है। बालतप आदि जो मिथ्यादृष्टिके ही हाथ होते हैं वे इसीलिये उत्कृष्ट देवायुके कारण नहीं होसकते हैं। सम्यग्दर्शन, देशसंयम, सरागसंयम—इत्यादि जो कारण हैं वे सौधर्मादि स्वर्गवासी उत्कृष्ट देवायुकेलिये होते हैं।

दानको देवायुका कारण लिखा है और पहिले मनुष्यायुका भी कारण लिखा है परंतु मनुष्यायुका जो दान कारण होता है

वह साक्षात होता है और देवायुका परंपरा कारण। क्योंकि दानका फल भोगभूमि प्राप्त होना है और भोगभूमिका जीव एकवार देव ही होता है यह नियम है। यह साक्षात् परपराका मतलव है। दूसरें, ऐसा भी है कि एक जातिका परिणाम अन्तर्गत असाधारणताके वश अनेक कार्योंका कारण होसकता है। इसलिये एक ही दानक्रिया भोगभूमिके मनुष्यायुका भी कारण हो सकती है। और देवायुका भी कारण हो सकती है। दान निकृष्ट हो तो तिर्यंच आयुका भी कारण हो सकता है।

चित्तमें दया रखना, प्रोपधोपवास करना, तपोमें भावना रखना—इत्यादि क्रियाएं भी देवायुके आस्रवकी कारण होती हैं।

नामकर्ममेंसे अशुभप्रकृतियोंके आस्रवहेतु—

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता। मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनाऽस्थिरचित्तता ॥ ४४ ॥
विषक्रियेष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम्। प्रतिमायतनोद्यानप्रतिश्रयविनाशनम् ॥ ४५ ॥
चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधूपादिमोषणम्। अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम् ॥ ४६ ॥
परुषासह्यवादित्वं सौभाग्याकरणं तथा। अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः ॥ ४७ ॥

अर्थ—मन वचन कायके योगको वक्र रखना, परस्पर विवाद करनेकी आदत पडजाना, मिथ्यादृष्टि वनेरहना, झूठेलेख वनाना, झूठी साक्षी देना, चुगली खाना, चित्त अशान्त रखना, किसीको विष देदेना, ईंटोंका चूनेका भट्टा-पजाया लगाना, जँगलमें आगलगादेना देवप्रतिमाके स्थानका नाश करना, वगीचा उजाडना, सभा—आश्रयस्थानादिका भंग करदेना, देव-प्रतिमाकेलिये रक्खे हुए गन्ध—पुष्प—माला—धूप इत्यादि चीजोंको चुराना, अतितीव्र क्रोधादि कषाय रखना, पापकर्मोंसे जीविका करना, असुहावना कठोर वचन वोलना, किसीके सौभाग्यका विनाश करना या सौभाग्य न होनेदेना, ये सर्व, अशुभ नामकर्मके आस्रवकारण हैं। अशुभ गति अशुभ शरीर इत्यादि अशुभ नामकर्म आगे लिखेंगे। इनके सिवा और भी अशुभ नामकर्मके आस्रव कारण हैं। जैसे कि, मद करना, दूसरोंकी निंदा करना, परस्त्रीवशीकरणमें लगना, वहुत वकना, आभूषण पहरनेमें प्रीति रखना, असत्यबोलना, दूसरोंको सदा ठगते रहना इत्यादि भी अशुभनाम कर्मके कारण हैं।

शुभनामकर्मके आस्रवहेतु—

संसारभीरुता नित्यमविसंवादनं तथा। योगानां चार्जवं नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः ॥४८॥

अर्थ—संसारसे सदा डरते रहना, कभी किसीके साथ झगड़ा विवाद न करना तीनों योगोंको सरल रखना, ऐसे कामोंसे शुभ नाम कर्म का आस्रव होता है। धार्मिकको देखते ही झटसे उठ खडे होना, उसे आगे लाना, उच्चासन देना, प्रमाद न रखना, इत्यादि और भी शुभनाम कर्मास्रवके कारण हो सकते हैं। शुभ नाम कर्म आगे गिनावेंगे।

शुभ नामकर्मोंमें भी तीर्थंकर नामकर्म सर्वोत्कृष्ट है। अनंतानुपम उसका प्रभाव है। अचिंत्य विभूतिका वह कारण है। त्रैलोक्यके स्वामी बननेका चिन्ह है। उसके कारण जुदे गिनाते हैं—

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः। मार्गप्रभावना चैव संपत्तिर्विनयस्य च ॥४९॥
शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता। ज्ञानोपयुक्ताभीक्ष्णं समाधिश्च तपस्विनः ॥५०॥
वैयावृत्यमनिर्हाणिः षड्विधावश्यकस्य च। भक्तिः प्रवचनाचार्यजिनप्रवचनेषु च ॥५१॥
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः। नाम्नस्तीर्थंकरत्वस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥५२॥

अर्थ—तीर्थंकरत्व नाम शुभ नामकर्मास्रवके सोलह कारण हैं उनमेंसे प्रथमका नाम दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शन की निर्मलता होनेसे कभी किसी जीवके कषाय ऐसे मंद हो जाते हैं कि जो तीर्थंकरत्वके बंधके लिये कारण हो सकें। दर्शन विशुद्धिका साधारण शब्दार्थ यही होता है कि सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि हो। परंतु तात्पर्यार्थ, सम्यग्दर्शनके सम्बन्धसे होने-वाली एक विशिष्ट कषायविशुद्धि ऐसा ही लेना चाहिये। जैसे कि वचन कर्मको योग कहते हैं परंतु वचन द्वारा होनेवाला आत्मकर्म ही योग लिया जाता है। क्योंकि वचन केवल कार्यकारी नहीं हो सकता है। जो आत्मामें बन्धास्रव होगा वह आत्मा की चंचलतासे, न कि किसी केवल पुद्गलके निमित्तसे। बस, इसी प्रकार बंधका, कारण कहीं भी हो कषाय ही होगा न कि सम्यग्दर्शनादि। जो सम्यग्दर्शन आत्माको बन्धसे छुडानेवाला है वही बंधका कारण कैसे हो सकता है? तीर्थंकर कर्म चाहे कितना ही उत्तम हो परंतु है तो बंध न? इसलिये दर्शनविशुद्धिका अर्थ दर्शनसहभावी कोई रागांश ही करना ठीक है। उसका उदाहरण श्रीअकलंकदेव ऐसा लिखते हैं कि जिनोपदिष्ट निर्ग्रंथ मोक्षमार्गमें रुचि होनेका नाम दर्शनविशुद्धि है। शंकादि दोष हट जानेसे वह रुचि विशुद्ध या निर्मल होती है।

१ येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति। येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ॥ इतिपुरुषार्थसि०।

२—दूसरा कारण शक्त्यनुसार तप है। यह तप ऐसा करना चाहिये कि मोक्षमार्गसे विपरीत न हो और न शक्तिसे अधिक या हीन हो। ३—तीसरा कारण शक्त्यनुसार त्याग है। त्यागका अर्थ दान है। चौथा कारण मार्ग प्रभावना है। ज्ञानके माहात्म्यसे, तपश्चरणके द्वारा, जिनपूजा करके धर्मको प्रकाशित करना सो मार्गप्रभावना है। सबसे उत्तम प्रभावना आत्मप्रभावना है जो कि रत्नत्रयके तेजसे देदीप्यमान किया जाने पर सर्वोत्कृष्ट फलको फलता है। ५-पांचवां विनयसंपत्ति कारण है विनयसे परिपूर्ण रहना सो विनयसंपत्ति है। वह विनय किसका ? ज्ञानादिगुणोंका तथा ज्ञानादिगुणयुक्तोंका—इनमें आदर उत्पन्न होना सो विनय है। कषायको कृष कर देनेसे भी विनय होता है।

६—छठा, शीलव्रतोंमें अतीचाररहित प्रवर्तना, यह कारण है। अहिंसादि व्रत आगे कहेंगे। शील शब्दके अर्थ तीन होसकते हैं; एक तो सत्स्वभाव, दूसरा स्वदारसंतोष, तीसरा दिग्व्रत आदि सात व्रत अहिंसादिव्रतरक्षार्थ आगे कहे जानेवाले है वे। इन तीनों अर्थोंमेंसे पहिला यहां लेना ठीक है। सत्स्वभावका अर्थ क्रोधादि कषायके वश न होना है। यह सत्स्वभाव भी अहिंसादि व्रतरक्षार्थ होता है। अतिक्रोधी या लोभी, मानी, मायाचारीके अहिंसादिव्रत निर्मल कभी नहीं रहसकते हैं। इसीलिये व्रतरक्षार्थ क्रोधादिकषाय छोडने चाहिये। दिग्व्रतादिक भी व्रतरक्षार्थ ही होते हैं और वे भी कषाय अतिमंद करलेनेपर होसकते हैं। इसीलिये दिग्व्रतोंको भी हम शील कहते हैं। इस प्रकार प्रथम व तीसरा अर्थ शीलशब्दका लेना उचित है परंतु दूसरा अर्थ जो स्वदारसंतोष वह नही लेना चाहिये; क्योंकि, वह अर्थ व्रतोमें आजाता है। शील या स्वदारसंतोष भी गृहस्थोंका एक मुख्य व्रत माना गया है।

७—सातवां कारण संवेगस्वभाव है। संवेग सदा रहना चाहिये। संसार दुःखोंसे उद्विग्न रहनेका नाम संवेग है।

८—आठवां यह कि सदा ज्ञानोपयोगमें रहना। ज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यको विचार कर उसमें प्रवृत्ति करना यह ज्ञानोपयोगका अर्थ है। सिवा, ज्ञानोके साक्षात् व परंपराफल विचारना, कि अज्ञाननिवृत्ति व हिताहितप्राप्तिपरिहार ज्ञानसे ही

१ अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः इति [वार्ति०] २ आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव। ज्ञानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ इति रत्नकर०। ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं प्रभावन। ३ ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसपन्नता। ४ चारित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या कायवाङ्मनसां वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। (इति वार्ति०) ५ संसारदुःखान्नित्यभीरुतासंवेगः (इति वार्तिका०)

होता है यह भी ज्ञानोपयोगका ही अर्थ है। इसलिये ज्ञानको अपना हितकारी समझना चाहिये। सदा ज्ञानोपयोगमें रहने को अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहते हैं।

९—नौवां कारण, तपस्वियोंकी समाधि रखना है। मुनियोंके तप तथा आत्मसिद्धिमें विघ्न आये हुए देख उन्हें दूर करना यह साधुसमाधि है। अर्थात् तपस्वियोंको समाधानमें रखनेका प्रयत्न करना यह साधुसमाधि है।

१०—दसवां कारण वैयावृत्त्य करना है। वैयावृत्त्यका अर्थ सेवा शुश्रूषा करना है। व्यावृत्तिका अर्थ दूरकरना होता है। साधुओंका दुःख खेद दूर करना यह यहां तात्पर्यार्थ है। इसके प्रकार इस भांत कि, तपस्वियोंको दुःखके कारण उपस्थित हुए हों तो उन्हें दूर करना, उनकी सेवा करना, पैर दावना, उनके स्थानको साफ रखना, इत्यादि। समाधि जो नौवां कारण लिखा है उसका मतलब साधुओंका चित्त संतुष्ट रखना है और इस वैयावृत्त्यका मतलब उनकी सेवा करना है। तप तथा मोक्षमार्गके ध्वंसक कारण उपस्थित होने पर समाधि करनेकी आवश्यकता पडती है और वैयावृत्त्य सदा छोटी २ वातोंमें भी सेवा करनेसे सिद्ध होता है। वैयावृत्त्यमें तात्पर्यार्थ इतना ही है कि तपस्वियोंके योग्य साधन इकट्ठा रखना जो कि सदा उपयोगी पडते हैं। इसीलिये उनको जो दान दिया जाता है वह वैयावृत्त्य कहाता है, न कि साधुसमाधि।

११—ग्यारहवां कारण छह आवश्यक कर्मों का कभी न छोडना है छह आवश्यक कर्मोंके नाम (१) सामयिक, (२) स्तुति, (३) वंदना, (४) प्रतिक्रमण, (५) प्रत्याख्यान, (६) कायोत्सर्ग। (१) सामायिकका अर्थ ऐसा है कि सब पापक्रिया छोडकर चित्तको ज्ञानमें स्थिर करै। (२) चौवीस तीर्थकरोंके गुणोंका चिंतवन करना स्तुति है। तीनों योग शुद्ध करके खडे या वैठे होकर चारों दिशाओं में एक एक वार शिर नवाना और तीन तीन वार दोनों मुकुलित हातों से आवर्त करना यह वंदनाका अर्थ है। आवर्त का मतलव मुकुलित हातों का दक्षिणायन चक्कर लगाना है। (४) लगे हुए दोष दूर करने की प्रार्थना तथा पश्चात्ताप करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं। (५) आगामी दोष न लगने देने की प्रतिज्ञा या संकल्प करलेनेको प्रत्याख्यान कहते हैं। (६) कुछ मर्यादित काल तक शरीरसे ममत्व छोडदेनेको कायोत्सर्ग

१ यथा भाण्डारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्। तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपस. कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः। (इति वार्तिका०)

कहते हैं। जो कि पापोंसे अलिप्त रहना चाहते हैं उन्हें ये छः कर्म और तीनों सन्ध्या, अवश्य करने चाहिये इसीलिये इन्हे आवश्यक काम कहते हैं।

१२वां कारण बहुश्रुतभक्ति है बहुश्रुतका अर्थ बहुज्ञानी होता है। स्वपरसमयविस्तारका ज्ञाता बहुश्रुतही होसकता है इसलिये बहुज्ञानीकी तरफ परिणाम निर्मल रखकर अनुराग या प्रेम करना सो बहुश्रुतभक्ति है।

१३वां कारण आचार्यमें अनुराग या भक्ति रखना है। इसे आचार्यभक्ति कहते हैं। आचार्य भी बहुश्रुत तो होते ही हैं परंतु वे परहितनिरत भी होते हैं।

१४—सर्वधर्मोपदेशके आदि विधाता सर्वज्ञ केवली जिन भगवानमें भक्ति रखना यह चौदहवां अर्हद्भक्ति[1] कारण है। अर्हत् भगवान् सभीसे अधिक परहितमें लगनेवाले होते हैं, साक्षात् ज्ञानी होते हैं, पूर्णवीतराग होते हैं। इसीलिये इन्हे सब से अधिक पूर्ण प्रमाण माना जाता है, सर्वहितू गिना जाता है, निष्पक्षपात माना जाता है।

१५—जिनोपदिष्ट प्रवचन—शास्त्रमें प्रीति करना सो प्रवचनभक्तिनामका पंद्रहवां कारण है।

१६—वां कारण प्रवचनवात्सल्य[2] है। साधर्मियोंके साथ प्रीति रखना सो प्रवचनवात्सल्य है। भक्ति वात्सल्यमें अंतर इस वातका है कि भक्ति अपनेसे वडोमें ही कीजाती है और वात्सल्य छोटे वडे सभीके साथ होसकता है। भक्ति आदर-विशिष्ट अनुरागको कहते हैं और वात्सल्य केवल अनुराग होता है।

ये सोलह[3] प्रकारके कार्य तथा परिणाम तीर्थकर प्रकृतिके आस्रवमें कारण होते हैं। इनका 'षोडशकारण' नामसे व्यवहार प्रसिद्ध है। यद्यपि ये कारण बंधास्रवके हैं तो भी निर्जरा—मोक्षके कारण—ज्ञानदर्शन चारित्रकी भांत पूजे और माने जाते हैं क्योंकि, इस तीर्थकर कर्मके उदयको प्राप्त हुआ जीव अनेक संसार प्राणियोंका उद्धार करता हुआ आप अवश्य मुक्त होता है। ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध दूसरे किसी भी कर्ममें नहीं है। आहारक शरीरका उदय छठे गुण स्थानमें होता है इसलिये वह संयमी जीव भी मोक्षगामी अवश्य है परन्तु यह नियम नहीं है कि वह तद्भव ही मोक्षगामी हो। दूसरी वात तीर्थकर कर्मके अतिशयकी यह भी है कि इस कर्मका स्वामी जीव धर्मका प्रधान नेता अथवा धर्मका

१ अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोनुरागो भक्ति। २ वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। ३ तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि (इति वार्तिका०)

उत्पादक होता है। इसीलिये इस वन्धके कारणोंकी पूजा है। ये समस्त कारण एकत्रित हों तब तो तीर्थंकर कर्म बंधता ही है परन्तु एक दो कारण रहने पर भी वन्ध होता है।

गोत्रकर्मके दो भेदोंमेंसे एक—नीचगोत्र है। उसके हेतु—

असद्गुणानामाख्यानं सद्गुणाच्छादनं तथा। स्वप्रशंसान्यनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य हेतवः ५३

अर्थ—गुण न रहते हुए भी अपने उन गुणोंका वर्णन करना, दूसरोंमें जो गुण हों उनको न कहकर उन्हें दबानेकी इच्छा रखना; अपनी प्रशंसा करना, दूसरोंकी निंदा करना ये कार्य नीच गोत्र कर्मके आस्रवमें हेतु होते हैं। इनके सिवा जाति—कुल—बल—तप—रूप—विद्या—आज्ञा—ऐश्वर्यका मद करना, दूसरोंकी अवज्ञा करना, अपनेसे हीन—स्थिति वालोंकी हसी करना, धार्मिकोंमें परस्पर विवाद करना, दूसरोंके यशका लोप होना चाहना, गुरुओंका तिरस्कार करना, गुरुओंके दोष कहना; अपनी जगहमें आनेपर अपमान करना, उन्हें डाटना, हात जोडकर उनकी स्तुति न करना, उन्हें आते देख न उठना, तीर्थंकरोंका अपमान करना इत्यादि क्रियाएँ भी नीचगोत्रास्रव की कारण हैं।

उच्चगोत्र कर्मके आस्रव हेतु—

नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकः पूर्वस्य च विपर्ययः। उच्चैर्गोत्रस्य सर्वज्ञैः प्रोक्ता आस्रवहेतवः॥ ५४॥

अर्थ—गुणोंमें अधिक ऐसे गुरुजनोंके साथ नम्रतासे रहनेको नीचवृत्ति कहते हैं। दर्प या अहंकार न करना सो अनुत्सेक है। ये दो कारण उच्चगोत्रकर्मके आस्रव होनेमें उपयोगी पडते हैं। इसके सिवा जितने कुछ नीचगोत्रके आस्रव कारण ऊपर लिखे हैं उनसे उलटे परिणाम उच्चगोत्रकर्मके आस्रवमें कारण होते हैं। जैसे कि गुरुविनय, अभ्युत्थान अष्ट मदका अभाव, इत्यादि।

अन्तरायकर्मके आस्रव हेतु—

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम्। अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम्॥ ५५॥
वधबन्धनिरोधश्च[1] नासिकाच्छेदकर्तनम्। प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा॥ ५६॥

[1] अत्र वधशब्दं मस्तपचासत्तमश्लोकवर्ती वधशब्दश्च एकार्थपर एव वारद्वयमागतः।

निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम्। दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा ॥ ५७ ॥
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा। इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ५८ ॥

अर्थ—तपस्वी—गुरु—प्रतिमाओंकी पूजाका विध्वंस करदेना, अनाथ—दीन—कृपणोंको भिक्षा देना बंद करदेना किसीको बांध डालना, किसीको रोक रखना, किसीके नाक कान आदि काटलेना तथा छेददेना, नैवेद्य देवको समर्पण करदेने पर फिर वह लोभवश होकर उठालेना, निर्दोष—निष्पाप भोगोपभोगके उपकरण—साधन छोडदेना, प्राणियोंका वध करना, दान—भोग—उपभोग— लाभ—वीर्य प्राप्ति इन वातोंमें विघ्न डालना, ज्ञानाभ्यासका निषेध करना, धर्ममें विघ्न डालना, ये सब कार्य अन्तराय कर्मबन्धके आस्रवकारण हैं।

इसके सिवा, किसीके[2] सत्कारमें बाधा डालना, किसीका बढता हुआ विभव देखकर आश्चर्य करना, स्त्रियोंका झूंठा अपवाद करना, देवताको समर्पण किया या न किया हुआ द्रव्य आप लेलेना, दूसरेका बल क्षीण करना, किसीके वृतचारित्रको बिगाडना, ये भी अन्तराय कर्मके आस्रव कारण हैं। अन्तरायके पांच भेद कहेंगे। वे भेद दानादि विषय पांच होनेसे होते हैं। इसीलिये यद्यपि यहां दानांतरायादि पांचोंके जुदे कारण नहीं लिखे हैं परन्तु विचारनेसे ऊपर लिखे हुए कारणोंमें ही वे सर्व विभाग होसकते हैं। जहां दानके सम्बन्धसे किसी क्रियाका निषेध हो जिससे कि दान देनेका काम बन्द पडजाय वह क्रिया दानांतरायका कारण होगी। इसी प्रकार सर्वविभाग होसकते हैं।

आस्रवका सामान्य वर्णन तो हुआ परन्तु मोक्षोपयोगी पुण्यास्रवका अब विस्तारसे वर्णन करते; हैं क्योंकि, प्रथम अवस्थामें पुण्यास्रव ही ग्राहय है। यही बात प्रकारांतरसे दिखा कर आगे पुण्यास्रवका प्रकरण शुरू करेंगे।

वृतात्किलास्रवेत्पुण्यं पापं तु पुनरव्रतात्। संक्षिप्यास्रवमित्येवं चिन्त्यतेऽतो व्रतान्वयम् ॥ ५९ ॥

१ देवताको अर्पण करदी गई खानेकी चीजको प्रमादवश होकर ग्रहण करनेवाला अन्तराय कर्मको बाधता है ऐसा इस ग्रन्थमें लिखा। परन्तु राजवार्तिकमें अर्पित अनार्पित दोनोको ही लेनेवाला अन्तराय कर्मका भागी लिखा है। और वह भी नैवेद्य ही नहीं किंतु कोई भी चीज हो। अर्पणका अर्थ पूजा है। अर्पण न की हुइ देव द्रव्य वह समझनी चाहिये कि जो देवदेवालयके उपयोगकेलिये जमीन या धनसंपत्ति इकठी की जाती है
२ ये जो अन्तराय के कारण लिखते हैं वे मूल ग्रन्थमे नहीं हैं किन्तु राजवार्तिकके आधारसे लिखे हैं। पहिले भी जो जो अधिक आस्रवकारण लिखे हैं वे सब राजवार्तिकके अनुसार ही लिखे हैं।

अर्थ—व्रतसे पुण्यकर्म जो कि सुखका कारण है वह आता है। अव्रतसे पाप आता है। इसलिये सामान्य आस्रवका प्रकरण संक्षेपसे ही दिखादिया और पुण्यास्रवका ज्ञान होनेकेलिये व्रत तथा अव्रतका स्वरूप विस्तारसे दिखाते हैं—

व्रत किन्हें कहते है ?

हिंसाया अनृताच्च स्तेयादब्रह्मतस्तथा। परिग्रहाच्च विरतिं कथयन्ति व्रतं जिनाः॥ ६० ॥

अर्थ—हिंसासे विरक्त होना, झूंठ बोलनेसे विरक्त होना, चोरी करनेसे विरक्त होना, मैथुनसेवनसे विरक्त होना, परिग्रह जंजालसे विरक्त होना—इसीको जिन भगवान् व्रत कहते हैं। हिंसादिक पापोंका लक्षण आगे लिखेंगे। चारित्र मोह कर्मका उदय जीवकी प्रवृत्ति उक्त पापोंमें कराता है इसलिये उस कर्मका उदय मन्द हो तो व्रत प्राप्त हो सकते हैं। मोह कर्मोदयका मन्द होना यहां अन्तरंग कारण है परन्तु बाहिरमें मर्यादा भी उक्त पापोंकी संकल्पपूर्वक करनी पडती है तभी व्रत हो सकता है। पापाचरणसे विरक्त होना यह व्रतका लक्षण है। पापाचरणके हिंसादि पांच भेद हैं।

इस व्रतके भेद—

कात्स्न्र्येन विरतिः पुंसां हिंसादिभ्यो महाव्रतम्। एकदेशेन विरतिर्विजानीयादणुव्रतम्॥ ६१॥

अर्थ—हिंसादि पापोंका सर्वथा त्याग हो जाना सो महाव्रत है। एकदेशत्यागको अणुव्रत कहते हैं।

व्रतरक्षाका उपाय।

व्रतानां स्थैर्यसिद्ध्यर्थं पंच पंच प्रति व्रतम्। भावनाः संप्रतीयंते मुनीनां भावितात्मनाम् ॥६२॥

अर्थ—व्रतके विषय देखें तो पांच हैं इसलिये व्रतके भेद भी पांच कर सकते हैं—अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, ब्रह्मव्रत, परिग्रहत्यागव्रत। इनमेंसे प्रत्येक व्रतकी रक्षा हो, दृढता हो इसलिये पांच पांच भावना प्रत्येक व्रतके विषयमें बताते हैं। ये भावनाएं मुनिजनोंके ही हातसे हो सकती हैं, क्योंकि वे पूर्ण व्रत धारण करते हैं पूर्णव्रतोंकी संभाल तभी हो सकती है जब

१ यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्। अभिसंधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति॥ इति रत्नक०। व्रतमभिसंधिकृतो नियम। बुद्धिपूर्वकपरिणामोऽभिसंधि। इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्तिर्नियमः। [स एव] व्रतव्यपदेशभाग् भवति। इति वार्तिका०।

जो अनिष्ट है वह छूट ही सकता है जो अनुपसेव्य हो वह भी छोडदेना चाहिये। ये दोनों तो सर्वथा त्याज्य है। और जो योग्य तथा संभव विषय हो उनका त्याग परलोक हितकेलिये करना चाहिये। असली वही त्याग है।

कि वारीक–सारीक दोषोंकी तर्फ भी ध्यान दिया जाय। दूसरे, मुनिजनोंका ही आत्मा विषयोंसे पूर्ण शांत हो चुकता है इसलिये वे ही ऐसे वारीक–सारीक दोष टाल सकते हैं। इसलिये गृहस्थोंके हाथसे हों उतनी ठीक हैं, परंतु प्रत्येक व्रतकी पांचो पांचो ही भावनायें मुनियोंको टालनी ही चाहिये। गृहस्थकेलिये यह उपदेश मुख्य नहीं हैं। जो गृहस्थ टालै तो ऊपरका श्रावक हो वह टाल सकता है।

इन्हें भावना इसलिये कहते हैं कि इनका चिंतवन ही अधिक करना पडता है। हिंसादि पापोंकी भांत इन भावनाओंके विषय प्रगट नहीं रहते। यद्यपि इनकी क्रिया किये विना भावना पूर्ण नहीं समझी जाती तो भी बाह्य क्रियाओंकी यहां मुख्यता नहीं है। ये मनके विचारपर अवलंवन रखते हैं इसीलिये इन्हें भावना कहते हैं। केवल विचार ही हो तो चारित्र या व्रतमें इन्हें क्यों गर्भित करें यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो अंतरंगके व्रत या चारित्र होते हैं वे ज्ञानसे जुदे नहीं दीख सकते। ज्ञानके अनुसार दृढता होना ही उनका चारित्रांशतया व्रतांश कहा जासकता है।

अहिंसाव्रतकी भावना—

वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरेव च। ग्रहनिक्षेपसमितिः पानान्नमवलोकितम् ॥ ६३ ॥
इत्येताः परिकीर्त्यन्ते प्रथमे पंच भावनाः।

अर्थ—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, ग्रहणनिक्षेपणासमिति, देखकर अन्नजल ग्रहण करना ये पांच भावनाएँ प्रथम अहिंसाव्रतकी है। वचन न बोलना=वचनगुप्ति। मन न चलाना=मनोगुप्ति। गमन करते समय जंतुघातसे वचनेकेलिये सावधानी रखना, भूमि देखते जाना सो ईर्यासमिति है। किसी चीजके धरने उठानेमें जतुघात न होनेकी सावधानी रखना सो ग्रहणनिक्षेपणा समिति है। अवलोकित अन्नपानका यह अर्थ तो है ही कि देखकर भोजन करना; क्योंकि देखे विना सूक्ष्म जीवोंके घात होनेकी आशंका बनी रहती है। परंतु रात्रिमें जंतु दीख ही नहीं सकते इसलिये रात्रिका भोजन सर्वथा वर्ज्य करना चाहिये यह अर्थ भी लिया जाता है।

१ अर्कालोकेन विना भुंजानः परिहरेत्कथं हिंसां। अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतून् ॥ इति पुरुषा०। ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यं, न भावनास्वन्तर्भावात्। अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यंते ॥ तत्रालोकितपानभोजनभावना कार्येति। इति सर्वार्थसिद्धिः ॥ यहापर सर्वार्थसिद्धिमें रात्रिभोजनको छट्ठा अणुव्रत कहकर ग्रहण करानेकी शंका लिखी

वचनगुप्ति व मनोगुप्तिसे अहिंसाव्रतकी शुद्धि किसप्रकार होती है? इसका उत्तर–बोलनेसे भी कभी कभी प्राणघात तथा क्लेश होता है। इसीप्रकार मनकी चंचलता विषयासक्ति वढाती है और दूसरोंके अहितका चिंतवन भी मनकी चंचलतामें हो सकता है। इसलिये दोनोंके रोकनेसे अहिंसाव्रतका पोषण अवश्य होगा।

अब यह शंका होना संभव है कि कायगुप्ति क्यों नहीं लिखी? इसका उत्तर–यह आस्रवका प्रकरण है इसलिये यहां वचनगुप्ति तथा मनोगुप्तिका मतलब भी ऐसा नहीं लेना चाहिये कि जैसा वास्तव गुप्तियोंमें समझा जाता है। तब? अशुभ वचनका निरोध, अशुभ विचारका निरोध यही अर्थ लेना चाहिये। नहीं तो संवरमें उपयोगी जो गुप्ति वे आस्रवोपयोगिनी कैसे मानी जांयगी? इसीप्रकार कायगुप्ति भी लेनी हो तो अशुभनिवृत्तिमात्र लीजाती है। तो यहां कायगुप्तिका संग्रह क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि ईर्यासमिति तथा ग्रहणनिक्षेपणसमितिका ही अर्थ अशुभ कायगुप्ति हो सकता है। क्योंकि, अशुभ कायप्रवृत्तिका निरोध उक्त दोनो समितियोंमें ठीक हो जाता है। इसलिये दोनो समितियोंका कहना क्या और अशुभकायगुप्तिका कहना क्या? एक ही अर्थ है।

सत्यव्रतकी भावना–

क्रोधलोभपरित्यागौ हास्यभीरुत्ववर्जने ॥ ६४ ॥
अनुवीचिवचश्चेति द्वितीये पंच भावनाः।

अर्थ–क्रोधको छोडना, लोभको छोडना, थट्टा करना छोडदेना, भय कभी किसीका न करना, कुछ बोलना तो धर्ममर्यादाके अनुकूल बोलना अथवा विचारकर बोलना ये पांच भावना सत्यव्रतकी हैं। इन पांचो बातोंके न छोडनेसे सत्यव्रतमें मलिनता आसकती है क्रोधादि पांचोंमेंसे प्रत्येक कारण ऐसा है कि उसके वश असत्य बोलना हो सकता है। पहिले चार कारण तो स्पष्ट ही हैं। अनुवीचिभाषण भी न रक्खा जाय तो बहुप्रलापमें असत्य वचन निकलना संभव है।

है और उसके उत्तरमें लिखा है कि अलग ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि उसे अहिंसाव्रतकी पांच भावनाओंमेंसे आलोकितपानभोजन नामक पांचवी भावनामें समाविष्ट करलेते हैं। इससे यह दीखता है कि किसी पक्षवालोंने इसे छठा अणुव्रत माना होगा। दर्शनसारमें भी 'छठं च अणुव्वद णाम' ऐसा उल्लेख है।

अचौर्यव्रतकी भावना—

शून्यागारेषु वसनं विमोचितगृहेषु च ॥ ६५ ॥
उपरोधाविधानं च भैक्ष्यशुद्धिर्यथोदिता । ससधर्माविसंवादस्तृतीये पञ्च भावनाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—पर्वतोंकी गुफा, वृक्षोंके कोटर स्थान आदि शून्यागार कहाते हैं। दूसरोंकी जगह हो और उन्होंने रहनेसे छोड़ दी हो उसे विमोचितावास कहते हैं। तपस्वियोंको रहना हो तो शून्यागारोंमें तथा विमोचितावासोंमें रहें। जो किसीकी मालकीकी जगहमें वे रहें तो अचौर्यव्रत मलिन होता है। जहां आप रहें वहां भी यदि कोई दूसरा आवे तो मना न करें। नहीं तो उस भूमि पर स्वामित्वकी भावना उत्पन्न होती है जो कि अचौर्यव्रतको मलिन करनेवाली है। भिक्षा लेनेमें जो शुद्धि रखनी चाहिये वह न रक्खी जाय तो दूषित भिक्षा ग्रहण करनेवाला अचौर्यव्रतमें मलिनता उत्पन्न करेगा। क्योंकि जो दूषित भिक्षा ग्राह्य नहीं थी उसको ले लिया यह भी चोरीका दोष है। समानधर्मके धारक जैन साधु परस्परमें विसंवाद न करें नहीं तो अचौर्यव्रत मलिन होता है। क्योंकि विसंवादसे यह मेरा तेरा ऐसा पक्ष ग्रहण होता है जिससे कि अग्राह्य का ग्रहण करना संभव हो जाता है। यही तो चोरी का प्रकार है। इसलिये शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि सधर्माविसंवाद ये पांच भावना अचौर्यव्रतके रक्षार्थ रखनी ही चाहिये।

ब्रह्मचर्यकी भावना—

स्त्रीणां रागकथाऽऽवोऽरमणीयाङ्गवीक्षणम्। पूर्वरत्यऽस्मृतिश्चैव वृष्येष्टरसवर्जनम् ॥६७॥
शरीरसंस्क्रियात्यागश्चतुर्थे पञ्च भावनाः ।

अर्थ—स्त्रियों की राग भरी कथा न सुनना, उनके रमणीय अंगोंको न देखना, पूर्वके भोगो का स्मरण नहीं करना पुष्ट तथा इष्ट रसों का भोजन नहीं करना, शरीर संस्कार न करना ये पांच ब्रह्मचर्यकी भावना हैं।

यद्यपि स्त्रियोंके देखने सुननेसे या पुष्ट भोजन करनेसे केवल ब्रह्मचर्य मलिन नहीं हो सकता परंतु यहां मना किया है वह इस अभिप्रायसे कि प्रेमपूर्वक देखनेसे ब्रह्मचर्य अवश्य मलिन होगा। जब मनमें विकार हो तो पुष्ट रस भी सहायक हो जाता है।

१ पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए। वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एव ॥ १३६ जीवकाड इति गोम० ॥

इसप्रकार ये पाप साक्षात् भी दुःखदाई हैं और परलोकमें जो दुःख मिलेगा उसके कारण हैं। यदि जीव ऐसे पाप न करै तो क्यों दुर्गतिके दुःख भोगै ! दुर्गतिका दुःख असातावेदनीयके उदयसे होता है। उस असातावेदनीय कर्मके बंधके कारण पांचो पाप हैं। इसीलिये पापोंको भी दुःख कह सकते हैं। अथवा दुःखके कारणोंके कारण इन्हें कहना चाहिये। जैसे अन्नको प्राण कहना उपचार है उसीप्रकार पापोंको दुःख कहना उपचार है और दुःखकारण कहना भी उपचार है। क्योंकि, असली दुःखकारण असातवेदनीय कर्म हैं और पाप उस कर्मके भी कारण हैं। जब मनुष्य दूसरोंको हिंसादि दुःख देना चाहे तब अपने ऊपरसे विचार करै कि मुझे जब इन पापोंसे दुःख होता है तो दूसरोंको भी दुःख क्यों न होता होगा ? ऐसा विचार करनेसे तत्त्वपरायण मनुष्य पापोंसे विरक्त हो सकते हैं। दुःखकी जड होनेसे ये ही दुःख हैं ऐसा भी पापोंको मानना उचित है।

जीवोंमें व्रतीकी क्या भावना होती है ?

सत्त्वेषु भावयेन्मैत्रीं मुदितां गुणशालिषु। क्लिश्यमानेषु करुणामुपेक्षां वापदृष्टिषु ॥ ७२ ॥

अर्थ—प्राणीमात्रमें मैत्री मानना चाहिये। गुणी मनुष्योंमें प्रमोद या हर्ष रखना चाहिये। दुःखी रोगी जो मनुष्य हों उनमें करुणा रखनी चाहिये। जो विरुद्ध तथा क्रूर हों उनका भी बुरा न विचारना चाहिये और उपेक्षा रखना चाहिये। अर्थात् उनसे आप दूर रहै। मैत्रीका[1] अर्थ यह है कि दूसरोंको दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना चाहिये। मुखकी प्रसन्नतासे तथा और भी प्रकारसे जो भीतरका प्रेम-भक्ति प्रगटकर दिखाना सो प्रमोद[2] है प्रीति भी नहीं करना द्वेष भी नहीं करना इसका नाम उपेक्षा[3] है।

व्रतरक्षार्थ और भी भावना हैं उन्हें बताते हैं—

संवेगसिद्धये लोकस्वभावं सुष्ठु भावयेत्। वैराग्यार्थं शरीरस्य स्वभावं चापि चिंतयेत् ॥७३॥

अर्थ—जग तथा शरीरका स्वभाव विचारनेसे संवेग व वैराग्यकी सिद्धि होती है। संसारसे भय होनेको संवेग

१ परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री। २ वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। ३ रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं (उपेक्षा)। इति वार्ति०।

कहते हैं। रागके वर्द्धक कारण दूर हो जानेसे जो विषयोंसे उदासी होजाती है उसे वैराग्य[2] कहते हैं।

जग अनादिका है। मूलतत्त्व इसके सभी शाश्वते हैं परंतु परस्पर संयोगवश जीवपुद्गलोंमें नाना विकार उत्पन्न होते हैं। इसीका नाम संसार है। ससारी अशुद्ध जीव पुद्गलके मेलसे जिन दुःखमई पर्यायोंको धारण करते हैं उनमें जन्मते मरतें हैं वे पर्याय चार हैं; देव-नरक-तिर्यच-मनुष्य। इन्ही चारोको गति कहते हैं इनमें सतत जीवोंको क्लेश भोगने पडते हैं। यह जगका स्वभाव हुआ।

इन गतियोंमें जो जीवोंको पराधीन कर रखनेवाले शरीर होते हैं वे अपवित्र, नश्वर, जड, रोगोंसे भरे होते हैं और जीवके शांत तथा ज्ञानानंद स्वभावके नाशक होते हैं। इन शरीरोंके टिकनेकी क्षणभरभी आशा नहीं रहती। जलबुद्बुदके समान देखते देखते विघट जाते हैं। शरीर विघटते ही जीवकी जो विषयभोगोंमें शाश्वतके समान आशा थी वह नष्ट हो जाती है। जीव जिन सुखसामिग्रियोंको शाश्वतिक समझकर वडे प्रेमसे इकठ्ठा करता था उन्हें अचानक छोड कर परलोकमें जाना पडता है। शरीर नष्ट होते ही जीवकी सुधबुध विगड जाती है। और शरीरके विना जब अकेला वह रहजाता है तव कर्मकी अशांति या प्रेरणासे दूसरे शरीरको धारण करनेमें लगता है यही अनादिकी दशा है। उस दूसरे शरीरकी भी प्रथम शरीरकी भांत अवस्था होती है। इसीप्रकार यह जीव जबतक कर्मवद्ध है तवतक दुःख भोगता है। जीव यदि इस असली अपनी दुःखदाई हालतपर उक्त विचार करे तो संसार-शरीरसे उद्विग्न होकर विरक्त होजाय रागद्वेषके रहने से जो परतंत्रताजनक कर्मबंध होता है, वह वीतराग वननेपर न हो और पूर्ववद्ध कर्मोंका क्रमसे नाश होजाय जिससे कि जीव सुखी हो॥ अव पांचो पापोंके लक्षण दिखाते हैं—

१—हिंसाका लक्षण—

द्रव्यभावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणं। प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा संप्रकीर्तिता॥१४॥

अर्थ—इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति चाहे पापमें हो और चाहें पुण्यमें परन्तु उस वातका विचार न करना इसीका नाम प्रमाद[3] है। प्रमादका अर्थ आलस भी होता है परन्तु वह अर्थ यहां इष्ट नहीं है। अथवा दोनो अर्थोंमें कोई अन्तर नहीं है परन्तु लोग जितने आलसको आलस कहते हैं वह आलस यहां पर्याप्त नहीं है इस मतलवको समझानेकेलिये हम प्रमादका अर्थ आलस

१ संसाराद्भीरुता संवेगः। २ रागकारणाभावाद्विषयेभ्यो विरंजनं विरागः। ३ अनवगृहीतप्रचारविशेष प्रमत्तः। इंद्रियाणां प्रचार-

नहीं लेते सावधानी न रखना यह अर्थ यहां इष्ट है। मद्यादिक पदार्थ मूर्छित करनेवाले होते हैं । उस मूर्छाको भी लोग प्रमाद कहते हैं उसी प्रकार जो कर्म पुद्गलके द्वारा हिताहितकी सावधानी नहीं रहती वह मूर्छा या प्रमाद कहा जाता है।

उस प्रमादका स्वरूप ठीक पहचाननेमें आवे इसलिये उसके भेदकर दिखाते हैं । राजकथा, चोरकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा इन कथाओंमें फसनेवाला जीव आत्मसावधानीसे पराङ्मुख होजाता है इसलिये ये चारो कथाएं प्रमाद हैं । इन्हें विकथा भी इसीलिये कहते हैं। पांच इंद्रियोंकी प्रवृत्ति भी विषयोंमें भुलानेवाली है इसलिये पांचों भी प्रमाद ही कहने चाहिये। क्रोधादि चारो कषाय तो विषयोंमें फसानेके मूल कारण हैं। इसलिये इन चारोंको भी प्रमाद कहते हैं। इस प्रकार चार विकथा प्रमाद पांच इंद्रिय प्रमाद चार कषाय प्रमाद—ये मिलकर तेरह प्रमाद हुए । एक प्रणय दूसरा एक निद्रा ये दोनो भी प्रमाद कहाते हैं। ये सर्व मिलकर प्रमाद पंद्रह होगये । जितनी कुछ विषय प्रवृत्तिमें असावधानी देखनेमें आती है वह पंद्रह भेदोंके भीतर गर्भित हो सकती है।

इस प्रमादपूर्वक जो अपने या दूसरोंके प्राणोंका घात करना है वही हिंसा कर्म है। इंद्रिय–श्वासोच्छ्वासादिको द्रव्य प्राण कहते हैं। ये प्राण जीव व शरीरके प्रदेशोंसे बने हुए होते हैं इसलिये द्रव्यरूप कहाते हैं और ये जीवको शरीरमें रखनेकेलिये सहायक हैं इसलिये प्राण कहाते हैं। चैतन्य सुखादिक जो जीवकी स्वाभाविक अवस्था है उसे भाव प्राण कहते हैं। उसे भाव इसलिये कहते हैं कि वह गुण पर्याय है और प्राण इसलिये है कि वही असली जीवन है।

द्रव्य प्राणोंका घात होनेपर चैतन्यसुखादि भावप्राणोंका घात होता ही है और द्रव्यप्राणोंका घात न होनेपर भी भावप्राणोंका घात होता है। परंतु हिंसाको जो पाप कहा है वह इसीलिये कि अंतमें उसके द्वारा चैतन्यसुखादि भावप्राणोंका घात होता है जो कि किसी भी जीवको इष्ट नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि भावप्राणोंकी ही रक्षा कैसे हो यह समझनेकेलिये हिंसादि पापोंके लक्षण लिखे जाते हैं। जब कि भावप्राणोंके घातका ही नाम हिंसा है तो चोरी आदि करनेसे भी भावप्राणोंका घात होता है इसलिये चोरी आदि पापोंको जुदा नहीं गिनाना चाहिये, किंतु हिंसामें गर्भित करना चाहिये। और ऐसा करने पर पाप पाच नहीं रह सकते किंतु एक ही हिंसा पाप मानना पड़ेगा।

इस शंकाका उत्तर—केवल हिंसा ही वास्तविक पाप है चोरी आदि हिंसासे जुदी चीजें नहीं हैं। तो भी जो जुदा गिनाते

विशेषमनवधार्य प्रवर्त्तते य स प्रमत्त । १ पंचदशप्रमादपरिणतो वा प्रमत्त ।

हैं वह इसलिये कि कितने प्रकार हिंसाके हैं यह बात समझमें आ जाय। यदि चोरीको भी पापोंमें न गिनाते तो शायद कोई यह समझ लेता कि किसीका वध हो तो हिंसा होगी नहीं तो नहीं। चोरीसे किसीका वध नहीं होता इसलिये चोरी हिंसा नहीं है। और हिंसाके सिवा कोई पाप नहीं हैं इसलिये चोरी पाप नहीं है। यह समझ दूर करनेके लिये और साधारणजन भी पापोंको समझलें इसलिये चोरी आदि जुदे २ पाप गिनाये हैं।

प्रमादके विना केवल प्राणघात हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती यह समझानेके लिये प्रमादको कारण कहा है। जैसे एक वैद्य किसी रोगीके फोडेको सदिच्छासे चीड़ता है परंतु उसका विपरीत प्रयोग हो जाय तो रोगीका मरना संभव है। तो भी वैद्य हिंसाका कर्ता नहीं हो सकता। यदि उसमें कुछ प्रमाद हुआ तो प्रमादकी मात्रानुसार वैद्य भी हिंसा पाप का भागी कहना ही पड़ेगा। इस प्रकार प्रमादकी ही यहां मुख्यता है।

असत्य वचनलक्षण—

प्रमत्तयोगतो यत्स्यादसदर्थाभिभाषणम्। समस्तमपि विज्ञेयमनृतं तत्समासतः ॥७५॥

अर्थ—सभी पापोंका कारण प्रमाद है। इसलिये असत्य वचनमें भी उसको कारण दिखाते हैं। प्रमादवश जो मिथ्या बोलना उसे असत्य वचन कहते हैं। असत्य शब्दमें सत् शब्द है उसके दो अर्थ होते हैं एक हित साधक दूसरा विद्यमान या मौजूद। विद्यमान अर्थ लेकर चलैं तो जो जैसा मौजूद है वैसा ही उसे कहना सो सत्यवचन कहावेगा। पहला अर्थ लेकर विचार करैं तो हितसाधक वचन सत्य वचन कहना पड़ेगा। फिर चाहें वह जैसा बोला गया है वैसा उसका वाच्यार्थ हो या न हो।

धर्म शास्त्रोंमें जहां सत्यवचनका विचार आता है वहां हितसाधनकी ही मुख्यता देखी जाती है। जो वचन स्वपर-हितसाधक हो वही सत्य वचन माना जाता है। यह बात दूसरी है कि कभी २ वह वचन हितसाधक भी हो और उसका वाच्य अर्थ भी वहा वैसा ही मौजूद हो। परन्तु इस बातका नियम नहीं है और यह बात देखनेकी आवश्यकता भी नहीं है।

इससे उलटा जो वचन अहितसाधक हो उसे असत्य वचन कहते हैं। अहितसाधकको ही यहां असदर्थवचन या मिथ्या

---

१ आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्। अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ इतिपुरुषार्थ०। २ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ इति वार्तिके उक्तम्। छाया—म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयत्नाचारस्य निश्चिता हिंसा। प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ॥ इसका अधिक खुलासा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें है। ३ सच्छब्दोऽत्र प्रशंसावाची असदप्रशस्तमित्यर्थः इति सर्वार्थसिद्धिः।

वचन कहते हैं। इसके सिवा प्रमाद भी देखना चाहिए। जो वचन प्रमादवश बोला गया हो वही असत्य या अहितसाधक होगा। प्रमाद अहितकी जड़ है क्योंकि एकाध बार सुननेवालेकी चाहें असत्य वचनद्वारा कोई हानि न हो परंतु प्रमादद्वारा बोलनेवालेका तो सुखचैतन्यरूप भावप्राण नष्ट हो ही जाता है। इसलिये प्रमाद रखकर बोला गया अहितसाधक वचन असत्यवचन है और वह पाप है। हिंसाके समान ही इसका सर्व सिद्धान्त है।

चोरीका लक्षण—

प्रमत्तयोगतो यत्स्याददत्तार्थपरिग्रहः। प्रत्येयं तत्खलु स्तेयं सर्वं संक्षेपयोगतः ॥७६॥

अर्थ—प्रमाद योगपूर्वक जो विना दिये हुएका ग्रहण करना वह चोरी समझनी चाहिए। यह संक्षेपार्थ हुआ। इसका विस्तार हिंसा-झूठकी भांत समझना चाहिये। जहां देनेलेनेका व्यवहार संभव हो वहीं पर दत्त अदत्तका विचार हो सकता है। रास्ते परसे चलना—इसके लिये किसीकी आज्ञा लेनी नहीं पड़ती इसलिये उस रास्तेका साधु भी उपभोग करते हैं। परन्तु चोरीका दोष नहीं लगता। हां जिस रास्ते परसे सर्वसाधारणको जानेकी आज्ञा न हो उसपरसे चलने वाला चोरीका भागी अवश्य होगा। प्राचीन पद्धति ऐसी थी कि जल व माटीकी छूट रहती थी। इसलिये जलमाटी लेने-वाला चोरीका दोषी नहीं गिना जाता था। परन्तु जिस जल व माटीकी छूट न हो उसके ले लेनेसे अवश्य चोरीका दोष आवेगा। कर्म नोकर्मोका संग्रह जीव ही करता है और वह किसीका दिया हुआ नहीं होता परंतु वहां भी चोरीका दोष नहीं है, क्योंकि जल माटीकी भांत उसका निषेध भी नहीं है। जल माटीका एकाधवार निषेध भी हो सकता है परंतु कर्मनोकर्म लेनेदेनेके विषय ही नहीं है। इसलिये वह चोरीका विषय नहीं है। तात्पर्य इतना ही लेना चाहिये कि दूसरे की चीज, जिसका कि वह उपभोग कर रहा हो या करनेवाला हो और वह दूसरेको देना भी न चाहता हो, तथा उसे ले लेनेसे स्वामीकी हानि भी होना संभव हो वह चीज कभी न छूनी चाहिये। यह सरल व्याख्यान है।

---

१ स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥ यस्मात्सकषायः सन् हंत्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं। पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ इति पुरुषा०॥ २ 'जलमृतिका विनु और कछु नहिं गहै अदत्ता' यह दौलतरामजीने छहढालामें कहा है। ३ यद्येवं कर्मनोकर्मग्रहणमपि स्तेय प्राप्नोति अन्येनादत्तत्वात्। एवं भिक्षोर्ग्रामनगरादिषु भ्रमणकाले रथ्याद्वारादिप्रवेशाददत्तादानं प्राप्नोति ? नैष दोष, सामान्येन मुक्तत्वात्। तथाहि, अयं भिक्षुः पिहितद्वारादिषु न प्रविशति अमुक्तत्वात्। अथवा प्रमत्तयोगादिति वर्तते। न च रथ्यादिप्रविशत प्रमत्तयोगोस्ति। तेनैतदुक्तं भवति—यत्र संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयम्। इति सर्वार्थ०।

अब्रह्म लक्षण—

मैथुनं मदनोद्रेकादब्रह्म परिकीर्तितम् ।

अर्थ—काम वासना वढनेपर जो मैथुन करने लगना वह अब्रह्म पाप कहाता है । यहां भी प्रमादका सम्बन्ध समझना चाहिये परन्तु कहा इसलिये नहीं है कि मदनोद्रेक उस प्रमादके वदलेमें दिखा चुके हैं । मदनका उद्रेक भी एक प्रमाद ही है और वह सबसे वढकर प्रमाद है ।

ब्रह्म नाम आत्माका है । और आत्माका स्वरूप जिस क्रियाके करनेमें भूलजाना संभव हो उसी क्रियाको अब्रह्म कहना चाहिये । परंतु मैथुन सेवनमें प्रवर्तनेवाला जीव जैसा कुछ आतुर होता है और आपेको भूलता है वैसा दूसरे कामोंमें नहीं भूलता । इसीलिये काम सेवनमें अब्रह्म शब्द रूढ हो रहा है । कामकी दशा विचित्र होजाती है । काम अधिक व्यापे तो मरण तक होजाता है । कामी पुरुष नीचऊंचका विचार नहीं करता । इसीलिये कामसेवनसे असली ब्रह्म नष्ट होता है और इसीलिये इस पापको अब्रह्म कहते हैं अठारह हजार जहां शीलके भेद किये गये हैं वहां किसी भी विषय वासनाका सम्बन्ध नहीं रहता तभी पूर्ण ब्रह्मचर्य होता है ।

ममेदमिति संकल्परूपा मूर्छा परिग्रहः ॥ ७७ ॥

अर्थ—किसी भी पदार्थमें यह संकल्प होना कि यह मेरा है, इसीको परिग्रह कहते हैं । यह एक प्रकारकी मूर्छा है शब्दशास्त्रमें मूर्छाका अर्थ मोह तथा समुच्छ्राय ऐसा लिखा है । इस अर्थमें तथा ममत्व अर्थ करनेमें अंतर नहीं पडता । क्योंकि ममत्व भी एक

१ नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा, ये नित्यमबलेति वदन्ति कामिनीनाम् । याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः, शक्रादयोपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ? । २ जटा नेयं वेणी कृतकचकलापो न गरलं गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न धवलिमा । इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा, पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर मां किं प्रहरसि ! ३ अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च । उन्मादोथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशा ॥ [साहित्य दर्पण, तृतीय परि०] । ४ अहिंसादयो धर्मा यस्मिन्परिपाल्यमाने वृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद्ब्रह्म । न ब्रह्म—अब्रह्म । किं तत् ? मैथुनम् । तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति । यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्थास्नूंश्चरिष्णूंश्च प्राणिनो हिनस्ति, मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते, परिग्रह गृह्णाति । इति सर्वार्थसिद्धिः रक्ष्यमाणे हि वृंहन्ति यत्र हिंसादयो गुणा । उदाहरन्ति तद्ब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदाः ॥ यशस्ति० आ० ७ कल्प ३१ । १ मूर्छा मोहसमुच्छ्राययो इति जैनेंद्रे ।

असावधानी है। आत्मा पर वस्तुओंमें ममत्व करनेसे आपेको विसर जाता है। इसीलिए आत्मज्ञानकी यह मूर्छादशा ही समझनी चाहिए। दूसरे मोह यह सामान्य अर्थ लेनेसे ममत्वरूप विशेष मोहका भी अर्थ लिया जा सकता है। हां, लोग मूर्छा शब्दका अर्थ मूर्छित होकर पडना ऐसा करते हैं वह यहां नहीं है। परन्तु यह कोई दोष नहीं है। अध्यात्मदृष्टि रखनेवाले लोक प्रचलित अर्थके अनुसार ही बोलनेके लिये बाधित नहीं हैं। वे इसको भी मूर्छा समझते हैं कि लोग बाह्याभ्यंतर उपाधियोंके भीतर फसकर गुंग बने रहते हैं। इसलिये उपाधियोंके उपार्जन व रक्षण करनेमें लगनेको ही मूर्छा कहना ठीक है और इसीका नाम परिग्रह है।

वास्तविक जो देखा जाय तो पाचों ही पाप जीवोंके परिणाम विशेष हैं अतएव वे आत्माको बांधनेमें कारण होते हैं। इसलिये परिग्रह भी वास्तविक वही समझना चाहिये कि जो परिणामोंमें ममता होती है। अब रही यह बात कि बाहिरी धनधान्यादिको परिग्रह कहें या न कहें? इसका उत्तर यह है कि बाह्य परिग्रह ममता बढानेका कारण है इसलिये उसे भी परिग्रह कह सकते हैं। यह कहना उपचाराधीन है।[3]

यहां भी प्रमादको कारण समझलेना चाहिये। वह प्रमाद यहां ममत्व संकल्प ही है। इसीलिये बाह्य परिग्रह कम रहनेपर ममतावान जीव परिग्रही कहाता है। और अधिक परिग्रह भी किसी दूसरे कारण वश यदि इकट्ठा होजाय परन्तु ममता न हो या कम हो तो वह मनुष्य अपरिग्रह या अल्पपरिग्रही कहा जायगा। परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि बाह्य परिग्रह भी ममताको बढाता है इसलिये उसका भी संबंध हेय ही है।

ये हिंसादि पांचो पापोंके लक्षण लिखे। इनको त्याग देनेपर भी आगामी भोगोंकी आकांक्षा बनीरहे अथवा मिथ्यात्व न छूटा हो अथवा मायाचार—कुटिलाई गई न हो तो व्रत कहना ठीक नहीं। देखो,—

मायानिदानमिथ्यात्वशल्याभावविशेषतः। अहिंसादिव्रतोपेतो व्रतीति व्यपदिश्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ—अहिंसादि व्रत धारण करनेपर भी मायाचार, निदान मिथ्यात्व इनका पूर्ण नाश करदे तब मनुष्यका व्रती

१ मूर्छेतिरय मोहसामान्ये वर्तते। सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते इति विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते। इति सर्वार्थ०। २ बाह्याभ्यन्तरोपधिसरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्छा। वातपित्तश्लेष्मविकारप्रसंग इति चेन्न विशेषितत्वात्। ३ बाह्यस्याप्रसंग इति चेन्नाध्यात्मिकप्रधानत्वात् तस्मिन् सगृहीतेत त्कारणस्याप्यनुषगेण प्रतीते। मूर्छाकारणत्वाद्बाह्यस्य मूर्छाव्यपदेश इति वार्तिका०।

यह नाम सार्थक होता है। माया-मिथ्या-निदानको शल्य कहा है, शल्य नाम कांटेका है। ये तीनो काटोंकी भांत व्रतीकी आत्माको दुखाते हैं। मायाचारका अर्थ निकृति, वंचना, ठगई ऐसा होता है। मिथ्यात्व लिखचुके हैं। निदान=अप्राप्त विषयभोगसंबंधी वस्तुओंको चाहना है। ये शल्य ऐसे हैं कि वृतका कुछ फल प्राप्त नहीं होनेदेते। इसीलिये वृतीको इन्हें दूर करनेका उपदेश दिया गया है। ये शल्य दूर न हों तो व्रत नाममात्रके लिये होंगे। क्योंकि, व्रतोंसे जो परिणाम निर्मल व निष्पाप होने चाहिये वे शल्य हटानेसे ही होसकते हैं।

वृतियोंके दो भेद—

अनगारस्तथाऽगारी स द्विधा परिकथ्यते। महावृतोऽनगारः स्यादगारी स्यादणुव्रतः ॥ ७९ ॥

अर्थ—व्रतियोंका स्वरूप कहचुके। वे व्रती अनगार तथा अगारी ऐसे दो प्रकारके हैं। महाव्रतधारियोंको अनगार कहते हैं और अणुव्रतियोंको अगारी कहते हैं।

अगार घरका नाम है। घरवाला यह अगारी शब्दका अर्थ है। घर छोडदेनेवाला ऐसा अनगार शब्दका अर्थ होता है। इस अर्थके अनुसार जंगलमें रहनेवाला गृहस्थ भी अनगार और देवालयादि स्थानोंमें आकर वसनेवाला साधु भी अगारी कहा जासकता है। परंतु यहां अगारका अर्थ परिग्रह किया जाता है। जब शब्द उपलक्षणवाची मानलिया जाता है तब उसकेसे और भी अर्थ लेना युक्त होजाता है। यहां अगार शब्द परिग्रहोंका उपलक्षणदर्शक मानते हैं इसलिये यावत् परिग्रहोंका त्याग करनेपर ही अनगार नाम मिलसकता है। यही वाद श्लोकके उत्तरार्धमें अगारी अनगारी शब्दोंका लक्षण करके बतादी है। क्योंकि, उपलक्षणकी बात विना कहे समझमें आना कठिन होती है।

अथवा, जिसकी इच्छा घरसे वास्तविक निवृत्त होगई हो वही असली अनगार होसकता है। वह इच्छा तभी निवृत्त होसकती है जब कि प्रत्याख्यानावरण नाम चारित्रमोह कर्मका नाश होजाय। वस, इस प्रकार जब घरकी इच्छा निवृत्त होगी तब शेष परिग्रहोंकी इच्छा भी निवृत्त हो ही जायगी। इसीलिये परिग्रहके पूर्णत्यागीको ही अनगार कहना उचित है।

अणुशब्दका अल्प अर्थ है। अल्प व्रत जिसको हों वह अगारी कहाता है, व्रत अल्प होनेपर भी पांचो व्रत होने चाहिये किंतु वे व्रत पूर्ण नहीं धारण होसके हैं इसलिये अणु कहे जाते हैं। एक दो व्रत धारण करलेनेसे अणुव्रती नाम प्राप्त नहीं होता यह समझनेकी बात है।

सहायकव्रत (सात शील)—

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः समता तथा । स प्रोषधोपवासश्च संख्या भोगोपभोगयोः॥८०
अतिथेः संविभागश्च व्रतानीमानि गेहिनः । अपराण्यपि सप्त स्युरित्यमी द्वादश व्रताः॥८१

अर्थ—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्ड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगसंख्या, अतिथिसंविभाग ये सात व्रत और भी ऐसे हैं कि जो गृहस्थको धारण करने चाहिये। इस प्रकार गृहस्थके पांच व्रत प्रथमके और सात ये मिलकर बारह होते हैं।

१ दिग्विरतिव्रत—

१ दिग्विरति दिशाओंके त्यागको कहते हैं। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऐशान (उत्तर पूर्व), नैऋत्य (पूर्व दक्षिण) अग्निनेय (दक्षिणपश्चिम,) वायव्य (पश्चिमोत्तर), ऊर्ध्व, अध ये दश दिशाएं हैं। इन दिशाओंकी सदाके लिए मर्यादा कर लेना कि मैं अमुक स्थानोंसे आगे अमुक अमुक दिशाओंमें नहीं जाऊंगा इसे दिग्विरतिव्रत कहते हैं। जैसे किसी तर्फ एक पर्वत हो तो उधर की सीमा उस पर्वतसे करले। इसी प्रकार जहां नदी या समुद्र या जंगल हो वहां उन उनसे सीमा बांध ले। ऐसी प्रसिद्ध व चिरस्थाई चीजोंसे बांधी हुई सीमा चिरकाल तक याद रहती है और टिकती है। इस दिग्विरतिव्रतका इतना बड़ा माहात्म्य है कि अणुव्रतधारी भी दिग्विरतिके बाहिरकी अपेक्षा महाव्रतीकी योग्यताको तथा फलको प्राप्त कर सकता है।

२ देशविरतिव्रत—

२ देशविरतिव्रत भी दिग्विरतिव्रतके समान ही होता है। अंतर इतना है कि दिग्विरतिमें जो मर्यादा कीजाती है वह सदाकेलिये, और उस दिग्विरतिके भीतर फिर कुछ कुछ समयकेलिये जो और भी कम मर्यादा करना वह देशव्रत है।

१ दिग्वलय परिगणित कृत्वातोहं बहिर्न यास्यामि। इति सकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै ॥ ६८ ॥ २ मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः। प्राहुर्दिशा दशानां प्रतिसहारे प्रसिद्धानि ॥ ६९ ॥ ३ अवधेर्बहिरणुप्रतिविरतेदिग्व्रतानि धारयता। पच महाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७० ॥ प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः। सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥ ७१ ॥

४ देशावकाशिकः स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य। प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ ९२ ॥ गृहहारिग्रामाणा क्षेत्रनदीदावयोजनानां च। देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धा ॥ ९३ ॥ रत्नक०।

देशव्रत जितने समयकेलिये किया गया हो उतना समय समाप्त होनेपर व्रतीका गमनागमन फिर भी दिग्विरतिकी सीमा-पर्यंत होसकता है। देशव्रत जन्मभरमें सहस्रोंवार वल्कि प्रतिदिन किया जासकता है।

३ अनर्थदण्ड विरतिव्रत—

३ जो विनाप्रयोजन पापकर्म करना है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। उस अनर्थदण्डसे जुदा होना सो अनर्थदण्डविरति नामका व्रत है। अनर्थदण्डके पांच प्रकार किये गये हैं। १ अपध्यान, २ पापोपदेश, ३ प्रमादाचरित, ४ हिंसादान, ५ अशुभश्रुति ये पांचोंके नाम हैं। ये पांचों ही क्रिया पाप वढानेवाली हैं और फल इनका कुछ नहीं है।

अपध्यान=विनाप्रयोजन किसीका जय किसीका पराजय किसीका अंगच्छेद किसीका धनहरण होनेकी इच्छा करते रहना। इसके सिवा और भी वहुतसे अपध्यान हैं। जैसे इसकी स्त्री मरजाय या पुत्र मरजाय ये सव अपध्यान ही हैं।

पापोपदेश=किसीको क्लेश उत्पन्न हो ऐसा वोलना, वध होजाय ऐसा वोलना, वनस्पति आदि वढाने उपजानेका उपदेश देना। इससे अपना प्रयोजन यदि न हो तो ऐसा उपदेश अनर्थदण्ड है। और अपने लाभार्थ अपने सेवकोंसे करानेकेलिये ऐसा कहाजाय तो वह अनर्थदण्ड न होगा, केवल आरंभादिके द्वारा लगनेवाला दोप लगेगा जो कि गृहस्थकेलिये क्षम्य है।

प्रमादाचरित=विना प्रयोजन वनस्पति काटना, जमीन खोदना, पानी वहाना, और भी जो जो हिंसाकर्म हैं वे सभी इस अनर्थदण्डमें गर्भित होते हैं। अर्थात्, वहुतसे लोगोंकी जो ठाले वैठे कुछ करते रहनेकी आदत पडजाती है वह सव प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है। जैसे कुछ काम न हो तो किसी एक कागदके टुकडेको उठालेना और फाड़ते वैठना, या दो मनुष्यों को परस्पर भिडादेना और उनका झगडा देख देखकर खुश होना, या हातमें एक तिनका उठालेना उसे तोडते वैठना।

हिंसादान=विष, शस्त्र, चावुक, लकडी इत्यादि वंधवन्धन छेदनकी सामग्रीका दान करना या सहायता करना। कीडे, खटमल, टिड्डी मारनेके साधन तयार करना और दूसरोंको देना ये सर्व हिंसादान अनर्थदण्डके ही प्रकार हैं।

---

१ उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्ड। (इतिवार्ति०) २ वधबंधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादे। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥ ७८॥ ३ तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्। कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥ ७६॥ ४ क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफल वनस्पतिच्छेदम्। सरण सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥ ८०॥ ५ परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृंगशृंखलादीनाम्। वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधा॥ ७७॥ ६ आरम्भसगसाहससमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनै। चेत कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति॥ ७९॥ रत्नक०।

अशुभश्रुति=हिंसापोषक वचन सुनना, खोटी कथाएं सुनना, आरंभ–परिग्रहादिवर्धक उपाय सुनना, सीखना, रागद्वेष बढानेकी वातें सुनना, परस्परमें कलहकारी शिक्षा सुनना। ऐसी वातोंसे अनर्थ तो होता ही है और प्रयोजन थोडा भी सधता नहीं इसलिये ये सर्व अनर्थदंड ही हैं।

ये पांच अनर्थदण्ड पाप हैं। इन पापोंको दिखानेसे पहिले दिग्विरति व देशविरति कहदिये गये हैं और इनके आगे भोगोपभोगादि व्रत लिखेंगे। इन दूसरे व्रतोंके वीचमें अनर्थदंड इसलिये आचार्योंने लिखा है कि दिग्विरति आदि व्रतोंका प्रमाण भी आवश्यकतासे अधिक न रखना चाहिये; यह वात शिष्योंको मालूम हो।[1]

४ सामायिक—

४ सामायिक[2] उसे कहते हैं कि जो विषयविचारोंसे मनको हटाकर आत्मचिंतवनमें लगा दिया जाय। ऐसी अवस्थामें बने रहना सदा तो मुनिसे भी नहीं होता तो गृहस्थकी क्या वात है? इसलिये सामायिक क्रिया करनेवाला गृहस्थ कुछ कालकी मर्यादा करके प्रारम्भ करता है इसके प्रारम्भमें प्रथम अपने केस संभाल कर वांध लेना चाहिये, कपड़े आस पाससे दवालेना चाहिये, पालती मारलेना चाहिये स्थान निश्चिन्त करलेना चाहिए यह एकाग्र बैठनेकी पद्धति[2] है।

---

१ मध्येऽनर्थदण्डग्रहण पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थम्। (इति वार्ति०)

२ सम=समता। अय=लाभ इन दोनों शब्दोंका समायशब्द बनता है। समायशब्दका अर्थविशेष न रहनेपर भी स्वार्थिक अण् प्रत्यय करके सामाय बना लिया जाता है। सामायका अर्थ होता है कि एकत्व या समताका लाभ हो, अथवा समता प्राप्त हो जानेसे आत्मज्ञानादिकका लाभ हो। यह प्रयोजन जिस क्रियाके करनेसे सध सकता हो उसे सामायिक कहते हैं प्रयोजनार्थक ठक् इक प्रत्यय व्याकरण में होता ही है।

किसी किसी ग्रंथमे सामयिक शब्द लिखा रहता है। उसका अर्थ यों किया जाता है कि सम=एकत्वार्थक उपसर्ग, अय=प्राप्तिवाचक धातु, इनके संयोगसे समयशब्द बन जाता है। 'एकत्वेन गमन समयः' ऐसा राजवार्तिकमें लिखा ही है। इसलिये 'एकत्वकी प्राप्ति ऐसा समयका अर्थ होता है। इस एकत्व प्राप्तिका जो कारण हो उस क्रियाको सामयिक कहते हैं। यह सामयिक या सामायिकका शब्दार्थ हुआ।

"समस्य=रागद्वेषविमुक्तस्य सत, अयो=ज्ञानादीना लाभ प्रथमसुखरूपः स समायः। समाय एव सामायः। सामायः प्रयोजनमस्येति ठकि सामायिकम्। रागद्वेषहेतुमध्यस्थतेत्यर्थः। अथवा समयः आप्तसेवोपदेश। तत्र नियुक्तं कर्म सामायिकम्। [इति आशाधरेण सागारधर्मामृतस्य पंचमाध्यायेऽष्टाविंशतितमे श्लोके उक्तम्]। २ जिस भांत वीचमें आकुलता या अतराय न आवे उस भात संभलकर बैठना चाहिये यही इस पद्धति का मतलब है। इस पद्धतिमें मुष्टिबन्ध करनेको लिखा है उसका अर्थ यहा ऐसा होना चाहिये कि हातोंको संकोचले। ध्यानमुद्राकी तर्फ विचारनेसे मालूम होता है वामहात पर सीधा रखलेना यही अर्थ ठीक है।

इस प्रकार किसी शांत चैत्यालयमें या गुफामें या निर्जन जंगलके प्रदेशमें बैठकर आत्माका चिंतवन करै, कर्मोंसे रहित = स्वतंत्र मुक्ति प्राप्त करनेके कारणोंका चिंतवन करै और निश्चय करै कि आत्मादि तत्त्वोंका यही निश्चित स्वरूप है, ये ही दर्शन ज्ञान चारित्र मुक्तिके अंग हैं। इस प्रकार चिंतवन करते कालकी अवधि पूर्ण करै। यह सामयिक साधनाभ्यासकी अपेक्षा तो सभी श्रावकोंको करना चाहिये परन्तु तीसरी प्रतिमासे लेकर अवश्य करना ही चाहिये। उन व्रतियोंको तीनो संध्या करना चाहिये और बाकी श्रावक प्रातः काल तथा संध्याकालमें करते हैं।

सामायिकके साथ प्रतिक्रमणादि पांच क्रिया जोडनेसे षडावश्यक-कर्म हो जाते हैं। प्रतिदिवस सामायिक या षडावश्यक क्रिया करते रहनेसे पांच अणुव्रत शुद्ध बने रहते हैं और कभी भूलकर भी पापमें मन लग गया हो तो वह हट जाता है। शिक्षा व्रतोंका प्रयोजन ही यह है कि पांच अणुव्रतोंको न बिगडने देनेकी शिक्षा मिलती रहै। सामायिकादि चार व्रतोंको शिक्षाव्रत कहते हैं। दिग्व्रतादि तीन व्रतोंको गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रतका अर्थ 'मूल गुण या पांचव्रतोंकी वृद्धि होनेके कारण ऐसा होता है। दिग्व्रत, अनर्थ दण्डव्रत, भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत हैं और सातमें से बाकीके चार शिक्षाव्रत हैं सामायिककी महिमा भी ऐसी है कि सामायिकके समय तक महाव्रतपना आ जाता है।

५ प्रोषधोपवास—

५—प्रोषधोपवास यह पांचवां शीलव्रत है। इसका अर्थ यह है कि पहिले दिन बारह बजेसे विषय, कषाय, व आहार को त्यागकर तीसरे दिन बारह बजे आहार ग्रहण करै। और पहिले व तीसरे दिन भी जो आहार ले वह एक बार ही

---

१ परं तदेव मुक्त्यंगमिति नित्यमतन्द्रित। नक्तदिनान्तेऽवश्यं तद्भावयेच्छक्तितोऽन्यदा ॥ इतिधर्मामृते। २ दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्। अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥ ३ देशावकाशिकं स्यात्सामयिकं प्रोषधोपवासो वा। वैयावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥ इति रत्नक०। ऊपर ग्रन्थकारने जहा अतिथिसंविभाग लिखा है वहा उपासकाध्ययनोंमें वैयावृत्य शब्द लिखा गया है। परन्तु अर्थ दोनोंका समानसा ही है यह बात अतिथिसंविभागकी व्याख्यासे मालूम होगी। ४ बाह्य सब विषयोंसे आसक्ति हट जाती है इसलिए महाव्रत कहना अनुचित नहीं है। ऊपरकी शांतता देखनेसे ठीक ही है।

५ कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते। उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥ इति सुभाषितर०। स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमं। साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥ अ० ५ ॥ चतुर्णां भोजनानामशनस्वाद्यखाद्यपेयद्रव्याणाम् (इतिधर्मामृते) पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु। चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः १०६ (इतिरत्नक०)

ले। इस प्रकार अडतालीस घंटे धर्मध्यानके साथ व्यतीत करने चाहिये। कषाय व विषय यदि न छूट सके हों तो फिर आहारका त्याग करना केवल लंघन है।

आहारके चार भेद करते हैं; (१) अशन, (२) स्वाद्य, (३) खाद्य, (४) पेय कहीं कहीं पर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय ये भी चार नाम मिलते हैं। और कहींपर अन्न, पान, खाद्य, लेह्य ये चार नाम भी दीख पडते हैं। ये चारो ही आहार उपवासवालेको छोडने चाहिये।

इसका फल उन्माद न वढना, इंद्रियदर्प न होना, आत्मभावना करनेमें सावधानी रखना है। यह व्रत, सामायिक व्रत स्वीकारनेवालेकेलिये आगे चलनेपर स्वीकार करना पडता है। इसे प्रतिमाओंके अनुसार चतुर्थप्रतिमा कहते हैं। उसको यह प्रोषधोपवास प्रति अष्टमी व चतुर्दशीको करना चाहिये। और जो साधन अभ्यासके लिये करता हो उसकेलिये कोई नियम नहीं है।

आहारका जैसा त्याग करै वैसा ही अलंकार, सुगंध, पुष्प और सर्व प्रकारके आरम्भका त्याग भी करना ही चाहिये।[2] स्नान, अंजन, नस्य=तमाखू, हुलास ऐसी चीजोंको भी छोडना चाहिये। यह उपवासकी उत्कृष्ट विधि है। उपवास करने वाला श्रावक अपना सर्व समय धर्मध्यानमें तो वितावै ही परंतु जव एकान्ती रहना न होसकै तब दूसरे श्रावकोंको धर्मामृतका उपदेश दे तथा दूसरोंसे[3] आप सुनै। उपवासके समयको आलस्यसे न विताना चाहिये।

प्रोषधोपवासमें जो उपवासशब्द है उसका अर्थ आहारत्याग है। प्रोषधका अर्थ एकवार भोजन करना है। प्रोषधोपवासका जिस दिन आरंभ होता है उस दिन एकवार भोजन किया जाता है और दूसरे दिन आहारका त्यागकर उपवाससे रहना पड़ता है और फिर तीसरे दिन भी एकवार भोजन किया जाता है इसलिये इसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यह पूर्ण उपवासका व्रत हुआ।

१ प्रथम व दूसरे वार जो नाम लिखे हैं, वे आशाधरके सागारधर्मामृतमें हैं। पञ्चमाध्यायके ३४वें श्लोकमें तथा चतुर्थाध्यायके २४वें श्लोकमें यह जिक्र है।

२ पञ्चानां पापानामलंक्रियारंभगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ १०७॥ ३ धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥ १०८॥ ४ चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १०९॥ इति रत्नक०। ५ सागारधर्मामृत में—

६ भोगोपभोगपरिमाणव्रत—

त्रसघात, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट, अनुपसेव्य ये भोगोपभोगपरिमाणके समय पांच विषय छोडने पडते हैं। (१) मधु, मांस ये त्रसघातके स्थान हैं इसलिये इन्हें सर्वथा छोडना चाहिये। (२) मद्यके खानेसे कार्याकार्यविवेक नहीं रहता इसलिये प्रमाद छूटनेके लिये मद्यका त्याग करना चाहिये। केतकी, अर्जुनपुष्प, कंदमूल इत्यादि चीजोंके खानेसे जीव बहुतसे घाते जाते हैं इसलिये इन्हें छोडना चाहिये। (२) जितनेसे काम चल सकता हो उसके अतिरिक्त जितनी वस्तु हों वे सर्व अनिष्ट कहाती हैं। इसलिये उन अनिष्ट वस्तुओंको छोडना चाहिये। (५) जो आवश्यक पदार्थ हों वे भी यदि कुल जात्यादिके अनुकूल न हों तो छोडने चाहिये ये पांच प्रकारके विषय छोडनेसे सभी भोगोपभोगका परिमाण हो जाता है। एकवार भोगने योग्य विषयको भोग कहते हैं जैसे भोजन। वार २ भोगनेकी चीजोंको उपभोग कहते हैं। जैसे घर, वाहन, वस्त्रादि।

यह भोगोपभोगपरिमाणव्रत शक्ति हो तो यावज्जीव ग्रहण करना चाहिये। यदि शक्ति न हो तो कुछ कुछ समयके लिये ग्रहण कीया जा सकता है। किसी किसी ग्रंथमें भोगोपभोग शब्द मिलता है और कहीं कहीं उपभोगपरिभोग शब्द मिलता है। परंतु अर्थ 'एकवार व अनेकवार भोगयोग्य' यही करना चाहिये। कहीं पर भोगोपभोग परिमाण यह शब्द व्रतके लिये आता है और कहीं भोगोपभोगपरिसंख्यान यह शब्द आता है।

उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः। आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः॥ ५॥ अ० ५।

अर्थ—जो ऊपर लिखा उपवास करसकतेहैं वे वह करें। परंतु जो उतना नहीं करसकते उन्हे चाहिये कि वे जल लेकर वाकी सर्व आहारका त्याग करै। यह मध्यम उपवास है। इतनी भी शक्ति न हो तो आचाम्लादि भोजन करें। आचाम्लका अर्थ काजीसे मिलाकर भातका खाना। ऐसा ही एक निर्विकृति नाम भोजन भी किया जासकता है दूध, दही, घृत इत्यादि रस छोडकर नीरस भोजनका नाम निर्विकृति है। यह जघन्य उपवास है। इसकी शक्ति न हो तो एकवार भोजन करै। ऐसा क्यों करे? इसलिये कि शक्त्यनुसार करनेसे ही तप कहाता है। 'शक्तितस्तपः' यह आर्ष वचन है

१ मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघात प्रति निवृत्तचेतसा। २ मद्यमुपसेव्यमान कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादपरिहाराय। ३ केतकार्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि, शृंगवेरमूलकार्द्रादीनि अनन्तकायव्यपदेशार्हाणि। एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्। ४ यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम्। ५ न ह्यसत्यमिसंधिनियमे व्रतमिति, इष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्याग कार्यो यावज्जीवं। अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यं। [इति वार्तिक०]

७ अतिथिसंविभागव्रत—

७ अतिथिसंविभाग व्रत उसे कहते हैं कि अतिथियोंको उपयोगी पडनेवाली चीजें उन्हें दीजांय। जिसके आनेका तिथि—समय नियत न हो वह अतिथि है। यह अतिथिका शब्दार्थ है। अतिथि, साधु—संन्यासियोंको कहते हैं। उनके-लिये उपयोगी वस्तुओंको देते रहना चाहिये। उनको देने योग्य चीजें चार हैं; १ भिक्षा, २ कमण्डलु—पीछी आदि उ-पकरण, ३ औषध, ४ मठ, वसतिका आदि स्थान। मुनियोंको दूसरे प्रकारकी चीजें लगती ही नहीं हैं इसलिये दानकी वस्तुओंके उक्त चार ही भेद किये गये हैं।

सल्लेखनाव्रत—

अपरंच व्रतं तेषामपश्चिममिहेष्यते। अन्ते सल्लेखनादेव्याः प्रीत्या संसेवनं च यत् ॥८२॥

अर्थ—एक और भी वारह व्रतोंके अतिरिक्त अनुपम व्रत है। वह कोनसा? मरणके अंतमें सल्लेखनादेवीकी प्रीति पूर्वक सेवा करना यही वह व्रत है। यह भी गृहस्थोंका मुख्य व्रत है।

---

१ ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयं। यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः॥ ४२ ॥ अ. ५। सागारध.।

२ अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। (इति वार्तिका०) वैयावृत्त्य शब्दका मुख्य शब्दार्थ तो यह होता है कि किसीके कष्टको दूर करना। परंतु लक्षणसे यह अर्थ सिद्ध होता है कि साधुओंको दान देकर तथा और भी अनेक प्रकारकी सेवा करके उनके धर्मसा-धनेमें सहायता करना। अतिथिसंविभाग तथा वैयावृत्त्यका मुख्य अर्थ साधुओंको दान देना है। यह अर्थ दोनोंका एक ही है। परंतु श्रावकाचारोंमेंसे केवल सागारधर्मामृतमें तथा तत्वार्थसूत्रमें अतिथिसंविभाग शब्द लिखागया है और वाकी बहुतसे श्रावकाचारोंमें वैयावृत्त्य शब्द ही आता है।

समन्तभद्रस्वामीने इस वैयावृत्यके ही भेदोंमें देवपूजाको भी बताया है। तत्त्वार्थसूत्र तथा तत्त्वार्थसार ग्रंथोंमें और तत्वार्थसूत्रके टीकाग्रंथोंमे देव-पूजाका समावेश बारह व्रतोंमेंसे कहींपर भी नहीं किया तो भी दानके भेदोंमे लेलेनेसे संग्रह हो सकता है। समंतभद्रस्वामीने अपने चतुर्विंशतिस्तोत्रमे भी जिनपूजाका उल्लेख किया है। देखो—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ। दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥५॥

इतना ही नहीं लिखा किंतु यह भी लिखा है कि अध्यात्मवृत्ति साधु भी पूजा करसकता है परंतु उसके पास द्रव्य नहो और वह आरंभ नहीं कर सकता इसलिये वह भाव पूजा करै 'दाणं पूजामुक्खो सावयधम्मो' ऐसे वचन भी मिलते हैं। इससे श्रावकका मुख्य धर्म दान पूजा ही है।

शरीर व कषायोंको संसारभोगोंसे विरक्त होकर कृषकरै घटावै इसीका नाम सल्लेखना है। जब यह मालुम होजाय कि मेरा मरण अब अवश्य निकट आगया है तब यह सल्लेखना व्रत धारण किया जाता है। शरीर भोगोंसे विरक्त होना यह तो धर्मका अर्थ ही है। परंतु इस धर्मको गृहस्थ, विषयसंबंध न छूटसकनेके कारण पूर्ण पाल नहीं सकता। इसीलिये जब मरणके सन्मुख वह अपनेको समझलेता है तब विषय व कषायोंको छोडदेना अपना मुख्य कर्तव्य मानता है और वह पूर्ण विषयविमुख होकर आहारको क्रमसे त्याग देता है। आहारके छूटनेसे शरीर कृष होजाता है। कषाय तो कृष पहिलेसे ही होने लगता है। क्योंकि कषाय कृष न हो तो आहारादिसे ममत्व छूटना असंभव है।

यहां आत्मघातके दोषकी शंका होना संभव है। परंतु वह शंका तब होनी चाहिये जब कि मरणका समय न आनेपर ही भोजनका त्याग करदियाजाय। किंतु यह बात सल्लेखनामें नहीं होती। मर जाना तो किसीको भी इष्ट नहीं होता। श्रावक तथा साधु भी ऐसा समझते हैं कि जीते रहेंगे तो कर्मोंकी निर्जरा बहुतसी करेंगे। वह निर्जरा शीघ्र मरनेवालेके हाथसे कैसे होसकती है? तो भी यदि मरण आही गया हो तो उसे टाल तो सकते नहीं; उलटा विषयासक्त बनकर परभवको क्यों बिगाडें? यह समझकर वे व्रती कषायाहारका त्याग कर देते हैं और शांतिके साथ शरीरको छोडते हैं। इसमें आत्मवध कैसा?

सल्लेखनाव्रत सात शीलोंके साथमें क्यों नहीं संगृहीत किया जाता? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि सात शीलोंकी भांत यह केवल श्रावकोंकेलिये ही नही है। जो गृहस्थ घरसे विरक्त नहीं हुआ हो उसको विरक्त करनेकेलिये सात शील बताये गये हैं। इसलिये जो सात शील धारण करनेवाला है उसकी सल्लेखना बनी बनाई है। उसको जो विरक्तता प्राप्त हुई है उस विरक्तताको वह मरणान्ततक धारण करता ही है और ठीक मरण जानकर उस विरक्तताको और भी संभाल लेता है। उस श्रावकको यदि सल्लेखना न कहैं तो भी वह हानि नहीं उठावेगा। किंतु जिसने मरणांतपर्यंत सात शील धारण नहीं किये उसके लिये सल्लेखनाका उपदेश अधिक सार्थ है। और यों तो मुनियोंको भी सल्लेखना करनेका उपदेश है। इसलिये केवल गृहस्थोंकेलिये जो शील बताये गये हैं उनमें सल्लेखना व्रतका समावेश कैसे होसकता है?

१ जातामय प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा, नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्। लग्नाग्निमावसति वन्हिमपोह्य गेही, निर्याय वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥ २०५ ॥ आत्मानुशासनम्। व्रतशीलपुण्यसंचयप्रवर्तमानस्ताश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति, तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते इति कथमात्मवधो भवेत्? [इति वार्तिका०]।

अतीचारप्रकरण—

सम्यक्त्वव्रतशीलेषु तथा सल्लेखनाविधौ । अतीचाराः प्रवक्ष्यन्ते पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—एक सम्यग्दर्शन, पांचव्रत, सात शील तथा एक सल्लेखना इन चौदह बातोंमें जो मुख्य दोष लगना संभव है वे दोष अब यथाक्रमसे लिखते हैं। एक एकके मुख्य दोष पांच पांच मानेगये हैं। बाकीके दोष ऊपरसे समझना चाहिये। इन दोषोंको अतीचार[1] कहते हैं।

सम्यक्त्वके पांच दोष—

शंकनं काङ्क्षणं चैव तथा च विचिकित्सनम् । प्रशंसा परदृष्टीनां संस्तवश्चेति पञ्च ते ॥ ८४ ॥

अर्थ—अर्हंतके उपदेशमें शंका करना कि यह ठीक है या नहीं, अर्हंतने सर्वतत्त्व प्रत्यक्ष देखकर कहे हैं अथवा युक्तिद्वारा कल्पित किये हैं—ऐसे विचारोंको शका दोष कहते हैं इस लोकका, परलोकका, व्याधियोंके विषयका, मरणका, असंयमका, अनाथपनेका, आकस्मिक घटनाओंका भय होना भी शंका दोषमें गर्भित होता है। यह सर्वप्रकारका शंका दोष होता है। इन्हींको सप्त भय कहते हैं। यह सर्वप्रकारका शंका-दोष सम्यक्त्वमें मलिनता उत्पन्न करता है। (२) इस लोक-परलोकके भोगोंकी लालसा रखना सो कांक्षा या आकांक्षा दोष है। मिथ्यादृष्टियोंमें उत्पन्न होनेकी या मिथ्या दृष्टियोंके समागम-सहवासकी इच्छा रखना भी आकांक्षा दोष है। (३) शरीरादि मलिन वस्तुओंको देखकर उनसे अरुचि करना, उस शरीरके संबंधसे पवित्र साधुओंको भी ग्लानिकी दृष्टिसे देखना, अर्हंतके मोक्षमार्गमें तपस्यादि घोर कष्ट देखकर उन कष्टोंको अनुचित समझकर निर्ग्रंथ तपस्वियोंको तथा मोक्षमार्गको ग्लानिसे देखना—इत्यादि अनुचित ग्लानिको विचिकित्सादोष कहते हैं। (४) मिथ्यादृष्टियोंको देखकर मनमें उनके कार्य तथा विचारोंको अच्छा समझना, उन गुणोंपर मोहित होना यह अन्यदृष्टिप्रशंसा नाम दोष है। (५) मिथ्यादृष्टियोंके विचारोंकी उनकी क्रियाओंकी मुखसे प्रशंसा करना यह अन्यदृष्टिसंस्तवन नाम दोष है। इन दोषोंको सम्यक्त्वके दोष इसलिये कहा है कि सम्यक्त्व गुणको इनसे बट्टा

१ "देशस्य भंगादनुपालनाच्च पूज्या अतीचारमुदाहरंति" इति धर्मामृतटीकायां पूर्वेषामुक्तिरुक्ता। व्रतके कुछ अंशका भंग होजाना या न पालना इसका नाम अतीचार है।

लगता है। ये दोष सम्यक्त्वके अतीचार दोष कहाते हैं, क्योंकि, सम्यक्त्व निर्मूल नष्ट न होकर केवल मलिन होता है। ये सम्यक्त्वके पांच दोष हैं।

अहिंसाणुव्रतके अतीचार—

बंधो बधस्तथा छेदो गुरुभाराधिरोपणं। अन्नपानानिषेधश्च प्रत्येया इति पंच ते ॥ ८५॥

अर्थ—१ बांधलेना, २ चाबुक वगैरहसे मारना=वध, ३ कान नाक इत्यादि काटना=छेदना, ४ संभव या न्यायसे जितना ठहर चुका हो उतनेसे अधिक बोझा लादना=गुरुभारारोपण, ५ खाना पीना समयपर न देना=अन्नपाननिषेध ये पांच अहिंसाव्रतके अतीचार-दोष[2] हैं।

---

१ सम्यक्त्वके जहां गुण कहे गये हैं वहा आठ कहे हैं, (१) निःशंका, (२) निकांक्षा, [३] निर्विचिकित्सा, [४] अमूढदृष्टि, [५] उपगूहन, [६] स्थितीकरण, [७] वात्सल्य, [८] प्रभावना। यदि इनसे उलटी तरफ देखा जाय तो दोष भी आठ हो सकते हैं। परन्तु यहां जो सम्यक्त्वके दोष लिखे वे पाच ही क्यो लिखे ? उत्तर—पहिले तीन दोष तो प्रथम तीन गुणोंसे ठीक उलटे हैं ही। रहे अतके दो दोष, सो उनमें शेष पाचों गुणोंके प्रतिपक्षी पाच दोष गर्भित किये हैं। वह कैसे ? अर्थ समान होनेसे पाचवे चौथे दोषोंका व्यापक अर्थ मानलेनेसे अतर्भाव हो सकता है। अथवा उपलक्षणसे शेष दोषोंका ले लेना तो सहज ही है। आठों न गिनानेका प्रयोजन यह है कि जहा सभी विषयोंके अतिचार पाच २ ही कहे जायेंगे वहा इसीके लिये सख्या भेद क्यो करें ?

२ पडित आशाधरने इसपर लिखा है कि—**गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं त्यजेद्बंधादिना विना ॥ भोग्यान्वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयं ॥ १६ ॥** अ० ४। उत्तम नैष्ठिक श्रावकका यह काम है कि वह बधवधादि दोषरहित अहिंसाव्रत पालनेकी इच्छासे गाय आदि पशुओंको रक्खै ही नही। काम न चलता दीखे तो वह अवश्य रक्खेगा, परंतु उतने ही रखने चाहिये जितनेसे भोगोपभोगका काम चल जाय। परंतु यह मध्यम श्रावककी वृत्ति कही जायगी। रक्खे तो चाहें जिस कामकेलिये परंतु बधबंधादि न होने देनेकी संभाल करै और निर्दयतासे उनको काममे न ले यह निकृष्ट पक्ष है। ऐसा करनेवाला भी बधवधादि दोष दूर करसकता है परंतु कृत, कारित, अनुमति द्वारा पूर्ण रक्षा नहीं करसकता इसलिये मन मलिन रहैगा और पक्ष अधम ठहरेगा परंतु अतीचार तो भी दूर हो सकते हैं यह ध्यान रहै)। अतीचारोंको अवश्य टालना चाहिये क्योंकि सातीचार व्रत कभी वास्तविक फल नही देसकते। देखो,—

व्रतानि पुण्याय भवंति जंतोर्न सातिचाराणि निषेवितानि। सस्यानि किं क्वापि फलंति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि ॥

शंका—अतिचार यदि पापोंमे गर्भित हैं तो पापके त्यागको जो व्रत कहते हैं उन व्रतोंकी सख्या नहीं हो सकेगी। यदि अतिचार हिंसादि पापोंमें गर्भित नही हैं तो क्यों छोडने चाहिये ? **उत्तर**—विशुद्ध अहिंसादिव्रतोंमे अतीचार नहीं रहते इसलिये छोडने योग्य तो हैं ही और निराले वे पाप नहीं किंतु एकदेश मूलपापोंमें ही गर्भित होते हैं इसलिये इनके त्यागसे भी व्रतोंकी सख्या बढती नही है।

सत्याणुव्रतातीचार—

कूटलेखो रहोऽभ्याख्या न्यासापहरणं तथा। मिथ्योपदेशसाकारमन्त्रभेदौ च पञ्च ते॥८६

अर्थ—(१) जो बात जिसने नहीं कही हो वह बात उसने कही ऐसा ठगनेके लिये लिखना सो कूट लेख है।[२] स्त्री पुरुषोंकी एकांतमें की गई परस्परकी काम चेष्टाओंका प्रकाशित करना सो रहोभ्याख्यान कहाता है। कोई लोग कूट लेखका अर्थ ऐसा करते हैं कि दूसरेके हस्ताक्षरका लेख बनाना सो कूट लेख है। [३] धन सम्पत्ति किसीने उसके पास रख दी हो और फिर जितनी रक्खी थी उसमें कमका तकाजा करै तो वह मांगनेवाला तो कदाचित भूल गया है परंतु आप जानबूझकर भी यह कहना कि जितना तुम्हें याद हो उतना ले जाओ—इसको न्यासापहार कहते हैं। [४] मिथ्या मार्गका उपदेश देना सो मिथ्योपदेश कहाता है। (५) किसीने जो छिपकर बात चीतकी हो उसे उसकी किसी चेष्टासे समझकर प्रकाशित कर देना सो साकारमंत्र भेद कहाता है। ये पांच असत्यत्यागी सत्याणुव्रतीके व्रतमें आनेवाले अतीचार हैं।

न्यासापहारमें यह शंका होगी कि यह अतीचार सत्यव्रतका न होकर अचौर्यव्रतका होना चाहिये ? इसका उत्तरः—यहां वचन बोलनेसे दूसरेका अहित होता है। इसलिये यह सत्यव्रतका अतीचार है। कूटलेख यद्यपि वचन नहीं है तो भी वचनकी आकृति है और लोग भी इसे शब्द या वचन कहते ही हैं। इसलिये यह कूटलेख भी सत्यव्रतका ही अतीचार है। रहोभ्याख्यान तथा साकारमंत्रभेद इन दोनोंको लोग दुर्योग्य असत्य नहीं ठहरा सकते हैं तो भी ऐसे वचनोंसे प्राण पीड़ा ही जाते हैं इसलिये ये भी अतीचार हैं। मिथ्योपदेशसे भी तत्कालमें प्रत्यक्ष हानि नहीं कही जा सकती परंतु वास्तवमें बहुत बड़ी हानि होती है इसलिये यह अतीचार है।

अचौर्याणुव्रतके अतीचार—

स्तेनाहृतस्य ग्रहणं तथा स्तेन प्रयोजनम्। व्यवहार प्रतिच्छन्दो मानान्मानोनवृद्धता॥८७॥
अतिक्रमे विरुद्धे च राज्ये सन्तीति पञ्च ते।

---

१ दूसरा ठट्ठा समझकर करे तो यह अतीचार होगा। यदि काम वासनाके वश करे तो व्रत भंग का दोष आ सकता है।

२ मन्त्रभेदः परीवादः पैशुन्यं कूटलेखनम्। मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः॥

यशस्तिलकमें सत्याणुव्रतके २८ वे कलशमें ये पांच सत्यातीचार बताये हैं।

अर्थ–(१) चोरी करके जो द्रव्य किसीने लाकर वेचना चाहा तो उसे लेलेना यह स्तेनाहृतादान कहाता है। ऐसा करना भी दूसरोंके लिये दुःखदायक है और इससे राजदंडका भय रहता है इसलिये यह अतीचार है। (२) चोरी करनेवालों को चोरीमें लगाना, लगानेका प्रयत्न करना, चोरी करनेमें कोई लग जाय तो प्रसन्न होना इस सबको स्तेन प्रयोग[3] कहते हैं। (३) व्यापारमें ठगई करना अथवा नकली चीजें असली कहकर वेचना–ऐसे कामोंको व्यवहारप्रतिच्छन्द या प्रतिरूपव्यवहार[4] कहते हैं। (४) सेर–पसेरी आदि वजनकी चीजोंको मान कहते हैं। तराजू पाइली आदि चीजोंको उन्मान कहते हैं। ये चीजें ठीक न रखना किंतु दूसरोंसे माल लेनेकेलिये अधिक रखना और दूसरोंको अपना माल वेचनेकेलिये कम रखना– ऐसे कार्यको मानोन्मानहीनाधिकता या हीनाधिकमानोन्मान[5] कहते हैं। (५) राजाज्ञाका जिसमें उल्लंघन होता हो ऐसे प्रकारसे वहुमूल्य चीजोंको अल्पमूल्यमें खरीदनेकी इच्छा रखना, प्रयत्न करना सो सव विरुद्धराज्यातिक्रम नामका पांचवां अतीचार है।

अचौर्याणुव्रतके ये पांच अतीचार हैं। इनको लोग चोरी नहीं कहते इसलिये तो व्रतभंग नहीं माना जाता और तो भी चोरीकी भांत ये पांचो प्रकारके फायदे जिसके द्रव्यसे होते हैं उसे न जता कर होते हैं। यदि द्रव्यका स्वामी ये वातें समझले तो वह ठगई मानलेता है। इसलिये ये पांचों कार्य चोरीके एक अंग मानेगये हैं। अतीचार भी पापके अवयवोंको कहते हैं। जो पापका पूर्ण सेवन हो तो वह अनाचार कहाता है।

स्वदारसंतोष–अणुव्रतके अतीचार–

अनंगक्रीडितं तीव्रोऽभिनिवेशो मनोभुवः ॥ ८८ ॥
इत्वर्योगमनं चैव संगृहीतागृहीतयोः। तथा परविवाहस्य करणं चेति पंच ते ॥ ८९ ॥

१ 'व्यवहारप्रतिच्छन्दः' ऐसा मूल मुद्रित पुस्तकमें पाठ था। परन्तु हमने 'व्यवहारप्रतिच्छन्दो मानोन्मानोनवृद्धता' ऐसा [illegible] पाठ ठीक समझा है। क्योंकि, प्रतिरूपक व्यवहारकी जगह यह पाठ होना चाहिये। २ चोरानीतग्रहणं तदाहृतादानम्। ३ मोषकस्य त्रिधा प्रयोजन स्तेनप्रयोग। मुष्णन्त स्वयमेव वा प्रयुङ्क्ते अन्येन प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यत स्तेनप्रयोग। ४ कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः। ५ कूटप्रस्थतुलादिभि क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मान।

अर्थ—(१) अनंगक्रीडा, [२) कामकी तीव्रवासना, (३) परिगृहीत—इत्वरिकागमन, [४] अगृहीत—इत्वरिकागमन, [५) परविवाहकरण ये पांच स्वदारसंतोषके अथवा ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतीचार हैं। योनि तथा जननेन्द्रियका जो संभोग होता है वह उचित स्थानके सिवा अन्यत्र भी करना तथा कुचेष्टा करना सो सब अनंगक्रीडा है। कामभोगोंकी निरन्तर इच्छा रखना, उत्कट वासना रखना, सो कामकी तीव्र वासना या कामतीव्राभिनिवेश कहाता है। व्यभिचारिणी स्त्रीको इत्वरिका कहते हैं। जो किसीने रखली हो या किसीकी व्याही स्त्री हो उसे परिगृहीत कहते हैं। परिगृहीत व्यभिचारिणी स्त्रीके साथ सम्बन्ध रखनेको परिगृहीत—इत्वरिकागमन कहते हैं। किसीने जिसे रक्खा भी न हो और जो किसीको व्याही भी न हो उसके साथ संबंध रखनेको अगृहीत—इत्वरिकागमन कहते हैं। दूसरोंके लडके लडकियोंका धर्म मानकर व्याह कराना सो परविवाहकरण है।

दूसरोंके लडके लड़कियोंका जो व्याह करादेना है वह दो अभिप्रायोंसे होसकता है; एक तो यह कि उसमें धर्म माना जाय, दूसरा यह कि लड़के लड़कीवाला असमर्थ हो। असमर्थकी सहायता करना धर्मके विरुद्ध नहीं है। हां, किसी व्रतमें दोष न आना चाहिये। असमर्थ मानकर किसीके विवाहमें द्रव्यकी सहायता करना या प्रयत्न करना स्वदारसंतोष—व्रतमें हानि पहुचानेवाला नहीं होसकता है। परंतु जो हिंदु लोग विवाह करादेनेको एक धर्म समझते हैं वह समझ केवल विवाहमें पड़नेवाले मनुष्योंकी कामवासनाको वढानेवाली ही है। दूसरोंके विवाह करानेसे कामभोग वहुतसे मिलसकते हैं यह उस विवाह करानेका हेतु है। अपने कामभोगोंकी लालसा तृप्त करनेका यह हेतु परंपरासाधक है। इसीलिये स्वदार संतोषव्रतमें इसे अतीचार—दोष मानना उचित है। इसी प्रकार अनंगक्रीडा आदि जो चार अतीचार हैं वे भी तभी होसकते हैं जब कि कामभोगोंकी लालसा अति प्रवल होजाती है। इसीलिये वे भी अतीचार—दोष हैं। गुरुपत्नी, साध्वी,

१ परपुरुषानेति गच्छतीतीत्वरी। ततः कुत्सायां क। इत्वरिका। या गणिकात्वेन पुश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। या पुनरेकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता। [इति वार्तिका०] २ मूल ग्रथमें जो गमन शब्द है उसका अर्थ हमने सम्बन्ध रखना किया है। गमनका अर्थ कार्तिकेयानुप्रक्षाकी टीकमें तथा श्रुतसागरी तत्वार्थ टीकामे ऐसा ही लिखा है परन्तु पण्डित आशाधरके सागारधर्मामृतमें गमनका अर्थ सभोग करना लिखा हैं। कोशोंमे भी गमनका अर्थ सभोग करना होता है।

परन्तु सभोग करना अतीचार नहीं हैं व इअनाचार या व्रतभंग है—यह शका होना यहा संभव है। प० आशाधरने इस शकाका उत्तर देनेकेलिये लोकदृष्टिसे भंग व परमार्थ दृष्टिसे अभंग बताकर अतीचारपना ठहराया है।

तिर्यंचिनी इत्यादिकोंमें जो प्रवृत्ति होती है वह भी कामतीव्राभिनिवेशका ही एक प्रकार है।

परिग्रहप्रमाण-अणुव्रतके अतीचार।

हिरण्यस्वर्णयोः क्षेत्रवास्तुनोर्धनधान्ययोः। दासीदासस्य कुप्यस्य मानाधिक्यानि पञ्च ते॥९०॥

अर्थ—सोने चांदी आदिके सिक्कोंको हिरण्य[2] कहते हैं। स्वर्ण=सोना[3]। यहां सोना उपलक्षण मानना चाहिये और उसका अर्थ 'सोना, चांदी, जवाहिरात' करना चाहिये। क्षेत्र=खेत, वास्तु=घर। धनका अर्थ गाय भैंस इत्यादि पशु। धान्य=गेंहू, चना इत्यादि अनाज। दासीदास=सेवक। कपास, रेशम, चंदन, ऊन तथा किराने की चीजोंको कुप्य[6] कहते हैं। (१) हिरण्यसुवर्ण, (२) क्षेत्रवास्तु, (३) धनधान्य, (४) दासीदास, (५) कुप्य ये पांच ही मुख्य परिग्रहके भेद हैं। इनका जितना जितना प्रमाण हो वह वढाकर यदि अधिक प्रमाण फिरसे किया जाय तो पांच अतीचार होजाते हैं। यहांतक पांच अणुव्रतोंके अतीचार हुए। अब आगे सात शीलोंके तथा सल्लेखनाव्रतके अतीचार लिखते हैं।

---

१ दीक्षितातिबालतैर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेन्न, कामतीव्राभिनिवेशग्रहणादिमदे। दीक्षितादिषु परिहर्तव्येषु वृत्ति कामतीव्राभिनिवेशाद्भवति। उक्तोत्र दोषो राजभयलोकापवादादिः। (इतिवार्तिका०) अर्थात्, दीक्षितादिकोंमें प्रवृत्ति होना कामतीव्राभिनिवेशमें गर्भित करना चाहिये। इस से यह सिद्ध हुआ कि इत्वरिकागमन और दीक्षितादिकोंमें प्रवृत्ति होना—ये दोनो जुदे जुदे कर्म हैं और उक्त प्रवृत्ति तथा गमनशब्दके अर्थ संभोग करना भी संभव हैं। इनमें स्वकीयापना कथंचित् संभव है, क्योंकि, ये किसीकी नियोगिनी नही होती। इसीलिये इनके साथ प्रवृत्ति या संभोग करनेसे अतीचार दोष लगता है। व्रतभंग या अनाचारका दोष तब लगता है जब कि पति जीवित रहते हुए उस पतिकी नियोगिनी स्त्रीके साथ संभोग किया जाय। अतीचारोंसे भी व्रत मलिन होता है। और मलिन व्रत भवसमुद्रका निस्तारक नहीं होसकता।

२ हिरण्यं = रूप्यादिव्यवहारतन्त्रम्। ३ सुवर्णं = प्रतीतम्। ४ क्षेत्रं = सस्याधिकरणम्। वास्तु अगारम्। ५ धन गवादि, धान्यं = व्रीह्यादि। ६ कुप्यं = क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि। ७ तीव्रलोभाभिनिवेशादतिरेका प्रमाणातिक्रमाः। [इति वार्तिका०]

८ धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोधिकेषु निस्पृहता। परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि॥ ६१॥

धनधान्यादि परिग्रहोंका प्रमाण करके छोडे हुए अधिक विषयोंसे निस्पृह रहना सो परिग्रहप्रमाण अणुव्रत कहाता है। इसीको इच्छापरिमाण भी कहते हैं। समन्तभद्रस्वामीने अपने रत्नकरण्डनामक उपासकाध्ययनमें परिग्रहत्यागका अणुस्वरूप जिस प्रकार लिखा है व्रतोंका अणुस्वरूप उतना स्पष्ट इस ग्रन्थमे नहीं लिखा है। इसके अतीचार भी रत्नकरण्डकमे यहासे दूसरी भांत ही लिखे हैं।

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि। परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच कथ्यन्ते॥ ६२॥

अर्थ-(१) आवश्यकतासे अधिक वाहन रखना, (२) अतिसंग्रह करना, (३) संपत्ति देखकर विस्मय मानना, [४] संपत्तिमें लुब्धता रखना, [५] अधिक बोझ लादना- ये पांच परिग्रहप्रमाण व्रतके अतीचार हैं। ऊपरके अतीचार और इन अतीचारोंमे अंतर है ऊपर तो परिग्रहोंके प्रमाणकी मर्यादा नढालेनेको अतीचार कहा है और यहां परिग्रहोंमे आसक्ति रखनेको अतीचार कहा है।

[1]दिग्विरतिवृतके अतीचार—

तिर्यग्व्यतिक्रमस्तद्वदध ऊर्ध्वव्यतिक्रमौ। तथा स्मृत्यन्तराधानं क्षेत्रवृद्धिश्च पंच ते ॥ ९१ ॥

अर्थ—दशों दिशाओंमें गमनागमनकी मर्यादा निश्चित करनेका नाम दिग्विरतिव्रत है। दश दिशाओंके तीन स्थूल भेद होते हैं नीचाई, ऊंचाई और इधर उधर तिरछापन। इन तीनो सीमाओंका उल्लंघन करनेसे तीन अतीचार होजाते हैं (१) नीचेकी तर्फ गमनागमनकी जहां तक सीमाकी गई हो वहांसे अधिक नीचे चले जाना सो अधोऽतिक्रम है। (२) ऊपरकी सीमा उलंघनेसे ऊर्ध्वातिक्रम होता है। (३) पूर्वादि दिशाओंकी सीमा उलंघनेसे तिर्यग्व्यतिक्रम कहा जाता है।

ऊपरके तीनो व्यतिक्रम तव कहाते हैं जव कि किसी एक दो समय ऐसा भूलसे हो जाय या तीव्र कषायवश हो जाय परंतु प्रमाण सदाके लिये पूर्ववत् कायम रक्खा जाय। [४] यदि सदाके लिये प्रमाण बढालिये जांय तो उसे क्षेत्रवृद्धि चौथा अतिचार कहते हैं। (५) इस विषयमें पांचवा एक अतीचार यह है कि सीमाओंका स्मरण ठीक ठीक न रखना। दिग्विरतिव्रतके सर्व पांच अतीचार हुए। इन दोषोंके रहने पर भी उक्त व्रतका पूर्ण भंग नहीं हो पाता और प्रथम तीन दोषोंका काल भी थोड़ासा रहता है इसलिये इन्हें अनाचार न कहकर अतीचार ही कह सकते हैं।

स्मरण ठीक ठीक न रखने पर भी व्रती मनुष्य अपने उक्त वृतको छोड़ नहीं देता किंतु डिगमगाता हुआ औरसे और स्मरण करलेता है। इसीलिये स्मृत्यन्तराधान नामके दोषको भी अतिचार ही कहते हैं। तिर्यग्व्यतिक्रम गुफादि टेडी मेडी जगहोंमें घुसनेसे होना अधिक संभव है। परंतु सीधा इधर उधर चलने पर भी यदि चलते २ भूल जाय और मर्यादासे आगे चला जाय तो भी तिर्यग्व्यतिक्रम हो जाता है।

देशविरतिवृत का अतीचार—

अस्मिन्नानयनं देशे शब्दरूपानुपातनम्। प्रेष्यप्रयोजनं क्षेपः पुद्गलानां च पंच ते ॥९२॥

१ 'विलप्रवेशादेस्तिर्यगतीचारः' अर्थात्, बिलप्रवेशादि करनेसे तिर्यगतिक्रम होता है ऐसा राजवार्तिककार लिखते हैं। परतु इसका अर्थ कुछलोग ऐसा करते हैं कि ऊपर नीचे तथा पूर्वादि दिशाओमें सीधा न जाकर तिरछा चलना सो तिर्यग्व्यतिक्रम है परतु तिर्यग् शब्दका यह अर्थ लेना भूल है। जैसे तिर्यक सामान्यका अर्थ तिरछासामान्य ऐसा नहीं होता किन्तु इधर उधर ऐसा होता है वैसे ही यहा भी तिर्यक शब्दका अर्थ इधर उधर ऐसा लेना ठीक है। नहीं तो पूर्वादि दिशाओंके उल्लंघनको एक जुदा अतीचार कहना पडेगा। अत एव सदासुखदासजीने अपनी अर्थप्रकाशिकामें जो अर्थ लिखा है वह ठीक नहीं है।

अर्थ—देशावकाशिक या देशविरतिव्रतके चारो तर्फसे गमनका क्षेत्र आकुंचित करके मर्यादित स्थानमें बैठे हुए व्रती को यदि बाहिरकी चीजोंसे काम पडै तो भी वह बाहिरसे उन चीजोंको न मगावै और न बाहिरसे दूसरा ही किसी प्रकारका संबंध रक्खै। तभी व्रत निर्मल रह सकता है। क्योंकि, बाहिरकी चीजोंसे पूर्ण ममत्व छूटनेके लिये ही दिग्वि-रति तथा देशविरति व्रत धारण किये जाते हैं।

देशमर्यादा कर चुकने पर स्वयं उस बाहिरी देशमें जानेसे व्रतभंग होगा ऐसा समझकर यदि अपना प्रयोजन स्वयं बाहिर न जाकर भी दूसरे किसी प्रकारसे सिद्ध करले तो भी शीलमें दोष लगता ही है, क्योंकि ऐसा करनेसे विषयोंसे पराङ्मुखता पूर्ण नहीं रह सकती है। जिन दूसरे प्रकारोंसे प्रयोजन साधनेवालेको दोष लगता है वे प्रकार पांच हैं। [१] किसी दूसरे मनुष्यको भेजकर चीज मगा लेना, सो आनयन[1] है। [२] काम करनेवाले सेवकके सामने कुछ कहना तो नहीं परंतु खांस, मठार देना सो शब्दानुपात[2] है। [३] अपना शरीर या हात, पांव, मुख आदि दिखादेना सो रूपानुपात[3] है। ४ सेवकको काम करनेके लिये भेजना सो प्रेष्यप्रयोग[4] है। ५ सेवकोंके समझानेकी इच्छासे माटीका डेला पत्थरका टुकडा फेंकना सो पुद्गलक्षेप[5] है। ऐसे ये पांच अतीचार देशविरतिव्रतके हैं। इन क्रियाओंके करनेपर भी स्वयं मर्यादाका अतिक्रम नहीं होता तो भी दूसरोंसे अतिक्रम कराना भी अतिक्रम ही है। अर्थात्, यहां कारितपनेके संबंधसे अतीचार दोष आना संभव है।

अनर्थदण्ड विरतिव्रतके अतीचार—

असमीक्ष्याधिकरणं[6] भोगानर्थक्यमेव च। तथा कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि च पंच ते ॥९३॥

अर्थ—(१) आवश्यकताकी तर्फ ध्यान नहीं देना किंतु योंही कुछ कार्य करते जाना और वह भी खूब करना सो अ-समीक्ष्याधिकरण[7] है। जैसे, किसीकी बुराईका विचार करना, परपीड़ाकारी निष्प्रयोजन कुछ भी बोलना, चलते चलते छोटे छोटे वनस्पति तोडते जाना, बैठे बैठे तिनके तोडते रहना इत्यादि। (२) भोगोपभोगोंकी जितनी सामग्री चाहिये

१ अन्यमानयेत्यज्ञापनमानयन। २ अभ्युत्कासिकादिकरण शब्दानुपातः। ३ स्वविग्रहप्ररूपण रूपानुपातः। ४ एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः। ५ लोष्ठादिनिपात पुद्गलक्षेप। स्वयमनाक्रामन्नन्येनाक्रमयतीत्यतिक्रम। यदि स्वयमतिक्रमेत व्रतलोप एवास्य स्यात्। (इति वार्तिका०)

६ 'असमीक्ष्य' शब्दका 'अधिकरण' शब्दके साथ साधारण कोई समास नहीं बनसकता और एक पद बनाना अवश्य है। इसलिये सुप्सुपा' या 'मयूरव्यंसकादयश्च इस विशेष वचनसे समासका निर्वाह होगा एसा राजवार्तिककारने लिखा है ७। असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणम्। तत् त्रेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात्।

उससे अधिक सामग्री इकट्ठी करना सो भोगोपभोगानर्थक्य[1] कहाता है। [३] रागवश होकर हंसीके साथ भगड वचन बोलना सो कंदर्प कहाता है [४] मुखसे तो हसी करते हुए भगड वचन बोलना और शरीरसे कुचेष्टा करके दिखाना सो कौत्कुच्य[3] है। (५] धीट होकर खूब बोलना और कुछ भी बोलना सो मौखर्य है। ये पांच अनर्थ दण्ड त्याग व्रतके अतीचार हैं।

यदि कुछ भी प्रयोजन सिद्ध करना न हो और पापारम्भका बढानेवाला हो ही तो उस कार्यको अनर्थदण्ड ही कहेंगे परन्तु रागद्वेषकी पुष्टि और मनका कुछ संतोष ऊपरकी पांचो बातोंसे होना सम्भव है और इस पर भी ये पांचो कार्य अधिक हानि नहीं करते इसलिये इन्हे अतीचारोंमें कहा है। देखो, जिस प्रकार पापोपदेशकी प्रवृत्ति करनेसे जीव पाप भागी बनता है अथवा हिंसाके साधनोंकी सहायता करनेसे हिंसापापका भागी होसकता है उतना कंदर्पादि वचन बोलनेसे अथवा असमीक्ष्यकारी बननेसे तीव्र पापभागी नहीं होसकता है।

शंका—भोगोपभोगानर्थक्य जो अनर्थदंडत्यागका अतीचार लिखा है वह अनर्थदंडत्यागका नहीं होसकता किंतु भोगोपभोग परिमाणका अतीचार होसकता है। अथवा प्रयोजन मंद समझकर अनर्थदंडत्यागका भी अतीचार कहसकते हैं और भोगोंकी गृद्धताके कारण भोगोपभोगका भी अतीचार कह सकते हैं। परंतु ऐसी विवक्षा हो तो दो वार कहना पडेगा। दो वार कहनेसे पुनरुक्ति दोष प्राप्त होगा ? और एकवार कहें तो कहांपर कहें ?

उत्तर—पुनरुक्ति दोष यों नहीं है कि अतीचार एक एक व्रतके अनेकों होसकते हैं तो भी सर्व अतीचार कहे नहीं जासकते। इसीलिये प्रत्येक व्रतके मुख्य मुख्य पांच पांच अतीचार लिखेगये हैं। शेष सर्व ऊपरसे समझलेने चाहिये। भोगानर्थक्य अतीचार मुख्यतासे तो अनर्थदंडत्यागका है और अमुख्यतासे भोगोपभोगपरिमाणका भी होसकता है। इसी लिये इसे एक अनर्थदंडव्रतके अतीचारोंमें लिखदिया है और भोगोपभोगपरिमाणके मुख्य अतीचार दूसरे पांच हैं जो कि आगे लिखेंगे।

१ यावतार्थेनोपभोगपरिभोगो सोर्थः। ततोन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम्। २ रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः। ३ रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमशिष्टवचनमित्येतदुभयं परत्र दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यम्। ४ अशालीनतया यत्किंचनानर्थकं बहुप्रलपनं मौखर्यम्।

५ " उपभोगपरिभोगव्रतेन्तर्भावात् पौनरुक्त्यप्रसंग इति चेन्न, तदर्थानवधारणात्। इच्छावशादुपभोगपरिभोगपरिमाणावग्रह सावद्यप्रत्याख्यान

त्रीणि दुष्प्रणिधानानि वाङ्मनःकायकर्मणाम्। अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पंच ते ॥१४॥

अर्थ—वचन, मन व कायको ठीक सावधान न रखना ये तीन अतीचार हुए, १ वचन दुष्प्रणिधान, २ मनोदुष्प्रणिधान, ३ कायदुष्प्रणिधान। ४ सामायिकके करनेमें आदर न रखना सो अनादर कहता है। ५ सामायिक कब करना है इस बातका स्मरण नहीं रखना सो स्मरणानुपस्थान कहाता है। ये पांच सामायिकके अतीचार हैं।

मन वचन तथा शरीरको सावधान रखनेपर भी सामायिकका भंग तो नहीं होता परन्तु जितनी वीतराग अवस्था तथा सकल पापोंका अभाव और अप्रमादीपना प्राप्त होनेके लिये सामायिक व्रत स्वीकार किया जाता है उतना फल उक्त असावधानी रखनेपर प्राप्त नहीं होसकता है। इसीलिये ये तीनो दोष अतीचारोंमें गर्भित किये गये हैं। अनादर होनेसे भी यही बात होती है इसलिये वह भी अतीचारोंमें माना गया है। सामायिककी विधि पूर्ण नहीं होपाती यह हानि तो पांचो ही अतिचारोंसे होना सम्भव है। सामायिकमें यदि अतीचार होसकते हैं तो इसी प्रकारके होसकते हैं। यदि मनुष्य निरन्तर अथवा प्रतिदिन अपने नियत समयपर ध्यान करना चाहें तो वह कुछ दिन वाद प्रायः उस ध्यानके करनेमें प्रेम युक्त नहीं रहसकेगा और न उत्साही ही रहसकेगा और इसीलिये संभव है कि कभी कभी वह अपने नियत समयपर ध्यानको भूल भी जाया करै, अथवा मन, वचन तथा शरीरको ठीक ठीक न लगावै। परन्तु व्रतमें ये वातें होनेसे फल-प्राप्ति यथावत नहीं होगी यह समझकर आचार्य इसमें मन्दोद्यमी न होने देनेकेलिये ऊपरके पांच अतीचार-दोष दिखाते हैं।

मन स्थिर न रखना किन्तु आत्मतत्त्वादिका शुभ चिंतवन जो करना चाहिये वह न करके मनको विषयोंमें लगाते रहना सो मनोदुष्प्रणिधान है। पाठ ठीक ठीक न वोलना—जल्दी पूरा करना, अशुद्ध वोलना, कुछ पाठ छोड देना सो वचन दुष्प्रणिधान है। शरीरको स्थिर—निश्चल न रखना, आसनच्युत होना, इधर उधर सरक जाना सो सब कायदुष्प्रणिधान है।

चेति तदुक्तम्। रह पुनः कल्प्यस्यैव आधिक्यमित्यतिक्रम इत्युच्यते। नन्वेवमपि तद्व्रतातीचारान्तर्भावादिद वचनमनर्थकम्। नानर्थक, सचित्तादिति-क्रमवचनात्।" यह जो राजवार्तिकमें लिखा है उसका भी प्राय ऊपरकासा ही अभिप्राय है। १ दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दुष्प्रणिधानम्।

मनका दुष्प्रणिधान और स्मरणानुपस्थान ये दोनो अतीचार एकसे जान पडेंगे परन्तु सूक्ष्मभेद अवश्य है। यह कि, प्रकरणके विषयमेंसे कभी हटजाना और कभी उसमें लगजाना—ऐसी व्यग्रताको स्मरणानुपस्थान[1] कहते हैं और मनोदुष्प्रणिधान यह है कि प्रकृत विषय छोडदेना दूसरा कुछ भी चिंतवन नहीं करना। यदि करने लगे तो उस प्रकृत विषयका ही करेगा, परन्तु प्रकृत विषयके सम्बन्धसे क्रोधादि कषाय उत्पन्न होजांयगे। यह दोनोका अन्तर है।

प्रोषधोपवासके अतीचार—

संस्तरोत्सर्जनादानमसंदृष्टाप्रमार्जितम्। अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पंच ते ॥ ९५ ॥

अर्थ—(१) न देखकर तथा न झाडपोछ कर विछोना काममें लाना सो एक अतीचार है। इसका नाम अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रम[2] है। (२) अर्हंत—आचार्यकी पूजा सामग्रीको उठाते समय न देखना तथा झाडपोंछ न करना यह दूसरा एक अतीचार है। इसका नाम अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। अपने भोगोपभोगकी सामग्री जो वस्त्रपात्रादि अथवा कपडे लत्ते आदि हों उन्हें भी उठाते समय देख भाल न करनेसे और झाडपोछ न करलेनेसे यही अतीचार लगता है। (३) हगना मूतना इत्यादि कामोंको न देख भाल कर ही करना सो उत्सर्ग या उत्सर्जन नाम अतीचार है। ४) सामायिकादि आवश्यक कार्योंमें अनुत्साही होजाना सो अनादर नाम अतीचार है (५) धर्मकार्योंमें चित्त स्थिर न रखना=मनको व्यग्र करदेना सो स्मृत्यनुपस्थान नाम अतीचार है। सब पांच अतीचार हैं। ये प्रोषधोपवास करनेवालेको लगते हैं।

क्षुधासे पीडित होनेपर उत्साह अवश्य ही घटना संभव है। उत्साह जब घटेगा तो साथ ही किसी चीजके धरने उठानेमें सावधानी कैसे रहसकती है? सावधानी न रहनेके ही ये लक्षण हैं कि विस्तर न देखभाल कर ही इधर उधर रखदेना तथा किसी अपने उपयोगकी चीजको या धर्मोपकरणकी चीजको धरते उठाते सावधानी या जीववाधा वचानेकी तर्फ लक्ष्य न रखना। देखकर तथा झाडपोंछकर चीज उठाने धरनेसे सावधानी रहती है, जीवदया पलती है मलमूत्रके क्षेपनेमें भी उक्त असावधानी उपोषितके हाथसे होना अवश्य संभव है।

---

१ अनैकाग्र्यस्मृत्यनुपस्थानं। मनोदुष्प्रणिधानं तदिति चेन्न, तत्रान्याचिन्तनात्। तत्र हि अन्यत् किंचिदचिन्तयंश्चिन्तयतो वा विषये क्रोधाद्यावेश औदासीन्येन वाऽवस्थानं मनसः। इति वा०

२ ये सर्व नाम अर्थके अनुसार रक्खे गये हैं और नामोंका अर्थ वही है जो कि लक्षणोंमे लिखागया है।

सचित्तस्तेन संबन्धस्तेन संमिश्रितस्तथा । दुष्पक्वोऽभिषवश्चैवमाहाराः पंच पंच ते ॥ १६ ॥

अर्थ—भोगोपभोगपरिमाणनाम वृतका श्रीसमन्तभद्रस्वामीने ऐसा अर्थ किया है कि इंद्रियविषयोंका परिमाण या मर्यादा करना सो भोगोपभोगपरिमाणवृत है। आवश्यक चीजोंमेंसे भी कम करते रहना यह भी इसी वृतका स्वरूप है।

भोगोपभोग ये दो बाते हैं १ भोग व २ उपभोग। जो चीज भोगकर छोड़नेयोग्य होजाय वह भोग कहाता है। वार वार जो चीज भोगी जासकती हो वह उपभोग है। भोग, जैसे भोजन। उपभोग, जैसे कपड़े।

जब कि भोगोपभोगपरिमाण वृतमें एक वार तथा अनेक वार भोगने योग्य—दोनो ही प्रकारकी चीजे छोड़ी जाती हैं तो दोनोही प्रकारकी चीजोंके त्यागमें जो मलिनता प्राप्त होसकती है उसे अतीचार कहना चाहिये। इसीलिये श्रीसमन्तभद्रस्वामी इस वृतके अतीचार यों गिनाते हैं कि १ विषयोंसे उपेक्षा होना २ विषयोंका वार वार स्मरणकरना ३ विषयोंमें अत्यंत लोलुपी वने रहना, ४ विषय संग्रह की तृष्णा अधिक रखना ५ विषयोंका वार वार अनुभव—चिंतवन करना ये पाच अतीचार उक्त वृतके हैं।

यह वात दूसरे ग्रंथकारकी हुई। परंतु श्रीतत्त्वार्थसूत्रके कर्ता तथा तदनुसार लिखनेवाले श्रीअमृतचन्द्रसूरि अपने उपयुक्त तत्त्वार्थसारमें जो अतीचार लिखरहे हैं वे भोगकी मुख्यतासे अथवा भोजनकी अपेक्षासे। इसका कारण यह है कि भोजनकी चीजे कम तथा मर्यादित होजानेसे उक्त वृतमें विशुद्धि अधिक प्राप्त होसकती है। दूसरा कारण यह भी है कि उपभोगकी मर्यादा प्रथम ही समाप्तसी होजाती है परंतु भोगका संबंध ग्यारहवीं प्रतिमातक रहता है। तो फिर जो ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक हो वह उपभोगके त्यागमें खुलासा गड़वड करे तो क्या करै। इसलिये खानेकी चीजोंमें जो गडवड

१ अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्। अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥ ८२॥ २ आवश्यक चीजोंमेंसे जो घटना है वह यमरूप भी होसकता है ओर नियमरूप भी होसकता है। यमनियमका लक्षणः—नियमो यमश्च विहितौ भोगोपभोगसंहारात्। नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ८७॥ ३ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनप्रभृति पाचेन्द्रियो विषयः ॥ ८३॥ ४ विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ। भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥ ९०॥

होना संभव है वह यहां लिखी है श्रावक पांचवीं प्रतिमाके समय सचित्त वस्तुओंके भक्षणका त्याग करदेता है और गरिष्ठ तथा स्वादिष्ट भोजनसे तो सदा ही वह उपेक्षित रहता है। इसलिये सचित्त गरिष्ठ, व स्वादिष्ट भोजनके खानेसे अतीचार दोष लगना संभव है। देखो—

(१) सचित्त[1] वस्तुका खाना, (२) सचित्तसे संबंध[2] रखनेवाले भोजनका खाना, (३) सचित्तसे मिला[3] हुआ भोजन करना, (४) अभिषव भोजन करना, (५) दुष्पक्व भोजन करना ये पांच भोगोपभोगपरिमाणके अतीचार हैं।[4]

चित्त नाम ज्ञानका है। सचित्तका अर्थ ज्ञानवान् चेतन प्राणी होता है। अर्थात्, जो वस्तुएं देखनेमें तो पुद्गल जड रूप ही दीखती हों परंतु जीवका संबंध उनमें अवश्य हो उन्हे सचित्त वस्तु कहते हैं। पानी व यावत् वनस्पतियोंकेलिये यह शब्द काममें आता है। यद्यपि त्रस जीवका शरीर भी सचित्त कहाता है परंतु उसके घातका त्याग प्रथम श्रेणीका श्रावक ही करचुकता है इसलिये उस त्रस सचित्तका अर्थ लेना यहां आवश्यक नहीं है। हां, पानी व वनस्पतिका भोजनमें ग्रहण होना संभव है और वह यदि सचित्त हो तो वह भी त्याज्य है=हेय है। यही अभिप्राय दिखानेकेलिये सचित्तको अतीचारोंमें गर्भित किया है।

सचित्तसे संबंध रखनेवाले पदार्थको खानेसे अतीचार दोष लगेगा परंतु सचित्तसे मिले हुए भोजनके करनेसे और केवल सचित्तभोजन करनेसे तो अतीचार न लग कर व्रतभग होना चाहिये ? यह शंका होना संभव है परंतु अज्ञानवश या कदाचित् ऐसा होनेसे व्रतभंग नहीं होसकता। जैसे कि एक कच्चा फल है और उसे पका समझकर खालिया हो तो व्रतभंग नहीं होगा।

अभिषवका[5] अर्थ द्रवपदार्थ और गरिष्ठ पदार्थ होता है। सौवीरादिक जो कि वहुत दिनोंसे रक्खी हुई पतली औषधि आदि पतली चीजें हों उनको द्रवशब्दसे लेते हैं; रवड़ी, दही, वीर्यवर्धक औषधि या लड्डू इत्यादि चीजोंको गरिष्ठ कहते हैं। ऐसी चीजोंके सेवनसे अभिषवाहार नाम दोष लगता है।

---

१ चित्तं विज्ञानम्। तेन सह वर्तत इति सचित्तः। २ तदुपश्लिष्टः संबन्धः। संबध्यते इति संबंधः ३ तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः। ४ कथं पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः ? प्रमादसंमोहाभ्याम्। क्षुत्पिपासातुरत्वात्त्वरमाणस्य अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति। (इति वार्तिकालंकारे) ५ द्रवो वृष्य वाभिषव। द्रव सौवीरादिक।

ठीक न पके हुएको दुष्पक्व कहते हैं। जैसे, चावल ऊपरसे पक गये हों पर भीतरका कन कच्चा रहा हो तो वह दुष्पक्व कहावेगा। इसीप्रकार एक कच्ची वनस्पतिको रांधकर पकाना हो और उसे थोड़ासा रंधने पर ही यदि उतार लिया जाय तो उसे दुष्पक्व कहेंगे। ऐसी चीजोंके खानेसे सचित्तभक्षणका और प्रमाद बढनेका दोष लगता है। ऐसा भोजन करनेसे वातादि रोगोंका प्रकोप भी कभी २ हो जाता है जिससे कि अकालमरण और धर्मविघात हो जाता है।

समन्तभद्रस्वामीने कंदमूलादिक चीजोंका त्याग भी भोगोपभोगपरिमाणके अन्तर्गत रक्खा है। क्योंकि जो श्रावक भोगोपभोगकी मर्यादा कर रहा है उसे चाहिए कि जितना जंतुविघात कम होकर उदर निर्वाह हो सकता हो उतना जंतुविघात कम करै। कंदमूलादिके भक्षणका फल तो उतना ही है जितना कि प्रासुक वस्तु खानेका, परंतु जंतुविघात अधिक होता है इसलिये कंदमूलादिका त्याग अवश्य होना चाहिये। ऐसा करनेसे इन्द्रियोंकी लोलुपता भी कम हो जाती है। यद्यपि पकने पर कंदमूलादिक वनस्पति हैं इसलिये प्रासुक हैं परंतु जंतुविघातका पाप तो पकानेकी क्रियामें लगता ही है।

समंतभद्रस्वामीने मद्य, मांस व मधुका त्याग अष्ट मूल गुणोंमें भी कराया है और भोगोपभोगपरिमाण व्रतके समयमें भी कराया है। अष्ट मूल गुण पंचमगुणस्थानके प्रारम्भसे भी पहिले होजाते हैं और भोगोपभोगपरिमाणका होना पंचम गुणस्थानके प्रारंभ होजाने पर संभव है इसलिये मद्य, मांस व मधुका त्याग कब करना चाहिये ?

इसका उत्तर यों होसकता है कि—मद्यादिकोंका त्याग तो मूल गुणोंके समयमें ही होजाना चाहिये। परन्तु रात्रिमें बना हुआ भोजन दिनमें खानेवालेको जो मांसभक्षणका सूक्ष्म दोष प्राप्त होसकता है, आसव औषधियोंके खानेसे जो

१ असम्यक् पक्वो दुष्पक्वः। (इतिवार्ति०) २ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ सुक्कं तत्तं पक्कं अम्मिललवणेन मिस्सियं दव्वम्। जं जंतेण य छिण्णं तं फासुयं भणियम् ॥ इति कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीकायां गोम्मटसारटीकायां समयसारटीकायां चैतदभिप्रायं उक्तं। ३ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकं। अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ६३ ॥

४ त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये। मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥ ८४ ॥

५ 'द्रवः सौवीरादिकोऽभिषवः' अर्थात् अभिषवनाम अतीचारका अर्थ लिखते समय राजवार्तिकमें सौवीरादि द्रव वस्तुओंको अभिषव बताया है। सौवीरादिक आसवके भेद हैं और आसवका अर्थ मद्य है। परन्तु सौवीरादिक वे आसव होते हैं कि जिनको औषधियोंमें गिना जाता है। उनके सेवनको मूल ग्रन्थकार अतीचार कहते हैं। और समंतभद्रस्वामी भोगोपभोगपरिमाणमें ही इनका संग्रह कराकर पांच अतीचार दूसरे ही गिनाते हैं—यह बात लिखी जाचुकी है। यह बात भोगोपभोगपरिमाण सम्बन्धी मद्य त्यागकी हुई। मद्यके समान नवनीत, नीमका फूल, केवडाकी वाल इत्यादि चीजें भी त्रसघातादि दोष छोडनेकेलिये छोडनी चाहिये। समंतभद्र स्वामीका यह उपदेश है।

मद्य पानका सूक्ष्म दोष प्राप्त होसकता है, और लेपनादि औषधियोंमें मधुको काममें लानेसे जो मधुभक्षणका सूक्ष्म दोष प्राप्त होसकता है वह दोष भोगोपभोगपरिमाण वृतवाले मनुष्यको अवश्य टालना चाहिये । इस अभिप्रायको दिखानेके लिये भोगोपभोगपरिमाणमें मद्यादि त्यागका बर्णन है । फलितार्थ यह हुआ कि मूल गुणोंमें स्थूलत्याग होता है और भोगोपभोगपरिमाणमें सातीचार सूक्ष्मका भी त्याग हो जाता है।

राजवार्तिकमें भी मद्यमांसादिका त्याग भोगोपभोगपरिमाणके समय लिखा है।

पेटमें जाकर जो भोजन शीघ्र न पच सकता हो उसे कुछ लोग दुष्पक्क कहते हैं परन्तु यह अर्थ दुष्पक्क शब्दका नहीं हैं किंतु अभिषवनाम जो अतीचार लिखागया हैं उसका यह अर्थ होता है। यदि दुष्पक्क शब्दका ऊपर वाला अर्थ मानना इष्ट होता तो शब्द दुष्पक्क नहीं बन सकता था किंतु दुष्पच शब्द होजाता। दुष्पच शब्दका ही वैसा अर्थ होता है।

अतिथिसंविभागके अतीचार—

कालव्यतिक्रमोन्यस्य व्यपदेशोथ मत्सरः । सचित्ते स्थापनं तेन पिधानं चेति पञ्च ते ॥९७॥

अर्थ—अतिथिका अर्थ साधु या तपस्वी होता है। साधुओंको भोजन देना सो अतिथिसंविभाग कहाता है। यह भी गृहस्थियोका सातशीलोंमें अंतिम एक शीलव्रत है भोजन शुद्ध देना और समय पर देना, भक्तिपूर्वक देना यही इस वृत की शुद्धि है शुद्ध भक्तिपूर्वक तथा यथा समय पर न देना यही इस व्रतकी मलिनता है। इस मलिनताको पांच भांतिका गिनाया है, १ कालव्यतिक्रम, २ अन्यव्यपदेश, ३ मत्सरता, ४ सचित्तनिक्षेप, ५ सचित्तपिधान।

१ साधुओंका भोजनार्थ बारह वजे तक दिनमें भ्रमण होना संभव है । अथवा जब कभी साधु भोजनकी तलासमें आते हों तभी उन्हे भोजन देना चाहिये । परंतु भोजनके लिये उन्हें बुलाकर वैठालकर दूसरे कामोंमें लगजाना और बहुत समय बिताकर भोजन देना यह कालातिक्रम दोष है । कालव्यतिक्रम व कालातिक्रमका एकही अर्थ है २ दूसरे कामोंकी व्यग्रता रहनेसे साधुओंको भोजन देनेमें स्वयं न लगना किंतु किसी दूसरेके हाथसे दिला देना या देनेको कह

१ भोगसंख्यानं पंचविध त्रसघातप्रमादबहुबधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । इसके पाचो भेदोंका खुलासा रत्नकरण्डमे लिखा है।

२ वृष्यो वाऽभिषव । ३ ननु दुष्पच इति प्राप्नोतीति तन्न, किं कारणम् ? कृच्छ्रार्थविवक्षाभावात् ॥ [इति वार्ति०]

४ अनगाराणामयोग्यकाले भोजन कालातिक्रम । ५ अन्यदातृदेयार्पण परव्यपदेश । अन्यत्र दातारः सन्ति दीयमानोप्ययमन्यस्येति वा अर्पण परव्यपदेश (इति वार्तिक०)

देना सो परव्यपदेश दोष है। ३ कोई दूसरा गृहस्थ साधुओंको भोजन दे दे या देता हो तो उसके साथ ईर्ष्या करना अथवा अनादरके साथ भोजन देना सो मत्सर दोष कहाता है। ४ सचित्तनिक्षेप या सचित्तपिधान उस दोषका नाम है कि जो किसी सचित्त चीज पर भोजनकी सामग्री रख दी जाय। साधुओंके सचित्त वस्तुओंके खानेका तथा सर्वप्रकार के उपभोगका त्याग होता है क्योंकि साधु सर्वथा हिंसात्यागी होते हैं, और सचित्त वस्तुओंमें एकेन्द्रियजीवका संबंध रहता है जिसका कि उपभोग करनेसे विध्वंस हो जाता है। इसलिये सचित्त किसी पत्तेपर रक्खा हुआ भोजन देना भी दोष है। और यह दोष दातारको लगता है, क्योंकि, देनेवालेका यह काम है कि भोजनको शुद्ध रक्खै। अशुद्ध समझते हुए ले लेना यह दोष साधुका होगा परंतु उसके दिखानेका प्रकरण नहीं है। ५ भोजनको सचित्त पत्तेसे ढककर रखना और वह भोजन साधुको देना सो सचित्तपिधान नाम दोष है। सचित्त वस्तुओंको भोजनमें मिला देना यह भी अतिथि-संविभागका छट्ठा दोष हो सकता है और दूसरे भी इसी प्रकारके वहुतसे दोष संभव हैं परंतु यह हम लिख चुके हैं कि पांच पांच मुख्य दोष प्रत्येक व्रतके विषयमें दिखा दिये गये हैं और शेष दोष सभी जगह ऊपरसे समझ लेने चाहिये इसलिए पांचके सिवा यदि और दोष भी हों तो कुछ हानि नहीं है।

श्रीसमतभद्रस्वामी कालातिक्रम दोषको न लिखकर असमरण दोष लिखते हैं। असमरण अर्थात् भूल जाना। भावार्थ एक ही है। किसी दूसरे काममें लगजानेसे योग्य कालका विलंब हो जाना सभव है। स्मरण न रहनेसे भी कालका विलंब ही होगा। अन्यव्यपदेश दोषके स्थानमें अनादर दोष लिखते हैं। मत्सरताका लक्षण राजवार्तिकमें अनादर किया गया है परंतु मत्सरता दोष एक जुदा ही समंतभद्रस्वामीने माना है। इसलिये यह समझना चाहिये कि अनादर होने पर व्यपदेश कार्य है और अनादर कारण है तत्त्वार्थसूत्र तथा इस तत्त्वार्थसारमें परव्यपदेश ही गिनाया गया है, और समंतभद्रस्वामीने कारणकी मुख्यतासे अनादरको गिनाया है। अथवा किसी अपेक्षासे भी मानिये परंतु कालातिक्रम तथा परव्यपदेशके स्थानमें अनादर व असमरण ये दो नाम समंतभद्रस्वामीने लिखे हैं।

सल्लेखनाव्रतके अतीचार—

पंचत्वजीविताशंसे तथा मित्रानुरंजनम्। सुखानुबन्धनं चैव निदानं चेति पंच ते ॥९८॥

१ सचित्त = सजीव हरे पत्ते फल, फूल इत्यादि। २ हरितपिधाननिधाने ह्यनादराऽस्मरणमत्सरत्वानि। वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥१२॥
३ प्रयच्छतोऽप्यादराभावो मात्सर्यम्।

अर्थ—मरनेमें विलंब समझकर शीघ्र मरनेकी इच्छा करना सो मरणाशंसा नाम सल्लेखनाका अतीचार है। २ शीघ्र मरण होता हुआ जानकर कुछ और भी अधिक जीनेकी आकांक्षा करना सो जीविताशंसा नाम अतीचार है ३ मरते हुए भी अपने मित्रोंके साथका अनुराग न छूटना सो मित्रानुराग नाम अतीचार है। वाल्यावस्थामें जो मित्रोंके साथ क्रीडा की थी, धूलमें लोटते थे वह सब याद आनेसे मित्रानुराग उत्पन्न होता है। खानेके, पीनेके, सोनेके क्रीडा करनेके निमित्तसे जो सुखका अनुभव गृहस्थाश्रममें किया था उसका वार वार चिंतवन करना और उस सुखको चाहना सो सुखानुबंधनाम अतीचार है। ५ निदान नाम पांचवां अतीचार है। विषयसुखोंकी वढवारी होनेकी अभिलाषा उत्पन्न होने पर जो विषय भोगोंमें मनका आसक्त होजाना सो निदान है।

सल्लेखनाके विषयमें लिख चुके हैं कि यह महाव्रती अव्रती अणुव्रती सभीको हो सकती है जो पहिलेसे महाव्रती या अणुव्रती हैं उनको सल्लेखनामें निदानादि अतीचार प्राय संभव ही नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, निदान यह एक शल्य है और शल्यसहित जीव व्रती नहीं हो सकता है। इसलिए जो निदान शल्य उत्पन्न होगा वह व्रतोंको ही मलिन कर देगा। शल्यका त्याग व्रतमात्रके लिये उपयोगी है इसलिए यदि इसे अतीचार कहना था तो सभी व्रतोंका अतीचार वताते। परंतु ऐसा लिखा नहीं है। इसलिये निदानको एक सल्लेखनाका अतीचार वताना यह मतलव जताता है कि सल्लेखनाके समय तो अवश्य ही निदानका त्याग करदेना चाहिए, नहीं तो जन्मभरका प्रयत्न निष्फल हो जायगा।

इसके सिवा जो अव्रती है वह यदि मरण समयमें सल्लेखना धारण करे तो उसकी सल्लेखनामें अहिंसादि पूर्वकथित सर्व व्रत संगृहीत होजाते हैं। क्योंकि, सर्व व्रतोंके अभेदरूपसे सल्लेखना व्रतका स्वरूप प्रगट होता है। इसलिए जब कि व्रतोंकी शुद्धि निदान छोडनेसे होसकती है तो सल्लेखनाकी शुद्धि भी निदानके छोडनेपर ही होगी। यह वतलानेके लिये भी निदानको सल्लेखनाका अतीचार कहा है। शेष रहे जो चार अतीचार वे भी निदानके तुल्य विषयासक्तिके द्योतक हैं इसलिये दोष हैं।

सम्यक्त्व, पांच अणुव्रत, सात शील और सल्लेखनाके पांच पांच अतीचार लिख चुके। अधिक जो अतीचार हो सकते हों उनका विचार ऊपरसे करना चाहिये।

विषयभोगोंकी इच्छापूर्वक त्यागमर्यादाका नाम व्रत है। यह व्रत लक्षण पांचो अणुव्रतोंमें जिस प्रकार संभव है उसी

प्रकार शील तथा सल्लेखनामें भी संभव है। इसलिये शील तथा सल्लेखना भी व्रतसे कोई जुदी चीज नहीं हैं। तो भी शील तथा सल्लेखनाको जुदा गिनाना किसी प्रयोजनकेलिये है। सल्लेखनाका प्रयोजन सल्लेखना वर्णनके समय लिख चुके हैं। शीलोंका प्रयोजन व्रतरक्षा है। व्रतोंकी रक्षाके उपाय अथवा प्रकार दिग्विरति आदि सात शील हैं। इसीलिये 'व्रतों की रक्षा' या 'रक्षाके उपाय' यह शीलोंका लक्षण है।

सातवां शील अतिथि संविभाग[2] है। पहिले लिख चुके हैं कि दानको ही अतिथिसंविभाग कहते हैं। इसलिये दानका स्वरूप लिखते हैं—

परात्मनोरनुग्राही धर्मवृद्धिकरत्वतः। स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नाम गृहिव्रतम् ॥ ९९ ॥

विधिद्रव्यविशेषाभ्यां दातृपात्रविशेषतः। ज्ञेयो दानविशेषस्तु पुण्यास्रवविशेषकृत् ॥ १०० ॥

अर्थ—अपना और दूसरोंका जिससे हित होसके, जिस धर्मकी वृद्धि होसके, ऐसा जो दान वह गृहस्थियोंका एक मुख्य व्रत है। उसीको अतिथिसंविभाग भी कहते हैं। इसका लक्षण यों है कि जो अपने धन[3]का परित्याग स्वपरहितके लिये हो, धर्मवृद्धिका कारण हो वह दान है। विधि, द्रव्य और दाता, पात्रकी विशेषतासे दानका स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारका हो जाता है और इसी कारण उस दानसे जो पुण्यका संचय होता है वह भी नाना भांतका होता है।

श्रीजिनसेनस्वामी दानको चार[4] प्रकारका वताते हैं; १ दया[5]दान, २ पात्र[6]दान, ३ सम[7]दान, ४ अन्वयदान। अनुग्र-

---

१ अभिसंधिपूर्वको नियमो व्रतमिति कृत्वा दिग्विरत्यादीन्यपि व्रतानि भवन्ति। किन्तु 'व्रतपरिरक्षणं शील' इत्यस्य विशेषस्य द्योतनार्थं शीलग्रहणम्। [इति वार्ति०] २ उक्तं शीलव्रतविधानेऽतिथिसंविभाग इति तस्य दानस्य लक्षणमनिर्ज्ञातं तदुच्यतामित्यत आह। (इति वार्ति०) ३ 'स्वशब्दो धनपर्यायवचनः' अर्थात् धन शब्दके अनेक अर्थ होते हैं परन्तु 'धन' अर्थ यहां पर लेना इष्ट है, ऐसा राजवार्तिककार लिखते हैं। आगे लिखेंगे कि अभयदानादि योगियोंमें भी संभव हैं परन्तु यहा गृहस्थका प्रकरण है इसलिये धनका दान होना लिखा है। वसति आदिक धनके विना नहीं वनती इसलिये धन त्यागका अर्थ वसतिदानादि भी होगा।

४ चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयापात्रसमन्वये ॥ ५॥ वां श्लोक, महापु० पर्व ॥३८॥ ५ सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा। त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥ ३६ ॥ ६ महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरस्सरम्। प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥ ३७ ॥ ७ समानायात्मनान्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः। निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥ ३८ ॥ समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते। समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्त्या श्रद्धयान्विता ॥ ३९ ॥ महापु० पर्व ॥ ३८ ॥

हयोग्य दीन प्राणियोंपर कृपाकर जो उनका भय दूर करना सो दयादान है। करुणादान भी इसे कहते हैं। तपोधन साधुओंको जो भक्तिपूर्वक भोजन तथा कमण्डलु, पुस्तक आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं। गृहस्थ श्रावकको जो धनधान्यादि देना, भोजन कराना सो सब समानदान कहाता है। गृहस्थोंके आपसमें व्रत-मंत्र समान होते हैं इसलिये वे परस्पर समान कहाते हैं। समानोंको जो दान हो वही समानदान कहाता है। भावार्थ—विवाहादिके समय भोजन करना, कन्यादान करना--ऐसे दान समानदान कहाते हैं। ये दान परस्पर उन्हींमें होसकते हैं कि जिनकी रीतरिवाज, व्रतसंस्कार तथा मत्रविधान समान हों। जिन जातियोंमें परस्परकी रीतरिवाज तथा वृत-मत्र समान नहीं मानेजाते उनमें पंक्तिभोजन व कन्यादान ये समानदान नहीं होसकते हैं। हां, किसी सम्यग्दृष्टी वृती या अवृती गृहस्थको धर्मबुद्धिसे जो भोजन कराना है वह पात्रदानका एक भेद है, न कि समानदान। पात्रोंके उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन भेद ग्रंथोंमें किये हैं। उनको जो केवल धर्मकी वृद्धिकेलिये भक्तिपूर्वक दान दिया जाता है वह पात्रदान है और जो लोकप्रवृत्तिके अनुसार परस्परमें देना है वह समानदान है। यह समानदान व पात्रदानमें परस्पर भेद है।

अपने[1] वंशको स्थिर रखनेकेलिये जो धन तथा धर्मके साथ अपने समस्त कुटुम्बको पुत्रके अधीन करना सो अन्वयदान है। अन्वयदानको सकलदान भी कहते हैं। इस प्रकार जो दानके चार भेद जिनसेन स्वामीने लिखे है उनके अन्तर्गत सभी दान आजाते हैं।

श्रीसमंतभद्र स्वामी जो दानके चार प्रकार बताते हैं वे पात्रदानके विषयोंकी अपेक्षासे हैं। (१) आहार[2] (२) औषध, (३) उपकरण [४] आवास ये चार देनेयोग्य विषय हैं। अर्थात्, भक्तिपूर्वक जो पात्रोंको दान दिया जाता है वह इन्ही चार चीजोंका दिया जाता है। जो कन्यादान आदि हैं वे लोकरीतिके अनुसार मानकर दिये जाते हैं अत एव वे समानदान हैं। जो उन कन्यादि दानोंको पात्र दान समझते हैं वह समझ मिथ्या है और अतएव पात्रदानकी अपेक्षासे ये कुदान हैं। इसीलिये पात्रदानोंमें इनका निषेध है।

---

१ आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः। समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनं ॥ ४॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात्। इति महापु० पर्व ॥ ३८ ॥ २ आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन। वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥ ११७ ॥ रत्नकरण्डके।

आहार व औषधका अर्थ प्रसिद्ध है। पीछी, कमण्डलु, पुस्तक, पथापरे इत्यादि धर्म साधनकी जो सामग्री हो उसका नाम यहां उपकरण है। साधु व त्यागी श्रावकोंकेलिये जो मठ, धर्मशाला वनवाना सो आवास नामका दान है।

समंतभद्रस्वामी जिनेन्द्रदेवकी पूजाको भी दानमें ही गर्भित करते हैं। देवाधिदेवके चरणोंमें जो पूजा की जाती है उससे सर्व दुःखोंका नाश और मनोवांछित इष्ट फलकी प्राप्ति होती है[1]। एक पुष्प मात्रसे पूजाकी तयारी करनेवाले मेंढक ने राजगृहमें यह जगत् भरको दिखा दिया कि जिनपूजासे स्वर्गादि संपत्ति तकके फल मिल सकते हैं।

कहीं कहीं पर आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान ये भी दानके चार भेद कहे हैं। केवलियोंको दानांतरायका सर्वथा नाश होजानेसे क्षायिक दानशक्ति प्रगट होती है उसका मुख्य कार्य यही है कि संसारके शरणागत जीवोंको अभय प्रदान करै। इसलिये अभयदानकी पूर्णता केवलज्ञानियोंके हाथसे हो सकती है। इसी प्रकार ज्ञानदान भी दिव्यवाणी द्वारा तत्त्वोपदेश देनेसे भव्योंको प्राप्त हो सकता है इसलिये उसकी चरमसीमा केवली भगवानको प्राप्त हो सकती है। शेष जो दो दान रहे वे गृहस्थके ही मुख्य कर्म हैं।

दान देनेकेप्रकारको विधि कहते हैं। देने योग्य वस्तुको द्रव्य कहते हैं। देनेवालेका नाम दाता और लेनेवालेका नाम पात्र है। साधुको देखते ही भोजनके लिये भक्तिपूर्वक नम्रतासे बुलाना सो प्रतिग्रह कहाता है। आनेपर उच्चासन देना, पाद प्रक्षालन करना, पूजा करना, प्रणाम करना, मनोयोग-वचनयोग व काययोगको शुद्ध रखना तथा भोजनको शुद्ध रखना ये नौ विधानोंको विधि[2] कहते हैं। जिस भोजनमें तप स्वाध्यायके साधनेकी जितनी अनुकूलता हो उतनी ही द्रव्यकी विशेषता[3] माननी चाहिये। दूसरे दातारोंके साथ ईर्ष्या न होना, दान देनेमें क्लेश न रखना, यदि दूसरा कोई दान देना चाहे या दे रहा हो तो उसके साथ प्रेमका व्यवहार करना, पुण्य कर्मको अच्छा समझना, दृष्ट फलोंकी चाह न रखना, निदान न करना ये गुण दातामें जैसे हीनाधिक हों वही दाताकी विशेषता है[4]। सम्यग्दर्शनादि मोक्षकारणों

---

१ देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणं। कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ ११९ ॥
अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्। भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥
'दाण पूजामुक्खो सावयधम्मो' इत्यादि वचनोंसे भी देवपूजा व वैयावृत्य—यह गृहस्थका मुख्य धर्म सिद्ध होता है।
२ पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणवणं च। मणवयणकायशुद्धिमेसणशुद्धिं च विधिमाहुः ॥ ३ तप स्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः।
४ प्रतिग्रहीतरि अनसूया, त्यागेऽविषादो, दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलाभिसंधिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादि-दातृविशेषः।

की जैसी हीनाधिकता दान लेनेवालेमें हो वही पात्रकी[1] विशेषता है। इन चार बातोंके तारतम्यसे दानद्वारा प्राप्त होने-वाले फलमें अंतर[2] पडता है।

आस्रवका उपसंहार—

हिंसानृतचुराब्रह्मसंगसन्न्यासलक्षणम्। व्रतं पुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपंचितं ॥१०१॥

हिंसानृतचुराब्रह्मसंगसन्न्यासलक्षणम्। चिन्त्यं पापास्रवोत्थानं भावेन स्वयमव्रतं ॥१०२॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रहके त्यागको व्रत कहते हैं। ये व्रत पुण्यास्रवके कारणरूप भाव समझने चाहिये। इसलिये इन व्रतोंको भावास्रव कहते हैं। जो कर्मास्रवके कारणरूप परिणाम होते हैं उन्हींको भावास्रव कहते हैं। हिंसादि पापोंके त्यागनेसे जो व्रतरूप परिणाम होते हैं वे पुण्यास्रवके कारण हैं इसलिये उन्हें भावपुण्यास्रव कहना चाहिये।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रहके साथ जो आसक्ति है वह पापास्रवका कारण है इसीलिये उसे छोडना चाहिये। परिणामोंमें जो विषयोंसे हिंसादि पापों से उदासी प्राप्त नहीं होती उसे अव्रत कहते हैं और उसकी प्राप्ति स्वयमेव होती है। आत्मज्ञान न होनेसे विषयोंमें जो मोह हो रहा है वह अनादिका है। यह मोह या अव्रतकी अवस्था एक प्रकार का परिणाम या भाव है इसलिये इसे पापकर्मका भावास्रव कहते हैं। अथवा हिंसादि पापोंको भावोंसे छोडना सो व्रत है वह पुण्यास्रवका कारण है और अतएव ग्राह्य है। किंतु जो हिंसादि पापोंमें भावपूर्वक प्रवृत्ति है वह हेय है और पापास्रवका कारण है।

पुण्यपापोंका परस्पर भेद—

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः। हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ॥१०३॥

अर्थ—पुण्य व पापके निमित्त भी जुदे २ माने गये हैं और कार्य भी जुदे होते हैं इसलिये पुण्य व पापको परस्पर जुदा मानना चाहिये। देखो! पुण्योत्पत्तिके कारण शुभ परिणाम माने गये और अशुभ परिणाम पापसंग्रह होनेके कारण माने गये हैं अर्थात्, शुभ परिणामोंसे पुण्य और अशुभ परिणामोंसे पाप संचित होता है। ये पाप व पुण्यके कारण भिन्न भिन्न हुए। फल पुण्यका सुखप्राप्ति और पापका दुःख है। यह पुण्यपापके कार्योंमें भेद रहा। इसलिये पुण्य व पापको जुदा २ माना जाता है परंतु यह सब व्यवहारकी बात है। निश्चयमें तो,—

१ मोक्षकारणगुणसंयोग पात्रविशेषः। २ क्षित्यादिविशेषाद्बीजफलविशेषवत्।

संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः । न नाम निश्चये नास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ॥ १०४॥

अर्थ—आत्माका बंधन दोनोंसे ही होता है इसलिये निश्चय या परमार्थसे देखा जाय तो पाप पुण्य दोनों ही समान हैं—कुछ भी विशेषता या भेद नहीं है।

संसारके कारण कर्म हैं; क्योंकि, कर्मके सम्बन्धसे आत्मा परतन्त्र होता है और उस कर्मका उदय प्राप्त होनेपर औदारिक शरीर तथा इन्द्रियोंके बन्धनमें पडता है तथा ज्ञानादि गुणोंका घात करता है । इसीका नाम संसार है। इसका निदान कारण कर्म ही है। वह कर्म चाहें पुण्य हो और चाहें पाप, परन्तु बन्धके कारण सभी हैं। इसीलिये निश्चय नयसे पुण्य व पाप कर्ममें कोई भेद नहीं है।

व्यवहार नयके अवलम्बी यहां उन जीवोंको कहते हैं कि जो पाप कर्मसे पुण्यकर्मको कुछ अच्छा समझते हैं। क्योंकि पाप कर्मका उदय रहने पर जीव अशांति या दुःखमें फसे रहते हैं जिससे कि धर्मको धारण करनेकी तरफ सन्मुख होना कठिन पडजाता है। नरक—निगोदादिकी गतियां तीव्र पापकर्मके उदयसे प्राप्त होती हैं जहां कि धर्मका लाभ असंभव और अतिकठिन हो जाता है। इसी प्रकार और भी पाप कर्मके उदयोंका विचार किया जाय तो सर्वत्र यह मालूम होगा कि पापकर्म धर्मधारणाके तथा आत्मज्ञान होनेकेलिये बाधक है। यह बात दूसरी है कि जिन्हें आत्मज्ञान होजाता है वे पाप कर्मके उदयमें भी धर्मसे पराङ्मुख नहीं होते, परन्तु पापकर्म जहांतक होसकता है वहांतक धर्म धारनेमें बाधा ही उत्पन्न करता है और पुण्यकर्म धर्म धारनेकेलिये अनुकूल पडता है। क्षयोपशमादिक जो सम्यक्त्व प्राप्तिकी पांच लब्धियां हैं उनका भी यही अर्थ है कि पापकर्मोंका यथायोग्य क्षयोपशम हो और पुण्यकर्मोंका उदय हो इसीलिये जो आत्मसुखके वांछक होते हैं वे पाप कर्मोंको नहीं चाहते और पुण्य कर्मको चांहते हैं। यह तो हुई ज्ञानियोंकी बात। परन्तु अज्ञानी जीव तो पापसे पुण्यको सदा ही अच्छा समझते हैं, क्योंकि, पाप कर्म इष्ट विषयोंकी प्राप्तिके बाधक होते हैं और पुण्य कर्म साधक होते हैं। संसारी जीव इष्ट विषयोंके ही वांछक होते हैं। इसलिये अपने अभीष्टके साधक पुण्य कर्मको चाहना सहज ही बात है।

सम्यग्दृष्टि यदि पुण्य कर्मोंको अच्छा समझता है तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है और जो सम्यग्दृष्टि है वह पुण्यकर्मोंको अच्छा

नहीं समझेगा। यहां शंका यह होगी कि सम्यग्दृष्टी भी विषयोंमें लगते हैं। उन्हें पुण्य कर्मोंको अच्छा समझनेसे जुदा क्यों माना जाता है! यदि वे पुण्य कर्मके बांछक नहीं होते तो विषयोंमें रत क्यों देखे जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि जब तक चारित्रावरण कर्मके उदयसे व्रती नहीं बनता तब तक अव्रतके नीच पदमें वह रहता है और तभी तक चारित्रावरणके उदयसे विषयोंमें प्रवृत्त भी होता है। परन्तु ऐसी विषयोंमें प्रवृत्ति रहते हुए भी वह पुण्य कर्मका वांछक नहीं होता है। यदि पुण्यका वांछक हो तो मिथ्यादृष्टियोंकी सुमारमें आजायगा। इसलिये पुण्यकर्मका अभिलाषी उसे बताना ठीक नहीं है। यह हुई शंका—

उत्तर—अव्रतसम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीमें अन्तर इतना ही रहता है कि मिथ्यादृष्टी अतितीव्र आसक्ति रखता है और सम्यग्दृष्टी मन्द। परन्तु जब तक चारित्रावरणका उदय रहता है तबतक विषयोंमें और विषयोंके कारणोंमें प्रवृत्ति अवश्य होती है ग्रथकारका भी यह कहना है कि 'व्यवहारावलंबी जीव पुण्य व पापमें भेद मानते हैं और निश्चयावलंबी जीव दोनोंको एकसा हेय समझते हैं।' सम्यग्दृष्टी भी व्यवहारावलंबी तो होतेही हैं और अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहका उदय भी उनके रहता ही है तो फिर वे पापसे पुण्यको अच्छा क्यों न समझेंगे? हां रत नहीं होते हैं।

असली निश्चयावलंबी वे कहे जाते हैं जो कि शुक्लध्यानकी श्रेणीपर आरूढ होचुके हों या श्रेणीके सन्मुख हो चुके हों। अव्रती सम्यग्दृष्टी तो उस ध्यानकी श्रेणीसे बहुत ही नीचा रहता है। इसलिये उसे व्यवहारावलंबी ही कहना चाहिये। और फिर भी वह पुण्यको मोक्षका सहायक समझता है न कि चाहता है।

---

१ सर्वं तात्पर्यमत्रतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकं। दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनां॥ पञ्चाध्यायीपृष्ट ११२।

२ स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकं। तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान्॥ ३ सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यपदमाश्रितः। चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणं॥ तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात्। ४ तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः॥ [इति पंचा० पृष्ठ ११२]

पांचवां अधिकार ॥ ५ ॥

अथ बंधतत्त्वप्रकरण।

मंगल और विषय प्रतिज्ञा—

अनन्तकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना बन्धतत्त्वं प्ररूप्यते ॥१॥

अर्थ—केवलज्ञानरूप अपरिमित प्रकाशद्वारा तीनों जगतको प्रकाशित करनेवाले जिनेंद्र भगवानको मस्तक नवाकर प्रणाम करते हैं और अब बन्धतत्त्वका वर्णन करेंगे। अर्थात् अब यह दिखावेंगे कि आत्माका कर्मके साथ बन्धन किसप्रकार होता है और वह कर्मबन्धन क्या चीज है?

जीवका वास्तविक स्वरूप चैतन्य व अमूर्त है और जिन कर्मोंसे बन्ध होना मानते हैं वे कर्म जड व मूर्तीक हैं। मूर्तिक कहनेसे यह मतलब समझना चाहिये कि दीखने या अन्य बाह्य इन्द्रियों द्वारा छूने समझने योग्य हो। उसे जैनमतमें पुद्गलतत्त्व कहा है। उसका वर्णन विस्तारसे अजीवतत्त्वमें कर चुके हैं। उसकी साधारण पहिचान यही है कि जो बाहिरसे हमारे देखने जाननेमें आता है वही सब पुद्गलतत्त्व है। उसके कुछ सूक्ष्म परमाणुपिंड ऐसे भी स्वयं बनते रहते हैं कि जिनका आत्मा के साथ रागद्वेष मिलने पर बन्धन हो जाया करता है। बस! उसी पुद्गलपिंडको कार्माण वर्गणा कहते हैं। ऐसी जो एक २ कार्माण वर्गणा होती हैं उसमें पुद्गलके परमाणु गिने जांय तो अनंतो ही होते हैं परन्तु तो भी वह इतना सूक्ष्मपिंड होता है कि कभी हम लोगोंके देखनेमें नहीं आ सकता। इसीलिये उसे सूक्ष्म कहते हैं। कुछ तरतमतालिये हुये वैसे ही सूक्ष्म और भी बहुतसे प्रकारके पुद्गलपिंड होते हैं परंतु सभी वे कर्मयोग्य नहीं हो सकते हैं। परमाणुओंकी संख्या और उन उन परमाणुओंकी परस्परकी बंधविचित्रता किसी एक प्रकारकी नियत है। वही परमाणु संख्या और वही बंधविचित्रता जिनमें होजाती हैं वे ही पुद्गलपिंड कर्म होनेके योग्य हो सकते हैं। वैसे कर्मयोग्यपिंड जगतमें इतर पुद्गलोंकी भांत तथा वायु आदिकी भांत सर्वत्र भरे रहते हैं और नये उपजते रहते हैं पुराने नष्ट भी होते रहते हैं सभी उन पिंडोंका जीवोंके साथ बंधन

होता ही हो यह नियम नहीं है। जिन पिंडोंके साथ जिस जीवके रागद्वेषका संबंध प्राप्त होता है वे पिंड उस जीवमें बंध जाते हैं। शेष यों ही बने रहते हैं और टूटते फूटते भी रहते हैं। इस प्रकार कर्मपिंडोंसे जीव सदा बंधता रहता है और जिस कर्मके बंधनकी अवस्था शिथिल होती जाती है वे कर्म आत्मासे सम्बंध छोडकर जुदे भी होते रहते हैं।

कर्मकी अनादिता।

कर्मबंधनकी यह दशा जीवके साथ कबसे प्राप्त हुई? इसका उत्तर यह है कि जीवोंकी यह दशा अनादिकालसे बनी हुई है। जो जीव तपोबलसे मुक्त हो जाता है कर्मबंधनसे छूट कर शुद्ध हो जाता है उसके साथ फिर कर्मबंधन प्राप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि शुद्ध आत्माका स्वरूप आकाशकी भांत अमूर्त ठहराया गया है। इसलिये अमूर्त आत्माको मूर्त पुद्गल पिंड बांध नहीं सकता है। जिस प्रकार मुक्त हुए आत्माका फिर कर्मबंधन होना युक्तिसे बाधित है उसी प्रकार संसारी या जो बद्ध जीव हैं वे भी यदि कभी प्रथम अवस्थामें शुद्ध होते तो इनका बंधन होना असम्भव हो जाता। परन्तु बंधनकी दशा शरीरकी परतंत्रता देखनेसे स्वीकार करनी पडती है। शरीरकी परतंत्रतामें जीव तब तक नहीं रह सकता था जब तक कि किसी बंधनसे पराधीन न होता। बस, वह बंधन अनादिकालका सिद्ध होता है। अर्थात्, जीव की दशा अनादिकालसे वन्धनयुक्त ही चली आ रही है। पूर्व पूर्व वन्धन के कारण उस बंधनके सहारेसे दूसरे नये २ बंधन भी होते चले जाते हैं। जीव वास्तवमें अमूर्त होकर भी उस मूर्त कर्मके बंधनसे मूर्त माना गया है। इसीलिये उसका बंधन उत्तरोत्तर कालमें होता रहता है। ऐसा माननेसे युक्तिकी कोई बाधा आ नहीं सकती है। कुछ लोग जीवको जुदा न मानकर शरीरमें ही चेतनाकी उत्पत्ति होना मानते हैं परन्तु इस मत का खंडन जीव सिद्धि करते समय दिखा चुके हैं। जीव और कर्मोंके बंधनका यह संक्षिप्त स्वरूप है।

कुछ लोग कर्मोंको जीवका गुण-स्वभाव मानते हैं परन्तु गुण हो तो अपने आश्रयभूत जीवद्रव्योंमेंसे नष्ट कैसे हो सकेगा? मुक्तिके समय कर्मोंका नाश हो जाना तो सभी मानते हैं। गुणका नाश द्रव्योंमेंसे होने लगा तो गुणगुणीका एक

१ मूर्छितोऽनादितोष्टामिर्ज्ञानावृत्त्यादिकर्मभिः। बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवत् ॥ यथानादिश्च पुद्गल। द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात्संबन्धो जीवकर्मणोः॥ द्वयोरनादिसंबन्धः कनकोपलसन्निभः। अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः॥ तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः। बन्धाभावेथ शुद्धेपि बंधश्चेन्निर्वृतिः कथं। ततिसद्धः सिद्धसंबंधो जीवकर्मोभयोर्मिथः। सादिसिद्धेरसिद्धत्वादसत्संदृष्टितश्च तत् ॥ (इतिपंचा० पृष्ठ ९०)

अजहत्-शाश्वता संबंध जो न्यायसंगत माना जाता है वह न रह सकेगा और गुणोंका क्रमसे नाश हुआ तो अंतमें द्रव्य का भी नाश हो जाना मानना पडेगा, क्योंकि न्यायसे यह बात सिद्ध है कि गुणोंके समुदायके सिवा किसी भी द्रव्यमें दूसरी कोई चीज नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि, गुण चैतन्य भी है और कर्म भी है। जब कि कर्म गुणका नाश हो सकता है तो चैतन्य गुणका भी कभी नाश हो सकता है, क्योंकि, गुण सब समान हैं। इस प्रकार चैतन्य यदि नष्ट हो गया तो चैतन्य जीवका लक्षण है, लक्षणका नाश होने पर लक्ष्यरूप जीव कहांसे टिक सकता है?

इसलिये कर्मको जीवका गुण मानना ठीक नहीं है। कर्म तो एक ऐसा ही पदार्थ होना चाहिये जो कि जीवके स्वभावसे सर्वथा विरुद्ध हो और वह द्रव्य हो। जब कि वह द्रव्य होगा तो जीव भी द्रव्य है इसलिये द्रव्य द्रव्यका जो बंधन होगा वह समय पाकर छूट सकता है और विरुद्ध स्वभावका कर्म जब बँधेगा तो उसके विरुद्ध स्वभावका संपर्क होनेसे जीवका चैतन्यस्वभाव व अमूर्तस्वभाव तिरोहित होकर जडता व मूर्तता प्रगट हो जाना भी संभव है। जीवमें जडता प्रगट हो जानेका प्रमाण यह है कि शरीरमिश्रित वह दीख पडता है और वचन तथा चंचलता जो होती है वह भी जडताका तथा मूर्तताका उदाहरण है परंतु अशुद्ध जीवका उत्तरवर्ती कार्य है। मूर्तताका शरीर ही उदाहरण है। जीवके शरीररूप पर्यायमें जडता भी रहती है और मूर्तता भी रहती है। यह तो हुआ अशुद्धताका द्रव्यपर्याय। परंतु गुणपर्यायोंमें भी मूर्तता तथा जडता दीख पडती है। जीवमें जो रागद्वेष प्रगट होते हुए दीख पडते हैं और जो मति व श्रुतज्ञान होते हैं उन सबोंमें चैतन्य तथा अमूर्तत्व गुणका कुछ तिरोभाव हो जाता है और जडता व मूर्तता बढ जाती है। इसीलिये रागद्वेषके वश हुआ जीव दुःखी होजाता है, शरीरको क्षीण करलेता है और कभी कभी तीव्र कषायके वश शरीर-सुख डलने लगता है। यदि रागद्वेष मूर्तीक व जडतायुक्त न हो तो जड शरीरपर ऐसे ऐसे आघात क्यों हों? छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान भी मूर्तीक मानने चाहिये; क्योंकि, मूर्तीक न हों तो इन्द्रियोंके अधीन न होने चाहिये, थे। एवं प्रत्यक्ष-परोक्षताकी विशेषता और विषयोंकी सीमा ज्ञानकी जडताको भी सिद्ध करती है। यदि छद्मस्थके ज्ञानमें जडता न हो तो यावत् प-

१ मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः। मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत्॥ न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवं। सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति॥ [पंचा० पृष्ठ ८७] अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः। मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत्॥ अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत्। न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात्॥ नासिद्धश्चोपचारोयं मूर्तं यत्तत्त्वतोपि च। वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः॥ [इति पंचा० पृष्ठ ९२]

दार्थोंको पूर्ण स्पष्ट जाननेकी शक्ति क्यों नहीं दीख पडती है ? क्योंकि 'ज्ञान' शब्दका अर्थ जाननेकी शक्ति है। उस शक्तिमें मर्यादा और अस्पष्टता उत्पन्न होना स्वाभाविक परिणाम नहीं हो सकता। इसीलिये ये सर्व उदाहरण जड व मूर्तीक वस्तुके साथके बंधनको सिद्ध करते हैं। केवल जड व मूर्तीक भी ये शरीर तथा ज्ञानादि उदाहरण नहीं हैं—कुछ चैतन्य व अमूर्तीकता भी इनमें सिद्ध होती है—झलकती है। इसलिये जीवकी सत्ता भी माननी ही पडती है।

बंधनके हेतु क्या है ?

बंधस्य हेतवः पंच स्युर्मिथ्यात्वमसंयमः। प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदितः॥ २॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानने मिथ्यादर्शन, असंयम, प्रमाद, कषाय, व योग ये पांच बंधके कारण कहे हैं।

प्रथम ही आस्रवके प्रकरणमें योगको बंधका कारण लिखा है और साथ ही कषायको भी कारण लिखा है। इसप्रकार बंधके हेतु योग व कषाय ये दो हैं। योगोंको कर्मके प्रदेश संग्रह करानेमें कारण माना जाता है और कषायोंको कर्मत्वशक्ति प्रगट करानेमें कारण माना जाता है। ग्रंथांतरोंमें भी बंधके कारण ये दो ही बताये गये हैं। तो फिर ऊपर जो पांच कारण लिखे हैं उनका क्या संबंध है ?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—कारण योग व कषाय ये दो ही हैं और शेष जो कारण हैं वे कषायके ही भेद हैं। असंयम, प्रमाद व कषाय ये तीन तो कषायके भेद मानना स्पष्ट ही है रहा मिथ्यात्व सो उसका कषायमें संग्रह करते हुए मन कुछ संकुचित अवश्य होगा क्योंकि, कषाय चारित्र मोहनीयका नाम या कार्य है और मिथ्यात्व, दर्शनमोहका कार्य है। परंतु मिथ्यादर्शन व कषायके कारणका सामान्य नाम मोहनीय है और मोहमात्रको भी सामान्य दृष्टिसे कषाय कहते हैं इसीलिये दोनोंको मोहकर्म कहा जाता है। मोहका कार्य जीवके ज्ञानको विपरीत[2] करना है। वह विपरीतता मिथ्यात्वसे भी होती है और कषायोंसे भी होती है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मिथ्यात्वके ठीक साथ रहनेवाला जो अनंतानुबंधी कषाय है वह सहचार संबंधसे मिथ्यात्व कहा जासकता है। इसीलिये जहां कषायके उत्तर भेद गिनाये हैं वहां

१ 'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कषायदो होंति' इति श्रीनेमिचंद्रा०। छाया योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः। २ 'मोहनीयस्य का प्रकृति ? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता।' इति द्रव्यसंग्रहस्य त्रयस्त्रिंशत्तमगाथाव्याख्याने ब्रह्मदेवेनोक्तं।

मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद व कषाय ये चार भेद करदिये जाते हैं और जहां संक्षेपसे कथन हो वहां चारोंके स्थानमें एक कषाय नाम लिखा जाता है।

असंयम व प्रमाद ये दोनो कषायके ही कार्य हैं। जब ऐसा तीव्रकषाय होता है जो कि इंद्रियोंसे विमुख नहीं होने देता तब संयमका घात होता है और उस कषायकी प्रवृत्तिको असंयम या अविरति कहते हैं। असंयमजनक कषाय दो हैं देशसंयमघातक व सर्वसंयमघातक। सर्वथा जो संयमको घातता है उसका नाम अप्रत्याख्यानावरण है। जो सूक्ष्मसंयमको घातता है और स्थूलसंयमको होने देता है उसका नाम प्रत्याख्यानावरण है। पहिले भेदको पूर्ण अविरति कहते हैं और दूसरेको देशविरति कहते हैं यह अविरति और इसके कारण कर्म दोनो कषाय ही हैं। इसलिये अविरतिका संग्रह कषायमें होसकता है। अविरति या असंयम न रहनेपर भी संज्वलन कषायके उदयसे जो मल उत्पन्न होता है या व्यक्त सूक्ष्म कषाय उत्पन्न होता है उसे प्रमाद कहते हैं। इसका कार्य यह है कि शिष्योंमें प्रेम, धर्म व धर्मके आयतनोंमें प्रेम उत्पन्न हो। यह दशा छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधुकी होती है। यह प्रमाद भी कषायका ही एक सूक्ष्म उत्तर भेद है।

मिथ्यात्वसे लेकर प्रमादतकके कषाय उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं परंतु सभी कषाय हैं इनके आगे जो चौथा कारण लिखा है वह मिथ्यात्व—अविरति—प्रमादनामके तीनो कषायोंसे अति सूक्ष्म है। वह कषाय सातवें गुणस्थानसे दशवेंतक रहता है। वह भी संज्वलन कषायका ही कार्य है परंतु प्रमादसे अधिक सूक्ष्म है प्रमादतकके कषाय तो व्यक्त रह सकते हैं और यह अव्यक्त सा ही रहता है। इसीलिये जहां प्रमाद घटकर केवल कषाय रहता है वहांसे गुणस्थानोंकी अप्रमत्त संज्ञा रक्खी जाती है। इस प्रकार विचार करनेसे मिथ्यात्वादि चारो, कषायके ही भेद सिद्ध होजाते हैं इसलिये बंधके कारण पांच कहनेमें और दो कहनेमें कोई अर्थभेद नहीं है। जहां कषायोंकी तरतमता दिखाना इष्ट है वहां पांच बंध कारण लिखे गये हैं और जहां सामान्य बंधका वर्णन है वहां दो कारण ही लिखे गये हैं।

शंका—आस्रवके प्रकरणमें जब कि योगको दिखा चुके हैं तो फिर यहां उसे क्यों लिखा ?

१ आत्माको परतन्त्र बनाकर जो कारण कषते या घात करते हैं उन कारणोंका नाम कषाय है। ऐसा अर्थ माननेसे मिथ्यात्व सबसे प्रबल कषाय सिद्ध होता है, क्योंकि, मिथ्यात्वके तुल्य दूसरा कोई भी कर्म जीवको विपर्यासित नहीं करसकता। बंधन मिथ्यात्वकर्मका सबसे तीव्र है। यदि मिथ्यात्वका तीव्र बंध हो तो सत्तर कोटीकोटी पर्यंत नहीं छूटता है। शेष किसी भी कर्मकी इतनी मर्यादा नहीं है।

उत्तर—आस्रवका अर्थ यह है कि कर्मपिंडोंका संग्रह होना और बंधका अर्थ आत्माको परतंत्र तथा मलिन करनेकी योग्यता प्रगट होना है। इसीलिये आस्रवके प्रकरणमें केवल योगको दिखाया गया और उसका अभिप्राय भी इतना ही है कि कर्मोंका संचय योगद्वारा होता है। परन्तु जब कि बंधका प्रकरण है तब कर्मोंमें आत्माको मलिन तथा परतन्त्र करनेकी योग्यता तो प्रगट होगी ही किंतु संचय हुए विना वह कार्य या परिणमन हो किसमें? वह कार्य कर्मपिंडका सचय हुए विना नहीं होगा। इसलिये बन्धके समय भी कर्मसंचयके कारण योगोंके दिखानेकी आवश्यकता प्राप्त हुई। भावार्थ आस्रवके समय जो योगोंको कारण लिखा है और यहां बन्धके समय भी उन्हे जो कारण लिखा है उन दोनोंका अर्थ एक ही है। दोनो जगह लिखने पर भी योगोंका कार्य भिन्न २ नहीं होता। परन्तु प्रदेशबध तथा स्थित्यनुभागरूपशक्ति प्रादुर्भावरूप बधकी मुख्यता रखनेसे आस्रव व बंधके दो प्रकरण होगये और उन्हीं प्रकरणोंकी मुख्यतासे दो जगह एक कारणका नामोच्चारण करना पड़ा है। दो प्रकरण जुदे जुदे करनेका एक मुख्य हेतु यह भी है कि आस्रव व्यापक है और बंध व्याप्य है। इस प्रकरणमें जो कषायसंयुक्तको बन्ध होता है वह दशवें गुणस्थानसे आगे नहीं होता और योग के द्वारा ईर्यापथ कर्म तेरहवें गुणस्थानतक आते रहते हैं। परन्तु उनमें कषाय न रहनेसे स्थिति व अनुभाग उत्पन्न नहीं होपाते हैं। वे ज्योंही आते हैं कि उधर निकल भी जाते हैं। यदि ये दो प्रकरण बन्धकारणोंके न करते तो योगका एकाकी यह कार्य किस प्रकार ध्यानमें आता? यह इस ग्रन्थकर्ताकी इच्छाका तात्पर्य हुआ। परन्तु कुछ आचार्योंने आस्रवका लक्षण ही बन्धका कारणमात्र ऐसा किया है। इसीलिये वे आस्रवके ही भेदोंमें उक्त पांचों कारणोंको गिनाते हैं। वे आस्रवमें केवल योगको ही गिनाते हों ऐसा नहीं है।

शका—कषायको सामान्य एक न कहकर चार भेद कहनेका प्रयोजन क्या है? और प्रथम मिथ्यात्व, अंतमें योग तथा बीचमें बीचके अविरति आदि तीन कारण ऐसा क्रम रखनेका प्रयोजन क्या है?

उत्तर—कर्मोंके उत्तर भेद एक सौ अडतालीस हैं। उनमेंसे कुछ तीव्र पापरूप हैं, कुछ मध्यम पापरूप हैं, कुछ जघन्य पाप रूप हैं और कुछ अपापरूप भी हैं। मिथ्यात्वसे लेकर सयोगकेवल तक तेरह गुणस्थान हैं। उनमेंसे जो नीचेके गुण

१ मिच्छत्ताऽविरदिपमादजोगकोहादओ विण्णेया। पण पण पणदह तिय चउ कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥ २० (द्रव्यसं० छाया—मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयोऽथ विज्ञेयाः। पंच पंच पंचदश त्रयश्चत्वारः क्रमशो भेदास्तु पूर्वस्य ॥ पुव्वस्स पूर्वसूत्रोदितभावास्रवस्येत्यर्थः।

स्थान हैं वे अल्प विशुद्ध हैं और ... ऊपर के अधिक विशुद्ध हैं। बंधके कारण जो मिथ्यात्वादि पांच हैं वे भी उत्तरोत्तर घटते जाते हैं। इसलिये उत्तरोत्तरके गुण स्थानोंमें बंध थोडी प्रकृतियोंका होता है एवं, अधिक पाप प्रकृतियोंका बंध रुकता भी जाता है और नीचे नीचे प्रकृतियां बहुत सी बंधती हैं एवं निकृष्ट बंधती हैं। यही कार्यकारण सम्बन्ध दिखानेकेलिये बंध कारणोंके पांच भेद किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जिस जीवका मिथ्यात्व गुणस्थान हो रहा है उसको ऊपरके मिथ्यात्वादि पांचो ही बंधके कारण रहते हैं। परन्तु दूसरे गुणस्थानसे लेकर मिथ्यात्व कारण नहीं रहता असंयमादि केवल चार कारण फिर रहते हैं। मिथ्यात्वकी मुख्यतासे बंधनेवाली सोलह कर्म प्रकृतिका बन्धन होना भी रुक जाता है। भावार्थ, वे सोलह प्रकृति तीव्र पापरूप हैं और उनका बंध प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है। और वे प्रकृति ये हैं—१ मिथ्यादर्शन २ नपुंसकवेद, ३ नरकायु, ४ नरकगति, ५ नरकगत्यानुपूर्व्य, ६ एकेन्द्रियजाति, ७ द्वीन्द्रियजाति, ८ त्रीन्द्रियजाति, ९ चतुरिन्द्रिय जाति, १० हुंडक संस्थान, ११ असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, १२ आतप, १३ स्थावर, १४ सूक्ष्म, १५ अपर्याप्त, १६ साधारण शरीर।

दूसरे गुणस्थानसे लेकर चार वन्ध कारण रहे। परन्तु उन चारोंमें प्रथम असंयम कारण है उसके तीन भेद हैं १ अनंतानुबन्धिकषायकृत असंयम, २ अप्रत्याख्यानावरणकषायजनित असंयम, ३ प्रत्याख्यानावरणकषायनिमित्तक असंयम। इन असंयमोंका जैसा जैसा नाश होगा वैसा २ कर्म्मबंधनेका भी संवर होगा। अनंतानुबंधी कषाय दूसरे गुणस्थान तक उदयमें रहता है इसलिये दूसरे गुणस्थान तक अनंतानुबंधिजन्य प्रकृतियोंका बंध होगा और तीसरेसे संवर होगा।

अनंतानुबंधिजनित प्रकृति पचीस हैं; (१) निद्रानिद्रा, (२) प्रचलाप्रचला, (३) स्त्यानगृद्धि, (४) अनन्तानुबन्धी क्रोध, (५) अनंतानुबंधीमान, (६) अनंतानुबन्धी माया, (७) अनंतानुबन्धी लोभ, (८) स्त्रीवेद, (९) तिर्यगायु, (१०) तिर्यग्गति, (११) तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, (१२) स्वाति संस्थान, (१३) कुब्जक संस्थान, (१४) न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान, (१५) वामन संस्थान, (१६) वज्रनाराच संहनन, (१७) नाराच संहनन, (१८) अर्ध नाराच संहनन, (१९) कीलित संहन, (२०) उद्योत, (२१) अप्रशस्तविहायोगति, (२२) दुर्भग, (२३) दुःस्वर, (२४) अनादेय, (२५) नीचगोत्र।

अप्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय चौथे असंयत सम्यग्दृष्टि नाम गुणस्थानपर्यंत रहता है और इसके उदयसे दश प्रकृ

तियोंका बंध मुख्य होता है। ये दश प्रकृति;–(१) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, (२) अप्रत्याख्यानावरण मान, (३) अप्रत्याख्यानावरण माया, (४) अप्रत्याख्यानावरण लोभ, (५) मनुष्यायु, (६) मनुष्यगति, [७] मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, [८] औदारिक शरीर, [९] अंगोपांग, (१०) वज्रर्षभ नाराच संहनन ये हैं। ये दश प्रकृति चौथे गुणस्थानतक बंधती हैं। पांचवेंसे इनका निरोध होजाता है।

प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदय पांचवें गुणस्थानतक रहता है और इसीलिये इसके निमित्तसे बंधनेवाली चार प्रकृति पांचवे गुणस्थानतक ही बंधती हैं; छट्ठेसे उनका संवरण होजाता है। वे चार प्रकृति प्रत्याख्यानावरण १ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ ये हैं। इस प्रकार इस पांचवें गुणस्थानपर्यंत थोडी बहुत अविरति बनी रहती है इसलिये बंधके कारण चार माने जाते हैं। परंतु छट्ठेमें अविरतिका अभाव होजानेसे बंधके कारण तीन रह जाते हैं; प्रमाद, कषाय, योग।

प्रमादके निमित्तसे छह प्रकृतियोंका बंध होता है; (१) असातावेदनीय, (२) अरति, [३) शोक, [४] अस्थिर, (५) अशुभ, (६) अयशः–कीर्ति। छट्ठेसे ऊपर प्रमाद नहीं रहता इसलिये इन छह प्रकृतियोंका आना भी सातवेंसे रुक जाता है।

शंका-देवायु कर्मका आस्रव सातवेंतक होता है। यदि छट्टे तक होता तो प्रमाद उसका कारण होसकता था परन्तु सातवेंमें प्रमाद रहता नहीं। यदि प्रमादसे आगे सातवेंमें रहने वाला कषाय उसका कारण होता तो कषायका सद्भाव दशवें गुणस्थानतक रहता है इसलिये देवायुका आस्रव भी दशवेंतक होना चाहिये था; परंतु दशवेंतक इसका बंध होता नहीं है? इसलिये देवायुका कारण क्या मानना चाहिये?

---

१ चौथे गुणस्थान तथा तीसरे गुणस्थानमें बंधके कारण समान हैं तो भी तीसरेमें किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता और आगे पीछेके गुणस्थानोंमें होता है इसलिये तीसरे चौथे गुणस्थानोंकी बन्धयोग्य प्रकृतिसंख्या एकसी नहीं रहसकती है। नरक व तिर्यंच ये दो आयु तो दूसरे गुणस्थानसे बन्धनेसे सर्वथा रुकही जाती हैं परंतु मनुष्य व देवायु चौथेमें बंधती है और तीसरे मे नहीं बन्धती इसलिये तीसरेकी बन्धसंख्या दो कम रहती है और चौथेकी अधिक। २ 'संयतासंयतस्याविरतिर्विरतिमिश्रा, प्रमादकषाययोगाश्च' इस सर्वार्थसिद्धिके वाक्यसे यह अर्थ सिद्ध होता है कि अविरतिके कई तरतम भेद हैं और वे क्रमसे घटते हैं। पांचवेंमें आधी विरति आधी अविरति तथा शेष तीन कारण रहते हैं।

उत्तर—देवायुका कारण है तो प्रमाद ही, परंतु प्रमादका अभाव होनेपर भी जो प्रमादका संस्कार रहता है वह भी उसका[1] कारण है। संस्कार यदि रहै तो सातवेंतक रह सकता है। छठेमें जब कि प्रमादका अभाव होता है तो सातवेंसे आगे उसका संस्कार भी नहीं रह सकता है। इसीलिये देवायुका आस्रव प्रमादजन्य होनेपर भी सातवेंतक होता है और सातवेंसे आगे नहीं होता। संस्कार भी कहीं कहींपर अपना काम दिखाता है। देखो, चौदहवें गुणस्थानके प्रारंभमें योगोंतकका निरोध हो जानेसे रत्नत्रयकी पूर्णतामें कुछ कमी नहीं रहती तो भी मोक्षप्राप्ति होनेका बाधक कारण योगसंस्कार बना रहनेसे मोक्षप्राप्तिमें थोडासा विलम्ब हो जाता है। परंतु निर्मूल संस्कारका टिकाव अधिक देरतक नहीं रह सकता है इसलिये योगोंका संस्कार, पांच ह्रस्व अक्षर उच्चारनेमें जितना समय लगता है उतने समयमें नष्ट हो जाता है। वह नष्ट हुआ कि आत्मा मुक्त हो जाता है। यही बात प्रमाद संस्कारकी है। प्रमादका निर्मूल संस्कार भी सातवेंसे आगे नहीं टिकता। यह सातवें गुणस्थानतककी बात हुई।

आठवेंसे कषाय व योग ये दो ही कारण रहजाते है। उनमेंसे भी कषाय दशवेंके अंतमें नष्ट हो जाता है। उस कषायके उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन भेद हैं। ये तीनों भेद भी क्रमसे आठवें, नौवें व दशवें तक रहते हैं। और इनके निमित्तसे होनेवाले कर्म भी वहींतक रहते हैं।

तीव्र कषाय आठवें तक रहता है। उस आठवेंके भी प्रारम्भमें कुछ समयतकका जो कषाय होता है वह दो प्रकृतियोंको बांध सकता है, निद्रा व प्रचलाको, इसके ऊपर इन दोनोंका संवरण हो जाता है। इसके ऊपरका कुछ ऐसा कषाय होता है कि पहिलेसे नरम होता है तो भी तीस प्रकृतियोंको बांधता है। वे तीस प्रकृति, १ देवगति २ पंचेन्द्रिय जाति, ३ वैक्रियिक शरीर, ४ आहारक शरीर, ५ तैजस शरीर, ६ कार्मण शरीर, ७ समचतुरस्र संस्थान, ८ वैक्रियिकशरीरांगोपांग, ९ आहारशरीरांगोपांग, १० वर्ण[2], ११ गन्ध, १२ रस, १३ स्पर्श, १४ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, १५ अगुरुलघु १६ उपघात, १७ परघात, १८ उच्छ्वास, १९ प्रशस्त विहायोगति, २० त्रस, २१ बादर, २२ पर्याप्त, २३ प्रत्येक शरीर, २४ स्थिर,

---

१ देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोपि तत्प्रत्यासन्नः। तदूर्ध्वं तस्य संवरः। (इति सर्वार्थसिद्धिः)

२ वर्ण, गंध, रस, व स्पर्श, इन चार प्रकृतियोंके उत्तर भेद बीस हैं। यहां अभेद दृष्टिसे चार संख्यामें ये गर्भित किये हैं। परंतु एकसौ अडतालीसका जोड यदि बंधनिरोध देखनेकेलिये दिया जाय तो आठवेंकी छत्तीस प्रकृतिसंख्याकी जगह ५२ बावन संख्या रखनी पडेगी।

२५ शुभ, २६ सुभग, २७ सुस्वर, २८ आदेय, २९ निर्माण, ३० तीर्थंकर। ये तीस प्रकृति आठवें गुणस्थानके उपांत्य समय तकके कषाय द्वारा बंधती रहती हैं और अंतिम समयमें इन तीसोंका बंध होना रुक जाता है। अंतसमयमें होने वाला कषाय इतना हीनशक्तियुक्त होता है कि ऊपरकी तीस प्रकृतियोंको नहीं बांधता परन्तु चार दूसरी प्रकृतियोंको तो भी बांधता रहता है। चार प्रकृति, १ हास्य, २ रति, ३ भय, ४ जुगुप्सा ये हैं। इन चारोंका संवर नौमेंके प्रारम्भसे हो जाता है। इस प्रकार आठवेंके अंततकके कषाय द्वारा बंधनेवाली सर्व ३६ प्रकृति हैं उनका नौवेंसे लेकर आगे संवर है। ये छत्तीस प्रकृति जिन कषायों द्वारा बंधती हैं वे कषाय आपसमें तो हीनाधिक होते हैं परन्तु सामान्यतासे सर्व तीव्र ही कषाय कहाते हैं।

नौवेंके जो कषाय होते हैं वे मध्यम कहाते हैं परतु उनमें भी पांच तरमताके भेद होते हैं। क्रमसे पहिले भेद तक पुरुष वेद, दूसरेतक संज्वलन क्रोध, तीसरेतक संज्वलन मान, चौथेतक संज्वलन माया, पांचवेंतक संज्वलन लोभ बंधको प्राप्त हो सकते हैं और अपने अपने भागोंसे ऊपर उस प्रत्येक प्रकृतिका निरोध हो जाता है। सामान्यतासे कहें तो उक्त पांच प्रकृतियोंका दशवेंके प्रारंभसे लेकर संवर हो जाता है।

दशवें गुणस्थानमें जो कषाय रहता है वह जघन्य होता है। वह कषाय सोलह प्रकृतियोंके बंधका कारण है। वे सोलह प्रकृति; पांच ज्ञानावरणकी (१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्यय ज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण,) चार दर्शनावरणकी (६ चक्षुर्दर्शनावरण, ७ अचक्षुर्दर्शनावरण, ८ अवधिदर्शनावरण, ९ केवलदर्शनावरण,) १० यशःकीर्ति, ११ उच्चगोत्र, पांच अंतरायकी, (१२ दानांतराय १३ लाभांतराय १४ भोगांतराय, १५ उपभोगांतराय, १६ वीर्यांतराय) दशवेंसे ऊपर इन सोलहो प्रकृतियोंका संवरण होजाता है।

इसीलिये ग्यारहवें–बारहवें गुणस्थानसे लेकर आगे जो कुछ प्रकृतियोंका आस्रव होता है उसका कारण केवल योग ही होता है। वह प्रकृति एक सातावेदनीय है। योग तेरहवेंतक रहता है इसलिये वहींतक सातावेदनीयका नवीन बंध हो सकता है। चौदहवेंके प्रारंभसे योग नष्ट होजानेसे सातावेदनीयका बन्ध भी रुकजाता है।

यहांसे आगे कोई भी प्रकृति बंधनेके योग्य नहीं रहती है। सर्व प्रकृतियोंकी संख्या १४८ है उन १४८का चौदहवेंमें सर्वथा निरोध होजाता है जैसा कि गुणस्थानक्रमसे ऊपर दिखाचुके हैं। उसका जोड–प्रथम गुणस्थानसे आगे

१६ प्रकृति, दूसरेसे आगे २५ प्रकृति, चौथेसे आगे १० प्रकृति, पांचवेंसे आगे ४ प्रकृति, छठेसे आगे ६ प्रकृति, सातवेंसे आगे १ प्रकृति, आठवेंसे आगे ३६ प्रकृति, नौमेंसे आगे ५ प्रकृति, दशवेंसे आगे १६ प्रकृति, ग्यारहवेंसे आगे १ प्रकृति–इस प्रकार बंधनिरुद्ध होनेसे ये सर्व प्रकृति १६+२५+१०+४+६+१+३६+५+१६+१=१२० एकसौ वीस हो जाती हैं। कुल प्रकृति १४८ हैं। परंतु स्पर्शादि चार यहां पर नौमें जो गिनाई हैं उनके उत्तर २० भेद होते हैं जो कि चारकी संक्षिप्त संख्या रखनेसे गर्भित होजाते हैं। इस प्रकार २० की जगह ४ संख्या रखनेसे १६ की कमी होजाती है। एवं, दर्शन मोहकी सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व ये दो प्रकृति वन्धके समय जुदी नहीं मानीजाती किंतु एक मिथ्यात्वमें गर्भित होजाती हैं। इसलिये दोकी संख्या यह भी कम करनी पडती है। इस प्रकार १८की संख्या १४८में कम कीगई है। तो भी सर्व प्रकृतियां १२० के भीतर ही आजाती है। यह वन्धकारणोंका व वन्ध्यमान प्रकृतियोंका विवरण गुणस्थान क्रमसे हुआ।

शंका–मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय व योग ये पांचो जो वंधके कारण लिखे हैं वे क्या चीज हैं?

उत्तर–ऊपर जिस वंधका वर्णन होचुका है उसी के ये पांचो परिणाम हैं। उन कर्मोंका जव विपाक समय आता है तव वे कर्म आत्मामें नाना विकार उत्पन्न करते हैं। पूर्ववद्ध कर्मोंके उदयसे मिथ्यात्वादि विकार उत्पन्न होते हैं और उन विकारोंके होने से आत्मा पुनः नवीन कर्मोंसे बद्ध होजाता है। जव कोई पूर्ववद्ध कर्म उदयमें आता है तव फल देकर नष्ट होजाता है और साथ ही दूसरे नवीन वँध जाते हैं। इस प्रकार जीव कर्मकी शृंखला वरावर चलती रहती है। कर्मके विपाकवश जीवमें जो मिथ्यात्वादि विकार होते हैं उन्हें भावकर्म कहते हैं। इनमेंसे प्रत्येक भाव कर्मके मूल कारण पूर्ववद्ध द्रव्य कर्म होते हैं। किस भाव कर्मका कौनसा द्रव्यकर्म कारण है–यह वात आगे कहेंगे और कुछ कह भी चुके हैं। योगोंके कारण दिखा चुके हैं। अव मिथ्यात्वादि कर्मकारणोंका स्वरूप कहते हैं—

मिथ्यात्वः—

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च। आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत् ॥ ३ ॥

---

१ वज्जचउक्के ऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये ॥ ३४ ॥ २ पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरोकमेण सत्तट्ठी। दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ वंधपयडीओ ॥ ३५ ॥ गोमट० कर्मकाण्ड इसमें लिखते हैं कि मोहकर्मकी २८ प्रकृतियोंकी जगह बंध के समय २६ ही मानी जाती हैं।

अर्थ—विपरीत रुचिका नाम मिथ्यात्व है। अतत्त्वश्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रके श्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है। आत्मज्ञान न होनेका नाम मिथ्यात्व है। ऐसें अनेक भांत मिथ्यात्वका लक्षण किया जाता है परंतु उसका तात्पर्य यह है कि आत्माके सम्यक्त्व गुणका जो कर्मवश विपरीत परिणमन होता रहता है वह मिथ्यात्व है। वह ऐसा एक गुण है कि जबतक उसका स्वयं अनुभव न हो तबतक उसका वर्णन नहीं होसकता है। तो भी उसके रहनेसे उल्लास, प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य तथा शुद्ध आत्मज्ञान—इत्यादि गुण प्रगट होते हैं। जब हम उस सम्यक्त्वका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकते है तब इन प्रशमादि सहभावी गुणोंके चिन्ह दिखाकर उसका वर्णन करते हैं। और उन गुणोंका प्रादुर्भाव मिथ्यात्व के रहते हुए हो नहीं पाता इसलिये अतत्त्व श्रद्धानादि दोषों को हम मिथ्यात्व कहने लगते हैं। जिस प्रकार तत्त्वश्रद्धानादिक जो गुण हैं वे वास्तविक सम्यक्त्व नहीं हैं किंतु सम्यक्त्वके सहभावी दूसरे गुण हैं उसी प्रकार अतत्त्वश्रद्धानादिक भी स्वयं मिथ्यात्व नहीं किंतु मिथ्यात्वके सहभावी दूसरे गुण हैं। जबतक किसी गुणका सीधा अनुभव नहीं होसकता हो तबतक उसके सहवास से उत्पन्न हुए चिन्होंद्वारा ही उसका अनुभव करना पड़ता है। यही दशा सम्यक्त्व व मिथ्यात्व की है। सम्यक्त्वके रहते हुए एक ऐसा अपूर्व आत्मसंबंधी आनद उत्पन्न होता है कि जिसका अनुभव मिथ्यात्वकी दशामें कभी नही होसकता; इसीलिये सम्यक्त्वनामा एक कारण शक्तिका हम अनुमान-द्वारा निश्चय करते हैं। उसी सम्यक्त्व गुणका दर्शनमोहकर्मके उदयसे विपरीत परिणाम होजाता है जिसे कि हम मिथयात्व कहते हैं और जिससे कि कि जीव वहिर्मुख वन जाता है—जीवको आपेका अनुभव नहीं होपाता, आपेमें थिरता नहीं होपाती। वस, इसीका नाम मिथ्यात्व है।

यद्यपि आपेको न जानने देना ज्ञानावरण का कार्य है और आपेमें थिर न होने देना चारित्रमोहकर्मका कार्य है तथापि उसके साथ मिथ्यात्वकी आवश्यकता पडती है। ज्ञानावरण का काम यह है किसी विषयको पूर्ण और कभी कभी ज्ञात न होने दे। इसलिये यदि आत्माके अनुभव होनेको ज्ञानावरण ही केवल रोकता है तो उसके अपूर्णांशका ध्यामल और कभी २ तो ज्ञान होना चाहिये था। परंतु आत्माका ज्ञान थोडा सा भी नहीं होता और कभी २ भी नहीं होता। इसका कारण क्या है? इसका कारण वही मिथ्यादर्शन कर्म है कि ज्ञानावरणके क्षयोपशमको कभी भी और थोडा सा भी कार्यकर होने नहीं देता इसी प्रकार आपे में थिरता न होने देनेका कारण भी वही मिथ्यादर्शन है। इसलिये हम जीव

को बहिर्मुख बनाये रखनेवाले विकारको मिथ्यात्व ठहराते हैं और अंतर्मुख बनानेके कारणभूत गुणको सम्यक्त्व कहते हैं।

जब कि बहिर्मुखताके कारणको हम मिथ्यात्व कहते हैं तो उसी बहिर्मुखताके ये कार्य हैं—अतत्त्वश्रद्धानादि प्रकार प्रगट हों। जबतक बहिर्मुखता बनी हुई है तबतक अतत्त्वश्रद्धान भी होगा, कुदेवादिकोंमें श्रद्धान भी होगा, तत्त्वोंसे अरुचि भी होगी, आत्मज्ञानसे वंचित भी रहना पडेगा। इसीलिये इन दोषोंमें किसी एकेक दोषको मुख्य मानकर निरनिराले आचार्य निरनिराली तरहसे मिथ्यात्वका स्वरूप दिखाते हैं और इन दोषोंके हटनेसे जो एकेक प्रकारकी स्वाभाविक परिणति प्रगट होती है उसे सम्यक्त्व बताते हैं।

जब कि बहिर्मुखता ही मिथ्यात्वकी सूचक है तो अतत्त्वके श्रद्धान करनेको भी मिथ्यात्व कह सकते हैं और अज्ञानरूप अंधताके प्रभावसे तत्त्वमें श्रद्धान न होसकनेको भी मिथ्यात्व कह सकते हैं। जिस समय कोई समनस्क प्राणी तत्त्वपरिचय करना चाहें परंतु अतत्त्वको तत्त्व समझ बैठे तो उससमय 'अतत्त्वश्रद्धान' यह मिथ्यात्वका लक्षण बताया जाता है। परंतु जबतक तत्त्वोंके जाननेकी इच्छा ही प्रगट नहीं हुई हो तबतक तत्त्वश्रद्धानके अभावको मिथ्यात्व कहना पडता है। इस तत्त्वश्रद्धानाभावरूप मिथ्यात्वको अगृहीतमिथ्यात्व कह सकते हैं और जो चाहकर अतत्त्वको तत्त्व मान लेना है उसे गृहीतमिथ्यात्व कहना चाहिये। अगृहीतमिथ्यात्व अनादि कालसे सभी जीवोंमें बना रहता है और गृहीतमिथ्यात्व मिथ्याश्रद्धान करनेपर प्राप्त होता है। इसीलिये गृहीतमिथ्यात्व अनादि न होकर सादि ही होता है। इसप्रकार मिथ्यादर्शनके मूल भेद दो हो जाते हैं।

१ श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥ [इतिरत्नकरंडके] 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। [इति तत्त्वार्थसूत्रे] 'मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि। ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो' इतिगोमट० जीवकांड 'श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः। न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ अर्थाज्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्। सर्वतः सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ नैवं यतोनभिज्ञोसि सत्सामान्यविशेषयोः। अप्यनाकारसाकारलिंगयोस्तद्यथोच्यते ॥ आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः। सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्य तद्विकल्पकाः ॥ 'इतिपंचा० पृष्ठ १२५'

२ मिथ्यादर्शनं द्वेधा, नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात्। तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकम्। 'इति वार्तिक।'

अगृहीतको नैसर्गिक भी कहते हैं। अगृहीत मिथ्यात्वमें विकल्प उत्पन्न होना असंभव है इसलिये उसके उत्तरभेद नहीं किये जाते हैं। परंतु गृहीतके बहुतसे प्रकार होसकते हैं इसलिये उसके मूलभेद जितने होसकते हैं वे बताये गये हैं। वे भेद चार हैं; १ क्रियावाद, २ अक्रियावाद, ३ अज्ञान, ४ वैनयिक। क्रियाकांडको धर्म मानना और वह विपरीत मानना यह क्रियावाद–मिथ्यात्वका अर्थ है। क्रियाकांडकी मुख्यता न रखकर ज्ञानमात्रसे मुक्ति मानना इत्यादि विचारको अक्रियावाद कहना चाहिये। ज्ञानशून्य कायक्लेशादितपको मुक्तिका कारण मानना सो अज्ञानमिथ्यात्व है। भक्ति और विनयसे मुक्ति मानना, सभी धर्मोंको तथा देवोंको मुक्तिका कारण मानना सो सब वैनयिक मिथ्यात्व है।

क्रियावादियोंके चौरासी भेद हैं। उनमेंसे कांठेविद्धिकौशिक, हरि, श्मश्रुमान, कपिक, रोमश, हारित, आश्वमुंड, आश्वलायन इत्यादि जो प्राचीन मत हैं वे सब इन्हीं चौरासी भेदोंमें गर्भित होते हैं। अक्रियावादोंके एकसो अस्सीभेद हैं। मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलिक, मौद्गलायन, इत्यादि इनके नाम हैं।

अज्ञातवादके सरसठ भेद मानेगये हैं। साकल्य, वाकल्य, कुंथुवि, सात्यमुग्रि, चारायण, कठ, माध्यंदिनि, मौद, पैप्पलाद, वादरायण, वसु, जैमिनि, इत्यादि उन मतोंके नाम हैं।

वैनयिकोंके वत्तीस भेद हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकी, रोमहर्षिण, सत्यदत्त, व्यास, इलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अपस्थूल इत्यादि उनके नाम हैं। ये सब चारो प्रकारके गृहीतमिथ्यादृष्टियोंके तीनसौ त्रेसठ भेद होते हैं। भावार्थ यह है कि जो एकांत मतोंके प्रदर्शक दर्शनकार तथा पुराणकर्ता हुए हैं ये सर्व गृहीतमिथ्यादृष्टी हैं।

इसी मिथ्यात्वके दूसरी भांत पांच भेद हैं; १ ऐकान्तिक मिथ्यात्व, २ सांशयिक मिथ्यात्व, ३ विपरीत मिथ्यात्व, ४ अज्ञानिकमिथ्यात्व, ५ वैनयिक मिथ्यात्व। ये पांच भेद मूलग्रंथकर्ताने लिखे हैं।

---

१ परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं, क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात्। चतुरशीतिः क्रियावादाः कौकलकाण्ठेविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात्। अशीतिशतमक्रियावादानां मरीचिकुमारोलूककपिलगार्ग्यप्रभृतिदर्शनभेदात्। आज्ञानिकवादाः सप्तषष्टिसंख्याः- साकल्यवाकल्यप्रभृतिदृष्टि भेदात् वैनयिकानां द्वात्रिंशद्वशिष्ठपाराशरादिमार्गभेदात्। वादरायणवसुजैमिनिप्रभृतीनां श्रुतिक्रियानुष्ठायिनां कथमाज्ञानिकत्वमित्युच्यते, प्राणिवधधर्मसाधनाभिप्रायात्। न हि प्राणिवधः पापहेतुधर्मसाधनत्वमापत्तुमर्हति॥ इतिवार्ति०।

१—ऐकान्तिकमिथ्यात्वका लक्षण—

यत्राभिसंनिवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः। इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—द्रव्यगुणादि तत्त्वोंमें या धर्म तथा धर्मीमें परस्पर सर्वथा भेद मानना, धर्मका या धर्मीका स्वरूप किसी एक प्रकारका मानकर हठ करना, यह इसी प्रकार है, यही है—अर्थात् यह धर्म नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, यह धर्म ही है अथवा धर्मी ही है—ऐसा जो सर्वथा किसीके स्वरूपके विषयमें आग्रह रखना सो ऐकान्तिक मिथ्यात्व है।

उदाहरण:—शब्द अमूर्तीक ही है, आकाशका गुण ही है, अथवा, स्पर्शन इंद्रियके विषयका ज्ञान जब कि इंद्रियसे संबंध होनेपर होता है तो चक्षुके विषयका, मनके विषयका ज्ञान भी विषयसंबध हुए विना नहीं होना चाहिये। इस सिद्धान्तकी पुष्टि जब कि प्रत्यक्षवाधित होते दीखी तो अलौकिक चक्षुकी कल्पना करली। परंतु वस्तुस्थिति असंवद्ध विषयोंको जानलेनेमें भी अनुकूल है ऐसी अनैकान्तिक कल्पना स्वीकार नहीं की। यद्यपि शाखाचन्द्रमादि अति भिन्न और अन्तरित वस्तुओंके युगपत् दीख पडनेसे ऊपरकी कल्पना वाधित होती है और शब्द वहिरिन्द्रियग्राह्य होनेसे तथा आघात प्रतिघातका कारण होनेसे अमूर्त आकाश का गुण वन नहीं सकता है परंतु उन ऐकान्तिक कल्पनाओंको तो भी न छोडना सो सब ऐकांतिक मिथ्यात्व है।

इसी प्रकार संयोगसंबंध जब कि भिन्न वतुओंका होता है तो गुणगुणीका संबंध भी गुणगुणीको परस्परमें भिन्न सिद्ध करेगा और वह संबंध भी गुणगुणीसे एक भिन्न ही पदार्थ है ऐसी सर्वथा भेदकी कल्पना करना इत्यादि कल्पनाएं सर्व ऐकांतिक मिथ्यात्वके उदाहरण हैं। वस्तुओंके सर्व स्वभाव एकांतरूप या किसी एक एक प्रकारके ही नहीं है तो भी सर्वत्र एकान्त मानना यही एकान्त मिथ्यात्वका अर्थ है।

२—सांशयिकमिथ्यात्वका लक्षण—

किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः। इति यत्र मतिद्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत् ॥५॥

अर्थ—जैन धर्म अहिंसामय है अथवा किसी किसी विषयमें हिंसामय भी है। इत्यादि संशययुक्त जो मनकी द्विविधा वही सांशयिक मिथ्यात्व है।

जो पदार्थ निश्चयरूपसे मालूम न पडा हो उसके विषयमें संशय होना संशयमिथ्यात्व नहीं है । क्योंकि, बडे बडे तत्त्वज्ञानियोंको भी संशय उत्पन्न होता है। जब तक छद्मस्थ अवस्था है तब तक संशय रहना असंभव नही है। श्रुतज्ञानके भी सूक्ष्म तत्त्वोंमें साधुओंतकको संशय हो जाता है। तभी तो आहारक शरीर बनाकर केवलियोंके दर्शन करनेसे मुनि अपना संशय दूर करते हैं। आहारक शरीर बनानेका यह भी एक प्रयोजन माना गया है। इसीलिये सशय होना कोई अनुचित नहीं है। परंतु आगम व युक्तिका प्रमाण मिलते हुए भी तत्त्व व धर्मके मार्गमें संशय रखना सो संशयमिथ्यात्व है। ऐसे संशय होनेके कारण कई होते हैं। एक तो कारण यह होता है कि चिरकालसे मिथ्यातत्त्वोपदेश मिलता रहा हो दूसरा कारण बुद्धि व भद्र परिणामोंकी कमी तीसरा कारण गुरुकुलमें रहकर सिद्धान्तका अध्ययन न करना, चौथाकारण धर्मके वन्धनको कष्ट समझना, पांचवां कारण निरंकुशतामें आनन्द मानना, छठा कारण सर्व विषयोंको खंडित करनेका अभिमान तथा विनोद रखना। इत्यादि कारणवश मनुष्य सच्चे तत्त्वोपदेशमें तथा धर्ममें भी संशय उत्पन्न करने लगता है। यह संशयमिथ्यात्व तभी कहाता है जब कि सदा ही संशय रखनेकी आदत पड जाती है और युक्ति तथा आगमके प्रमाण मिलते हुए भी उन प्रमाणोंकी तरफ ध्यान नहीं पहुंचाना चाहता। जब कि किसी निश्चयके लिये संशय उपस्थित किया जाता हो और विचारोत्तरकालमें ठहरे हुए सिद्धांतको स्वीकार करता हो तो वह संशय है परन्तु मिथ्यात्व नहीं है। जैनधर्म व जैन व्रत सत्य है या नहीं यह बात तत्त्वोंकी परिक्षा करनेसे मालूम हो सकती है जैन तत्त्वोंमें पूर्वापरविरोध सिद्ध नहीं होता इसीलिये जैनधर्मकी सत्यतामें शंका रखना मिथ्यात्व है।

आगमको स्वतः प्रमाण जब तक न माना जाय तब तक धर्मका स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता है । आगम तभी स्वतः प्रमाण माननेयोग्य हो सकता है जब कि उसे सर्वज्ञके उपदेशके अनुकूल माना जाय। जो देशकालकी तथा मनुष्यों की इच्छाकी अनुकूलता देखकर बनाया गया हो वह एक तो वास्तविक सुखसाधक नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्योंकी इच्छाएं स्वभावसे स्वार्थपर होती हैं स्वार्थपर इच्छाओंका जब जोर बढता है तब चोरी आदि अन्याय भी इच्छानुकूल हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि वह शास्त्र त्रिकालाबाधित और सबका हितकर नहीं हो सकता है, क्योंकि, इच्छाएं नाना और एक दूसरेके विरुद्ध हुआ करती हैं इसलिये सबका अभीष्ट हित किस प्रकारसे साधा जा सकता है? ऐसे शास्त्रोंकी सर्वमान्यता होना नितान्त कठिन है इसीलिए शास्त्रको सर्वज्ञके उपदेशाकूल मानना पडता है।

सर्वज्ञका उपदेश वास्तविक तथा सर्वजीवोंके लिये हितसाधक हो सकता है। क्योंकि सर्वज्ञको चराचर सभी बाधक साधक मालूम पडते हैं। इसलिये उसका उपदेश विरोध वा बाधासे रहित हो सकता है और उसीके उपदेशको स्वतः प्रमाणता प्राप्त हो सकती है। शास्त्रको स्वतः प्रमाण माने विना जो धर्मका निश्चय करना चाहते हैं उनके लिये यह कहना चाहिये कि वे अपनी बुद्धिको प्रमाण मानते हैं। परन्तु हम कह चुके हैं कि अल्पज्ञोंकी बुद्धि सर्व स्वरूपका निश्चय नहीं कर सकती है। इसीलिये जो विषय उनके समझनेमें न आया हो वह सूक्ष्मतत्त्व स्वबुद्धिप्रमाणवादियोंको ज्ञात नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्ण धर्मके स्वरूपमें विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है और धीरे २ वास्तविक धर्म इसी प्रकार छिप भी जाता है। यह दोष स्वबुद्धिप्रमाणवादियोंके अनुसार संसारमें फैलता है। यदि आगमको स्वतः प्रमाण माना जाय तो यह दोष उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि किसी आगम प्रमाणवादीके जाननेमें कोई धर्मका स्वरूप या उपदेश न आया हो तो भी वह उसे प्रमाण मानता है जिससे कि सत्यधर्मकी शृंखला विस्खलित नहीं हो पाती। इसीलिये यह लिखा है कि जैन धर्मके स्वरूपमें शंका रखना मिथ्यात्व दोष है जिससे कि स्वपरका अहित होना संभव है और आत्मज्ञानसे जो विमुखता हो रही है उसका पोषण होता है।

३—विपरीतमिथ्यात्वका लक्षण—

सग्रन्थोपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली। रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥६॥

अर्थ—ग्रंथ नाम परिग्रहका है। सग्रन्थ अर्थात् सपरिग्रह होनेपर भी निर्ग्रंथ = निष्परिग्रह मानलिया जाय तो ऐसी श्रद्धाको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। इसी प्रकार भोजनरूप परवस्तुमें प्रवृत्ति करते हुए को भी केवलज्ञानी मानना यह भी विपरीत मिथ्यात्वका एक उदाहरण है।

निर्ग्रंथ हो तो वस्त्रादि परिग्रह रखनेके लिये उत्सुक किस प्रकार होगा? यह परस्पर विरोध है। जो वस्त्रादि परिग्रह रखता होगा वह परिग्रहसे विरक्त नहीं हो सकता है और जो परिग्रहको परकीय जानकर उससे विरक्त होगा वह वस्त्रादि परिग्रह ग्रहण करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस प्रकार ये परस्पर विरोधी बातें होकर भी एक जीवमें रहते हुए मानना

१—सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः।

यही बुद्धिका विपर्यास है। जो ऐसा बुद्धिविपर्यास है वह आत्मज्ञानसे वहिर्मुख होनेका लक्षण है इसीलिए इस विपर्यासरूप बहिर्मुखताका विपरीत मिथ्यात्व यह नाम रखते हैं।

केवलज्ञान तब होता है जब कि चारो घाती कर्म नष्ट होजाते हैं घाती कर्मोंका कार्य यह है कि जीवको परवस्तुओंमें मोहित करें, पराधीन करें, परवस्तुओंके विना निर्वाह नहीं होगा ऐसी भावना उत्पन्न करें। इसीलिये जीव जबतक घातिकर्मोंके उदयवश रहता है तबतक क्षुधादिदोषोंसे व्याकुल रहता है और इष्टसंयोग मिलाता रहता है। परंतु जो मोहादि घातिकर्मोंका नाश करके निर्मोह तथा केवलज्ञानी होचुके हैं उनको हम जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्तका अर्थ यह है कि जो परवस्तुसंग्रह करानेवाली सर्व क्रियाओंसे छूट चुके हैं और रत्नत्रयको जो मुक्त जीवोंकी भांत पूर्ण कर चुके हैं परंतु अघातिकर्म तथा पूर्वोपार्जित शरीरमेंसे जुदे नहीं होपाये हैं इसलिये मुक्त होकर भी जीवित हैं—अर्थात्, शरीर, आयु, श्वासोच्छ्वास तथा इंद्रिय प्राणोंके रहनेसे जीवित कहेजाते हैं। परंतु पुद्गलको बुद्धिपूर्वक अपनानेसे पूरे पराङ्मुख होचुके हैं। ऐसे केवली होकर भी कवलाहारको खावें यह परस्पर असंबद्ध या विरुद्धकार्य है। इसीलिये ऐसा श्रद्धान अनात्मज्ञानको सूचित करता है जिसे कि हम विपर्ययमिथ्यात्व इस अन्वर्थ नामसे सबोधते हैं।

४—अज्ञानिकमिथ्यात्वका लक्षण।

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यंतमदर्शनं। यथा पशुवधो धर्मस्तदज्ञानिकमुच्यते॥ ७॥

अर्थ—जिस मतमें हित और अहितका विलकुल ही विवेचन नहीं है। संसारी प्राणियोंके हितके लिये ही उपदेश न देकर अहितमें प्रवृत्ति करानेका उपदेश है वह अज्ञानिक मिथ्यात्व है इसका सबसे बडा उदाहरण यज्ञमें पशुओंका होम करना और फिर उसको धर्म बतलाना है। जो वध किसी भी कालमें किसीके लिये वास्तविक हितदायी नहीं होसक्ता उसको करनेका लोगोंको उपदेश देना और यह आशा कराना कि इसके करनेसे तुम्हें धर्म होगा, धर्मकी प्राप्तिसे स्वर्गादिके सुख मिलेंगे यह बडा भारी अज्ञान है क्योंकि यह सब कोई जानता है कि संसारमें अपनी अपनी जान सबको प्यारी है और उसके रक्षाकी सब ही छोटे बडे जीव भरसक कोशिश करते हैं तब किसी स्वार्थवश पशुओंको मारनेकी आज्ञा देना और उससे धर्म प्राप्तिका लोभ देना किसी भी हालतमें कोई भी विवेकी न्याय्य या सच्चा ज्ञान नहीं कह सकता।

इसीलिये जिन शास्त्रोंमें या जिन मतोंके प्रवर्तकोंमें उपर्युक्त अज्ञान विद्यमान हैं उन्हें आचार्यने अज्ञानिकमिथ्यात्वी

बतलाया है और यह कहा है कि उन्हें किसीके भी हित अहितका ज्ञान नहीं है। यदि हित अहितका ज्ञान होता तो क्या वे यह नहीं समझ सक्ते कि जिस क्रियासे दूसरोंकों दुःख पहुचता है और ऐसा वैसा भी दुःख नहीं, सबसे बडा दुःख जो कि मौतका है वह प्राप्त होता है उसक्रियासे विपरीत स्वभाव वाले सुखकी उत्पत्ति कैसे हो सक्ती है?

५—वैनयिक मिथ्यात्वका लक्षण—

सर्वेषामपि देवानां समयानां तथैव च। यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत्॥ ८॥

अर्थ—संसारमें जितने भी देव पूजे जाते हैं और जितने भी शास्त्र या दर्शन प्रचलित हैं वे सब सुखदायी हैं, उनमें कोई भेद नहीं है सबसे मुक्ति या आत्माके हितकी प्राप्ति होसक्ती है ऐसा जो मानना है वह विनय मिथ्यात्व है और इस सिद्धांतके माननेवाले लोग वैनयिक मिथ्यात्वी है। वैनयिक मिथ्यादृष्टियोंके वशिष्ट पाराशर आदि बत्तीस भेद ऊपर दिखला आये हैं।

मिथ्यात्वके पाचभेदोंकी आवश्यकता।

१। एकान्त मिथ्यात्व उनकेलिये कहागया है कि जो स्याद्वाद दर्शनके विरुद्ध किसी न किसी एकान्त एकान्त पक्षोंको मानते हैं। जैनदर्शनका शेपदर्शनोंके साथ एकान्तदृष्टिसे ही निषेध किया गया है नहीं तो बहुतसे एकांतवादियोंके सिद्धांत भी जैनदर्शनके अनुकूल होजाते हैं। जैनदर्शनके सिवा जितने दर्शन हैं वे एकांतवादी सभी हैं। इसलिये वे सर्व एकांत मिथ्यादृष्टि ही मानेजाते हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धदर्शन एकांतमिथ्यात्वी है; क्योंकि, वह वस्तुमात्रको पूर्वापरसंबंधरहित क्षणस्थायी मानता है। परंतु क्षणिकताके साथ नित्यतास्वरूप माने विना काम नहीं चलसकता है। यदि निरन्वय वस्तुएं हों तो बीजकी आवश्यकता अंकुरोत्पत्तिमें क्यों होनी चाहिये? इस प्रकार सर्व एकांतवाद दूषित होजाते हैं।

२। विपरीत मिथ्यादृष्टी वे होते हैं जो कि धर्मक्रियाओंको विपरीत करते हैं। सबसे बडा इसका उदाहरण यज्ञसंबंधी पशु

---

१ एयंत बुद्धदरसी विवरीयो, बह्म तावसो विणओ। इंदोवि य संसइयो मक्कडियो चेव अण्णाणी॥ गोमट०। एयंतं विपरीयं विणयं संसइदमण्णाणं॥ गोमट०। २। तत्त्वार्थराजवार्तिकजी में तथा इस ग्रंथमें अज्ञानिक मिथ्यात्व का दृष्टांत यह दिया है और यहां जो विपरीत मिथ्यात्व का लिख रहे हैं वह गोम्मटसारजी जीवकांड की १६ वीं गाथा के अनुसार है।

वध है। संकल्प करके किसी निरपराधको मारना सर्व निष्पक्ष मनुष्योंकी दृष्टिमें पाप है। ऐसे सर्वसंमत पापको जो धर्म समझता है वह सबसे बडा विपरीतज्ञानी है। इसीलिये उसके अनात्मज्ञानको अथवा मिथ्यात्वको विपरीत मिथ्यात्व कह सकते हैं। यो तो एकांत मिथ्यात्व भी स्याद्वादकी अपेक्षा विपरीत होनेसे विपरीत मिथ्यात्व कहा जासकता है परन्तु वह विपरीतता कुछ ज्ञानियोंकी ही समझमें आसकती है, सर्वसामान्यकी दृष्टिमें सुगमतया नहीं आसकती। पर हिंसा या वधको धर्म बनानेवाला सभीकी दृष्टिमें विपरीत भासने लगता है। इसलिये वधादि प्रसिद्ध विपरीत धर्माचरणोंको विपरीत मिथ्यात्वमें गर्भित करना उचित है। ऐसा मिथ्यात्व भी जगत्में एक प्रसिद्ध निराली भांतका वर्तमान है।

३। संशयमिथ्यात्व वह है कि सत्यधर्मके पासतक पहुंचकर भी उसमें शंकित बने रहना, जिससे कि दृढताके साथ धर्ममें प्रवृत्ति नहीं होसके। यह बात भी तभी तक होगी जबतक कि वास्तविक आत्मज्ञान प्रगट न हुआ हो। जो आत्मज्ञानी होचुका है वह आत्माके बन्धमोचनादिके स्वरूपमें भ्रांत क्यों होगा? इसीलिये यह भ्रांतता मिथ्यात्व है। सर्वथा सत्य जैनधर्ममें आपहुंचनेपर भी यह भ्रांतता बनीरहती है; यह बात दिखानेकेलिये यह मिथ्यात्वका भेद संग्रह किया है। इसीलिये इसका उदाहरण श्वेतांबर धर्मको माना है और भी ऐसे संशय मिथ्यात्वके उदाहरण होसकते हैं।

४। अज्ञानिक मिथ्यात्व वह है कि जो वस्तुका सामान्य विशेषरूप स्वरूप यथार्थ नहीं जानना—अपने मनकी प्रेरणासे जो चाहें मानना। इसके उदाहरण मस्करी आदि संन्यासियोंके भेद हैं। आत्माके अमूर्तित्व आदि सामान्य धर्मोंमें तथा उपयोग आदि रूप विशेष धर्मोंमें जब अज्ञान रहता है तब ही मनोनीत कल्पनायें उत्पन्न होती हैं इसीलिये वास्तविक ज्ञानके अभावसे इसको मिथ्यात्वमें दिखलाया है।

५। गुणग्रहणकी अपेक्षासे अनेक धर्मोंमें प्रवृत्ति होना सो वैनयिक मिथ्यात्व है। अर्थात् वैनयिककी प्रवृत्तिमें अज्ञानमुख्य कारण नहीं है किंतु विनयस्वभावका अतिरेक मुख्य कारण है। इसीलिये यह पांचवां भेद अज्ञानसे जुदा दिखाना पडा है। इसका लक्षण ऊपरके चारोंसे भिन्न है और ऐसे मिथ्यादृष्टियोंकी संख्या भी बहुत है इसलिये इसे जुदा एक मिथ्यात्व बतानेकी आवश्यकता थी। आत्माकी शुद्धता क्या चीज है और कैसे होसकती है ऐसा जिसे ज्ञान होगा वह वैनयिक नहीं हो सकता। इसीलिये वैनयिक अनात्मज्ञानोंकी गिनतीमें आता है। अनात्मज्ञानका ही नाम मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्वका सामान्य लक्षण भी वैनयिकमें रहता है। वैनयिकका उदाहरण तापसीलोग हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्वके उक्त पांचो भेद जुदे जुदे और आवश्यक ठहरते हैं। लोगोंके मिथ्याज्ञान और प्रवृत्तियोंके प्रकार स्थूलतासे ये पांच ही बनसकते हैं अधिक नहीं। अधिक भेद करना चाहें तो इन्हींके वे उत्तरभेद होंगे। इसीलिये मध्यम विस्तारको अच्छा समझकर ये पांचभेद कियेगये हैं। मिथ्याज्ञानको ही मिथ्यात्व कहते हैं इसलिये मिथ्याज्ञानके कहीं कहीं पर तीन प्रकार भी दिखाये गये हैं। १ कुछ लोग हितको समझते ही नहीं है और उस असल हितको चाहते भी नहीं हैं। २ कुछ लोग हित समझकर भी उसमें संशय करते हुए दिन बिताते हैं। ३ कुछ लोग अहितको हित समझ लेते हैं। इस तीन प्रकारके अज्ञानसे जगत् खेदखिन्न होरहा है।[1]

अविरतिका स्वरूप—

षड्जीवकायपंचाक्षमनोविषयभेदतः। कथितो द्वादशाविधः सर्वविद्भिरसंयमः ॥ ९ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, तथा वनस्पति ये पांच भेद एकेन्द्रिय जीवोंमें होते हैं। द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय—संज्ञी असंज्ञी इन सबोंको त्रस कहते हैं। इसप्रकार पांच एकेंद्रिय व एक त्रस मिलानेसे जीवोंके भेद छह होजाते हैं। ये जीव जिन शरीरोंमें रहते हैं वे जीवित शरीर भी छह प्रकारके होंगे। शरीरोंको काय कहते हैं इसलिये छह जीवकाय भी ये ही कहाते हैं। इन छह जीवकायोंकी विराधना करनेसे न रुकना सो प्राणाऽविरति है। इसीको हिंसा कहते हैं। हिंसाके विषय जीव छह प्रकारके हैं इसलिये हिंसाके छह भेद विषयकी अपेक्षा किये जासकते हैं।

पांच बाह्य इंद्रिय और एक अंतरंग इंद्रिय मन ये छह इन्द्रिय हुए। इन इन्द्रियोंकी जो विषयोंमें निरर्गल प्रवृत्ति होती है उसे छह प्रकारकी इन्द्रियाऽविरति कहते हैं। इंद्रियोंको मन चाहे पाप विषयोंमें न जाने देनेसे इंद्रियकी विरति कहाती है और छहो प्रकारके प्राणियोंका वध सर्वथा रुक जानेसे हिंसा विरति कहाती है। ये सर्व विरति या व्रत या संयमके बारह भेद हुए। इन्हीं बारहोंको पुण्यास्रवके प्रकरणमें पांच अहिंसादि व्रतोंके नामसे पांच प्रकारसे भी कहा है। अर्थात्, पापोंके विषय बारह हैं जब कि हम प्राण व इंद्रियोंके विषयोंको पाप कहते हैं और जब कि हम समुच्चयसे लोकके पाप देखते हैं तो हिंसादि पांच पाप हैं। परंतु अविरति चाहे किसी प्रकारसे भी हो स्वच्छंद विषयभोगोंमें मग्न होनेका ही नाम है।

१ हितमेव न वेत्ति कश्चन भजतेऽन्यः खलु तत्र संशयम्। विपरीतरुचिः परो जगत् त्रिभिरज्ञानतमोभिराहतम् ॥ (इति चन्द्रप्रभचरिते वीरनन्दी)

मिथ्यात्व रहनेपर तो अविरति रहती ही है परंतु छूट जानेपर भी रह सकती है। मिथ्यात्व न रहनेपर जीवसम्यक्त्वी हो जाता है परंतु अविरति फिर भी चारित्रमोहका उदय हो तो विषयवासना हटनेपर हटती है। सो भी अविरतिका पूर्ण अभाव होजाय और महाव्रत प्रगट हो जाय, यह किसी विरलेको ही होता है। नहीं तो, बहुत हुआ तो एकदेश विरति होती है जिसे कि अणुव्रत कहते हैं। यह बारह प्रकारकी अविरति जो भगवानने पापका कारण कही है वह जबतक छूटती नहीं तबतक अविरतिजन्य कर्मबंध होता ही रहता है। असंयम भी इसीका नाम है।

प्रमादका स्वरूप—

शुद्ध्याष्टके तथा धर्मे क्षांत्यादिदशलक्षणे। योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः ॥ १० ॥

अर्थ—आठ शुद्धि और दश धर्मोंमें जो उत्साह न रखना उसे सर्वज्ञदेवने प्रमाद कहा है। अर्थात्, विरति या संयम हो जानेपर भी जो उसके सँभालनेमें आलसी रहना, असावधानी करना, अनुत्साह रखना सो सर्व प्रमाद है। मिथ्यात्व व अविरतिके रहते हुए तो प्रमाद रहता ही है परंतु विरति हो जानेपर भी जल्दी जाता नहीं है। इसीलिये अविरतिके बादमें यह बंधका कारण लिखा गया है और अविरतिसे एक जुदा है।

भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, शयनशुद्धि, आसनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि[1] वाक्यशुद्धि ये आठ शुद्धि हैं। इनका अर्थ शब्दोपरसे मालूम होता है। शुद्धिका वर्णन आगे संवरके प्रकरणमें भी आवेगा। इन शुद्धियोंके रखनेसे संयम निर्मल होता है। उत्तम क्षमादि धर्मोंके दश भेद आगे संवर प्रकरणमें लिखेंगे। दश धर्मोंमें अनुत्साह रखनेको प्रमाद कहा परंतु यह उपलक्षण है। संवर निर्जराके जो कारण हैं वे सभी धर्मोंकी भांत संभालकर पालनीय हैं इसीलिये समिति गुप्ति परीषहजय इत्यादि संवरके कारणोंमें जो अनुत्साह वह सभी प्रमाद है।

शुद्धि व धर्मादि संवरके कारणोंमें रहनेवाले अनुत्साहको प्रमाद कहनेसे यह वात सिद्ध होती है कि विरति हो जानेपर भी प्रमाद रह सकता है। छट्ठे गुणस्थानमें अविरति नष्ट हो चुकी परंतु प्रमाद विद्यमान है जिससे कि विरति

१ 'प्रमादोऽनवधानता' इति अमरकोषः। प्रमादः कुशलेष्वनादरः। [इति सर्वार्थ०] २ अविरते प्रमादस्य चाविशेष इति चेन्न, विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्। [इति वार्तिका०]

वनी रहनेपर भी भोजन—गमन—शयन—संघ परिरक्षण—गुरुविनयादि कामोंमें कभी कभी असावधानी हो जाती है और उसके दूर करनेकेलिये प्रतिक्रमणादि प्रायश्चित्त कर्म कहे हैं।

कषायविवरण—

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिता। ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पंचविंशतिः ॥११॥

अर्थ—तारतम्यके भेदसे अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन ऐसे कषायके भेद चार हैं। और स्वरूप भी कषायके चार ही हैं, क्रोध, मान, मायाचार व लोभ। इसलिये कषायोंके चार स्वरूपोंको तारतम्यके चार भेदोंसे गुणित करने पर कषाय सोलह हो जाते हैं, १ अनंतानुबंधी क्रोध, २ अनंतानुबंधी मान, ३ अनंतानुबंधी मायाचार ४ अनंतानुबंधी लोभ, ५ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, ६ अप्रत्याख्यानावरण मान, ७ अप्रत्याख्यानावरण माया, ८ अप्रत्याख्यानावरण लोभ, ९ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, १० प्रत्याख्यानावरणमान, ११ प्रत्याख्यानावरणमाया, १२ प्रत्याख्यानावरण लोभ, १३ सज्वलन क्रोध; १४ संज्वलन मान, १५ सज्वलन माया, १६ संज्वलन लोभ। आत्माके शुद्ध चैतन्यका घात या कपन जिस विपरीत भावसे हो वही कषाय है। यह कषायका लक्षण क्रोध करनेमें भी विद्यमान है, मानमें भी है मायाचारके समय भी है, लोभमें भी है।

नौ नोकषाय भी एक जुदे माने जाते हैं, १ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ जुगुप्सा, ७ स्त्रीवेद भाव, ८ पुरुषवेद भाव, ९ नपुंसकवेद परिणाम। कषाय व नोकषायोंको जुदा २ गिननेसे सर्वकषाय पच्चीस हो जाते हैं। नोकषाय भी हैं तो कषाय ही, परन्तु थोडासा यह अंतर है कि कषाय होनेपर जीव जिस प्रकार दुःखी या अशांत बन जाता है वैसा हास्यादि नोकषाय रहते नहीं होता। इसीलिये हास्यादि करने पर भी वह अपनेको सुखी समझता है। दूसरी बात यह है कि कषाय जैसा दूसरेका अहित करा सकते हैं वैसा अहित हास्यादि नोकषायोंके रहनेसे नहीं होता। अरति तथा भयके होनेपर यदि अरति व भयके कारणोंको हटानेका प्रयत्न किया जाय तो उस समय क्रोधादि कषाय प्रगट हो

१ अज्ञाव्यापादनक्रिया अनाकांक्षक्रिया इत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावः (इति सर्वार्थ०) अर्थात् प्रमादका स्वरूप यों समझना चाहिये कि आस्रव प्रकरणमें जो आज्ञाव्यापादनक्रिया तथा अनाकांक्षाक्रिया बताई है वही प्रमाद है। आज्ञाव्यापादनादि क्रियाएं असावधानी रखनेसे ही होती हैं। इसीलिये यह सिद्ध होता है कि विरति हो जानेपर उसका कारण प्रमाद विद्यमान रह सकता है।

जाते हैं। यह छोटासा भेद कोई प्रधान कारण इस बातमें नहीं हो सकता है कि नोकषायोंको कषायोंमें समाविष्ट न करने दें। इसीलिये कषाय सर्व पच्चीस हैं और सभीमें आत्महिंसा करनेका सामर्थ्य रहता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद इन तीन तथा एक दो बंधकारणोंके रहते हुए तो कषाय रहता ही है परन्तु ये तीनों कारण न रहें तो भी इस कषाय कारणका अभाव सर्वत्र नहीं हो पाता है। इसलिये इस कारणको तीनोंके बादमें लिखा है। उत्तरोत्तर कारण पूर्व कारणोंके रहते हुए तो रहते ही हैं परंतु न रहते हुए भी रहते हैं। अनंतानुबंधी कषाय मिथ्यात्वके रहते हुए रहता है। अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषाय अविरति रहते हुए व मिथ्यात्व न रहते हुए भी रहता है। संज्वलन कषाय, मिथ्यादर्शन अविरतिके नष्ट हो जाने पर प्रमाद रहते हुए भी रहता है और अव्यक्त संज्वलन, प्रमादके छूटजाने पर भी रहता है। इन तीनोंका कषायके साथ समान सद्भाव नहीं रह सकता किंतु विषम सद्भाव रहता है। अर्थात् मिथ्यात्वादि जहां हों वहां कषाय अवश्य रहेगा परन्तु कषायके रहते मिथ्यात्वादि रहते भी हैं और नहीं भी रहते हैं एक समयगत एक जीवके परिणामोंको देखें तब तो मिथ्यात्वादि किसी एकके सिवा दूसरा परिणाम रह ही नहीं सकता है परन्तु ऊपरकी विषम व्याप्ति कारणसद्भाव रहनेसे या योग्यता रहनेसे मानी जाती है। मिथ्यात्व अविरति व प्रमादके साथ कषायका अविनाभावी सर्वदेशीय संबंध नहीं रहता इसीलिये अविरति आदि कारणोंसे कषायको जुदा कारण मानना पडता है। प्रमाद छठे गुण स्थान तक रहता है परन्तु कषाय दशवें तक रहता है। और कषाय कारण है अविरति कार्य है इसमें भी परस्पर भेद मानना पडता है। बंधका यह चौथा कारण हुआ।

योगवर्णन—

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम्। पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगा पंचादशोदिता :१२

अर्थ—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग ये पंद्रहयोग हैं। इनका विशेष वर्णन जीवतत्वके वर्णनमें

---

१ मिथ्या दर्शनादीना बन्धहेतुत्व समुदाये च वेदितव्यम्। तत्र मिथ्यादृष्टे पचापि समुदिता बन्धहेतव । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टथसंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वार । संयतासंयतस्याविरतिमिश्रा प्रमादकषाययोगाश्च । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगा । अप्रमत्तादीना चतुर्णां कषाययोगौ । शान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेक एव योग अयोगकेवली अबन्धहेतुः। २ नहि सर्वाणि मिथ्यादर्शनादीनि एकस्मिन्नात्मनि युगपत्सम्भवन्ति। नापि हिंसादय सर्वे परिणामाः। ३। कषायाविरत्योरभेद इति चेन्न कार्यकारणभेदोपपत्ते । कारणभूता हि कषाया कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता.। (इति वार्तिका०) ४ कषाय कषणान्मतः। इति।

हो चुका है। योग मिथ्यादृष्टीसे लेकर केवली पर्यंत रहते हैं। योगोंका भी मिथ्यात्वादि वंधकारणोंके साथ अनिश्चित संबंध है। इसीलिये मिथ्यादृष्टी, प्रमादी न कषाययुक्त जीवके साथ भी योग रहता है और मिथ्यात्वादि कारण नष्ट हो जानेपर भी रहता है। इस प्रकार वंधके कारणोंका वर्णन हुआ।

बन्धका स्वरूप—

यज्जीवः सकषायत्वात्कर्मणो योग्यपुद्गलान्। आदत्ते सर्वतो योगात्स बंधः कथितो जिनैः॥१३॥

अर्थ—सकषाय बनने पर जीव कर्मयोग्य पुद्गलोंको सब तर्फसे ग्रहण करता है यही वंध है। कोई जीव प्रदेश किसी समय भी वंध होनेसे वाकी नहीं रहता है। सदा सर्व प्रदेशोंमें वंध होता ही रहता है कर्मपिंडोंको ग्रहण करनेका हेतु योग है और कर्मरूप परिणमानेका हेतु कषाय हैं यह भी इसीका अर्थ है कि पूर्वबद्धकर्म के उदयसे जीवमें कषाय प्रगट होता है। उसी कषायसे जीवमें आगामी कर्म वंधते जाते हैं। इसलिये जीवकर्मका संवंध अनादिका है तभी तो नवीन कर्म वंधते रहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन लिख चुके हैं।

कर्म आत्माका गुण नहीं है—

न कर्मात्मगुणोऽमूर्तैस्तस्य बन्धाप्रसिद्धितः। अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तैः कर्तुमर्हति॥१४॥

अर्थ—कर्म आत्माका गुण नहीं हो सकता है। यदि गुण हो तो अमूर्त आत्माका उससे वंधन होना सिद्ध नहीं हो सकेगा। गुण गुणीमें सदा तादात्म्य संवंधसे रहते हैं इसलिये उनका वंधन कहना अयुक्त होता है वंधन उसीका किसी चीजमें माना जा सकता है जो कि स्वयं जुदी जुदी चीजें हो। इसी प्रकार जब कि वह गुण हो तो आत्माको सुखी व दुःखी नहीं कर सकेगा। जो वस्तुका गुण होता है वह अपने आश्रयभूत द्रव्यको कभी विकारी नहीं बनाता। विकारी वही बना सकता है जो कि विजातीय हो। जो गुण होता है वह सजातीय होता है और इसीलिये कभी अपने आश्रयी द्रव्यमें विकार भाव पैदा नहीं करता परंतु कर्म जीवके सर्वज्ञत्वादि जो अनंत गुण हैं उनका तिरोभाव कर उसे विकृत बना-देता है, शरीरमें बांधकर स्वभावविरुद्ध रोक रखता है।

जैसे कि अमूर्त आकाश दिशा आदि अमूर्त पदार्थोंका न तो अनुग्रहकही होता है और न प्रतिघात ही करता है

कि अमुक असुक दिशा अमुक अमुक आकाशके प्रदेश तक मानी जाय और आगे या पीछे न मानीजाय, लोगोंकी जैसी कल्पना होती है उसी प्रकार वे करलेते हैं आकाश कुछ व्यवधान बाधा नहीं देता क्योंकि अमूर्तका अमूर्तसे कुछ बनता विगडता नहीं, इसी प्रकार अमूर्त आत्मा का गुण यदि कर्म होता तो उससे भी उसका कुछ विकार भाव न होता पर देखा तो जाता है इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि कर्म आत्माका गुण नहीं है।

कर्मकी मूर्तिमत्ता सिद्धि—

औदारिकादिकार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत् । न ह्यमूर्त्तेन मूर्त्तनामारंभः क्वापि दृश्यते ॥१५॥

अर्थ—इसके सिवा यदि कर्म आत्माका गुण है यह किसी प्रकार मान भी लिया जाय तो आत्मा अमूर्त होने से उसका गुण भी अमूर्त ही होगा और जब कर्म अमूर्त सिद्ध होगा तो उससे औदारिक आदि मूर्त शरीरोंकी जो उत्पत्ति देखी जाती है वह भी सिद्ध न होसकेगी क्योंकि अमूर्त पदार्थसे मूर्त पदार्थकी उत्पत्ति होना न्यायसे बाधित है। कभी किसीने कहीं न देखी और न सुनी है।

न च बंधाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्तैः कर्मभिरात्मनः । अमूर्तेरित्यनेकांतात्तस्य मूर्तित्वसिद्धितः ॥१६॥

अर्थ—अच्छा ! यदि कर्म मूर्तिक है तो अमूर्त आत्माके साथ उनका बंध किस तरह हो सक्ता है क्योंकि अभी ऊपर ही अमूर्तका मूर्त्तसे संबंध नहीं होता यह सिद्ध कर आये हैं। यह हुआ प्रश्न,

अब इसका इस श्लोकमें उत्तर देते हैं। इस दोषको हटानेके लिये आत्माको अनादिसे कर्मबद्ध मानते हैं। अनादि स्वभाव माननेमें तर्क नहीं होसकता है। जैसे कि शुद्ध हुए सोनेको यदि कोई चांहे कि मट्टी धूलमें मिलाकर अशुद्ध कर दूं तो नहीं करसकता है परतु खानमेंसे जब सोना निकलता है तब मलसे लिप्त या व्याप्त रहता ही है। वह उसकी अशुद्धता अनिमित्तक है, अनादिकालीन है। क्यों हुई ? इस प्रश्नकी वहां आवश्यकता नहीं[1] है। इसीप्रकार जीव व कर्मोंका बंध अनादिसे है और उस बंधके सहारेसे दूसरे उत्तरोत्तर बन्ध होते रहते हैं। इसलिये संसारवर्ती जीवको जैनसिद्धांतमें

---

१ शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्। साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ १०० अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणाया व्यक्तिरनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसंततेरनादित्वात् इति अष्टसहस्री। इस उदाहरणसे जीवकर्मका संबंध भी अतर्कणीय सिद्ध होता है।

वर्तमान दशाकी अपेक्षासे मूर्तीक माना जाता है। यदि केवल मूर्तीक हो तो मुक्त ही क्या हो! परंतु मुक्त होना युक्ति-साध्य है। चैतन्यादि गुणोंका इंद्रियोंद्वारा ज्ञान नहीं होता इसलिये वह शुद्ध स्वरूप जो मुक्त होनेपर प्रगट होता है वह अमूर्तीक ही होना चाहिये इस प्रकार शुद्ध स्वभाव या निजस्वरूपकी अपेक्षासे उसे अमूर्तीक मानना पडता है। इसलिये केवल मूर्तीक भी नहीं है और केवल अमूर्तीक भी नहीं है यह बात सिद्ध हुई। इसीलिये मूर्तीक कर्मका जब कि बंध होता है तो उस आत्माको भी पूर्वबद्ध कर्मके संबंधसे मूर्तिक मान सक्ते हैं इसलिये ऊपरका प्रश्न नहीं रहता। कर्मोंसे आत्माका बंध इस प्रकार सिद्ध हुआ।

मूर्तिकताका हेतु—

अनादिनित्यसंबन्धात् सह कर्मभिरात्मनः। अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥१७॥

अर्थ—अनादि कालसे शाश्वतिक बंध जीवके साथ कर्मोंका होरहा है। बंधका स्वरूप यह है कि दोनो पूर्वावस्थाएे छूट कर तीसरी अवस्था प्राप्त होजाय या उस समय दोनोकी एकता प्राप्त होजाय ऐसाही बंध आत्मा तथा कर्मोंका होरहा है। इसलिये अमूर्त आत्मामें भी मूर्तीकता प्राप्त हुई माननी पडती है।

अमूर्तीकसे मूर्तीक बननेकी युक्ति—

बंधं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुप्रवेशतः। युगपद्द्रावितस्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः ॥ १८ ॥

अर्थ—कर्म व आत्माके प्रदेश परस्परमें प्रविष्ट हो जाते हैं इसलिये बंधकी अवस्थामें जीव मूर्तीक मानना पडता है। जब कि मूर्तीक कर्मोंसे एकता हो चुकी है तो आत्माको भी मूर्तीक क्यों न मानना चाहिये।

दृष्टांत—एक साथ सुवर्ण तथा चांदीको यदि गलाया जाय तो दोनो मिलकर एकमय हो जाते हैं। क्या उस हालतमें चांदी व सुवर्णको कोई जुदा जुदा बता सकता है? नहीं। जो चांदीका स्वरूप है वही सुवर्णका है और जो सुवर्णका स्वरूप है वही चांदीका है। चांदी सफेद है इसलिये उस मिश्रित सुवर्णको भी सफेद कहना पडता है और सुवर्ण पीला होता है। इसलिये उस सुवर्णमिश्रित चांदीको भी पीला कहना पडता है। हां, यदि वे दोनो जुदे करदिये जांय तो चांदी पीली नहीं रह सकती और सुवर्ण सफेद नहीं रह सकता है। इसीप्रकार जीव कर्मके बंधनसे जीव मूर्तीक व कर्म चेतन बन जाते हैं। परंतु जुदा करनेपर कर्म जड व जीव अमूर्तीक ही रहेगा। जुदा होनेपर अपने अपने मूलस्वभावको पदार्थ

प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि, स्वभावोंका संबंध तादात्म्य और शाश्वता होता है। खैर! शुद्ध होनेपर चाहें जीव कैसा ही हो परंतु बंधके समय मूर्तीकता जब कि सिद्ध हो चुकी तो कर्मोंके साथ बँधन होनेमें कोई बाधा नहीं रही। आत्माको मूर्तीक ठहराना इतना ही हमारा प्रयोजन है।

संसारी जीवको मूर्तीक ठहरानेका अनुमान—

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्। नह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥ १९ ॥

अर्थ—इसलिये आत्माको मूर्तिक ही मानना चाहिये इसका समर्थन करनेवाला यह एक हेतु भी है कि आत्मा मूर्तीक है तभी तो मद्यका परिणाम उसपर होते दिखता है कहीं अमूर्तीक आकाशको भी मदिरा मद पैदा करसकती है? नहीं। परंतु आत्माको तो अपने मदसे वह मोहित करती है इसलिये मानना चाहिये कि मूर्तीक मद्यसे मोहित होजानेवाला आत्मा भी मूर्तीक है। भावार्थ, आत्माका असली स्वभाव तो अमूर्तीक ही मानना पडता है जो कि युक्तिसे सिद्ध है परंतु बंधनकी विचित्रशक्ति होनेसे संसार दशामें वह मूर्तीक भी मानना पडता है।

अमूर्त आत्माका बंध मूर्त कर्मोंद्वारा नहीं हो सकता और बंधन है ही इसलिये अनादि बंधनको अतर्कनीय ठहराकर आत्माको बंधपर्यायमें मूर्त बताया जाता है जिससे बंधन न होसकनेकी शंका न रहे। इसके बदलेमें यदि कर्म भी अमूर्तीक माने जाय और उसी अत्माके गुण माने जांय तो क्या बाधा है? ऐसा माननेसे अमूर्तको मूर्त ठहरानेकी क्लिष्ट कल्पना करनी न पडेगी। नैयायिकोंने अदृष्टको आत्माका गुण माना भी है ही। इस प्रश्नका उत्तर—

गुणस्य गुणिनश्चैव न च बंधः प्रसज्यते। निर्मुक्तस्य गुणत्यागे वस्तुत्वानुपपत्तितः ॥ २० ॥

अर्थ-आत्माको गुणी द्रव्य और कर्मोंको उसका गुण माना जाय तो दोनोंका बंधन होना सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि गुणी व गुणका तादात्म्य संबंध रहनेपर भी वह बंधन नहीं कहा जाता है। बंधन जुदी जुदी दो चीजोंका ही होता है। यदि यह गुण गुणीका बंध ही माना जाय तो यह तो विचारिये कि कर्मबंधन मुक्ति होनेके समय टूट जाता है। यदि ये कर्म गुण थे तो यों कहना चाहिये कि मुक्तिके समय आत्माके गुणका नाश हो जाता है। जहां गुणका नाश हो जायगा वहा गुणी भी नष्ट हो जायगा; क्योंकि, गुणोंके विना द्रव्यकी सत्ता कोई चीज नहीं हो सकती। अथवा यों कहिये कि

द्रव्योंमें जो गुण रहते हैं वे द्रव्योंके लक्षण होते हैं। गुणोंसे ही द्रव्य जाननेमें आता है। जुदा द्रव्यका कोई स्वरूप नहीं सिद्ध होता। इसलिये किसी गुणका नाश मानो उस द्रव्यके लक्षणका नाश है। जब कि लक्षणका नाश हो चुका तो लक्ष्य पदार्थ किस प्रकार सिद्ध किया जासकता है? बस, गुणके नाशके साथ साथ द्रव्यका भी नाश हो जायगा परंतु सत्का विनाश[1] कभी हो नहीं सकता है। इसलिये कर्मको गुण नहीं मानना चाहिये। कर्मको अमूर्तीक आत्मगुण माना जाय तो सुख दुःखका उसके द्वारा होना तथा शरीर बंधन प्राप्त होना असंभव[2] हो जायगा यह बात पहिले और भी इसी प्रकरणमें कही जाचुकी है। दूसरा एक दोष यह भी आता है कि कर्म यदि गुण हैं तो गुणका कभी नाश नहीं होता इसलिये आत्मा कभी कर्मसे मुक्त ही नहीं होसकेगा।

कर्मोंका विशेष स्वरूप—

प्रकृतिस्थितिबन्धौ द्वौ बन्धश्चानुभवाभिधः। तथा प्रदेशबन्धश्च ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ॥२१॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध अनुभवबन्ध और प्रदेशबन्ध ये बन्धके चार प्रकार होते हैं। प्रकृतिका अर्थ स्वभाव[3] है। वह कर्मरूप पर्याय जबतक बना रहै तबतककी काल मर्यादाको स्थिति[4] कहते हैं। रस विशेष जो उत्पन्न होता है जिसको कि आत्मा अनुभव करता है उसका नाम अनुभवबंध[5] या अनुभागबंध है। परमाणुपुंजोंकी[6] सख्याको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार घटको परिणमानेकी उपादान शक्ति या योग्यता घटके अवयवोंमें माननी पडती है तभी घट पर्याय का प्रादुर्भाव होता है। अथवा, जीवमें शरीरादि पूर्ण करनकी पर्याप्ति नामक शक्ति जब मानते हैं तभी उन पर्याप्तियोंसे प्राणकार्य उत्पन्न होते हैं। यदि पर्याप्ति न हों तो प्राण उत्पन्न नहीं होसकते हैं। प्राण कार्य होते हैं और पर्याप्ति कारण। अथवा, पुद्गलोंमें जब कि स्पर्शगुण होता है तो उसके शीतोष्णादि उत्तरभेद कार्यदशाके समय अनुभवमें आते हैं। मूलमें

१ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इति भगवद्गीता। २ पौद्गलिकं कर्मेत्येतदसिद्धमात्मगुणत्वात्तस्येति-तन्नामूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात्। इति वार्तिक०।
३ प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरं। यथा निम्बस्य का प्रकृतिः? तिक्तता स्वभावः। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः? अर्थानवगमः। ४ तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। ५ तद्रसविशेषोऽनुभवः। यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। ६ इयत्तावधारणं प्रदेशः।

यदि कोई स्पर्शगुण न हो तो शीतोष्णादि पर्याय किसके उत्पन्न हों ? इसलिये यों कहना पडताहै कि शीतादिक विशेष धर्म हैं और स्पर्श, यह एक सामान्य गुण या धर्म है। इसी प्रकार सामान्यविशेषता और कार्यकारणता सर्वत्र भरी हुई है किसी गुण या द्रव्यका स्वभाव इससे शून्य नहीं हैं। इसी प्रकार प्रकृति और अनुभागकी बात है। प्रकृति, यह कर्मोंका सामान्य स्वभाव या धर्म है और अनुभाग, यह उसकी विशेषताका नाम है। विशेषता सामान्यको छोडकर नहीं रहती इसीलिये प्रकृतिको छोडकर अनुभाग नहीं रहता। अनुभागका अर्थ कर्मका रसविशेष है तो प्रकृतिका अर्थ कर्मका सामान्यस्वभाव होगा।

प्रकृतिरूप स्वभाव पुद्‌गलका एक विभावपर्याय है परन्तु उस प्रकृतिको प्रगट करनेकी शक्ति पुद्‌गलमात्रमें रहती है। केवल कार्माण वर्गणा तयार होनेपर बंधनेकी विचित्रतासे वह प्रगट हो जाती है। ज्ञानावरणादि बंध हो जाने पर भी वह प्रकृति रहती है। यह प्रकृति उतने प्रकारकी होती है जितने कि प्रकारकी बोलनेमें आसकती है। ज्ञानावरणादि मूल आठ भेद, एक सौ अडतालीस उत्तर भेद तथा मति स्मृति इत्यादि अथवा अवग्रह, ईहा इत्यादि अथवा तिर्यग्गतिके सिंह, घोडा, बैल एवं कर्मभूमितिर्यंच भोगभूमितिर्यंच इत्यादि जो उत्तरोत्तर भेद कहे जाते हैं वे सर्व मतिज्ञानावरणकी तथा तिर्यचगति कर्मकी उत्तरभेद रूप प्रकृतियां हैं। इस उदाहरणको देखकर उत्तरोत्तर प्रकृतिभेदोंको समझ लेना चाहिये। ये सर्व प्रकृतियां ही हैं।

इन प्रकृतियोंमें रहनेवाला अनुभाग पर्याय वह है जो कि भोगनेमें आता है। उसका अनुभाग जो भोगनेमें आता है वह कहा नहीं जा सकता है तो भी वैसी विशेषता रहती अवश्य है। देखिये, खांडका रस कहनेमें तो 'मीठा' इतना ही आ सकता है। उस रसमें जो विशेषता रहती है वह पूरी कहनेमें नहीं आती तो भी खानेसे उसका अनुभव अवश्य होता है। एक खांड खानेमें कुछ कम स्वादिष्ट होती है और दूसरी कुछ अधिक। स्वादकी वह हीनाधिकता कहनेमें नहीं आ सकती है तो भी वह हीनाधिकताकी विशेषता रहती अवश्य है। बस, इसी प्रकार प्रकृतिरूप ज्ञानावरणादिकोंके एक २ पिंडमें जो फल देनेवाली तरतमरूप परस्परकी विशेषता रहती है वह अनुभाग है, और उसे भी शब्दसे कह नहीं सकते हैं, परन्तु वह है अवश्य। ठीक ही है, जो एकसे दूसरेमें फल देनेकी विशेषता है उसे शब्दसे ठीक ठीक कैसे बता सकते हैं इस प्रकार विचार करनेसे मालूम पडता है कि प्रकृति व अनुभागमें सामान्य विशेषताका ही अंतर है। इसलिये

रस विशेषको आचार्योंने अनुभाग कहा है। यदि अनुभाग व प्रकृतियोंके नाम देखें तो एकसे ही रहेंगे जैसे ज्ञानावरणकी
प्रकृति क्या है? ज्ञानका अवरोध। इसी प्रकार ज्ञानावरणमें अनुभाग क्या है? वह किसी ज्ञानविशेषका अवरोध। इन उदाहरणों
के देखनेसे मालूम होगा कि प्रकृति व अनुभागमें केवल सामान्य विशेषका अंतर है किन्तु स्वभाव या सामर्थ्य एक ही है।
शंका–जब कि प्रकृति व अनुभागमें अधिक अंतर न होकर केवल सामान्यविशेषताका ही अंतर है तो दो भेदोंमें जुदा २
दिखानेकी क्या आवश्यकता थी? केवल प्रकृति माननेसे काम चल सकता था। क्योंकि, जहां किसी विषयमें सामान्य
विशेषताका केवल अंतर होता है वहां उस विषयके दो नाम कभी नहीं रक्खे जाते हैं। सामान्यविशेषता प्रत्येक विषयमें
रहती ही है इसलिये उसका ज्ञान न कहने पर भी हो ही जाया करता है।

उत्तर—यद्यपि दो भेद किये विना भी दोनोंका कुछ ज्ञान हो सकता है परंतु कर्मोंका वर्णन, कर्मोंके नाम रक्खे
विना नहीं हो सकता है और अनुभवका स्वरूप नामोंके अर्थानुसार न होकर कुछ विचित्र ही होता है। इसलिये दोनोंको
जुदा २ कहनेकी आवश्यकता पडी। कर्मोंका वर्णन न करें तो उपदेशका मार्ग कैसे प्रवृत्त हो? और वर्णन, नाम रक्खे
विना कैसे हो सकता है इसलिये कर्मों के प्रकृति रूप नाम रक्खे गये हैं और 'प्रकृति' यह एक कर्म वर्णनका जुदा विभाग
करना पडा है। कर्मोंका वर्णन करना ही वंधप्रकरण दिखानेका प्रयोजन नहीं है। तो? कर्मका वंधन होनेसे जो जीवको
अशुद्धताका फल भोगना पडता है वह विचित्र है। नामोंके शब्दार्थ ज्ञानसे भी वह अतिसूक्ष्म है। कहनेमें नहीं आता है।
प्रकृतिका एक ही नाम जिन असंख्यातों तरतम अनुभागोंमें लग सकता है वे ही अनुभाग भोगनेमें असंख्यातों भांतके
होते हैं। फलोद्गम एक एक अनुभागके अनुसार ही होते हैं न कि प्रकृतिके अनुसार। यदि प्रकृतिके अनुसार फलोद्गम
होते तो प्रकृतिके असंख्यातों ही भेद हैं, न कि अनन्त, इसलिये संसारकी सर्व विचित्रता असंख्यात ही प्रकारकी होती,
न कि अनन्त प्रकारकी। परन्तु संसारकी विचित्रता अनंतों भांत है इसलिये वह असंख्यात प्रकारकी प्रकृतिसे जन्य
नहीं हो सकती है। कारण ही जहां अनंत प्रकारके न होंगे वहां कार्य अनन्त प्रकारके कैसे हो सकते हैं? इसलिये प्रकृतिके
अतिरिक्त एक 'अनुभाग' इसनामका जुदा वर्णन करने योग्य वंधतत्त्वाधिकारका अंतराधिकार रखना पडा प्रकृतिके जुदा
कहनेका प्रयोजन कह ही चुके हैं। इस प्रकार 'प्रकृति' व अनुभाग' ये दो यहां वंधतत्त्वके विभाग आवश्यक हुए।

अब रहे स्थितिवन्ध व प्रदेशवंध। सो प्रकृति व अनुभाग जैसे कोई वंधनप्राप्त पुद्गलपिंड नहीं हैं किंतु उन पुद्गलपिंडोंके

सामर्थ्यविशेष हैं परंतु तो भी वे सामर्थ्य ही कर्मोंको इतर पुद्गलपर्यायोंसे जुदी तरहका दिखानेवाले हैं। इसलिये उन दो भागोंको जुदा करके वर्णन किया जाता है। उसी प्रकार ' स्थिति ' यह एक बन्धतत्त्वका तीसरा विभाग अवश्य है परंतु कर्मपिंडसे कोई जुदी चीज नहीं है। आत्माके साथ जैसी कषायकी तीव्रता या मंदतासे कर्मबन्ध होता है वैसा ही वह तीव्रता या मंदता से आत्मामें बद्ध होता है और वैसाही वह बन्धनकी मर्यादाको कायम रखसकता है। एक कर्मपिंड जो मंद कषायके द्वारा बंधा है वह अधिक चिपट नहीं सकता है। वह शिथिल ही रह जागगा। इसीलिये आत्मामें अधिक न टिककर जल्दी ही छूटगा। एवं, जो कर्मपिंड किसी ऐसे तीव्रकषायसे बंधा हो जो कि अधिक चिपटा हो वह जल्दी जुदा नहीं होगा। इसी टिकावका नाम स्थिति है। जब किसीमें बन्धन होता है तो कम या अधिक टिकाव अवश्य निश्चित हो जाता है। उस मर्यादित टिकावके भीतर स्वयमेव उस बन्धका विघटन कभी नहीं होसकता है। इसीका नाम स्थिति है। यदि किसी प्रबल घातक कारणसे मर्यादाके भीतर उसका उद्रेक होजाता है तो उसे स्थितिसे पहिले उद्रेक हुआ कहते हैं। उदीरणा भी उसीको जैनशास्त्रोंमें कहा है। कर्मोंके टिकावका हीनाधिक परिणमन किस किस प्रकारका होता है, उसका प्रयत्नसे उच्छेद बीचमें ही करना हो तो कैसे किया जा सकता है, इत्यादि प्रयोजन स्थितिस्वरूप दिखाने पर सिद्ध होते हैं; इसलिये यह ' स्थिति ' का एक तीसरा विभाग बन्धतत्त्वविवेचनमें जुदा रखना पडा है।

चौथा विभाग इस बन्ध तत्त्वमें ' प्रदेशबंध ' इस नामका है। यही विभाग वास्तवमें बन्धके पदार्थको दिखाता है। इस विभागमें ' प्रदेशोंकी संख्या कितनी कितनी बन्धती है, उसकी आकृति कैसी होती है, आत्माके कितने प्रदेशोंमें ये पुद्गल बन्धते हैं ' इत्यादि बातों का खुलासा किया जाता है। यह प्रदेशबंध बाकी तीन भावरूप बंधोंका आश्रय है। इसलिये यह चौथा ' प्रदेशबन्ध ' नामका विभाग बन्धतत्त्वके प्रकरणमें अवश्य कहने योग्य है।

१ प्रकृतिबंधके भेद।

ज्ञानदर्शनयो रोधौ वेद्यं मोहायुषी तथा। नामगोत्रान्तरायौ च मूलप्रकृतयः स्मृताः ॥२२॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय ये मूल प्रकृतिबन्धके आठ भेद हैं।

१ सव्वट्ठिदीण मुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण। विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥ १३४॥ सव्वुक्कस्सठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो ॥ १३५॥

ज्ञानावरण कर्म ज्ञानगुणको घातता है या प्रगट होनेसे रोकता है। दर्शनावरण देखनेकी शक्तिको व्यक्त होने नहीं देता है। वेदनीय सुख तथा दुःखका अनुभव कराता है। मोहनीयकर्म आत्मपरिणतिमेंसे हटाकर बाह्य विषयोंमें झुकाव कराता है। आयुःकर्म औदारिक वैक्रियिक शरीरोंमें जीवको रोकनेका काम करता है। नामकर्म शरीर व शरीरके अवयवोंको बनाता है, उनमें उचित अनुचितपनेको भी उत्पन्न करता है। गोत्रकर्म जीवको शरीरके संबंधसे नीच व ऊंच ठहराता है। अन्तराय जीवके इष्ट प्रयोजनोंमें तथा जीवकी शक्तिमें विघ्न डालता है—अपना उदय होनेपर शक्तिको प्रगट नहीं होने देता है।

इन आठों कर्मोंके जो कार्य कहे वे सुगमतासे समझनेमें आजांय इसलिये उन्हींके कार्योंसे मिलते हुए लोकमें जिन चीजोंके कार्य होसकते हैं, उदाहरणार्थ वे चीजें बताते हैं। ज्ञानावरणका उदाहरण पडदा है। किसी वस्तुके ऊपर पडदा पडजानेसे वह वस्तु दीखती नहीं है। दर्शनावरणका उदाहरण द्वारपाल है। द्वारपालके रोकदेनेसे स्वामीका दर्शन नहीं हो सकता है। वेदनीयका उदाहरण सहत लपेटी तलवार है। उसके चाटनेसे सहत लगते ही सुखानुभव होता है और जीभ कटजानेसे दुःखानुभव भी होता है। मोहनीयका उदाहरण मद्य है। मद्यके पीनेसे मनुष्य अंतरंगके विचारसे शून्य होकर वाहिरी विषयोंमें मोहित होजाता है। आयुःकर्मका उदाहरण वेडी है। वेडी पडजानेसे जीव जहांका तहां रुका रहता है। नाम कर्मका उदाहरण चित्रकार है। चित्रकार चित्र वनाता है सो छोटे वडे वनाता है, अच्छे बुरे बनाता है। गोत्रकर्मका उदाहरण कुंभार है। कुंभार घडेको उत्कृष्ट वनादेता है, और चाहे तो निकृष्ट वनादेता है। अंतरायका उदाहरण भण्डारी है। स्वामीकी आज्ञा रहते हुए भी भण्डारीसे किसी चीजके मिलनेमें अंतराय पडता है।

उक्त आठ कर्मोंमेंसे चार घाती व चार अघाती माने जाते हैं। आत्मगुणोंको सीधे घातनेवाले जो हों वे घाती कहे जाते हैं। वे घाती चार कर्म हैं, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अंतराय। शेष रहे चार अघाती हैं, क्योंकि, वे किसी आत्मीयगुणको घातते नहीं हैं। वेदनीय सुख दुःखका अनुभव कराता है इसलिये घातीसा मालूम होगा, क्योंकि, सुख दुःखके साधनभूत विषयोंमें फंसना पडता है जिससे कि शांति या निराकुलतारूप असली सुख गुणका घात हो जाता है। वेदनीयके द्वारा अव्याबाध गुणका घात होना माना जाता है। परन्तु यह घात केवल वेदनीयसे नहीं होता किन्तु

१ पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं। जह एदेसिं भावा तहविह कम्मा मुणेयव्वा ॥ २१ ॥ गोमट० कर्म०
२ अगुरुगुलहुगं गोदं. सुहुमं च णामकम्मं अव्वाबाधं हणेइ वेयणियं।

मोहनीयका बल प्राप्त होने पर वेदनीयसे होता है। इसलिये वेदनीय असली उस गुणका घातक नहीं माना जाता है। परन्तु मोहनीयकी सहायतासे-अवश्य उसके कार्यमें घातीके कार्यकीसी शंका हो जाती है। यही कारण है कि आठ प्रकृतिं गिनाने में वेदनीयको घाती कर्मोंके बीचमें रखदिया है और शेष घाती व अघाती कर्मोंको जुदे २ वर्गोंमें रक्खा है। जब कि ऐसा है तो अंतरायको सबके पीछे अघातियोंके भी अंतमें क्यों रक्खा है ? इसका उत्तर यह है कि अंतराय कर्म जीव के जिस गुण को घातता है वह गुण है तो जीवका ही; परंतु वैसा ही वीर्यगुण निर्जीव यावन् द्रव्योंमें भी रहता है। इसलिये वह गुण एक साधारण गुण है। ज्ञानादि गुणोंकी भांत जीवका ही केवल असाधारण नहीं है यह बात दिखानेके लिये जीवकी अशुद्धि करनेवाले यावत् कर्मोंके पीछेसे इस अंतरायको स्थान दिया गया है और यह रहते हुए भी जीव शक्तिको सर्वथा घात नहीं सकता है।

इसके सिवा तीसरा और भी एक कारण है कि नामादि अघाती कर्मोंकी सहायता विना वह कुछ कर नहीं सकता है। इससे नामादिकके पीछे लिखना ही न्याय युक्त है।

शंका—अघाती कर्मोंके विषयमें यह शंका होना सहज है कि अघाती कर्म जब कि जीवके गुणोंको घातते ही नहीं है तो उन्हें कर्म क्यों कहना चाहिये ? कर्मका साधारण लक्षण यही है कि वह जीवको परतंत्र करे। जो परतंत्रता होती है वह किसी गुणकी ही हो सकती है। इसलिये या तो सर्वकर्म घाती ही होने चाहिये और या जो घाती नहीं हैं वे कर्म भी न होने चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि आठो ही कर्मोंके घातनेयोग्य जीवके आठ गुण कहीं कहीं पर लिखे गये हैं। जब कि आठो ही कर्म गुणोंके घातनेवाले हों तो चारको अघाती कहकर शेष चारको भी क्यों घाती कहना चाहिये ?

उत्तर—जो घाती कर्म हैं वे वास्तविक और सविकल्प तथा अनुजीवी गुणोंको घातते हैं और अघाती कर्म निर्विकल्प तथा प्रतिजीवी गुणोंको घातते हैं। प्रतिजीवी गुण एक ऐसी बात होती है कि उन्हे गुण न कहकर स्वभाव कहें तो भी चलता है। प्रतिजीवी गुण वास्तविक अपनी सत्ता नहीं रखते किंतु दूसरे प्रतिपक्षी गुणवाले पदार्थकी अपेक्षासे एक किसी वस्तुको उस प्रतिपक्षीसे उलटी मनाना यही प्रतिजीवी गुण या स्वभावका अर्थ है। इसीलिये उन गुणोंको यदि वास्तविक

---

१ घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं। इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पडिदं तु ॥ १९॥ गो० क०

२ घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो। णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि ॥ १७॥ गो० क०॥

न माना जाय तो कुछ अनुचित नहीं है। जैसे कि सूक्ष्मत्व स्वभाव जो किसी वस्तुमें माना जाता है वह एक दूसरे स्थूलत्वगुणवाले पदार्थकी अपेक्षासे। इसी प्रकार सर्व प्रतिजीवी गुणोंकी कल्पनाएं की जाती हैं। इसलिए उन्हें गुण न लिखकर स्वभावमात्र[1] लिखें तो भी कुछ हानि नहीं है। अघाती कर्म जिन गुणोंको घातते हैं वे भी ऐसे ही प्रतिजीवी गुण हैं। इसलिये उन्हे गुणघाती न मानकर स्वभावके विरोधी मानें तो भी ठीक होगा और उन कर्मोंको अघाती कहना भी संभव हो जायगा। देखिये, अघाती चारो कर्मोंसे जो चार गुण घाते जाते वे ये हैं, १ वेदनीयकर्मसे घाता जानेवाला गुण अव्यावाध, २ आयुः कर्मका प्रतिपक्षी अवगाहन गुण, ३ नामकर्मका सूक्ष्मत्व गुण। ४गोत्रकर्म का अगुरुलघु गुण। इन चारोंमेंसे एक भी ऐसा गुण नहीं है जो कि घाती कर्मों द्वारा घाते जानेवाले ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणोंकी भांत साक्षात् सत्तावान अनुजीवी गुणहो।

अघातियोंका अघातीपना—

परस्परमें एक दूसरी चीजें मिलनेपर जो संघट्टन होता है उससे चीजोंमें क्षोभ उत्पन्न होजाता है—वे चीजें स्वस्थ अवस्थामें रह नहीं पाती हैं। बस, इसीको बाधा या व्यावाधा कहते हैं। ऐसे क्षोभके निमित्त मिलनेपर जा आत्मामें व्यावाधा उत्पन्न होती है उसका अंतरंग कारण वेदनीय कर्म माना जाता है। सर्व प्रकारकी मोहजन्य विषयकांक्षाओंके अनुभव करानेमें आत्माको लगानेवाला वेदनीय कर्म है। वेदनीय वेद्य या वेदन शब्दोंका तात्पर्यार्थ भी यही होता है। और इसीलिये वह मोहके उदय विना अपना फल नहीं दिखा सकता है। उस वेदनीयके नष्ट होजानेसे जो आत्मामें क्षोभ मचाने वाली व्यावाधा थी वह नहीं रहती। उसी समय कहाजाता है कि अव्यावाधा अवस्था या गुण प्रगट हुआ। यहा देखनेकी वात यह है कि क्या तो पहिले वेदनीयकी उदयावस्थामें नहीं था और क्या अव वह प्रगट होगया? कुछ नहीं, जो विकार होजानेके कारण वाधासंवेदन होता था वह नहीं रहा। इसे वास्तवमें कोई गुण नहीं कहसकते है। केवल विरुद्ध अवस्थाके संवेदनका अभाव होगया है, इतनी अपेक्षा लेकर यदि चांहे तो उसे प्रतिजीवी गुण कहसकते हैं, नहीं तो कुछ नहीं है। और वह भी असली कार्य मोहनीयका है, जो कि मोहनीय घाती कर्म है। जो अशुद्ध अवस्था हुई वह तो मोहका ही कार्य है; वेदनीय केवल उस अवस्थामें सुखी दुःखी बनानेकी तर्फ जीवको उन्मुख करता है। इसीलिये उस कार्यको

१ 'गुणाः स्वभावा भवन्ति स्वभावा गुणा भवन्ति न भवन्ति च। इति आलापपद्धति'।

वास्तवमें मोहका ही कहना चाहिये। यदि मोहका यह कार्य न होकर वेदनीयका ही केवल होता तो इसे भी घाती अवश्य कहना पडता और फिर मोहको जुदा माननेकी आवश्यकता भी न रहती। जो लोग केवल वेदनीयको भी कार्यकारी मानते हैं उन्हे इसका उत्तर देना चाहिये कि वेदनीय घाती क्यों नहीं है ? इसीलिये तो आचार्योंने उसे घाती नहीं माना जिससे कि मोह न रहनेपर वह कुछ कार्यकारी नहीं होता। देखिये, ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर आगे मोह नहीं रहता इसलिये वेदनीय कुछ भी कार्य वहां नहीं कर सकता है। यदि वह वहां कुछ कार्य करे तो यों कहना चाहिये कि तेरहवें गुणस्थानमें भी दुःख-अशांती छूट नहीं पाती। जब कि ऐसा है तो तेरहवें गुणस्थानको जीवन्मुक्ति कहना भी ठीक नहीं बनेगा। 'जीवन्' का अर्थ अघाती कर्मोदय है, और मुक्तिका अर्थ कर्मकृत दुःखोंसे पूरा छूट जाना है।

ऊपरके कथनसे यह सिद्ध हुआ कि वेदनीय किसी गुणका घाती न होनेसे अघाती है। अब आयुः कर्मको देखिये, आयुः[1]कर्मका कार्य शरीर या भवमें जीवको रोक रखना है। इसीको यों कह सकते हैं कि वह अवगाहन-गुणको घातता है। इससे यह फलितार्थ सिद्ध हुआ कि शरीरमें रुकनेका नाम अवगाहनघात है। अब यहां यह देखिये कि, अवगाहन क्या है और उसका घात क्या हुआ है ?

क्षेत्रकी लम्बाई, चौडाई व ऊंचाई के परिमाणको अवगाहन कह सकते हैं। अथवा[3] उस परिमाणमें समाकर रहना सो अवगाहन है। जीवकी शुद्ध अवस्थाका और अशुद्ध अवस्थाका अवगाहन तो एकसा ही होता है परन्तु प्रदेशसंख्याकी तर्फ देखें तो जीवके प्रदेश उतने हैं जो कि लोकाकाश भरमें पसर सकें और एक दूसरेसे जुदे भी न हों। केवलसमुद्घातमें ऐसा माना भी गया है कि आत्माके प्रदेश पसरकर लोकाकाशभरमें क्षणभरके लिये व्याप जाते हैं। इतर समयोंमें सदा शरीर परिमाण होकर रहते हैं और मुक्त होनेपर भी अंतिम शरीरके बराबर ही विस्तृत रहते हैं। जब कि अवगाहन शब्दका यही अर्थ है तो इसमें घात किसीका भी नहीं हुआ। जब तक कर्म बंधन है तबतक प्रदेशोंके विस्तारमें हीनाधिकता होती रही और कर्म न रहने पर प्रदेशविस्तार कायम होकर टिका रहा। इसीलिये जो

१ इसका अधिक खुलासा अंतमें लिखेंगे।

२ आउबलेण अवट्ठदि भवस्स इदि आउणाम पुव्व तु। भवमस्सिय णीचुयं इदि गोदं णामपुव्व तु॥ ३ करणार्थमें प्रत्यय करनेसे परिमाणशब्दका पहिला अर्थ होगा और भावप्रत्यय करनेमें यह दूसरा अर्थ होता है।

अवगाहनके परिवर्तन होते रहनेका कार्य आयुःकर्म करता है वह वास्तविक कोई घात नहीं है, जैसा कि ज्ञानावरणादिके उदयसे ज्ञानादि गुणोंका घात होता रहता है। हां, अवगाहन गुणका उसे घाती बतानेका मतलब यह समझना चाहिये कि वह कर्म उस अवगाहनका फेरफार कराता रहता है। प्रथम तो अवगाहन कोई अनुजीवी सत्तात्मक गुण ही नहीं है और फिर अवगाहनके फेरफारसे उसका घात हुआ मानना ही भूल है 'घात' यह शब्द जो आचार्योंने लिखा है उसका अर्थ भी वास्तविक 'घात' ऐसा नहीं है। इसलिये इस आयुः कर्मको अघाती मानना असंगत नहीं है।

तीसरा अघाती कर्म नाम कर्म है। यह सूक्ष्मत्व गुणको घातता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अमूर्तीक होने से सूक्ष्म माना जाता है। सूक्ष्मका अर्थ परमाणुकी भांत, और सूक्ष्मता न रहनेका अर्थ घटपटादि स्थूल पदार्थोंकी भांत, आत्मामें स्थूलता व सूक्ष्मता नहीं मानी जाती है। तो? रूपादिगुणोंका अत्यंताभाव होनेसे सूक्ष्मता है और कर्मसंयोग व शरीरसंयोगके हो जानेसे उपचरित स्थूलता मानी जाती है। पुद्गलके परमाणुओंमें रूपादि गुण तो रहते हैं परन्तु इंद्रियगोचर नहीं होते, इसलिये सूक्ष्मता मानी जाती है। बडे पुद्गलस्कन्धोंमें रूपादिगुण इंद्रियग्राह्य रहते हैं इसलिये वे पुद्गल स्थूल माने जाते हैं इस कथनसे यह मालूम हो जायगा कि पुद्गलकी स्थूलता तथा सूक्ष्मता, दूसरी भांतकी है और आत्माकी सूक्ष्मता, स्थूलता दूसरी भांतकी है आत्माकी सूक्ष्मता तो वास्तविक हो सकती है; क्योंकि स्थूलताका कारण रूपादियोग उसमें नहीं रहता। परन्तु स्थूलता शरीरके सम्बन्धसे औपचारिक ही हो सकती है। क्योंकि, रूपादिगुणोंकी सत्ता हो तो वह कभी इन्द्रियग्राह्य होनेपर स्थूलरूप धारण कर सकेगी, किंतु जहां रूपादिका अत्यन्ताभाव होगा वहां वास्तविक स्थूलता आ ही कहांसे सकती है? इस प्रकार जब कि आत्मामें वास्तविक स्थूलता नहीं हो सकती है तो सूक्ष्मताका वास्तविक विघात हुआ कैसे माना जा सकता है? इसीलिये सूक्ष्मताका घातक नामकर्मको मानना औपचारिक है। इस उपचारका निमित्त शरीर सम्बन्ध होनेसे जिस प्रकार आत्माको मूर्तिक मानना औपचारिक है वैसे ही स्थूल मानना भी औपचारिक है। इस उपचारकी कल्पनाका प्रयोजन क्या है? नामकर्मके संबंधसे जीवकी अवस्था क्या बदलती है, यह बात दिखाना इस उपचारका प्रयोजन है। इस नामकर्मके उदयसे शरीरका संबंध होना मुख्यकार्य है परन्तु स्थूलता प्राप्त होना औपचारिक ही है, इस बात में एक दूसरा भी प्रमाण है वह यह कि, कर्मके बंधनेसे आत्मामें मूर्तीकता होना मानना सर्वथा व वास्तविक जैसे नहीं है वैसे ही स्थूलता भी सर्वथा वास्तविक नहीं हो सकती है। जब कि वास्तविकस्थूलता नहीं हुई तो सूक्ष्मताका घात भी

नामकर्म द्वारा वास्तविक हुआ नहीं मानना चाहिये ।

अब रहा अघातीकर्म गोत्रकर्म । यह अगुरुलघू गुणको घातता है। यह घातना भी औपचारिक है । गोत्रकर्मका वास्तविक कार्य जीवको ऊचा-नीचा ठहराना है। इसीको दूसरे शब्दोंमें कहें तो यों कह सक्ते हैं कि अगुरुलघूगुणका वह घात करता है। अगुरुलघू गुण वह है जो कि सर्व जीवाजीव द्रव्य मात्रका साधारण गुण है। उसका कार्य यह है कि अपने अपने द्रव्यके अंतर्गत जितने गुण हों उनको सीमाके अनुसार छह प्रकारसे घटाता रहे और बढाता रहे। उसगुणका कभी घात नहीं होसकता है। वह गुण जिस प्रकार शुद्ध अवस्थामें रहता है उसी प्रकार अशुद्ध अवस्थामें भी रहता है और अपना काम करता है। परनिमित्तक व स्वनिमित्तक पर्यायोंमेंसे स्वनिमित्तक पर्याय होना तथा कराना उसीका कार्य है। वे स्वनिमित्तक पर्याय होना अशुद्ध अवस्थाके समयमें भी वस्तुओंमें होते ही हैं । यदि अगुरुलघु गुणका गोत्रकर्म घात करता होता तो अशुद्ध संसारी जीवमें स्वनिमित्तक पर्याय होना ही बंद हो जाता और साथ ही अगुरुलघुगुणका एक यह भी कार्य है कि वस्तु या गुणको सर्वथा नष्ट न होने दे। यदि उस गुणका घात होगया तो जीवका सर्वनाश होनेसे भी कौन रोक सकता है ? परंतु वस्तुमात्रमें स्वनिमित्तक पर्याय होनेसे रुकजाना भी असंभव है और किसी वस्तुका सर्वनाश होना भी असंभव है। इसलिये मानना पडता है कि इस गोत्रकर्मका वह घात नहीं करसकता है। तो ? संतानक्रमसे प्राप्त हुए ऊंच नीच आचरणको गोत्र कहते हैं। यह ऊंच नीचता वास्तविक जीवका स्वभाव नहीं है । जीव सर्व चैतन्यादि समशक्तिके धारण करनेवाले हैं। उनमें नीच ऊंचताका माननेका कोई हेतु ही नहीं है । परन्तु शरीरके होनेसे शरीरयुक्त जीवमें यह नीचऊंचता आरोपित होजाती है। इसका आरोपणकारण गोत्रकर्म है और सहकारी कारण नामकर्मजनित शरीर है। शरीर है तो शरीरके संबंधसे जो जीवमें दोष प्रगट होंगे उनके कारण कर्म होने ही चाहिये । क्योंकि, कर्मके विना जीवकी विकृत अवस्था होना संभव नहीं है। इसीलिये जितने प्रकारके विकार हों उतने ही प्रकार कर्ममें मानने पडते हैं। यदि ऐसा न होता तो कर्मके शेष भेद करना भी व्यर्थ होजाता। परन्तु कारण भेदके विना कार्योंका भेद होना न्यायबाधित है। इसलिये ऊंचनीचपनेका कारण एक जुदा कर्म मानना ही पड़ता है।

ऊचनीचको ही गुरुलघु भी कहसकते हैं। इसलिये जिस शुद्ध आत्मस्वरूपमें गुरुता तथा लघुता वास्तविक नहीं थी उसमें शरीरके संबंधसे प्राप्त होगई-यही अगुरुलघु स्वभावका घात हुआ कहना चाहिये। यहां जिस अगुरुलघु स्वभावका

घात हुआ बताते हैं वह अगुरुलघु सत्ताप्राप्त जीवका अगुरुलघु गुण नहीं समझना चाहिये । क्योंकि, उसका घात होना संभव नहीं है । यह अगुरुलघु केवल गुरुलघुत्वकी या नीचऊंचपनेकी कल्पनाके अभावका नाम है । जीवमें यह गुरुलघुत्व की कल्पना होनेका कारण नहीं था, परन्तु बन्धनके वश तो भी यह कल्पना होजाती है । बस, यही अगुरुलघु प्रतिजीवी आपेक्षिक स्वभावके घात करदेनेका अर्थ समझना चाहिये । अब विचारिये कि गोत्रकर्मने किसका घात किया ? किसी भी सत्तात्मक गुणका घात नहीं किया । गोत्रकर्मने यदि कुछ किया तो इतना ही कि, जिस आरोपका जीवमें नाम भी नहीं था उस जीवमें शरीरके संबन्धसे वह आरोप प्राप्त करादिया । इसलिये वास्तवमें यह कर्म किसीका घातक नहीं रहा परन्तु तो भी इस कर्मकी आवश्यकता रही । इसीलिये इसे अघाती कर्म कहते हैं । यदि यह कर्म न माना जाय तो ब्राह्मणकी तथा ब्रह्मकी संतानको ब्राह्मण कहना एवं विशू या वैश्यकी संतानको वैश्य कहना कैसे संघटित होगा ? क्योंकि, ये शब्द अपत्यके अर्थमें रहते हैं । अपत्य नाम संतानका है । संतान परंपरासे होसकती है । इसलिये यह गोत्रकर्म जो ऊंच नीचता ठहराता है वह ऊंच नीचपना रहता जीवके शरीरमें ही है परन्तु सतानके संबन्धसे । यह गोत्रकर्म जीव विपाकीकर्म माना गया है । जीवविपाकी उसे कहते हैं कि जिस कर्मका फल जीवपर ही प्राप्त हो ।

इस सर्व लेखका तात्पर्य यह है कि चार कर्म वास्तवमें अघाती ही हैं । उन्हे घाती जो कहा है वह उपचारसे या प्रतिजीवी स्वभाव मानकर कहा है ।

हम यह भी लिखचुके हैं कि अघाती कर्मोंद्वारा जिन स्वभवोंका घात होना लिखा है वे ज्ञानादि गुणोंकी भांत सविकल्पक नहीं हैं किंतु निर्विकल्पक हैं । सविकल्पक तथा निर्विकल्पक गुणोंमें क्या अंतर होता है वह देखिये, जिन गुणोंका इंद्रियों द्वारा या स्वानुभवद्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होसकता हो वे सविकल्पक गुण कहाते हैं शेष सर्व निर्विकल्पक । पुद्गलके रूप, रस, गंध, स्पर्शका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है इसलिये पुद्गलके ये चार गुण सविकल्पक कहाते हैं, । शेष सर्व निर्विकल्पक ।

जीवके ज्ञान, दर्शन स्वानुभवगोचर होते हैं इसलिये सविकल्पक हैं । ज्ञान-दर्शनका अर्थ जानना देखना है परंतु

१ संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा । उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥ १७ ॥ गोमट्ट० कर्म० । २ देव णियगोदघादीणेकावण्णं तु णामपयडीणं । सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवघाईओ ॥ ५९ ॥ ॥ तित्थयरं उस्सासं बादरपज्जत्त सुस्सुरा देज्जं । जस तसविहायसुभगतु चउगइ पणजाइ सगवीसं ॥ ५० ॥ कर्म० ।

देखना जानना जहां रहता है वहां उन्ही ज्ञानदर्शन-गुणोंके वर्तनरूपसे होसकता है उसी प्रकार उस जाननेका वर्तन या चरण भी ज्ञानदर्शनके साथ ही अनुभवगोचर होता है । क्योंकि जानना, देखना व प्रवर्तना ये तीनो स्वभाव एक ही वस्तुके, एकही कालमें रहनेवाले, एक ही विषयगत धर्म हैं। इसलिये चारित्रगुण भी प्रत्यक्ष हुए विना रहता नही है। ये तीन घाती कर्मोंके द्वारा घाते जाते हैं।

अब रहा वीर्य जो कि अंतरायके द्वारा घाता जाता है। वह वीर्यगुण भी सविकल्पक है। क्योंकि; चारित्रकी भांत वह भी ज्ञानदर्शनसे जुदा होकर नहीं रहता और न ज्ञानादि धारनके सिवा उसका दूसरा कोई उपयोग ही है । इसीलिये जैसे चारित्र सविकल्पक है वैसे वीर्य भी सविकल्पक होना चाहिये । ज्ञानका धारना वीर्य, और वर्तना चारित्र—ये दोनो समान विषयके धर्म हैं। जो जाननेवाला होगा वह अपनी ज्ञानशक्ति व दर्शनशक्तिको जिस प्रकार जानेगा उसी प्रकार उस ज्ञानकी या अपनी वर्तना शक्तिको भी जानेगा और धारणाशक्तिको भी अवश्य जानेगा। बस, इसीलिये हम चारोको स्वानुभवगोचर कहते हैं और स्वानुभवगोचरका ही नाम सविकल्पक है। ये चारो शक्तियां सविकल्पक हैं इसीलिये इनके घातक कर्मोंको असली घाती कर्म कहते हैं।

इस प्रकार जब कि आत्माके चार ही गुण सविकल्पक हैं, सत्ताधारी हैं, वास्तविक हैं तो आठो कर्म घाती किस प्रकार माने जासकते हैं ? इसलिये आठो गुणोंके घातक आठो कर्मोंको मानना एक अपेक्षावश है। वास्तवमें चार घाती और चार अघाती ही हैं। अब शंका यह रही कि तीन कर्म तीन गुणोंको घातते हैं और मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्र इनदो गुणोंको घातता है। तो मोहनीयकर्मके सम्यक्त्व मोहनीय व चारित्र मोहनीय ये दो भेद किये गये है। इसलिये मोहनीय को केवलचारित्रका घातक बताना ठीक नहीं है। जब कि मोहनीय दो गुणोंका घातक रहा तो चारघातिकर्मोंसे चार गुणोंका घात होना क्यों बताया गया है ? किंतु पांच गुणोंका घात कहना चाहिये । दूसरी शंका यह है कि शुद्ध जीवोंके कर्मनष्ट होनेपर प्रगट होनेवाले जो आठ[3] गुण कहे हैं उनमें चारित्र को न कहकर सम्यक्त्वकोही कहा है। सो

१ कथं तेषां (दानादीनां) सिद्धेषु वृत्तिः ? परमानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः । केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत्। (इति सर्वार्थसिद्धिः)

२ आवरणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो। आउगनामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ॥ ७॥ गो० कर्म ।

३ सम्मत्तणाण दंसण विरियं सुहमं तहेव अवगहणं। अगुरुगलहुगमव्वाधं अट्ठ गुणा होंति सिद्धाणं॥

क्यों ? वहां चारित्र क्यों छोडा गया ? कहीं कहीं पर चारित्र व सम्यक्त्वमें से एकको भी न कहकर सुख गुणका ही उल्लेख किया है। सो क्यों ? मोहनीयके विषयमें एक चौथी शंका यह होसकती है कि मोहनीय जब कि सम्यक्त्व व चारित्र इन दो गुणोंका घातक है तो मूल प्रकृतियों में उसके दो भेद मान कर कर्म नौ कहने चाहिये थे । परंतु कहे आठ ही हैं। सो भी क्यों ? इस प्रकार मोहनीय के विषयमें अनेक शकाए होसकती हैं।

उत्तर—प्रथम देखना चाहिये कि मोहनीय कर्मका क्या स्वरूप है और वह एक जुदा क्यों मानागया है ?

शंका—मोहनीयका कार्य यह है कि वह जीवका निज स्वरूप प्रगट न होनेदे—सांसारीक दशाको बढावै । संसारीक दशाका अर्थ यह है कि जीवमें आकुलता बढै, अशांति बढै, क्षोभ बढै। जब कि विजातीय द्रव्यका मिश्रण होगा तो एकाकी जीवकी शुद्धदशाकीसी शांति या निराकुलता कैसे रहसकती है ? इस अशांतिमें तीन विभागोंकी कल्पना करनी पडती है: एक तो, अशांतिरूप वेदन, दूसरा, उस वेदन की तर्फ लगाने वाला या झुकानेवाला कारण, तीसरा उस वेदनका विषय। जो अशांतिका वेदन है वह तो ज्ञानरूप होनेसे ज्ञानगुणमें गर्भित होगा और उसका कारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम होगा। दूसरा प्रकार जो अशांतिका होगा वह वेदनीय कर्मका कार्य होगा। तीसरा अशांतिका प्रकार जो अशांतिवेदनका विषय है उसे भी अशांति ही कहना चाहिये और वह मोहनीयका कार्य समझा जायगा । इन तीनों अर्थोंका संग्रह एक अशांतिक—शब्दमें होसकता है । इन तीनोंमेंसे मोहनीयका कार्यरूप जो अर्थ है वह वाच्यरूप अर्थ है और ज्ञानकी अपेक्षासे ज्ञेयरूप अर्थ है । अशांतिरूप जो ज्ञान उत्पन्न हो उसमें अशांति—यह विशेषण होगा। इसीलिये विशेषण निकाल दिया जाय तो ज्ञान ही ज्ञान शुद्ध रहसकता है और जो विशेषण जुदा किया गया है उसे चाहे शांति कहिये या अशांति परंतु रागद्वेषका ही वह स्वरूप मानना पडेगा । रागद्वेषरूप कार्य मोहनीयका कार्य समझा जाता है। परन्तु अशांति व शांतिको

१ अब्भरहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो हि दंसणं होदि । सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे ॥ १६ ॥ गो० कर्म- । 'परमानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः [इति सर्वा० अ० २] २ अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यतामनन्तसौख्यत्वमनन्तदर्शनम् । बिभर्ति योनन्तचतुष्टयं विभुः स नोस्तु शान्तिर्भवदुःखशान्तये ॥ (श्रीवीरनन्दिकृतचन्द्रप्रभचरित)

· कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि ॥ २१॥ गोम० कर्म० । नैवं-यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयो । मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥ मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् । इष्टानिष्टार्थसंयोगात्स्वयंरज्यद्द्विषद्यथा ॥

वेदनीयका भी कार्य कहते हैं इसका तात्पर्य यही मानना पडेगा कि अशांतिरूप विषयका जनक मोहनीय है और उसके अनुभवमें आत्माको लगाना सो वेदनीयका कार्य है एवं उसे ज्ञान कहे विना भी रहा नही जा सकता है परन्तु ज्ञानका प्रकाश ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमकी आवश्यकता रखता है तभी तो हमने कहा है कि अशांति यह तीनों कर्मोका कार्य है। परन्तु जो उस विषयको उत्पन्न करै, मुख्य उसी कर्मको कहना चाहिये और वही आत्मा को असली बांधनेवाला है । इससे यहा तात्पर्य यह लेना कि अशांति, मोह, आत्मज्ञानपराङ्मुखता तथा विषयासक्ति ये सर्व कार्य मोहके ही हैं।

मोहके इन कार्योंको हम दो प्रकारसे विभक्त करते हैं; (१) आत्मासे विमुखता, और (२) विषयोंमें प्रवृत्ति। ये दोनों ही बात वास्तवमें तो कोई जुदी जुदी नहीं हैं; क्योंकि, इसमें एक आत्मसंबन्धी मल या अशांतिको ही निषेध व विधिमुख होकर दिखाया है। आत्मस्वरूपको भूलकर उससे हटना यह निषेधमुखी दोष है और फिर विषयोंमें रमना यह विधिमुखी दोष है। इन दोनोंको एक शब्दसे कहना हो तो आत्ममल, आत्मक्षोभ या आत्म–अशांति–इत्यादि किसी भी शब्दसे कहसकते है। वस, इसी दोषके पहिले भेदको हम मिथ्यादर्शन–शब्दसे कहेंगे और दूसरेको कषाय–शब्दसे कहेंगे। पहिला भेद अधिक बलवान् माना जाता है और दूसरा कुछ कम। इसका कारण यह है कि प्रथम ही यदि आत्माको भूलकर जीव उससे विमुख हो तो पीछे विषयासक्ति उत्पन्न होगी। यद्यपि इन दोनो कार्योंमें विलंब नहीं लगता है तो भी कार्यकारण सबन्ध माना जासकता है।

कारणके नाशसे कार्य भी नष्ट होजाता है; इसलिये विषयासक्ति घटानेसे प्रथम ही आत्मज्ञान उत्पन्न करनेका आचार्य उपदेश देते हैं। आत्मज्ञान और सम्यक्त्वमें कोई अंतर नहीं है। इसीलिये आत्मज्ञानको सम्यक्त्व[1] कहते हैं। इसमें यदि अन्तर है तो विषयविषयीपनेका है। आत्मज्ञान विषयी है और आत्मशुद्धि विषय है। अशुद्धताका ज्ञान तो सभीको होता है परंतु उसकी अशुद्धतामात्र जबतक दीख पडती है तबतक वह मिथ्यादर्शन[2] कहाता है और शुद्धताका जब ज्ञान होने लगता है तब वही सम्यत्व कहाने लगता है। इसका कहना सुना सुगम नहीं है और आत्मशुद्धिरूप सम्यक्त्व

१ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। २ शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये। अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां पर॥ न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणं। शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्॥ [पचा० पृष्ठ० १०७]

एक निर्विकल्प भाव है इसीलिये इसे साधारण ज्ञान और यावद्वचनोंके अगम्य माना है। हां, उसीके ज्ञानको सम्यक्त्व कहते हैं तो सुगम भी पड़ता है और कुछ दोष भी नहीं आता।

शंका—यद्यपि मिथ्यात्व व कषाय एक ही बात है, इसलिये मिथ्यात्वके नाश होने पर कषायका अभावभी होना ही चाहिये, जिसे कि चरित्रप्राप्ति कहते हैं। परन्तु ऐसा होता नहीं है सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर भी चौथे गुणस्थानमें चरित्र प्राप्त नहीं होता। इसीलिये चौथे गुणस्थानको अव्रतरूप कहते हैं। थोडेसे व्रत हो जानेपर पांचवां गुणस्थान होता है। पूर्ण व्रत होनेपर व्रतीसंज्ञा होते हुए भी यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार विचारनेसे मालूम होगा कि सम्यक्त्व क्षायिकरूप पूर्ण प्राप्त होनेपर भी चारित्रकी प्राप्तिमें व पूर्णतामें विलंब लगता है। इसलिये सम्यक्त्व व चारित्रमें और मिथ्यात्व व कषायोंमें एकता तथा कार्यकारणपना मानना कैसे ठीक हो सकता है?

उत्तर--मिथ्यात्व न रहने पर जो कषाय रहते हैं वे मिथ्यात्वके साथ रहनेवाले अतितीव्र अनंतानुबंधी कषायोंके समान नहीं होते किंतु अतिमन्द हो जाते हैं। इसीलिये वे कषाय भी चाहें बंध करते रहें परन्तु दीर्घसंसारके कारण भूत-बंधको नहीं होने देते हैं और इसीलिये ज्ञानचेतना भी सम्यग्दर्शन होते ही सुरू हो जाती है जो कि बंधनाशका कारण है। इससे प्रथम मिथ्यात्व रहते समय जो चेतना होती है वह कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है जो कि पूर्णबंधका कारण मानी जाती है। इससे सारांश यह लेना चाहिये कि कषाय तो सम्यक्त्वीमें भी शेष रहते हैं परन्तु--मिथ्यात्वके नाश होने

१ सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरं। गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः॥ न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक्। नापि देशावधेस्तत्र विषयानुपलब्धितः॥ अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकं। तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः॥ तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोरेरिव रश्मिभिः। दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः॥ दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः। (पंचा० पृष्ठ० १२४) २ अर्थाज्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् (पंचा० पृष्ठ-१२५) सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरं। तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्। (पंचा० पृष्ठ-१२६]

३। अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक्प्राप्तावस्थान्तरं यदा। आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना॥ सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः। न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसंभवात्॥ पंचा०पृ० १०६॥ ४ अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात्। न ज्ञानचेतना किंतु कर्मतत्फलचेतना॥पंचा० पृष्ठ० १०७॥

से अतिमंद हो जाते हैं और कुछ अंशोंमें अबंध व निर्जराके सहायक बन जाते हैं। इसलिये मिथ्यात्व व कषायका कुछ अविनाभाव जरूर है।

अब रही यह बात कि मिथ्यात्वनाशके साथ ही कषायोंका पूर्ण नाश क्यों नहीं होता ? सो इसका उत्तर यह है कि-कषाय व मिथ्यात्व सर्वथा एक चीज तो हैं ही नहीं। सामान्य स्वभाव दोनोंका एक है परंतु विशेष अपेक्षासे कुछ भेद भी है; नहीं तो दो नाम ही जुदे जुदे क्यों होते; और दोनोंके जनक कर्म भी जुदे जुदे क्यों होते ? देखिये, 'विशेषसामान्यकी अपेक्षासे भेदाभेद दोनों ही यहां मानने चाहिये।' यह भाव दिखानेकेलिये ही तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताने सम्यक्त्व व आत्मशांतिको घातनेवाली मूल प्रकृति एक रक्खी और उत्तरमें सम्यक्त्व मोहनीय व चारित्रमोहनीय ये दो भेद करदिये हैं। जब कि उत्तरमें दो भेद हैं ही तो उनके नाशका ठीक अविनाभाव कैसे होसकता है ? हाँ, परंतु मूल कारण न रहनेपर चारित्र-मोहनीयका टिकाव फिर भी अधिक नहीं, रहता है। साथ नहीं तो भी कुछ ही कालमें चारित्रमोहनीय भी नष्ट होजाता ही है।

अथवा, यों कहना चाहिये कि चारित्रमोहनीय मिथ्यात्वके अभावमें रहता तो है परंतु जब तक चारित्रमोहनीय रहता है तबतक सम्यक्त्वकी भी पूर्ति नहीं होपाती है—क्षायिक सम्यक्त्व भी केवल सम्यक्त्व नाम नहीं पाता है जोकि रत्नत्रयकी पूर्णताका एक चिन्ह है। भावार्थ, कुछ संस्कारवश हो या चारित्रमोहके ही संबंधसे हो, चारित्रमोहनीयके तथा घाती कर्मोंके समयतक सम्यक्त्व पूर्ण नहीं होता।

अथवा, सम्यक्त्व होजानेपर भी ज्ञान सदा स्वानुभूतिमें ही तो नहीं रहता है। ज्ञानका जब बाहिरी लक्ष्य होजाता है तब स्वानुभूतिसे हट जानेके कारण सम्यग्दृष्टी भी अल्प स्वल्प विषयों में तन्मय होता है। परंतु यह छद्मस्थ ज्ञानकी चंचलताका दोष है और इसका भी कारण कषायें ही हैं परतु ज्ञानकी केवल कषायनिमित्तक चंचलता थोडे समयतक ही रहसकती है और फिर भी वह तीव्र बंधका कारण नहीं होपाती है।

---

१ कषाय तो कभी भी अबंधके कारण नहीं होते परन्तु जितने अंशोंमें वे क्षीण हो जाते हैं उतने ही अंशोंमें स्वरूपाचरणादि चारित्र प्रगट होते हैं वे निर्जरा व अबंध करते हैं। भावार्थ, सम्यक्त्व चाहे कषायोंका पूर्ण नाश न करे परन्तु कुछ करता है और चारित्रको कुछ प्रगट करता ही है।

२ अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम्। सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन॥ तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्मास्ति तन्मयः। तदात्वेहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत्॥ (पंचा० पृष्ठ-१०७) ३ क्योंकि, कषाय नष्ट होते ही ध्यान स्थिर होजाता है और अंतमें स्थिर केवलज्ञान को उत्पन्न करदेता है।

भावार्थ, सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे संसारकी जड तो टूट जाती है परन्तु इतर कर्मोंका तत्क्षण ही सर्वनाश होनेका नियम नहीं है। कर्म अपनी अपनी योग्यतानुसार वन्धते व उदयमें आते हैं। देखो, मिथ्यात्वका साथी चारित्रमोहनीय भी चालीस कोटी कोटी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति उत्पन्न करसकता है और मिथ्यात्व सत्तर कोटीकोटी सागरपर्यंतकी स्थिति उत्पन्न करलेता है। इससे भी यह पता लगता है कि मिथ्यात्व ही सब कर्मोंमें अधिक वलवान् है और दीर्घ तथा असली संसारकी स्थापना करता है। इसीलिये वह नष्ट हुआ कि संसारका किनारा आलगा समझना चाहिये। परन्तु साथ ही यह न भूलना चाहिये कि मोह दोनो ही हैं–एक अमर्यादित है तो दूसरा समर्याद, परतु कारण दोनो संसारके ही हैं।

ससारका संक्षेपसे स्वरूप कहें तो दुःखमय है। इसीलिये आनुषंगिक चाहें दुःखके कारण दूसरे कर्म भी हों परंतु मुख्य कारण मोहनीय कर्म है। जब कि इस सर्व दुःखका कारण मोहनीयकर्ममात्र है तो मोहके नाशको सुख कहना चाहिये। बस, जो ग्रंथकार मोहके नाशसे सुख गुणकी प्राप्ति मानते हैं वह मानना मोहके संयुक्तकार्यकी अपेक्षासे ठीक है। वह मानना अभेद या व्यापक दृष्टिसे है। इसीलिये जो सुखको अनंतचतुष्टयमें गर्भित करते हैं वे चारित्र तथा सम्यक्त्वको फिर जुदा नहीं गिनाते हैं। क्योंकि, सम्यक्त्व व चारित्रके ही समुदित स्वरूपको सुख कहा जासकताहै। बाह्य विषयोंसे उपेक्षा सो चारित्र है और अन्तरंग परिणतिकी प्राप्ति सो सम्यक्त्व है। दोनोंका पर्यवसान सुखगुणमें या स्वरूपलाभमें ही होता है। यद्यपि चारित्र तथा सम्यक्त्वका भी सुख अर्थ होसकता है परन्तु शास्त्रकारोंने व्यवहार इस दृष्टिसे किया नहीं दीखता है। इसलिये जो सुखशब्दका प्रयोग है उसीका अर्थ हम समुदित करते हैं। जो सुख या वीर्य गुणका उल्लेख अनंतचतुष्टयमें करते हैं वे उस उस गुणकी मुख्यता मानते हैं और शेषको गौण समझकर न कहनेपर भी संगृहीत होजाना समझते हैं। क्योंकि, एक सुखगुणके ही उक्त दोनो विशेषाकार हैं। इस कथनसे मोहनीयकर्मसे कोनसे गुणका घात होता है यह शंका भी दूर होसकती है और वेदनीयकी अघातकता भी सिद्ध होसकती है। क्योंकि वेदनीय किसी को घातता नहीं हैं, केवल घात हुए स्वरूपका अनुभव करानेमें जीवको लगाता है।

---

१ पुद्गलपरिवर्तार्धं परितो व्यालीढवेदकोपशमौ। वसतः संसाराब्धौ क्षायिकदृष्टिर्भवचतुष्कः॥ इतिसर्वार्थसिद्धिटिप्पणं

• खसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः। सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात्॥ ८॥

• तत्वज्ञानतरंगिणी अ १७ -

अब अन्तरायके विषयमें कुछ लिखते हैं। अन्तरायका कार्य जीवकी शक्तिको घातना है। जीवका जो शुद्ध स्वरूप हो वही उसकी शक्ति कहना चाहिये। अथवा, उसका उपयोग करलेनेमें समर्थ होना सो शक्ति है। जीवका जब कि ज्ञानके सिवा कोई समझलेने योग्य जुदा स्वरूप या गुण ही नहीं है तो उसीकी प्रवृत्तिमें शक्तिका उपयोग होना मानना चाहिये। बस, ज्ञानकी प्रवृत्तिमें जो आत्माकी शक्ति खर्च होती है वही वीर्य या शक्ति कहाती है और वैसी शक्ति होनी ही चाहिये। उसीके घातनेवाले कर्मको अंतराय कहते हैं। इसी वीर्यरूप शक्तिका घातक अंतरायको मानना मुख्यताकी अपेक्षासे है। मुख्यता यह है कि ज्ञानगुणकी प्रवृत्तिमें बाधा लानेवाला वीर्यान्तराय ही होसकता है; क्योंकि वह ज्ञानकी साधक वीर्यशक्तिको नाशता है और ज्ञानमें बाधा होजाना साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें भी आसकता है। इसीलिये वीर्य-गुण सर्व कार्यकारिणी शक्तियोंमें या बलोंमें एक मुख्य माना गया है और उसीका घातना अन्तरायका कार्य बताया गया है। परन्तु वास्तवमें देखे तो देने, लेने, भोगने, उपभोगनेमें जो शक्ति काम देती हैं उन्हें दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति व उपभोगशक्ति कहते हैं और उनके घातनेवाला भी अंतराय कर्म होना ही चाहिये। जब कि ऐसा विचार करते हैं तो अंतरायका जो अर्थ ऊपर किया है वह उस अंतरायके एक भेदका अर्थ रहजाता है। इसीलिये अंतरायका सामान्य अर्थ शक्ति मात्रका घातक, ऐसा होगा, और उस घातक कर्मके उत्तर भेद वीर्यान्तराय, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगांतराय उपभोगान्तराय ये पांच होंगे जो कि आगे लिखे जायंगे।

हमने वीर्यान्तरायका अर्थ जो ऐसा लिखा है कि ज्ञानकी सहायक वीर्यशक्तिको वह घातता है सो मुख्यकार्यकी दृष्टि से लिखा है कि वास्तवमें उसका कार्य यह है कि किसी भी काममें जो वीर्यकी आवश्यकता है उसे वह घातता रहता है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग ये चार सामर्थ्य भी वीर्यकी भांत और हैं जो कि वास्तवमें तो वीर्यसे जुदे नहीं हैं परन्तु शरीरसहित जीवमें जुदे २ दीख पडते हैं। इसीलिये उस वीर्यके घातक कर्मको भी पांच भांतका मानते हैं। दानादि शक्तिया यदि वास्तवमें जुदी २ नहीं हैं तो भेद क्यों होते हैं? इसका उत्तर:—

शरीर सहित जीव १ देने २ लेनेका व्यवहार करता है ३ भोगने ४ उपभोगनेमें भी लगता है, और ५ धरने उठाने,

१। शरीरमें जो वीर्य नामक धातु है वह वीर्यनाम आत्म सामर्थ्यका सहायक रहता है इसलिये उसे वीर्यनाम प्राप्त हुआ है। वास्तवमें देखें तो वीर्यका अर्थ सामर्थ्य है। इसीलिये उस शक्तिके घातक कर्मको वीर्यान्तराय कहते हैं और शक्तिको वीर्य कहते हैं।

बोलने, चलने, विचार करने आदि कामोंके समय भी शक्ति लगानी पडती है। ये पांच भेद यावत् व्यवहारोंके हो सकते हैं–इन भेदोंमें गर्भित न हो ऐसा एक भी व्यवहार नहीं है। परन्तु ये पांच प्रकार, शरीर न रहने पर शुद्ध जीवोंमें नहीं मिल सकते हैं। इसीलिये इन भेदोंको वास्तविक नहीं मानते किंतु शरीर रहनेसे ये उत्पन्न हो जाते हैं या संसारियोंके ये व्यवहार कल्पित किये हुए हैं। यदि वास्तवमें होते तो शुद्ध जीवोंमें इन पांचोंके कार्य संसारियोंके कार्योंकी भांत जुदे २ होते हुए माने जाते। परन्तु ऐसा न मानकर शुद्ध जीवोंमें एक वीर्यगुण ही माना गया है। इसलिये हम यह बात ठहराते हैं जिसको बल कहते हैं और जिसका कार्य सर्वकार्यों में सहायता पहुंचाना है वह एकही गुण है, शरीर की उपाधिसे उस बलके पांच भांतिके उपयोग होते हैं और उन पांच भांतके उपयोगोंमें तरतमता सिद्ध करनेवाला उनका घातक अंतरायकर्म पांच प्रकारका है। उन पांचो ही भेदोंका नाश हो जाने पर जो गुण प्रकट होता है उसे वीर्यके नामसे ही कहते हैं और वह एकही है। वह वास्तवमें एक न होता तो घातककर्मको भी मूल एक भेदमें ही गर्भित क्यों करते? मूल व उत्तर प्रकृतिभेद लिखनेका तो मतलब ही यह है कि जो वास्तवमें तथा सामान्यतासे भिन्न जातिके स्वभाव हों उनके अनुसार मूल प्रकृति भेद हैं और उस एक २ स्वभावके फिर जो उत्तर भेद हो सकते हैं उनके अनुसार उत्तर प्रकृति भेद ठहराये गये हैं।

अब ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दो घाती कर्म रहे और मोहनीय तथा अंतराय इन दो घातियोका विचार हो चुका। ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दो कर्म ज्ञानदर्शनों को घातते हैं। ज्ञान तो जीवका एक ऐसा प्रसिद्ध गुण और लक्षण है कि जो जीवकी उतनी ही सत्ता कही जाय तो भी अतिशयोक्ति न होगी। ज्ञान है इसीलिये जीव एक निराला तत्त्व माना जाता है। इसलिये ज्ञान क्या है यह बात सिद्ध करनेमें समय न बिताकर दर्शन क्या है यह विचार करते हैं।

दर्शन भी ज्ञानके समान चैतन्यका एक सूक्ष्म परिणाम है। पदार्थमात्रके दो स्वभाव माने जाते हैं; सामान्य व विशेष। सामान्य वह है जो कि किसी दूसरेसे मिलता जुलता स्वभाव हो। विशेष वह है कि जो दूसरेसे मिलता न हो। इन दोनो स्वभावोंकी सीमा सबसे व्यापक भी है और सबसे छोटी भी है और मध्यके भेदोंको तो कुछ गिना ही नहीं सकते

१ यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि सिद्धेष्वपि तत्प्रसंगः, नैष दोषः, शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्। तेषां तदभावे तदप्रसंगः। कथं तर्हि तेषां सिद्धेषु वृत्तिः? परमानन्ताव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः। (इति सर्वार्थ०)

हैं। जैन शास्त्रोंमें जो संग्रह व व्यवहार नयका क्षेत्र या विषय है वही सामान्य तथा विशेष है। नय ज्ञानरूप होनेसे ग्राहक या विषयी हैं और ये सामान्यविशेष ग्राह्य या विषय हैं। इसी सामान्यविशेषका हम दूसरी भांत यों भी वर्णन करसकते हैं कि जो किसी एक लक्षण या आकृतिका न हो वह सामान्य है और जो एकेक लक्षणको—एकेक आकृतिको धारण करता हो वह विशेष है। इत्थंलक्षण विशेष तथा अनित्थंलक्षण सामान्य यह भी सामान्य विशेषका ही अर्थ है सामान्य बडेसे बडा महासत्ता है और उसके ठीक समीपवर्ती द्रव्य, गुण, पर्याय ये विशेष हैं। इससे छोटे सामान्यविशेषोंके उदाहरण जीव जीवादि व पट घट संसारी मुक्त इत्यादि उत्तरोत्तर अनेकों हो सक्ते हैं। सामान्य सदा व्यापक रहता है और विशेष व्याप्य, क्योंकि, सामान्य एक अवयवीकी भांत होता है और विशेष उसके अवयवोंकी भांति।

हमने यह सामान्यविशेषका स्वरूप लिखा वही दर्शन ज्ञानका विषय है। दर्शन उस चैतन्य परिणामको कहते हैं जो कि सामान्यमात्रका प्रतिभास होता है और वह भी महासामान्यका। महासामान्य या महासत्ता ये दोनों एक अर्थके शब्द हैं। ज्ञानमें भी सामान्यका प्रतिभास होता है परंतु वह साथ ही कुछ और विशेषता भी रखता है। विशेषता रखनेसे ज्ञानके स्वरूपको साकार कहते हैं। दर्शन का विषय केवल सामान्य होनेसे आकारकी कल्पना नहीं की जा सकती है इसलिये दर्शनको निराकार कहते हैं। ज्ञानके आकारका अर्थ 'लंबाई चौडाई व ऊंचाई' ऐसा नहीं होता किंतु विषय जिस भांतका हो उसी भांतका अनुभव हो जाना यह अर्थ है। क्योंकि, ज्ञान वास्तवमें अमूर्त आत्माका गुण होनेसे स्वयं अमूर्त है जो स्वयं एक तो अमूर्त हो और फिर भी द्रव्य न होकर गुण हो वह अपना जुदा आकार नहीं रख सकता है गुणोंके आकार, अपने अपने

१ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। यथा सत्, द्रव्यं घट इति। सदित्युक्ते सदिति-वाग्विज्ञानानुप्रवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानामविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। एवंप्रकारोन्योपि संग्रहनयः। संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। को विधिः ? यः संग्रहगृहीतोर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः प्रवर्तते इत्ययं विधिः। तद्यथा–सर्वसंग्रहेण यत्संगृहीतं तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते। यत्सत् तद्द्रव्यं गुणो वेति। द्रव्येणापि संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवविशेषानपेक्षेण न शक्यः संव्यवहार इति जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति वा व्यवहार आश्रीयते। जीवाजीवावपि संग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेति देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते। एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः। २ तयोः कथं भेदः ? साकारानाकारभेदात्। (इति सर्वार्थ०)

आधारभूत द्रव्योंके जो आकार होते हैं वे ही हो सकते हैं। ज्ञान गुणका आधार आत्मद्रव्य है इसलिये उसीका आकार ज्ञानका आकार है। आत्मा सदा किसी भी आकारके पदार्थको जानता रहै परन्तु आकारमें शरीराकार ही रहता है। बस, इसलिये ज्ञानमें भी वास्तविक विषयाकार न होकर शरीर या आत्माका आकार रहेगा। ज्ञानज्ञेयका सामर्थ्य, दूर २ और भिन्नाकार होने पर भी ऐसा मानना पडता है कि ज्ञान ज्ञेयका ग्रहण करै और ज्ञेय गृहीत होता रहै। ऐसा उसमें होनेमें नियमित कारण ज्ञानावरणादि कर्मबंधनोंकी शिथिलता या क्षयोपशम बाह्य विषयोंका सद्भाव संस्कार व इच्छा का झुकाव मानना पडता है। विषयाकारज्ञानका होना यह जाननेमें कारण जो कुछ लोगोंने माना है वह असंबद्ध है।

इस प्रकार ज्ञानको विशेषाकारग्राही होनेसे साकार या अज्ञाननाशका कारण अथवा विषयप्रतिबोधक मानते हैं परंतु दर्शन केवल सामान्यग्राही होनेसे निराकार या विषयका अप्रतिबोधक है। ये एक ही चेतनागुणके दो पर्याय हैं परंतु ज्ञानकी तरतम वृद्धिके समान दर्शन ज्ञानमें ज्ञानकी तरतम अवस्थारूप केवल भेद नहीं मान सकते हैं। क्योंकि 'एक विषय का बोधक है और दूसरा नहीं है' ऐसा जो विशाल अंतर पडा हुआ है वह दर्शनको 'ज्ञान' ऐसा कहाने नहीं देता।

शंका—जब कि दर्शन सामान्यका ग्राहक है तो कुछ भी विषयका बोधक होचुका। इसलिये उसे अबोधक क्यों कहते हैं?

सामान्यका ग्राहक दर्शनको माना अवश्य जाता है परन्तु केवल सामान्यका स्वरूप ही जब कि ठहराया नहीं जासकता कि सामान्यका अमुक स्वरूप है, तो उसका ग्राहक दर्शनको मानना ठीक नहीं है। जो सत्ताको महासामान्य मानकर उसी सत्ताका ग्राहक दर्शनको मानते हैं वह भूल है। क्योंकि, सामान्यदृष्टिसे सत्ता या सत्का ग्रहण करना संग्रह

---

१ ननु 'निराकारत्वे ज्ञानास्याखिलं निखिलार्थवेदकं तत्स्यात् क्वचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात्।' इत्यप्यपेशलं, प्रतिनियतसामर्थ्येन तत्तथाभूतमपि प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकमित्यग्रे वक्ष्यते [योग्यतासमर्थने]। नीलाकारवज्जडाकारस्यादृष्टेंद्रियाद्याकारस्य चानुकरणप्रसंगः, कारणत्वाविशेषात्तत्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावाश्च' इति चोद्ये भवतो [बौद्धस्या] पि योग्यतैव शरणं। किंच प्रतिनियतघटादिवत्सकलं वस्तु निखिलज्ञानस्य कारणं स्वाकारार्पकं वा किन्न स्यात्? वस्तुसामर्थ्यात्किञ्चिदेव कस्यचित्कारणं न सर्वं सर्वस्येति चेत्तर्हि तत एव किञ्चित्कस्यचिद्ग्राह्यं ग्राहकं वा न सर्वं सर्वस्य। इत्यलं प्रतीत्यपलापेन। इत्युक्तं प्रमेयकमलमार्तण्डस्य प्रथमपरिच्छेदे स्वव्यवसायत्वसमर्थने] किंच 'न विषयाकारधारिणी बुद्धिरमूर्तत्वादाकाशवत्। यत् विषयाकारधारि तन्मूर्तं यथा दर्पणादि। न चासिद्धो हेतुरन्यथा तस्या बाह्येंद्रियप्रत्यक्षत्वप्रसंगः।'

नयका काम है जो कि एक ज्ञानविशेष है। दूसरी बात यह भी विचार करनेकी है कि उस सत्ता या सामान्यका ग्राहक संग्रहनयको भी माना जाता है और दर्शन को भी माना जाता है परन्तु दर्शन निराकार है और संग्रह नय-ज्ञान साकार है, सो क्यों ? ज्ञान विना विशेषताके कभी होता ही नहीं है। पदार्थ तथा गुणस्वभाव भी विशेषताके विना नहीं रहते। इसलिये जब कि सत्ताका प्रतिभास दर्शनमें होगा तो साथ ही सत्तान्तर्गत विशेषताओंका ग्रहण भी होना ही चाहिये जैसा कि संग्रह ज्ञानमें होता है। जबकि विशेषताओंका ग्रहण दर्शनमें हुआ तो दर्शन तथा ज्ञानमें कुछ अंतर ही नहीं रहा। इसलिये दर्शनको सत्ताका ग्राहक मानना न चाहिये। यदि ऐसा है तो दर्शनको 'सत्तालोचन इत्यादि नामों से क्यों संबोधते हैं ? सत्तालोचन-शब्दका अर्थ सत्ताप्रतिबोध ऐसा होता है।

उत्तर-सत्तालोचन शब्दका अर्थ यदि सत्ताका प्रतिबोध माना जाय तो प्रतिबोध साकार होगा और साकार ज्ञान ही होसकता है। अथवा, प्रतिबोध, ज्ञान, आलोचन इत्यादि शब्द ज्ञानके ही वाचक हैं। ज्ञानका तथा साकार बननेका अर्थ यह है कि वह किसी वस्तुको जानता है। जब कि दर्शन भी एक महासामान्यरूप सत्ताको जानता है तो वह भी साकार व ज्ञान क्यों न होगा ? ऐसा विवेचन करनेपर ज्ञान व दर्शनमें भेद सिद्ध नहीं होता और यदि भेद सिद्ध होगा तो ज्ञानके इतर उत्तरभेदोंकी भांत होगा जो कि निरूपयोगी है। यदि ऐसा ही अन्तर्गत भेद हो तो मूल प्रकृतियोंमें ज्ञानावरण व दर्शनावरण ये दो घातक कर्म जुदे जुदे माननेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिये मूलभेदोंमें दो भेद रखनेसे यही बात जान पडती है कि ज्ञान दर्शन ये दोनो भेद किसी विशेष प्रयोजनकेलिये मानेगये हैं और लक्षण-स्वरूप दोनोंके भिन्न हैं। अर्थात्, ज्ञान साकार व वस्तुग्राही है तो दर्शन वस्तुका अग्राही और अतएव निराकार है। दर्शन ऐसा होकर भी ज्ञानके साथमें रक्खा जाता है, चेतनागुणका पर्याय माना जाता है और मूल घातक कर्मोंमें उसके घातनेवाली एक स्वतंत्र प्रकृति भी मानी गई है इसलिये उसका स्वरूप चेतनासे संबंध रखनेवाला अवश्य है और वह क्या है ? इसका उत्तर-

किसी भी पदार्थको जाननेकी योग्यता प्राप्त होनेपर जो आत्माकी उस पदार्थकी तर्फ उन्मुखता, प्रवृत्ति अथवा इतर

१ इंद्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनानंतरभावी ज्ञानविशेषोऽवग्रहः। [इतिन्यायदीपिका]
२ 'उपयोगो लक्षणम्। स द्विविधः।' दर्शनोपयोगो ज्ञानोपयोगश्च, [इति तत्त्वार्थवचनं]

विषयोंसे हटकर उस विवक्षित पदार्थकी तर्फ उत्सुकता प्रगट होती है वही दर्शन है । वह उत्सुकता होती चेतनामें ही है परन्तु तबतक पदार्थका थोडासा अंश भी जाननेमें नहीं आता है । उदाहरणार्थ देखिये कि एक मनुष्य भोजन करनेमें लग रहा है और उसका मन या बुद्धि भी उसीमें आसक्त है । अकस्मात् उसकी इच्छा हुई कि बाहिर कोई पुकार तो नहीं रहा है यह मैं समझलूं । अथवा किसीकी आवाज कानमें पडनेसे उसका उपयोग उस भोजनकी तर्फसे हटकर शब्दकी तर्फ लगजाता है ।

पूर्वविषयसे हटना और उत्तर विषयकी तर्फ उत्सुक होना, यह विषय ज्ञानका पर्याय नहीं हो सकता है । इसी चेतना-पर्यायको दर्शन कहते हैं । इसके ठीक उत्तर समयमें जो कुछ ग्रहण हो जाता है वह ज्ञान है । प्रथम समयमें ग्रहण हो जाय तो वह चाहे कैसा ही सामान्य हो परन्तु ग्रहणका आकार अवश्य बदलेगा । यदि आकार बदला तो वह प्राप्त हुआ आकार चेतनाको साकार बना देगा । चेतनाका साकार होना सो ज्ञान है, न कि दर्शन । इसलिये जब कि प्रथम समयमें दर्शन होना माना जाता है तो वह दर्शन किसीका भी ग्राहक नहीं हो सकता है ऐसा मानना ही पडेगा । दूसरें यह भी विचार करना चाहिये कि प्रत्येक कारण जो कार्यको पैदा करते हैं सो प्रथम ही समयमें नहीं कर देते किंतु प्रथम समयमें कार्यका पूर्वरूप होता है और फिर कार्य उत्पन्न होता है । पूर्वरूपको कारणदशामें गर्भित किया जाता है । यदि कार्य प्रथम ही समयमें होने लगै तो कार्यकारणका भेद कहना ही संभव न होगा । इसी प्रकार दर्शन व ज्ञानमें भी पूर्वा-परपनेका भेद है । अर्थात्, ज्ञान चेतनाका कार्य है और दर्शन ज्ञानकी पूर्वदशा है । ज्ञान-यह जाननेरूप कार्य है तो दर्शन-रूप पूर्वदशामें यह जाननेकी क्रिया प्रगट हुई नहीं कही जा सकती है । पूर्वोत्तर दशाओंको कारणकार्य मानना हो तो दर्शनको भी कारण कहा जा सकता है । परन्तु कारणके समय कार्यकी अवस्था व्यक्त हुई मानना ठीक नहीं है और कार्यकी अवस्थाका यदि अर्थ विचारा जाय तो जानना ही है । इसलिये दर्शनके समय जानना किस प्रकार माना जा सकता है ? जब कि दर्शनमें जानना असंभव है तो 'सत्तालोचन' जो दर्शनका स्वरूप बताया जाता है उसका अर्थ, 'वि-षयकी तर्फ उन्मुख होना' ही करना चाहिये । उन्मुख होना यह निश्चयात्मक नहीं है इसलिये ज्ञान नहीं हो सकता । परंतु अभावरूप भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, किसीकी तर्फ उन्मुखता पैदा होना, इसमें उन्मुखता न होनेकी अवस्थासे तो कुछ विशेषता अवश्य है । और विशेषता जो होती है वह किसी एक प्रकारकी ही नहीं होती किंतु सर्व

उन्मुखताओंकी अवस्था एक भांतकी रहती है उसे निष्कारण हुई भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, सामनेका पदार्थ उसका निमित्त मौजूद है । सामनेके पदार्थ नाना भांतके होते हैं परन्तु उन्मुखता सर्वदा एकसी ही होती है । इसलिये यह मानना पड़ता है कि उस उन्मुखताका कारण तो सामनेका पदार्थ ही है परन्तु उस पदार्थकी कोई भी विशेषता उस का कारण नहीं है किन्तु सर्व पदार्थगत जो कोई महासाधारण धर्म है वह उसका कारण हो सकता है । यदि किसी प्रकारकी पदार्थसंबंधी विशेषता उसका कारण होती तो उस दर्शनमें नाना प्रकार उत्पन्न होते । परन्तु दर्शनमें सदा समानता रहती है इसलिये उसका जनक, सर्वपदार्थगत महासामान्य जो एक धर्म है वही हो सकता है। बस, यही कारण है कि दर्शनका स्वरूप सत्तालोचन कहा जाता है। वास्तवमें आलोचन तो वहां हो ही नहीं सकता है परन्तु उन्मुखताके लिये अवलंबन सत्ता धर्म है इसलिये सत्ताको आलोचक और दर्शनको आलोचन कह देते हैं।

वास्तवमें यदि दर्शनमें किसीका आलोचन होता तो दर्शनका ज्ञानकी भांत प्रतिपादन भी होना संभव हो जाता। जैसे कि घटके ज्ञानको 'घटोयं' या 'यह घट है' ऐसी आकृति बनाकर दिखा सकते हैं । वैसे दर्शन किसी भी पदार्थका हुआ हो परन्तु उसे दिखा नहीं सकते हैं। कुछ लोग दर्शनको भी 'कुछ है' ऐसे शब्दोंसे कहा करते हैं परन्तु अनध्यवसाय ज्ञानको इन्हीं शब्दोंसे उल्लिखित करना पडता है। अब कहिये, दर्शनमें व अनध्यवसायज्ञानमें क्या अंतर रहा ?

अंतर है, वह यह है कि अनध्यवसायके 'कुछ है' इस शब्दका मतलब जानी हुई वस्तुओंमेंसे अनिश्चित वस्तु और दर्शनका 'कुछ है' इस शब्दका अर्थ सर्वथा न जानी हुई कुछ वस्तु ऐसा होता है। भावार्थ, अनध्यवसायमें, जानी हुई-अनुभवकी हुई बहुतरी वस्तुओंमेंसे कोई है ऐसा भास होता है और दर्शनके समय यद्यपि किसीका भास नहीं होता तो भी उन्मुखताका अवलंबन कुछ होना ही चाहिये यह अनुमानका वाक्य वहां उत्पन्न होता है । यद्यपि शब्दाकृति दोनोंकी समान है परन्तु विवक्षा भिन्न २ है अथवा वास्तवमें बोलनेवालेका अभिप्राय जुदा २ है।

यहांतकके विचारसे यह बात सिद्ध हुई दर्शनको निराकार कहा इसलिये वह किसी विषयका ग्राहक नहीं है परंतु उसका अवलंबन महासत्ता धर्म है इसलिये उसे सत्तालोचनरूप कहसकते हैं । दर्शनका स्वरूप उन्मुखता है इसलिये दर्शन मिथ्या नहीं होसकता है।

अब शंका यह है कि उन्मुखता यह चेतनाका ही एक पर्याय है तो उसे ज्ञानसे जुदा क्यों रखते हैं ? और यदि

जुदा ही रखना है तो मोहके उत्तर भेद दर्शनमोह-चारित्र मोहकी भांत चेतनावरणके उत्तर भेद ज्ञानावरण व दर्शनावरण ये दो करने चाहिये थे ऐसा करते तो मूल प्रकृतियोंके भेद सात ही रहजाते।

उत्तर–यद्यपि ये दोनो भेद एक चेतनाके ही हैं तो भी इन दोनोंका उदय व इनके घातकोंका क्षयोपशम सदा एकसा बना रहता है। जिस विषयके संबधमें जब ज्ञानावरणका क्षयोपशम होगा तभी और उसी विषयके संबंधमें दर्शनावरणका भी क्षयोपशम होगा। ज्ञानदर्शनोंका परिणाम भी एकैक विषयमें ही होता है। यद्यपि ज्ञान सुरू होजानेके बाद केवल उन्मुखता नहीं रहती है और इसलिये दर्शनज्ञानोंको क्रमवर्ती कहा है परंतु तोभी जिस समय जिस विषयका ज्ञान होरहा है उस समय उसी विषयसंबंधी दर्शनावरणका भी क्षयोपशम रहता ही है और उस विषयकी तर्फ उन्मुखता भी रहती ही है। इसलिये ज्ञानके समयमें भी उन्मुखतारूप दर्शनका सद्भाव मानना पडता है। दर्शनज्ञानोंको जो क्रमवर्ती कहा है उसका मतलब इतनाही है कि ज्ञानके समय दर्शनका जुदा सद्भाव अनुभव गोचर नहीं होसकता है। दर्शन, केवल सामान्यावलंबी प्रतिभास या उन्मुखता और ज्ञान, विशेषस्वरूपका अनुभावक चैतन्यपर्याय। इस विशेषावभासी ज्ञानमें उन्मुखताको केवल जुदा कैसे दिखाया या देखा जासकता है[1]। एवं जब दर्शन है ज्ञानावरणका क्षयोपशम तब भी है परंतु विशदावभासरूप कार्य क्रमसे ही व्यक्त होगा। इस प्रकार ज्ञानदर्शनावरणका क्षयोपशम सदा और ज्ञानके समय दर्शनका सद्भाव अवश्य मानना चाहिये।

ग्रंथोंमें ज्ञानदर्शन जो छद्मस्थोंके होते हैं वे क्रमवर्ती कहे हैं और हम यह कहते हैं कि दर्शनके समय ज्ञान नहीं रहता परन्तु ज्ञानके समय दर्शन अवश्य रहता है। इस लेखमें कुछ नयापन मालूम पडेगा परतु विचार करनेपर सर्व ठीक होसकता है। जब कि क्षयोपशम दोनोंका सदा रहता है और उन्मुखता ज्ञानके समयमें भी रहती ही है तो ज्ञानके समय दर्शनको क्यों न मानें? क्योंकि, उन्मुखता विना ज्ञानका होना असंभव है और उन्मुखता ही दर्शन है। यदि ज्ञानदर्शनके युगपत् रहनेमें कोई असंभवता होती या परस्पर विरोध होता तो छद्मस्थोंकी भांत केवलियोंमें भी वह विरोध रहता और अतएव दोनों युगपत् वहां भी न होते। परन्तु वहां तो दोनो ही युगपत् होते हैं। इसलिये छद्मस्थोंमें भी ज्ञानके समय दर्शनका रहना कोई असंगत नहीं है।

---

१ दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा। जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि। [द्रव्यसंग्रह]

दूसरी बात यह भी है कि छद्मस्थोंका ज्ञान परिवर्तनशील होता है इसलिये जब वह एक विषयपरसे हटाकर दूसरेपर लगाया जाता है तब उस ज्ञानकी जाननरूप क्रिया एकाध समयकेलिये कार्यपरिणत न रहकर उत्सुकताके स्वरूपमें परिणत होजाती है और फिर उस उत्सुकताका जाननेरूप क्रियामें परिवर्तन होता है। अर्थात्, विषय परिवर्तनके साथ ज्ञान या चेतनाकी क्रियामें वृद्धिह्रास होते रहते हैं। ह्रासके समयकी क्रियाको दर्शन कहते हैं। उस समय वर्द्धमान क्रियारूप ज्ञान का संभव न होनेसे ज्ञानका असद्भाव मानना पडता है। इस प्रकार युगपत्पनेका जो निषेध किया है उसका अर्थ इतना ही करें तो वचनपालन होता है कि दर्शनके समय ज्ञान नहीं होता। दर्शनके तुल्य प्रथम ही समयमें ज्ञानाकार परिणत नहीं होसकता ऐसी क्रमोत्पत्ति दिखानेकेलिये ही युगपत्पनेका निषेध किया है सर्वत्र ज्ञानदर्शनका युगपत्पना निषिद्ध करना कुछ विशेष फल भी नहीं दिखाता है, स्वभाव भी वैसा सिद्ध नहीं होता है और केवलियोंका दृष्टान्त देखनेसे अनुचित भी जान नहीं पडता है।

ऐसा अविनाभाव सम्यक्त्व व चरित्रमें नहीं है। सम्यक्त्व होजानेपर भी विरति या संयम वहुतोंको उत्पन्न जल्दी नहीं होता है। इसीलिये सम्यक्त्व एकवार होजानेपर भी चिरकालतक कुछ लोग संसारमें परिभ्रमण करते हैं।

इसीलिये सम्यक्त्व व चारित्रके घातक मोहकर्मकी भांत ज्ञान दर्शनावरणको एक मूल प्रकृतिमें नहीं रक्खा। दूसरा कारण यह भी है कि हम जिसको ज्ञान कहते हैं उसके सिवा दर्शनको दूसरे दर्शनकारोंने भी एक जुदी और विलक्षण अवस्था मानी है उसे वे निर्विकल्पक ज्ञान--शब्दसे कहते हैं परंतु ज्ञानसे पूर्वक्षणमें वह एक निर्विकल्पक या निराकार चैतन्य परिणाम होता अवश्य है ऐसा मानते हैं। उसको ज्ञान कहना चाहें ठीक न हो परंतु चेतनाके निराकार व साकार ऐसे दो प्रकारके पर्याय माननेकी पद्धति प्राचीन दर्शनकारोंमें थी यह बात सिद्ध होजाती है। जब कि इन दोनो प्रकारोंको समुच्चयसे दिखानेकी इच्छा हो तो उपयोग शब्दसे वैसे भी कहते ही हैं। परंतु इतने प्रसिद्ध दो भेदोंके घातक

---

१ आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ॥ आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। तथा च सामान्यलक्षणेत्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोर्थः। तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते। ननु संयोगादिकं विनापि सामान्यज्ञानं यत्र वर्तते तत्र सकल घटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्ष स्यादत आह तदिन्द्रियजेति। तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥ 'सिद्धांतमु० वैशेषिक ग्रंथ, तत्र न तावत्प्रत्यक्षस्याविसंवादित्वं, तस्य निर्विकल्पकत्वेन स्वविषयानिश्चायकस्य समारोपविरोधित्वाभावात्। (इति न्यायदीपिकाप्रथमप्रकाशे बौद्धप्रमाणखण्डनप्रकरणे उक्तम्)

कर्मोंको मूल दो भेदोंमें मानलेना कुछ अनुचित नहीं है । क्योंकि, इनके आवरणोंके मूल भेद माननेसे यह बात सिद्ध होजाती है कि इन दोनोंका बंध समान समयोंतक होगा और उनके उदय तथा क्षयोपशमसे होनेवाले कार्य भी दोनो ही समान समय तक रहेंगे । जो मूल भेदमें नहीं है उनके कार्योंमें परस्पर सहभावका कोई नियम नहीं रहता है । इसीलिये मोहनीयकर्मके दोनो भेदोंका नाश भिन्न समयमें होता है और उदयका भी सहभाव रहना निश्चित नहीं है । परंतु ज्ञान-दर्शनके आवरणोंका उदय तथा क्षयोपशम भी सहभावी रहता है और क्षय भी सहभावी होता है । इसलिये इन दोनोंका घातक दो मूल प्रकृति मानना आवश्यक है ।

यहांतक आठ कर्मोंकी आठो कृति व आवश्यकताएं दिखा चुके । अब इस बातका विचार करते हैं बंध आत्माको किस किस रूपमें वास्तविक बांधता है और आठ कर्मोंसे हीनाधिक कर्म भी होसकते हैं या नहीं ?

कर्मोंसे वास्तविक बंध दो बातोंका होता है ; एक तो आत्मप्रदेशोंका और दूसरा ज्ञान गुणका । प्रदेशबंध तो आठो कर्मोंका एकसा ही होता है । यदि भेद है तो अनुभागबन्धमें । हम यहां दो कार्योंमें जो बन्धका प्रयोजन लिखरहे हैं उसका भी मतलब अनुभाग आठो कर्मोंके जुदे जुदे हैं परंतु असली घातको दो ही अनुभाग करते हैं, एक मोह, दूसरा ज्ञानावरण । मोह आत्म द्रव्यकी अवस्थाको स्वाभाविक न रखकर अस्वस्थ या मलिन करता है । एक तो यह कार्य हुआ । एक जो ज्ञान या चेतनागुण है उसको विकृत करनेवाला ज्ञानावरण कर्म है । दूसरा यह कार्य हुआ । दर्शनावरण ज्ञानकी ही उन्मुखताको रोकता है इसलिये ज्ञानावरणका ही सहायक है । अंतराय है वह ज्ञानावरणके कार्यका भी सहायक है और मोहनीयके कार्यका भी सहायक है । जब कि मोहके प्रभावसे आत्मा मलिन होता है तब वह सभी कार्य करनेमें असमर्थ होता है । इसलिये आत्मप्रदेशोंसे होनेवाला कार्य जो हलना, चलना, खाना पीना इत्यादि—वह पूर्ण शक्तियुक्त नहीं रह

१ शरीर व अंगोपांगोंका उदय एकसाथ होता है पर वे अघाती कर्म हैं और उनको मूलभेदोंमें गिनाना साफ साफ विरुद्ध भासता है।

२ सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव । समयपवद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं ॥ ४ ॥ . गोम० कर्म० '

अर्थात्, अनतवर्गणाओंका पिंड सदा ही बन्धता है और फिर उसके आठ ना सात मूलविभाग होजाते हैं । कैसे ?

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो । घातितियेवि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥ १३२ ॥ ' गो० कर्म० '

प्रतिसमयके कर्मपिंडमेंसे सबसे थोडा आयुका भाग होता है, नामगोत्रका समान होता है पर आयुसे अधिक । उमसे तीन घातियोंका अधिक अधिक होता है । मोहका उससे भी अधिक और वेदनीयका सबसे अधिक होता है ।

सकता है और ज्ञानगुण भी अपना पूर्णकार्य दिखा नहीं सकता है। बाकी जो कर्मोंके कार्य रहे वे इन्ही दो कार्योंके सहायक हैं। वीर्य तो ज्ञानकी और प्रदेशोंकी शक्तिको कम करता है इसलिये उसको जुदा माननेकी आवश्यकता नहीं ही है और दर्शनावरणको जुदा न गिननेका हेतु प्रथम ही कहचुके हैं। यद्यपि दर्शनावरण व अंतरायके भिन्न भिन्न कार्य होते हैं परन्तु मुख्य कार्य देखें तो ज्ञान व मोहके अतिरिक्त कुछ भी नही हैं। इसलिये चार घातियोंके दो कार्य रहे।

रहे अघाती कर्म सो अघातियोंके कार्य तो जुदे २ अवश्य होते हैं अथवा, यों कहिये कि अघातियोंके पिंड तो जुदे २ अवश्य होते हैं। परंतु वे सब मोहके उदयमें ही अपने कार्य दिखा सकते हैं। अर्थात् मोहके द्वारा जब आत्मा मलिन होता है तब नीच-ऊंचपनेका व्यवहार करता है, इसलिये गोत्रकर्मकी आवश्यकताको उत्पन्न कर लेता है। गोत्रकर्म जो नीच-ऊंचताको सिद्ध करता है वह आत्माको प्रत्यक्ष कराये विना कैसे कर सकता है? इसलिए सूक्ष्म आत्माको स्थूल बना देनेवाला अर्थात् शरीर संबंध करा देनेवाला नाम कर्म आवश्यक जान पडजाता है। नामकर्मसे जो शरीर होता है उसे आत्मासे सदा जोड रखनेवाला आयुःकर्म है। यदि आयुः कर्म न माना जाय तो प्राप्त हुए शरीरसे आत्मा बाहिर चाहें जब हो जाय तो उसे कौन रोकेगा? मोहकर्म या सभी जो कर्म हैं वे तो सीधे आत्माको ही बांधते हैं और आप स्वयं वहां बंधते हैं इसलिये उन कर्मपिण्डोंमें आत्माको रोक रखनेके लिये किसी आयु सरीखे कर्मकी जुदी आवश्यकता नहीं पडती है। परंतु नामकर्मके द्वारा जो शरीर प्राप्त होते हैं वे आत्माको कर्मकी भांत जकड नहीं सकते हैं। यदि कर्म निःशेष नष्ट हो जांय तो अपने आप शरीरसे आत्मा जुदा हो जायगा। कर्मोंकी भांत शरीरकी निर्जराका प्रयत्न नहीं करना पडता है। इसीलिये शरीर व कर्मोंमें यह अंतर है कि शरीर आत्माके ऊपरका अवलेप है और कर्म आत्ममय तिल में तेलके समान हैं। बस, इसीलिये शरीरमें आत्माको रोके रखनेकी सामर्थ्यसे युक्त एक जुदा कर्म मानना पडता है जिसे कि आयु कहते हैं। यह आयुःकर्म नामकर्मके शरीरादि कार्योंकी अपेक्षा रखकर चरितार्थ होता है। इस प्रकार ये तीन अघाती कर्म मोहकर्मसे

---

१ केवलज्ञानरूपेणानंतवीर्यवृत्तिवत्। इति सर्वार्थ०।

२ आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि आउणामपुव्वं तु। भवमस्सिय णीचुच्चं इति गोदं णामपुव्वं तु ॥१८॥ [गो० कर्म०]

अर्थात्, आयुके होनेपर ही भव या शरीरका टिकाव हो सकता है इसलिये आयुको नामकर्मसे प्रथम लिखा। भवके या शरीरके विना गोत्रकर्म कार्यकारी नहीं हो सकता इसलिये शरीरजनक कर्म माना गया और गोत्र आगे रक्खा गया है।

उत्पन्न हुई मलिनताने संगृहीत किये ऐसा मानना पडता है। अर्थात् ये तीनों कर्म मोहके कार्यके अनुगामी हैं अथवा, मोहके कार्यको ही ये पुष्ट करते हैं। वेदनीय जो चौथा है वह तो मोहके अनुभव करानेका केवल कार्य करता है इसीलिये वह स्पष्ट ही मोहके अधीन है और मोह सभीका स्वामी है।

इस प्रकार अघाती कर्मोंको जुदे कार्यकारी न समझें तो भी काम चलता है। परन्तु शंका यह होगी कि मोहकर्मका दशवें गुण स्थानमें नाश हो जानेपर अघाती कर्म कार्यकारी नहीं रहेंगे और अतएव उनके शरीरादि कार्य ही नष्ट हो जाने चाहिये। परन्तु शरीर तो चौदहवें गुणस्थानके अंत तक रहता है सो क्यों ?

उत्तर—अघाती कर्मोंका बंध होना ही तभीतकका है जब तक कि मोहका बंध होता रहता है। मोहकी सर्वथा बंध व्युच्छित्ति दशवें गुण स्थानसे आगेके लिये हो जाती है और अघाती कर्म भी तभीसे रुक जाते हैं, घाती भी तभीसे रुक जाते हैं। एक वेदनीयके साताभेदका बंध फिर भी माना है परन्तु वह आते ही चला जाता है शरीरमें विपरिणाम कुछ भी करता नहीं है। उसका बंध होना न होना बराबर है। भावार्थ, वह बंधता तो क्या है परन्तु यों कहना चाहिये कि योगकी चंचलता उस साताको लाती है पर वह न टिककर यों ही चला जाता है। अग्नि नष्ट हो जाय तो भी धुआं सा उठते हुए कुछ समय तक दीखता ही है पर वह सचमुच धुआं नहीं है। इसीप्रकार कोई भी कार्य निःशेष होनेपर भी कुछ समय तक उसकीसी वासना रहा ही करती है। यही बात यहां साताके बंधनेमें है। पर टिकनेवाला वह बंध नहीं है इसलिये उसे बंध कहना एक उपचार है। वह संसारका कारण भी कुछ नहीं है इसलिये भी उसे उपचरित बंध कह सकते हैं। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि मोहके आश्रित सर्व बंध होना है। चौदहवें गुणस्थानके अंततक जो शरीर रहता है वह बंधका कार्य नहीं है किंतु उदयका है। जो बंध मोहकर्मके सहवाससे हो चुका है उसका निर्मूलनाश तो प्रयत्नों

१ नामकर्मके उत्तर भेदोंका प्रथम गुणस्थानसे लेकर क्रम क्रमसे कुछ कुछका नाश होते हुए दशवें तक सर्वनाश हो जाता है दशवंके अतमें यशःस्कीर्तिकी व्युच्छित्ति होना बताया है। आयुमें-नरकायुका प्रथम गुणस्थानमें, तिर्यंच आयुका दूसरेमें मनुष्यायुका चोथेमें, देवायुका सातवेंमें बंध व्युच्छेद हो जाता है। गोत्रमेंसे-नीच गोत्रका दूसरे गुणस्थानमें, उच्चगोत्रका दशवंके अतमें बंध व्युच्छेद होता है। असाताका-असाता वेदनीय का छठे गुण स्थानके अतमें, साता का तेरहवेंके अतमें बंध व्युच्छेद होता है। २ अवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी साद। णायव्वो पयडीण बंधस्संतो अणंतो य ॥१०२॥ [गो० कर्म०]

से और धीरे धीरे ही होगा न ? वह प्रयत्न शुक्लध्यानकी पूर्णता है जो कि चौदहवेंके अंतमें ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये तभी नामकर्मके कार्यका पूर्ण अभाव भी हो पाता है। इस प्रकार मोहकर्मके बंधको समस्त कर्मोंका स्वामी मानना युक्ति व आगमके सर्वथा अनुकूल है।

अब यह बात और देखनेकी है कि मोह व ज्ञानावरणके वीचमें क्या अंतर है ? ज्ञान आत्माका गुण है। मोहकर्म जब कि आत्माको घातता है तो फिर उसके असली लक्षणको मलिन करनेमें क्यों न प्रेरक होगा ? इसलिये ज्ञानावरण भी चाहे अपना कार्य एक जुदा ही करता है परन्तु मोहके आश्रित होकर ही करता है। जबतक मोहका बंध होता रहता है तभीतक ज्ञानावरणका भी बंध होता है। दशवेंके अंतमें मोहकर्मके बंधका व्युच्छेद होता है और ज्ञानावरणका बंध भी तभीतक होता है। अब हम वास्तवमें बंधका विचार करें तो एक मोहकर्म तो प्रधान ठहरता है और दूसरे सर्व अप्रधान ही ठहरते हैं। इसीलिये संसारको कर्मकृत मोहद्वारा बढानेवाला माना जाता है और मोहके नाशसे विद्यमान सर्व कर्मोंका भी कुछ आगे तक नाश हो ही जाता है। अब अभेद नयसे देखें तो बंध एक है और बंधके अभावरूप मुक्ति भी एक ही है। इसीलिये भेदविवक्षासे चाहे मोक्षका स्वरूप ज्ञान दर्शन व चारित्र इन तीन गुणरूप होगा परन्तु अभेद विवक्षासे रत्नत्रयका स्वरूप एक शुद्ध आत्मा ही है। उसका बंध होना एक प्रकारकी अशुद्धता है। भेदविवक्षासे बंधके प्रधान भेद आठ हैं। जीवके गुण तो अनंत होते हैं परन्तु कर्म उन सभी गुणोंको घातते नही हैं। जीवकी शुद्ध अवस्था जैसी कुछ युक्ति व आगमसे ठहराई गई है उससे संसारमें विकार आठ ही प्रकारका दीखपडता है। इसलिये मूल कर्मप्रकृतियां न आठसे अधिक माननी चाहिये और न कम।

उत्तर भेद कितने है ?

अन्याः पंच नव द्वे च तथाष्टाविंशतिः क्रमात्। चतस्रश्च त्रिसंयुक्ता नवतिर्द्वे च पंच च ॥२३॥

अर्थ—आठो मूल प्रकृतियोंके उत्तरभेद इस प्रकार हैं;—ज्ञानावरणके पांच भेद। दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुके चार, नामके तिरानवै, गोत्रके दो, और अंतरायके पांच हैं।

१ ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ। कम्मकयमोहवड्ढिय, ऐसा गोमटसारका वचन है।

मतिः श्रुतावधी चैव मनःपर्ययकेवले। एषामावृतयो ज्ञानरोधप्रकृतयः स्मृताः ॥ २४ ॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान ये पांच ज्ञानके प्रकार हैं इसलिये इनका आवरण करनेवाली प्रकृतियां भी पांच हैं। प्रत्येक ज्ञानके नामके आगे आवरण–शब्द जोडदेनेसे ज्ञानावरणोंके नाम होजाते हैं। अर्थके अनुसार ये सर्व नाम हैं इसलिये आवरणको रोध भी कहसकते हैं आवृति भी कहसकते हैं। इसी प्रकार ज्ञानावरण के बदले, बोधरोध, बोधावरण इत्यादि शब्द भी कहसकते हैं।

प्रत्यक्ष परोक्ष ऐसे भी ज्ञानके साधारण दो भेद करते हैं परन्तु ये भेद ज्ञानावरणकी तीव्रता व मंदताके सबबसे किये जाते हैं। ज्ञानोंमें यह कोई जातिभेद नहीं है। अथवा ये भेद ज्ञानकी जाति भिन्न भिन्न माननेसे माने जांय तो भी कुछ हानि नहीं है। प्रत्यक्ष व परोक्षके ही मतिज्ञानादिक उत्तरभेद हैं। इसलिये मतिश्रुतावरणको परोक्षावरण और अवधि-मनःपर्यय–केवलज्ञानावरणको प्रत्यक्षावरण कहसकते हैं।

परोक्ष मतिश्रुतज्ञान हैं। इनके उत्तरभेद न्यायग्रंथोंमें अनुभव, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान व आगम ऐसे भी किये हैं। इनका स्वरूप पीठिकामें लिखा जाचुका है। इन सबोंके आवरण भी जुदे जुदे होने ही चाहिये। परन्तु मति-श्रुतावरणके मानलेनेसे इन सभीका अंतर्भाव होजाता है। अनुभवावरण, स्मरणावरण इत्यादि आवरण परस्परमें भिन्न अवश्य हैं परन्तु मत्यावरण व्यापक होनेसे उसके अंतर्गत होजाते हैं। यही बात सर्व आवरणोंमें समझनी चाहिये। प्रत्येक ज्ञानके उत्तरभेद अपरिमित होते हैं इसलिये आवरणोंके भी उत्तर भेद उतनेतक होसक्ते हैं।

सर्वसत् पदार्थोंको और उनके गुण पर्यायोंको पूर्ण जानलेनेकी शक्तिका नाम केवलज्ञान शक्ति है। अथवा यों कहिये कि जानलेनेकी शक्तिमें यदि कोई आवरण न हुआ हो तो जो सत् पदार्थ है उन्हें यह शक्ति अवश्य जानेगी; क्योंकि, उस शक्तिका, जानलेना ही स्वभाव है। उस अखंड असहाय शक्तिको मलिन करनेवाले कर्म आलगनेसे वह केवलज्ञान शक्ति दब जाती है। इसीका नाम केवलज्ञानावरण है।

यह केवलज्ञानावरण जीवमें प्रयत्न विना ही प्रगट रहनेवाले पूर्ण ज्ञानको घातता है; जैसे कि प्रत्याख्यानावरण सकल संयमको घातता है। परन्तु कोई प्रयत्न करके उपयोग किसी तर्फ लगावै तो फिर भी उपयोगमात्र प्रत्यक्ष ज्ञान होसकता

है जिसे कि मनःपर्यय व अवधि कहते हैं। जैसे कि प्रत्याख्यानावरणका उदय रहते हुए भी देशविरत होते हैं। जो उपयोग लगानेपर भी सीधा असहाय प्रत्यक्ष ज्ञान न होने दे उसे मनःपर्ययज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण कहते हैं। मनके चिंतवनका वास्तविक स्वरूप अमूर्तीक होनेपर भी उपचार मात्रसे मूर्तीक माना जाता है। यही विषय मनःपर्यय ज्ञान का होता है। अवधिज्ञानका विषय मूर्तीक पदार्थ होता है। इसलिये अवधिज्ञानसे मनःपर्ययज्ञान अधिक सूक्ष्म विषयवाला है। यह अधिक महिमा होनेके कारण ही केवलज्ञानसे दूसरा दर्जा इसका माना गया है। इसका आवरण भी ऐसे ही स्वभावको घातता है।

इस प्रकार मनःपर्यय व अवधिके स्वभाव सामर्थ्यमें बहुत बडा अंतर है। इसीलिये परमनोगत चिंतवनके विषयको जानलेनेकी महत्त्वपूर्ण शक्तिका घातक एक कर्म और दूसरा उपस्थित पदार्थोंको सीधा साक्षात् जाननेकी शक्तिका घातक कर्म ये दो कर्म हुए। इन्हींको मनःपर्यय ज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण कहते हैं। अपने अपने आवरणोंका नाश होनेपर भी ये ज्ञान चाहें जिस पदार्थको नहीं जान सकते हैं किंतु जहां तक उपयोग लगाया जा सकता है वहीं तक जान सकते हैं। मनःपर्ययका उपयोग अढाई द्वीप पर्यन्तके मनुष्योंमें लग सकता है। अवधिज्ञानका विषय किसीका मन नहीं है किन्तु सीधापदार्थ विषय होता है इसलिये उसकी सीमा कुछ द्वीप समुद्र व कुछ आगे पीछे कालमें मर्यादित है। जो उपयोगमय ज्ञान होते हैं वे अपने प्रसारकी सीमा कुछ न कुछ अवश्य रखते हैं। केवल ज्ञानके सिवा सभी ज्ञान उपयोगमय हैं इसलिये निरवधि व युगपत् सर्व जाननेकी योग्यता केवलज्ञानमें ही है। केवलज्ञानावरण इसी बातको रोकता है। अर्थात् उपयोग लगानेपर जाननेकी शक्ति केवलज्ञानावरणसे रुकती नहीं है केवल निरवधिपनेका वह घातक है और विषय में अवधिके हो जानेपर भी जो उपयोग लगाने पर साक्षात् जाननेकी शक्ति थी उसे मनःपर्ययज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण ये दो कर्म रोक देते हैं। इसीलिये संसारी जीवोंमें मतिश्रुतज्ञान रहते हुए भी साक्षात् ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता है।

यह ऊपरके तीन आवरणोंका स्वरूप हुआ। अब मतिश्रुतावरणोंको विचारिये। उपस्थित विषयका प्रथमज्ञान सो मतिज्ञान है और मतिज्ञानसे जाने हुए विषयके संबंधसे अर्थान्तरका निश्चय करना सो श्रुतज्ञान है श्रुतज्ञान मनका ही काम है और मतिज्ञानकी अपेक्षा सूक्ष्म विषयोंका ज्ञान है। इसीलिये उतरते हुए ज्ञानोंके दर्जोंमेंसे मतिज्ञानसे इसका दर्जा ऊपर ऊपर है। यद्यपि इनके घातक दोनों कर्मोंका क्षयोपशम सर्वत्र माना गया है परन्तु श्रुतज्ञानका उत्कृष्ट सामर्थ्य मतिज्ञान के

सामर्थ्यसे बहुत ऊंचा है। मतिज्ञान चाहे जब होता है परन्तु श्रुतज्ञान, अधिक उपयोग लगाने पर ही होता है। इसीलिये मति व श्रुत ये ज्ञानके दो विशाल विभाग माने गये और उनके आवरण भेदोंमें विभक्त माने गये हैं।

दर्शनावरणके उत्तर ९ भेद—

चतुर्णां चक्षुरादीनां दर्शनानां निरोधतः। दर्शनावरणाभिख्यं प्रकृतीनां चतुष्टयम् ॥२५॥
निद्रानिद्रा तथा निद्रा प्रचलाप्रचला तथा। प्रचला स्त्यानगृद्धिश्च दृग्रोधस्य नव स्मृतिः ॥२६॥

अर्थ—चक्षु दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन ये चार दर्शन हैं। इन दर्शनोंके घातक या रोकनेवाले कर्मोंके भी इसीलिये चार भेद होते हैं। निद्रा पांच प्रकारकी मानी जाती है। वह निद्रा भी दर्शनावरणरूप मानी जाती है इसलिये दर्शनावरणके भेद नौ माने जाते हैं। १ चक्षुदर्शनावरण, २ अचक्षुदर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण ४ केवलदर्शनावरण, ५ निद्रानिद्रा, ६ निद्रा, ७ प्रचलाप्रचला, ८ प्रचला, ९ स्त्यानगृद्धि ये उन दर्शनावरणोंके नाम हैं।

चक्षुदर्शनादिके आगे जैसे आवरण लगाने पर दर्शनावरणोंके नाम होते हैं वैसे निद्राओंके आगे आवरण-शब्द लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि, निद्रा स्वयं आवरण अर्थको सूचित करती है। इसीलिये यदि निद्राओंके आगे आवरण शब्द लगा भी दिया जाय तो ऐसा अर्थ होगा कि ये निद्रारूप आवरण हैं। चक्षुदर्शनावरणादिकोंका अर्थ ऐसा होता है कि ये चक्षुर्दर्शनादिकोंके आवरण हैं। इसीलिये चक्षुर्दर्शनादिकोंके आगे आवरण शब्द जोडे विना काम नही ही चल सकता है।

इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप अब बताते हैं—

चक्षुइंद्रिय द्वारा होनेवाले ज्ञानके प्रथम जो चक्षुकी विषयप्रति उन्मुखता होती है वह चक्षुर्दर्शन है। उसे जो आवरण कर्म रोकता है वह चक्षुर्दर्शनावरण है। चाक्षुषदर्शनावरण भी इसे कह सकते हैं। चक्षुके सिवा जो चार बाहिरी इंद्रियां और एक भीतरी इंद्रिय मन इन सबोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह प्रथम ही दर्शन हो जाने पर होता है। उसी दर्शनको अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। उस दर्शनको घातनेवाला जो कर्म हो वह अचक्षुर्दर्शनावरण है। यदि स्पर्शनदर्शनावरण आदि इनके उत्तर भेद किये जांय तो हो सकते हैं परंतु अभेद विवक्षा रखकर आचार्योंने उन सबोंको एक भेदमें ही गर्भित किया है।

शेषेन्द्रियोंके आवरणको एक संख्यामें रखनेका एक दूसरा भी हेतु होना चाहिये। वह यह है कि, चक्षुसंबंधी दर्शनका काम अधिक पडता है और शेष इंन्द्रियोंके दर्शनका कम । इसलिये दर्शनको आवरण करनेवाला कर्म भी अधिक लगता है। उतना अचक्षुदर्शनका आवरण करनेवाला कर्म नहीं लगता है। अत एव मूल प्रकृति बंधके अनुसार दर्शनावरणमें प्रदेशोंका बटवारा होजानेपर उत्तरभेदोंमें चक्षु वा अचक्षुका समान विभाग होता है । उसमेंसे चक्षुर्दर्शनावरणका तो फिर अधिक विभाग नहीं माना गया है परंतु अचक्षुर्दर्शनावरणमेंसे स्पर्शनादिपांच इंद्रियोंके पांच विभाग मानने पड़ते हैं। जो दर्शनावरण स्पर्शनेन्द्रियजन्य दर्शनको रोक सकता है वही रसनेन्द्रियादि जन्य दर्शनको नहीं रोक सकता है। यदि एक दूसरेके दर्शनको एकही आवरण रोक सकता होता तो उत्तरभेद करने की आवश्यकता ही न रहती। परंतु उत्तर भेदोंका मानना तथा कार्यकारण न्याय इस बातको मनाता है कि प्रत्येक अचक्षुर्दर्शनावरणके कार्य भी जुदे ही होने चाहिये और वे अचक्षुर्दर्शनावरण भी जुदे जुदे ही हैं।

यद्यपि चक्षुर्दर्शनावरणमें भी विषयोंके भेदसे उत्तरभेद होंगे परंतु वैसे भेद तो स्पर्शनेन्द्रिय अचक्षुर्दर्शनावरणादिकोंमें भी हो ही सकते हैं। इसलिये यह मानना पडता है दर्शनावरणके साधारण उत्तर भेदोंमें एक चक्षुके लिये एक विभाग और शेष पांचों इंद्रियोंके लिये उतना ही एक विभाग होता है। अत एव शेष पांचो इंद्रियोंके आवरण कर्मका चक्षु आवरणकी अपेक्षा खर्च कम है।

यद्यपि मनका कार्य अधिक रहता है परंतु वह केवल सेनी पंचेंन्द्रियमें काम आता है और चक्षुइंद्रियका उपयोग चौइंद्रियसे लेकर सेनीपर्यंत काममें आता है। इसलिये उसका रोधक कर्म ही अधिक रहना चाहिये । जहां जो इंद्रिय नही है वहां तो कर्मोंका उदय एकसा ही काम देगा वह चाहे अल्प हो चाहें अधिक, परंतु इंद्रिय न होनेसे एकसा काम होगा। किंतु जहां क्षयोपक्षमजन्य ज्ञानका प्रकाश और उपयोग अधिक है कर्मका भी उपयोग वहींपर अधिक होगा।

वेदनीयके उत्तरभेद——

द्विधा वेद्यमसद्वेद्यं सद्वेद्यं च प्रकीर्तितम् ।

अर्थ—वेदनीय कर्मके दो भेद कहे हैं, एक असातावेदनीय, दूसरा सातावेदनीय। सातावेदनीय सुखका कारण है और असातावेदनीयका फल दुःखानुभव करना है।

संसारी जीवोंमें इसका बंध भी निरंतर ही होता रहता है। इसके वन्धके कारण आस्रव-प्रकरणमें कहचुके हैं। सर्व कर्मोंके साथमें इसका जवतक वन्ध होता है तवतकके वन्धकी अपेक्षा लेकर वे कारण वताये गये हैं। वे कारण संसारी जीवोंमें सदा बदलते रहते हैं। इसलिये वन्ध भी कभी साताका और कभी असाताका होता रहता है। परन्तु कपायोंका नाश होजाने पर जव केवल योगप्रवृत्ति रहजाती है उस समय केवल साता वेदनीय कर्मका ही वन्ध होता है। योगप्रवृत्ति प्रकृति व प्रदेशवन्धकेलिये कारण मानी गई है। आठोकर्मोंकी प्रकृतियोंका और प्रदेशोंका जो बंध होता है उसका कारण भी योग ही है परन्तु केवल योगके द्वारा आठो कर्मोंका प्रकृतिप्रदेशवन्ध नहीं होता। केवलयोगके समय केवल सातावेदनीयका वन्ध होता है। इसलिये यों कहना चाहिये कि आठोंकर्मोंके प्रकृतिप्रदेशका कारण जो योग होता है वह कपाय सहित होनेपर होता है। नहीं तो, केवलयोगमें इतनी निर्वलता है कि वह आठो कर्मोंके प्रकृतिप्रदेशोंको आत्मामें नहीं ला सके। इसीलिये केवलयोग द्वारा केवल सातावेदनीयका वन्ध होता है।

इसके सिवा यहां यह शंका भी होसकती है कि स्थिति व अनुभागकी उत्पत्तिका कारण कपाय होता है। दशवे के ऊपर कपाय नष्ट होजाता है। इसलिये नवीन बंधनेवाले सातावेदनीयमें स्थिति व अनुभाग हो तो कैसे हो ?

उत्तर—नवीन विशेषता उत्पन्न हो तो कारणकी आवश्यकता होती है। जिस समय सातावेदनीय बंधरूप होता है उसी समय उदयरूप होकर निर्जर जाता है। इसलिये तो स्थिति रखनेवाले कारणकी आवश्यकता नहीं पडती और अनुभागकेलिये यों आवश्यकता नहीं पडती कि जो प्रकृतिप्रदेश आते समय उस पिण्डमें स्वभाव होता है वही वन्धके समयमें वना रहता है। सातारूप जो स्वभाव है वह साथमें ही आता है। इतररूप परिणाम जिनमें होसके ऐसे प्रदेश आते ही नहीं है तो फिर कारणकी आवश्यकता क्यों पडे ?

मोहके उत्तरभेद—

त्रयः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वभेदतः ॥२७॥

क्रोधो मानस्तथा माया लोभोऽनन्तानुवन्धिनः। तथा त एव चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञिकाः ॥२८॥

प्रत्याख्यानरुधश्चैव तथा संज्वलनाभिधाः। हास्यं रत्यरती शोको भयं सह जुगुप्सया॥ २९ ॥

नारीपुंषण्ढवेदाश्च मोहप्रकृतयः स्मृताः ।

अर्थ—मोहकर्मके उत्तर भेद दो बताये गये हैं। पहिलेका नाम दर्शनमोह और दूसरेका चारित्रमोह । दर्शनमोहका अर्थ है कि सम्यग्दर्शनको मोहित करे। अर्थात् सम्यग्दर्शनकी विपरीत अवस्था करदे। चारित्रमोह चारित्र गुण की विपरीत अवस्था करदेता है। दर्शनमोहके तीन भेद हैं, (१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिथ्यात्वमोहनीय, (३) सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय। जो सम्यग्दर्शनगुणको बाधा पहुंचाते हुए भी नष्ट न करसके उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहा है। इसके उदय रहते जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उस सम्यग्दर्शनको क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्यात्वमोहनीयके उदयमें सम्यग्दर्शनकी अवस्था पूरी २ विपरीत हो जाती है। उस अवस्थाको मिथ्यात्व अथवा मिथ्यादर्शन कहते हैं। सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीयके उदयका फल यह है कि जीवका सम्यग्दर्शन गुण कायम तो नहीं रह पाता है परन्तु मिथ्यात्वसा पूरा मलिन भी नहीं हो जाता है। वह अवस्था मिथ्यात्वकीसी निकृष्ट नहीं, पर सम्यग्दर्शनकीसी उज्वल व स्वाभाविक भी नहीं रह पाती है इसलिए उस अवस्थाको सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। यह अवस्था मिथ्यात्वसे भी जुदी जातिकी होती है और सम्यग्दर्शनसे भी निराली ही होती है। तीसरे गुणस्थानका स्वरूप गुणस्थानोंके वर्णनके समय कह चुके हैं। वह इसी अवस्था का नाम है। ये तीनों दर्शनमोहके भेद हुए।

चारित्रमोहके सामान्य उत्तरभेद तो दो हैं और विशेष उत्तर भेद पचीस हैं। कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय ये दो भेदोंके नाम हैं। कषाय वेदनीयके क्रोधादि सोलह भेद हैं और अकषाय वेदनीयके नौ। इस प्रकार मिलनेसे विशेष उत्तर भेद पचीस होते हैं। कषाय वेदनीयके सोलह भेद इस प्रकार हैं—कषायोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य ये चार दर्जे होते हैं। उत्कृष्ट कषायको अनन्तानुबन्धी कहते हैं और अनुत्कृष्टको अप्रत्याख्यानावरण तथा अजघन्यको प्रत्याख्यानावरण और जघन्यको संज्वलन। अनंत प्रमाण संसारकी अमर्यादित अवस्था अति तीव्र कषायके रहनेसे हो सकती है। इसलिये उत्कृष्ट कषायको अनन्तका अर्थात् अमर्यादित संसार बंधन करनेवाला समझकर अनंतानुबंधी नाम रक्खा गया है। यह कषाय सम्यग्दर्शनसे तथा अर्धसम्यक्त्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वसे पहिले तक उदयमें आता है। अनादि मिथ्यादृष्टी जीवोंमें मिथ्यादर्शनका और इस अनन्तानुबन्धी कषायका उदय निरंतर बना रहता है। इन दोनों ही कर्मोंका उदय जब हटता है तभी प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। दूसरे कषायको अप्रत्याख्यानावरणीय इसलिए कहते हैं कि वह एक अंशरूप

भी प्रत्यख्यान अर्थात् विषय त्याग नहीं होने देता। तीसरा कषाय अधूरासा विषय त्याग होनेमें आड नहीं आता परन्तु पूरा त्याग होनेमें अवश्य आत्माके परिणामोंको रोकता है इसलिए इसे प्रत्याख्यानावरणीय कहते हैं। विषयसे आत्मपरिणाम पूरा हट जानेपर भी उस परिणाममें कुछ मालिन्य बनाये रखनेवाला चौथा कषाय है। इसीलिये उसका नाम संज्वलन है। विषयसे उपेक्षा हो जानेको चारित्र कहते हैं पूर्ण उपेक्षाके समय जो चारित्र होता है उस चारित्रको रखते हुए उसके साथ वह कषाय जाज्वल्यमान बना रहता है इसलिये संज्वलन-नाम सार्थक है। छट्टे गुणस्थानवर्ती सन्यासीसे लेकर दसवें गुणस्थान तकके योगियोंमें यह कषाय उत्तरोत्तर कृष होता हुआ टिकता है। इस प्रकार चारो कषायोंके ये जुदे जुदे फल हैं। इन फलोंकी प्राप्ति जिन कर्मोंके उदयमें होती है उन कर्मोंके भी कार्यकारण संबंधसे ये ही चारो नाम है। और भी वहुतसे कर्मोंके नाम उनके फलोंके नामपरसे रक्खे गये हैं यह बात शरीर नामादि कर्मोंके देखनेसे माननी पडती है। उक्त चार भेद जो कषायोंमें हुए हैं वे शक्तिकी तरतमादि अवस्थाके रहनेसे हुए हैं परन्तु प्रत्येक कषायमें जातिभेद चार चार हैं १ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ। चारों कषायोमें ये चार चार जाति मानी जांय तो चार कषायके सोलहभेद हो जाते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनंतानुबंधी माया, अनंतानुबंधी लोभ। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध; मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण-क्रोध, मान, माया, लोभ। संज्वलन क्रोध, संज्वलनमान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ। कषयावेदनीय चारित्रमोहके ये सोलह भेद हुए।

अकषाय वेदनीय चारित्रमोहके नौ भेदोंके नाम:–(१) हास्यवेदनीय, (२) रतिवेदनीय, (३) अरतिवेदनीय, (४) शोकवेदनीय, (५) भयवेदनीय, (६) जुगुप्सावेदनीय, (७) स्त्रीवेदनीय, (८) पुरुषवेदनीय, (९) नपुंसक वेदनीय। नामोंपरसे जो अर्थ प्रतीत होते हैं वे ही इन कर्मोंके फल हैं।

पहिले जो सोलह कषाय लिखे हैं उनका असर आत्मपरिणामपर इतना उत्कट होता है कि साफ साफ परिणामोंकी मलिनता दीखने लगती है। दूसरे जो अकषायके नौ भेद लिखे हैं उनका भी आत्मापर असर तो होता है परन्तु आत्मपरिणामोंमें कषायोंकी वरावर मलिनता दीख नहीं पडती इसीलिये सोलह भेदोंको कषायवेदनीय कहा और नौ भेदोंको अकषायवेदनीय कहते हैं। हास्यादिक कषाय कषायोंसे कुछ कम असर करते हैं परन्तु कषायोंसे मिलते जुलते अवश्य हैं–यही अर्थ दो भेद करनेका समझना चाहिये। नहीं तो दोनो भेदोंका 'चारित्रमोह' ऐसा एक ही नाम है। यदि

और भी व्यापक नाम देखना हो तो मोह नाम एक ही है जिससे कि दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दोनोंका अर्थज्ञान होसकता है। इससे भी व्यापक नाम देखना हो तो कर्म अथवा प्रकृति है। इस नामसे आठो ही कर्मोंका बोध होता है। किसी एक स्वभावके विशेष विशेष रहनेसे भेद होजाता है और वह विशेपता न मानी जाय तब अभेदसे ही व्यवहार होता है। यह सब अपेक्षाकी बात है।

इस प्रकार मोहकर्मके ३ व १६ व ९ मिलनेपर कुलभेद २८ होते हैं। इनके नाम थोडे थोडे अंतरसे और और भी हैं। जैसे, सम्यग्दर्शनका नाम सम्यक्त्व; अप्रत्याख्यानावरणका अप्रत्याख्यान तथा अप्रत्याख्यानरोधी अथवा अप्रत्याख्यानावरणीय; एवं अकपाय अथवा अकषायवेदनीय, कषाय अथवा कषायवेदनीय। दूसरे कर्मोंमें भी यह बात दीख पडती है कि एक एक कर्मके कई कई नाम हैं। कुछ नाम तो पूरे या अधूरे व्यवहारमें आनेके कारण जुदे जुदे दीखने लगते हैं; जैसे, प्रत्याख्यानावरण पूरा नाम है और प्रत्याख्यान नामका एकदेश है। कुछ नाम समानार्थक अनेक क्रियापदोंके कारण जुदे जुदे होजाते हैं; जैसे, प्रत्याख्यानावरण अथवा प्रत्याख्यानरोधी।

आयुः कर्मके भेद---

श्वाभ्रतिर्यग्नृदेवायुर्भेदादायुश्चतुर्विधम् ॥ ३० ॥

अर्थ--नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु व देवायु ये चार उत्तर भेद आयुः कर्मके हैं।

नामकर्मके उत्तर भेद---

चतस्रो गतयः पंच जातयः कायपंचकम्। अंगोपांगत्रयं चैव निर्माणप्रकृतिस्तथा ॥३१॥
पंचधा बन्धनं चैव संघातोपि च पंचधा। समादिचतुरस्रान्तं न्यग्रोधं स्वातिकुब्जकम् ॥३२॥
वामनं हुण्डसंज्ञं च संस्थानमपि षड्विधम्। स्याद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचमेव च ॥३३॥
नाराचमर्धनाराचं कीलकं च ततः परम्। तथा संहननं षष्ठमसंप्राप्तासृपाटिका ॥३४॥
अष्टधा स्पर्शनामापि कर्कशं मृदु लघ्वपि। गुरु स्निग्धं तथा रूक्षं शीतमुष्णं तथैव च ॥३५॥

मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायः पंचधा रसः। वर्णाः शुक्लादयः पंच द्वौ गन्धौ सुरभीतरौ॥३६॥
श्वभ्रादिगतिभेदात् स्यादानुपूर्वीचतुष्टयम्। उपघातः परघातस्तथाऽगुरुलघुर्भवेत् ॥३७॥
उच्छ्वास आतपोद्द्योतौ शस्ताशस्ते नभोगती। प्रत्येकं त्रसपर्याप्तबादराणि शुभं स्थिरम्॥३८॥
सुस्वरं सुभगादेये यशः कीर्तिः सहेतरैः। तथा तीर्थंकरत्वं च नाम प्रकृतयस्तथा ॥३९॥

अर्थ—गति चार हैं; [१] देवगति [२] मनुष्यगति, [३] तिर्यंचगति, [४] नारक गति। जाति पांच हैं; [५] एकेन्द्रिय जाति, [६] द्वीन्द्रिय जाति, [७] त्रीन्द्रिय जाति, [८] चतुरिन्द्रिय जाति, (९] पंचेंन्द्रियजाति। शरीर पांच हैं; (१०) औदारिक शरीर [११] वैक्रियिक शरीर, [१२] आहारक शरीर, (१३) तैजस शरीर। [१४] कार्मण शरीर। अंगोपांग तीन हैं; [१५] औदारिक शरीरांगोपांग, (१६) वैक्रियिक शरीरांगोपांग, (१७) आहारक शरीरांगोपांग (१८) एक निर्माण कर्म है। इसके भी प्रमाणनिर्माण और स्थाननिर्माण ये दो भेद होते हैं। परन्तु उन भेदोंके वश दो प्रकृति मानी नहीं जाती हैं। इसलिए इसकी एक संख्या ही लेनी चाहिए, पांच बन्धन हैं, [१९] औदारिक शरीर बन्धन, (२०) वैक्रियिक शरीर बन्धन, (२१) आहारक शरीर बंधन, [२२] तैजस शरीर बंधन, [२३] कार्मण शरीर बंधन। पांच संघात हैं, [२४] औदारिक शरीर संघात, (२५) वैक्रियिक शरीर संघात, [२६] आहारक शरीर संघात, [२७] तैजस शरीर संघात, [२८] कार्मण शरीर संघात। संस्थान छह प्रकारके होते हैं; (२९) समचतुरस्र, (३०) न्यग्रोध, (३१) स्वाति, (३२), कुब्जक, (३३) वामन, (३४) हुण्डक। संहननके छह भेद होते हैं; [३५) वज्रर्षभनाराच, (३६) वज्रनाराच, (३७) नाराच, (३८] अर्धनाराच, (३९) कीलक, (४०) असंप्राप्तसृपाटिका। स्पर्श आठ प्रकारका है; (४१) कर्कश, (४२) मृदु, (४३) लघु, (४४) गुरु, (४५) स्निग्ध, (४६) रूक्ष, (४७) शीत, (४८) उष्ण। रसके पांच भेद हैं; (४९) मधुर, (५०) अम्ल, (५१) कटु, (५२) तिक्त, (५३) कषाय। वर्णोंके पांच भेद हैं, [५४] शुक्ल, ५५ रक्त, ५६ नील, ५६ पीत, ५८ कृष्ण। गन्ध दो हैं; ५९ सुगंध, ६० दुर्गंध। आनुपूर्व्य चार हैं, ६१ नरकगत्यानुपूर्व्य, ६२ तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, ६३ मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, ६४ देवगत्यानुपूर्व्य। ६५ एक उपघात। ६६ एक परघात। ६७ एक अगुरुलघु। ६८ एक उच्छ्वास।

६९ एक आतप। ७० एक उद्योत। विहायोगति, अथवा आकाश गति दो हैं, ७१ प्रशस्त विहायोगति, ७२ अप्रशस्त विहायोगति, ७३ प्रत्येक शरीर, ७४ त्रस, ७५ पर्याप्त, ७६ बादर, ७७ शुभ, ७८ स्थिर, ७९ सुस्वर, ८० सुभग, ८१ आदेय, ८२ यशः कीर्ति, ८३ साधारण शरीर, ८४ स्थावर, ८५ अपर्याप्त, ८६ सूक्ष्म, ८७ अशुभ, ८८ अस्थिर, ८९ दुःस्वर, ९० दुर्भग, ९१ अनादेय, ९२, अयशः कीर्ति, ९३ तीर्थकरत्व नाम कर्मके ये तिरानवें उत्तर भेद हैं। इनके फल नामों परसे जाने जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

जिस कर्मके उदयका फल भवान्तरमें जाना हो वह गति कर्म है। उन गतियोंमें जो सदृशता अवश्य होती है उसके कारण कर्मको जाति कहते हैं। जिस कर्मके उदयका फल यह हो कि आत्माके साथ शरीर उत्पन्न हो वह कर्म शरीर कर्म है अंगोपांगकी रचना होनेमें जो कर्म सहायक होता है वह अंगोपांग कर्म है। तैजस और कार्मण शरीरमें अंगोपांग नहीं होते। तीन ही शरीरमें अंगोपांगकी रचना होती है। इसलिये अंगोपांग कर्मके भी भेद तीन ही माने जाते हैं।

गोत्रकर्मके उत्तर भेद—

गोत्रकर्म द्विधा ज्ञेयमुच्चनीचविभेदतः।

अर्थ—गोत्रकर्म दो प्रकारका है, एक ऊंच गोत्र और दूसरा नीच गोत्र। इन कर्मोंका फल यह है कि जीव ऊंचकुली नीचकुली माननेमें आता है। इसका लक्षण यह है कि संतान परम्परासे चले आनेवाले जीवाचरणका नाम गोत्र[3] है।

अन्तरायकर्मके उत्तर भेद—

स्याद् दानलाभवीर्याणां परिभोगोपभोगयोः ॥४०॥
अन्तरायस्य वैचित्र्यादन्तरायोपि पंचधा।

अर्थ—अन्तरायका अर्थ यहां पर विघ्न करनेवाला है। विघ्न पांच बातोंमें पड सकते हैं-देनेमें, लेनेमें, सामर्थ्यमें, भोगमें, उपभोगमें। इन पांच बातोंमें विघ्न डालनेवाला अंतराय कर्म भी इसीलिये पांच प्रकार है; १ दानांतराय, २

---

१ यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गति। २ तत्राव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः। यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम। यदुदयादंगोपांगविवेकस्तदंगोपांगं नाम। तत त्रिविधम्। ३ संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। उच्च णीचं चरण उच्च णीच हवे गोदं ॥गो० कर्म॥

लाभान्तराय ३ वीर्यान्तराय, ४ भोगान्तराय ५ उपभोगान्तराय। एक बार ही जो वस्तु भोगनेमें आ सके उसे भोग कहते हैं जैसे–भोजन। अनेकवार भोगनेमें जो वस्तु आ सकती है वह उपभोग है। जैसे कपडे। भोगको परिभोग भी कहते हैं। इन पांचो कर्मोंका कार्य दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यमें विघ्न डालना है। केवल ज्ञान होनेसे पहिली अवस्थामें इन पांचो कर्मोंका सद्भाव रहता है। मतिज्ञानावरणादिकोंके क्षयोपशमके अनुसार जैसे मतिज्ञानादि प्रगट होते रहते हैं वैसे ही दानान्तरायादिकोंका क्षयोपशम जब जैसा तीव्र मन्द मध्यम होता है तब वैसा ही दानादि परिणाम प्रगट होता है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमानुसार जीवकी शक्ति हीनाधिक प्रमाणमें प्रगट रहती है। ये इन कर्मोंके क्षयोपशमोंसे होनेवाले जीव स्वभाव हैं। शक्तिके विना ज्ञानादि गुण भी प्रगट हों तो टिक नहीं सकते हैं। इसलिये वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाला सामर्थ्य अथवा बल ज्ञानके प्रगट होनेमें भी उपयोगी पडता है। अतएव ज्ञानका साक्षात् घातक तो ज्ञानावरण ही है परन्तु परंपराघातक अंतराय भी माना गया है।

शंका–मोहके उदयसे जिस प्रकार जीवका दर्शन चारित्र गुण विपरीत हो जाता है उस प्रकार आवरणके तथा अंतरायके उदयोंसे जीवके वीर्य तथा ज्ञानगुण विपरीत नहीं होते किंतु नष्ट होते हैं। जो विपरीत होता है वह नष्ट हुआ नहीं कहा जा सकता है। इसलिये मिथ्यादृष्टि जीवके दर्शन चारित्र गुण पूरे विपरीत हो जानेपर भी नष्ट नहीं होते हैं। परन्तु आवरणके तथा अंतरायके उदयसे ज्ञानवीर्यगुण नष्ट हुए माने जाते हैं सो कैसे हो सकता है? क्योंकि, जो सत् है उसका नाश होना सभव नहीं है?

उत्तर–कोई भी आवरण अथवा अंतराय अपने विषयको नष्ट अवश्य करता है परन्तु निःशेष नष्ट नहीं करता। इसीलिये जैसा कि मोहकर्मका मिथ्यादृष्टि जीवमें पूरा उदय होजाता है वैसा आवरण तथा अंतरायका पूरा उदय कभी किसी जीवमें नहीं होपाता है। जीवका छोटेसे छोटा ज्ञान और थोडेसे थोडा बल सदा ही प्रकाशमान बना रहता है। उसके ऊपर फिर जैसा जहां उदय या क्षयोपशम होता है वैसा वहां ज्ञान तथा बल अप्रगट तथा प्रगट होता रहता है। यदि आवरणका तथा अंतरायका पूरा उदय भी कहींपर हुआ करता तो जीवके ज्ञान और बलगुण निःशेष नष्ट होजानेसे जीवका ही नाश होजाना मानना पड़ता। परन्तु जीवका नाश होना असंभव है। इसलिये उसके गुणका भी निःशेष घात होना असंभव है और अतएव आवरणका तथा अंतरायका पूरा उदय होना भी असंभव है। इससे यह तात्पर्य सिद्ध हुआ कि ज्ञान और

बलकी सत्तामें यह सामर्थ्य है कि अपने घातक कर्म सदा विद्यमान रहते हुए भी उनका उदय न होने दे । अतएव उतने आवरणका और अंतरायका सदा उदयाभावी ही क्षय होता रहता है । वह कभी उदयमें नहीं आसकता। निरुपयोगी होकर भी वह बंधता अवश्य है ।

इस कथनसे इस बातका समर्थन तो अवश्य होजाता है कि जीवके ज्ञान व बल गुण नष्ट नहीं होते जिससे कि सत्का अभाव होना मानना पडे । तो भी जितने अंश नष्ट होते हैं उनके विषयमें तो यह आशंका बनी ही रही कि सत्का विनाश होता है । इसी प्रकार जब क्षयोपशम द्वारा उन गुणोंके अंश प्रगट होने लगेंगे तब असत्के उत्पादका भी दोष आजायगा ?

इसका उत्तर यह है कि—जो अविभाग प्रतिच्छेदोंका हीनाधिक होना है वह पर्यायका स्वरूप है। पर्याय अर्थात् विशेषता । गुणोंमें ही यह बात संभवती है कि सत्का विनाश न हो और असत्का उत्पाद न हो। गुण अर्थात् सामान्य अथवा शक्तिमात्र। यदि पर्यायोंमें भी शाश्वतिकता मान ली जाय तो उत्पादव्ययका स्वरूप कैसे बनेगा ? इसलिये पर्यायोंका होना तो मानना ही पडता है। अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकता होनेसे तथा परिवर्तन होनेसे ही पर्यायका होना संभवेगा। अगुरुलघुगुण इस कार्यमें सहायक होता है । उस गुणका यही कर्तव्य है कि प्रत्येक गुणके अविभाग प्रतिच्छेदोंको खूब ही घटावे बढावे परन्तु गुणकी सत्ताको नष्ट न होने दे और मर्यादासे अधिक बढने भी न दे । वस्तुओं में दृष्ट स्वभावोंको स्वीकार न करना अन्याय है । रूपरसादि गुणोंमें वृद्धि ह्रास होता हुआ अनुभवगोचर होता है इसलिये अविभागप्रतिच्छेदोंका हीनाधिक होना मानना ही चाहिये। तो भी बीजवृक्षादिकोंमें कार्यकारण संबन्ध दीखनेसे सत्का विनाश और असत्का उत्पाद होना असंभव भी मानना ही चाहिये ।। जब कि ये दोनों नियम परस्पर विरोधीसे जान पडते हैं परंतु मानने अवश्य पडते हैं तो इनका विरोध मिटानेवाला एक गुण अवश्य ऐसा मानना पडता है जो कि अविभागप्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकता भी कराता रहे और निःशेष नष्ट होनेसे तथा अधिकका उत्पाद होनेसे रोकता भी रहै। उस गुणका नाम अगुरुलघु गुण है। यह गुण द्रव्यमात्रका सामान्य गुण है । इसीलिये द्रव्यमात्रमें अथवा सन्मात्रमें उत्पादव्यय भी होना मानना पडता है और ध्रौव्यस्वभाव भी मानना पडता है । जो लोग इस गुणको नहीं मानते उन्हें या तो उत्पाद व्यय मानलेने पर प्रत्यक्षसिद्ध ध्रौव्यका अपलाप करना पडता है और या ध्रौव्यको मानलेने पर उत्पादव्ययका अपलाप करना पडता है । ऐसा एकांत वाद इसीलिये न्यायाभास है कि कुछ न कुछ प्रत्येक एकांतवादमें प्रत्यक्ष विरोध करना पडता है । आर्हत अनेकांत वादमें

दृष्टविरोधका दोप नहीं आता। इसलिये मानना चाहिये ज्ञान बलमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकता होते हुए भी वे नष्ट नहीं होते।

कुछ लोग सूर्य प्रकाशके आवरणका दृष्टांत सामने रखकर यों कहते हैं कि ज्ञानगुणके अविभागप्रतिच्छेद आवरण द्वारा नष्ट नहीं होते किंतु ढक जाते हैं। परन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि, दृष्टांत एकदेशमें ही संभव होता है और वह भी जहां संभव न हो वहां दृष्टांतका अर्थ औपचारिक ही मानना पडता है। अमूर्तीकगुणोंका ढकना संभव नहीं है। यदि ढका जाना ही माना जाय तो जिस स्थानमें ज्ञानगुण रहेगा व्हांपर तो केवलज्ञानका अनुभव होना चाहिये। परन्तु ऐसा होना संभव नही है। इसलिये आवरणका अर्थ घात होना ही मानना पडता है।

द्वे त्यक्त्वा मोहनीयस्य नाम्नः षड्विंशतिस्तथा ॥ ४१ ॥
सर्वेषां कर्मणां शेषा बन्धप्रकृतयः स्मृताः ।

अर्थ—संपूर्ण कर्मोंके उत्तर भेद १४८ हैं। पांच ज्ञानावरणके, नौ दर्शनावरणके, दो वेदनीयके, अट्ठाईस मोहनीयके, चार आयुके, तिरानवे नामके, दो गोत्रके, पांच अंतरायके। ये १४८ धर्म सत्ताके समय पाए जाते हैं। वे भी किसी एक जीवमें नहीं किंतु नाना जीवोंमें देखनेसे कही कोई और कहीं कोई प्रकृति दीखपडती है। कुछ ऐसे भी कर्म हैं जोकि सर्वत्र पाये जाते हैं। कुल मिलाकर देखें तो १४८ हो जाते हैं। परंतु बंधके समय जो बंधनमें नहीं आते ऐसे अट्ठाईस कर्म हैं। मोहनीय कर्मके दो और नामके छब्बीस कर्मोंका जुदा बंध नहीं होता। बाकी सर्व कर्मोंकी सभी प्रकृतियां बंधनेमें आती हैं।

उन २८ कर्मों के नाम—

अबन्धाः मिश्रसम्यक्त्वे बन्धसंघातयोर्दश । ४२ ॥ स्पर्शे सप्त तथैका च गन्धेऽष्टौ रसवर्णयोः ।

अर्थ—एक सम्यग्मिथ्यात्व और दूसरा सम्यक्त्व ये दो मोहनीय कर्म ऐसे हैं जो बंधनके समय जुदे बद्ध नहीं होते परंतु बंधने पर सत्तामें जुदे माने जाते हैं और उदय भी निरनिराले समयोंमें निरनिराले स्वरूपमय होता है। नाम कर्मके जो छब्बीस अबंध हैं उनमेंसे पांच शरीर बंधन और पांच शरीर संघात ये दश तो शरीरके घटक होनेसे पांचो शरीर कर्मोंमें गर्भित होजाते हैं। इनका जुदा बंध नहीं होता और वीस भेद जो स्पर्शादिकोंके हैं उनमेंसे स्पर्शका रसका गंधका वर्णका एकेकही बंध

होता है। इसलिये उत्तर भेद वीसमेंसे चारका बंध होनेसे सोलहकी संख्या इनमेंसे घटजाती है। स्पर्शके कुल आठ भेद बताये गये हैं। उनमेंसे एक बंधनयोग्य होनेपर बाकी सात अबंध रहजाते हैं। गंधके कुल दो भेद हैं। उनमेंसे बंधनके समय सामान्य एक ही संख्या रहती है। इसलिये एक संख्या कम होजाती है। रस और वर्णके पांच पांच भेद कहे गये हैं। उनमेंसे प्रत्येकका एकरूपमें बंध होनेसे चार चार संख्या छूट जानेसे आठकी संख्या कम हो जाती है। इस प्रकार मिलानेसे अबंधकी सर्व प्रकृति २८ हो जाती हैं।

कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति—

वेद्यान्तराययोर्ज्ञानदृगावरणयोस्तथा ॥४३॥ कोटीकोट्यः स्मृतास्त्रिंशत् सागराणां परा स्थितिः। मोहस्य सप्ततिस्ताः स्युर्विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥४४॥ आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत् सागराणां परा स्थितिः।

अर्थ—वेदनीय, अन्तरायकी व ज्ञानावरण, दर्शनावरण की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण होती है। मोहकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण होती है। नामकर्मकी और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागर प्रमाण होती है। आयुः कर्मकी तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। यह उत्कृष्ट स्थिति मूल कर्मोंकी है। आठो मूल कर्मोंके उत्तर भेद एकसौ अडतालीस होते हैं। उनमेंसे प्रत्येक मूल कर्मके किसी एकाद भेदमें ही उत्कृष्ट स्थिति संभवती है, सर्वभेदोंमें उत्कृष्ट स्थिति संभव नहीं होती। जैसे, मोहके उत्तरभेदोंमेंसे एक मिथ्यात्वमें ही सत्तर कोडाकोडी सागरकी स्थिति होसकती है। चारित्रमोहमें अधिकसे अधिक चालीस कोडाकोडी सागर प्रमाण ही होसकती है। इसी प्रकार उत्तर भेदोंमें जघन्यसे उत्कृष्ट भेदकी स्थिति पर्यंत स्थितियोंमें एकैक समयकी हीनाधिकतासे असंख्यातों भेद होजाते हैं।

कर्मोंकी जघन्य स्थिति—

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया वेद्येष्टौ नामगोत्रयोः ॥ ४५ ॥ स्थितिरन्तर्मुहूर्तस्तु जघन्या शेषकर्मसु।

अर्थ—वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तमात्र है। नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्तप्रमाण जघन्य स्थिति है। बाकी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह आयु और अंतराय कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है। एक समय अधिक एक

आवली प्रमाण काल से लेकर अंतर्मुहूर्त शुरू होता है, और दोघडीमें एक समय कम रहने तक अंतर्मुहूर्त माना जाता है। मुहूर्तके भीतरके समयका नाम अन्तर्मुहूर्त है।

जघन्य स्थितिसे एक समय अधिक यदि किसी कर्मकी स्थिति हो तो वह मध्यम स्थिति कहाती है। ऐसी मध्यम स्थिति जहां तक उत्कृष्ट स्थितिसे एक समय कम मर्यादा रहे वहां तक मानी जाती है। स्थितिके मध्यम भेद एकेक समय के बढनेसे असंख्यातों होंगे यह बात कह चुके हैं। उत्कृष्ट स्थितिके समयोंमेंसे एक संख्या तो उत्कृष्टकी घटा देनी चाहिये और एक समय अधिक आवली प्रमाण जघन्य स्थितिके असंख्यात समयोंकी वह असंख्यात संख्या घटा देनी चाहिये। फिर जो उत्कृष्ट स्थितिके समयोंकी मध्यम असंख्यात संख्या रही उतने भेद मध्यम स्थितिके प्रत्येक कर्ममें होते हैं। जघन्यका और उत्कृष्टका भेद एकेक हो सकता है। इस प्रकार कर्मोंकी तीन २ प्रकारकी स्थिति मानी गई है।

जो कर्म जितने कालकी स्थिति बंधते समय धारणकरता है उतनी स्थिति पूर्ण होने पर उस कर्मका आत्मासे बंधन छूट जाता है। फिर चाहें वह पुद्गल आत्माके साथ ही रहै अथवा वहांसे हट जाय। जो फिर आत्माके साथ ही बना रहता है उसे विस्रसोपचय कहते हैं। ऐसे विस्रसोपचयका प्रमाण बंधे हुए कर्मोंके प्रमाणसे बहुत कुछ अधिक सदा इकट्ठा बना रहता है। प्राय: उसीमेंसे कुछ स्कंध रागद्वेषादि निमित्तके वश आत्माके साथ बंधते रहते हैं और स्थिति पूर्ण होने पर छूटते रहते हैं।

प्रत्येक समयमें असंख्यातों स्कध कर्मरूप होते हैं। परन्तु उनकी स्थिति जितनी होती है उतनी सभी पूर्ण होनेपर वे एक दम निर्जीर्ण नहीं होते, किन्तु निर्जराका क्रम एक दूसरा ही है।

कल्पना करिये कि एक सागर प्रमाण एक कर्मकी स्थिति हुई। उसकी निर्जरा तो एक सागरके अंततक हो ही जायगी। परंतु शुरू कुछ पहिलेसे ही होती है। उसका अंदाज ऐसा है कि एक सागर की स्थितिवाला कर्म सौ वर्षके बादसे निर्जीर्ण होने लगता है और एक सागरके अंततक पूरा निर्जीर्ण हो जाता है। सौ वर्षतक उसमेंसे कुछ भी अंश निर्जीर्ण नहीं होते। इसलिये एक सागरकी स्थितिवाला कर्म यदि बराबर फल दे तो सौ वर्ष घाट सागरपर्यंत बराबर फल देगा। यहां पर सौ वर्षका काल जो फल देनेसे शून्य रहा उसे आबाधाकाल कहते हैं। इसी प्रकार एक सागरके प्रति सौ वर्षके हिसाबसे प्रत्येक कर्मकी स्थितिमेंसे जो आबाधाकाल हो सकता है उतनी आबाधा सर्वत्र माननी चाहिये। अल्पस्थितिवाले कर्मोंकी यदि छोटीसे छोटी आबाधा हो तो एक समय अधिक एक आवलीप्रमाणकाल होगा। आबाधाका

यह सर्व सामान्य नियम सात कर्मोंके विषय में है। आयुःकर्मकी आवाधा सर्वत्र उतनी होती है जितनी कि आयुःकर्म बांधते समयसे उस वर्तमान [भुज्यमान] पर्यायमें ठहरना हो। जो जघन्यादि आयुका स्थितिमान बताया गया है उसकी गिनती उत्तर पर्यायके प्रति सन्मुख होनेके समयसे ही मानी जाती है। जैसे, एक मनुष्यने तेतीस सागर की स्थितिवाला देवायुःकर्म बांधकर मरण किया और देव होगया तो मरणके बादसे ही तेतीस सागरकी स्थितिका उपयोग होगा। मरनेसे चाहें जितने पहिले उसने उस कर्म को वांधा हो पर तेतीस सागरमें उसकी गिनती नही होगी। इस प्रकार स्थितिका स्वरूप है । परन्तु यह सब कव ? जब कि यथाकाल कर्मोंकी निर्जरा हो तब, यदि यथाकाल न आने पावे किंतु प्रवल निमित्त उससे पहिले ही मिल जाय तो कर्म यथासमयसे प्रथम भी निर्जीर्ण होजाता है। उसका नाम उदीरणा है। किसी कर्मके बँधने पर यदि ऐसी उदीरणा बहुत ही जल्दी हो तो एक समय अधिक एक आवलीप्रमाण कालके बाद ही होसकती है । इसके बाद स्थिति पूर्ण होनेसे प्रथम कभी भी वह उदीरणा होसकती है। परन्तु वह उदीरणा यदि आयुःकर्मकी हो तो उसका भोगना शुरू होजानेपर ही होगी। उत्तर भवकेलिये बंधे हुए आयुमें उदीरणा कभी नहीं होती । इसी प्रकार और भी कोई कोई कर्म कभी कभी ऐसी तरहसे बधते हैं कि उनमें भी उदीरणा नहीं होती उनकी स्थिति जितनी बंधते समय ठहरती है उतनी पूरी होनेपर ही वे पूरे निर्जीर्ण होसकते हैं। इसके सिवा परिणामोंकी उत्कट सरागता अथवा वीतरागता आदि निमित्त मिलनेपर भी स्थितिमें हीनाधिकता होजाया करती है। जो स्थिति घटती है उसे अपकर्षण कहते हैं और जो बंधनेके समयकी ठहरी हुई स्थितिसे बढजाती है उसे उत्कर्षण कहते हैं। यह ध्यान रखनेकी बात है कि चाहें जैसा उत्कर्षण हो परन्तु किसी भी कर्मकी सर्वोत्कृष्ट स्थितिसे अधिक स्थिति नहीं रह सकती है। यह स्थितिका स्वरूप हुआ।

अनुभागबंधका स्वरूप—

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम् ॥ ४६ ॥
असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः ।

अर्थ—पूर्वोपार्जित शुभाशुभकर्मोंका जिस रूपमें फल प्राप्त होता है उसका उस रूपवाली विशेषशक्तिको अनुभव अथवा

१ । आवलियं आवाहा उदीरणासिज्ज सत्तकम्माणं । परभवियआउगस्स य उदीरणा णत्थि णियमेण ॥ गो० ॥

अनुभाग कहते हैं। कर्मोंके जैसे नाम होते हैं वैसे और उन्ही नामवाले अनुभाग होते हैं । प्रकृतियोंके और अनुभागोंके नामोंमें अंतर नहीं होता। प्रकृति सामान्य स्वभावको कहते हैं और उन्ही स्वभावोंकी तरतमरूप विशेषताओंको अनुभाग कहते हैं। प्रकृति और अनुभागोंमें यदि अंतर है तो इतना ही है।

प्रकृतियोंके नामानुसार अनुभाग जो कहा वह मूल प्रकृतियोंमें तो सर्वत्र नामानुसार ही होता है । परन्तु उत्तरभेदोंमें दूसरे समानजातीय कर्मोंके अनुसार भी अनुभाग हुआ करता है। जैसे, अप्रत्याख्यानावरण अनंतानुबंधी–प्रत्याख्याना-वरण–संज्वलनरूप होकर फल देसकता है। अनंतानुबंधी प्रत्याख्यानावरणादिरूप होकर फल देसकता है। आयुःकर्मोंके परस्पर परिवर्तन नहीं होसकते हैं। देवायुका मनुष्यादि आयुरूप होकर परिवर्तन नहीं होता । दर्शन व चारित्रमोहमें भी परस्पर परिवर्तन नहीं होता है। जैसे, मिथ्यात्व अनंतानुबंधी आदि रूपसे और अनंतानुबंधी आदिक मिथ्यात्वरूपसे फल नहीं देसकते हैं। इस प्रकार आयुका व दर्शनमोह चारित्रमोहका परस्परमें आनुभाग बदलता नहीं है बाकी उत्तर प्रकृतियोंमें निमित्त मिलनेपर सजातीयरूप बदल भी जाता है।

इन कर्मोंमेंसे चार घाती और चार अघाती कहाते हैं । ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अंतराय ये चार घाती हैं। क्योंकि, सत्तारखनेवाले ज्ञानादि गुणोंका इनसे घात होता है। शेष चारो भी सूक्ष्मत्व–अव्याबाध–अगुरुलघु–अवगाहन गुणोंको घातते हैं। परंतु ये गुण सत्तात्मक नहीं है। इसलिये उनके घातक होनेपर भी ये चारो अघाती कहाते हैं। सूक्ष्मत्वका घातक नामकर्म है। वेदनीय अव्याबाधका घाती है । गोत्रकर्मसे अगुरुलघु गुण घाता जाता है और आवगाहनका घात आयुःकर्मद्वारा होता है।

कर्मोंके विपाक एक दूसरी भांतसे देखें तो चार प्रकारके होजाते हैं। १ पुद्गलविपाक, २ क्षेत्रविपाक, ३ भवविपाक और ४ जीवविपाक। शरीरादि कर्मोंका पुद्गलपर ही परिणाम होता है इसलिये वे पुद्गलविपाकी हैं। ऐसे पुद्गलविपाकी कर्म ३६ हैं। शरीर पांच, अंगोपांग तीन, निर्माण एक, स्पर्श–रस–गंध–वर्ण चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक शरीर, साधारणशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ,–एकेक, संस्थान छह, संहनन छह–ये पुद्गलविपाकियोंके नाम हैं। चारो अनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं। क्योंकि, विग्रहगतिके क्षेत्रमें ही उनका फल प्राप्त होता है । चारो आयु भवविपाकी हैं। क्योंकि, नरकादि भव उत्पन्न करनेके लिये आयु ही कारण होते हैं। बाकी अठहत्तर कर्म जीवविपाकी हैं।

उनका परिणाम जीवके ऊपर ही सीधा होता है। उन अठत्तरमेंसे सैंतालीस तो घाती कर्म, दो वेदनीय, दो गोत्र और वाकी २७ नामकर्म। उन नामकर्मोंके नाम—चार गति, पांच जाति, उच्छ्वास एक, विहायोगति दो, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, सूक्ष्म, वादर, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, आदय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, तीर्थकरत्व-ये एकेक।

प्रदेशबंधका स्वरूप—

घनांगुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः ॥ ४७ ॥

एकद्वित्र्याद्यसंख्येयसमयस्थितिकांस्तथा। उष्णरूक्षहिमस्निग्धान् सर्ववर्णरसान्वितान् ॥४८॥

सर्वकर्मप्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत्। द्वि(वि)धान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः॥४९॥

सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान्। आत्मसात् कुरुते जीवः स प्रदेशोभिधीयते ॥ ५० ॥

अर्थ—जीव अनंतानंत पुद्गलस्कन्धोंको सर्व भावोंमें और प्रत्येक समयमें अपने साथ तन्मय करता हुआ बांधता है इसीका नाम प्रदेशबन्ध है। वे पुद्गल संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें बद्ध होते हैं। एक भी आत्मप्रदेश उनसे बचता नहीं। वे पुद्गल अनेक प्रकारके होते हैं—परमाणुओंकी संख्या सबोंमें एकसी नहीं होती। प्रकृतिस्वभाव भी उनके परस्परमें अनेक प्रकारके होते हैं। स्पर्शादिके अविभागप्रतिच्छेद भी सबके समान नहीं होते। इत्यादि अनेक ऐसे विशेष धर्म रहते हैं जिनसे कि वे विविध प्रकारके मानने पडते हैं। बंधयोग्य पुद्गल स्थूल नहीं होते किन्तु सूक्ष्म होने चाहिये। सर्वकर्म प्रकृतिरूप परिणमने-की योग्यता भी उनमें होनी चाहिये। चाहे जिस वर्णके और चाहे जिस रसके धारक वे पुद्गल होसकते हैं। आठ स्पर्शोंमें से स्निग्ध—रूक्ष—शीत—उष्ण इनचार[1] स्पर्शोंका उन स्कन्धोंमें प्रादुर्भाव रहता है। मृदु-कर्कश-गुरु-लघु ये चार स्पर्श स्थूल

[1] इन चार स्पर्शोंमेंसे भी एकेक स्कन्धमें दो दो ही स्पर्श रह सकते हैं। चार बताये हैं वे नानास्कन्धोंकी अपेक्षासे ठीक हैं। जैसे कि किसीमें शीत होगा तो उष्ण न होगा परंतु स्निग्धरूक्षमेंसे एक स्पर्श रहेगा। स्निग्धरूक्षमेंसे भी जहा स्निग्ध होगा वहा रूक्ष न रहेगा परन्तु शीतोष्णमेंसे एक रह सकता है इस प्रकार एक एक स्कन्धमें दो २ ही स्पर्श रहेंगे। परमाणुमें जो 'अविरुद्धस्पर्शद्वयम्' इस वचनसे दो २ अविरुद्धस्पर्श बताये हैं वे ही कार्माण वर्गणाओंमें संभव होते हैं। क्योंकि परमाणुमें जो सूक्ष्मता थी वह यहां तक बनी हुई है। जहा पर यह सूक्ष्मता हट कर स्थूलता आती है वहीं पर शेष चार स्पर्श हो सकते हैं।

पर्यायोंमें ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये वे चारभेद यहांपर नहीं मानेगये हैं। एक दो तीन आदि संख्येय असंख्येय समयोंकी स्थितिवाले वे स्कन्ध होते हैं। उनकी सूक्ष्मताका अंदाज होनेकेलिये उनकी अवगाहना घनांगुलके असंख्यातैकभागमात्र क्षेत्रप्रमाण मानीगई है। इस प्रकारके अनंतानंत पुद्गलस्कन्ध प्रति समय प्रत्येक जीवके साथ बंधा करते हैं। इस प्रदेशबंधकी टिकनेकी जो अवधि उसे स्थिति कहते हैं। प्रदेश जिन स्वभावोंको साथ लिये बंधते हैं उनका नाम प्रकृति है। फलदानका जो तारतम्य होता है उसे अनुभाग कहते हैं। ये बंधके चार प्रकार हुए।

प्रदेशबंधका मुख्य कारण योग है। वह जैसा तीव्र मंद या मध्यम वेगरूप रहता है वैसा ही प्रदेशबंध हीनाधिक बंधता है, यदि योग तीव्र हो तो प्रदेश बहुत बंधेंगे। यदि योग मध्यम या जघन्य हो तो प्रदेशोंकी संख्या भी मध्यम वा जघन्य प्राप्त होगी। इसीलिये काययोग या मनोयोग, वचनयोगमेंसे किसी योगकी जहां पर अधिक संभावना होती है वहां पर ही प्रदेशबंध सबसे अधिक होता है। परन्तु यह ध्यान रहै कि योग जघन्यसे जघन्य भी हो तो भी अनंतानंत प्रदेशके भीतर जितनी संख्या कम हो सकती है उतनी कम प्राप्त होगी परन्तु अनन्त अथवा संख्यातासंख्यात आदि प्रदेश किसी समय भी प्राप्त नहीं होते। प्रदेशोंकी संख्या इतनी कम कभी नहीं होती। दशवें गुण स्थानके ऊपर जहां शेष सर्व कर्मोंका बंध रुक जानेपर केवल सातावेदनीयका बंध रह जाता है वहां भी प्रदेश प्रतिसमय अनन्तानन्त ही आते हैं। वह योग—

शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा।

अर्थ—एक शुभ एक अशुभ ऐसे दो प्रकारका है। ये दो प्रकार बंधके दो प्रकार करनेमें निमित्तभूत होते हैं। शुभ परिणामोंके होने पर जो आत्म प्रदेशमें चंचलता होती है वह शुभ योग कहाता है। अशुभ परिणामोंके द्वारा जो योग उत्पन्न होता है उसे अशुभ योग कहते हैं। अहिंसा, अचौर्य ब्रह्मचर्य इत्यादि शुभ काययोग हैं। सत्य व हितमित भाषण इत्यादि शुभ वचन योग हैं। अर्हंतमें भक्ति, श्रुतमें विनय इत्यादि शुभ मनोयोग हैं। इनसे उलटे-हिंसा चोरी मैथुन इत्यादि अशुभ काययोग हैं। असत्य व कठोर वचन इत्यादि अशुभ वचन हैं। वधचिंतवन व ईर्ष्या इत्यादि अशुभ मनोयोग हैं। इन शुभाशुभ योगोंके द्वारा जो कर्मबंध होता है उसके दो भेद ये हैं—

पुण्यपापतया द्वेधा सर्वं कर्म प्रभिद्यते ॥५१॥

अर्थ—सर्व एक सौ अडतालीस कर्म हैं। उनमेंसे कुछ पुण्यरूप और कुछ पाप रूप हैं।

पुण्यकर्मोंके नाम—

उच्चैर्गोत्रं शुभायूंषि सद्वेद्यं शुभनाम च। द्विचत्वारिंशदित्येवं पुण्यप्रकृतयः स्मृताः ॥५२॥

अर्थ—उच्च गोत्र, देवायु, मनुष्यायु, तिर्यगायु—ये तीन शुभायु साता वेदनीय, देवगत्यादिक सैंतीस नाम कर्मकी शुभ प्रकृति ये सर्व मिलकर ब्यालीस पुण्यकर्म माने गये हैं।

पाप कर्मों के नाम—

नीचैर्गोत्रमसद्वेद्यं श्वभ्रायुर्नाम चाशुभम्। द्व्यशीतिर्घातिभिः सार्धं पापप्रकृतयः स्मृताः ॥५३॥

अर्थ—नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगत्यादि अशुभ नामकर्म चौंतीस, घातिकर्मकी पैंतालीस-ये सर्व मिलकर ब्यासी कर्म प्रकृति पापरूप हैं।

इत्येतद् बन्धतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥५४॥

अर्थ—इस प्रकार इस बंधतत्त्वको शेष छह तत्त्वोंके साथ साथ जो श्रद्धान करता है, जानता है और उपेक्षा धारण करता है वही निर्वाण प्राप्त कर सकता है।



छट्ठा अधिकार।

संवरतत्त्ववर्णन—

मंगल व विषय प्रतिज्ञा—

अनन्तकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना संवरः संप्रवक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—अपरिमित केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा तीनों लोकको प्रकाशित करनेवाले जिन भगवानको मस्तकसे नमस्कार करके संवरतत्त्व कहता हूं।

संवरका लक्षण—

यथोक्तानां हि हेतूनामात्मनः सति संभवे। आस्रवस्य निरोधो यः स जिनैः संवरः स्मृतः ॥२॥

अर्थ—आत्माका अस्तित्व संभव होने पर जो आस्रवका रुक जाना वह भगवानने संवर कहा है। आस्रवके बहुतसे भेद प्रभेद पहिले कहे जा चुके हैं। कषायादिके निमित्तसे आस्रवमें जो अनेक भेद हो जाते हैं वे सभी कर्मागमके कारण होते हैं। उन सभीको आस्रव कहते हैं। उन सबके रुक जानेसे कर्मोंका आना भी रुक जाता है। इस सर्व निरोध को संवर कहते हैं।

संवरके कारण—

गुप्तिः समितयो धर्मः परीषहजयस्तपः। अनुप्रेक्षाश्च चारित्रं सन्ति संवरहेतवः ॥३॥

अर्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र ये सर्व संवर होनेमें कारण हैं। इन सबोंका स्वरूप व भेद आगे कहने वाले हैं।

गुप्तिके लक्षण, भेद और फल—

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिरित्यभिधीयते। मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च सा त्रिधा ॥ ४ ॥
तत्र प्रवर्तमानस्य योगानां निग्रहे सति। तन्निमित्तास्रवाभावात् सद्यो भवति संवरः ॥५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान पूर्वक ऐहिक वांछारहित योगोंके यथार्थ निग्रह करनेको गुप्ति कहते हैं। गुप्तिके तीन भेद हैं, मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति, ३ कायगुप्ति। गुप्तिमें प्रवर्तनेवालेके योगोंका निग्रह हो जाता है इसलिये योगोंके निमित्तसे आनेवाले कर्मोंका आना बंद पड जाता है। कर्मोंका आना बंद पडा कि संवर उसी समय हो जाता है।

समितियोंके भेद।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गभेदतः। पंच गुप्तावऽशक्तस्य साधोः समितयः स्मृताः ॥ ६ ॥

अर्थ—गुप्तिरूप प्रवर्तनमें जब साधु असमर्थ होजाता है उस समय ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप व उत्सर्ग ये पांच समिति साधुकेलिये मानी गई हैं।

ईर्यासमितिका लक्षण—

मार्गोद्योतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः। गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृतेर्यासमितिर्यतेः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मार्ग शुद्ध हो—जिसमें दूसरे लोग भी चलते हों, प्रकाश बराबर पडता हो—साफ साफ दीख सकता हो, उपयोग चलनेमें लगरहा हो—सावधानी मनमें हो, चलनेके समय जो आलंबनका विषय हो वह भी शुद्धतासे ग्रहण किया गया हो; इस प्रकार सूत्रमार्गके अनुकूल यति गमन करें तो उनके ईर्यासमिति मानी जासकती हैं। गमनसंबन्धी शुद्धप्रवृत्तिका नाम ईर्यासमिति है।

भाषासमिति—

व्यलीकादिविनिर्मुक्तं सत्यासत्यामृषाद्वयम्। वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—सूत्रमार्गके अनुसार सत्य और सत्यासत्य वचन बोलनेसे भाषासमिति होसकती है। चार प्रकारके वचन होते हैं। १ सत्य, २ असत्य, ३ सत्यासत्य, ४ सत्यासत्य रहित=अनुभय। इनमेंसे अनुभय वचन तो द्वीन्द्रियादिकोंका माना जाता है। जिसमें सत्यासत्यकी कल्पना—विभाग न हों वह अनुभय होता है। इसलिये वैसा वचन तो ये साधु बोल ही नहीं सकते। असत्य बोलनेसे भी पापके भागी बन जाते हैं इसलिये असत्य बोलना ही नहीं चाहते हैं। इसलिये सत्य ही बोलना चाहिये। रहा सत्यासत्यका तीसरा भेद। वह ऐसी जगह होता है जहां कि बोलनेका अभिप्राय असत्य न ठहराया जासके किन्तु वाच्यार्थ उपलब्ध न होनेसे सत्य भी न कहा जासके। जैसे, आज्ञावचन। ऐसे बचन बोलने

पडते हैं। इसलिये दो प्रकारसे बोलनेको भाषासमिति कहा है तात्पर्य--मित हो, अनर्थक न हो, बहुप्रलापरूप न हो, अर्थ उसका साफ झलकता हो, संदेहरहित हो, अक्षर उसके साफ हों, ऐसे बोलनेका नाम भाषा समिति है। उस बोलनेमें मिथ्यापना नहीं होना चाहिये, ईर्ष्या--असूया न होनी चाहिये, अप्रियता न होनी चाहिये, कठोरता न होनी चाहिये, किसीका गुह्य प्रकाशित न होना चाहिये, निस्सार अथवा अल्पसार न होना चाहिये, कषायका तथा हास्यादिका संबन्ध न होना चाहिये, असभ्यपना न होना चाहिये, अधर्मोपदेश न होना चाहिये, देशकालके अयोग्य न होना चाहिये, अतिशय निंदा तथा स्तुति नहीं होनी चाहिये इत्यादि बातोंको देखकर उक्त दोष टाल कर बोलना भाषासमिति है।

एषणासमिति—

पिण्डं तथोपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिना। साधोः शोधयता शुद्धा ह्येषणासमितिर्भवेत् ॥९॥

अर्थ—एषणासमितिका अर्थ भोजनमें निर्दोषतासे प्रवर्तना है। उद्गम-उत्पादनादि भोजनके दोष यत्याचारोंमें लिखे हैं। उनको टालकर पिण्ड, उपधि तथा शय्याकी शुद्धि रखते हुए भोजन ग्रहण करनेसे साधुकी एषणासमिति सुधरती है।

आदाननिक्षेपसमिति—

सहसादृष्टदुर्मृष्टाप्रत्यवेक्षणदूषणम्। त्यजतः समितिर्ज्ञेयाऽऽदाननिक्षेपगोचरा ॥१०॥

अर्थ—धरने उठानेमें सावधानीसे प्रवर्तनको आदाननिक्षेप समिति कहते हैं। किसी चीजका धरना या उठाना थोडासा ही देख कर न करे, न देखते हुए न करे, ठीक झाडे पोंछे विना न करे। न झाडना पोंछना आदि दोष टालते हुए साधुको धर्मोपकरणादि धरने उठाने चाहिये।

उत्सर्गनिक्षेपसमिति—

समितिर्दर्शितानेन प्रतिष्ठापनगोचरा। त्याज्यं मूत्रादिकं द्रव्यं स्थण्डिले त्यजतो यतेः ॥

अर्थ—किसी शुद्ध भूमिपर मलमूत्रादिका क्षेपण करना यह साधुकी प्रतिष्ठापन समिति अथवा उत्सर्ग समिति कहाती है।

समितियोंके पालनेका फल—

इत्थं प्रवर्तमानस्य न कर्माण्यास्रवन्ति हि। असंयमनिमित्तानि ततो भवति संवरः ॥ १२ ॥

अर्थ--इस प्रकार पांच समितियोंके अनुसार प्रवर्तनेवाले साधुके असंयमनिमित्तक कर्म नहीं आते इसलिये संवर होजाता है।

धर्मोंके नाम---

क्षमा मृद्वृजुते शौचं ससत्यं संयमस्तपः। त्यागोऽकिञ्चनता ब्रह्म धर्मो दशविधः स्मृतः॥१३॥

अर्थ--क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य ब्रह्मचर्य--ये दश धर्मके भेद हैं।

क्षमाका लक्षण---

क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानामत्यन्तं सति संभवे। आक्रोशताडनादीनां कालुष्योपरमः क्षमा॥१४॥

अर्थ--गाली सुनना, मार खाना--इत्यादि बातोंसे क्रोध उत्पन्न होना संभव है। परंतु ऐसे क्रोध उत्पन्न होनेके निमित्त अत्यंत संभव होजानेपर भी क्रोध उत्पन्न न होने देना सो क्षमा है।

मार्दवका स्वरूप---

अभावो योऽभिमानस्य परैः परिभवे कृते। जात्यादीनामनावेशाद् मदानां मार्दवं हि तत्॥१५॥

अर्थ--जात्यादि निमित्तोंसे होनेवाले मद उत्पन्न न होने पावे। यदि ऐसी सावधानी रक्खी जाय तो अभिमान भी उत्पन्न न होगा। बस, इसीका नाम मार्दव है दूसरे लोग चाहें जितना तिरस्कार करें परंतु उस समय आप किसी बातसे कम न होते हुए भी यदि अभिमान न करे तो परिणामोंमें मृदुता रहसकती है। अभिमानके कारण आठ होते हैं---१ जाति २ कुल, ३ रूप, ४ बल, ५ ऋद्धि, ६ ज्ञान, ७ तप, ८ शरीरसौन्दर्य।

आर्जवका स्वरूप---

वाङ्मनःकाययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम्।

अर्थ--वचन--मन--कायकी प्रवृत्तियोंको कुटिल न करना किंतु सरल रखना सो आर्जव है।

शौचका स्वरूप---

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः॥१६॥ चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते।

अर्थ–भोगका उपभोगका जीनेका और इन्द्रिविषयोंका लोभ होना चार बातोंमें संभव है । उन चारोंही प्रकारके लोभका त्याग करनेसे शौच प्राप्त होता है । मलिनताका और ग्लानिका सबसे मुख्य कारण लोभ है। उसके छूटते ही आत्मामें जो अत्यंत प्रसन्नता या निर्मलता भासने लगती है वही असली शौच है।

सत्यधर्मका स्वरूप—

ज्ञानचारित्रशिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते। धर्मोपबृंहणार्थं यत् साधु सत्यं तदुच्यते ॥१७॥ (षट्पदी)

अर्थ–धर्मकी वृद्धि करनेके लिये यथार्थ और धर्मसहित जो बोलना वह सत्य कहाता है । इस सत्यधर्मके व्यवहार करनेकी आवश्यकता ज्ञानचारित्रके सिखानेमें तथा धर्मोपदेशादि वीतराग कथा करनेमें लगती है। अपने सधर्मा दीक्षित जनों के साथ अथवा अपने भक्त श्रावकोंके साथ बोलना वह चाहें जितना बोलना परंतु धर्मानुकूल बोलना चाहिये, सत्य धर्ममें इतनी ही बात देखी जाती है।

संयमधर्म—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम्। समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः ॥ १८ ॥

अर्थ–इंद्रियोंके विषयोंसे वैराग्य होना और प्राणियोंकी हिंसा बचाना तथा समितिरूप प्रवर्तना यही संयम है। साधु जबतक समितिरूप न प्रवर्तेगा तबतक इंद्रियसंयम व प्राणिसंयम पलना कठिन है । इसलिये समितियोंको पालना भी आवश्यक है। संयमके इंद्रियसंयम प्राणिसंयम ये दो भेद हैं।

संयमका जो अर्थ किया है कि 'प्राणीन्द्रियपरिहार' वही ठीक है। कुछ लोग दूसरा २ अर्थ करते हैं परंतु वे अर्थ ठीक नहीं है। जैसे, कुछ लोग बोलने आदि कार्योंसे निवृत्त होनेको संयम कहते हैं । परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि बोलने आदिका त्याग होना गुप्तियोंमें गर्भित हो जाता है।

कुछ लोग विशेष प्रकारकी शरीरादिक प्रवृत्तिको संयम कहते हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है। शरीरादिकी प्रवृत्ति संभालकर करनेको हम समिति कह चुके हैं।

१ तच्चतुर्विधं जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात्। इति वार्तिकालंकारे, वार्तिककारने जीवनका, आरोग्यका, इन्द्रियोंका और उपभोगका ऐसे चार विषयोंका लोभ चार प्रकारसे माना है। २ न भाषादिनिवृत्तिसंयमो गुप्त्यन्तर्भावात्। ३ नापि कायादिप्रवृत्तिविशिष्टा संयमः समितिप्रसंगात्।

कुछ लोगोंका कहना है कि त्रसस्थावर जीवोंकी विराधना न करना यह पूर्ण संयम है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, परिहारविशुद्धि नामक चारित्रके लक्षणमें कहा जा चुका है।[1]

ये कोई भी संयमके लक्षण ठीक नहीं हैं। इसलिये प्राणी और इन्द्रिय इन दोनोंका परिहार होना-यही लक्षण ठीक है। यद्यपि भाषादिनिवृत्ति, कायादिकी विशेष यत्नाचाररूप प्रवृत्ति, अथवा त्रसस्थावरवधका त्याग ये जो संयमके स्वरूप बताये वे भी संयमसे जुदे नहीं रहते परन्तु यहां पर जो संयम इष्ट है उसके अविनाभावी हैं, एकैक अंशरूप हैं और कुछ कार्यकारणरूप हैं। इस लिये संयमका निर्दोष लक्षण जो कहा है वही है उपेक्षारूप परिणामको भी संयम कहते हैं परंतु यहां जो संयम कहा है वह अपहृत संयम कहाता है।[2] इस संयमके विशेष दिखानेके लिये आठ शुद्धि बताई गई हैं।[3] उनके नाम—१ भावशुद्धि, २ कायशुद्धि, ३ विनयशुद्धि, ४ ईर्यापथ शुद्धि, ५ भिक्षाशुद्धि, ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७ शयनासन शुद्धि ८ वाक्यशुद्धि। इन आठो शुद्धियोंके पालनेसे निराबाध संयम पलता है।

तपका स्वरूप व प्रयोजन।

परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्।

अर्थ—परिपूर्ण कर्मक्षयकेलिये जो तपा जाय उसे तप कहते हैं। भावार्थ, किसी भी कार्यकी सिद्धिके लिये जब तक कसकर स्वयं मेहनत नहीं की जाती है तब तक फल प्राप्ति नहीं होती। कर्मक्षयके लिये भी जब तक स्वयं कसकर मेहनत नहीं की जाय तब तक कर्मक्षय नहीं हो सकता है। इसलिये मेहनत स्वयं करनी पडती है। उसीको तप कहते हैं। वह मेहनत दो प्रकारसे होती है, एक तो शरीरको उसके लिये एकाग्र करना और कृश करना, दूसरे उपयोगका उस तरफ लगाना और दूसरे विषयोंसे हटाना। इन्हींको दो प्रकार बाह्य व आभ्यंतर ऐसे नामोंसे कहते हैं। इन दोनों प्रकार के परिश्रमोंमें खूब खेद होता है इसलिये ये तप कहाते हैं। ऐसे तपश्चरणके विना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। इसलिये सभी कार्योंको सिद्ध करनेमें तप करना पडता है। तो भी यहां पर दूसरे कार्य सिद्ध करना इष्ट नहीं है इसलिये केवल

१ त्रसस्थावरवधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति चेन्न, परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात् २ संयमो द्विविध उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्च। ३ तत्प्रतिपादनार्थं शुद्ध्यष्टकोपदेशः (इति वार्तिका०)।

कर्मक्षयार्थ किये जाने वालेको तप कहा है। ध्यान तपका ही भेद है। उस ध्यानसे ही सर्व कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं। इसलिये तप ही कर्मक्षय करनेमें समर्थ है।

त्याग धर्मका स्वरूप—

त्यागस्तु धर्मशास्त्रादिविश्राणनमुदाहृतम् ॥१९॥

अर्थ—धर्मशास्त्रादिकोंके दान करनेको त्याग कहते हैं। कहीं २ पर परिग्रहके छोडनेको त्याग कहा है। परंतु वहां पर भी धर्मशास्त्रादिके अथवा ज्ञानादिके दानको त्यागमें ही गर्भित किया है। जहां पर परिग्रह निवृत्तिको त्याग कहा है वहां पर विद्यमान परिग्रहका त्याग करना—ऐसा अर्थ किया है। शौच धर्ममें जो लोभनिवृत्ति बताई है वह इसलिये कि परिग्रह न रहते भी कदाचित् लोलुपताका होना संभव है। उस लोलुपताको दूर कराना शौचधर्म बतानेका जुदा फल है। इसीलिये शौचसे त्याग धर्म जुदा है। आकिंचन्य धर्म से भी यह धर्म जुदा है।

आकिंचन्यधर्मका स्वरूप।

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषचित्। अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिंचन्यमुच्यते ॥२०॥

अर्थ—जो कुछ शरीरादिक 'मेरे हैं' ऐसा समझकर ग्रहण कर रक्खे थे और अपना रक्खे थे उनमेंसे ममत्वसंकल्पका छूट जाना यह आकिंचन्य है। मेरा कुछ नहीं है ऐसा जो मानने लगना है उसे अकिंचन कहते हैं। उसके अकिंचनत्व रूप परिणामको अथवा कृतिको आकिंचन्य कहते हैं। त्यागमें विद्यमान परिग्रहका त्याग होना, शौचका अर्थ अविद्यमानमेंसे भी लोलुपता छूट जाना कहा। परन्तु भिन्न दीखने वाले पदार्थोंके ही विषयसे उक्त दोनो धर्मोंके होनेपर निवृत्ति होना मुख्य फल है और जो जुदे नहीं जान पडते हैं तथा छूट भी नहीं सकते हैं ऐसे शरीरादि परपदार्थोंसे भी ममत्व छूटना इस आकिंचन्य का फल है इसीलिए इसे शौचादिके बादमें कहा है कि यह आकिंचन्य शौचत्यागादि धर्म हुए विना नहीं हो सकता है। इसकी महिमा भी इतनी है कि ठीक ठीक इस धर्मकी भावना रहे तो जीव सब कुछ छोडते हुए भी

१ विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्। इत्यमरः। २ परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः ३ अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः। ४ शौचवचनात्सिद्धिरिति चेन्न, तत्रासत्यपि गर्धोत्पत्तेः। ५ ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यम्। (इति वार्तिका०)

त्रैलोक्यका स्वामी बन सकता है। सर्व धर्म हो जाने पर ही यह हो सकता है। इसके बाद यदि भेदरूपसे कहा जा सकता है तो वह एक ब्रह्मचर्य ही है जो कि पूर्णरूपसे देखने पर अंतिम स्वरूप जान पडेगा और जिसका कहना आकिंचन्यादि धर्मोंकी पुष्टिके लिये ही है।

ब्रह्मचर्यधर्मका स्वरूप—

स्त्रीसंसक्तस्य शय्यादेरनुभूतांगनास्मृतेः। तत्कथायाः श्रुतेश्च स्याद् ब्रह्मचर्यं हि वर्जनात्॥२१॥

अर्थ—स्त्रीसंबंधी शयनस्थानादिकोंका त्याग करनेसे, अनुभवकी हुई स्त्रियोंके स्मरणका त्याग करनेसे और स्त्रियोंकी कथाका तथा कथा सुनने तकका त्याग करनेमें ब्रह्मचर्य धर्म प्राप्त होता है। गुरुओंके पास, इस धर्मकी सिद्धिके लिये जो वास करना वह भी ब्रह्मचर्य ही है।

कर्मप्रवृत्तिका फल—

इति प्रवर्तमानस्य धर्मे भवति संवरः। तद्विपक्षनिमित्तस्य कर्मणो नास्रवे सति॥२२॥

अर्थ—इन धर्मोंमें प्रवर्तनेसे धर्मके विरुद्ध परिणामोंद्वारा आनेवाला कर्म रुक जाता है इसलिये संवर[2] सिद्ध हो जाता है। कर्मास्रव रागद्वेषादि निमित्तोंद्वारा होता है। धर्म उन रागद्वेषादिकोंका विरोधी है। इसलिये फिर कर्म आना क्यों बंद न हो।

परीषहोंके नाम व जीतनेकाफल—

क्षुत्पिपासा च शीतोष्णे दंशमत्कुणनग्नते। अरतिः स्त्री च चर्या च निषद्या शयनं तथा॥२३॥
आक्रोशश्च वधश्चैव याचनाऽलाभयोर्द्वयम्। रोगश्च तृणसंस्पर्शस्तथा च मलधारणम्॥ २४॥
असत्कारपुरस्कारं प्रज्ञाऽज्ञानमदर्शनम्। इति द्वाविंशतिः सम्यक् सोढव्याः स्युः परीषहाः॥२५॥
संवरो हि भवत्येतानऽसंक्लिष्टेन चेतसा। सहमानस्य रागादिनिमित्तास्रवरोधतः॥ २६॥

अर्थ-क्षुधापरीषह पिपासापरीषह शीत, उष्णपरीषह दंशमशकपरीषह नग्नतापरीषह अरतिपरीषह स्त्रीपरीषह

१ आकिंचनोंहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्॥ (इति आत्मानुशासन) २ मोंषा स्वगुणप्रतिपक्षदोषगावनात् संवरहेतुत्वम्।

चर्यापरीषह निषद्यापरीषह शयनपरीषह आक्रोशपरीषह वधपरीषह याचनापरीषह अलाभपरीषह रोगपरीषह तृणस्पर्शपरीषह मलपरीषह असत्कारपुरस्कारपरीषह प्रज्ञापरीषह अज्ञानपरीषह अदर्शनपरीषह ये बाईसपरीषह विषयसंबधी सर्वबाधा छोड़-कर सहने चाहिये। शांत चित्तसे इन परीषहोंको सहन किया जाय तो रागादिनिमित्तोंसे होनेवाले कर्मास्रव रुक जाते हैं इसलिये संवर होजाता है।

तपो हि निर्जराहेतुरुत्तरत्र प्रचक्ष्यते।
संवरस्यापि विद्वांसो विदुस्तन्मुख्यकारणम् ॥२७॥

अर्थ–तपको आगे निर्जराका हेतु कहेंगे। परन्तु आचार्योंने उसे संवरका मुख्यकारण माना है।

अनेककार्यकारित्वं न चैकस्य विरुध्यते। दाहपाकादिहेतुत्वं दृश्यते हि विभावसोः ॥ २८॥

अर्थ–एक चीज अनेक कार्योंको करसकती है। इसमें कुछ विरोध नहीं है। यह देखा जाता है कि जिस अग्निसे दाह होता है उसीसे पाक भी होजाता है। इसी प्रकार संवरका तथा निर्जराका एक ही तप कारण होसकता है।

अनुप्रेक्षा —

अनित्यं शरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता। अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा ॥ २९॥
लोको दुर्लभता बोधेः स्वाख्यातत्वं वृषस्य च। अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः ॥ ३०॥

अर्थ–१ अनित्यता, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकता, ५ अन्यता, ६ अशुचिता, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभता, १२ धर्मके स्वरूपवर्णनकी श्रेष्ठता–इन बारह विषयोंके बार बार चिंतन करनेको बारह अनुप्रेक्षा कहते हैं। इनके लक्षण आगे कहते हैं—

अनित्यअनुप्रेक्षा—

क्रोडीकरोति प्रथमं जातजन्तुमनित्यता। धात्री च जननी पश्चाद् धिग् मानुष्यमसारकम् ॥३१॥

अर्थ–इस प्राणीको उत्पन्न होते ही प्रथम तो अनित्यता गोदमें लेती है और बादमें माता तथा धाय गोदमें लेसकती है। इसलिये इस असार मनुष्यजन्मको धिक्कार हो।

अर्थात्, अनित्यता तो किसी भी चीजके उत्पाद होनेके साथ ही लगी हुई है। मनुष्य जन्मनेके कुछ बाद ही माता तथा धायके गोदमें आसकेगा परन्तु जो उत्पन्न हुआ है उसका मरना उसी समयसे उसके साथ लगा हुआ है। इसलिये इन शरीरादिकोंको स्थिर मानकर इनमें प्रीति करना बडी भूल है। ऐसी मूर्खताको धिक्कार हो।

अशरणअनुप्रेक्षास्वरूप—

उपघ्रातस्य घोरेण मृत्युव्याघ्रेण देहिनः। देवा अपि न जायन्ते शरणं किमु मानवाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—भयंकर मृत्युरूपी व्याघ्र जब जीवको आघेरता है तब देव भी बचानेको समर्थ नहीं होते, मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? ऐसे शरणरहित इस जीवनको धिक्कार हो।

संसारानुप्रेक्षाका स्वरूप—

चतुर्गतिघटीयन्त्रे सन्निवेश्य घटीमिव। आत्मानं भ्रमयत्येष हा कष्टं कर्मकाक्षिकः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जैसे घटीयन्त्रमें घटीको लगाकर फिरानेवाला मनुष्य फिराता है उसी प्रकार चतुर्गतिरूप घटीयंत्रमें यह कर्मरूपी फिरानेवाला मनुष्य जीवरूप घटीको लगाकर निरंतर फिराता है। यह बडा कष्ट है। इस कर्मके वश प्राणी कभी तिर्यंच तो कभी देव, कभी मनुष्य तो कभी नारकी—इस प्रकार जीवको नानायोनियोंमें फिरना पडता है। कभी चैनसे थिर नहीं होपाता है। इस फिरानेका कारण कर्म है। इस परिभ्रमणका नाम ही संसार है। इसलिये समझना चाहिये कि संसार कोई सुखकी चीज नहीं है।

एकत्वानुप्रेक्षाका स्वरूप—

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी। एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ॥३४॥

अर्थ—किसका कोन पुत्र और कोन किसका पिता? किसकी कोन मा और कोन किसकी स्त्री? दुस्तर संसारसमुद्रमें जीव अकेले ही इधरसे उधर भटकते हैं। इसलिये किसीको अपना समझना नितान्त भ्रम है।

अन्यत्वानुप्रेक्षाका स्वरूप—

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम्। हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥३५॥

अर्थ—जीव अन्य है और शरीर अन्य है। जीवका चैतन्य लक्षण है और शरीरका जडता लक्षण है। इन लक्षणोंसे दोनो जुदे जुदे अनुभवमें आसकते हैं। तो भी, बडा खेद है कि, मनुष्य शरीरको अपनेसे जुदा नहीं मानते हैं। जब दोनो ही भिन्न भिन्न हैं तो इस शरीरको अपनाना बडी भूल है। जैसे शरीर भिन्न है वैसे ही पुत्र धनधान्यादिक मलाक्ष भी भिन्न हैं।

अशुचित्वभावनाका स्वरूप—

नानाकृमिशताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते। आत्मनश्च परेषां च क शुचित्वं शरीरके ॥ ३६ ॥

अर्थ—अनेक प्रकारके सैकडों कृमि—कीटोंसे यह शरीर भरा रहता है, दुर्गन्ध रहता है और मूत्र—विष्ठा—थूकखकार-पीव इत्यादि मलोंसे पूरित रहता है। इसलिये न अपना शरीर पवित्र है और न दूसरोंका। जैसा अपना शरीर वैसा ही दूसरोंका। इसमें पवित्रता कहांसे आई? ऐसे अपवित्र नीच शरीरमें स्नेह करना, यह बडी भूल है।

आस्रवानुप्रेक्षाका स्वरूप—

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोसौ योगरन्ध्रसमाहृतैः। हा दुरन्तेभवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत् ॥३७॥

अर्थ—कर्मोंके भरजानेसे जीव संसारमें डूबता है। संसार मानो एक समुद्र है। कष्ट है कि समुद्रका कदाचित् अंत भी लगजाय परंतु इस का अंत कभी नहीं लगता है। जीव जहाजके समान है। योगरूप छिद्रोंद्वारा संचित हुए कर्मरूप जलसे यह प्राणी परिपूर्ण होरहा है इसलिये समुद्रके समान इस संसारमें डूबता है। योगही आस्रव है इसीके द्वारा कर्म आते हैं। न कर्म आते और न यह प्राणी डूबता। इस सब दुःखका कारण योग अथवा आस्रव है।

संवरानुप्रेक्षाका स्वरूप—

योगद्वाराणि रुन्धन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः। आपतद्भिर्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः ॥ ३८॥

अर्थ—योग अथवा आस्रवरूप द्वारोंको जो कवाडोंके समान गुप्तिद्वारा बंद करदेते हैं वे धन्य हैं। वे आते हुए तीव्र कर्मोंद्वारा भी बाधित नहीं होपाते हैं। आनेका द्वार ही रुकगया तो आपत्तियां आकहांसे सकती हैं इसलिये जो योगद्वारोंको रोकदेते हैं वे ही कर्मोंके जालसे बचते हैं। वे धन्य हैं। उन्हीका अनुकरण सब को करना चाहिये। यह हुआ आनेवाले नवीन कर्मोंके रोकनेका उपाय। अब संचित कर्मोंके खिपानेका उपाय कहते हैं—

निर्जरानुप्रेक्षाका स्वरूप—

गाढोपजीर्यते यद्वदामदोषो विसर्पणात् । तद्वन्निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसंचितम् ॥ ३९ ॥

अर्थ–रेचनकी औषध सेवन करनेसे जिस प्रकार गाढ जमाहुआ आम दोष अथवा अजीर्णता का दोष दूर होजाता है उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्म तपश्चरण करनेसे नष्ट हो जाता है। यह संचित कर्मके दूर करनेका उपाय है। इससे कैसा ही दृढ बद्ध कर्म भी नष्ट हो जाता है।

लोकानुचिन्तन स्वरूप—

नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि । वसतिस्थानवत् कानि कुलान्यध्युषितानि न ॥४०॥

अर्थ–जीव सदा ही भ्रमण करता है। रास्तागीर ही सदा बना रहता है। लोक मात्र इसके भ्रमण का मार्ग है। घर द्वारकी भांत असंख्यातों ऐसे शरीराकार हैं कि जिन्हें कुल कहते हैं। उनमेंसे ऐसे कौनसे कुल हैं जो कि जीवने अपने भ्रमणमें घररूप न बना लिये हों–जिनमें कि जीव भ्रमते हुए वास न कर चुका हो। जब कि अनादिसे भ्रम रहा है तो कौनसा लोकक्षेत्र तथा कुल इससे छूट सकता है। एक बार नहीं, किंतु अनेक अनेकवार एकेक क्षेत्रमें जन्ममरण हो चुके हैं। इस प्रकार लोकका अपने साथ घनिष्ट संबंध है। यह कैसे छूटे ?

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा स्वरूप–

मोक्षारोहणनिःश्रेणिः कल्याणानां परम्परा । अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा॥४१॥

अर्थ—देखो, यह बडा कष्ट है कि, जो मोक्षतक चढनेके लिये सीढियोंके समान हैं, कल्याणोंकी परंपरा है ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति संसारसमुद्रमें जीवके लिये अत्यन्त दुर्लभ हो रही है। यदि जीव इस संसार समुद्रसे तरना चाहें तो रत्नत्रयके द्वारा ही तर सकता है। उसीके द्वारा मोक्षमें पहुंच सकता है। संसारमें जब तक जीव रहे तबतक भी उससे अनेक और सातिशय सुख प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु उस रत्नत्रयकी प्राप्ति होना अत्यंत कठिन हो रहा है। जीव का नित्यनिगोद पहिला निवास स्थान है। वहांसे मनुष्यजन्म तक आना अति कठिन है। यहीं पर रत्नत्रयका लाभ हो सकता है। यदि यह जन्म गया तो फिर समुद्रमें चिंतामणि रत्न फेंक देनेके बराबर हानि होगी।

धर्मानुचिन्तनस्वरूप—

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुंगवैः। अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम् ४२

अर्थ—उत्तमक्षमादिरूप धर्मका सच्चा स्वरूप जिनेन्द्रभगवानने ही कहा है। संसारसमुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंको यही आश्रय देनेवाला—उन्हें थांमनेवाला खंभ है। इसीके सहारेसे प्राणी संसारसमुद्रमेंसे डूबनेसे बचते हैं और पार होते हैं।

भावनाओंका एकमात्र फल—

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः। ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः॥ ४३॥

अर्थ—इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओंका चितवन करनेसे साधुके धर्मका महान् उद्योत होता है—धर्ममें साधु दृढ होता है—धर्मकी रक्षा करनेमें और बढानेमें महान् उद्यम करने लगता है ऐसा करनेसे उस तपस्वीके प्रमाद दूर होजाते हैं और प्रमाद रहित होनेसे कर्मोंका महान् संवर होता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षाओंको संवरका कारण कहा। अब चारित्रको दिखाते हैं—

चारित्रके भेद—

वृत्तं सामायिकं ज्ञेयं छेदोपस्थापनं तथा। परिहारं च सूक्ष्मं च यथाख्यातं च पञ्चमम्॥ ४४॥

अर्थ—वृत्त अर्थात् चारित्र। चारित्रके पांच भेद हैं; (१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापन, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसांपराय, (५) यथाख्यात।

सामायिक चारित्रका स्वरूप—

प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्यकर्मणः। नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामायिकं स्मृतम्॥ ४५॥

अर्थ—सर्वपाप क्रियाका अभेदरूपसे सदाकेलिये अथवा कुछ कालकेलिये त्याग करना इसे सामायिक चारित्र कहते हैं। छेदोपस्थापनादि चारित्र भेदरूपसे पापक्रियाओंके छोडनेपर होते हैं और यह चारित्र अभेदरूपसे पापक्रिया छूटनेपर होता है। छेदोपस्थापनसे यही इसमें अंतर है।

छेदोपस्थापन—

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः। व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत्॥४६॥

अर्थ—जहां पर हिंसा चोरी इत्यादि विशेषरूपसे भेदपूर्वक पाप क्रियाका त्याग किया जाता है और व्रत भंग हो जाने पर उसकी शुद्धि की जाती है उसको छेदोपस्थापन कहते हैं। व्रतका लोप होना किसी विशिष्ट क्रिया द्वारा ही संभव होता है। इसलिये उसकी शुद्धि करते समय भी किसी विशेष पाप क्रियाके हटानेमें ही लक्ष्य रहता है। अतएव भेद पुरस्सर पाप क्रियाका त्याग करना—यह छेदोपस्थापनका लक्षण ठीक हो जाता है। सामयिक चारित्रसे जो इसमें भेद बता चुके हैं वह भी ठीक जुडता है। यह चारित्र दोनों तरहसे हुआ करता है एक तो, किसी व्रतका भंग हो जानेपर उसकी शुद्धि करते समय जो प्रायश्चित्तके रूपमें किया जाता है वह समझना चाहिये। दूसरा, व्रतधारण करते समय ही भेदरूपसे सावद्यक्रियाके छोडनेरूप जो परिणाम होता है वह समझना चाहिये। ये दोनों प्रकार कहने मात्र के जुदे २ हैं। स्वरूप दोनोंका एक ही है। अर्थात्, एक तो व्रत भंग हो जाने पर किया जाता है और दूसरा प्रथमसे ही किया जाता है अथवा चाहें जब किया जा सकता है। बस, इतनी अपेक्षासे दोनोंमें भेद माना जा सकता है। परन्तु लक्षण दोनोंका इतना ही है कि विशेष रूपसे सावद्यका परिहार किया जाय। इसकी और प्रथम चारित्रकी स्थिति छट्ठेसे नौमेतक चलती है।

इसके बाद दशवां गुणस्थान प्राप्त हो जाता है जिसमें कि सूक्ष्मसांपराय नामका चौथा चारित्र प्रगट होता है। परन्तु किसी विशिष्ट सुखी पुरुष को दृष्टिवादके चौदह पूर्वोंमेंसे नौमे प्रत्याख्यान नाम पूर्वतक तीर्थंकर केवलीके समीप श्रुतज्ञान प्राप्त करनेका सौभाग्य मिलगया हो तो उसे परिहारविशुद्धि नामकी ऋद्धि प्रगट हो जाती है जिससे कि जीववध उसके शरीरसे न होसके। बस, इसीका नाम परिहारविशुद्धि चारित्र है। यही आगे कहते हैं।

परिहारविशुद्धिका लक्षण—

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि। शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥ ४७ ॥

अर्थ—ऊपर जो निमित्त बताचुके हैं उसके द्वारा शरीरसे जीववध होना छूट जानेके कारण जो प्राणिघातका विशिष्ट परिहार होजाता है उससे आत्मामें एक अपूर्व शुद्धि उत्पन्न होती है। इसीका नाम परिहारविशुद्धि है। यह तीसरा चारित्र किसी विरलेको ही प्राप्त होता है। शरीरक्रिया करते हुए भी इससे पाप नहीं लगता है। इसलिये इसे प्रायश्चित्तकी या

१ तीसं वासा जम्मे वासपुधत्तं च तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो संझूण दुगाउ परिहारो॥ गो० जी०। छाया–त्रिंशद्वर्षाणि जन्मनि वर्षपृथक्त्वं च तीर्थंकरमूले। प्रत्याख्यानं पठितः सन्ध्योनद्विगव्यूति परिहारः॥

छेदोपस्थापन करनेकी आवश्यकता नहीं पडती है। सामायिक चारित्रवाला भी कभी कभी छेदोपस्थापनकी आवश्यकता न रखता हुआ ही नौमे गुणस्थानतक जासकता है परन्तु उसका व्रतभंग होजाना असंभव नहीं है । इसीलिये सामायिक व छेदोपस्थापनकी सत्ता नौमेतक सुखसे एकसी रहसकती है परन्तु परिहारविशुद्धि चारित्र सातवेंतक ही होता है। यदि श्रेणीका आरोहण करना हो तो परिहारविशुद्धि छोडकर सामायिक-छेदोपस्थापनका अवलंबन लेना पडेगा । इसलिये यह मानना चाहिये कि उत्तरोत्तर गुणस्थानोंकी वृद्धि करते हुए केवलज्ञानकी तरफ लेजानेवाले ये दो ही चारित्र हैं। परिहारविशुद्धि केवल प्राणिवध बंद होजानेसे विशुद्ध माना जाता है और वह भी तबतक, जबतक कि छट्ठे सातवेंमें उतरने चढनेकी संभावना रहती है। श्रेणीपर चढनेवाले जीवको इस महत्त्वकी कीमत नहीं रहती। वह स्वयं सर्व तरफसे अति विशुद्ध बनने लगता है। उसमें परिहारविशुद्धि की महिमा गर्भित होजाती है इसीलिये फिर उनमें परिहार विशुद्धि नहीं रहता। यद्यपि जहां सामायिक-छेदोपस्थापन समाप्त होजाते हैं वहांसे भी उपर सूक्ष्मसांपराय और फिर यथाख्यात चारित्र ऐसे उत्तरोत्तर परिणामोंकी वृद्धि होती जाती है परतु सामयिक-छेदोपस्थापनके बादकी जो विशुद्धिवृद्धि होती है उससे परिहारविशुद्धिके बादकी सामायिकादिरूप विशुद्धिवृद्धि एक जुदे प्रकारकी है वह ऐसी कि, जिन छट्ठे सातवें गुणस्थानोंमें सर्वसामान्य साधुको सामायिक-छेदोपस्थापन होते हैं उन्ही गुणस्थानोंमें परिहारविशुद्धि ऋद्धि प्राप्त होनेपर सामायिक या छेदोपस्थापन न रहकर परिहारविशुद्धि चारित्र होजाता है। इससे यह मानना पडता है कि उन गुणस्थानोंके सामायिक-छेदोपस्थापनसे यह चारित्र अधिक विशुद्ध है। तभी तो उन दोनोंको हटाकर आप प्रकाशमान होजाता है। परंतु जब श्रेणी आरोहण करने लगता है तब वही साधु परिहारविशुद्धिसे ऊंचादर्जा ग्रहण करता हुआ सामायिक-छेदोपस्थापन नामके चारित्रको पाता है। उस समय परिहारविशुद्धि छूट जाता है। अर्थात्, एक वार नीचे दर्जेमें परिहारविशुद्धि दोनो चारित्रोंको पराभूत करती है और दूसरे वार आप उनसे पराभूत होती है। इससे यह वात सिद्ध होजाती है कि परिहारविशुद्धि चारित्र एक ऋद्धिविशेषकी महिमाका नाम है जो कि गुणस्थान वढानेके कारणभूत चारित्रकी कोटीका नहीं होसकता है और जो सामायिक-छेदोपस्थापन हैं वे गुणस्थान बढानेमें कारणभूत होते हैं। इसीलिये नौमें गुणस्थान तक सामायिक या छेदोपस्थापनके द्वारा परिणामो की वृद्धि होजानेपर जो चारित्र होता है उसका नाम सूक्ष्मसांपराय चारित्र है । उसकी

१ परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् । इति वार्ति० ।

संख्या यद्यपि चौथी मानी है परंतु सामायिक छेदोपस्थापनको ही केवल मुख्य मानते हुए परिहारविशुद्धिको न गिनें तो उसे तीसरा चारित्र कहना अनुचित नहीं है।

सूक्ष्मसापरायका स्वरूप—

कषायेषु प्रशान्तेषु प्रक्षीणेष्वखिलेषु वा। स्यात् सूक्ष्मसांपरायाख्यं सूक्ष्मलोभवतो यतेः ॥४८॥

अर्थ—संपूर्ण कषायोंको उपशांत अथवा क्षीण करते करते जब थोडासा सूक्ष्म लोभ उदयमें शेष रहजाता है उस समय जो परिणामोंमें विशुद्धता अधिक प्राप्त होती है वह सूक्ष्मसांपराय चारित्र है। इससे पूर्वमें कषायोंकी अधिकताके वश जीवको विशुद्ध परिणाम करनेकेलिये प्रयत्न तीव्र करना पडता था। क्योंकि, परिणामशुद्धिके विरोधी कर्मोंका उदय तबतक प्रबल था। अब वह उदय प्रबल न रहने पर भी प्रयत्न तो करना पडता है परन्तु मंदोदयसे अब काम चलजाता है। इसीलिये नौमे गुणस्थानतकके परिणामोंकी जातिसे इसको एक जुदा माना है। छट्ठे गुणस्थानसे नौमेंतक चारगुण स्थान बदलते बदलते होगये और इन चार गुणस्थानोंके परिणाम परस्परमें भिन्न रहे परन्तु उनमें चारित्रका भेद न करके दशवेंमें आनेपर ही किया। इसका कारण वही है जो कि ऊपर कहचुके हैं।

इससे भी जो ऊपर चारित्र होता है उसका नाम यथाख्यात है। उसमें प्रयत्नका अभाव ही हो चुकता है। उसके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता ही नहीं रहती है। उसकी उत्पत्ति प्रयत्नके नष्ट होनेपर होती है। प्रयत्न कषायका कार्य है। वह रहता है तबतक यथाख्यात स्वरूपका होना असंभव है। इसीलिये प्रयत्नके न रहनेपर यह चारित्र होता है। इसलिये सूक्ष्मसांपरायकी जातिसे इसकी जाति जुदी है। अर्थात्, सामायिक—छेदोपस्थापन प्रयत्नप्रधान हैं। सूक्ष्मसांपराय गौणप्रयत्नवान् हैं और यह प्रयत्नशून्य है। इसप्रकार इस चारित्रमें पूर्वसे विशेषता है। यही बात आगे कहते हैं—

यथाख्यातचारित्रका स्वरूप—

क्षयाच्चारित्रमोहस्य कार्त्स्न्येनोपशमात्तथा। यथाख्यातमथाख्यातं चारित्रं पञ्चमं जिनैः ॥४९॥

अर्थ—चारित्रमोह कर्मका पूरा क्षय होजानेपर जिनभगवानने पांचवां यथाख्यात चारित्र होना बताया है। अथाख्यात भी इसका दूसरा नाम है। जिनेन्द्रभगवानने पूरा शुद्ध आत्मस्वरूप जैसा कहा है वैसा स्वरूप ही यहांपर प्राप्त होता है।

इसलिये इसे यथाख्यात कहते हैं। अयाख्यातका अर्थ यह है कि आजतक जिसकी कथामात्रकी थी परन्तु जो प्राप्त नहीं हुआ था वह अब प्राप्त हुआ है। मोहकर्मका पूरा उपशम होजानेपर भी यथाख्यात चारित्र हुआ माना जाता है। क्योंकि, मोहोदयके विना पूर्ण शुद्ध स्वरूपमें मलिनता कोन उत्पन्न करै ? वह उदय जैसा मोहक्षयके समय नष्ट होजाता है वैसा ही मोहोपशमके समय भी नष्ट होजाता है। इसलिये उपशान्तकषायवाले जीवमें भी यथाख्यात प्रगट हुआ माना जाता है। परन्तु वह हुआ न हुआ कि मोहोदय होआता है जिससे कि यथाख्यातकी दशा फिर भी छूट जाती है। क्षीणमोहके यथाख्यातसे इस यथाख्यातका स्थान भी नीचा है और फल भी अल्प है। इसलिये असली वही चिरस्थायी यथाख्यात है जो कि क्षीणमोहको प्राप्त होता है।

चारित्रका फल—

सम्यक्चारित्रमित्येतद् यथास्वं चरतो यतेः। सर्वास्रवनिरोधः स्यात्ततो भवति संवरः ॥ ५० ॥

अर्थ—इस प्रकार इस सम्यक् चारित्रका यथायोग्य आचरण करनेवाले साधुका सर्व कर्मास्रव होना रुक जाता है। इससे उसका संवर होना सिद्ध होजाता है।

तपस्तु वक्ष्यते तद्धि सम्यग्भावयतो यतेः। स्नेहक्षयात्तथा योगरोधाद् भवति संवरः ॥ ५१ ॥

अर्थ—तप आगे कहेंगे। उस तपकी यथार्थ भावना करनेवाले योगीका रागद्वेष नष्ट होजाता है और योग भी रुक जाते हैं इसलिये उसके कर्मोंका आना रुकता है और संवर सिद्ध होता है।

उपसंहार।

इति संवरतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार संवरतत्त्वका वाकी छहतत्त्वोंके साथ साथ जो श्रद्धान करता है, उसे जानलेता है और उपेक्षित होकर चारित्र धारण करता है वही निर्वाणका भागी होता है।

---

१ पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तु परिप्राप्तं प्राग् मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातं। अथवा यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वाद्यथाख्यातमित्याख्यायते। इतिवार्तिक०।

सातवां अधिकार

निर्जरातत्त्ववर्णन।

मंगल व विषय प्रतिज्ञा—

अनन्तकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना निर्जरातत्त्वमुच्यते ॥१॥

अर्थ—केवल ज्ञानरूप अनंत ज्योतिके द्वारा तीनो जगतको प्रकाशित करनेवाले जिनेन्द्र भगवानको मस्तक नमाकर निर्जरा तत्त्वका वर्णन करते हैं।

निर्जराके लक्षण व भेद—

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा। आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥२॥

अर्थ—बंधे हुए कर्मोंके झडजानेका नाम निर्जरा है। निर्जरा दोप्रकारकी है, पहिली विपाकज निर्जरा, दूसरी अविपाकज निर्जरा।

विपाकजनित निर्जराका लक्षण—

अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्तिनः। कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥ ३ ॥

अर्थ—अनादि कालसे कर्म बंधनकी जो उपाधि लगी हुई है उसका जब जब फलकाल उपस्थित होता है तबतब वे कर्म फल देदे कर खिरते हैं। बस, इसीका नाम विपाकज निर्जरा है। ऐसी निर्जरा सदा ही होती रहती है। कोई भी कर्म बँधता है वह कुछ न कुछ स्थिति की मर्यादा रखता हुआ ही बँधता है। इसलिये उतनी स्थिति पूरी होनेपर वह कर्म खिरना ही चाहिये। इसी प्रकार अनादि कालसे पूर्व कर्म खिरते जाते हैं और नवीन कर्म बँधते जाते हैं। ऐसी लडी बराबर चली आरही है। जिन कर्मोंके फल भोगनेके योग्य फलकालमें बाह्य निमित्त मिलजाते हैं वे फल देकर खिरते हैं। जिनके फलकालमें साधक निमित्त नहीं मिलते वे यों ही खिरजाते हैं। उनका फल भोगना नहीं पडता है। कभी कभी किसी किसी कर्मकी पूर्वबद्ध स्थिति खतम होजानेपर भी उस समय स्थितिवर्धक निमित्त मिलजानेसे स्थिति

बढजाती है। ऐसा होनेपर भी कभी न कभी उनका भी अंत आता ही है। इस प्रकार यह सर्व विपाकज निर्जरा सदाही होती रहती है यह निर्जरा होते हुए भी जीव कर्मोंसे छूट नहीं पाता है। क्योंकि, एक खिरता है तो दूसरा बँधता है। कर्मोंसे छूटनेका उपाय अविपाकज निर्जरा है इस प्रकरणमें वही निर्जरा लीजाती है।

अविपाकज निर्जराका लक्षण—

अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम्। प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥ ४ ॥

अर्थ—कर्मोंका उदयकाल प्राप्त न हुआ हो तो भी जहांपर तपश्चरणके सामर्थ्यद्वारा उसे परिपक्व हुई उदयावलीमें प्रवेश कराकर बंधनसे छुडादिया जाता है उस समयकी उस निर्जराको अविपाकज निर्जरा कहते हैं। फल देनेका नाम उदय है। परंतु फल न देकर भी जो खिरना है उसे भी कभी कभी ग्रंथकार उदय कहदेते हैं। क्योंकि, कर्म फल दे या न दे परंतु बंधनकी दृढ अवस्थासे उसकी शिथिल अवस्था दोनो ही वार होती है। उसीको उद्रिक्त नामसे भी कहते हैं। फल भोगनेमें आना न आना—यह बात केवल कर्माधीन नहीं है किंतु बाह्य निमित्तका होना न होना भी फल भुगानेमें कारण होता है। तपश्चरणके द्वारा जो कर्म खिपाये जाते हैं उनके भुगानेवाले बाह्य निमित्तोंका एक दम एकत्रित होना कठिन तथा असंभव बात है। इसीलिये तपश्चरणद्वारा खिपनेवाले कर्म उद्रिक्त होकर विना फल दिये खिरजाते हैं। परंतु भोगनेमें आनेवाले कर्मोंका और विना भोगें ही खिरनेवाले कर्मोंका खिरनेके समय जो उद्रेक होता है वह एकसा ही होता है इतनी समानताको देखकर ग्रंथकार अविपाकज निर्जरावाले कर्मोंको भी उदयावलीमें प्रविष्ट होनेवाले मानते हैं और उनका वेदन होना भी बताते हैं। परंतु यहांपर यह ध्यान रखना चहिये कि फल भोगनेका नाम जो उदय है वह उदय यहांपर नहीं होता। यदि इस उदीर्ण उदयावलीमें भी फल भोगनेका नियम हो तो निर्जराका यह दूसरा भेद ही न बनसकेगा। एवं फल भोगनेवालेकें नवीन कर्म भी नियमसे बँधते ही हैं। ऐसी हालतमें उसका मुक्त होना असंभव होजायगा। इसलिये मानना चाहिये कि निष्काम तपश्चरण करने वाले के जो कर्म खिरते हैं वे विना फल भोगें ही खिराये जाते हैं।

शंका—यदि फल विना भोगें भी कर्म खिरजाते हैं तो कृतनाशका दोष क्यों न आवेगा?

उत्तर—जो काम किया जाता है उसका जहांपर कोई भी फल संभव नहीं होता वहांपर कृतनाशका दोष आता है।[1]

१ इस उत्तरसे इस वचनका भी समाधान होजाता है कि "अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"।

बांधे हुए कर्मोंद्वारा जीव परतंत्र बनजाता है। इसलिये कर्म का बंध निष्फल नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार उदय-संबंधी फल न मिलनेपर भी कृतनाशका दोष नहीं आसकता है। इसलिये बद्ध कर्मोंको भोगकर खिरानेका नियम मानना असंगत बात है।

अविपाकनिर्जराका उदाहरण—

यथाम्रपनसादीनि परिपाकमुपायतः। अकालेपि प्रपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनाम् ॥५॥

अर्थ—जिस प्रकार आम, फनस-इत्यादि कच्चे फल पालमें रखदेनेसे असमयमें भी पक जाते हैं उसी प्रकार जीवों के कर्म उदयकाल आनेसे पहिले भी तपश्चरणादि प्रयोगद्वारा परिपक्व हो जाते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि विना फल दिये भी कर्म खिर सकते हैं। उसीका यह उदाहरण है। जीवसे संबंध छोडने के सन्मुख हो जाना ही परिपाक होनेका अर्थ है। वह कर्म संबंध छोडनेके सन्मुख होता हुआ फल दे सके या नहीं—इस बातका कोई नियम नहीं है। उदाहरणका भी यही तात्पर्य है। पालमें देनेसे चाहें कच्चा आम पके या काल पाकर वृक्षपर लगा हुआ ही पक जाय। परन्तु कच्चा न रहै यही पकनेका अर्थ है। इसी प्रकार कर्मका भोगनेके योग्य हो जाना परिपाकका अर्थ है। भोगने के योग्य होनेका अर्थ यह है कि जीवके साथ जो दृढ बद्ध था उससे शिथिल हो जाना, जिससे कि आगे संबध न रह सके। फलके भी पकनेका यही अर्थ है कि जो वृक्षके साथ दृढ संबंध था उसका शिथिल हो जाना और उसके जो अवयव दृढ थे उनका भी शिथिल हो जाना। फल पकने पर वृक्षसे अपने आप जुदा हो जाता है। क्योंकि, उसके डंठलमें फिर जुडे रहनेकी शक्ति नहीं रहती है। इस प्रकार कर्मका परिपाक होते ही आत्मासे जुदा होना पडता है। उसमें बंधनकी शिथिलता हो जानेसे उसका फिर वहां पूर्वरूपसे रहना अशक्य हो जाता है। इसके भोगनेका अर्थ यह है कि पके हुएका जो उपयोग हो सकता है वह उपयोग हो जाना। जैसे फलका उपयोग यह है कि उसको खाकर जीव सुखी या दुःखी हो जाय। उसी प्रकार कर्मको भोगकर उसके द्वारा सुखी दुःखी बनना कर्मके भोगनेका मतलब है। जिस प्रकार यह नियम नहीं है कि पके हुए फलका भक्षण कोई न कोई करे ही, उसी प्रकार कर्म उदयमें आने पर उसका फल भोगा ही जाय-यह नियम नहीं हो सकता है। इसलिये इस फलके उदाहरण परसे यह बात माननी चाहिये कि अविपाक निर्जरा फल विना दिये ही हो जाती है।

उदाहरणमें जो फलका भोक्ता है वह मनुष्य या प्राणी फलसे जुदा दीख पडता है। फल परिपक्व होनेपर जो वृक्षसे संबंध छोडता है उतनी तुलना दार्ष्टांतके साथ मिलजाती है। क्योंकि कर्मोंके परिपाकका फलभोक्ता भी वही प्राणी होता है और जिससे कर्म संबन्ध छोडता है वह भी वही प्राणी होता है। अर्थात्, कर्मोंके विषयमें यह बात है कि कर्मोंका कर्ता भोक्ता तथा उनसे बंधनेवाला और छूटनेवाला एक ही प्राणी होता है परन्तु फलके कर्ता, भोक्ता, और उससे संबन्ध रखनेवाले जुदे जुदे होते हैं। इतनी विषमता दृष्टांतमें जान पडेगी। परन्तु यह कोई दोष नहीं है। जगतमें कारकके और भी ऐसे दृष्टांत मिलते हैं जो कि दोनो प्रकारके होते हैं। उदाहरणार्थ, 'अमुक मनुष्य कुल्हाडीसे लकडी काटरहा है'—इस वाक्यमें कर्ता कर्म करण जुदे जुदे हैं। अमुक मनुष्य ज्ञानद्वारा अपनेको जानरहा है'—इस वाक्यमें कर्ता कर्म करण एक ही हैं। इसी प्रकार आम्रादि फलोंके कर्ता भोक्ता आदि जुदे जुदे हैं और कर्मके कर्ताभोक्ता आदि एक ही हैं। इतनी विषमतासे फलके परिपाकका उदाहरण मिथ्या नहीं होसकता है।

अथवा कर्ता कर्म करण आदिको कहीं भी जुदा जुदा मानना व्यवहारनयाधीन है। वास्तवमें और सूक्ष्म कार्यकारणादि संबंध देखे जांय तो सर्वत्र यही बात सिद्ध होती है कि कर्ता कर्म आदि एक ही होने चाहिये। जुदा पदार्थ जुदे पदार्थके साथ कुछ नहीं करसकता है। क्योंकि, कुछ भी करनेमें और होनेमें शक्तिका विनियोग होता है। जब कि दूसरे पदार्थकी शक्ति दूसरेमें परिवर्तन कर ही नहीं सकती है तो वह दूसरेमें करेगी क्या? यदि दूसरेका दूसरेमें परिवर्तन होना मानलिया जाय तो विश्वका उथला पथल होजाय। इसलिये मानना चाहिये कि दूसरा कोई किसीका कुछ भी करता नहीं है। इस सिद्धांतके अनुसार आम्रफलादिकोंमें क्या और कर्ममें क्या? सर्वत्र कर्ताकर्मादि तथा कर्ताभोक्तादि एक वस्तुके ही धर्मविशेष तादात्म्य संबंधसे मानने चाहिये। इसीलिये कर्मका कर्ता करणादि संबंध कर्मपुद्गलोंमें ही माना जाता है और जीवको जीवके परिणाममें ही कर्ता भोक्ता तथा कर्ता करणादिरूप[1] माना जाता है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि भोग न होते हुए भी कर्मका, कृत्रिम उपायोंसे, विपाक होसकता है। यही बात आगे दिखाते हैं—

दोनों निर्जराओंके स्वामी—

अनुभूय क्रमात्कर्म्म विपाकप्राप्तमुज्झताम्। प्रथमास्त्येव सर्वेषां द्वितीया तु तपस्विनाम्।

१ पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो। चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥ द्रव्यसंग्रहः।

अर्थ—काल क्रमसे विपाकको प्राप्त हुए कर्मोंका फलानुभव करके जो छोडना है वह प्रथम निर्जरा है। ऐसी निर्जरा सभी जगतके जीव करते हैं। परन्तु दूसरी जो निर्जरा है उसे तपस्वी ही कर सकते हैं। अर्थात्, उसमें इतना ही विशेष है कि कर्मोंका परिपाक होनेपर उसका अनुभव नहीं किया जाय तो जो विपाकानन्तर निर्जरा होगी वह अविपाकज समझी जायगी। अविपाकज निर्जरामें भी कर्मका विपाक तो होता है परन्तु वह विपाक इस अविपाक-शब्दमेंका नहीं है। अविपाकज कहते समय जिस विपाकका निषेध किया गया है वह भोगरूप विपाक है वह विपाक सविपाक निर्जरामें होता है और अविपाक निर्जरामें नहीं होता। एवं दोनों ही निर्जरा विपाकप्राप्त कर्मोंकी होती है ऐसा जो कहा है वह विपाक उदयावलीमें कर्मका प्राप्त होना है अथवा उद्रेक होना है अथवा फल देनेके सन्मुख होना है। कर्मकी ऐसी अवस्था दोनो ही निर्जराओंमें होती है। यदि अविपाक निर्जरामें कर्मोंका विपाक होना न माना जाय तो तपस्वियोंके भी जो कुछ कर्म स्वयमेव कालपाकर उदयको प्राप्त होते हैं उनका विपाक होना ही असंभव होजायगा। परन्तु जिनकी स्थिति समाप्त होचुकी है उनको उदयावलीमें आनेसे कैसे रोका जासकता है? इसलिये मानना चाहिये कि उदयावलीमें तो सभी कर्म आते हैं; परन्तु अविपाकनिर्जरावाला तपस्वी उनका अनुभव नहीं करता है और जो जीव कर्मके उदयका अथवा उदीरणाका अनुभव करते हैं उनके उन कर्मोंकी निर्जरा सविपाक मानी जाती है। कारिकामें क्रमप्राप्त कर्मका अनुभव होनेपर होनेवाला जो क्षय उसे सविपाक निर्जरा कहा है। परन्तु क्रमप्राप्त एक तो वे कर्म होते हैं जो कि यथाकाल उदयको प्राप्त होते हैं; और दूसरे उन्हें भी क्रमप्राप्त ही मानना चाहिये जो कि उदीरणाद्वारा उद्रिक्त होते हैं। तपश्चरणद्वारा उदयावलीमें आनेवाले वे कर्म समझे जाते हैं जो कि केवल निर्जराकी इच्छासे तपोद्वारा उद्रिक्त किये गये हों।

तपश्चरणके भेद।

तपस्तु विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः। प्रत्येकं षड्विधं तच्च सर्वं द्वादशधा भवेत् ॥ ७॥

अर्थ—तपके मूल दो भेद हैं, एक बाह्य तप, दूसरा आभ्यन्तर तप। दोनोंके उत्तर भेद छह छह हैं। इस प्रकार सर्व बारह भेद तपके होजाते हैं। संवर प्रकरणमें तपका लक्षण कह चुके हैं कि "परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्"। इसलिये यहां पर लक्षण न कहकर भेद मात्रकी संख्या दिखादी है।

वाह्य तपके छह भेदोंके नाम—

वाह्यं तत्रावमोदर्यमुपवासो रसोज्झनम् । वृत्तिसंख्या वपुःक्लेशो विविक्तशयनासनम् ॥ ८ ॥

अर्थ–उन दोनो भेदोमेंसे वाह्य तपके जो छह भेद हैं उनके ये नाम हैं: (१) अवमोदर्य, (२) उपवास, (३) रसत्याग, (४) वृत्तिसंख्या, (५) कायक्लेश, (६) विविक्तशय्यासन।

अवमोदर्यका स्वरूप—

सर्व तदवमोदर्यमाहारं यत्र हापयेत् । एकद्वित्र्यादिभिर्ग्रासैराग्रासं समयान्मुनिः ॥ ९ ॥

अर्थ–जिसमें आहारको घटाया जाता है उस सर्व प्रवृत्तिको अवमोदर्य तप कहते हैं। इसके घटानेकी विधि यह है कि मुनिका जो पूर्ण भोजन है उसमेंसे एक दो आदि ग्रास घटाकर मुनि भोजन करे। इसके घटानेकी उत्कृष्ट सीमा एक ग्रास शेष रहै वहांतक है। एक ग्रास घटाकर भोजन करना जघन्य अवमोदर्य है। एक ग्रासमात्र भोजन करना उत्कृष्ट अवमोदर्य है। वीचके भेद मध्यम अवमोदर्यमें गर्भित होते हैं।

उपवासतपका स्वरूप—

मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्नाहारोऽपि चतुर्विधः । उपवासः स तद्भेदाः सन्ति षष्ठाष्टमादयः ॥ १० ॥

अर्थ–केवल मुक्तिफलकी इच्छा रखते हुए सर्व विषयोसे उपेक्षित होकर चारो प्रकारके आहारका त्याग जिसतपमें किया जाता है उसे उपवास कहते है वेला तेला आदि उपवासके ही भेद हैं। आहार चार हैं–अन्न, खाद्य, पेय, लेह्य। इन चारो आहारोंका पूर्ण त्याग होनेपर उपवास तप होता है। अवमोदर्यका अभ्यास वढजानेपर उपवास तप करने में प्रवृत्ति की जाय तो सुखसाध्य होता है। इसीलिये अवमोदर्यके वादमें उपवासका नाम है।

रसत्यागतप—

रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषाम् । एकद्वित्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा ॥ ११ ॥

अर्थ–तेल, दूध, खांड, दही, घी–ये पांच रस है। इनका यथासाध्य त्याग करना रसत्याग तप है। इसके पांच प्रकार होजाते हैं, (१) किसी एक रसका त्याग करना, (२) दो रसोका त्याग करना, (३) तीन रसोंका त्याग करना,

(४) चार रसोंका त्याग करना, (५) पांचो ही रसोंका त्याग करना। पहिला जघन्य है। अंतका उत्कृष्ट है। बीचके तीनो भेद मध्यम तप समझने चाहिये।

वृत्तिसंख्यान तप—

एकवस्तुदशागारपानमुद्गादिगोचरः। संकल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः॥ १२॥

अर्थ—भोजनके प्रथम मुनि इस प्रकार संकल्प करे कि मैं आज एक वस्तुका ही भोजन करूंगा, अथवा दिश घरसे अधिक न फिरूंगा, अथवा अमुक पानमात्र करूंगा, अथवा मूंग ही खाऊंगा। इत्यादि अनेक प्रकारके संकल्प इच्छानिरोध केलिये किये जाते हैं। इसीको वृत्तिसंख्यान तप कहते हैं एक वस्तु, दश अगार, पान, मूंग इत्यादि नाम उदाहरणार्थ बताये गये हैं। इन उदाहरणोंपरसे यह मतलब समझलेना चाहिये कि इस प्रकारसे वृत्तिकी अर्थात् भोजनप्रवृत्ति की संख्या अर्थात् मर्यादा बांधी जासकती है।

कायक्लेशतप—

अनेकप्रतिमास्थानं मौनं शीतसहिष्णुता। आतपस्थानमित्यादि कायक्लेशो मतं तपः॥१३॥

अर्थ—अनेक प्रकारके प्रतिमायोग धारण करना, मौनसे रहना, शीतबाधा सहना, धूपमें जाकर खडे होना इत्यादि कायक्लेश तपके प्रकार हैं।

विविक्तशय्यासनतप—

जन्तुपीडाविमुक्तायां वसतौ शयनासनम्। सेवमानस्य विज्ञेयं विविक्तशयनासनम्॥१४॥

अर्थ—जंतुओंकी पीडारहित वसतिकामें सोना, बैठना इसका नाम विविक्तशय्यासन तप है। अर्थात्, एकांत स्थानमें सोने बैठनेको विविक्तशय्यासन कहते हैं।

अंतरंग तपके छहभेदोंके नाम—

स्वाध्यायः शोधनं चैव वैयावृत्त्यं तथैव च। व्युत्सर्गो विनयश्चैव ध्यानमाभ्यन्तरं तपः॥१५॥

अर्थ—(१) स्वाध्याय, (२) प्रायश्चित्त, (३) वैयावृत्त्य, (४) व्युत्सर्ग, (५) विनय, (६) ध्यान ये छह अंतरंगतपके भेद हैं।

स्वाध्याय तपका स्वरूप व भेद—

वाचना पृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना। अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पञ्चधा जिनैः ॥१६॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मदेशना, अनुप्रेक्षा ये पांच प्रकार स्वाध्याय तपके मानेगये हैं। स्वाध्यायका अर्थ विद्याभ्यास करना है। पढना, पढाना, शुद्ध पाठ उच्चारण करना, धर्मसंबंधी उपदेशकरना, अथवा तत्त्वोंका चिन्तवन करना ये सर्व बातें विद्याभ्यासमें ही गर्भित होती हैं।

वाचनास्वाध्यायका स्वरूप—

वाचना सा परिज्ञेया यत् पात्रे प्रतिपादनम्। ग्रन्थस्य (निरव) वार्थपद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा १७

अर्थ—ग्रन्थ पढाना अथवा तत्त्वार्थका स्वरूप बताना अथवा ग्रन्थ अर्थ—दोनों पढाना इसका नाम वाचना है। जो पढानेका या बतानेका पात्र हो उसीको पढाना चाहिये। पात्रताका, जिज्ञासु होना, यह एक लक्षण मुख्य है। इसके सिवा बुद्धिमान् हो, दुराग्रही न हो, पढकर मनन करनेवाला हो, गुरुकी और विद्याकी भक्तिविनय करनेवाला हो, गुरुकी आज्ञा माननेवाला हो—इत्यादि और भी पात्रताके सूचक गुण माने गये हैं। परंतु वे गुण यथासंभव हों तो भी अनुचित नहीं होता। इसीको पढाना अथवा अध्यापन अथवा वाचना कहते हैं।

पृच्छनास्वाध्यायका स्वरूप—

तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय च। परं प्रत्यनुयोगो यः पृच्छनां तद्विदुर्जिनाः॥ १८ ॥

अर्थ—जो वाचना द्वारा अध्ययन किया हो अथवा कररहा हो उसके शब्दमें, अर्थमें अथवा दोनोंमें संशय दूर करनेकेलिये अथवा उसका दृढ निश्चय होनेकेलिये जो गुरुसे अथवा सपाठी आदि से पूछना—विचारना इसका नाम जिन भगवानने पृच्छना कहा है। इसीको पढना भी कह सकते हैं।

---

१ "ग्रन्थस्य वाथ पद्यस्य" ऐसा पाठ था परंतु 'निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना' इस, वार्तिक के अनुसार ऊपरका पाठ शुद्ध समझा गया, २ 'परं प्रत्यनुयोगाय' ऐसा प्रथम पाठ था।

आम्नायस्वाध्यायका स्वरूप—

आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम् ।

अर्थ—पाठ कंठस्थ करनेकेलिये बार बार शुद्ध उच्चारण करना अथवा आवृत्ति करना—यह आम्नाय कहाता है। 'पाठ करना'—इस शब्दका यही अर्थ है।

धर्मदेशनास्वाध्यायका स्वरूप—

कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना ॥ १९ ॥

अर्थ—पूर्व पुरुषोंके चरित्र अथवा धर्मादि विषयोंका स्वरूप श्रोताओंको सुनाना सो धर्मदेशना है। धर्मोपदेश भी इसका दूसरा नाम है।

अनुप्रेक्षास्वाध्यायका स्वरूप—

साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत् । अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः ॥२०॥

अर्थ—जो तत्त्वज्ञान होचुका है उसका मनमें बार बार चिंतन करना—इसको जिनेन्द्रने स्वाध्याय कहा है। संवर व निर्जराको मुख्यतासे साधु ही करसकता है। इसलिये इस अधिकारमें अनेक बार साधुको अधिकारी बताया है। इसका अर्थ प्रमुखता ही लेना चाहिये। क्योंकि, गृहस्थ उक्त संवर निर्जराका उत्कृष्ट अधिकारी नहीं होसकता है; तो भी एकदेश यथा साध्य संवर निर्जराको वह भी करता ही है।

अनुप्रेक्षानामका स्वाध्याय पढनेके अंतमें चाहें जबतक होसकता है और ज्ञानवृद्धिका यही अंतिम उपाय है। इसलिये इसे अंतमें गिनाया है। तत्त्वार्थकर्ताने धर्मोपदेशको अंतमें गिनाया है। उसका यह मतलब है कि प्राप्त हुए श्रुतज्ञानका उपयोग सर्वसामान्यको कराना—यही श्रुतज्ञानका फल है। वह धर्मोपदेशद्वारा ही होसकता है। परन्तु उन्होंने भी पढने और पढानेके बादमें इस अनुप्रेक्षाको गिनाया है। इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि पठन-पाठनके अथवा वाचना—पृच्छनाके अंतमें ही इसका उपयोग होता है और उन दोनोंसे यह अधिक दृढताका कारण है। इस प्रकार स्वाध्याय तपके पांच स्वरूपोंका वर्णन हुआ।

1 दूसरे लोग जो श्रवणमनननिदिध्यासन ऐसे तीन भेद ज्ञानाभ्यासके करते हैं वे वाचना—पृच्छना—अनुप्रेक्षामें गर्भित होसकते हैं।

प्रायश्चित्तके भेद—

आलोचनं प्रतिक्रान्तिस्तथा तदुभयं तपः। व्युत्सर्गश्च विवेकश्च तथोपस्थापना मता ॥ २१ ॥ परिहारस्तथा छेदः प्रायश्चित्तभिदा नव।

अर्थ–(१) आलोचन, (२) प्रतिक्रमण, (३) आलोचन प्रतिक्रमणोभय, (४) व्युत्सर्ग, (५) विवेक, (६) उपस्थापना, (७) परिहार, (८) छेद (९) तप–ये नौ प्रायश्चित्तके भेद हैं। आवश्यकता और पात्रता जुदी जुदी होने से इन नौ भेदोंका उपयोग जुदा जुदा होता है सुवर्णकी शुद्धि जिस प्रकार तपाये विना नहीं होती उसी प्रकार तपके विना आत्माकी भी कर्म मलसे शुद्धि नहीं होती। परंतु यह प्रायश्चित्त, तप की भी शुद्धि करता है जैसे, संस्कारके विना अग्नि मलशोधनका काम नहीं कर सकती इसी प्रकार प्रायश्चित्तके विना तप कर्ममल शोधनेका काम नहीं करसकता है। इसीलिये इसको अंतरंगके एक जुदे भेदमें गिनाया है। दोष टालनेका उपाय–यह प्रायश्चित्तका सामान्य अर्थ है।

आलोचनका स्वरूप—

आलोचनं प्रमादस्य गुरवे विनिवेदनम् ॥ २२ ॥

अर्थ–गुरुके पास जाकर अपनेसे हुए प्रमादका सुनाना यह आलोचन है। आकंपितादि दोष न लगाते हुए यह निवेदन करना चाहिये।

जो दश दोष लग सक्ते हैं उनका स्वरूप—

(१) उपकरण देनेसे गुरु मेरे दोषके प्रायश्चित्तको हलका करदेंगे–ऐसा विचार कर पहिले कुछ दानदेना और फिर दोष निवेदन करना–यह प्रायश्चित्त का प्रथम दोष है।

(२) मैं असमर्थ हूं, दुर्बल हूं। उपवासादि कठिन तप नहीं कर सकूंगा। यदि आप कोई छोटासा प्रायश्चित्त दें तो मैं दोष निवेदन करता हूं। ऐसा बोलना फिर दोष कहना दूसरा दोष है।

---

१ महदपि तपः कर्म अनालोचनपूर्वकं नाभिप्रेतफलप्रदम्। कृतालोचनस्यापि गुरुदत्तप्रायश्चित्तमकुर्वतोऽपरिकर्मसस्यवन्महाफलं न स्यात्। कृतालोचनचित्तगतप्रायश्चित्तं परिस्पष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते। इति वार्ति०

(३) जिस दोषको किसीने देखा न हो उसे तो छिपा लेना और उस दोषको कह देना जो कि दूसरोंने देख लिया हो यह तीसरा मायाचार-दोष है।

(४) आलस्यके या प्रमादके वश होकर दोष निवेदन करनेमें उत्साह न रखना, किंतु आवश्यकता समझकर मोटे २ कह देना यह चौथा स्थूल दोष प्रतिपादन नामा प्रायश्चित्त दोष है।

(५) महादोषका प्रायश्चित्त भी दुर्धर होगा-ऐसा विचारकर उस प्रायश्चित्तसे डरता हुआ बडे दोषको यदि छिपा ले और नित्यक्रमानुसार प्रमादाचारका निवेदन करदे तो प्रमादाचार विबोधन नाम पांचवां दोष लगता है।

(६) गुरूसे ऐसी तरह पूछे कि महाराज, ऐसे दोषका क्या प्रायश्चित्त होता है। इस तरह पूछकर प्रायश्चित्त करले परन्तु गुरू आदिको मालूम न होने दे यह गुरूपासना नाम छठा दोष है।

(७) सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आदिके समय कोलाहल अधिक उठने पर अपने पूर्वदोषका निवेदन कर दे, जिससे कि कोई सुनने न पावे। यह सातवां शब्दाकुलित नाम दोष है।

(८) गुरूके बता देने पर भी उस प्रायश्चित्तमें शंका समझकर दूसरोंसे पूछे कि इस दोषका प्रायश्चित्त ऐसा ही होना चाहिये ? या कोई दूसरा होना चाहिये इसे अन्यसाधुपरिप्रश्न नामका आठवां दोष कहते हैं।

(९) कुछ बहाना बताकर यदि किसी अपने समान साधुसे ही प्रायश्चित्त पूछकर कर लिया जाय तो वह बडा प्रायश्चित्त भी फलीभूत नहीं होता। इसलिए यह भी एक दोष है।

(१०) अपने दोषके समान दूसरोंका दोष आलोचित होते हुए सुनकर उसीके प्रायश्चित्तको आप धारण करले परंतु अपना दोष प्रगट न करे। यह स्वदुश्चरितसंवरण नाम दशवां दोष है।

इनके सिवा और भी बहुतसे दोष हैं। परन्तु ऐसे सब दोष लगते तभी हैं जब कि मायाचार पूर्वक प्रायश्चित्त करता हो। यदि सरल भावोंसे आलोचनादि करे तो कोई भी दोष नहीं लगता है।

प्रतिक्रमण और तदुभयका स्वरूप—

अभिव्यक्तप्रतीकारं मिथ्या-मे-दुष्कृतादिभिः। प्रतिक्रान्तिस्तदुभयं संसर्गे सति शोधनात् ॥२३॥

अर्थ—मेरा अमुक दुष्कृत-पाप मिथ्या हो—इत्यादि शब्दोंद्वारा किसी पापका प्रतीकार करना प्रगट दिखाया जाय सो

प्रतिक्रमण है। पाप होजानेपर उसके पछितावेको प्रकाशित करना-यह प्रतिक्रमणका अर्थ है। कोई प्रबल दोष दोनो क्रिया किये विना छूटता नहीं दीखता तब आलोचन और प्रतिक्रमण ये दोनो करने पडते हैं-इसका नाम तदुभय अथवा आलोचनप्रतिक्रमणोभय है।

तपप्रायश्चित्तका स्वरूप—

भवेत्तपोऽवमोदर्यं वृत्तिसंख्यादिलक्षणम्।

अर्थ—अवमोदर्य तथा वृत्तिपरिसंख्यान आदि जो पहिले तप कहे हैं वे ही तप किसी दोषका प्रायश्चित्त करनेकेलिये जब धारण किये जाते हैं तब तप नाम प्रायश्चित्त कहेजाते हैं।

व्युत्सर्गका स्वरूप—

कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः परिभाषितः॥ २४॥

अर्थ—कायोत्सर्ग उसे कहते हैं जो कि प्रतिमायोग आदि धारण करते समय शरीरसे ममत्व छोडा जाता है। कायोत्सर्ग आदि क्रिया प्रायश्चित्तकी इच्छासे की जाय तो उन्हें व्युत्सर्ग कहते हैं।

विवेक प्रायश्चित्तका स्वरूप—

अन्नपानौषधीनां तु विवेकः स्याद् विवेचनम्।

अर्थ—संसक्त जो अन्न, पान अथवा औषधि उनका विभाग करके ग्रहण करना—यह विवेक नामका प्रायश्चित्त है।

उपस्थापना प्रायश्चित्तका स्वरूप—

पुनर्दीक्षाप्रदानं यत् सा ह्युपस्थापना भवेत्॥ २५॥

अर्थ—कोई महान् दोष लगजेपर आजतक का तपनष्ट करके फिरसे यदि साधु नया दीक्षित बनाया जाय तो उस प्रायश्चित्तको उपस्थापना कहते हैं।

परिहारप्रायश्चित्तका स्वरूप—

परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम्।

अर्थ—महीने पंद्रह दिन आदि कुछ नियत समयकेलिये संघमेंसे निकाल देनेको परिहार प्रायश्चित्त कहते हैं।

छेदप्रायश्चित्तका स्वरूप—

प्रव्रज्याहापनं छेदो मासपक्षदिनादिना ॥ २६ ॥

अर्थ—एक दिन या महीना-पंद्रह दिन आदि कुछ समय दीक्षाके दिनोंमेंसे कम करदेनेको छेद प्रायश्चित्त कहते हैं। ये नौ भेद प्रायश्चित्तके हैं।

वैयावृत्त्य-अंतरंग तपके भेद—

सूर्युपाध्यायसाधूनां शैक्षग्लानतपस्विनाम्। कुलसंघमनोज्ञानां वैयावृत्त्यं गणस्य च ॥२७॥
व्याध्याद्युपनिपातेपि तेषां सम्यग् विधीयते। स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते ॥२८॥

अर्थ—किसीके कष्टको दूर करना सो वैयावृत्त्य है। कोई कष्ट तो शरीरका श्रम करनेसे दूर हो सकते हैं कोई दूसरे प्रकारसे हो सकते हैं। जैसे, कोई थक गया हो तो उसका शरीर दबानेसे थकावट दूर हो सकती है। यह काम शरीरके श्रमसे ही सिद्ध हो सकता है। अथवा, किसीको कुछ उपसर्ग हो रहा हो तो वह अपने शरीरके प्रयत्नसे दूर हो सकता है। यदि कोई रोगी है तो उसको औषध देनेसे उसका कष्ट दूर होगा। कोई भयभीत हो रहा हो तो उसको वचनोंसे धैर्य बंधाने पर वह भयसे मुक्त हो सकता है। प्रयोजन यहां यह है कि किसी भी भांत दूसरोंका कष्ट दूर करना चाहिये। इसीको वैयावृत्त्य कहते हैं।

१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ साधु, ४ शिष्य, ५ ग्लान, ६ तपस्वी, ७ कुल, ८ संघ, ९ मनोज्ञ, १० गण—साधुओंके ये दश भेद हैं। इन दशो प्रकारके साधुओंका वैयावृत्त्य जैसे हो सकता हो वैसे करना चाहिये। इनको कोई व्याधि अथवा उपसर्गादि होने लगा हो तो उसका निर्दोष रीतिसे प्रतीकार करना चाहिये। जहां तक अपनी शक्ति हो वहां तक करना चाहिये। इसीका नाम वैयावृत्त्य है। वैयावृत्त्यमें कोई विशेष भेद नहीं है परन्तु जिनका वैयावृत्त्य करना चाहिए उनके दश भेद ऊपर कहे हैं इसलिये उपचारवश वैयावृत्त्यके ये भेद मानलिये गये हैं।

१ संघके स्वामी होते हैं उन्हें सूरी या आचार्य कहते हैं। २ शिक्षा देनेवाले अथवा पढानेवाले साधुओंको उपाध्याय

कहते हैं। ३ बहुत पुराने तपस्वियोंको साधु कहते हैं। ४ पढने सीखनेवालोंको शिष्य अथवा शैक्ष्य कहते हैं। ५ रोगी मुनियोंको ग्लान कहते हैं। ६ बडे बडे उपवासादि तप करनेवालोंको तपस्वी कहते हैं। ७ आचार्यके शिष्य समूहको कुल कहते हैं। ८ ऋषि मुनि अनगार तपस्वी इन चारोके समुदायको संघ कहते हैं। जैसे, गृहस्थोंमें ब्राह्मणादि चार वर्ण होते हैं वैसे ही साधुओं में ऋषि आदि चार प्रकार होते हैं। उन्हें भी चार वर्ण कहते हैं। ऋषि आदि चारो प्रकारके साधुओंके लक्षण जुदे जुदे होते हैं। ९ लोकमें जिसकी मान्यता अधिक हो, जो महाकुलमें उत्पन्न हुआ हो, वडा विद्वान हो, वक्ता हो उसे मनोज्ञ कहते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं। १० वृद्ध साधुओंके समूह को गण कहते हैं।

इन दश भेदों में से नौ तो साधुओंके ही भेद हैं। और एक मनोज्ञ ऐसा है कि जिसमें गृहस्थ व साधु दोनों का अंतर्भाव किया है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टिको भी मिथ्यात्वादि दोषोंसे वचाने के लिये वैयावृत्त्य होने योग्योंमें गर्भित करते हैं।

इन दशोंमेंसे किसीको भी रोग होजाय परीषह या उपसर्ग आजाय अथवा मिथ्यात्वका दोष होता दीखे तो प्रासुक औषध देकर, भोजनादि कराकर, रहने के लिये स्थान देकर विछोना आसनादि देकर और भी जैसे होसके वैसे उपचार करके शरीर स्वस्थ करना तथा धर्ममें दृढ करना चाहिये। यह सव वैयावृत्त्यका स्वरूप है।

व्युत्सर्गतप—

वाह्यान्तरोपधित्यागाद् व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत् । क्षेत्रादिरुपधिर्बाह्यः क्रोधादिरपरः पुनः ॥२९॥

अर्थ—दूसरे पदार्थमें वल उत्पन्न करनेवाला जो अन्य वस्तु उसे उपधि अथवा उपाधि कहते हैं। दूसरोंको भी जो पदार्थ जुदा दीखे वह वाह्य उपाधि है। क्रोधादि अंतरंग भावोंको अंतरंग उपाधि कहा है। इन दोनो उपाधियोंके छोडनेको व्युत्सर्ग कहते हैं। उपाधि दो प्रकारकी हैं इसलिये व्युत्सर्ग के भी दो भेद होजाते हैं। पहिलेका नाम बाह्योपधिव्युत्सर्ग है। दूसरेका नाम अभ्यंतरोपधिव्युत्सर्ग है। शरीरसे ममत्वसंवंध छोडनेको भी अभ्यंतरोपाधिव्युत्सर्ग कहते हैं। शरीरसे ममत्वसंवंध एक तो कुछ समयकेलिये ध्यानावस्थामें छूट जाता है दूसरा यावज्जीवन त्याग होता है जो कि सल्लेखनासमाधिके समय किया जाता है।

१ व्यावृत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् । वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोन्योपि संयमिनाम् ॥ ११२ । रत्नक० ।

दीक्षाके समय भी बाह्य अभ्यंतर उपाधियोंका त्याग किया जाता है परंतु उस समय उपस्थित धन धान्यादि वस्तुओंके त्यागका अभिप्राय मुख्य रहता है। यहांपर तो ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जो कि छोडने योग्य हो। तो भी कषाय मंद करनेकेलिये, ध्यानसिद्धिकेलिये शरीरादिकोंसे ममत्व हटानेका प्रयोजन इसमें सिद्ध होता है। इसलिये इसे जुदा कहा है। धर्मोंमें भी त्याग-धर्म आगया है। परंतु वहांपर आहारादि दान करना त्यागका अर्थ होता है। इसलिये उससे भी यह एक निराला सिद्ध होजाता है। प्रायश्चित्तोंमें जो व्युत्सर्ग कहा जाता है उसका अर्थ और इसका अर्थ स्वरूपसे तो जुदा नहीं होता है परंतु प्रयोजन दोनोंके जुदे जुदे हैं। प्रायश्चित्तोंमें जो व्युत्सर्ग है वह व्रतोंके अतीचारदोष दूर करनेके लिये है यहांपर जो व्युत्सर्ग है वह किसी प्रतिद्वन्द्वीके हटानेकी इच्छासे नहीं है किंतु उत्साहके बढानेकेलिये है और उत्तरोत्तर गुणोंमें वृद्धि होनेकेलिये है। इसलिये व्युत्सर्गतप एक जुदा ही तप है जिसका कि दूसरे किसी भी व्रतमें या धर्मादिकमें अंतर्भाव नहीं होसकता है। व्युत्सर्ग तपके करनेसे ममत्व छूट जाता है, परिणाम निर्मल होजाते हैं, जीवनकी आशाका अभाव होजाता है, दोष दूर होते हैं, मोक्षमार्गकी भावना सुदृढ होजाती है। इत्यादि अनेकों इसके फल हैं।

विनयतपके भेद—

दर्शनज्ञानविनयौ चारित्रविनयोऽपि च। तथोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः ॥३०॥

अर्थ—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय और उपचारविनय, विनयके ये चार भेद हैं।

दर्शनविनयका स्वरूप—

यत्र निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता भवेत्। श्रद्धाने सप्ततत्त्वानां सम्यक्त्वविनयः स हि ॥३१॥

अर्थ—जहांपर सातो तत्त्वोंका श्रद्धान ऐसा दृढ हो और यथार्थ हो कि शंकादि दोषोंका लेश भी न दीख पडे। इस प्रकार निःशंकादि गुणोंसे युक्त सम्यग्दर्शन रखना सो सम्यग्दर्शन विनय है। सम्यक्त्वविनय या दर्शनविनय भी इसीको कहते हैं।

ज्ञानविनयका स्वरूप—

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यासस्मरणादीनि कुर्वतः। बहुमानादिभिः सार्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत्॥३२॥

अर्थ—बहुमानपूर्वक आलस्यरहित शुद्धान्तःकरण द्वारा देशकालकी विशुद्धि रखते हुए मोक्षोपयोगी ज्ञान का स्वीकार करना, ज्ञानका अभ्यास करना, ज्ञानका स्मरण रखना—यही ज्ञानविनय है।

चारित्रयविनयका स्वरूप——

दर्शनज्ञानयुक्तस्य या समीहितचित्तता। चारित्रं प्रतिजायेत चारित्रविनयो हि सः ॥ ३३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होते हुए जो चारित्र निर्मल करने की इच्छा प्रगट हो, चारित्रमें भक्ति उत्पन्न हो, चारित्र की तरफ लक्ष्य जाने पर रोमांच व हर्ष उत्पन्न हो सो चारित्रविनय है। भाव सदा चारित्ररूप रखना यह भी चारित्रविनय ही है।

उपचारविनयका स्वरूप——

अभ्युत्थानानुगमन-वन्दनादीनि कुर्वतः। आचार्यादिषु पूज्येषु विनयो ह्यौपचारिकः ॥ ३४ ॥

अर्थ——अपने पूज्य आचार्य उपाध्याय आदि प्रत्यक्ष हो जाने पर उनके लिये उठ खडे होना उनके पीछे २ चलना, उनकी वंदना करना हाथ जोडना इत्यादि कृतिको उपचार विनय कहते हैं। उनके परोक्ष रहने पर भी गुणानुवाद गाना, हाथ जोडना, गुण चिंतवन करना सो भी उपचार विनय ही है। पूजाके कारण गुण होते हैं। इसलिये साक्षात् सम्यग्दर्शनादि गुणोंका विनय तो सम्यग्दर्शनादिकोंको निर्मल धारण करनेसे होता है, परन्तु उन गुणोंके कारण पूजना यह गुणोंके साथ उपचरित संबंधद्वारा सिद्ध होता है इसलिये इसे उपचार विनय कहते हैं। विनय तपके होनेसे ज्ञानका लाभ हो सकता है, आचार विशुद्ध हो जाता है, दर्शनादि आराधनाओंकी सिद्धि हो सकती है। धर्मकी पात्रता विनय गुणके ही रहनेसे हो सकती है। अविनीत मनुष्यमें कोई भी गुण प्रवेश नहीं करते हैं। विनयतपकी इसीलिये आवश्यकता है। इस प्रकार स्वाध्याय आदि पांच अंतरंग तपोंका स्वरूप हो चुका।

अब ध्यानोंके हेयोपादेय भेद कहते हैं——

आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्। ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोंगमुभयं भवेत् ॥३५॥

१ बहुमाने समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम्।

अर्थ—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान इस प्रकार ध्यानके चार भेद हैं । इनमेंसे अंतके दो ध्यान मोक्षके कारण और तपमें गर्भित हैं। पहिले दोनों संसार वृद्धिके कारण होते है इसलिये वे हेय हैं ।

आर्तध्यानका भेदपूर्वक स्वरूप—

प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये। आर्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥३६॥

अर्थ—१ इष्टका नाश हो जाने पर, वह इष्ट मुझे कैसे प्राप्त हो, ऐसी जो चिंता शुरू होती है उसे इष्टवियोगज नाम आर्तध्यान कहते हैं। यह प्रथम आर्तध्यानका भेद है। २ अनिष्ट वस्तुका संयोग हो जाने पर उसे दूर हटानेकी चिंताको अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान कहते हैं । यह दूसरा भेद है । ३ अप्राप्तपूर्व वस्तुओंके प्राप्त होनेकी आकांक्षाको निदान कहते हैं। यह आर्तका तीसरा भेद है। ४ दुःखकी वेदना होनेपर अधीर होकर उससे मुक्त होनेकी चिंता करना सो वेदनाजनित चौथा आर्तध्यान है। आर्तध्यानके ये चार भेद हैं यद्यपि इष्ट वियोगज आर्तध्यानमें निदानका समावेश करनेकी इच्छा हो सकती है परन्तु वे दोनों भिन्न २ हैं। प्राप्त हुए इष्ट का वियोग होजाने पर पुनः प्राप्त करनेकी चिंतामें लगनेसे इष्टवियोगज आर्तध्यान होता है। निदान वहां पर होता है जिसकी कि प्राप्ति हुई ही नहीं है। केवल उसके संकल्पसे जीव लालायित बनता है। निदानमें भी जो वस्तु चाही जाती है वह इष्ट अवश्य होती है परंतु वह अभी तक प्राप्त ही नही हुई है तो उसका वियोग कैसा ? अथवा पूर्वजन्मादिकमें प्राप्त भी हुई हो परंतु अब प्राप्त होनेकी सी समझ कहा है ? क्योकि; विस्मरणरूप समारोपद्वारा भूल जानेसे अब वह नवीन ही माननी चाहिये । यदि ऐसा न हो तो संसारमें कोई चीज नवीन ही न रहै। इसलिये निदान व इष्टवियोगज आर्तध्यानमें परस्पर फर्क है।

इसी प्रकार अनिष्टसंयोगज और वेदनामें भी फर्क है। क्योंकि, वेदना स्वयं दुःखरूप है और अनिष्टसंयोग दुःखका कारण होता है। जैसे, विष या शस्त्र, शत्रु आदिक संबंध दुःखका कारण होनेसे अनिष्ट माना जाता है। मनुष्य आगामी दुःखोत्पत्तिकी आशंका करके डरते हैं और उस कारणके हटानेकी चिन्तामें लगते हैं । परन्तु वेदना स्वयं दुःखरूप है। इसलिये इसके होनेसे जीव स्वस्थ नहीं रह पाता है। अतएव इसे हटानेकी चिंतामें लगता है। इस प्रकार अनिष्ट संयोग और वेदना भिन्न भिन्न हैं।

रौद्रध्यानके भेद व स्वरूप—

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे। रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥ ३७ ॥

अर्थ—क्रोधादि कषायपूर्वक हिंसा करनेमें रत होना, झूठ बोलनेमें रत होना, चोरी करनेमें रत होना या विषयोंकी रक्षा करनेमें मगन होना सो रौद्र ध्यान है हिंसा, झूठ, चोरी, विषयसंरक्षण-ये विषय भिन्न भिन्न होनेसे ध्यान भी चार होजाते हैं; [१] हिंसानंद, [२] मृषानंद, [३] स्तेयानंद, [४] विषयसंरक्षणानन्द ।

ध्यानका लक्षण व उत्कृष्ट कालप्रमाण—

एकाग्रत्वेऽतिचिन्ताया निरोधो ध्यानमिष्यते। अन्तर्मुहूर्ततस्तच्च भवत्युत्तमसंहते: ॥ ३८ ॥

अर्थ—अनेक विषयोंमें जो चिंता पसर रही है उसका निरोध करके एक विषयमें स्थिर करना सो ध्यान है। उत्तम संहननवाले जीवमें वह ध्यान अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं टिकता है। जो जीव हीनसंहननवाले हैं उनका ध्यान उनसे भी कम समय तक रहसकता है। यह कालकी मर्यादा है। एकवार लगाया हुआ ध्यान अंतर्मुहूर्ततक टिक कर जब छूटता है तभी दूसरा तीसरा क्रमसे होजाय तो ध्यानका संतान चिर कालपर्यंत भी रह सकता है।

उत्तम संहनन तीन होते हैं। [१] वज्रर्षभनाराचसंहनन, [२] वज्रनाराच, [३] नाराच। इन तीन संहननोंमेंसे भी मोक्षोपयोगी सबसे प्रथम संहनन ही है[१]। शेष दो संहनन द्वारा ध्यान होता है वह कर्मोंका विशेष नाश नहीं कर सकता है। संहननका अर्थ कहचुके हैं।

दूसरे लोग ध्यानकी सिद्धिके उपाय यम नियम प्राणायाम इत्यादिकों को बताते हैं। परंतु जैनसिद्धांतानुसार यम नियमादिकोंका निषेध नहीं है तो भी ध्यानसिद्धिके मुख्य उपाय गुप्ति समिति आदिक हैं। गुप्ति समिति आदिकों का स्वरूप प्रथम कहचुके हैं। गुप्त्यादि प्रथम कहनेका हेतु ही यह है कि वे गुप्त्यादि सध जांय तब ध्यानसिद्ध होसके।

यहांपर प्रकरण मोक्षमार्गका होनेसे शुभध्यानोंके कहनेकी मुख्यता है इसीलिये आनुषंगिक आर्तरौद्र अशुभ ध्यानोंको नाममात्र गिनाकर शुभध्यानोंके प्रथम ध्यानका लक्षण किया है।

---

१ आद्यं संहननत्रयमुत्तमम्। तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव। इति वार्ति०।

धर्मध्यानके भेद—

आज्ञापायविपाकानां विवेकाय च संस्थितेः। मनसः प्राणिधानं यद्धर्म्यध्यानं तदुच्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—धर्मयुक्त[1] मनकी एकाग्रताको धर्म्यध्यान कहते हैं। विवेक, विचार, विचिति, विचय इन शब्दोंका अर्थ एक ही है। वह अर्थ यह है कि विचार[2] करना। आज्ञाका अपायका विपाकका और संस्थानका विचार[3] करनेके लिये धर्म्यध्यानमें मनकी एकाग्रता होती है। आज्ञादि विषय चार होनेसे धर्म्यध्यानके चार भेद होजाते हैं।

आज्ञाविचयधर्म्यध्यान—

प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम्। गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचयमुच्यते ॥४०॥

अर्थ—सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण मानकर गहन सूक्ष्म पदार्थोंका निश्चय करना अर्थात् श्रद्धान करना-यह आज्ञा विचय धर्म्यध्यान है।

[१] इस ध्यानके पहिले भेदको आज्ञाविचयधर्म्यध्यान कहते हैं। आगमकी प्रमाणता मानकर जो अर्थका निश्चय करना यह आज्ञाविचय है। ऐसा आज्ञाविचय तब होता है जब कि अपना ज्ञान मंद हो और उपदेशक कोई दीखता न हो, पदार्थ अतिसूक्ष्म होनेसे वहां पर हेतु तथा दृष्टान्तका मिलना कठिन होगया हो। उस समय सर्वज्ञप्रणीत मार्गको प्रमाण मानकर जो दृढ निश्चय करना सो आज्ञाविचय[4] है। यह आज्ञाविचय अथवा आज्ञाविचार बराबर कुछ देरतक चलता रहे तो एकाग्रचितानिरोध होजानेसे ध्यान कहाजाता है। अथवा[5] अपनेको सर्वज्ञकी आज्ञा[6] और मार्ग मालूम है। परंतु जो उस आज्ञाको न स्वीकार करता हो उसे कथमार्गके आश्रयसे तर्क हेतु दृष्टान्त नय प्रमाण आदिके द्वारा सिद्ध करके बताना और लोगोंमें उस आज्ञाका प्रकाश तथा सत्यपना प्रसिद्ध करना-यह भी आज्ञाविचयधर्म्यध्यानका ही अर्थ है।

१ धर्मादनपेतं धर्म्यम्। (इति वार्ति०) २ विचयस्तत्र मीमांसा प्रमाणनयतः स्थितः। तस्मिश्चिन्नाप्रबन्धो नुश्चिन्तान्तरनिरोधतः॥ (श्लोकवा:) ३ तदर्थम् [आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयार्थम्] आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय। ४ आगमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः। ५ अथवा विदितस्वपरसमयपदार्थनिर्णयस्य अर्थं प्रतिपिपादयिषतस्तत्समर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः, सार्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः इति वार्ति०। ६-तत्राज्ञा द्विविधा हेतुवादेतरविकल्पतः। सर्वज्ञस्य विनेयान्तःकरणायसवृत्तय.। (इति श्लोकवा०)

अपायविचय—

कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः। अपायमिति यां चिन्ता तदपायविचारणम् ॥४१॥

अर्थ—सुखके विरुद्ध मार्गोंमेंसे ये प्राणी हटकर सुमार्गमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं? इस प्रकार दुःखी संसारी जीवों के दुःख दूर होनेका चिंतवन और सुखमें प्रवृत्त करनेके उपायका चिंतवन करना अपायविचार अथवा अपायविचय धर्म्य ध्यान है। दुःख दूर होनेका नाम यहां अपाय है। उसका विचार करना सो अपाय विचय है। सन्मार्गमें प्रवृत्ति करानेका उपाय विचारना भी इसी ध्यान में होता है। इसलिये उपायविचय भी इसीका दूसरा नाम हो सकता है। परंतु प्रतिपक्ष की मुख्यतासे अपायविचय नाम बोला जाता है।

[२] सत्य जैनमार्गके अपायका चिंतवन करना सो अपायविचयधर्म्यध्यान है। जैसे कोई अंधा मनुष्य जंगलमें पडा हो और किसी ग्रामकी तर्फ जाना चाहता हो तो कोई मार्गदर्शक न मिलनेपर यों ही इधर उधर भटकता रहेगा। उसका इष्ट स्थानमें पहुंचना कठिन है। इसी प्रकार जैन धर्मका अवलंबन न हो तो मोक्षके सुखसे जीव सदा ही वंचित रहेगा। संसारमें ऐसे जीव बहुत हैं जो कि आत्यंतिक सुख चाहते हैं परतु सचे उपायोंको नहीं जानते इसलिये इष्ट विषयको प्राप्त नहीं करसकते हैं। उनका भटकना अंधेके समान है। वे जीव संसारमें ही भटकते हैं और दुःखी होते हैं। ऐसे चिंताप्रबंधको अपायविचय धर्म्यध्यान कहते हैं।

विपाकविचय—

द्रव्यादिप्रत्ययं कर्मफलानुभवनं प्रति। भवति प्रणिधानं यद्विपाकविचयस्तु सः ॥४२॥

अर्थ—कर्मकी स्थिति पूरी हो जाने पर भी जो कर्मका फल प्राप्त होता है उसके लिये निमित्त कारण, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होते हैं। उन निमित्तोंके वश होकर ही कर्म फल दे सकते हैं। निमित्तोंकी प्रबलता हो तो कर्म स्थिति पूर्ण होनेसे पहिले

---

१ 'अपायमिति वा' ऐसा पाठ भी हो सकता है। तब अर्थ ऐसा होगा कि जन सन्मार्गमें कैसे प्रवृत्त हों अथवा उन्मार्गसे दूर कैसे हों। अर्थात् 'या' की जगह 'वा, रखनेसे विधिमुख व निषेधमुख ऐसे दो पक्ष सिद्ध हो जाते हैं। यही भाव टि० न० २ में श्लोक वार्तिकका दिखाया है। २ असन्मार्गादपाय स्यादनपाय स्वमार्गत। स एवोपाय इत्येष ततो भेदेन नोदितः। (श्लोकवार्तिक)

भी उदीर्ण हो जाते हैं। स्थिति पूर्ण होने से पहिले जो फल भोगनेमें आ जाता है उसे उदीरणा कहते हैं। स्थिति पूर्ण करके यदि फल भोगा जाय तो उसे उदय कहते हैं। चाहे उदय रूप फल भोगा जाय और चाहें उदीरणारूप परन्तु फल भोगनेपर निर्जरा अवश्य हो जाती है। निमित्त होने पर उदयकालमें फल तो सभी कर्मोंका होता है परन्तु कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका अनुभवयोग और नामानुसार फल उदीरणा होनेपर ही होता है। जैसे मैथुनमें प्रवृत्ति होना वेद कर्मका कार्य है परन्तु यह वेदकी उदीरणा होने पर ही होता है। वेदका उदय सदा ही रहता है। परंतु सदा मैथुनमें प्रवृत्ति नहीं होती। इत्यादि विचारमें एकाग्रता होना विपाकविचय धर्मध्यान है।

संस्थानविचय—

लोकसंस्थानपर्यायस्वभावस्य विचारणम्। लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत् ॥४३॥

अर्थ—लोकके संस्थानका विचार करना सो संस्थानविचय धर्म्य ध्यान कहाता है। १ आकाशके ठीक बीचमें अकृत्रिम स्वभाव वाला वेत्रासन झल्लरी मृदंग समान अथवा पुरुषाकार लोकका आकार है। नीचेसे ऊपर तक चौदह राजू ऊंचा है। उत्तर-दक्षिण दिशाओंमें सर्वत्र सात राजू विस्तीर्ण है। पूर्व-पश्चिममें नीचे सातराजू विस्तीर्ण है। ऊपर की तर्फ सातराजूपर्यंत प्रमाण घटता हुआ मध्यलोकमें एक राजू विस्तीर्ण रह गया है। फिर ऊपरकी तर्फ साढे तीन राजू की ऊंचाई पर्यंत विस्तार बढता गया है। वह विस्तार पांचवें स्वर्गकी जगह पांच राजू प्रमाण हो गया है। फिर ऊपरकीतर्फ विस्तार घटने लगा है। सो अंतमें एक राजू विस्तार रह गया है। ऊर्ध्वलोकमें सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक तथा अनुदिश अनुत्तर विमानोंकी रचना है और अंतमें सिद्धस्थान है। नीचे सात राजू गहरा अधोलोक है जिसमें कि सात मुख्य और उनंचास अवांतर नरक स्थान हैं। सर्वत्र प्रत्येक नरकादिकोंके नीचेकी तर्फ तथा समग्र लोकके चौगिर्द तीन २ वायु मंडल है। उस वायु मंडलपर्यंत लोकका घनाकार देखा जाय तो तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण होता है। इस प्रकार लोकसंस्थान है। इसका विचार करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान है।

१ सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ। सो केणवि णत्थि कओ णय धरिओ हरिहरादीहिं ॥ सत्तेक्कपंच इक्का मूले मज्झे तहेव बंभंते। लोयंते रज्जूओ पुव्वावरदो य वित्थारो ॥ दक्खिणउत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवेइ सव्वत्थ। उड्ढो चउदस रज्जू। सत्त विरज्जूघणोलोअ। ॥ मेरुस्स हिट्ठभाए सत्त विरज्जू हवे अहोलोओ। उड्ढम्मि उड्ढलोओ मेरुसमो मज्झिमोलोओ ॥ ११५-१२० (इति लोकानुप्रेक्षा कार्तिकेयकृता)

(२) लोकमें जो वस्तुओंका स्वभाव दीख पड़ता है उसका विचार करना भी संस्थानविचय धर्म्यध्यानमें गर्भित होता है क्योंकि अमूर्तीक लोकका तो सस्थान दीख ही नहीं सकता है। इसलिये लोकमें स्थित जो जीवपुद्गलोंके पर्याय हैं उन्हींको लोक कह सकते हैं। अतः उनके स्वभावका चिंतवन करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान होसकता है। लोकमें आलोकित होनेवाली चीजोंका जो निरनिराला तथा समुदायरूप जो आकार हो वही लोकका संस्थान है। निरनिराला आकार—जैसे, मेरुपर्वतका आकार, विन्ध्यादि पर्वतोंका तथा नदी, ग्राम, नगर आदिका आकार—ये सर्व लोकके ही आकार हैं। सामान्य आकार—जैसे तीनों लोक पुरुषाकार। इत्यादि सर्व लोकके ही आकार हैं।

(३) लोकमें स्थित मनुष्यादि प्राणियोंके शरीर प्रमाणादि भी लोक सस्थानरूप ही हैं। इसलिये उनका विचार करना भी संस्थानविचय धर्म्यध्यान ही समझना चाहिये।

(४) लोकगत द्वीप समुद्रादि वस्तुओंकी संख्याका-चिंतवन करना, उनका रचनाविशेषपर विचार करना सो भी संस्थानविचय धर्म्यध्यान ही है। इस प्रकार लोकके संस्थानका विचार चार विकल्पसे होसकता है। इसलिये ऊपरकी चारों बातोंपर विचार करना—उसके चितवनमें रत होना सो सर्व सस्थानविचय धर्म्मध्यान कहाता है।

लोकके संस्थानको ही संस्थानशब्दसे यहांपर लेते हैं। वह लोक लोकानुयोगमें विस्तारके साथ बताया है। इसलिये लोकानुयोगके अनुसार संस्थानका चिंतवन करना चाहिये।

यद्यपि अनुप्रेक्षा और ध्यानमें कोई अंतर नहीं है परन्तु दोनोंके फल भिन्न भिन्न हैं। अनुप्रेक्षाका फल यह है कि अनित्यता आदिका चिंतवन करके विषयोंसे उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न की जाय और बढाई जाय। इस ध्यानका फल यह है कि चित्तको अनेक विषयोंमेंसे हटाकर स्थिर किया जाय। इसलिये अनुप्रेक्षा लिख चुकनेपर भी इस ध्यानका स्वरूप लक्षण व भेद दिखाकर जुदा लिखा है।

१ लोकः संस्थानभेदाद्वा स्वभावाद्वा निवेदितः। तदाधारो जनो वापि मानभेदोऽपि वा क्वचित् ॥ लोकस्याधो मध्योर्ध्वभेदस्य संस्थानं सन्निवेशो लोकस्य । ...स्वभावस्य च लोकस्य संस्थानं प्रति द्रव्यस्याकृतिः, तदाधारस्य च जनस्य लोकस्य संस्थानं स्वोपात्तशरीरपरिमाणाकारो. मानभेदस्य च संख्याविशेषाकारः संस्थानम् तस्य निचयः संस्थानविचयः। इति श्लोकवार्तिकः।

...ध्याय
सार
३७७

शुक्लध्यानके भेद—

शुक्लं पृथक्त्वमाद्यं स्यादेकत्वं तु द्वितीयकम् । सूक्ष्मक्रियं तृतीयं तु तुर्यं व्युपरतक्रियम् ॥४४॥

अर्थ—अत्यन्त मन्द संज्वलनकषाय रह जानेपर जब जीव श्रेणीपर आरूढ होता है तबके जीवके परिणाम अत्यन्त एकाग्र होते हैं। उन परिणामोंकी एकाग्रताको शुक्लध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं। (१) पृथक्त्ववितर्क वीचार, (२) एकत्ववितर्क वीचार, (३) सूक्ष्मक्रिया—प्रतिपाती, [४] व्युपरतक्रियानिवर्ती।

पृथक्त्ववितर्कवीचारका स्वरूप—

द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत्त्रिभिः। शान्तमोहस्ततो ह्येतत् पृथक्त्वमिति कीर्तितं ॥४५॥

अर्थ—द्रव्योंके जुदे जुदे भेदोंको तीनों योगद्वारा योगी इस ध्यानके समय चिंतता है इसलिये इसे पृथक्त्व नाम प्राप्त हुआ है। इस ध्यानका पात्र योगी तब होसकता है जब कि शांतमोह होगया हो। जब तक मोहकी अवस्था शांत नहीं हुई तबतक शुक्लध्यानमें प्रवेश नहीं होता है। यह पृथक्त्व विशेषण प्राप्त होनेका कारण हुआ।

वितर्कविशेषणका कारण—

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः। पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥४६॥

अर्थ—पृथक्त्वका स्वरूप ऊपर कहा है। श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। श्रुतज्ञानके बारह भेदोंमेंसे अंतिमभेदका नाम दृष्टिवाद है। उसके चौदह भेद कहे गये हैं। उन्हींको चौदह पूर्व कहते हैं। इसलिये चौदह पूर्वका जिसे ज्ञान हो उसे पूरा श्रुतज्ञानी कहसकते हैं। श्रुतज्ञानी योगी ही श्रुतज्ञानके आश्रयसे श्रेणीके प्रारम्भसे दशवें गुणस्थानके अंततक द्रव्यगुण पर्याय आदि नानाभेदरूप वस्तुओंका ध्यान करते हैं इसलिये इस शुक्लध्यानको सवितर्क कहा है।

यद्यपि श्रुतज्ञानी ही इसके अधिकारी होते हैं परन्तु शुक्लध्यानके आरम्भ करनेवाले सभी योगी पूर्णश्रुतज्ञानी नहीं हो सकते हैं। इसलिये श्रुतज्ञानकी यहांके योग्य जघन्य मर्यादा भी बतादी गई है। वह मर्यादा तीन गुप्ति और पांच समिति हैं। इसी मर्यादाको आठ प्रवचनमाताके नामसे भी कहा है।

तीसरा विशेषण—

अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो मतः। वीचारस्य हि सद्भावात् सवीचारमिदं भवेत् ॥४७॥

अर्थ—द्रव्यगुणपर्यायोंके समुदायको अर्थ कहते हैं। व्यंजन नाम शब्दका है। योग आत्मप्रदेशचंचलताको कहते हैं। ये तीनो वातें परिवर्तनस्वरूपसे यहां होती हैं। अर्थात् अर्थभी, जो कि ध्यानका विषयभूत होता है, वह बदलता रहता है। कभी द्रव्यस्वरूप ध्यानमें रहता है तो कभी पर्याय अथवा गुण रूप। योगी कभी द्रव्यका स्वरूप ध्याने लगता है और कभी उसे छोडकरके गुण या पर्यायको ध्याने लगता है। गुण या पर्यायको छोडकर फिर भी कभी द्रव्यका ध्यान करनेलगता है। इस प्रकार थोडे थोडे समयमें ध्येय विषयको यह योगी वदलता रहता है। अथवा, योंभी कहसकते हैं कि प्रथम ध्यानकी अवस्था शिथिल होनेसे उस ध्यानका एक विषय चिरकाल तक टिक नहीं पाता है। इसलिये विषयांतर हुआ करता है। जिस प्रकार एक ही विषय चिरकाल पर्यंत टिकता नहीं है उसी प्रकार श्रुतज्ञानके शब्द तथा योग भी वदलते रहते हैं।

जिस एक श्रुतवचनको लेकर प्रथम ध्यान करता है उसको थोडे ही समय वाद छोड कर एक दूसरा श्रुतवचनका आसरा लेलेता है। थोडेही समय वाद उसे भी छोडकर तीसरा श्रुतवचन धरलेता है। उसे भी छोडकर फिर कभी पहिले श्रुतवचनको ही धरलेता है। इस प्रकार श्रुतवचनोंमें परिवर्तन करता रहता है। योगपर कायम नहीं रहता।

काय योगको लेकर कभी तो ध्यान करता है और कभी उसे छोडकरके मनोयोगको अथवा वचनयोगको लेलेता है। फिर कभी काय योगपर आजाता है इस प्रकार योगोंका परिवर्तन सतत होता रहता है। इस ध्येयका, आगमके वचनोंका और योगोंका बरावर परिवर्तन इस प्रथम ध्यानमें होता रहता है। इस परिवर्तनका नाम वीचार रक्खा गया है। वीचार रहनेसे इस ध्यानको सवीचार कहते हैं। इस प्रकार इस ध्यानके नाममें जो तीन शब्द जोडेगये थे उनकी सार्थकता होती है। वे तीन शब्द पृथक्त्व, वितर्क और वीचार हैं नाम तो 'पृथक्त्ववितर्क' ऐसा ही है। परंतु आगेके ध्यानमें दृढता आजाती है इसलिये परिवर्तन होना बंद होजाता है, इस ध्यानमें उतनी दृढता न होनेसे परिवर्तन होता रहता है। यह शिथिलता वीचार-विशेषण लगानेसे ही जानी जाती है। अर्थात् यह प्रथम ध्यान भी सुदृढ नहीं होता, इसका विषय भी सुदृढ नहीं रहता और ध्यानका साधन भी सुदृढ नहीं रहता है। अर्थ-व्यंजन-योगोंका परिवर्तन होना बताकर उक्त तीनोंही वातोंमें शिथिलता वतादी गई है।

दूसरे ध्यानका स्वरूप—

द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च । ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—दूसरे ध्यानका नाम एकत्ववितर्क है। प्रथम ध्यानमें ध्येयका परिवर्तन होता था परंतु इस ध्यानमें वह परिवर्तन बंद होजाता है अथवा यों कहना चाहिये कि उसी प्रथम ध्यानकी शिथिलता घट जानेपर सुदृढता जब प्राप्त होजाती है तब परिवर्तन होना बंद पडजाता है उसी अवस्थाको दूसरा ध्यान कहते हैं।[१] ध्यानके विषयको यहां द्रव्य कहा है। वह द्रव्य एक ही बना रहता है। योग भी कोई एक ही बना रहता है। ऐसा ध्यान क्षीणमोह वीतरागी परम योगीको प्राप्त होता है। इस प्रकार विषयमें द्रव्य गुण पर्यायोंमेंसे एक मात्र द्रव्य रहजानेसे एकत्वरूप इस ध्यानको कहते हैं। अभी श्रुतज्ञान के वचनोंका आलंबन इस ध्यानमें भी लगा हुआ रहता है। इसी बातको आगे दिखाते हैं।

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः । एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥४९॥

अर्थ—द्वादशांगपूर्वपर्यंत श्रुतज्ञानका ज्ञाता इस एकत्व ध्यानका आरंभ करता है श्रुतज्ञानका नाम वितर्क है; इसलिये इस ध्यानको एकत्वसहित तथा सवितर्क अथवा वितर्कसहित कहते हैं।

दूसरे ध्यानमें वीचार है या नहीं ?—

अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः[२] संक्रमो मतः । वीचारस्य ह्यसद्भावादवीचारमिदं भवेत् ॥५०॥

अर्थ—अर्थव्यंजनयोगोंके संक्रमणको वीचार कहचुके हैं। वह वीचार इस ध्यानमें नहीं रहता है इसलिये इस दूसरे ध्यानको अवीचार कहते हैं प्रथम ध्यानको पृथक्त्ववितर्क कहा था और इसे एकत्ववितर्क कहते है अर्थात् वितर्क दोनोंमें ही रहता है। परंतु पृथक्त्व बदलकर यहां एकत्व प्राप्त होजाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि अर्थव्यंजनयोगोंके संक्रमणको जो वीचार कहते हैं वह वीचार प्रथम ध्यानमें रहनेसे ध्यानमें एकता नहीं कही जासकती है। प्रथम ध्यान जहांतक मानागया है वहां तक सचमुच वह एक ध्यान नहीं होता किंतु अनेकों ध्यान होते हैं तो भी लक्षण समान रहनेसे उन अनेकों ध्यानोंकी संतानको भी एक ध्यान कह देते हैं।

---

१ तीनों योगोंमेंसे कोई एक योगका रहना मानागया है। इसके लिये अन्यतर शब्द बोलागया है। परंतु यह कोई दोष, नहीं है। अन्यतर शब्दही स्वतन्त्र शब्द है। २ 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये' इति दीर्घत्वम्।

इस प्रकार प्रथम ध्यानमें एकता उपचार सिद्ध है। इसीलिये उसे एक संख्यामें गर्भित करते हुए भी ग्रन्थकार पृथक्त्व विशेषण द्वारा उसका अनेकपना द्योतित करते हैं। वीचार-विशेषणसे भी यही बात सिद्ध होती है। परन्तु वीचार-विशेषण ध्यानके कारणोंमें अनेकता दिखाता है और पृथक्त्व-विशेषण साक्षात् ध्यानमें अनेकता दिखाता है। इसी लिए ध्यानके नामके साथ पृथक्त्व-पद जोडा गया है और वीचार नहीं जोडा गया है परन्तु समर्थन करते समय वीचारको ही दिखाया है इसलिये मानना चाहिये कि प्रथम ध्यानमें पृथक्त्व है और वह वीचारके होनेसे होता है। वह वीचार न रहनेसे दूसरे ध्यानका नाम एकत्ववितर्क है। एकत्व कहनेसे ही वीचारका अभाव सिद्ध हो जाता है।

तीसरा शुक्ल ध्यान----

अवितर्कमवीचारं सूक्ष्मकायावलंबनम्। सूक्ष्मक्रियं भवेद् ध्यानं सर्वभावगतं हि तत् ॥५१॥

अर्थ—तीसरे ध्यानमें न वितर्कका आलंबन रहता है और न संक्रमण ही होता है। योगोंमेंसे भी एक कायमात्रका आलंवन रह जाता है। वह भी अतिसूक्ष्म रहता है। इसलिये इस तीसरे ध्यानको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती अथवा सूक्ष्मक्रिय कहते हैं। सर्व भावोंको जाननेवाले केवली भगवानका यह ध्यान है इस लिये इस ध्यानको सर्वभावगत कहते हैं।

तीसरे ध्यानका समय व प्रयोजन—

काययोगेऽतिसूक्ष्मे तद्वर्तमानं हि केवली। शुक्लं ध्यायति संरोद्धुं काययोगं तथाविधम् ॥५२॥

अर्थ—योगनिरोधके समय अति सूक्ष्म हुए काययोगके सहारेसे केवली भगवान् तीसरे शुक्ल ध्यानका आरम्भ करते हैं उसका प्रयोजन योगनिरोध करना है। उस अंत्य समयमें दूसरे कोई योग तो रहते ही नहीं है। केवल काययोग रहता है वह भी अतिसूक्ष्म। उतने का ही निरोध इस तीसरे ध्यान द्वारा किया जाता है। उसका फल यह होता है केवली भगवान् सयोगसे अयोग बन जाते हैं। अयोग बने कि—

चौथा शुक्लध्यान—

अवितर्कमवीचारं ध्यानं व्युपरतक्रियं। परं निरुद्धयोगं हि तच्छैलेश्यमपश्चिमं ॥ ५३ ॥

---

१ स कथं ध्यानं इति चेत् ध्यानसंतानोपि ध्यानं इत्युपचर्यते। इति सर्वार्थसिद्धि।

तत्पुना रुद्धयोगः सन् कुर्वन् कायत्रयासनम् । सर्वज्ञः परमं शुक्लं ध्यायत्यप्रतिपत्ति तत् ॥५४॥

अर्थ—व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान प्रगट होता है। चौदहमे गुणस्थानवर्ती भगवान् केवलीको यह ध्यान प्रगट होता है। इसमें योगनिरोध पूरा पूरा हो चुकता है। इसीलिये इसके स्वामीको शीलेशी अथवा शैलेश्य कहते हैं। आत्माके अठारह हजार शुद्ध शील-स्वभाव गिनाये हैं। वे सर्व स्वभाव इस अवस्थामें प्रगट होजाते हैं। क्रिया अर्थात् योगप्रवृत्ति पूरी बंद पडजानेसे इसध्यानको 'व्युपरतक्रिय' ऐसा कहते हैं। योगनिरोध पूरा होजानेसे तीनो विद्यमान शरीरोंका विश्लेष होने लगता है। वे तीन विद्यमान शरीर कोनसे हैं? औदारिक, तैजस, कार्मण। आत्मा जो शरीरोंको सहारा देता है उसीको योग कहते हैं। उसी सहारेके सामर्थ्यसे शरीरोंका पोषण होता रहता है—शरीरपोषक पुद्गल वाहिरसे आआकर शरीरोंमें मिलते रहते हैं और शरीरोंको पुष्ट करते रहते हैं। वह सहारा छूट जानेसे उक्त तीनों शरीर जीर्ण होने लगते हैं। यही शरीरोंका ह्रास करना है। योगक्रिया सर्वथा वंद पडजानेसे शरीरोंके ह्रास होने में अधिक विलंव नहीं लगता है। ठीक भी है आश्रय का अभाव होने पर आश्रयीके नष्ट होनेमें विलंब कैसे संभव होसकता है? इसीलिये पांच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने कालमें योगीके तीनो शरीर छूट जाते हैं। इसीलिये उसे अप्रतिपत्तिक कहा है। इस प्रकार योगी चौथे परम शुक्ल ध्यानको वितर्क—वीचार रहित ध्याता है। इससे अधिक विशुद्ध दूसरा कोई ध्यान नहीं है। इसी ध्यान से परम निर्जरा होती है।

निर्जराका वृद्धिकर्म—

सम्यग्दर्शनसपन्नः संयतासंयतस्ततः संयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धिप्रवियोजकः ॥५५॥
दृङ्मोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्ततः। उपशान्तकषायोऽतस्ततस्तु क्षपको मतः ॥५६॥
ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनैः। दशैते क्रमतः सन्त्यसंख्येयगुणनिर्जराः ॥५७॥

अर्थ—१ सम्यग्दर्शन युक्त चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव २ संयतासंयत, ३ संयत छट्टे गुणस्थानवाला, ४ चौथेसे

[1] सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो। कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥ गो० जीव०। छाया—शीलेशित्वं संप्राप्तो निरुद्धनिःशेषास्रवो जीवः। कर्मरजोविप्रमुक्तो गतयोगो केवली भवति॥

सातवें गुणस्थान पर्यंत कहींपर भी अनंतानुबंधी कर्मका विसंयोजन करनेवाला जीव, ५ दर्शनमोहका क्षय करने वाला चौथेसे सातवे गुणस्थान पर्यंतका जीव, ६ उपशमश्रेणी चढनेवाला जीव, ७ उपशांतमोह ग्यारवें गुणस्थानवर्ती जीव, ८ क्षपक श्रेणी चढनेवाला जीव, ९ क्षीणमोह वारहवे गुणस्थानवाला जीव, १० घाति कर्मोंसे मुक्त हुए केवली भगवान्। इन दश स्थानोंमें उत्तरोत्तर असंख्यात असंख्यात गुणित निर्जरा होती है। अर्थात्, विद्यमान कर्मोंके अंश प्रत्येक स्थानोंमें क्रमसे असंख्यात २ गुणे अधिक अधिक नष्ट हो जाते हैं।

साधुओंके भेद—

पुलाको बकुशो द्वेधा कुशीलो द्विविधस्तथा। निर्ग्रन्थः स्नातकश्चैव निर्ग्रन्थाः पंच कीर्तिताः ५८

अर्थ—१ पुलाकनामा मुनि, २ दो प्रकारका बकुशनामा मुनि ३ दो प्रकारोंमें विभक्त हुआ कुशीलनामा मुनि, ४ निर्ग्रंथ तथा ५ स्नातक निर्ग्रंथ साधुओंके ये पांच भेद हैं।

१ जिनके उत्तर गुण तो हों ही नहीं, किंतु व्रत भी परिपूर्ण न हों उन्हें पुलाक कहते हैं। उत्तर गुणोंकी तरफ तो परिणाम ही नहीं हो पाता परंतु व्रतोंमें जो परिपूर्णता नहीं होती वह किसी किसी समयमें व किसी २ क्षेत्रमें समझनी चाहिये। सदा ही उनके व्रत अपरिपूर्ण रहते हों यह वात नहीं है। धानके ऊपरका जो तुष उसे पुलाक कहते हैं। उसके लगे रहनेसे जैसे चावलका स्वरूप प्रगट नहीं होता, उसी प्रकार साधुके चारित्र मोहकी ऐसी कोई मलिनता बनी रहती है कि उसके परिणाम वीतरागताकी तरफ कुछ झुकते है।

२ व्रतोंको तो जो कभी और किसी क्षेत्रमें भी नहीं विगडने देते हैं परतु शरीरके संस्कारमें, ऋद्धि प्राप्त होनेकी अभिलाषामें, सुखकी इच्छामें, यश व विभूति वढानेमें मन आसक्त वना रहता है उन्हें वकुश कहते हैं वकुश-शब्दका शवल-अर्थ होता है। जो शरीरके संस्कारोंमें लगे रहते हैं उन्हें शरीर वकुश कहते हैं। उपकरणोंमें आशक्ति रखनेवालोंको उपकरण वकुश कहते हैं। ऐसे वकुशोंके दो भेद हो जाते हैं।

---

१ उत्तरगुणेष्वनपेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित्परिपूर्णतामप्राप्नुवन्तोऽविशुद्धपुलाकसादृश्यात् पुलाकव्यपदेशमर्हंति। २ अखण्डितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणा वकुशाः। शवलपर्यायवाची वकुशशब्दः।

३ शीलोंमें कुछ मलिनता रखनेवाले साधुको कुशील कहते हैं। उसके प्रतिसेवना[1] कुशील व कषाय कुशील ऐसे दो भेद हैं। मूल गुण तथा उत्तरगुण-ये दोनों प्रकारके गुण तो जिसके परिपूर्ण ही रहते हों परंतु कदाचित् कथंचित् उत्तर गुणोंमें विराधना कर लेता हो उसे प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं। उदाहरणार्थ—स्नानत्यागी होकर भी वह साधु ग्रीष्म ऋतुमें कभी कभी जांघ पर्यंत जलसे प्रक्षालन कर डालता है। कषाय कुशील उसे कहते हैं जो कि अन्य कषायोंको वश कर चुका हो परन्तु संज्वलन कषायके वशीभूत बना हुआ हो। श्रेणी चढ जाने पर जो दशवें गुणस्थान तक साधु रहते हैं वे कषाय कुशील माने जाते हैं।

(४) जलकी रेखा जिस प्रकार जल्दी ही विलयको प्राप्त होजाती है उसी प्रकार जिन साधुओंको क्षणभर बाद ही केवल ज्ञान होनेवाला है, जिनके घातीकर्म नाशके सन्मुख होचले हैं उन्हें निर्ग्रंथ कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधुकी दशा वर्तमानमें कषायके उदयसे रहित होती है। इसलिये उसे भी निर्ग्रंथ कहते हैं। इस प्रकार दशवें गुणस्थानके बाद निर्ग्रंथ संज्ञा प्राप्त होजाती है। क्योंकि, बाह्य परिग्रह पहिलेसे ही छूट जाता है। रहा अंतरंग ग्रंथ क्रोधादि, वह दशवेंके ऊपर छूटजाता है। इसलिये अंतरंग परिग्रहके छूटते ही निर्ग्रंथ—यह विशेषण साक्षात् माननेमें आने लगता है। यों तो पांचो प्रकारके साधुओंको ग्रंथकारने निर्ग्रंथ ही कहा है। परन्तु इस निर्ग्रंथसे पूर्वके तीनों निर्ग्रंथ बाह्य ग्रंथके अभावकी मुख्यतासे ही निर्ग्रन्थ कहाते हैं।

(५) केवलज्ञान प्राप्त होजानेपर स्नातक नाम प्राप्त होता है। ज्ञानकी पूर्णता होजानेकी अपेक्षासे स्नातक—शब्दका प्रयोग होता है। स्नातकका शब्दार्थ[2] भी ऐसा ही है।

इन पांच प्रकारके साधुओंमें यद्यपि अतरंग विशुद्धिका अन्तर रहता है परन्तु सभी ये निर्ग्रंथ गुरुपदके धारी होते हैं। जैसे, चारित्र, अध्ययन आदि क्रियाओंका भेद होनेसे ब्राह्मणोंमें अंतर्भेद अनेकों होते हैं परंतु सभी को ब्राह्मण[3] तो कहा ही जाता है। उसी प्रकार इनपांचो प्रकारके साधुओंमें निर्ग्रंथ—शब्दका प्रयोग होसकता है। अथवा[4] सम्यग्दर्शन और

१ कुशीला द्विविधा प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्। २ स्नातको वेदसमाप्तौ इति साधितं। ३ ब्राह्मणशब्दवत्। ४ दृष्टिरूपसामान्यात्। भग्नव्रतेऽपि प्रसंग इति चेन्न, रूपाभावात्। अन्यस्मिन् स्वरूपेऽतिप्रसंग इति चेन्न, दृष्ट्यभावात्। इति वार्तिका०।

निर्ग्रंथताका वेश सभीमें एकसा पाया जाता है इसलिये वे सभी निर्ग्रंथ कहाने चाहिये। कहीं सम्यग्दर्शन नहीं होता और कहींपर निर्ग्रंथ वेष नहीं होता। इसलिये दोनो विशेषणोंका समावेश देखकर पांचो प्रकारके साधुओंको निर्ग्रंथ कहनेमें कोई वाधा नही आती है।

साधुओंके परस्पर भेदका दूसरा हेतु—

संयमश्रुतलेश्याभिर्लिङ्गेन प्रतिसेवया। तीर्थस्थानोपपादैश्च विकल्प्यास्ते यथागमम् ॥ ५१ ॥

अर्थ-(१) संयम भेद (२) श्रुत भेद, (३) लेश्याभेद (४) लिङ्गभेद, (५) प्रतिसेवनाभेद, (६) तीर्थभेद, (७) स्थानभेद (८) उपपादभेद-ये आठ और भी ऐसे निमित्त हैं जिनसे कि साधुओंमें परस्पर भेद सिद्ध होजाता है। पुलाकादि जो पांच भेद किये हैं वे तो हैं ही। किंतु उन्हींके इन आठ निमित्तोंद्वारा उत्तर अनेकों भेद होजाते हैं। इनके द्वारा जैसे भेद संभव होते हैं वे आगममें बताये हैं। जैसे आगममें बताये हैं वैसे ही वे भेद समझने और करने चाहिये। जैसे—

(१) सयमकी अपेक्षा पुलाकादिकों को देखें तो किसीमें कोई संयम रहता है, किसीमें कोई, सर्व साधुओंमें एक ही कोई संयम नहीं रहना है। सामायिकादि पांच चारित्रोंको संयम कहते हैं। उन पाचोंमेंसे पहिले दोसंयम सामायिक व छेदोपस्थापन पुलाकमें मिलेंगे, बकुशमें मिलेंगे और प्रतिसेवना कुशीलमें मिलेंगे। कषायकुशीलोंमें यथाख्यात छोडकर चारोही संयम मिलसकते हैं। स्नातक व निर्ग्रंथ यथाख्यात एक संयमके ही धारी होते हैं।

(२) श्रुतज्ञान पुलाक बकुश प्रतिसेवना कुशीलोंमें यदि उत्कृष्ट हो तो अभिन्नाक्षर दशपूर्व पर्यंत होसकता है। कषायकुशील व निर्ग्रंथ उत्कृष्टतासे चौदह पूर्वतक अर्थात् द्वादशांगके पूरे धारी होसकते हैं। जघन्यतासे पुलाकको आचारवस्तु पर्यंतका ज्ञान होता है। बकुश कुशील निर्ग्रंथोंको जघन्य श्रुतज्ञान हो तो तीन गुप्ति व पांच समिति-इन आठ प्रवचन माताओंका ज्ञानमात्र होता है। स्नातकोंमें श्रुतज्ञानकी कल्पना ही छूट जाती है।

(३) लेश्या—पुलाकमें तो आगेकी तीन रहती हैं। बकुशमें और प्रतिसेवना कुशीलमें छहो लेश्या संभवती हैं। कषायकुशील यदि परिहार विशुद्धिवाला हो तो अंतकी चार लेश्या संभवती हैं। यदि सूक्ष्मसांपरायवाला कषाय कुशील हो तो एक शुक्ललेश्या ही रहती है। निर्ग्रंथ तथा स्नातक शुक्ललेश्यावाले ही होते हैं। अयोगी स्नातकोंमें एकभी लेश्या नहीं रहती है।

(४) चौथा साधन लिंग है। लिंग दो प्रकारसे कहा जा सकता है। एक द्रव्यलिंग, दूसरा भावलिंग। भावलिंगसे तो पांचो प्रकारके साधु निर्ग्रंथलिंगी ही होते हैं। द्रव्यलिंगकी अपेक्षा परस्परमें भेद रहता है।

(५) प्रतिसेवनाका अर्थ कषायके अधीन होकर मूलोत्तर गुणोंमें विराधना करते रहना है। पुलाक साधु, पांच मूल-गुण और छट्ठा रात्रिभोजन त्याग नामाव्रत,—इन छहोंमेंसे एकाद व्रतमें कभी २ पराधीन होकर दोष लगा लेता है। वकुश दो प्रकारका होता है, १ उपकरण वकुश, २ शरीर वकुश। उपकरणोंमें जिसका चित्त आसक्त रहता हो, बहुमूल्यादि विशेषतायुक्त उपकरणोंकी इच्छा रखनेवाला, उपकरणोंके संस्कार करनेमें लगा रहता हो वह उपकरण वकुश कहाता है। शरीरको संस्कारयुक्त बनाता रहे वह शरीरवकुश है। इन दोनोंसे कषायके कार्य होते हैं जिससे कि उत्तर गुणोंमें विराधना होती है। प्रति सेवनाकुशील मूलगुणोंको संभालता है। परंतु उत्तरगुणोंमेंसे किसी २ गुणको विराधता रहता है। इसलिये प्रतिसेवना कुशीलको भी प्रतिसेवना प्राप्त हो जाती है। कषाय कुशील तथा निर्ग्रन्थ, स्नातक प्रतिसेवना नहीं करते हैं।

(६) जिस २ तीर्थंकरके वारेमें जो २ मुनि होते हैं वे वे उस तीर्थवाले कहाते हैं।

(७) स्थानका अर्थ कषाय स्थान है। कषायोंके निमित्तसे जो संयम भेद होते हैं वे भी स्थान ही हैं। पुलाक और कषाय कुशील सुरूमें सवसे हीन संयमस्थानोंमें रहता है। कषायकुशीलके वे स्थान छूटकर ऊपरके अधिक विशुद्ध भी हो जाते हैं। वहां पर पुलाक नहीं पहुंच पाता है। उन स्थानोमें कुशील, प्रतिसेवनाकुशील तथा बकुश साथ रह सकते हैं। कुछ ऊपर जाने पर बकुश छूट जाता है। उसके ऊपर और भी चलने पर प्रतिसेवना कुशील छूट जाता है। अर्थात्, उन उच्च संयमस्थानोंमें कषायकुशील ही रहता है। उससे भी असंख्यातों स्थान ऊंचे जांय तो वहां कषायकुशील भी नहीं रहता है। इसके ऊपर फिर कषायरहित स्थान हैं। उनमें निर्ग्रंथ रहता है। वह भी असंख्यातों भेदवाले असंख्यातों संयम स्थानों तक ऊपर चढकर समाप्त हो जाता है। इसके एकही स्थान ऊपर स्नातकका संयम स्थान होता है।

(८) मरकर स्वर्गमें जन्म लेनेके स्थानोंको यहां उपपाद कहते हैं उपपाद निरनिराले साधुओंके निरनिराले हैं। पुलाक सहस्रार बारहवें स्वर्गके उत्कृष्टस्थितिवाले देवोंमें उपजता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील पद्रहवें—सोलहवें आरण-अच्युत स्वर्गोंमें बाईस सागरकी स्थिति रखते हुए देव होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रंथ तेतीस सागरके आयुवाले अनुत्तरविमानवासी देव

होते हैं। यह उत्कृष्ट उपपादकी मर्यादा है। जघन्य देखें तो दो सागरकी स्थिति रखते हुए सौधर्म स्वर्गमें ऊपर कहे हुए चारो ही प्रकारके साधु देव हो सकते हैं। स्नातकका स्वर्गमें उपपाद न होकर निर्वाण ही होता है। इन आठ अनुयोगों द्वारा साधुओंका परस्परका अंतर बहुत जाना जाता है।

उपसंहार—

इति यो निर्जरातत्त्वं श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत्॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार जो साधु शेष छह तत्त्वोंके साथ २ निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है, जानता है और उससे उपेक्षित होकर मध्यस्थरूप वीतराग चारित्रधारी होता है वही निर्वाणका भागी होता है।

इसप्रकार निर्जरातत्त्ववाला सातवां अधिकार समाप्त हुआ॥ ७॥



आठवां अधिकार।

मोक्षतत्त्व निरूपण—

मंगल और अधिकार प्रतिज्ञा—

अनंतकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना मोक्षतत्त्वं प्ररूप्यते ॥१॥

अर्थ—अनंतानंत केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा तीनो जगतको प्रकाशित करनेवाले जिन भगवान्को मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हू और मोक्षतत्त्वका स्वरूप कहता हूं।

मोक्षका साक्षात्कारण और लक्षण—

अभावाद् बन्धहेतूनां बन्धनिर्जरया तथा। कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते ॥२॥

अर्थ—आस्रव, मिथ्यात्व, कषायादि बंधहेतुओंका अभाव होजानेसे और बंधनको प्राप्त हुए कर्मोंकी निर्जरा होनेसे संपूर्ण कर्मोंका नाश हो जाना है वही मोक्ष माना जाता है।

कर्मबंधना कब छूटता है ? इसका उत्तर—

बध्नाति कर्म सद्वेद्यं सयोगः केवली विदुः। योगाभावादयोगस्य कर्मबन्धो न विद्यते ॥३॥

अर्थ—और जीव तो कर्मोंका सतत बध करते ही है परन्तु सयोग केवली भगवान भी योगके रहनेसे एक सातावेदनीय कर्म का बंध करते हैं। उपयोगका अभाव हो जानेसे अयोग केवलीके कर्म बंधनका पूरा अभाव हो जाता है।

संवरपूर्वकनिर्जराकी सिद्धि—

ततो निर्जीर्णनिःशेषपूर्वसंचितकर्मणः। आत्मनः स्वात्मसंप्राप्तिर्मोक्षः सद्योऽवसीयते ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्रकार नवीन कर्मबंधन होना बद होजानेपर पूर्वसंचित कर्मोंकी भी निःशेष निर्जरा शीघ्र ही होजाती है। इसलिये स्वस्वरूपकी शुद्ध पूर्ण प्राप्ति होनेमें अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होनेमें कोई विलंब नहीं लगता है। वह स्वरूप प्राप्त होजाना ही जीवका मोक्ष है। वह मोक्ष संवरपूर्वक निःशेष निर्जरा करनेवालेको शीघ्र ही प्राप्त होजाता है।

अब मोक्षावस्थामें कर्मके अतिरिक्त और क्या नहीं रहता है? इसका उत्तर कहते हैं—

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात्। मोक्षः सिद्धत्वसम्यक्त्वज्ञानदर्शनशालिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—कर्मोंकी भांत और कर्मोंके कार्यभूत शरीरादिकोंकी भांत औपशमिकादि भावोंका तथा भव्यत्व भावका भी क्षय होजाने पर मोक्ष प्रगट होता है। उस मोक्ष अवस्थामें सिद्धत्व, सम्यग्दर्शन केवलज्ञान तथा केवल दर्शन—ये सर्वथा शुद्ध स्वभाव शेष रहजाते हैं। यदि कुछ भी शेष न रहै तो मोक्षके समय आत्माकी सत्ता किस प्रकार सिद्ध होसकेगी? आत्माका यदि नाश ही होना मानलिया जाय तो मोक्षप्राप्तिका प्रयत्न करना निरर्थक होजाता है इसलिये विकारीभावोंके नाश होनेपर भी ज्ञानादि शुद्ध भावोंका वहांपर सद्भाव मानना पडता है।

अनादि कर्मके नष्ट होनेमें युक्ति—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसंततेः। अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस वस्तुका कोई उत्पत्तिका आद्य समय नहीं होता उसको अनादि कहते हैं। जो भाव अनादि होता है उसका अन्त भी कभी नहीं होता। यदि अनादिका अन्त होजाय तो सत्का विनाश होना मानना पडेगा। परन्तु सत्का विनाश होना सिद्धांतसे भी विरुद्ध है और युक्तिसे भी विरुद्ध है। सिद्धांतमें द्रव्यमात्रको नित्य कहा है। अकारणक कार्योत्पत्ति न होना यहांपर युक्ति है। यदि अकारणक कार्योत्पत्ति होसकती हो तो अंकुरोत्पत्तिके लिये बीजकी अपेक्षा किसीको भी नहो।

इस न्यायके आधारपर इस प्रकरणमें यह शंका होती है कि अनादि कर्मबन्धन संततिका भी नाश कैसे होसकता है? अर्थात् कर्मबंधनका कोई आद्य समय नियत नहीं है इसलिये कर्मबन्धन अनादि है। जब कि वह अनादि है तो उसका अन्त भी न होना चाहिये। जैसा अनादिसे चला आरहा है वैसा ही अनन्त कालतक जीवके साथ सदा बना रहना चाहिये। इसका फल यह होगा कि जीव मुक्त कभी न होसकेगा।

इस शंकाके दो रूप होजाते हैं। एक तो यह कि जीवसे कर्मका संबंध कभी छूटना न चाहिये। दूसरा यह कि कर्मत्व रूप जिन पुद्गलोंमें हैं उनमें कर्मत्व ही सदा बना रहना चाहिये। क्योंकि, कर्मत्व एक जाति है। वह सामान्य होनेसे ध्रुव

होनी चाहिये। फिर चाहे उसके पर्याय कितने ही वदलते रहें परन्तु वे सर्व पर्याय कर्मरूप रहेंगे। जैनसिद्धान्तमें भी जो द्रव्य जिसस्वभावका होता है वह उसी स्वभावका सदा बना रहता है। जीव अपने चैतन्य स्वभावको कभी छोडता नहीं है। पुद्गल रूप रसादि स्वभाव को कभी छोडता नहीं है। जब दूसरे द्रव्य अपने अपने स्वभावोंको छोडते नहीं है तो कर्मद्रव्य अपने कर्मत्व स्वभावको कैसे छोड सकता है?

उत्तर—कर्मका संबंध यद्यपि अनादि है परंतु वह अनादि संबंध किसी एकेक कर्मका ही नहीं है किंतु एकेक कर्म कुछ अवधि पर्यंतही रहता हैं। एकेक कर्मकी उत्पत्तिका भी कोई न कोई समय रहता है और छूटनेका भी समय नियत रहता है। परंतु कोई न कोई कर्म जीवके साथ बना अवश्य रहता है। संसारी जीवोंमें ऐसी अवस्था अनादिसे होरही है। कर्मोंका संबंध होना किसी नियत कालसे ठहरा हुआ नहीं है। इसीसे संबंधको अनादि कहना पडता है। इस कहनेसे यह सिद्ध होता है कि कोई एककर्म अनादि कालसे जीवके साथ लगा हो-यह बात नहीं है। इसलिये एकेक संबंधकी जब कि अवधि है तो जिस प्रकार उत्पत्तिकी अवधि होसकती है उसी प्रकार उसके नाशकी भी अवधि होसकती है। उस एक अंतिम कर्मका नाश होते समय यदि नवीन कर्मका बंधन न होने दिया तो कर्मका संबंध निर्मूल नष्ट होसकता है। इसलिये यह तात्पर्य सिद्ध हुआ कि जुदी जुदी चीजोंका संबंध अनादि कालसे हो तो भी वह नष्ट होसकता है।

इसकेलिये उदाहरण भी मिलते हैं। बीजवृक्षका संबंध अनादि कालका मानना पडता है। कोई भी बीज विना अपने पूर्वके वृक्षके नहीं पैदा होसकता है। बीजका उपादान करण पूर्ववृक्षको भी कहसकते हैं और पूर्व बीजको भी कह सकते हैं। इस प्रकार का उपादान प्रत्येक बीजके पूर्वमें कोई न कोई मानना ही पडेगा। जब कि प्रत्येक बीजका कोई न कोई उपादान होता ही है तो बीजवृक्षकी अथवा बीज बीजकी सतति अनादि होजाती है। संतति अनादि होनेपर भी उस सततिके अंतिम बीजको यदि पीस कूट कर अथवा जला गला कर नष्ट करदिया जाय तो आगे के लिये वह संतति नष्ट होजाती है।

इसी प्रकार नाशके प्रयोगोंद्वारा पूर्वार्जित कर्मोंमेंसे अंतिम रहे हुए कर्मका नाश करदिया जाय तो फिर संतति निःशेष नष्ट होसकती है। पूर्वार्जितके नाशका और नवीनकी उत्पत्ति न होने देनेका उपाय पहिले संवरनिर्जराके प्रकरणमें लिख चुके हैं। कर्मका संबंध जीवसे छूट नहीं सकता है-ऐसी जो शंका थी वह इस उत्तरसे दूरहो जाती है।

शंकाका दूसरा अर्थ ऐसा था कि जो कर्मरूप पदार्थ है वह अकर्मरूप कैसे होसकता है ? इसका उत्तर यह है कि कर्म कोई द्रव्य नहीं है। जिस द्रव्यमें कर्मत्व प्राप्त होता है उस द्रव्यका नाम पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल द्रव्यमें जिस प्रकार निमित्त-वशात् शरीरादिक तथा माटी पत्थर आदि कार्यरूपं अवस्थाएं होती रहती हैं और अवधि समाप्त होने पर विनशती रहती हैं उसी प्रकार निमित्तवशात् कुछ पुद्गलोंमें जीवके साथ बंधन होनेपर जीवको परतंत्र बनानेका सामर्थ्य प्रगट होता रहता है। वह सामर्थ्य जबतक जिस पुद्गलमें रहता है तबतक उस पुद्गलको कर्म कहते हैं। इसलिये कर्म पुद्गलमेंसे उत्पन्न होने-वाला पुद्गलद्रव्यका एक पर्याय है। उसकी अवधि नष्ट होते ही कर्मत्व अवस्था बदलकर उस पुद्गलकी कोई दूसरी अवस्था होसकती है। अथवा किसी पुद्गलद्रव्यका एक कर्मपर्याय नष्ट होनेपर दूसरा जो पर्याय हो वह भी कर्मरूप होसकता है। परन्तु कोई नियम इस बातका नहीं होसकता है कि जो कर्म एक वार है वह दूसरे वार भी कर्म ही होना चाहिये अथवा दूसरे वार अकर्मरूप ही होजाना चाहिये। जैसे निमित्त मिलते हैं वैसा पर्याय होता है। एक किसी द्रव्यको यदि उत्त-रोत्तर कालमें एकसे निमित्त मिलते रहैं तो उसके पर्याय एकसे होते रहेंगे। यदि निमित्त बदलते रहेंगे तो पर्याय उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न भांतके होंगे। जैसे किसी माटीमें घट बननेके निमित्त मिलजानेपर एकवार घट बनजाता है फिर भी यदि निमित्त मिलजाय तो पहिला पर्याय नष्ट होनेपर फिर भी घट बनसकता है। यदि फिर घट बननेका निमित्त न मिले तो जैसा दूसरा निमित्त मिले वैसा दूसरा पर्याय होजाता है। इसीप्रकार कर्मत्व पर्यायकी बात है। यदि कर्मरूप कोई निराला द्रव्य होता तो उसका अकर्मरूप होना असंभव होजाता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, इसलिये कोई भी कर्म जीवसे चाहे जब छूट सकता है और छूटकर वह कर्म अकर्मरूप भी बनसकता है।

इसकेलिये भी उदाहरण बीजका ही होसकता है। चाहें जो बीज अपनी अवधि पूर्ण होनेपर नष्ट होते हुए यदि फिर भी बीज बननेके ही निमित्तोंको मिला ले तो वे ही बीजके अंश फिर भी बीज बनसकते हैं। यदि उन्हे दूसरे समय कोई दूसरा निमित्त मिले तो वे दूसरा पर्याय बनासकते हैं। यदि उसी बीजसंततिमें उन्हें उत्पन्न होनेके योग्य निमित्त मिल जांय तो उसी संततिमें वे अंश फिर भी बीजावस्था धारण कर सक्ते हैं। यदि उसी जातिकी दूसरी बीजसंततिमें उत्पन्न होने योग्य निमित्त मिल जाय तो उसी जातिकी दूसरी बीजसंततिमें भी वे अंश दूसरी जातिकी बीजावस्था धार सकते हैं। यदि बीजकी दूसरी किसी जातिवाली संततिमें भी उत्पन्न होने योग्य उन्हें अनुकूल निमित्त न मिलें तो वे अबीजाव-

स्थाको भी धारण करलेते हैं। इसी प्रकार जो पुद्गल कर्मरूप अवस्थामें प्राप्त हुआ है उसकी भी यही दशा है। वह पुद्गल उसी जीवके कर्मसंतानमें भी निमित्त मिलनेपर कर्मरूप होसकता है, दूसरे जीवके कर्मसंतानमें भी कर्मरूप जाकर होसकता है। यदि किसी जीवके भी कर्मसंतानमें उत्पन्न होनेयोग्य निमित्त न मिलें तो अकर्मरूप भी वह होसकता है।

इस प्रकार कोई पुद्गल किसी जीवमेंसे कर्मरूप अवस्थाको छोडकर अकर्मरूप घटपटादि अवस्था धारण कर सकता है। परंतु उस हालतमें भी इधर वह जीव उतने पुद्गलके अकर्मरूप हो जानेसे कर्ममात्रसे छूट नहीं जाता है। जैसे एक कर्मरूप पुद्गल कर्मरूपको छोडकर अकर्मरूप वन जाता है वैसे ही अन्य अकर्मरूप पुद्गल निमित्त मिलने पर कर्मरूप होते रहते हैं। इसलिये जीवकी परतंत्रता, एकेक पुद्गल अकर्मरूप होते हुए भी दूसरे पुद्गलों द्वारा, कायम बनी रहती है। अर्थात्, संसारमें यह शृंखला जारी ही रहती है कि एक पुद्गल कर्मरूप होकर छूट जाता है और दूसरा वही अथवा दूसरा अकर्मरूपसे कर्मरूप वन जाता है। एक कर्मका छूटना दूसरे का बंधना यह प्रक्रिया सभी जीवोंमें जारी रहती है। न कर्म सदा कर्म ही रहते हैं और न जीव सदा किसी एक कर्मसे बद्ध ही रहता है एवं, न सर्व कर्म कभी छूट पाते हैं और न जीव कभी सर्वथा मुक्त ही हो पाता है। यह साधारण संसारी जीवमात्रकी दशा है।

इसकेलिये भी उदाहरण बीजका ही हो सकता है। जो पुद्गल एक वार किसी बीजरूप परिणत होते हैं वे सदा ही बीजरूप नहीं रहते हैं। इधर बीजमें भी जो जनन शक्ति रहती है वह किसी एक ही पुद्गलके अवयवसे सदा संबंध नहीं करती है। पुद्गल कुछ छूटते रहते हैं और कुछ आते रहते हैं। परंतु वह शक्ति सदा ही किसी न किसी पुद्गलके सहारेसे वद्ध वनी रहती है। यह सर्व सामान्य बीजकी शृंखलाओंका स्वरूप है।

इस प्रकार दृष्टांतमें भी और दार्ष्टांतमें भी अनादिकालीन शृंखला अनंतकाल पर्यंत चलती ही रहती है—ऐसा देखने में आता है परंतु शृंखलाओंका ऐसा नियम नहीं हो सकता है कि अनादिकालीन होनेसे वे अनंतकाल पर्यंत रहनी ही चाहिये। क्योंकि, बलवत्तर ध्वंस कारणके मिलजाने पर जिस प्रकार बीजकी शृंखला सर्वथा नष्ट होती हुई दीख पडती है उसी प्रकार चाहे जो शृंखला नष्ट हो सकती है। शृंखला संयोगज होती हैं और संयोगका कभी न कभी वियोग हो सकता है। वह वियोग जब तक अंशतः होता रहता है तब तक शृंखला जारी रहती हैं। जब वह अवयव वियोगपूर्ण हो जाता है तब शृंखला विस्खलित हो जाती है। पूर्ण अवयववियोग होनेके लिये बलवत्तर ध्वंसकारणकी अपेक्षा होती है।

बलवत्तर कारण सर्वदा सुगमतासे प्राप्त नहीं होते इसलिये शृंखलाएं भी सुगमतासे पूर्ण नहीं हो पाती हैं। यही देखकर साधारण बुद्धिवाले लोग उसकी अनादिता देखकर शंका भी करने लगते हैं। परन्तु बलवत्तर कारण चाहें कदाचित् ही प्राप्त हो सकते हों किंतु हो सकते अवश्य हैं जब वे बलवत्तर ध्वंसके कारण उपस्थित हो जाते हैं तब किसी बीजकी शृंखला जिस प्रकार निर्मूल उच्छिन्न हो जाती है उसी प्रकार किसी विरले जीवकी संसार शृंखला भी निर्मूल नष्ट हो जाती है। न तो विकारी शृंखलाओंमें अनंतता का नियम हो सकता है और न विकारी पर्यायोंमें अनंतताका नियम हो सकता है। इसलिये जीव के कर्म बंधनका संबंध भी छूट सकता है और उन कर्मोंके कर्मत्व पर्याय भी नष्ट हो सकते हैं।

कर्मके नाशसे संसारका नाश कैसे हो सकता है ?

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥८॥

अर्थ—बीज पूरा जल जानेपर जैसे अंकुर उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कर्मबीज जल जानेपर संसाररूप अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता है। जब कारणका ही नाश हो गया तो कार्य किस प्रकार हो सकता है ? भवकी उत्पत्तिका कारण कर्म है। उस कर्मका नाश होने पर भवकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? मनुष्यादि योनियोंमें मरना उत्पन्न होना इसका नाम भव है। इस भवका कर्मबन्धनके साथ कार्यकारण भाव संबंध है। जीवकी स्वाभाविक दशा कुछ और रहती है और कर्मके सहभावसे कुछ और प्रकारकी होती है। उसके विकारका कारण कर्म है। इसलिये कर्मके अभावमें भी जीवका परिणमन होना तो बंद नहीं पड सकता है परन्तु विकार मात्रका अभाव हो जाता है। स्वाभाविक दशाका स्वरूप ज्ञानदर्शनसुखसत्तामय है। विकारी दशाका स्वरूप रागद्वेषादि भाव और शरीर हैं। कर्म विकारका कारण है इसलिये कर्मके नष्ट होते ही रागद्वेषादि भाव और शरीर नहीं रहते हैं रागद्वेषादि तथा शरीरादि नष्ट हो जाने पर भी ज्ञानदर्शन स्वाभाविक होनेके कारण बने रहते हैं और पूर्ण विकाशको प्राप्त हो जाते हैं, जैसे आर्द्रेन्धन संयोग होनेसे धुआं होता है और थोडा सा धुंधला प्रकाश भी होता है परंतु आर्द्रेन्धन हट जानेपर तो वह पूरा और शुद्ध होता ही है परन्तु धुआं होना बंद हो जाता है। इसलिये आर्द्रेन्धन संयोग धुआंमात्रका कारण माना जाता है। उसे उपाधि भी इसीलिये कहते हैं कि वह स्वाभाविक स्वयं भी नहीं होता और स्वाभाविकपना कार्यमें भी नहीं रहने देता है। इसीप्रकार कर्म उपाधि है। उपाधिके हटनेसे वस्तुका स्वाभाविकपना नष्ट नहीं होता किंतु शुद्ध और पूर्णरूपसे प्रगट हो जाता है। इसलिये कर्मोपाधिके

हटनेसे रागद्वेषादि तथा शरीर उत्पन्न होना बंद हो जाता है न कि जीवकी स्वाभाविक दशा । इस प्रकार मोक्षावस्थाका स्वरूप शून्यरूप न होकर उलटी अधिक जाज्वल्यमान दशा है ।

आत्मबंधनसिद्धिका दृष्टान्त—

अन्यथा न बन्धस्य गवादीनामिवात्मनः ।

अर्थ—यदि कोई आक्षेप करे कि आत्माका बंधन सिद्ध नहीं होता तो उसके लिये यह उत्तर है कि बंधनके विना परतन्त्रता नहीं होती है । जैसे गाय भैंस आदि पशु जब तक बंधनमें नहीं पडते तब तक वे परतन्त्र नहीं होते । बंधनमें पडने पर ही वे परतन्त्र होते हैं—जहांके तहां खडे रहते हैं । इसी प्रकार आत्मा भी शरीरके परतन्त्र होनेसे बंधनबद्ध होना चाहिये । इसलिये आत्माका बंधन मानना असिद्ध अथवा अयुक्त नहीं है। शरीरमें आत्माका रहना परतन्त्रताका सूचक है । परतन्त्रता उसे कहते हैं जो कि अनिष्ट होने पर भी करना पडे । दुःखके कारणभूत शरीरमें रुकना जीवके लिये अनिष्ट है तो भी उसे शरीरमें रुकना पडता है। इसलिये शरीरमें रुककर रहना आत्माकी परतंत्रता है । जो दुःखका कारण होता है उसे अनिष्ट कहते हैं शरीर दुःखोंका कारण है इसलिये अनिष्ट है । जैसे कारागृह दुःखका कारण होनेसे ही अनिष्ट माना जाता है । इसलिये उसमें परतन्त्रताके विना कोन रुककर रहेगा । शरीर भी विविध बाधाओंका कारण होनेसे दुःखका कारण माना गया है । इसलिये उसमें रुककर वही रहेगा जो परतंत्र हो । इस प्रकार संसारी आत्माका बंधन होना मानना पडता है ।

मुक्तहोनेपर भी बंध होनेकी आशंकाका परिहार—

कार्यकारणविच्छेदाद् मिथ्यात्वादिपरिक्षये ॥ ८ ॥
जानतः पश्यतश्चोर्ध्वं जगत् कारुण्ययोगतः । तस्य बन्धप्रसंगो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शनादि भावोंका अभाव होनेसे जो कर्मका कार्यकारण सम्बन्ध था वह भी छूटजाता है । जानना देखना कर्मबन्धनका कारण नहीं होता किन्तु उन पर अनित्य अशुचि वस्तुओंमें रागद्वेषरूप आत्मीयपनेकी भावना तथा नित्य-शुचिपनेकी भावना करना बन्धका कारण होता है । ऐसी मिथ्याभावना करानेके कारणभूत ज्ञानदर्शनको मिथ्याज्ञान

मिथ्यादर्शन कहते हैं । जगके चराचर वस्तुओंको जानना देखना मिथ्याभावना छूटजानेपर भी होता है । क्योंकि, ज्ञान दर्शन जीवके स्वाभाविक धर्म हैं, असाधारण लक्षणधर्म हैं। स्वाभाविक असाधारण लक्षणधर्मका किसी वस्तुमें भी नाश नहीं होता है। यदि स्वाभाविक असाधारण लक्षणधर्मोंका नाश होजाय तो वस्तुका ही नाश होजाय । इसलिये जानना देखना मिथ्यावासनाओंके अभावमें भी होना ही चाहिये। वन्धके कार्यकारणभावका अभाव मिथ्यावासनाओंके अभावके साथ ही होजाता है। कर्मागमनके कारणोंका अभाव होजानेसे फिर देखते जानते हुये भी आत्मा कर्मोंसे बद्ध नहीं होपाता।

देखने जाननेके और राग द्वेष होनेके कारण जुदे जुदे हैं। देखने जाननेका कारण जीवका स्वभाव ही है। रागद्वेषके कारण मिथ्यावासना है। मिथ्यावासना स्वभाव नहीं है। इसलिये मिथ्यावासनाके होते हुए रागद्वेष व कर्मबन्ध उत्तरोत्तर होते रहते हैं। स्वभाव वन्धके कारण नहीं होते हैं। इसलिये देखने जाननेका कार्य जारी रहते हुए भी मिथ्यावासनाओं का अभाव होजानेपर वंध नहीं होता। स्वाभाविक भाव कभी नष्ट नहीं होसकते हैं इसलिये मुक्त अवस्थामें भी ज्ञानदर्शन रहने ही चाहिये। कहीं कहींपर योगी जगत्के ऊपर करुणा उत्पन्न होनेके कारण भी जगत्को देखते हैं जानते हैं और उपदेश देते हैं परन्तु उसमें आसक्ति उत्पन्न न होनेके कारण कर्मोंसे बद्ध नहीं होते। इसीलिये किसी किसी विद्वान्ने करुणाको भी जीवका स्वभाव सिद्ध किया है। भगवज्जिनसेन स्वामी परमात्माकी स्तुति[1] करते हुए परमात्माको जगत्पर करुणा करनेवाला कहते हैं। भावार्थ इतना ही है कि करुणा होनेसे भी यदि रागद्वेष न हों तो वन्ध नहीं होता।

बंध स्वाभाविक धर्म नहीं है—

अकस्माच्च न बन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गतः। बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥१०॥

अर्थ–सदा ही वंध होना चाहिये। मुक्त आत्मा कोई निराले प्रकारका नहीं होसकता है। जीवोंका स्वरूप जैसा कुछ दीख पडता है वैसा ही है और सदा वैसाहीं रहना चाहिये । ऐसी कल्पना कुछ लोग करते हैं । परंतु जबतक बंधको आत्माका स्वाभाविक धर्म न माना जाय तबतक यह कल्पना नहीं होसकती है। परंतु बंध होना स्वाभाविक धर्म नहीं है।

बंध यदि स्वाभाविक धर्म हो तो जीवोंमें परस्पर अंतर न दीखना चाहिये । भिन्न कारणोंके विना एक जातिके पदार्थोंमें कभी विरोध नहीं होसकता है। परंतु जीवोंमें परस्पर अंतर देखनेमें आता है। इसलिये अंतरका कारण कोई

[1] ' जगत्कारुण्यको मन्ता ' ऐसी स्तुति है।

भिन्न वस्तु होना चाहिये । जो भिन्न वस्तुसे होगा वह सदा एकसा रहै—यह नियम नहीं है । जो सदा एकसा नहीं रहता उसका होना न होना पराधीन मानना पडता है । वह पराधीनता जिसके अधीन हो वही उस पराधीनताका और बंधका कारण होसकता है । इसलिये मानना चाहिये कि बंध स्वाभाविक धर्म भी नहीं है और अकस्मात् भी नहीं है । किंतु कारण-परत्वेन होता है । कारण न होनेपर नहीं होता । उस कारण भाव का एक देश अभाव रहनेपर एकदेश बंधोंका सद्भाव और एक देश अभाव होता रहता है, किंतु जब कारणका पूरा अभाव होजाता है तब कर्मबंधनसे मुक्ति भी पूर्ण होजाती है । बंधका एकदेश अभाव होना ईषन्मुक्ति है और पूर्ण अभाव होना पूर्ण मुक्ति है । बंधका होना अकस्मात् अर्थात् निर्हेतुक मानलिया जाय तो ईषन्मुक्ति भी कभी न हो और पूर्ण मुक्ति भी कभी न हो । अथवा मुक्ति के बादभी बंध होजाना चाहिये । परंतु मुक्तिके बाद बंधन होना असंभव और दृष्टान्तशून्य है ।

सुवर्णपाषाणके दृष्टांतको जब हम देखते हैं तो कहना पडता है कि बन्धनका ध्वंस हो जाने पर फिर बन्ध नहीं हो सकता है । एक बार शुद्ध हुआ सुवर्ण विरुद्ध वस्तुओंका कितना ही सम्बन्ध रहते हुए फिर अशुद्ध नहीं होता । जो विजातीय वस्तु हैं उन सबका यही हाल है । या तो आकाशकी भांत अशुद्ध पहिलेसे ही नहीं होते । यदि पहिलेसे हों तो छूटनेपर सुवर्णकी भांत फिर अशुद्ध नहीं होते । जीवकी भी ईषन्मुक्ति तो अनुभव गोचर ही होती रहती है किन्तु पूर्ण मुक्ति ईषन्मुक्तिके द्वारा ही होती रहती है । जहां किसी बातका तारतम्य दीख पडता हो वहां मानना चाहिये कि कारण वशात् वह तारतम्य है । नहीं तो, वस्तुका पूर्णरूप क्यों तो छूटे और क्यों नयारूप उत्पन्न हो ? इस प्रकार जहां कारणाधीनता परिवर्तन होनेमें सिद्ध हुई कि वहां उस कारणका निःशेष अभाव होने पर पूर्ण मुक्ति भी अनायास ही सिद्ध हो जाती है । इसलिये मानना चाहिये कि न मुक्ति होना ही असंभव है कि और न मुक्तिके बाद बंध होना ही संभव है । जो इस प्रकार न मानकर बंधको अकस्मात् मानते हैं वे न्याय और दृष्टान्तके विरुद्ध चलते हैं । न्यायका सिद्धान्त यह नहीं है कि विजातीयका विजातीयके साथ बंध निष्कारण हो अथवा तारतम्य निष्कारण हो । जो तारतम्यके कारण हैं वे आकाशादिकी भांत सदा योगी नहीं हो सकते हैं नहीं तो तारतम्य होना ही असंभव हो जाय । जिसके कारण शाश्वतिक होते हैं वह कार्य भी शाश्वतिक होना चाहिये । परंतु तारतम्य शाश्वातिक नहीं हो सकता है । शाश्वतिकता और तारतम्य शीतोष्णताकी भांत परस्पर विरोधी हैं । तारतम्यके कारण क्षणभंगुर हैं । अब यह देखना चाहिये कि जिसके

कारण क्षणिक हों वह कार्य शाश्वतिक कैसे हो सकता है। बंध और उदय तारतम्यके साथ ही होता है इसलिये बंध निष्कारण और शाश्वतिक चीज नहीं है अतएव बंधके हेतुओंका अभाव होने पर पूर्वबंधकी समाप्ति होते मोक्ष होना ही चाहिये।

पातोपि स्थानवन्धत्वात्तस्य नास्रवतत्त्वतः। आस्रवाद् यानपात्रस्य प्रपातोऽधो ध्रुवं भवेत् ॥११॥

अर्थ—यदि यहां यह कहा जाय कि आत्मा मुक्त होने पर स्थानवाला होता है और जो स्थानवाला होता है वह अवश्य ही किसी एकस्थान में स्थिर न रह कर गिरता पडता वा विचलित होता रहता है इसलिये आत्मा भी ऊर्ध्वलोक में स्थिर न रह कर नीचे गिरना वा स्थानसे स्थानांतरित होना चाहिये, तो इसका यह उत्तर है कि—पदार्थों के स्थानांतरित होने में स्थानवत्त्व कोई कारण नहीं है किंतु आस्रवत्वकारण है। जिसप्रकार नाव में जब जल आकर भर जाता है तो वह डूब जाती है उसीप्रकार आत्मा में जब कर्मास्रव होता रहता है तब संसार में डूबता वा स्थान बदलता रहता है और जब मुक्ति अवस्थामें वह कर्मास्रवसे रहित हो जाता है तो स्थानांतरित नहीं होता।

यदि स्थानवत्त्वकोही स्थानांतरित होनेमें कारण माना जायगा तो ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो स्थानवाला न हो क्योंकि जितने भी पदार्थ हैं वे कहीं न कहीं अवश्य रहते हैं और रहते हैं इसीलिये वे हैं तो सर्वपदार्थ ही स्थानांतरित होते रहने चाहिये पर ऐसा काल आदि द्रव्यों को देखने से मिथ्या ठहरता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि मुक्त आत्मा कर्मास्रव से सर्वथा रहित है इसलिये अपने स्थान से विचलित नहीं होता।

आत्मा नीचे न पडनेका हेतु—

तथापि गौरवाभावान्न पातोस्य प्रयुज्यते। वृन्तसंवन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ॥ १२ ॥

अर्थ—पुद्गल गुरुलघुगुणके कारण बन्धन छूटते ही नीचेकी तरफ गिरजाते हैं। जैसे, डंठलका सम्बन्ध वृक्षसे छूटते ही आमका फल नीचे गिरजाता है। इसी प्रकार आत्मा भी बन्धन छूटते ही नीचे गिरना चाहिये। परन्तु आत्मामें गुरुत्व-गुण नहीं है इसलिये कर्म बंधनसे छूटनेपर वह नीचे नहीं गिरता है।

गुरुत्व गुणका होना न होना ही किसी चीजके नीचे गिरने न गिरनेका कारण होता है। अथवा गुरुत्व गुण दो प्रकारसे कहा जासकता है; १ एक तो अधोगुरुत्व, २ दूसरा ऊर्ध्वगुरुत्व। पुद्गलमें अधोगुरुत्वगुण है अधोगुरु होनेसे वह नीचे की तरफ जाता है। जीव में ऊर्ध्व गुरुत्व गुण है इसलिये कर्म बन्धन छूटते ही जीवको ऊपरकी तरफ जाना पडता है।

जीव मनुष्य पर्यायसे ही सिद्ध होते हैं। मनुष्योंका रहना अढाई द्वीपके ही भीतर है। इसलिये संसारसे जो कोई जीव मुक्त होता है वह अढाई द्वीपके भीतरसे ही होगा। मुक्त होनेपर जीव ऊर्ध्वगमन करता है—यह बात आगे कहनेवाले हैं। इस अढाई द्वीपमेंसे जो मुक्तोंका गमन होता है उसमें मोडे नहीं होते किन्तु सीधा होता है। इसीलिये यहांसे अंतपर्यंत गमन करनेमें उन्हे एक ही समय लगता है यह बात कहचुके हैं। जिस प्रकार यहांसे उनके निकलनेका क्षेत्र अढाई द्वीप-मात्र है उसी प्रकार ऊपर पहुंचकर जहां ठहरते हैं वह भी अढाई द्वीपके बराबर ही चौडा और लंबा है। क्योंकि, जो मोडा न लेकर सीधे जायंगे वे निकलनेके स्थानसे अधिक लंबे चौडे स्थानमें पसर नही सकते हैं। स्थान उतना होकर भी मुक्त जीवोंकी संख्या आज पर्यंत अनन्तों होचुकी है। यहां शंका यह है कि थोडेसे क्षेत्रमें अधिक जीव किस प्रकार रहसकते हैं?

अधिक जीवोंका थोडेसे क्षेत्रमें रहनेकी युक्ति—

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रमज्यते। परस्परापरोधोपि नावगाहनशक्तितः ॥ १३ ॥

अर्थ—चरमशरीरी जीवकी अवगाहना छोटीसे छोटी साढे तीन हाथकी होती है। बडीसे बडी सवा पांच सौ धनुष ऊंची होती है। जीव मुक्त होने पर चाहें छोटी अवगाहना वाला हो और चाहें बडी अवगाहना वाला, परंतु प्रत्येक की अवगाहनाके भीतर आकाशके असंख्यातों प्रदेश आ जाते हैं। सिद्ध स्थान अढाई द्वीप सम होनेसे उस स्थानके भीतर क्रमसे जुदे २ यदि सिद्ध रहें तो बहुत ही थोडे आ सकेंगे। परन्तु सिद्ध जीवोंकी आजतक संख्या अनंत है। वे सर्व इसलिये वहां समा जाते हैं कि जहां एक सिद्ध जीव होता है वहीं पर दूसरे तीसरे आदि अनंतों आ जाते हैं। जो जिस सीधमें आता है वह वहां पर रह जाता है। इस प्रकार आज पर्यंत एक एक स्थानमें अनंतों २ सिद्ध एकत्रित हो चुके हैं। थोडेसे क्षेत्र में अधिक जीवोंका आ जाना युक्तिबाधित इसलिये नहीं होता कि आकाशमें चाहें जिसको अवकाश देनेकी शक्ति सदा विद्यमान रहती है। जहां पर एक चीज कोई भी समाजाने पर दूसरी चीज प्रवेश नहीं कर सकती है वहां परभी आकाशके अवकाशदानरूप सामर्थ्यमें कोई हीनता नहीं होती। किंतु वे चीजें ही एक दूसरेसे टकराती हैं और प्रवेश नहीं होने देती। यदि वहां प्रवेश हो जाय तो आकाश उन्हें निकाल नहीं देगा। इसलिये आकाशकी अवकाशदान-शक्ति सदा ही अव्याहत बनी रहती है और परस्पर में जो चीजें एक दूसरेको रोकती हैं वे स्थूल हों तभी रोकती हैं, नहीं तो नहीं। अब इसका दृष्टांत कहते हैं—

नानादीपप्रकाशेषु मूर्तिमत्स्वपि दृश्यते। न विरोधः प्रदेशेऽल्पे हन्ताऽमूर्तेषु किं पुनः ॥१४॥

अर्थ—मूर्तिमान् पदार्थ भी ऐसे बहुतसे हैं जो कि थोडेसे आकाशमें बहुतसे समा जाते हैं। इसका दृष्टान्त दीपका प्रकाश है। जितने आकाश-क्षेत्रमें एक दीपका प्रकाश पसर कर रह जाता है उतने ही क्षेत्रके भीतर दूसरे तीसरे आदि दीपकोंके प्रकाश भी समा जाते हैं। जब कि यह बात सूक्ष्म मूर्तिमान् पदार्थोंमें ही दीख पडती है तो फिर अमूर्तिक अनेकों जीव एकत्र आ जांय तो क्या हानि है?

भावार्थ, एक दूसरेको अवरोध करनेकी शक्ति स्थूल मूर्तिमान् पदार्थमें ही रह सकती है। सूक्ष्म मूर्तिमान् पदार्थमें वह शक्ति दबी रहती है और अमूर्तिकमें वह शक्ति रहती ही नहीं है। आत्मा अमूर्तिक द्रव्य है इसलिये वे एकैक क्षेत्र में अनंतों रह सकते हैं और रहते हैं।

यदि जीव द्रव्य अमूर्तिक हैं तो निराकार होनेसे उसका सद्भाव भी सिद्ध कैसे हो सकेगा? इसका उत्तर—

आकारभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते। अनन्तरपरित्यक्तशरीराकारधारिणः ॥१५॥

अर्थ—जीव अमूर्तिक अवश्य है। परन्तु जो अमूर्तिक होता है उसका भी आकार अवश्य होता है। जिस शरीरको छोड कर जीव मुक्त होता है उसी शरीरके बराबर जीवका मुक्तावस्थामें आकार रहता है। इसलिये जब कि जीवका आकार है तो अभाव कैसे कहा जा सकता है? यह नियम तो अवश्य है कि जिसका कोई आकार न हो वह कोई चीज नहीं हो सकती है। इसीलिये जो वस्तु है उसका आकार अवश्य होता है।

आकारके अर्थ दो होते हैं, एक तो लंबाई-चौडाई-मोटाई, दूसरा मूर्तिकता। मूर्तिकता तो सबोंमें नहीं होती। परंतु लंबाई चौडाई मोटाईकी अपेक्षासे सभी आकारवान् हैं। यदि मूर्तिकता अर्थ माना जाय तो पुद्गल आकारवान् है और बाकी सर्व निराकार हैं। जहां सद्भावसे आकारका संबंध माना जाता हैं वहां लंबाई चौडाई मोटाई ही आकारका अर्थ होता है।

आत्माकी शरीराकारता—

शरीरानुविधायित्वे तत्तद्भावाद्विसर्पणम्। लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः ॥ १६ ॥

अर्थ—शरीर जीवके आकारको अपने अपने बराबर बनाया करते हैं। जब जो शरीर जीवको प्राप्त होता है तब वह

पहिले शरीराकारको मिटाकर अपने बराबर करलेता है। अनादिकालसे यही हालत जीवकी होरही है। कुछकुछ समयके बाद नये नये शरीर जैसे प्राप्त होते हैं वैसे ही जीवको उन शरीरोंके पराधीन होना पडता है।

जीवके साथ जिस प्रकार शरीरका सम्बन्ध होना संभव है उसी प्रकार शरीरके भीतर प्रवेशकरके रहना भी संभव है। शरीरका सम्बन्ध होना जो मानते हैं उन्हें शरीरके भीतर प्रवेश करना भी मानना ही पडता है। यह प्रवेश जीवके कुछ थोडेसे हिस्सेका नहीं होकर पूरा ही प्रवेश हुआ मानना चाहिये। यदि थोडासा प्रवेश हुआ माना जाय तो शेष अंश मुक्त कहना पडेगा। ऐसी अवस्थामें जीव कुछ मुक्त और कुछ अमुक्त कहना पडेगा। परन्तु एक ही समयमें ये दोनो बातें होना असम्भव हैं। इसलिये जीव यद्यपि वास्तविक देखा जाय तो लोकाकाशके तुल्य विस्तीर्ण होने योग्य है। कभी कभी उतना विस्तीर्ण भी होजाता है। परन्तु शरीरके सम्बन्धको छोडकर कभी कहीं जा भी नहीं सकता है और रह भी नहीं सकता है। कर्मबन्धकी अथवा शरीरसम्बन्धकी यह सब महिमा है।

जब यह जीव इन कर्मबन्धनोंसे और सम्बन्धसे छूटकर मुक्त होता है तब जिस अंतिम शरीरको छोडकर यह जुदा होता है उसी शरीरके आकारको रखता है। फिर उस आकारमें कभी फेर फार नहीं होता बंधनवश जो फेर फार होता था उस फेर फारको अब कौन करे? निष्कारण कोई भी कार्य नहीं होसकता है। संकोच व विस्तार पराधीनतावश होता था और इसलिये वह संकोच–विस्तारका होना विकाररूप कार्य था। विकारके हटते ही वह कार्य होना भी अतएव बन्द पडजाता है।

शरीराकार होनेका दृष्टांत—

शरावचन्द्र(?)शालादि द्रव्यावष्टम्भयोगतः। अल्पो महांश्च दीपस्य प्रकाशो जायते यथा॥१७॥

अर्थ—सरवा, घट, मकान–इत्यादि जैसे आवरण करनेवाले छोटे बडे द्रव्यका सम्बन्ध होता है दीपक वैसा ही अपने प्रकाशको संकुचित तथा विस्तृत बनाकर रहने लगता है। जब जिसके भीतर वह दीपक रहता है उस समय उस द्रव्यके बाहिर अपना प्रकाश नहीं ले जासकता किंतु उसीके भीतर समाकर रहता है। अपने प्रकाशको भी उसीके भीतर रखता है यदि आवरण करनेवाले द्रव्यके बाहिर दीपकका प्रकाश चला जाय तो उसका आवरण ही क्यों कहाजाय?

इस दृष्टांतका उपसंहार—

संहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः। तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे॥ १८॥

अर्थ—जिस प्रकार आवरणवश दीपकके प्रकाशका संकोच [illegible] विस्तार होता है उसी प्रकार कर्म व शरीरके बन्धनसे पराधीन हुआ जीव तदनुसार संकोचको तथा विस्तारको प्राप्त होता रहता है। पराधीनताके कारण जब नहीं रहते हैं तब न संकोच होता है न विस्तार होता है।

अब रही यह बात कि जिस प्रकार आवरण द्रव्यका अभाव होनेपर दीपकका प्रकाश अंतिम आवरणकी मर्यादासे अधिक पसरजाता है उसी प्रकार शरीरादिबन्धनोंका अभाव होनेपर आत्मा लोकाकाशके बराबर अपने सर्व प्रदेशोंका विस्तार क्यों नहीं करता है?

इसका उत्तर एक तो यह है कि दृष्टांतके सर्व गुणधर्मोंकी दार्ष्टांतमें तुलना नहीं होती है। यदि सर्व गुणधर्म दोनोंके एकसे ही हों तो एकको दृष्टांत और दूसरेको दार्ष्टांत कौन कहै? दूसरा इसीसे मिलता हुआ उत्तर यह भी है कि दीपकके प्रकाशका पसरनेका स्वभाव तो स्वयं है और संकोच होना पराधीन है। इसीलिये आवरणोंके वश वह रुकता है और आवरण हटने पर पसर जाता है। आत्मामें यह बात नहीं है। आत्मामें न संकोच होनेका ही धर्म स्वभावरूप है और न पसरना ही स्वभाव है। इसका पसरना और संकुचित होना—ये दोनो बातें पराधीन हैं।

दीपकसे इसके स्वभावमें इतना अन्तर होनेका कारण मूर्तिकता व अमूर्तिकता होसकता है। दूसरा यह भी कारण होसकता है कि दीपकके और प्रकाशके प्रदेश तो भिन्न भिन्न हैं। शब्दसे शब्दांतर उत्पन्न होनेकी भांत प्रकाशसे प्रकाशांतर उत्पन्न होता हुआ कुछ दूरतक पसरता है। वह उत्पत्ति आवरणके होते हुए मर्यादित क्षेत्रमें होती है और आवरण न हो तो जहांतक होसके वहां तक होती है। आत्मामें यह बात नही है आत्मामें जो कुछ पसरना है या संकुचित होना है वह उसीके प्रदेशोंका है। इसलिये जब संकोचक निमित्त मिलते हैं तब उसका संकोच होता है और जब विस्तारके निमित्त मिलते हैं तब उसका विस्तार होता है।

संकोच और विस्तार परस्परमें विरोधी स्वभाव हैं। विरोधी स्वभाव एक वस्तुमें एक साथ नही रह सकते हैं। विरो-[illegible] [illegible] करनेका कारण केवल वह पदार्थ नहीं हो सकता जिसमें कि वे विरोधी धर्म रहते हों। किंतु उनके प्रगट [illegible] करनेका कारण परवस्तु हुआ करता है जिसे कि उपाधि कह सकते हैं। जिस प्रकार कि जलमें शीतलता और उष्णता [illegible] कारण सूर्य परिभ्रमणके द्वारा होनेवाले ऋतु आदि होते हैं इसीलिये शीतोष्णताका होना उपाधिके अधीन

है। इसी प्रकार आत्मामें संकोच विस्तारका होना उपाधिके अधीन है। जो बातें उपाधिजन्य होती हैं उनमेंसे उपाधि हटने पर एक भी बात नहीं होती।

ऐसे उपाधिजन्य परस्पर विरोधी अनेक कार्योंमेंसे कहीं पर तो एक कोई धर्म वस्तुमें रहता है और शेष उपाधि मिलने पर होते हैं नहीं तो नहीं। जैसे जलकी उष्णता उपाधिजन्य है और शीतता मूलका ही धर्म है। अथवा प्रकाशका विस्तार होना मूलसे ही है और संकोच होना पराश्रित है। एवं कहीं २ पर ऐसे दो धर्मोंमेंसे एक भी मूल वस्तुका नहीं होता। जैसे, स्फटिकमें हरे पीले लाल आदि जो कुछ रंग दीख पड़ते हैं वे सभी उपाधिजन्य होते हैं। अथवा दर्पण में जितने प्रकारकी छाया पड़ती हैं वे सब उपाधिजन्य होती हैं। एक भी प्रतिबिंब स्वाभाविक नहीं होता। इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्मोंके ये दो प्रकार हैं कि कोई तो ऐसे कि उनमें से एक मूल का, बाकी उपाधि जन्य और कोई ऐसे कि अनेकोंमेंसे सभी उपाधिजन्य। आत्माके जो संकोचविस्तार धर्म हैं वे भी सभी उपाधिजन्य हैं। उन दोनोंमेंसे मूलका एक भी धर्म नहीं है। इसीलिये इसके लिये जो दीपका प्रकाश दृष्टान्त बताया है वह एकदेशी दृष्टांत समझना चाहिये।

शरीर संबंध छूटने पर आत्माका संकोच विस्तार न होनेके विषयमें गीले कपडेका दृष्टान्त भी दिया जाता है। गीलेकपडेको कोई संकोचना चाहें तो संकुचित भी हो जाता है और विस्तारना चाहे तो विस्तर भी जाता है। परन्तु जितने विस्तार या संकोच की दशामें उसे छोड दिया जाय उससे अधिक अपने आप न संकोच ही होता है और न विस्तार ही होता है। उसी प्रकार आत्मा शरीरसंबंधों द्वारा संकुचित भी होता है और विस्तृत भी होता है। परंतु शरीर सम्बन्ध छूटने पर वह न अधिक संकुचित ही होता है और न विस्तृत ही होता है।

शंका—जिस प्रकार बंधन छूटने पर न विस्तार होता है न संकोच होता है उसी प्रकार क्या गमन भी नहीं होता?

उत्तर—

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात्। अवस्थानं न मुक्तानामूर्ध्वव्रज्यात्मकत्वतः॥१९॥

अर्थ—जड पदार्थ कुछ ऐसे होते हैं कि सांकल रस्सी आदिके बंधन जो पहिले थे वे छूट जाने पर पदार्थ ज्योंके त्यों पडे रहते हैं। परन्तु वह बात जीवोंमें नहीं है। जीव प्रत्येक बातमें पुद्गलसे प्राय उलटे स्वभाववाला है। पुद्गल निष्क्रिय है तो जीव सक्रिय है। पुद्गल मूर्तिक है तो जीव अमूर्तिक हैं। पुद्गल जड है तो जीव चेतन है। पुद्गलके तिरछे

व ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी हैं परतु एकेक पर्यायगत वे सर्व स्वभाव हैं। यथार्थमें गुरुत्व धर्मके होनेसे पुद्गलका अधोगमन स्वभाव है। ठीक उससे उलटा जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। पुद्गल के वायु अग्नि आदि पर्यायोंमें संबंधविशेषसे इधर उधर भी गमन होता है परतु वह उपाधिजन्य है। उसी प्रकार जीवके संसार अवस्थामें जो गमन होते हैं वे भी उपाधिजन्य होते हैं। जीवमें उपाधि कर्म होता है और पुद्गलमें आपसके ही दूसरे पुद्गल बंधनकी विचित्रता करके उपाधि रूप बन जाते हैं।

कर्मक्षयका क्रम—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्तस्यात्मनो भृशम्। निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसंततौ ॥२०॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः। संसारबीजं कात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥२१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रके सामर्थ्यसे आत्मा आस्रवको रोकता है जिससे कि नवीन आनेवाली कर्मसंतति रुकजाती है। नवीन कर्मोंका आना रुका कि आत्मा पूर्वार्जित कर्मोंका भी क्षय करना सुरू करता है। कर्मक्षपणाके हेतु जो पहिले कह चुके हैं वे ही हैं। उन हेतुओं द्वारा सबसे प्रथम मोहनीय कर्मका क्षय होता है। मोहनीय कर्म ही सब कर्मोंका और संसारका असली कारण है। उसका यहांपर संपूर्ण क्षय करना पडता है। जबतक इसका समूल नाश न हो तबतक दूसरे कर्मोंकी जड कटना असंभव है।

मोहक्षयके बाद किन कर्मोंका क्षय होता है?—

ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यऽनन्तरम्। प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥२२॥

अर्थ—मोहक्षय हुआ कि बादमें एकसाथ अन्तराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण—ये तीन घाती कर्म समूल नष्ट होजाते हैं। मोहका क्षय होनेपर शेष कर्म टिक ही नहीं सकते हैं।

दृष्टांत—

गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा बालो विनश्यति। तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥२३॥

अर्थ—जिस प्रकार गर्भसूची नष्ट होते ही गर्भगत बालक मरजाता है उसी प्रकार मोहकर्म हटते ही कर्म नष्ट होने

लगते हैं। गर्भसूची बिगडनेपर जिस प्रकार बालक थोडी देरतक भी जी नहीं सकता उसी प्रकार मोहनष्ट होनेपर कर्मोंमें टिकनेकी शक्ति नहीं रहती है इस प्रकार यहांतक घाती चारो कर्मोंका नाश होजाता है।

स्नातक अवस्थाकी प्राप्ति—

ततः क्षीणचतुष्कर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम् । बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ॥२४॥

अर्थ—चारो घातीकर्म नष्ट होते ही अथाख्यात अथवा यथाख्यात संयमकी प्राप्ति होती है। बीजके समान बंधनका निर्मूल नाश होनेसे बन्धनरहित हुए योगी स्नातक कहाने लगते हैं। उसी समय परम ऐश्वर्यके प्रगट होनेसे वे परमेश्वर कहाने लगते हैं।

परमैश्वर्यके चिन्ह—

शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥२५॥

चारो—घाती कर्मोंका नाश हो जानेसे वे योगी सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं। बुद्ध कहाने लगते हैं। सर्व आधि व्याधियोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् अठारह दोषोंसे रहित हो जाते हैं इसलिये निर्दोष कहाने लगते हैं। एवं सर्वज्ञाता सर्वदृष्टा केवली जिन इत्यादि परमेश्वरताके सूचक अनंतों गुण प्रगट होते हैं । इतने गुण प्रगट होनेपर भी अघाति कर्मोंके फलानुसार शरीरसहित रहना पडता है। इसीको जीवन्मुक्त अवस्था कहते है।

निर्वाणप्राप्ति—

कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति ।

अर्थ—शेष रहे हुए अघाती कर्मोंका जब नाश पूरा हो जाता है तब बादमें जीव शरीर छोडकर निर्वाणको प्राप्त होता है।

दृष्टान्त—

यथा दग्धेन्धनो वन्हिर्निरुपादानसंततिः ॥२६॥

अर्थ—जैसे, संगृहीत ईंधनको जलाकर अग्नि शांत हो जाता है। जब ज्वाला बढनेका उपादान कारण ईंधन रहेगा ही नहीं तो ज्वाला उठेगी और भडकेगी कहांसे ? इसी प्रकार बंधनका, भडकानेका या उद्विग्न करनेका कारण कर्म है। वह जब नष्ट हो चुका तब जीवका निर्वाण होना ही समय प्राप्त है।

निर्वाण होने पर ऊर्ध्वगमन—

तदनन्तरमेवोर्ध्वमा लोकान्तात् स गच्छति । पूर्वप्रयोगासंगत्वाद्बन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥२७॥

अर्थ—निर्वाण होते ही जीव ऊपरकी तरफ लोकाकाशके अंत पर्यंत गमनकर चला जाता है। इस गमनके हेतु चार हैं, (१) पूर्वप्रयोग, (२) असंगता, (३) बंधनच्छेद, (४) ऊर्ध्वगमन स्वभाव, अथवा ऊर्ध्वगौरव धर्म।

पूर्वप्रयोगहेतुका सदृष्टांत स्वरूप—

कुलालचक्रं दोलायामिषौ चापि यथेष्यते । पूर्वप्रयोगात्कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥२८॥

अर्थ—कुलाल चक्रको एक वार फिरा देता है बादमें लकडी हटालेने पर भी पूर्वप्रयोग वश वह चक्र फिरता है। अथवा बाण छोडते समय एक वार छोडनेकी किया करनी पडती है, बादमें वेग ऐसा उत्पन्न होता है कि वह बाण बिना ही प्रेरणाके आगे चलता चला जाता है। इसी प्रकार जीवने मुक्तिके लिये जो बहुतसा निरंतर संयमधारणरूप प्रयत्न किया था उसी पूर्वप्रयोगके वश शरीर छूटनेपर भी सिद्ध स्थानकी तरफ गति होती है।

असंगतारूप हेतुका सदृष्टान्त स्वरूप—

मृल्लेपसंगनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाऽप्स्वऽलाबुनः । कर्मबन्धविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥२९॥

अर्थ—बंधन छूटना-यह असंगताका अर्थ है। बंधन छूटनेसे बहुतसी चीजें नीचे से ऊपरकी तरफ आया करती हैं। जैसे, माटीका लेप लगी हुई तूंबडी ऊपर आ जाती है। इसी प्रकार कर्म बंधन छूटनेपर सिद्ध जीवोंकी ऊर्ध्वगति होती है।

बंधनच्छेद हेतुका सदृष्टान्त स्वरूप—

एरण्डस्फुटदेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः । कर्मबन्धनविच्छेदाज्जीवस्यापि तथेष्यते ॥३०॥

अर्थ—अंडीका बोंड सूखकर जब फटता है तब अंडीके बीज उसमेंसे उछल कर ऊपर जाते हैं। यह जिस प्रकार दृष्टांत है उसी प्रकार बंधनच्छेद होनेपर जीव भी ऊर्ध्वकी तरफ गमन करता है। इसलिये विशिष्ट बंधनच्छेद ऊर्ध्वगति करानेवाला मानना चाहिये।

ऊर्ध्वगौरव हेतुका सदृष्टान्त स्वरूप—

यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः । स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनः ॥३१॥

अर्थ—पदार्थोंके स्वभाव तर्कणीय नहीं हो सकते हैं। जो जिसका स्वभाव जैसा दीख पडता है उसका वह वैसा ही स्वभाव मानना चाहिये। जिस प्रकार माटी पत्थर आदिकोंका स्वभाव है कि उन्हें कोई रोकनेवाला न हो तो वे नीचेकी तरफ गिरते हैं एव, वायुका स्वभाव तिरछा चलनेका है। अग्निका स्वरूप ऊर्ध्वगामी है। उसी प्रकार जीव मुक्त होने पर ऊपर जाता है इसलिये ऊर्ध्वगति जीवका स्वभाव मानना चाहिये।

अग्निका ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी वह वायुके झकोरोंसे तिरछा चलने लगता। अनेक वायु परस्पर टकराते हैं उस समय वायुका भी ठीक तिरछा गमन नहीं रहता है पत्थरको ऊपरकी तरफ फेंका जाय तो ऊपरकी तरफ भी वह चला जाता है। ये सर्व प्रकारके गमन स्वाभाविक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनकी प्रवृत्ति परनिमित्तोंसे होती है। जो इनकी परनिमित्त न रहने पर गति होती है वह एकेक प्रकारकी ही होती है और वही गति स्वाभाविक समझनी चाहिये। इसी प्रकार कर्माधीन जीवकी भी जो गति होती है वह सर्व औपाधिक समझनी चाहिये।

जीव पुद्गलोंके गतिभेदका हेतु—

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः । अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥३२॥

अर्थ—कुछ लोग गुरुत्व-शब्दका अर्थ ऐसा करते हैं कि जो नीचेकी तरफ चीजको गिराता है वह गुरुत्व धर्म है। परंतु हम इसका अर्थ करते हैं कि जो किसी भी तरफ किसी चीजको ले जाय वह गुरुत्व है। वह चाहे नीचेकी तरफ ले जानेवाला हो अथवा ऊपरकी तरफ। नीचेकी तरफ ले जानेका सामर्थ्य तथा ऊपरकी तरफ ले जानेका सामर्थ्य इत्यादि उसी गुरुत्वके उत्तर भेद हो सकते हैं। इसलिये गुरुत्वका जो सामान्यार्थ हमने किया है वह ठीक है। इन उत्तर भेदोंमेंसे पुद्गल अधोगुरुत्व-धर्मवाले होते हैं और जीव ऊर्ध्वगुरुत्ववाले होते हैं। पुद्गलद्रव्यमात्रका यदि गुरुत्व धर्म देखना हो तो अधोगुरुत्व ही है। तिर्यग्गुरुत्व आदि जो वायु आदिकोंमें दीख पडता है वह भी पर्याय विशेषोंका धर्म है। इसलिये पुद्गलका अर्थ यहां पर लोष्टपाषाणादि करनेसे वायु आदिकोंमेंसे दोष परिहार हो सकता है। अतः मानना चाहिये कि जिनेन्द्र भगवानने जो गुरुत्वके उत्तर भेद किये हैं वे ठीक हैं।

जीवकी नाना गतियोंका हेतु—

अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते । कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥३३॥

अर्थ—ऊर्ध्वगमन जीवका स्वभाव होनेसे जो गति इस शुद्ध ऊर्ध्वगतिसे विकृत दीख पडती है सर्व कर्मकी प्रेरणासे और कर्मके आघातसे होनेवाली समझनी चाहिये ।

शंका—ऊर्ध्वगतिके अतिरिक्त जो अधोगति अथवा तिर्यग्गति हैं ये तो कर्मजन्य हो सकती हैं क्योंकि वे शुद्धगतिसे विरुद्ध हैं । परन्तु जो स्वर्गादिगामी संसारी जीवोंका ऊर्ध्वगमन होता है उसे विकृत गमन समझना चाहिये या शुद्ध ?

उत्तर—शुद्ध उसे कहते हैं जो कि पर निमित्तके विना ही हो और एकरूप ही सदा परिणमती हो । संसारी जीवकी गति चाहे तिरछी हो चाहें ऊर्ध्व परंतु वह सभी कर्मजन्य होती है । इसलिये संसारी जीवकी ऊर्ध्वगतिको भी विकृत गति ही कहना चाहिये ।

उपसंहार—

अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः । ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम् ॥३४॥

अर्थ—जीवोंकी कर्मजन्य गति तीनों प्रकारसे हो सकती है, अधोगति भी हो सकती है और तिर्यक् तथा ऊर्ध्वगति भी हो सकती है । परंतु जो कर्मोंका नाश कर चुके हैं उन जीवोंकी ऊर्ध्वगति ही होती है और वही स्वाभाविक है ।

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीचयः । समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ॥३५॥

अर्थ—जिस प्रकार द्रव्य कर्मोंकी उत्पत्ति होनेके साथ २ ही प्रदेशपरिस्पन्दादिरूप अशुद्धताके कार्य सुरू हो जाते हैं उसी प्रकार कर्म बंधन पूरा नष्ट होते ही जीवका संसारवास नष्ट होता है और मोक्षस्थानकी तरफ गमन सुरू हो जाता है।

अर्थात् शुद्ध गमनका कारण भवक्षय होना है और अशुद्ध प्रवृत्तिका कारण कर्मका सहवास है । सूक्ष्मतासे विचार किया जाय तो कारण कार्यका एक ही समय होता है । इसीलिये जीवका जब भव क्षीण होता है उसी समय ऊर्ध्वगमन कार्य सुरू हो जाता है ।

उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह । युगपद्भवतो यद्वत् तद्वन्निर्वाणकर्मणोः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाश और अंधकारके उत्पाद तथा नाश युगपत् होते हैं उसी प्रकार कर्मका नाश और निर्वाण के उत्पाद युगपत् होते हैं।

परस्पर विरोध रखनेवालोंमें यही नियम होता है कि एकका नाश हो तो दूसरा उत्पन्न हो। अथवा किसी भी कार्यके कारण दो प्रकारके होते हैं; एक तो उसके साधकरूप, दूसरे बाधकाभावरूप। जो साधकरूप होते हैं वे कार्यके पूर्वक्षणमें रहसकते हैं। परन्तु जो बाधकाभावरूप होते हैं वे जिस क्षणमें उत्पन्न होते हैं उसीक्षणमें कार्य सिद्ध होता है।

उदाहरणार्थ प्रकाश अंधकारका विरोधी है इसलिये इन दोनोंमें यही नियम स्वयं सिद्ध बना हुआ है कि जब एक हो दूसरा न हो। अथवा तम प्रकाशका बाधक है और प्रकाश तमका बाधक है। इसलिये बाधकरूप तमका जब अभाव होगा उसी समय प्रकाशका प्रादुर्भाव होगा। इसी प्रकार कर्म निर्वाण अवस्था होनेका बाधक है। इसलिये कर्मका अभाव जिस क्षणमें होगा उसी क्षणमें निर्वाणावस्थाका प्रादुर्भाव भी होगा।

कर्मजन्य अवस्थाको संसारावस्था कहते हैं। कर्म आठ हैं। संसारावस्थाके भी इसीलिये आठ प्रकार किये जासकते हैं।

(१) ज्ञानावरणके रहनेसे अज्ञानांशका होना—यह एक भेद हुआ।

(२) दर्शनावरणके रहनेसे दर्शनांशका अभाव रहना दूसरा भेद हुआ।

(३) वेदनीयके रहनेसे आकुलता रहना अथवा व्याबाधा बनी रहना—यह तीसरा भेद हुआ।

(४) मोहनीयके रहनेसे आत्माका मोहित होकर रहना चौथा भेद हुआ।

(५) आयुके रहनेसे शरीर सहित स्थूल होकर रहना पांचवां भेद हुआ।

(६) नामकर्मके रहनेसे अपनी अवगाहनामें न रहकर शरीरावगाहनमें रहना—यह छट्ठा भेद हुआ।

(७) गोत्रकर्मके होनेसे पराधीन ऊंचपना या नीचता रहना—यह सातवां भेद हुआ।

(८) अंतरायके रहनेसे निर्बल होकर रहना—यह आठवां भेद हुआ।

इस प्रकार कर्मजन्य जीवकी आठ अवस्था होसकती हैं। इन्हीं आठ अवस्थाओंको समुदायरूपसे कहा जाय तो एक असिद्धत्व अथवा संसार—यह नाम प्राप्त होता है। इन आठों विकारोंके हट जानेसे जो अवस्था होती हैं उनका सामान्य एक नाम निर्वाण है। विशेष नाम देखें तो आठ होंगे। आगे उन्हीं प्रत्येक नामोंको क्रमसे सहेतुक दिखाते हैं—

प्रथमज्ञानस्वभाव—

ज्ञानावरणहानात्ते केवलज्ञानशालिनः ।

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मका पूर्णनाश होजानेसे भगवानको केवलज्ञान प्राप्त होता है। यह निर्वाण अवस्थाका एक मुख्य स्वरूपविशेष है।

दूसरा दर्शन—

दर्शनावरणोच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—दर्शनावरणका पूरा ध्वंस होजानेसे मुक्त जीव केवलदर्शनयुक्त होजाते हैं। यह दूसरा मुक्तिका विशेष स्वरूप है।

तीसरा अव्याबाध—

वेदनीयसमुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः ।

अर्थ—वेदनीयकर्मका नाश होजानेसे मुक्त जीवोंमें अव्याबाध नाम का तीसरा गुण प्रगट होता है।

चौथा सम्यक्त्व—

मोहनीयसमुच्छेदात् सम्यक्त्वमचलं श्रिताः ॥ ३८ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मका नाश होजानेसे अचल सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है। यह निर्वाणका एक चौथा स्वभावविशेष है। मोहके भेद यद्यपि दर्शनमोह तथा चारित्र ये दो होते हैं परन्तु मोहित करना—ऐसा सामान्य अर्थ माननेसे मोह एक ही कहा जाता है। उसी प्रकार उस मोहके अभावसे प्रगट होनेवाले गुणको भी सामान्यरूपसे कहें तो मोहका उलटा सम्यक्त्व होजाता है। उसीके उत्तरभेद दर्शन व चारित्र होजाते हैं। यहांपर सामान्यकी विवक्षा होनेसे सम्यक्त्व—ऐसा एक गुण इसीलिये कहा है। चारित्रका इसीमें अंतर्भाव होजाता है। इसीबातको ग्रंथकारने अचल विशेषण द्वारा सूचित किया है। अचलता अर्थात् चारित्र। उस अचलताको अन्तर्गत करनेवाला सम्यक्त्व स्वरूप मोहके सर्वसामान्य अभावसे ही प्रगट होसकता है। जो केवल दर्शनमोहनीयके अभावसे सम्यक्त्वका प्रकाश होता है उसमें अचलता नहीं आसकती है। इसीलिये चारित्रको जुदा न कहनेपर भी चारित्रमोहके अभावसे होनेवाली अवस्थाका ग्रहण होजाता है और आठ कर्मोंके अभावसे आठ गुणोंका कहना ही युक्तियुक्त ठहरता है।

पांचवां, सूक्ष्मत्वस्वभाव—

आयुःकर्मसमुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः।

अर्थ—आयुःकर्मका अभाव होजानेसे आत्मा परम सूक्ष्मत्व गुणको प्रकाशित करता है। अमूर्तिक आत्माका यह भी एक पांचवां स्वभावविशेष है।

छट्ठा अवगाहन स्वभाव—

नामकर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः ॥ ३९ ॥

अर्थ—नामकर्म शरीरको उत्पन्न करके आत्माकी अवगाहनाको आत्मामें नहीं रहने देता किन्तु शरीराश्रित करदेता है। इसीलिये नामकर्मके अभावसे जो आत्मामें अवगाहित होकर रहनेकी अवस्था प्रगट होजाती है उसे छट्ठा अवगाहन नाम का गुण विशेष कहते हैं और यह भी निर्वाणावस्थाका ही एक भेद है।

सातवां अगुरुलघुत्व—

गोत्रकर्मसमुच्छेदात् सदाऽगौरवलाघवाः।

अर्थ—गोत्रकर्मके अभावसे गुरुता और लघुता—ये दोनो ही बाते हटकर अगुरुलघुत्व अवस्था प्रगट होती है। संतान क्रमसे जो जीवोंमें आनुवंशिक संस्काराधीन प्रवृत्ति होती है उसे गोत्र कहते हैं। उसके सामान्य भेद दो हैं; उच्चता व नीचता। इसी उच्चता अथवा नीचताकी प्राप्तिमें जो कर्म असाधारण सहायक होता है उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इस गोत्रकर्म का निर्मूल नाश होजानेसे वंशानुविधायी उच्चत्व भी नष्ट होजाता है और नीचत्व भी नष्ट होजाता है। इसी अवस्थाविशेष को अगुरुलघुत्व कहते हैं। यह निर्वाणावस्थाकी सातवीं अवस्था अथवा विशेषता हुई।

आठवा बलगुण—

अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यमाश्रिताः ॥ ४० ॥

अर्थ—अन्तरायकर्मका नाश होजानेसे परिपूर्ण बल प्रगट होता है। किसी प्रकारकी निर्बलता अथवा निर्बलतासंबंधी कार्यकी अपूर्णता न दीख पडनेसे इस गुणका सद्भाव माना जाता है। निर्वाणरूप सामान्य अवस्थाका यह एक आठवां भेद है।

इस प्रकार निर्वाण अवस्थामें प्रगट होनेवाले ये आठ विशेष स्वभाव ऐसे हैं जो कि संसारावस्थामें कर्मके सम्बन्धसे नष्ट प्राय होकर रहते हैं। जो गुण अथवा स्वभाव कर्मोंसे नष्ट नहीं होते वे यहां इसलिये नहीं गिनाये हैं कि उनके द्वारा निर्वाणकी विशेषता जाननेमें कोई सहायता नहीं होती। इसका कारण यह है, कि वे संसारावस्थामें भी रहते हैं और सिद्धावस्थामें भी रहते हैं। इन दोनों ही प्रकारके स्वभाव गुणोंके उत्तरभेद देखें तो अनन्तों दीख पडते हैं।

सिद्धावस्था प्राप्त हो जाने पर जीवोंके सर्व ही गुण स्वभाव बाधक-घातक न रहने पूर्णरूपसे और एकसे प्रगट हो जाते हैं। इसीलिये सिद्ध जीवोंमें साक्षात् देखा जाय तो परस्परमें कोई अंतर नहीं होता। यद्यपि समान होनेपर भी प्रदेशादिक जुदे २ तो रहते ही हैं तो भी समानताके कारण उन्हें जुदे २ कहना नहीं बनता। क्योंकि, जुदे पनेका व्यवहार विसदृश वस्तुओंमें ही होता है और जुदापन करनेका कारण विसदृशता ही होती है। सिद्धावस्थामें किसी भी प्रकारकी विसदृशता न रहनेसे जुदेपनका व्यवहार कैसे हो? इस आकांक्षाको मिटानेके लिये ग्रंथकार उपचरित जुदापन सिद्ध करनेवाले कुछ कारण दिखाते हैं। वे कारण बारह प्रकारसे दिखाये गये हैं।

सिद्धोंमें भेद साधक कारणोंके नाम—

काललिंगगतिक्षेत्रतीर्थज्ञानावगाहनैः। बुद्धबोधितचारित्रसंख्याल्पबहुतान्तरैः ॥४१॥

अर्थ—१ काल, २ लिंग, ३ गति, ४ क्षेत्र, ५ तीर्थ, ६ ज्ञान, ७ अवगाहन, ८ प्रतिबोध, ९ चारित्र, १० संख्या, ११ अल्पबहुत्व, १२ अन्तर—इन बारह नातोंसे सिद्धोंमें परस्पर उपचरित भेद सिद्ध होता है।

कालादिकोंका विनियोग कैसे होगा? इसका उत्तर—

प्रत्युत्पन्ननयादेशात्ततः प्रज्ञापनादपि। अप्रमत्तैर्बुधैः सिद्धाः साधनीया यथागमम् ॥४२॥

अर्थ—प्रत्युत्पन्ननयोंकी अपेक्षासे और प्रज्ञापननयोंकी अपेक्षासे सावधान विद्वान् मनुष्य आगमानुसार कालादिकोंका विनियोग करके सिद्धोंमें परस्पर भेद सिद्ध कर सकते हैं। ऋजुसूत्र नयको तथा तीनों शब्दनयोंको[1] प्रत्युत्पन्न नय कहते हैं। शेष तीनो नयोंको प्रत्युत्पन्न भी कहते हैं और प्रज्ञापननय भी कहते हैं।

---

१ ऋजुसूत्रनय- शब्दभेदाश्च त्रय- प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिण। शेषा नया उभयभावविषयाः। इति वार्ति॰

(१) कालका विनियोग—सिद्ध होनेका काल देखकर सिद्धोंमें परस्पर भेद मानना कालकृत भेद है । सामान्य रूपसे देखें तो किसी भी एकेक समयमें जीव सिद्ध होता है । अथवा यों कह सकते हैं कि कोई उत्सर्पिणीमें व कोई अवसर्पिणी में सिद्ध होता है । एक समयमें सिद्ध होना कहना प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे ठीक है । प्रज्ञापन नय यहां पर भूत अथवा भावी हो सकता है । उसके भी फिर दो प्रकारसे विनियोग होंगे, जन्मसे और संहरणसे । जन्म नाम उत्पत्ति । संहरण नाम मरण । जन्म से देखें तो अवसर्पिणीके तीसरे कालके अंत भागमें जन्मा हुआ अथवा चतुर्थ कालमें जन्मा हुआ सिद्ध होता है । जिसका जन्म तीसरेमें हुआ हो वह तीसरेमें भी सिद्ध हो सकता है और चौथेमें भी सिद्ध हो सकता है चौथे में उत्पन्न हुआ चौथे में सिद्ध हो सक्ता है और पांचवेंमें भी हो सकता है । परन्तु पांचवें कालमें जन्मनेवाला सिद्ध नहीं हो सकता है । पहिले, दूसरे तथा छट्ठे कालमें जन्मनेवाला भी सिद्ध नहीं होता है । यह जन्मकी अपेक्षा सिद्ध होनेका कालविभाग हुआ । मरण की अपेक्षा से चाहें जिस कालमें मरण करनेवाला सिद्ध हो सकता है । इसका तात्पर्य यह है कि विदेहमें सदा ही चतुर्थ काल रहता है और मुक्त होनेका क्रम भी सदा ही जारी रहता है । वहांका जन्मा हुआ जीव यदि सिद्ध होनेकी सन्मुख अवस्था होनेपर भरत ऐरावतमें प्रथमादि कालोंके समय लाकर रखदिया जाय तो उस कालमें भी उसका मरण हो सकता है । परन्तु यह बात उपसर्गकी अपेक्षासे संभवती है । इस प्रकार कालकृत भेद सिद्धोंमें परस्पर हो सकता है ।

(२) लिंगका अर्थ वेद भी है और निर्ग्रंथ तथा सग्रंथ वेश भी है । वेद—भाववेद तथा द्रव्य वेद । भूतनयकी अपेक्षा से तीनों भाववेद सहितकी मुक्ति होती है । कोई किसी भाववेद सहित वेदका नाश करके मुक्त होता है और कोई किसी भाववेद सहित । द्रव्य वेद सबोंका पुरुष वेद ही हो सकता है । ऋजुसूत्र नयसे देखें तो सर्व भाववेद नष्ट होनेपर मुक्ति होती है और द्रव्यवेद अंतपर्यंत रहता ही है । लिंगका अर्थ वेश किया जाय तो भूतनयसे सग्रंथलिंगी भी मुक्त होता है । ऋजुसूत्र नयसे निर्ग्रंथलिंगी ही मुक्त होता है ।

(३) वर्तमानकी अपेक्षा सिद्धगतिमें ही सिद्धि होती है । नैगमनयसे देखें, तो अनंतरभवसे देखनी चाहिये अथवा एक अंतर देकर पूर्वभवसे देखनी चाहिये । अनंतर भव तो मनुष्यभव ही है । एकांतरित भव चारो गति हो सकती हैं । चारो गतिसे आकर मनुष्य होनेवाला सिद्ध हो सकता है ।

(४) ऋजुसूत्र नयसे देखें तो अपने प्रदेशोंमें ही सिद्धि होती है अथवा सिद्धक्षेत्रके आकाशक्षेत्रमें सिद्धि होती है।
भूतनयकी अपेक्षासे पंद्रहकर्मभूमियोंका जन्मा हुआ जीव सिद्ध होता है। मरणकी अपेक्षासे अढाई द्वीपके व दोनो समुद्रोंके
बीच कहींसे भी सिद्धि होसकती है।

(५) कुछ जीव तीर्थंकरके रहते हुए सिद्ध होते हैं और कुछ पीछेसे होते हैं यह तीर्थ की अपेक्षासे सिद्धों में भेद है।

(६) मुक्त होनेसे पूर्व जो ज्ञान है वह प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षासे तो एक केवलज्ञान ही होता है परन्तु भूतपूर्वनयकी
अपेक्षासे किसीको मतिश्रुत—ये दो ज्ञान रहते हैं। किसीको अवधि अथवा मनःपर्यय ज्ञान होजानेसे तीन ज्ञान रहसकते
हैं। किसीके मति श्रुत अवधि मनःपर्यय—ये चारो भी रहसकते हैं। जिसको जितने ज्ञान रहे हों उसकी मुक्ति उतने ही
ज्ञानपूर्वक हुई कहनी चाहिये। यह ज्ञान भेदसे सिद्धोंका भेद हुआ।

(७) शरीरकी ऊंचाईको अवगाहन कहा है। सिद्ध होनेवाले जीवोंमेंसे कुछका अवगाहन उत्कृष्ट होता है, कुछका
जघन्य होता है और कुछ मध्यवर्ती अवगाहनवाले होते हैं। मोक्षोपयोगी जघन्य अवगाहन—कुछ कम साडे तीन हाथका
होता है। उत्कृष्ट सवा पांचसौ धनुषका होता है। इसके बीच जितनी हीनाधिकता होगी वे सर्व मध्यम अवगाहन समझने
चाहिये। इन अवगाहनोंमें भेद होनेसे सिद्ध जीवोंका परस्परमें भेद सिद्ध होजाता है।

(८) प्रतिबोध होनेके दो मार्ग हैं। कोई तो स्वयं प्रतिबोधको प्राप्त होकर विरक्त होकर मुक्त होते हैं। कोई दूस-
रोंके उपदेशद्वारा प्रतिबुद्ध होकर दीक्षालेकर मुक्त होते हैं। जो स्वयं प्रतिबुद्ध होते हैं उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं। जो परो-
पदेश सुनकर प्रतिबुद्ध होते हैं उन्हें बोधित कहते हैं। अथवा बोधितबुद्ध कहते हैं। इन दो भेदोंसे भी सिद्धोंमें परस्पर
भेद कहा जासकता है।

(९) जिसकी जिस चारित्रसे सिद्धि होती है उसकी उस चारित्रसे सिद्धि हुई मानकर सिद्ध अवस्थामें भेद आरोपित
करना इस चारित्रकारणके माननेका प्रयोजन है। ठीक सिद्धि होनेके समयमें देखें तब तो चारित्रमें कोई भेद होता नहीं
है। उस समय केवल यथाख्यात चारित्र अथवा अनिर्वचनीय शुद्धभावरूप परिणाम रहता है और वह समीका एकसा होता
है। परन्तु पूर्वज्ञापकनयकी अपेक्षासे देखें तो चार अथवा पांच चारित्रोंसे सिद्धि होती है। जिनको परिहार विशुद्धि ऋद्धि
प्रगट नहीं होती उनको चार चारित्र प्राप्त होते हैं। जिन्हें परिहारविशुद्धि होजाती है उनको पांच चारित्र तक होते हैं।

(१०) एकेक समयमें सिद्ध होनेवाले जीवोंकी संख्याका विचार कर परस्पर भेद मानना सो संख्याकृत भेद है। कमसे कम एक समयमें एक जीव सिद्ध होसकता है। अधिक हो तो एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्ध होसकते हैं।

(११) अभीतक भेदके कारण दश तो कहे, एक आगे कहेंगे। उन प्रत्येकके विषयमें परस्परमें संख्याकी हीनाधिकता देखनेको अल्प बहुत्व कहते हैं। कालकृत अल्प बहुत्व ऐसे देखना चाहिये कि उत्सर्पिणीमें बहुत थोडे जीव सिद्ध होते हैं। अवसर्पिणीमें कुछ अधिक सिद्ध होते हैं। जहां उत्सर्पिणी अवसर्पिणी की कल्पना नहीं है, वहांके कालमें बहुत अधिक जीव सिद्ध होते हैं। लिंगकी अपेक्षा जो सिद्ध होना माना गया है उसका अल्पबहुत्व नपुंसक स्त्री तथा पुरुष वेदका उत्तरोत्तर संख्यात गुणा है। गतिकी अपेक्षासे देखें तो देवगतिसे मनुष्य होनेवाले जो सिद्ध होते हैं वे सबसे अधिक होते हैं, उनसे नरकगतिवाले संख्यातगुणा कम होते हैं। तिर्यंच गतिवाले उनसे भी संख्यातगुणा कम होते हैं। इसी प्रकार आगमानुसार सर्वत्र हीनाधिकता समझलेनी चाहिये।

(१२) बारहवां भेदका कारण अंतर है। जिस कालमें कोई भी जीव सिद्ध न हो उसकालको अन्तरकाल अथवा विरहकाल कहते हैं। यह नियम है कि आठ समय अधिक छह महीनाके भीतर छहसौ आठ जीव मुक्त होते हैं। निरन्तर सिद्ध होना यदि बहुत शीघ्र बन्द पडजाय तो दो समयके बाद ही पड सकता है। यदि बहुत अधिक समयतक भी बराबर जीव सिद्ध होते रहे तो आठ समयतक होंगे। बादमें अवश्य ही थोडे बहुत समयतक अन्तर पडेगा। वह अन्तर बहुत थोडा हो तो एक ही समय हो। बादमें फिर भी जीव सिद्ध होने लगेंगे। यदि बहुत ही अन्तर पडा तो छह महीनेका पडसकता है। बादमें अवश्य ही सिद्ध होने लगेंगे। इस प्रकार निरन्तर तथा सांतर मिलाकर छह महीना आठ समयमें छहसौ आठ जीव मुक्त होजाते हैं। इसके द्वारा सिद्धोंमें अन्तर इस प्रकारसे देखना चाहिये कि कोनसा जीव तो सांतर सिद्ध हुआ है और कोनसा निन्तर सिद्ध हुआ है। ऐसा देखनेसे भी परस्परमें सिद्धोंका कुछ भेद सिद्ध होजाता है। परन्तु हम कह चुके हैं कि ये सब भेद उपचरित हैं। उनके गुणस्वभावोंमें परस्पर कोई भी भेद नहीं है।

गुण स्वभावोंकी अपेक्षा सिद्धोंकी समानता—

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने। सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निष्क्रियाः॥१३॥

अर्थ—केवलज्ञानमें, केवल दर्शनमें तथा केवलसम्यक्त्वमें सिद्ध भगवान् तन्मय होकर रहते हैं और उनका पर्याय

कर्मकलंकोंसे सर्वथा मुक्त होनेके कारण पूर्ण सिद्ध पर्याय कहाता है। यद्यपि शरीरसे छूटने पर ऊर्ध्वलोककी तरफ वे लोकके अंत पर्यंत गमन करते हैं परंतु उसके भी ऊपर जानेसे वे बंद हो जाते हैं। क्योंकि, लोकके ऊपर गमन होनेका साधन नहीं रहता है। इसीलिये सिद्ध गतिमें पहुंच कर वे निष्क्रिय[1] होकर ठहरते हैं।

अलोकमें गमन न होनेका कारण—

ततोप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः। धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गतेः परम्[2]॥४४॥

अर्थ—सिद्ध जीव जिस प्रकार लोकपर्यंत ऊर्ध्वगमन करते हैं उसी प्रकार क्यों नहीं जाते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर इतना ही है कि ऊपर धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य नहीं है। धर्मास्तिकाय ही गति होनेमें प्रधान सहकारी कारण होता है। वह लोक भरमें ही व्याप्त है। इसके बाद नहीं है।

सिद्धोंका सुख—

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्। अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः॥४५॥

अर्थ—सिद्धजीवोंको वह सुख प्राप्त होता है कि जो संसारमें रहनेवालेको विषयोंके द्वारा कभी प्राप्त न हुआ हो। वह सुख स्वाधीन होता है। इसीलिये उसका कभी उच्छेद नहीं होता है। उस अविनाशी सुखको परम अव्याबाध कहते हैं। वेदनीय संसारमें रहनेवालेके इसी सुखका घात करता है। वह वेदनीय कर्म सिद्धोंमें नहीं रहता है। इसलिये उस बाधा का अभाव होकर जो अविनाशी अनंत निराकुलता सिद्धोंमें उत्पन्न होती हैं उसे अव्याबाध कहते हैं।

शंका—

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः। कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु॥४६॥

अर्थ—सुखका साधन शरीर है। सिद्ध जीवमें शरीरका भी उच्छेद हो जाता है और उसके कारणभूत अष्ट कर्मोंका भी अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्थामें मुक्त जीवको सुख क्या होगा-यह समझमें नहीं आता? इस शंका का उत्तर सुनो—

---

१ अथवा योगके परिस्पंद को भी क्रिया कहते हैं उस क्रियाका भी वहां कोई साधक कारण न होनेसे सिद्ध जीव निष्क्रिय हो जाते हैं। २ 'परः' ऐसा भी पाठ है।

सुख-शब्दका अर्थ—

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते । विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥४७॥

अर्थ—जगत्‌में सुख-शब्दके चार अर्थ माने जाते हैं, (१) विषय, (२) वेदनाका अभाव, (३) पुण्यकर्मका फल प्राप्त होना, (४) मुक्त हो जाना ।

विषयका दृष्टान्त—

सुखो वन्हिः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।

अर्थ—शीत ऋतुमें अग्निका स्पर्श सुखकर होता है । ग्रीष्म ऋतुमें ठंडी हवाका स्पर्श सुखकर होता है । इत्यादि आभिमानिक सुखके साधनोंको यहां सुख कहा है । जहां सुखकर कहना चाहिये वहां सुख कहा है । अर्थात् सुखके कारणमें कार्य का उपचार किया है । यह सुख-शब्द पहिला एक अर्थ हुआ ।

वेदनाभावका दृष्टांत—

दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोस्मीति भाषते ॥ ४८ ॥

अर्थ–प्रथम किसी प्रकारका दुःख अथवा क्लेश होरहा हो और फिर उस दुःखका–उस क्लेशका थोरे समयकेलिये अभाव होजाय तो जीव मानता है कि मैं सुखी होगया । उदाहरणार्थ, किसीके सिरपर बोझ रक्खा है । उस बोझसे वह दुःखी होरहा है । बोझ उतर जानेपर वह अपनेको सुखी समझने लगता है । सुख–शब्दका यह दूसरा अर्थ हुआ ।

पुण्यकर्मके उदयसे होनेवाले सुखका दृष्टांत—

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।

अर्थ–पुण्य कर्मोंका परिपाक समय आनेपर इंद्रियोंके इष्ट विषयकी प्राप्ति होनेसे जो सुखका संकल्प होता है वह सुख शब्दका तीसरा अर्थ है । जैसे, ठंडीके दिनोंमें अग्निके पास बैठनेसे सुख प्रतीत होता है । भूख लगनेपर भोजन मिल-जानेसे, प्यास लगनेपर पानी मिलजानेसे सुखका अनुभव होता है । उस समय जीव अपनेको सुखी मानने लगता है ।

पहिला सुख जो विषयको कहा उसका मतलब यह था कि सुखके कारणमें सुखका उपचार किया है । इस तीसरे

अर्थका यह मतलब है कि उन्हीं विषयोंका सम्बन्ध होनेपर अपने आत्मामें सुखोत्पत्तिका अभिमान होता है। इसलिये यह सुख उन विषयोंका तथा कर्मोदयका कार्य है। पहिला और तीसरा ये दोनो ही सुख-शब्दके अर्थ परस्परमें कारण-कार्य रूप सम्बन्ध रखते हैं इसलिये एकसे प्रतीत होसकते हैं परन्तु वास्तवमें एक नहीं हैं।

पहिले और तीसरेमें एक यह भी भेद है कि लाभांतरायके क्षयोपशमकी पहिलेमें अपेक्षा मानी जाती है और दूसरेमें सातावेदनीयके उदयकी अपेक्षा होती है। अर्थात् विषयोंकी अनुकूल प्राप्ति होना लाभांतरायकर्मके क्षयोपशमका अर्थ है। वह क्षयोपशम होनेपर सुखके साधन विषय मिलजाते हैं। असातावेदनीयका उदय हो तो जीव उन प्राप्त हुए सुखसाधनों से भी सुखी नहीं होता परन्तु यह वह स्वीकार करता है कि ये विषय सुखकर हैं। यह प्रथम भेदका अर्थ है। तीसरे प्रकारका सुख हम तब कह सकते हैं जब कि जीवके सातावेदनीयका उदय हो, उसका उदय होनेपर जीव सुखसाधनोंसे सुख उत्पन्न हुआ मानता है। उस समय उसे सुख और सुखसाधन-इन दोनोंमें परस्पर भेदप्रतीति होती है और वह भेदरूप व्यवहार करता है। एवं सुखसाधनोंको जहां सुख कहा है वहां सुखसे सुखसाधनको अभेदरूप देखनेकी मुख्यता रहती है। यह तीसरेका और पहिलेका परस्पर अर्थभेद हुआ। तीसरे व दूसरेमें परस्पर क्या भेद है? इसका उत्तर—

रागकी कृतिको तीसरे प्रकारका सुख कहते हैं और द्वेषकी कृतिको दूसरे प्रकारका सुख कहते हैं। दुःखसे तथा दुःखसाधनोंसे जीव द्वेष करता है। इसीलिये द्वेषका फल यह होता है कि दुःखोंको और दुःखके साधनोंको जीव दूर करता है। दुःख तथा दुःखसाधन दूर होते ही जीव अपनेको सुखी मानने लगता है। यहां पर सुख साधनोंके संयोगकी अपेक्षा नहीकी जाती है और जो तीसरे प्रकारसे सुख कहा है वह रागात्मक है। उसमें सुखसाधनोंके संयोगकी अपेक्षा रहती है। अर्थात् एक तो सुख ऐसा होता है कि जिसमें अनिष्टसयोग दूर करनेकी जीवकी प्रवृत्ति रहती है और जीव अनिष्ट संयोगके दूर होनेसे अनिष्ट संयोगजन्य फलका अभाव हुआ मानता है। दूसरा सुख ऐसा होता है कि उसके लिये जीव इष्ट संयोग करनेकी तरफ प्रवृत्ति करने लगता है और इष्ट संयोग होनेपर उस इष्ट संयोगका अपनेमें फल प्राप्त हुआ मानता है। इन दोनों प्रकारके सुखोंमेंसे जो पहिले प्रकारका है वह वेदनाभावरूप दूसरे भेदमें गर्भित किया गया है। जो दूसरे प्रकारका है वह सुख तीसरे भेदमें गर्भित होता है।

सुखका चौथा प्रकार—

कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥४९॥

अर्थ—कर्मजन्य क्लेशोंसे छुटकारा हो जानेके कारण मोक्षावस्थामें जो सुख होता है वह अनुपम सुख है। यह सुख का चौथा भेद है। पहिले तीनो सुख आभिमानिक हैं, नश्वर हैं, पराधीन हैं, ज्ञानादि सुख साधनोंके घातक हैं इसलिये वास्तविक वे दुःख ही हैं। यह सुख आभिमानिक नहीं है, अविनश्वर है, स्वाधीन है, ज्ञानादि सुखसाधनोंका अविनाभावी है और पोषक है इसलिये यही परम और सच्चा सुख है।

अन्य मतमें जो निर्वाणका स्वरूप माना है उसका निराकरण—

सुषुप्त्यवस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्। तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखातिशयतस्तथा ५०॥
श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्। मोहोत्पत्तिविपा(रा)काच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ॥५१॥

अर्थ—कुछ लोग सुषुप्तिके समान निर्वाणावस्थाको मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना असंगत है। क्योंकि, सुषुप्त्यवस्था जिस प्रकार ज्ञानक्रियाके रोकनेवाली मानी जाती है वैसी निर्वाण अवस्था ज्ञानके रोकनेवाली नहीं होती। जो आजपर्यंत कभी ज्ञान नहीं हुआ, वह ज्ञान मुक्त जीवको रहता है। इसलिये ज्ञानक्रिया प्रवर्तती है। सुषुप्तिका अर्थ गाढ निद्रा है। उसमें ज्ञानके साधनभूत मनका और इन्द्रियोंका विषयोंसे उपराम हो जाना माना है। इसलिये उसके समय क्रिया का निरोध है। जहां ज्ञान दर्शनका निरोध होगा वहां सुखका संकल्प भी नहीं हो सकता है। सुखका संकल्प ज्ञानका अविनाभावी है। इसलिये सुषुप्तिके समय जब कि ज्ञानका अभाव मानलिया है[1] तो जागृत अवस्थाके बराबर भी वहां सुख नहीं कहा जा सकता है। अतः साधारण सुखका भी जो दशा ह्रास करती है वह सुखकी अत्यंत वृद्धि करनेवाली निर्वाण अवस्थाके तुल्य कैसे हो सकती है? मोक्षावस्थामें श्रम नहीं, मद नहीं, क्लम नहीं, आधि व्याधि नहीं, मदनोद्रेक नही, मोह नहीं और दर्शनावरण कर्मका उदय नहीं पर सुषुप्तिमें ये सभी बातें रहती हैं।

---

१ दूसरे मतोंमें सुषुप्तिके समय ज्ञानका अभाव माना है। जैन सिद्धान्तमें दर्शनावरणका उदय होनेसे दर्शनका अभाव माना गया है। दर्शनोपयोग के विना नवीन ज्ञानका होना भी असंभव है। इसलिये सुषुप्त्यवस्थामें ज्ञानका अभाव मानना अनुचित नहीं है।

मोक्षसुखकी निरुपमता—

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेप्यन्यो न विद्यते। उपमीयते तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतं ॥५२॥

अर्थ—संपूर्ण जगतमें मोक्षसुखके समान दूसरा कोई पदार्थ नहीं है जिससे कि इसकी तुलना कर सकें। इसलिये मोक्ष-सुखको ऋषि महर्षियोंने निरुपम माना है।

दूसरे प्रकारसे निरुपमता—

लिंगप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः। अत्यन्तं चाप्रसिद्धं यत्तत् तेनानुपमं स्मृतम्॥५३॥

अर्थ—अनुमान तथा उपमान प्रमाणकी प्रमाणीकता—असलियत उनके लिंगोंकी प्रसिद्धिके आधीन है अर्थात् धूम आदि हेतु और सादृश्य रूपलिंगका जब चक्षु आदिसे साक्षात्कार हो जाता है उससमय अनुमान और उपमान प्रमाणीक गिने जाते हैं परंतु मोक्ष पदार्थ इंद्रियोंके अगोचर है तथा उसकी अगोचरतासे उसके सादृश्यका भी इंद्रियोंसे ज्ञान नहिं हो सकता इसलिये मोक्ष अनुपम पदार्थ है वह उपमान ज्ञानके विषयभूत नहिं हो सकता—समस्त पदार्थोंसे वह एक विजातीय विलक्षण ही पदार्थ है।

यदि अत्यन्त अप्रसिद्ध है तो उसे कैसे मानें?—

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैः प्रभाषितं। गृह्यतेस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया ॥५४॥

अर्थ—यह सुख अर्हंत केवली भगवान्‌को साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। उन्हींके कहनेसे विद्वान् लोग भी मानते हैं कि मोक्षमें निरुपम सुख है। अल्पज्ञ मनुष्य उसकी परीक्षा करके जब ठहरावे तभी मानना चाहिये-यह बात ठीक नहीं है। अत्यन्त परोक्ष वस्तुओंको अल्पज्ञानी क्या ठहरा सकता है? यदि कोई अनुमान द्वारा अथवा उपमान द्वारा उसे ठहराना चाहें तो उसका सामान्य स्वरूपमात्र ठहर सकेगा। विशेषरूप ज्ञान प्रत्यक्षके विना नहीं होता। इसलिये साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञ केवलीके वचनोंसे प्रतीति करनी चाहिये।

अधिकारका सारांश—

इत्येतन्मोक्षतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥५५॥

अर्थ—इस प्रकार इस मोक्षतत्त्वका जो शेष छहो तत्त्वोंके साथ सम्यक् श्रद्धान करता है उन्हें सम्यक् जानता है और हेयोपादेयताकी कल्पना छोडकर इनमें मध्यस्थ बनता है वही निर्वाणको पासकता है।

इस प्रकार मोक्षतत्त्वका स्वरूप वर्णन पूरा हुआ।

१ इस मोक्ष प्रकरणमें सिद्धस्थानका वर्णन करनेवाले दो श्लोक अधिक कहीं कहींपर दीख पडते हैं। वे ये हैं—**तन्वीमनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा। प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता। त्रिलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः ॥ २ ॥** अर्थ—अति सूक्ष्म, मनोज्ञ, सुरभि, पुण्यपरमाणुओंसे बनीहुई परम दीप्यमान एक लोकके अन्तमें पृथ्वी है। उसका नाम प्राग्भारपृथ्वी है। त्रिलोकके तुल्य वह पसरी हुई है। सफेद छत्रके समान धवलवर्ण तथा छत्रके आकारके समान है। अति शुभ है। उस पृथ्वीभागके ऊपर लोकके अतमें मुक्त जीव जाकर ठहरते हैं।



नवमाधिकार ।

ग्रन्थका सारांश ।

उपसंहार—

प्रमाणनयनिक्षेपनिर्देशादिसदादिभिः । सप्ततत्त्वीमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥ १ ॥

अर्थ—सात तत्त्वोंका स्वरूप क्रमसे जो कहा है उसे प्रमाणके द्वारा नयके द्वारा निक्षेपके द्वारा निर्देशादि तथा सदादि अनुयोगोंके द्वारा जान ले तब मोक्षमार्गमें प्रवेश करना चाहिये। प्रमाणादिकोंका स्वरूप पीठिका प्रकरणमें कहचुके हैं। मोक्षमार्गका स्वरूप भी कहचुके हैं।

मोक्षमार्गका क्रम—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः । तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

अर्थ—मोक्षमार्गके दो भेद हैं; एक निश्चय मोक्षमार्ग, दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग। अन्तिम दशामें प्राप्त होनेवाला संपूर्ण प्रयत्नका फलरूप अवस्थाको निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं वह इस निश्चय मोक्षमार्गका साधक है। इसलिये प्रथम आलंबन व्यवहार मोक्षमार्गका ही लिया जाता है।

निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः । सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥

अर्थ—शुद्ध निजात्माका अभेदरूपसे श्रद्धान करना, उसे अभेदरूपसे ही जानना और अभेदरूपसे ही उसमें लीन होना—इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्रवृत्ति होती है वह निश्चय मोक्षमार्ग है।

व्यवहार मोक्षमार्गका स्वरूप—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना । सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

अर्थ—आत्मामें जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र भेदकी मुख्यतासे प्रगट होरहा हो, उस सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयको व्यवहार मोक्षमार्ग समझना चाहिये। अर्थात् उसी एक तत्त्वका व्यवहाररत्नत्रयमें भी प्रकाश होता है और उसीका निश्चय रत्नत्रयमें प्रकाश होता है। परन्तु जबतक भेदरूपसे होता है तबतक व्यवहाररूप उसे कहते है। जब वह अभेदरूपसे होता है तब निश्चयरूप उसे कहते हैं।

व्यवहारावलंबीकी प्रवृत्ति—

श्रद्दधानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि। तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः॥ ५॥

अर्थ—जो सातो तत्त्वोंका भेदरूपसे श्रद्धान करता है और वैसे ही भेदरूपसे उसे जानता है तथा वैसे ही भेदरूप से उसे उपेक्षित करता है उस मुनिको व्यवहारावलंबी कहते हैं।

निश्चयावलंबीका स्वरूप—

स्वद्रव्यं श्रद्दधानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि। तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः॥ ६॥

अर्थ—जो श्रद्धानमय आत्माको वनालेता है और ज्ञानमय भी आत्माको ही वनालेता है अथवा ज्ञान ही ज्ञानरूप जिसे आत्मा भासने लगता है; एव उपेक्षारूपही जिसके आत्माकी प्रवृत्ति होजाती है वह श्रेष्ठ मुनि निश्चयावलम्बी निश्चयरत्नत्रययुक्त माना जाता है।

निश्चयीका अभेदसमर्थन—

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः। स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः॥७॥

अर्थ—जो जानता है वह आत्मा है। जानता है ज्ञान, इसलिये ज्ञान ही आत्मा है। इसी प्रकार जो सम्यक् श्रद्धान करता है वह श्रद्धानी या आत्मा कहाता है। श्रद्धान करता है सम्यग्दर्शन, इसलिये वही श्रद्धानी है वही आत्मा है। जो उपेक्षित होता है वह आत्मा है। उपेक्षित होता है उपेक्षागुण इसलिये वही आत्मा है अथवा वह आत्मा ही है। यह अभेदरूप रत्नत्रयका स्वरूप है। ऐसी अभेदरूप स्वस्थ दशा उसी तपस्वीकी होसकती है जो कि दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयके उदयाधीन नहीं रहता है।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्षका कारण रत्नत्रयको बताया है। उस रत्नत्रयको मोक्षका कारण मानकर उसीके

स्वरूपको जाननेकी जबतक इच्छा रहती है तबतक साधु उस रत्नत्रयको विषयरूप मानकर उसीका चिंतवन करता है। वह विचार करता है कि रत्नत्रय इस प्रकारके होते हैं। जबतक ऐसी दशा रहती है तबतक अपने विचारसे रत्नत्रय भेदरूप ही जान पडता है। इसीलिये उस साधुके उस प्रयत्नको भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं। वह व्यवहारकी दशा है ऐसी दशामें रत्नत्रयका अभेदरूप कभी नहीं होसकता है। परंतु ऐसी दशा जब तक न हो अथवा इस प्रकार जबतक साधु रत्नत्रयको समझ न ले तबतक रत्नत्रयमय निश्चय दशा कैसे प्राप्त होसकती है? इसलिये इस दशाकी उत्पत्ति प्रथमावस्थामें मानीगई है और उत्तरकी निश्चयदशाका कारण मानीगई है।

यह दशा हो जानेपर जब साधु विषयों का श्रद्धान ज्ञान चारित्र करने लगता है तब वह सम्यग्दर्शनमय सम्यग्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय स्वयमेव होजाता है। इसीलिये वह अपनेसे अभेदरूप रत्नत्रयकी दशा है और वही यथार्थ वीतराग दशा होनेसे निश्चयरत्नत्रयरूप कहाती है।

इस अभेदभेदका तात्पर्य समझ जानेपर यह बात भी माननी पडेगी कि व्यवहार रत्नत्रय यथार्थरत्नत्रय नहीं है। इसीलिये इसे हेय कहते हैं। हेय होनेपर भी उत्पन्न प्रथम यही होता है इसलिये वह उत्तरके लिये उपयोगी है और वर्तमान समयमें उपादेय है। परन्तु साधु इसीमें लगारहे तो उसका यह व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है, निरुपयोगी है। कहना चाहिये कि उसने उसे हेयरूपसे न जानकर यथार्थरूप जान रक्खा है। जो जिसे यथार्थरूपसे जाना हुआ मानता है वह उसे कभी छोडता नहीं है। इसीलिये उस साधुका वह व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है अथवा अज्ञानरूप संसारका कारण है।

इसी प्रकार जो साधु व्यवहारको हेय समझकर उसका आलंबन ही करना नहीं चाहता है वह उभयभ्रष्ट है। उसे व्यवहारके विना निश्चयकी प्राप्ति तो हो नहीं सकती है और व्यवहारको हेय मानकर आलंबन ही नहीं करता है। जो व्यवहारको हेय समझकर आलंबन नहीं करता वह निश्चयतक पहुंच नहीं पाता—यह बात यद्यपि निर्विवाद है तो भी वह निश्चयका आलंबन करना अवश्य चाहता है। इसलिये उसे उभयभ्रष्ट कहा है।

---

१ निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयत्यभूतार्थं ॥ (पुरुषार्थसि०) २ निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ (पुरुषार्थसि०)

इस ऊपर श्लोकमें अभेदरूप रत्नत्रयका स्वरूप कृदंत शब्दोंद्वारा कर्तृ-भावसाधन शब्दोंका अभेद दिखाकर सिद्ध किया। अब आगे क्रियापदोंद्वारा कर्ता कर्मभाव आदिकोंमें सर्व विभक्तियोंके रूप दिखाकर अभेद सिद्ध करते हैं।

रत्नत्रयका कर्ताके साथ अभेद—

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो अपने निज स्वरूपको देखता है, जो अपने निज स्वरूपको जानता है और जो अपने निज स्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है; इसलिये आत्मा ही दर्शनज्ञानचारित्र त्रयरूप है।

कर्मरूपके साथ अभेद—

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति च चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपको देखा जाता है, जिस निज स्वरूपको जाना जाता है और जिस निज स्वरूपको धारण किया जाता है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। परन्तु तन्मय आत्मा ही तो है इसलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

करणरूपके साथ अभेद—

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेपि च। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १० ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपद्वारा देखा जाता है, जिस निज स्वरूपद्वारा जाना जाता है और जिस निज स्वरूपद्वारा स्थिरता होती है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। परन्तु वह कोई जुदा चीज नहीं हैं किंतु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

संप्रदानरूपके साथ अभेद—

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस स्वरूपको प्राप्तिकेलिये देखता है, जिस स्वरूप-प्राप्तिकेलिये जानता है और जिस प्राप्तिकेलिये प्रवृत्ति करता है वही दर्शन ज्ञान चारित्र नामवाला रत्नत्रय है। परन्तु वह दूसरी कोई चीज नहीं है किंतु तन्मय आत्मा ही है। अथवा आत्मा उस रत्नत्रयसे जुदा नहीं है किन्तु तन्मय ही है।

अपादान स्वरूपके साथ अभेद—

यस्मात्पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपसे देखता है, जिस निजस्वरूपसे जानता है और जिस निज स्वरूपसे प्रवर्तता है वही दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है। परंतु वह दूसरा कुछ नहीं है किंतु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

संबंधी स्वरूपके साथ अभेद—

यस्य पश्यति जानाति स्वरूपस्य चरत्यपि । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपके संबंधको देखता है, जिस निज स्वरूपके संबंधको जानता है और जिस निज स्वरूपके संबंधकी प्रवृत्ति करता है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। परंतु वह आत्माके अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं है। आत्माही तत्तन्मय होता है।

आधार स्वरूपके साथ अभेद—

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१४॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपमें देखता है जिस निज स्वरूपमें जानता है और जिस निज स्वरूपमें स्थिर होता है वही दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रय है। परंतु वह आत्मासे कोई भिन्न चीज नहीं है किंतु आत्माही तत्तन्मय होता है।

क्रिया स्वरूपका अभेद—

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१५॥

१ अपादान वहा पर कहा जाता है जहापर कि कोई कर्म किसी जगहसे हट कर करता हो । जहासे हटना होता है उसीको अपादान कहते हैं, जब कि देखने जानने आदिकाही नाम दर्शन ज्ञान चारित्र है तो वहांपर देखने आदिका स्वयं हटना कैसे संभव होसकता है ? और जिससे हटना माना जायगा वह चीज दर्शनादिरूप नहीं कही जासकेगी। इसलिये अपादानका स्वरूप यहा कैसे सभव होसकता है ?

इस शंकाका उत्तर यह है कि कारकोंकी कल्पना विवक्षाधीन होती है। ऐसा कहा भी है कि "विवक्षाधीना हि कारकप्रवृत्तिः।" अब रही यह बात कि यहां विश्लेष कैसे सभव होसकता है ? इसका उत्तर भी यही है कि भेदकी विवक्षा बुद्धिद्वारा ही सिद्ध होजाती है। जैसे, सर्पसे डरते समय बुद्धिमेंही विश्लेष होजाता है वैसेही यहा पर भी पदार्थ पदार्थका विश्लेष नहीं किंतु बुद्धिका विश्लेष है। दूसरी बात यह भी है कि ल्यबन्त शब्दका यहा अध्याहार माना जाय तो विना विश्लेषके भी अपादानता सिद्ध होजाती है।

अर्थ—जो देखनेरूप, जाननेरूप, तथा चारित्ररूप क्रियाएं होती हैं वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। परन्तु वे क्रियाएं आत्मासे कोई जुदी चीज नहीं हैं। तत् तत् रूप आत्मा ही परिणत हुआ मानना चाहिये। अथवा आत्मा उनसे कोई निराली चीज नहीं है तन्मय ही आत्मा है।

गुण स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो यहांपर दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणोंका आश्रय है वही दर्शनज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। आत्मासे दर्शनादि गुण कोई जुदी चीज नहीं हैं किन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिये अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायोंके स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप पर्यायोंका जो आश्रय होता है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मासे कोई जुदी चीज नहीं है। आत्माही तन्मय हुआ रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा इनसे कोई जुदी चीज नहीं है।

प्रदेश स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रप्रदेशा ये प्ररूपिताः। दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ १८ ॥

अर्थ—दर्शनके ज्ञानके चारित्रके जो प्रदेश बताये गये हैं आत्माके प्रदेशोंसे कोई भिन्न नहीं है। दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्माके ही वे प्रदेश हैं। अथवा दर्शन ज्ञान चारित्रोंके प्रदेशरूप ही आत्मा है और वही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्माके प्रदेश और रत्नत्रयके प्रदेश भिन्न भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार परस्परमें भी दर्शनादि तीनोंके प्रदेश जुदे जुदे नहीं हैं इसी लिये आत्मा और रत्नत्रय परस्परमें भिन्न भिन्न नहीं हैं किन्तु आत्मा तन्मय है।

अगुरु लघु स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्यात्मन एव ते ॥ १९ ॥

अर्थ—अगुरु लघु नाम गुणके रहनेसे वस्तुके भीतर जितने गुण होते हैं वे सीमासे अधिक अपनी हानि तथा वृद्धि नहीं

कर पाते हैं। यही अगुरुलघु गुणका प्रत्येक द्रव्यमें प्रयोजन रहता है। उस गुणके निमित्तसे जो यावत् गुणोंमें सीमाका उल्लंघन नहीं होता उसको भी अगुरुलघु ही कहते हैं। इसलिये यहां पर अगुरुलघुको दर्शनादिकोंका विशेषण कहना चाहिये।

अर्थात्, अगुलघुरूप प्राप्त होनेवाले जो दर्शन ज्ञान चारित्र हैं वे आत्मासे जुदे नहीं हैं और परस्परमें भी जुदे जुदे नहीं हैं। किंतु दर्शनज्ञानचारित्ररूप जो रत्नत्रय है उसीके वे स्वरूप हैं और तन्मय ही हैं। एवं उसी अगुरुलघुरूप रत्नत्रयमय आत्मा है। आत्मा भी उनसे जुदा कोई चीज नहीं है। क्योंकि, आत्माके वे अगुरुलघुस्वभाव हैं और आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है इसलिये आत्मासे वे सर्व अभिन्न हैं।

उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रध्रौव्योत्पादव्ययास्तु ये। दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ २० ॥

अर्थ—दर्शनज्ञानचारित्रमें जो उत्पादव्ययध्रौव्य होते हैं वे सर्व आत्माके ही हैं। क्योंकि, दर्शन ज्ञान चारित्ररूप जो रत्नत्रय है वह आत्मासे भिन्न नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ही आत्मा है। अथवा दर्शनज्ञानचारित्र आत्ममय ही हैं। इसलिये जो रत्नत्रयके उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं वे उत्पादव्ययध्रौव्य भी आत्माके ही हैं और परस्परमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी अभिन्न ही है। जब कि रत्नत्रयके जितने विशेषण हैं वे सभी आत्माके हैं और आत्मासे अभिन्न हैं तो रत्नत्रयको भी आत्मस्वरूप ही मानना चाहिये।

इस प्रकार अभेदरूपसे जो निजात्माके दर्शन ज्ञान चरित्र होते हैं वे निश्चयरत्नत्रय हैं। उनके समुदाय को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। इसी मोक्षमार्गको तथा इन्ही-रत्नत्रयको कर्ता कर्मादि ऊपर बताए हुए भेदपूर्वक माना जाय तो व्यवहाररूप होजाते हैं। इसलिये ऊपरके जितने श्लोक निश्चय रत्नत्रयको दिखानेवाले हैं वे ही व्यवहारको भी दिखाते हैं।

निश्चय व्यवहार माननेका तात्पर्य—

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः, पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः, स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो जीवको सम्यग्दर्शनरूप, सम्यग्ज्ञानरूप तथा सम्यक्चारित्ररूप निरनिराले पर्यायोंद्वारा निरनिराला हुआ

अर्थात्, परमाणु कैसा भी सूक्ष्म हो परंतु वह थोडीसी जगह तो भी घेरेगा यह हमारी समझ रहती है। परंतु यह समझ ठीक नहीं है। हम लिख चुके हैं कि परमाणु केवल एक सूक्ष्म अंशका ही नाम नहीं है। किंतु कार्यकारिणी जितनी शक्तियां हैं उनके पूर्ण अव्यक्त या तिरोधान होनेका नाम परमाणु है। दूसरेमें आघात करना तथा दूसरेका आघात भोगना, यह एक अशुद्धताका कार्य है। इसलिये जो आघात करता है या सहता है वे दोनो ही अशुद्ध पर्याय होने चाहिये। अशुद्धता इतर संयोगके विना होती नहीं है। तो फिर शुद्ध परमाणुमें आघात होना और दूसरेको करना किस प्रकार संभव होसकता है? इसी प्रकार चाहें इतरसंयोगी कुछ अशुद्ध स्कन्धपर्यायोंमें आघातकता शक्ति प्रगट हो जाती हो परंतु उसकी भी कुछ सीमा है। वह यावत् स्कन्धोंमें नहीं होती है। आघातकता व स्थूलताका अविनाभाव संबंध होसकता है। इसलिये जबतक स्कन्धोंकी सूक्ष्मता नहीं जाती तबतक आघातकता भी उत्पन्न नहीं होती।

देखो, आघातकता अनेक प्रकारकी अशुद्धताओंमेंसे एक अशुद्धता है। इसलिये द्व्यणुकसे अशुद्धताका प्रारंभ हुआ कि आघातकता भी उत्पन्न होगई ऐसा नियम भी नहीं होसकता है। द्व्यणुकमें एक किसी प्रकारकी अशुद्धता उत्पन्न होगी, त्र्यणुकमें दूसरे प्रकारकी, चतुरणुकमें तीसरे प्रकारकी। इसी प्रकार जैसी परमाणुसंख्या बढती जाती है वैसी ही अशुद्धताओंकी संख्या भी बढती जाती है। कोई कोई अशुद्धता परमाणुसंख्या बढनेपर दब भी जाती है। अशुद्धताओंकी उत्पत्तिका परमाणुसंख्याके साथ कोई नियम तो बताया नहीं जासकता परंतु तो भी इतना कह सकते हैं कि अनेकों अशुद्धताओंकेलिये परमाणु भी अनेकों ही लगते हैं। समान आकृति और उतना ही वजन रहनेपर भी जो एक स्कंधमें एक शक्ति व्यक्त रहती है वह दूसरेमें नहीं रहती। ऐसे पदार्थोंमें यही मानना पडता है कि परमाणुसंख्या हीनाधिक है अतएव बन्धनकी विचित्रतासे दोनोकी अशुद्धता समान नहीं है। ऐसे अंतर अनेक प्रकारके मिल सकते हैं और एक एक स्कन्धमें असंख्यातों अशुद्धताएं व्यक्त भी रहती हैं। इसलिये यह मानना पडता है कि स्थूल स्कन्धोंमें अनंतों परमाणुओंसे कभी कम नहीं रहते। इसलिये स्कन्धमें आकृतिके सूक्ष्म विभागोंकी संख्याकी अपेक्षा परमाणुओंकी संख्या अधिक माननी पडती है। अतएव एक परमाणुकी जगहमें दूसरे परमाणुओंका आजाना भी सिद्ध होता है। एवं, जहांतक स्थूलता प्राप्त नहीं होती वहांतकके सूक्ष्म स्कन्धोंमें भी यह प्रवेशशक्ति माननी पडती है।

देखो, पानी-सक्कर इत्यादि कुछ स्थूल चीजें भी ऐसी देखनेमें आती हैं कि जो एक दूसरेमें मिलकर प्रविष्ट होजाती हैं। तो

फिर सूक्ष्म पदार्थोंमें प्रवेशशक्ति मानना क्या असंभव हे ? उन चीजोंके बीच बीचमें छिद्र या रिक्तताकी कल्पना करना निर्हेतुक है। यह परमाणुस्कन्धका विचार हुआ।

इस प्रकार द्रव्य सर्व छह हैं। इन छह भेदोंसे न तो कम ही हो सकते हैं और न अधिक। हां, कालद्रव्यकी संख्या असंख्यात है और वह युक्तिसे सिद्ध की गई है। जीव व पुद्गलके भेद अनंत अनंत हैं और वे अनुभवगोचर हैं। जीव विनाशीक सिद्ध न हो इत्यादि प्रयोजनवश जो जीवको एक अखंड या व्यापक मानते हैं वह मानना निर्हेतुक है। शरीरावच्छिन्न जीवकी तो लक्षणद्वारा सिद्धि होती है परंतु अन्यत्र उसकी सत्ता माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। जीवका लक्षण चैतन्य है; वह शरीरके बाहिर नहीं मिलता। नित्यता ठहरानेकेलिये भी जीवको व्यापक माननेकी आवश्यकता नहीं है। कोई भी पदार्थ केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं होसकता यह बात हम प्रथम लिखचुके हैं। पर्याय बदलते हुए भी जीवकी सामान्यदृष्ट्या जो नित्यता है वह नष्ट नहीं होती और वैसी नित्यता मध्यम या शरीरप्रमाण आकार माननेपर भी कायम रह सकती है। यह नियम नहीं हो सकता कि मध्यम परिमाणवाले पदार्थ अनित्य ही होते हैं। अथवा अवयवोंकी अपेक्षासे देखाजाय तो जीवके प्रदेश मध्यम परिमाणके योग्य भी नहीं हैं। हां, लोकके प्रदेशोंके तुल्य उसके प्रदेश होकर भी वह सुख दुख भोगनेकेलिये सुख–दुःखाधिष्ठानरूप शरीरमें समाकर रहता है। शुद्ध होनेपर जिस शरीरमेंसे छूटता है उस शरीरकी आकृतिको सदाकेलिये धारण करके रहता है। क्योंकि, प्रदेशोंकी संख्या व्यापक बनने योग्य रहते हुए भी विजातीय संयोग न रहनेसे संकोचविस्तार–क्रियाका अभाव होजाता है। इसलिये जीवद्रव्यको व्यापक माननेकी आवश्यकता नहीं है। शेष रहे धर्माधर्माकाश, सो ये तीनो अखंड एकेक ही हैं। हां, गुण पर्याय तो भी सभीमें होते रहते हैं।

इस प्रकार द्रव्यें सर्व छह हैं और गुण अनंतों हैं। द्रव्योंकी संख्या जो छहसे अधिक मानते हैं वह ठीक नहीं है। एवं, गुणोंकी जो संख्या नियत करदेना है वह भी ठीक नही है। जो लोग द्रव्योंकी संख्या छह नहीं मानते वे एक पुद्गलको पांच विभागरूप मानते हैं और धर्माधर्मको इधर नहीं मानते परंतु आकाशके आकाश और दिशा ऐसे दो भेद मानते हैं। इस प्रकार उनके मतमें जीव और काल द्रव्यको मिलानेसे द्रव्य सर्व नौ हो जाते हैं।

आघातकता अथवा मूर्तिमत्ता और रूप रस गंध स्पर्श, ये चिन्ह जिनमें पाये जाते हैं उन्हें हम पुद्गल द्रव्य कह चुके हैं। ये चिन्ह ऐसे असाधारण और लक्ष्यभरमें व्यापने वाले हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा मनमें तो सर्वत्र मिलते हैं

और आत्मा तथा आकाशादिक भिन्नजातीय द्रव्योंमें कहीं भी नहीं मिलते । इसलिये उक्त पांच द्रव्यों के स्थानमें उक्त एक ही द्रव्य मानलेना निर्दोष तथा उपयोगी है।

मनमें आघातकता और आहतता दीख पडती है। जैसे कि, भयंकर शब्द सुननेपर जैसे कानोंकी झिल्ली फट जाती है वैसे मनपर भी आघात पहुंचता है और वह मन शरीरके इतर अवयवोंको आघात पहुंचाता है । इसके सिवा यह भी देखना चाहिये कि मन है क्या चीज ?

कर्मोंकी परतंत्रतासे जीवके साथ शरीरबंधन होता है। उस बंधनमें अनेक प्रकार रहते हैं। उन प्रकारोंको साधारण दो विभागोंमें विभक्त करसकते हैं; एक ज्ञानके साधक बाधक, दूसरे क्रियाओंके साधक बाधक । इन्हींको कुछ लोग ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके नामसे कहते हैं। हाथ पांय आदि कर्मेन्द्रिय हैं और मन चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय हैं। जैसे शरीरावयव सर्व जीवोंके समान नहीं होते वैसे ही ज्ञानसाधनके अवयव भी समान नहीं होते ।

वनस्पतिमें हाथ पांय आदि जुदे प्रगट नहीं होते और आगे द्वीन्द्रियादि जीवोंमें वे अवयव क्रमसे प्रगट होने लगते हैं। इसी प्रकार ज्ञानसाधक इंद्रियोंकी भी क्रमसे वृद्धि होती है। वह वृद्धि होते होते जहांपर बाह्य इन्द्रिय पूर्ण प्रगट होजाते हैं उसे अमनस्क पंचेन्द्रिय कहते हैं । इसके भी ऊपर जहां मनन करनेकी योग्यता प्राप्त होजाती है उसे समनस्क कहते हैं। जिस प्रकार बाह्य विषयके ग्राहक नेत्रादि इन्द्रिय शरीरावयव हैं उसी प्रकार मननरूप ज्ञान होनेके जिस आधारको मन इन्द्रिय कहते हैं वह भी शरीरका ही एक अवयव होना चाहिये। उसीके मन हृदय अंतःकरण इत्यादि अनेकों नाम हैं। मन हृदय इत्यादिकोंमें कुछ लोग कुछ भेद मानते हैं परंतु वह वास्तविक भेद न होकर प्रयोजनादिके भेदसे भेद माना जा सकता है। इस प्रकार जब कि मन शरीरावयव है तो उसे शरीरसे जुदी जातिका द्रव्य मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार सर्व इंद्रियोंको भी एक पुद्गलसे हुए ही मानना ठीक होता है। एवं, उन इंद्रियोंके जो शब्दादि विषय हैं उन्हें भी पुद्गलके पर्याय मानना ही ठीक है । दिशाओंकी कल्पना आकाशमें ही की जाती है । इसलिये दिशाओंको भी जुदा द्रव्य नहीं मानना चाहिये। इस प्रकार द्रव्य सर्व छह ही सिद्ध होते हैं। विशेषताओंको गुण कहते हैं । इसलिये उनकी संख्या होना कठिन है।

यह परिशिष्ट द्रव्यस्वरूप हुआ ।

चतुर्थ अधिकार

अथ आस्रव प्रकरण।

मंगल व विषय प्रतिज्ञा—

अनन्तकेवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् सर्वानास्रवः संप्रचक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—जिन भगवान् अपरिमित केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा तीनो लोकको प्रकाशित करते हैं इसलिये उन सबोंको नमस्कार करके उनके उपदेशानुसार मैं आस्रवतत्त्वका स्वरूप लिखता हूं।

आस्रवका लक्षण—

कायवाग्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः। शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः ॥२॥

अर्थ—जबतक जीव जड पुद्गलमिश्रित है तबतक उसे सदा ही कर्मोंका या पुद्गलोंका नवीन नवीन बंधन प्राप्त होता रहता है। जिस पुद्गलसे जीवका मेल हो रहा है उसे शरीर या काय कहते हैं। पुद्गलका स्वभाव ऐसा है कि क्षण भरके लिये भी वह स्थिर नहीं रहता। कुछ न कुछ परमाणु उसमेंसे प्रतिसमय निकलते हैं और कुछ आकर मिलते भी हैं। इन पुद्गलोंमें जीव फस रहा है इसलिये पुद्गलोंके बदलनेके साथ साथ वह भी स्वस्थ होकर रह नहीं पाता=कुछ न कुछ उसके प्रदेशोंमें भी चंचलता होती ही रहती है। बस, इसी चंचलताको योग भी कहते हैं। विशेष प्रयोजन दिखानेकी अपेक्षासे आस्रव, यह नाम भी पडा है। किसीमें जुडना, लगना, लगाना, ऐसा अर्थ युज धातुका है। उसीका बना हुआ यह योग शब्द है। आस्रवका अर्थ आगे लिखनेवाले हैं।

जीव तथा शरीर जुदे नहीं रहते इसलिये जीवकी चंचलता कहनेका और शरीरकी चंचलता कहनेका एक ही अर्थ होता है। क्योंकि, चंचलता न केवल शरीरमें ही होती है और न जीवमें ही। केवल शरीरमें हो तो मृतमें भी होनी चा-

---

१ "कायवाङ्मनसा कर्म=कायवाङ्मन कर्म (स एव योग)। आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग। स निमित्तभेदात् त्रिधा भिद्यते। काययोगो, मनोयोगो, वाग्योग इति" सर्वार्थसिद्धौ तदुभयस्यापि योगत्वमुक्तम्।

हिये; एवं केवल जीवमें हो तो मुक्त होनेपर भी चंचलता चलनी चाहिये। इस चंचलताके द्वारा कुछ न कुछ पुद्गल सदा आते रहते हैं और जीवको पूर्ववत् बद्ध करते रहते हैं।

साधारणदृष्टिसे देखें तो शरीरके किसी भी अंगोपांगके हलनेसे जो योग माना जाता है वह एक शरीरयोग ही कहा जाना चाहिये। परंतु इतर शरीरचंचलताकी अपेक्षा मन तथा वचनकी क्रिया कुछ विचित्र दीख पडती है। इसलिये शरीर, मन, वचन ये तीन भेद जुदे जुदे कर दिये गये हैं। मनकी चंचलतामें विचार होना एक विशेपता है। वचनमें मनकीसी विशेपता तो नहीं है परंतु यह विशेपता है कि कंठादि स्थानोंके प्रयत्नसे पासके कुछ सूक्ष्म पुद्गलोंमें ध्वनि उत्पन्न होजाती है। वह ध्वनि उच्छ्वासवायुके आघातसे मुखके बाहिर निकलती हुई सर्व दिशाओंमें पसरने लगती है। उच्छ्वासका जैसा वेग हो वैसी ही दूर तक वह ध्वनि पहुचती है। इसीको वचन कहते हैं। यद्यपि वचन स्वयं शरीर नहीं है तो भी वचनोत्पत्तिके समय शरीरमें क्रिया अवश्य होती है; इसीलिये मनकी भांत वचनके योगको भी शरीरके योगमें गर्भित कर सकते हैं। परंतु शरीरकी क्रियाओंसे मनवचनकी क्रियाओंमें उक्त विशेपता दीख पडती है इसलिये दोनोंको शरीरसे जुदा मानकर योगके तीन भेद कर दिये हैं। इन दोनोंकी चंचलताके स्वरूपसे शरीरचंचलता एक जुदी ही दीख पडती है। उसका न तो मनकासा विचार होना ही कार्य है और न ध्वनि उत्पन्न करना ही कार्य है। यद्यपि शरीरके आघातसे भी ध्वनि हो सकती है परंतु उसे वचन नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार जीवमें चंचलता उत्पन्न होनेके कारण तीन हुए। तीन कारणोंकी अपेक्षासे योगके भी मनोयोग, वचनयोग, काययोग--ये तीन नाम रक्खे गये हैं।

धर्म या पुण्यके कार्योंमें इनकी जब प्रवृत्ति होती है तब तीनों योगोंको शुभ कहते हैं और जब ये पापके कार्योंमें लगते हैं तब अशुभ योग कहाते हैं। अर्थात्, शुभ इच्छा होनेपर उत्पन्न हुआ जो योग वह शुभ कहाता है और अशुभेच्छासे जो हो वह अशुभ कहाता है।

शुभाशुभका सूक्ष्म स्वरूप तो विस्तीर्ण है और आगे कहेंगे भी परंतु साधारणतः न्यायको शुभ तथा अन्यायको अशुभ कहते हैं। उदाहरणार्थ, (१) किसीके हितका चिंतवन करना शुभ मनोयोग, (२) हितकारी बोलना शुभ

१ “ प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ ” इति न्यायदर्शनकारस्यापि सूत्रात्मकं वचनम्। २ कथं योगस्य शुभाशुभत्वं ? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः। न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्येत, शुभयोग एव न स्यात्। ” इति सर्वार्थसिद्धिः।

वचनयोग, (३) दान देना, गुरुको मस्तक नवाना, शुभ काययोग। (४) अहितचिंतवन अशुभ मनोयोग, (५) गाली देना अशुभ वचनयोग (६) थप्पड मारना अशुभ काययोग। ये सामान्य छह भेद हुए।

आस्रवका शब्दार्थ—

सरसः सलिलावाहि द्वारमत्र जनैर्यथा। तदास्रवणहेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥ ३ ॥
आत्मनोपि तथैवैषा जिनैर्योगप्रणालिका। कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥४॥

अर्थ—वह कर आनेवालेको आस्रव कहते हैं और वहकर आनेका कारण भी आस्रव कहाता है। प्रथमको द्रव्यास्रव कहते हैं और दूसरेको भावास्रव कहते हैं। वह कर आनेवाला पदार्थ द्रव्य होगा इसलिये द्रव्यास्रव-नाम सार्थक है। कर्म-बन्धनके प्रकरणमें कर्मका संग्रह करनेवाला जो आत्मीय परिणाम होता है वह गुणपर्यायात्मक होता है इसलिये उसे भावास्रव कहते हैं। ये दो भेद कुछ ग्रंथकारोंने वस्तुस्थिति जतानेकेलिये लिखे अवश्य हैं परंतु इस प्रकरणमें केवल भावास्रव दिखानेकी ग्रंथकारकी इच्छा है। बन्धनयोग्य द्रव्यकर्म जिस कारणसे बन्धनकी अवस्थामें आकर प्राप्त हों उसे आस्रव कहते हैं। यह आस्रवका लक्षण तात्पर्यसिद्ध है। यह लक्षण द्रव्यास्रव व भावास्रव दोनोंमें ही जुडता है। कितने ही लोग तो क्रियायुक्त[३] पदार्थको कार्यका मुख्य कारण कहते हैं और कितने ही कार्योत्पत्तिसे पूर्वक्षणवर्ती क्रियाको[४] ही मुख्य कारण या करण कहते हैं। प्रथम अर्थ लेनेपर तो बंधका कारण भावास्रव होसकता है और दूसरे अर्थके अनुसार द्रव्यास्रव।

सरोवरके भीतर पानी आनेकी जो मोरी होती हैं उनमें होकर पानी भीतर वह आता है इसलिये मनुष्य उन्हें आस्रव कहते हैं। संस्कृत भाषामें 'आस्रवका' अर्थ वह आनेका द्वार—ऐसा होता है। योगरूपनली भी इसीप्रकार आत्माके भीतर कर्मयोग्य परमाणुपिंडको वहाकर लाती है इसलिये योग—नलीको जिनेन्द्रने आस्रव कहा है। क्योंकि, पानी वह आनेकेलिये मोरी जिस प्रकार कारण है उसी प्रकार योग भी कार्मण स्कन्धोंको कर्मपर्याय बनानेलिये कारण हैं। प्रत्येक आत्माके साथ या भीतर कर्मपर्याय होने योग्य बहुतसे पुद्गलपिंड संचित रहते हैं। उन्हींमेंसे कुछ एक

१ आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेयो। भावासवो जिणुत्तो कम्मासवण परो होदि। [द्रव्यसंग्रह] २ व्यापारवदसाधारण कारण करणम्। ३ यद्व्यापारादनन्तर कार्यमुत्पद्यते स व्यापार करणम्। ४ कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वे सति असाधारणकारण करणम्। साधकतमः करणमिति तु जैनेन्द्रे।

योगवशात् कर्मरूप होते रहते हैं इसलिये घर भर आनेका जलका दृष्टान्त कर्मके आनेमें तुलना नहीं रखता। ऐसी तुलना तभी होसकती है जब कि बाहिरसे कर्म भीतर आते हों। यदि ऐसा है तो योगको आस्रव क्यों कहा जाता है? उत्तर–द्वार तथा आस्रव शब्दका जो अर्थ लोग मानते हैं वह कारण समझकर मानते हैं और कारणार्थ योगोंमें भी दीख पड़ता है। इसलिये योगोंको कर्मद्वार तथा आस्रव कहनेकी रूढि चल रही है। अर्थात्, कारण मात्रकी अपेक्षासे यहां तुलना है और आस्रव–शब्दका प्रयोग उचारसे कियागया है।

कर्मके दो प्रकार–

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते सांपरायिकम्। अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे ॥ ५ ॥
सांपरायिकमेतत्स्यादार्द्रचर्मस्थरेणुवत्। सकषायस्य यत्कर्म योगानीतं तु मूर्छति ॥ ६ ॥
ईर्यापथं तु तच्छुष्ककुडयप्रक्षिप्तलोष्टवत्। अकषायस्य यत्कर्म योगानीतं न मूर्छति ॥ ७ ॥

अर्थ–जिन जीवोंमें क्रोधादि कषाय होते हैं वे सांपरायिक कर्मका बंध करते हैं। जिनके कषाय उपशांत या क्षीण होगये हों वे ईर्यापथ कर्मका ही संग्रह करते हैं। संपरायका अर्थ संसार है। संसारकी अथवा अशुद्धताकी उत्पत्ति करने वाला कर्म सांपरायिक कहा जाता है। सकषाय जीवोंमें जो कर्म इकट्ठे होते हैं वे कषायके सामर्थ्यसे जीवप्रदेशोंमें ऐसे बद्ध हो जाते हैं कि कुछ काल पर्यंत उसी पर्यायमें टिकसकें। इसीलिये उनमें जीवको संसारी बना कर रखनेकी योग्यता मानी जाती है। उन कर्मोंको सांपरायिक[1] कर्म कहते हैं। जिन जीवोंका कषाय शांत या क्षीण होगया हो उनके भीतर भी योग जब तक नष्ट नहीं होपाता तब तक कर्मोंका संग्रह होता ही है। क्योंकि, कर्मप्रदेशोंको संग्रह करनेका काम योगका है। परंतु केवल योगके द्वारा संगृहीत हुए कर्मोंमें टिकनेका सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता और न ज्ञानावरणादि नाना घातक शक्ति व्यक्त होती हैं। इसीलिये वे कर्म जिस जिस समयमें आते हैं उसी उसी समयमें निकल भी जाते हैं। एवं उन कर्मोंमें आठ या एकसौ अडतालीस भेद भी उत्पन्न नहीं होते, किंतु केवल एक प्रकार रहता है जिसे कि सद्वेद्य या सातावेदनीय कहते हैं।

वह सातावेदनीय ही क्यों रहता है? इस प्रश्नका उत्तर यह होसकता है कि कर्म जितने प्रकारके हैं उन सभीमेंसे

१ संपरायः संसार। तत्प्रयोजनं कर्म सांपरायिकम्। ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम्। इति सर्वार्थसिद्धि।

यदि कोई अधिक आत्मानुकूल होसकता है तो वह सातावेदनीय ही है । उपशांतकषायवाले जीवसे लेकर ऊपरके सभी जीवोंमें आत्मानुकूलताकी सामग्री अधिक एकत्रित होजाती है । इसलिये जो कर्मबंधन होगा वह सब कर्मोंमेंसे अच्छा होगा । सातासे अच्छा दूसरा कोई कर्म नहीं है । इसलिये साताका ही बंध होना वहां संभव है ।

सातापना एक कर्मरस है । कर्मरसका व्यक्त होना कर्माधीन है । जब कि कषायका लेश भी न रहा हो तब साता–रस का भी उत्पन्न होना कैसे संभव है ? इस प्रश्नका उत्तर यह हो सकता है कि असली टिकाऊ कर्म कषायद्वारा ही बंधता है । तो भी कर्म्मप्रदेशोंका लानेवाला योग जबतक है तबतक कर्म थोडा बहुत आवेगा अवश्य । और जो आवेगा वह किसी न किसी कर्मशक्तिको रखनेवाला भी होगा ही । वह शक्ति भी एकसौ अडतालीस प्रकारके भीतरकी ही हो सकती है । उनमेंसे शेष अनुभावक शक्तियोंके कारण उपस्थित न रहनेसे साताका अनुभाग ही स्वीकार करना पडता है । और फिर वह साता भी कषायके न रहनेसे टिकाऊ नहीं होती ।

यहांपर तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कषाय न रहते हुए भी शुक्ल लेश्या यहां मानी जाती है उसी प्रकार यहां कर्मबंधन और वह सातारूप माना जासकता है । कषायोंके न रहनेसे कर्मोंकी टिकाऊ अवस्था नहीं होती इसलिये यह कहना भी अनुचित नहीं है कि अकषाय जीवोंके कर्म कर्म ही नहीं है । कर्मोंसे मुक्त होनेका यह ठीक पूर्वरूप है । यहांपर कर्मबंध-संबंधी कारणकार्योंके नाशका क्रम चालू है । वह नाश होते होते टिकाऊपनेका और कषायका सर्वनाश होजाता है और अनुभाग–शक्तियोंमेंसे भी साताके सिवा सभी रुक जाती हैं । कारणोंमें योग और कार्यांशोंमें साता शेष रह जाती है ।

उस साताके विषयमें भी ऐसा न समझना चाहिये कि शेष अनुभाग शक्तियोंकी ही भांत बंध होते समय यह विशेष-तासे व्यक्त होती है । तो ? जिन कार्मण वर्गणाओंमें सातारूप शक्ति रहती है वे ही वर्गणा उस समय केवल बद्ध होती हैं । और इसीलिये उन्हें हम साताकर्म कहते हैं । जिस प्रकार साता आदि अनुभागशक्तियां व्यक्त होनेकेलिये कषायरूप सहकारी कारणकी आवश्यकता मानी जाती है उसी प्रकार वर्गणाओंमें रहनेवाली उपादान शक्तियां भी कारण माननी पडती हैं । हां, सहकारीका तो नियम भी नहीं है परंतु उपादान कारण अवश्य मानना पडता है । इसी बातको हम और

१ योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः । इति द्रव्यसंग्रह । २ " सहकारिणामप्रतिनियमात् " इति ३५ तमकारिकाव्याख्याने उक्त-माप्तपरीक्षायाम् ।

भी सीधे शब्दोंमें कहें तो यों कहसक्ते हैं कि उस समयके कर्मको सातारूप कहना भी कहनामात्र है । क्योंकि, कर्मोंका असली कार्य यह है कि आत्मामें स्वरूपविपर्यास तथा परतंत्रता उत्पन्न हो। परंतु वह साताकर्म स्वरूपविपर्यास भी नहीं कर सकता और परतंत्रता भी नहीं कर सकता। इसीलिये वह नाममात्र कर्म है। साताकर्म भी जो जीवको परतंत्र करनेमें समर्थ होसकते हैं वे कषायके विना वद्ध नहीं होते।

यदि यह साताकर्म योगियोंको वास्तविक बंध ही उत्पन्न नहीं करता तो इसे कर्म क्यों कहते हैं और इसके रहते हुए आत्मा पूरा मुक्त क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर;—

आत्माको पूरा मुक्त होनेमें यह साताकर्म विघ्न नहीं डालता किंतु कषायके सहवाससे बंधे हुए पूर्वकर्म बाधक होते रहते हैं। इसीलिये वे जबतक पूर्ण नष्ट नहीं हो पाते हैं तबतक इस साताकर्म की अयोगावस्थाके समय रुकावट हो जाने पर भी पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं होती। और इस साताकर्मको कर्म कहनेका हेतु यह नहीं है कि इसका कुछ कार्य होता रहता है। तो? एक देश कारणभूत योगके रहनेसे कर्म आनेकी क्रिया चालू रहती है । इसलिये इस क्रियामें समाविष्ट हुई कार्मण वर्गणाओंको कर्म न कहें तो क्या कहें ?

इस प्रकार कर्मोंके सांपरायिक व ईर्यापथ ये दो भेद हुए। अब दोनोंके उदाहरण तथा समर्थन लिखते हैं—

कषायके द्वारा जीवकी अवस्था गीले या चिकने चमडेकीसी होजाती है। इसलिये जिस प्रकार गीले चमडेपर आकर पडी हुई धूल जम जाती है उसी प्रकार कषायद्वारा आर्द्र या स्निग्ध हुए जीवमें आये हुए कर्म कुछ कालकेलिये जम जाते है। इसीको सांपरायिक कर्म कहते हैं। जहांपर कषाय नहीं रहता वहांपर गीलापन या चिकणता नहीं होसकती। इसीलिये जिस प्रकार माटी पत्थरके सूखे या रूक्ष पडे हुए ढेरमें डेल उससे चिपटते नहीं हैं उसी प्रकार कषायरहित जीव निस्नेह या सूखा हो जानेके कारण उसमें आये हुए कर्म जम नहीं पाते। जैसे वे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। इस कर्मको ईर्यापथ कर्म कहते हैं। ये दोनों भेद[1] हैं तो कर्मोंके या जीवोंके, परंतु उपचारसे आस्रवके कहे जाते हैं।

सांपरायिक कर्मके आनेके कारण—

चतुःकषायपंचाक्षैस्तथा पंचभिरव्रतैः। क्रियाभिः पंचविंशत्या साम्परायिकमास्रवेत् ॥८॥

[1] स्वामिभेदादास्रवभेदः। इति सर्वार्थसिद्धिः।

अर्थ—चार कषाय, पांच इंद्रियां, पांच अव्रत, पच्चीस क्रिया-इनके द्वारा सांपरायिक कर्मोंका आस्रव होता है। यद्यपि सांपरायिक कर्मका कारण कषाय ही है तो भी इंद्रियादिकोंको जुदा कारण इसलिगे गिनाया है कि कषायोंके कार्यकारण-संबंधकी अवस्थाएं मालूम पडजांय। जबतक कषाय मनोगत रहै तबतक उसे कषाय कहना चाहिये और इंद्रिय, अव्रत तथा क्रियाओंको कषायोंका कार्य कहना चाहिये। उन पचीस क्रियाओंके नाम तथा अर्थ दिखाते हैं:—

१—चैत्य-गुरु-प्रवचनकी पूजा करना-इत्यादि कार्योंसे सम्यक्त्वशुद्धि होती है इसलिये यह सम्यक्त्वक्रिया है।

२—जिनसे मिथ्यात्व वढे ऐसे कार्य करनेका नाम मिथ्यात्वक्रिया है। जैसे कि अन्य मिथ्यादेवोंकी स्तुति करना।

३—हात पांय आदि हलानेकी जो क्रिया हो वह प्रयोगक्रिया कहाती है। जैसे कि चलना-फिरना।

४—संयमी होकर जो असंयमकी तरफ झुकना, सो समादान क्रिया कहाती है। अथवा योगसाधक पुद्गलवर्गणाओंके संग्रह करनेको भी समादानक्रिया कहते हैं। इस समादान क्रियाका तात्पर्यार्थ इतना ही है कि जो पुद्गल ग्रहण करनेसे कुछ समयसे रुक रहे हैं उनका फिर ग्रहण करना अथवा नवीन नवीन पुद्गलोंको ग्रहण करनेकी तरफ प्रवृत्त होना।

५—ईर्यापथक्रिया पांचवीं है। समादान क्रियासे यह उलटी है। साधुको लक्ष्यकर चौथी व पांचवी ये दो क्रियाएं बताई हैं। संयमीकी ऐसी कोई क्रिया होने लगे कि जिससे विषय ग्रहण हो वह संयमीकी एक सामादान नामक पाप-क्रिया कही। साधु संयम वढानेवाली जिस क्रियाको करै उसे ईर्यापथ क्रिया कहते हैं। ईर्यापथ एक समिति है। ईर्यापथका अर्थ आगे कहेंगे। इस क्रियाको यद्यपि ईर्यापथ नामसे कहा है परंतु पांचो समितियोंका अर्थ इसमें गर्भित है।

इन पांच क्रियाओंमेंसे पहिली दो सम्यक्त्व सुधरने विगडनेकी अपेक्षासे हैं। चौथी पांचवीं संयम विगडनेकी अपेक्षासे है। बीचकी तीसरी सामान्य जीवमात्रकेलिये है। यहां आस्रवका प्रकरण है इसलिये जो आस्रवकी सहायक क्रियाएं हों उन्हींका उल्लेख यहां होना चाहिये। पांचों समितियों का जो आगे स्वरूप कहेंगे उससे मालूम होगा कि समिति पांचों ही जैसे संवरकेलिये कारण हैं वैसे कुछ आस्रवकेलिये भी कारण हैं। इसीलिये संयमवर्द्धक ईर्यापथ समितिको यहां क्रियाओंमें गिनाया है। ईर्यापथका अर्थ भी इसीलिये पांचों समिति करना चाहिये। उपलक्षण न्यायसे पांचोंका ग्रहण करना असंबद्ध भी नहीं है।

१ "सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रिया पञ्च" इति वार्ति०।

आगे जिन पाच क्रियाओंको कहते है वे पर[1]हिंसाकी मुख्यतासे है। देखो—

६—क्रोधके आवेशसे जो द्वेषादिरूप बुद्धिका करलेना सो प्रादोषिक क्रिया है।

७—वह प्रदोष उत्पन्न होजानेपर हाथसे मारने लगना, मुखसे गाली देने लगना—ऐसी प्रवृत्तिको कायिक क्रिया कहते हैं।

८—हिंसाके साधनभूत बंदूक छुरी इत्यादि चीजोंका लेना, देना, रखना—इस सबको आधिकरणिकी क्रिया कहते हैं।

९—दूसरोंके दुःख देनेमें लगना सो परिताप क्रिया है।

१०—दूसरोंके शरीर—इंद्रिय—श्वासोच्छ्वासको नष्ट करना सो प्राणातिपात क्रिया है।

अब पांच क्रिया ऐसी लिखते हैं[2] जिनका इंद्रियभोगोंसे सम्बन्ध है।—

११—सौंदर्य देखनेकी इच्छा सो दर्शनक्रिया है।

१२—किसी चीजको छूनेकी इच्छा होना सो स्पर्शनक्रिया है। इन दो इन्द्रियविषयों की वांछाओंमें शेष इन्द्रियविषय वांछाओंका समावेश करलेना ठीक है। क्योंकि, दूसरी वांछाएँ जुदी गिनाई नहीं हैं।

१३—इन्द्रियभोगोंकी पूर्तिकेलिये नये नये सामान इकट्ठे करना या उत्पन्न करना सो प्रात्ययिकी क्रिया है।

१४—स्त्री पुरुष तथा पशुओंके बैठने उठनेके स्थानोंको मलसे मूत्रसे खराब करडालना सो समन्तानुपात क्रिया है।

१५—न झाडी पोंछी हुई भूमिपर बैठना, उठना, सोना सो अनाभोग क्रिया है।

अब पांच क्रिया ऐसी लिखते हैं कि जो ऊंचे धर्माचरणमें धक्का देनेवाली हैं।

१६—दूसरेके[3] नियोगी कामको स्वतः करना सो स्वहस्तक्रिया है। वर्णाश्रित कार्योंके बदलनेसे यह दोष मुख्यतया लगता है और इसीसे देशकी व्यवस्थाका भंग या अव्यवस्थितपना होजाता है।

१७—पापसाधनोंके देने लेनेमें संमति रखना सो निसर्ग क्रिया है। पापिष्ट कामोंकी छूट देना ऐसा निसर्ग शब्दका अर्थ है।

१८—अच्छे कामोंको आलस्यवश स्वयं नहीं करना अथवा दूसरोके निंद्य कार्यका भंडाफोड करना—यह सब विदारण क्रियाका अर्थ है।

---

१ प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रिया पंच। २ दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगक्रिया. पंच।
३ स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनानाकांक्षाक्रियाः पंच।

१९–प्रमादवश आवश्यकादि धर्मकार्योंको न कर सकना और अतएव विपरीत उपदेश करना सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

२०–प्रवचनमें दिखाये हुये धर्मानुष्ठानके करनेमें उन्मत्तताके तथा आलस्यके वश होकर आदर या प्रेम न रखना सो अनाकांक्षा क्रिया है।

अब पांच क्रिया ऐसी गिनाते हैं कि जिनके रहनेसे धर्म धारनेमें विमुखता रहे—

२१–काटना, तोडना, कुचलना–इत्यादि कार्योंमें लगे रहना और दूसरा कोई ऐसा करे तो हर्षित होना सो आरम्भ क्रिया है।

२२–परिग्रहोंका कुछ कभी विध्वंस न हो जाय ऐसे उपायोंमें लगे रहना सो परिग्रह क्रिया है।

२३–ज्ञानादि गुणोंको मायाचारसे छिपाये रखना सो माया क्रिया है।

२४–मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यात्वपूर्ण कामोंकी प्रशंसा करना सो मिथ्यादर्शन क्रिया है। ऐसी प्रशंसामें वही लगसकता है कि जिसे सत्य धर्मकी अभिरुचि न हो।

२५–देशव्रतके घातके[2] कषायकर्मोंका उदय रहनेसे जो व्रतोंसे सर्वथा विमुख रहना सो अप्रत्याख्यान क्रिया है। प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग होता है। विषयत्याग न होकर उलटी आसक्ति होना–यह अप्रत्याख्यान शब्दका अर्थ है।

कषाय सर्व प्रवृत्तियोंके कारण हैं। इन्द्रिय–शब्दसे इन्द्रियज्ञान लेना चाहिये[3]। अव्रत शब्दका अर्थ विषयासक्ति है। विषयासक्ति मनोविकार है। इसलिये क्रियाओंसे उक्त तीनों ही जुदे कहे गये हैं। क्योंकि, क्रियाएँ जितनी हैं वे सर्व शरीरावयवोंकी सकंप अवस्थाएँ हैं। इन्ही सकंपावस्थाओंको कारणभेदवश अनेक नाम प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्रियका अर्थ इन्द्रियोपयोग है। परन्तु स्पर्शन क्रियाका अर्थ स्पर्शनेंद्रियव्यापार है। बुरे भले सांपरायिक कर्मबंधनोंके ये कारण हैं।

आस्रव की तरतमताके कारण—

तीव्रमन्दपरिज्ञातभावेभ्योऽज्ञातभावतः। वीर्याधिकरणाभ्यां च तद्विशेषं विदुर्जिनाः ॥ ९ ॥

अर्थ–इंद्रियादिक सांपराय कर्मके कारण उन्तालीस कहे परन्तु सांपरायिक कर्मोंका फल भोगनेवाले संसारी जीवोंमें अनंतों विचित्रताएं देखनेमें आती है। क्या वे विचित्रताएं निष्कारण होती हैं? यदि नहीं तो उनकेलिये कोनसे कर्म कारण हैं और वे कर्म कैसे बंधते हैं? इस प्रश्नका उत्तर उक्त श्लोकमें है।

---

१ आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रियाः पञ्च ॥ २ देशव्रतके घातक कर्मोंको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

३ पूर्वत्रेन्द्रियविज्ञानग्रहणमिह तत्पूर्वपरिस्पन्दग्रहणम्। इति वार्ति०।

वह यों कि, सांपरायिक कर्मबंधके कारण तो जो उन्तालीस ऊपर कहे वे ही हैं परंतु परिणामोंकी तीव्रता, मंदता अनंतों भांतकी होसकती है। वस, उसीसे कर्मसामर्थ्यमें अनंतो भेद पैदा होजाते हैं। इसके भी सिवा जो कर्म ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं वे दूसरे प्रकारके होते हैं और विना जाने किये जाते हैं वे दूसरे प्रकारके होते हैं। शक्ति तथा आश्रयसे भी अंतर पडजाता है। शक्ति नाम बलका है। विशेषताके ये छह कारण हुये।

अधिकरण या आश्रयका विस्तारार्थ—

तत्राधिकरणं द्वेधा जीवाजीवविभेदतः। त्रिःसंरम्भसमारम्भारम्भैर्योगैस्तथा त्रिभिः ॥ १० ॥
कृतादिभिस्त्रिभिश्चैव चतुर्भिश्च क्रुधादिभिः। जीवाधिकरणस्यैते भेदा अष्टोत्तरं शतम् ॥ ११ ॥
संयोगौ द्वौ निसर्गास्त्रीन्निक्षेपाणां चतुष्टयम्। निर्वर्तनाद्वयं चाहुर्भेदानित्यपरस्य तु ॥ १२ ॥

अर्थ—यहां कषायोंके आधारको अधिकरण कहा है। वे अधिकरण दो प्रकारके हैं, जीव व अजीव। कषाय कहां उत्पन्न होता है इस प्रश्नका उत्तर देखने लगें तो जीवको अधिकरण कहना पडता है। कषाय किस विषयमें उत्पन्न हुआ या होता है इस प्रश्नका निश्चय करना चाहें तो अजीवको अधिकरण कहना पडता है।

जीवमें उत्पन्न हुआ किसी विषयसंबंधी कषाय कैसी कैसी जीवकी अवस्था करता है या कैसे कैसे कार्य जीवसे कराता है यह बात दिखाते हैं—

जिस विषयमें कषाय उत्पन्न हुआ हो उस विषयको, इष्ट हुआ तो अपनाने और अनिष्ट हुआ तो हटानेका संकल्प मनमें उत्पन्न होजाता है। इस इच्छा या संकल्पके होते ही करने योग्य प्रयत्नकी तर्फ झुकाव होता है। इसीको (१) सरंभ[1] कहते हैं। उस झुकावके वाद साधन इकट्ठे करने लगना इसको (२) समारंभ कहते हैं। फिर हटाने या अपनाने का कार्य सुरू होजाना सो (३) आरंभ है। मनके करनेकी यदि कोई बात हो तो ये संरंभादि मनमें होते हैं; वचनसे करने योग्य कार्यके विषयमें वचनमें होते हैं; शरीरसे करनेयोग्य कार्योंके समय शरीरमें होते हैं। इसीलिये हम यदि तीनो—योग संबंधी संरंभ समारंभ आरंभोंको तीन योगोंमें विभक्त करें तो नौ प्रकारके संरंभादिक होजाते हैं।

१ प्रयत्नावेश सरंभः। साधनसमभ्यासीकरणं समारंभः। प्रक्रम आरंभः। [इतिवा०]

इन नौ प्रकारोंको कोई मनुष्य स्वयं करता है कोई दूसरोंको ऐसे कार्योंके करनेमें लगाता है और कोई दूसरोंको वैसा करते देख प्रसन्न होता है या उसे अच्छा मानता है। इसलिये तीन प्रकार और भी होगये। स्वयंकृत, अन्यकारित, अनुमत या अनुमोदित ये तीनो प्रकारोंके नाम हुए। इन तीनोंसे ऊपरके संरंभादि नौ प्रकारोंको गुणित करें सर्वभेद सत्ताईस होजाते हैं।

ये सत्ताईस बातें कहीं तो क्रोधद्वारा कीजाती हैं, कहीं, मानकषाय द्वारा, कहीं मायाचारके वश और कहीं लोभके वश इसीलिये उन सत्ताईसोंको क्रोध–मान–माया–लोभकी चार संख्यासे गुणित करने पर एक सौ आठ भेद भी होजाते हैं।

१ क्रोधकृत काय संरंभ,	२ मानकृतकाय संरंभ,	३ मायाकृतकाय संरंभ,
४ लोभकृतकाय संरंभ,	५ क्रोधकारितकाय संरंभ,	६ मानकारितकाय सरंभ,
७ मायाकारितकाय संरंभ,	८ लोभकारितकाय संरंभ,	९ क्रोधानुमतकाय सरंभ,
१० मानानुमत काय संरंभ,	११ मायानुमत काय संरंभ,	१२ लोभानुमत काय संरंभ,
१३ क्रोधकृतवचन संरंभ,	१४ मानकृतवचन संरंभ,	१५ मायाकृतवचन संरंभ,
१६ लोभकृतवचन संरंभ,	१७ क्रोधकारितवचन संरंभ,	१८ मानकारितवचन संरंभ,
१९ मायाकारित वचन सरंभ,	२० लोभकारित वचन संरंभ,	२१ क्रोधानुमत वचन संरंभ,
२२ मानानुमत वचन सरभ,	२३ मायानुमत वचन संरंभ,	२४ लोभानुमत वचन सरभ,
२५ क्रोधकृतचित्त संरभ,	२६ मानकृतचित्त संरभ,	२७ मायाकृतचित्त संरंभ,
२८ लोभकृतचित्त संरंभ,	२९ क्रोधकारितचित्त संरंभ,	३० मानकारितचित्त संरंभ,
३१ मायाकारित चित्त संरंभ,	३२ लोभकारित चित्त संरंभ,	३३ क्रोधानुमतचित्त संरभ,
३४ मानानुमत चित्त संरंभ,	३५ मायानुमतचित्त संरंभ,	३६ लोभानुमतचित्त संरंभ,
३७ क्रोधकृतकाय समारंभ,	३८ मानकृतकाय समारंभ,	३९ मायाकृतकाय समारंभ,
४० लोभकृतकाय समारंभ,	४१ क्रोधकारितकाय समारंभ,	४२ मानकारितकाय समारंभ,
४३ मायाकारितकाय समारंभ,	४४ लोभकारितकाय समारंभ,	४५ क्रोधानुमतकाय समारंभ,

४६ मानानुमतकाय समारंभ, ४७ मायानुमतकाय समारंभ, ४८ लोभानुमतकाय समारंभ,
४९ क्रोधकृतवचन समारंभ, ५० मानकृतवचन समारंभ, ५१ मायाकृतवचन समारंभ,
५२ लोभकृतवचन समारंभ, ५३ क्रोधकारितवचन समारंभ, ५४ मानकारितवचन समारंभ,
५५ मायाकारितवचन समारंभ, ५६ लोभकारितवचन समारंभ, ५७ क्रोधानुमतवचन समारंभ,
५८ मानानुमतवचन समारंभ, ५९ मायानुमतवचन समारंभ, ६० लोभानुमतवचन समारंभ,
६१—क्रोधकृतचित्तसमारंभ, ६२—मानकृतचित्तसमारंभ, ६३—मायाकृतचित्तसमारंभ,
६४—लोभकृतचित्तसमारंभ, ६५—क्रोधकारितचित्तसमारंभ, ६६—मानकारितचित्तसमारंभ,
६७—मायाकारितचित्तसमारंभ, ६८—लोभकारितचित्तसमारंभ, ६९—क्रोधानुमतचित्तसमारंभ,
७०—मानानुमतचित्तसमारंभ, ७१—मायानुमतचित्तसमारंभ, ७२—लोभानुमतचित्तसमारंभ,
७३—क्रोधकृतकायारंभ, ७४—मानकृतकायारंभ, ७५—मायाकृतकायारंभ,
७६—लोभकृतकायारंभ, ७७—क्रोधकारितकायारंभ, ७८—मानकारितकायारंभ,
७९—मायाकारितकायारंभ, ८०—लोभकारितकायारंभ, ८१—क्रोधानुमतकायारंभ,
८२—मानानुमतकायारंभ, ८३—मायानुमतकायारंभ, ८४—लोभानुमतकायारंभ,
८५—क्रोधकृतवचनारंभ, ८६—मानकृतवचनारंभ, ८७—मायाकृतवचनारंभ,
८८—लोभकृतवचनारंभ, ८९—क्रोधकारितवचनारंभ, ९०—मानकरितवचनारंभ,
९१—मायाकारितवचनारंभ, ९२—लोभकारितवचनारंभ, ९३—क्रोधानुमतवचनारंभ,
९४—मानानुमतवचनारंभ, ९५—मायानुमतवचनारंभ, ९६—लोभानुमतवचनारंभ,
९७—क्रोधकृतचित्तारंभ, ९८—मानकृतचित्तारंभ, ९९—मायाकृतचित्तारंभ,
१००—लोभकृतचित्तारंभ, १०१—क्रोधकारितचित्तारंभ, १०२—मानकारितचित्तारंभ,
१०३—मायाकारितचित्तारंभ, १०४—लोभकारितचित्तारंभ, १०५—क्रोधानुमतचित्तारंभ,
१०६—मानानुमतचित्तारंभ, १०७—मायानुमतचित्तारंभ, १०८—लोभानुमतचित्तारंभ,

इस प्रकार जीवाधिकरणके १०८ भेद होते हैं।

अजीवाधिकरणके प्रकार—

कषायपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है वह जिन विषयोंपर हो उसीको अजीवाधिकरण कह चुके हैं। उस अजीवाधिकरणको देखने जांय तो इतने प्रकारोंमें दीखपडेगा; (१) कुछ चीजोंका संयोग या मिश्रण किया जाना, (२) योगोंका निसर्ग या लगाना, (३) वस्तुओंका कहींपर रखना = निक्षेप, (४) शरीरकी तथा बाकी चीजोंकी नई तयारी करना। अजीवपुद्गलके उपयोगके ये चार प्रकार हैं।

१--प्रथम संयोग। इसके दो प्रकार--(१) भक्तपानसंयोग, (२) उपकरणसंयोग। खाने पीनेकी वस्तुओंका इकट्ठा करना = भक्तपानसंयोगरूप अधिकरण। चूल चक्की आदि उपभोग साधनोंका इकट्ठा करना = उपकरणसंयोगनामक अधिकरण।

२--दूसरा निसर्ग नामका अजीवाधिकरण। इसके तीन भेद; [१] शरीरनिसर्ग, [२] वचननिसर्ग, [३] चित्तनिसर्ग। शरीरको कहींपर टेकना या रखना = शरीरनिसर्ग। वचन निकलना = वचननिसर्ग। किसी चीजमें मनका आसक्त होना चित्तनिसर्ग।

३--तीसरा निक्षेपाधिकरण। इसके [१] अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप, (२) अप्रमार्जितनिक्षेप, (३] सहसानिक्षेप, [४]

१—गोम्मटसारमें ऐसे संयोगजभंगोंकी संख्यायन्त्रद्वारा करलेनेकी विधी लिखी है। तदनुसार यह जीवाधिकरणोंकी संख्या दिखानेवाला एक यहां भी यंत्र देते हैं। इसमे 'क्रोध-कृत-काय-संरभ' ऐसा प्रथम भेद होगा। दूसरा मान-कृत-काय-संरभ' ऐसा होगा। इसी प्रकार सर्व भंग जुड जाते हैं। चारो कोष्ठकोंके एक एक नाम व एक एक संख्या जोडनेसे भंग संख्या भी मालूम हो जाती हैं।

क्रोध १	मान २	माया ३	लोभ ४
कृत ०	कारित ४	अनुमत ८	
काय ०	वचन १२	मन २४	
संरभ ०	समारभ ३६	आरभ ७२	

अनाभोगनिक्षेप ये चार भेद हैं। न देखीभाली जमीन पर कुछ रखदेना = अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण। न झाडी हुई जमीनपर कुछ रखदेना = अप्रमार्जित निक्षेपाधिकरण। किसी चीजको एकदम जमीनपर कहीं डालदेना = सहसानिक्षेपाधिकरण। जहांपर कभी कोई जाता नहीं, बैठता उठता नहीं उस जमीनपर कुछ रखना = अनाभोगनिक्षेपाधिकरण।

४--चौथा निर्वर्तनाधिकरण। इसके दो भेद--[१] मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण, (२) उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण। पांच शरीर तथा वचन, मन, श्वासोच्छ्वासकी रचना होना=मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण, घर बांधना माटी--ईट--पत्थरोंके दूसरे कुछ काम करना, लकडी कागदके घोडे आदि बनाना, इत्यादि=उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण कहाते हैं। ये सर्व अजीवाधिकरणके ग्यारह उत्तर भेद होते हैं। कर्ममात्रके लिये ये सर्व आस्रव कारण लिखे। परंतु कर्मोंके भेद आठ हैं। इसलिये अब प्रत्येक कर्मके आस्रवकारण जुदे जुदे भी लिखते हैं--

मात्सर्यमन्तरायश्च प्रदोषो निह्नवस्तथा। आसादनोपघातौ च ज्ञानस्योत्सूत्रचोदितौ ॥ १३ ॥
अनादरार्थश्रवणमालस्यं शास्त्रविक्रयः। बहुश्रुताभिमानेन तथा मिथ्योपदेशनम् ॥ १४ ॥
अकालाधीतिराचार्योपाध्यायप्रत्यनीकता। श्रद्धाभावोऽप्यनभ्यासस्तथा तीर्थोपरोधनम् ॥१५॥
बहुश्रुतावमानश्च ज्ञानाधीतेश्च शाठ्यता। इत्येते ज्ञानरोधस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ १६ ॥

अर्थ--आगे जो दिखाते हैं वे ज्ञानको घातनेवाले ज्ञानावरण नामक कर्मके आस्रवकारण हैं।

१--जो ज्ञान अपनेमें हो और दूसरा उसे समझना चाहे परंतु न कहना-न बताना यह मात्सर्य[1]-दोष है। मत्सरका अर्थ द्वेष होता है। द्वेष मानकर ज्ञानका प्रकाश न करनेवाला मनुष्य मत्सरी कहावेगा और उसकी न प्रकाश करनेकी भावनाको मात्सर्य कहना चाहिये। इसके होनेसे ज्ञानका घात होता है इसलिये यह ज्ञानावरणका आस्रव माना गया है।

२--दुष्टता या कालुष्यके वश होकर ज्ञानाभ्यासमें विघ्न डालना--सो अंतराय[2] दोष कहाता है। ३-मति-श्रुतादि ज्ञानोंको मोक्षसाधन मानकर यदि कोई प्रशंसा करै तो उत्तरमें कहना तो कुछ नहीं परंतु मनके भीतर उस बातसे ईर्ष्या करने लगना यह प्रदोष[3] कहाता है। ४-- किसी तत्त्वज्ञानके पूछने पर मुकर जाना--कह देना कि मैं जानता ही नहीं हूं--इसे

१ यावद्यावद्द्वेषज्ञानाप्रदान मात्सर्यम्। २ ज्ञानव्यवच्छेदकरणमन्तराय। ३ ज्ञानकीर्तनानंतरमनभिव्याहरतोन्त पैशुन्यं प्रदोष।

निह्नव कहते हैं। ५–कोई मनुष्य किसी दूसरेको किसी तत्त्वज्ञानका उपदेश करना चाहें और वह सुननेवाला पात्र भी हो परंतु उपदेशदाताको मना करदेना अथवा इशारेसे रोकदेना–इसे आसादनदोष कहते हैं। ६–निर्दोष तत्त्वज्ञानको दोष लगादेना सो उपघात है। ७–तत्त्वोंका उत्सूत्र कथन करना, ८–तत्त्वोपदेश सुनने में अनादर रखना, ९–आलस रखना, १०–शास्त्र वेचना, ११–अपनेको वहुश्रुत मानकर अभिमानसे मिथ्या उपदेश देना, १२–अध्ययन के लिये जो समय निषिद्ध हैं उन समयोंमें पढना, १३–आचार्य तथा उपाध्याय के विरुद्ध रहना, १४–तत्त्वोंमें श्रद्धा न रखना, १५–तत्त्वोंका अनुचिंतन न करना, १६–सर्वज्ञ भगवान् के शासनप्रसार में बाधा डालना, १७–बहुश्रुतज्ञानियोंका अपमान करना, १८–तत्त्वाभ्यास करनेमें शठता करना ये सर्व ज्ञानावरणके आस्रवहेतु हैं । परंतु तात्पर्य इतना समझना चाहिये कि जिन कामों के करनेसे अपने तथा दूसरों के तत्त्वज्ञानमें बाधा आवै, मलिनता होजाय वे सर्व ज्ञानावरणके आस्रवकारण समझने चाहिये। उनमेंसे वहुतसे कामोंका ग्रंथकारने उल्लेख करदिया है परंतु और भी वहुत हैं कि जिन्हें ऊपरसे समझना चाहिये। जैसे कि एक ग्रंथको असावधानी से लिखते हुए कुछ पाठ छोड देना या कुछका कुछ लिख जाना–यह ज्ञानावरण के आस्रवका कारण होगा।

२–दर्शनावरणके आस्रवहेतु—

दर्शनस्यान्तरायश्च प्रदोषो निन्हवोपि च। मात्सर्यमुपघातश्च तस्यैवासादनं दिवा ॥ १७ ॥
नयनोत्पाटनं दीर्घस्वापिता शयनं दिवा। नास्तिक्यवासना सम्यग्दृष्टिसंदूषणं तथा ॥ १८ ॥
कुतीर्थानां प्रशंसा च जुगुप्सा च तपस्विनाम्। दर्शनावरणस्यैते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ १९ ॥

अर्थ–१–देखने में अंतराय डालना २–किसीके देखनेकी प्रशंसा होती हो वहां पर मुखसे कुछ न कहकर भीतर ईर्ष्या द्वेष करना, ३–अपने देखनेको छिपाना, ४–दूसरोंको दिखाना नहीं, ५–अच्छे दर्शनको दोष लगादेना, ६–दूसरे किसीको कुछ दिखाना चाहें तो मना करदेना–ये दर्शनसंबंधी दोष दर्शनावरणके आस्रवकारण हैं इनके सिवा और भी दर्शनावरण के वहुत से आस्रव कारण हैं। उनमें से कुछ ग्रंथकार स्वयं दिखाते हैं। जैसे कि किसी की आँखे निकलवा लेना,

१ पराभिसन्धानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः। २ वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम्। ३ प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः। इति वार्तिं०।

वहुत सोना, दिनमें सोना इत्यादि काम भी दर्शनावरणके आस्रव कारण हैं। नास्तिकताकी वासना रखना, सम्यग्दर्शन में दोष लगाना, कुतीर्थों की प्रशंसा करना, तपस्वियोंको देखकर उनके विषयमें ग्लानि करना—ये भी दर्शनावरणके आस्रवहेतु हैं।

यहा शका यह होगी कि नास्तिकताकी वासना आदिक वातोंसे दर्शनावरणका आस्रव क्यों होता है? यदि हो तो दर्शन मोह का आस्रव होना संभव है। क्योंकि, सम्यग्दर्शनके विपरीत कार्योसे सम्यग्दर्शन मलिन होसकता है न कि दर्शनोपयोग।

उत्तर—जैसे वाह्य इद्रियोंसे मूर्तिक पदार्थोंका दर्शन होता है वैसे ही विशेषज्ञानियोंको अमूर्तिक आत्माका भी तो दर्शन होता है। जिसप्रकार सर्व ज्ञानोमेंसे आत्मज्ञान अधिक पूज्य है उसीप्रकार वाह्यविषयके दर्शनोंकी अपेक्षा अन्तर्दर्शन या आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। इसलिये आत्मदर्शनके वाधक कारणोंको दर्शनावरणके आस्रवका हेतु मानना अनुचित नहीं है। नास्तिकताकी वासना आदि जो लिखे हैं वे इसप्रकार दर्शनावरणके आस्रवहेतु होसकते हैं।

३—तीसरा वेदनीय कर्म है। इसके सात असात ये दो प्रकार है। दोनोंमेंसे असातवेदनीयके आस्रवका कारण—

दुःखं शोको बधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम्। परात्मद्वितयस्थानि तथा च परपैशुनम्॥ २०॥
छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा। तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो विश्वसनं तथा॥ २१॥
पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च। शस्त्रप्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम्॥ २२॥
शृङ्खलावागुरापाशरज्जुजालादिसर्जनम्। धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा॥ २३॥
तपस्विगर्हणं शीलव्रतप्रच्यावनं तथा। इत्यसद्वेदनीयस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥ २४॥

अर्थ—पीडा होने का नाम दुःख[2] और खेदका नाम शोक[3] है। शरीरेन्द्रियोंका घात करना सो वध[4] है। पश्चात्ताप या ताप[5]का एक ही मतलव है। विलापका नाम क्रन्दन[6] है। ऐसी तरहसे रोना सुननेवाले भी दुखी होजांय सो परिदेवन[7] कहाता है। इन वातोंको स्वयं करना या दूसरोंमें उत्पन्न करदेना अथवा स्वयं भी करना दूसरोंमें भी उत्पन्न

१ सातका अर्थ सुख व असातका अर्थ दुःख है। २ पीडालक्षणः परिणामो दुःखम्। ३ अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोक। ४ आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरण बधः ५। परिवादादिनिमित्तमाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्ताप। ६ परितापजाश्रुपातप्रचुरविलापाद्यभिव्यक्तं क्रन्दनमाक्रंदनम्। ७ संक्लेशप्रवण स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्राय परिदेवनम्। [इति वार्तिकालङ्कारे]

करदेना, ऐसा करनेसे असातवेदनीय कर्मका आस्रव होता है।

इनके सिवा दूसरोंकी चुगली खानेसे, छेदने से भेदनेसे, ताडने से, दमन करनेसे, डरानेसे, तरासनेसे अति शीघ्र किसी के भी विश्वासमें आजानेसे पापकर्म के द्वारा आजीविका करनेसे, वक्रस्वभाव रखने से, शस्त्रदान करनेसे, विश्वासघात करनेसे, विषमिलानेसे, सांकल–वागुरा--पाश–जाल इत्यादि पशु पक्षी पकडने की चीजें देनेसे, धर्मका घात करनेसे, धर्ममें विघ्न डालनेसे, तपस्वियोंकी निंदा करनेसे शीलव्रतके छोडने छुडाने से असातवेदनीयकम का आस्रव होता है।

[1] इन कारणोंके सिवा असात वेदनीयके दूसरे भी कारण हैं। जैसे कि, दूसरोंकी निंदा करना, चुगली खाना, दया न रखना, किसीको रोकलेना, दूसरे जीव पर सवार होकर चलना, अपनी प्रशंसा करना, महा आरंभ परिग्रह रखना ये सव भी असातवेदकर्मास्रवहेतु हैं।

वक्र स्वभावको अशुभ नाम कर्मका भी आस्रवकारण लिखेगे और ऊपर असातवेदनीयका कारण लिखचुके हैं। परन्तु यह कोई विरोध नहीं है। एक ही क्रिया अनेक भातके परिणाम उत्पन्न कराती है। दूसरें, जैसे अभिप्रायसे वह क्रिया कीजाय वैसा ही वह फल देती है। वक्रस्वभाव आनन्दकेलिये धारण किया जाय तो असातवेदनीयका कारण हो। यदि वही वक्र स्वभाव किसी जीवका सहज स्वभावसा पडगया हो तो अशुभ गति आदि नामकर्मोंका भी कारण होसकता है। इसी प्रकार यदि वहुतसे आरम्भ–परिग्रहमें रत होजाय तो उससे नरक आयुका आस्रव हो और उसीको आनन्दका हेतु माननेसे असातवेदनीयका आस्रव होसकता है। एक एक कषायक्रियाओंमें इसीप्रकार और भी अनेक[2] अविरोधी कर्म लानेकी शक्ति रहसकती है।

---

१ इतिकरणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसग्रहः अर्थात् इस आस्रव प्रकरणके अन्तमें राजवार्तिकालकारके कर्ता श्रीअकलकदेव लिखते हैं कि सूत्रके एक 'इति' शब्दको प्रथमसे लेकर यहातक लायाजासकता है आर उसके लानेका फल यह समझना चाहिये कि जिन कारणोंकी जिक्र नही की गई है वे भी उस उस कर्मास्रवके कारण समझे जाय। २ ज्ञानावरणे वध्यमाने युगपदितरेषामपि वन्ध इष्यते आगमे। अतो यत्प्रदोषनिन्हवादयो ज्ञानावरणादीनामास्रवा प्रतिनियता उक्तास्ते सर्वेषा कर्मणा आस्रवा भवन्ति। किंच यद्यपि प्रदेशादिवन्धनियमो नास्ति तथापि अनुभागविशेपनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषादय प्रविभज्यन्ते। [इति वार्ति०। अर्थात्, अनुभाग भी प्रदेशादिवन्धकी भांत सामान्य तो साती आठो प्रकृतियोंमे उत्पन्न होता ही है परन्तु विशेषानुभाग उसी कर्ममें उत्पन्न होगा कि जिसका नियत कारण उपस्थित हो।

सातवेदनीयके आस्रवहेतु—

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा । वैयावृत्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा ॥ २५ ॥

सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा । भूतवृत्यनुकम्पा[1] च सद्वेद्यास्रवहेतवः ॥ २६ ॥

अर्थ—दया रखना, दान देना, तपश्चरण करना, शील धारण करना, सत्य बोलना, आत्मशौचको पालना, इंद्रिय दमन करना, क्षमा धारण करना, धर्मात्माओंकी सेवामें उपस्थित रहना, विनययुक्त रहना, जिनपूजा करना, परिणाम सरल रखना, मुनियोंका सराग संयम या महाव्रत धारण करना, गृहस्थियोंके देशव्रत धारण करना, प्राणिमात्र पर करुणा रखना और व्रतियोंपर विशेष करुणा रखना—ये सातवेदनीय कर्मके आस्रवकारण हैं ।

इन कारणोंके सिवा अकाम[2]निर्जरा बालतप[3], समाधि[4] इत्यादि कारण भी सातवेदनीयमें उपयोगी पडते हैं । सराग संयमका अर्थ मुनिचारित्र है परन्तु मुनि वीतराग भी होते हैं, इसलिये जब तक राग नाश नहीं हुआ तब तकके सर्व मुनि यहां लिये जासकते हैं । अत एव संयमका अर्थ अशुभनिवृत्ति[5] करना चाहिये । शुद्ध चारित्रवाले जो साधु हैं वे सराग नहीं होते । दानादिका लक्षण आगे कहेंगे ।

मोहनीयके दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं इनका स्वरूप तो आगे कहेंगे परन्तु इनके आस्रव हेतु यहीं लिखते हैं ।

दर्शनमोहनीयके आस्रवहेतु—

केवलिश्रुतसंघानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम् । अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थकृतामपि ॥ २७ ॥

मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम् । इति दर्शनमोहस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ २८ ॥

अर्थ—केवली भगवान्की, शास्त्रकी, संघकी, धर्मकी, देवोंकी तथा तीर्थकरोंकी झूठी निंदा करना सो दर्शनमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है । झूठी निंदा का मतलब यह है कि मनमें ईर्ष्याद्वेष उत्पन्न होनेसे झूठे दोष लगाना । इसीको

१ अनुग्रहार्द्रीकृतचेतस परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा । २ विषयानर्थनिवृत्तिंचात्माभिप्रायेणाकुर्वत पारतन्त्र्याद्भोगनिरोधोऽकामनिर्जरा । ३ यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषा तपो बालतपः । अग्निप्रवेशकारीपसादनादिप्रतीतम् । ४ निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योग समाधि । ५ प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः सयमः ।

अवर्णवाद भी कहते हैं। इसके सिवा सत्य मोक्षमार्गको दूषित ठहराना, असत्य मोक्षमार्गको सच्चा बताना ये भी दर्शन मोहास्रवके कारण हैं।

इंद्रियों द्वारा व क्रमसे संसारी जनोंको ज्ञान होता रहता है। यह क्रमसंबन्धी तथा इंद्रियपराधीनतासम्बन्धी दोष जिनके पवित्र आत्मामेंसे निकलगया हो—जो केवल आत्मसहायतासे सर्व विषयोंको युगपत् जानते रहते हों वे केवली कहाते हैं। उस केवलीने जो तत्त्वोपदेश किया हो और ऋषियोंने फिर तदनुसार लिखा हो उसे शास्त्र कहते हैं। उस निर्दोष प्रमाण शास्त्रको अप्रमाण बताना, मांसभक्षणोपदेशयुक्त उसे कहना—इत्यादि श्रुतावर्णवाद है। इसी प्रकार धर्मका अवर्णवाद भी कहते हैं।

रत्नत्रयपूर्ण ऋषी–मुनि–यती–अनगार इन चारोंका समूह सो संघ है। ये चारो साधु हैं। परन्तु चार नाम पडनेके चार कारण हैं। कर्मक्लेशोंका नाश करनेमें जो उद्यत हों वे ऋषी हैं ऋद्धि धारण करनेवाले मुनियोंको भी ऋषी कहते हैं आत्मविद्याओंके अभ्यासी हों सो मुनि हैं। जो पापनाश करनेकेलिये यत्न करें वे यती हैं। जो शरीररूप घरसे भी प्रीति छोड चुके हों वे अनगार हैं। यह शब्दार्थ हुआ। तदनुसार गुण भी इनमें रहते हैं। इनको शूद्र और अशुचि कहना सो सब संघावर्णवाद है। देवोंको मद्यादिसेवी कहना देवावर्णवाद है।

ये दोषारोपण झूठे क्यों हैं? इसलिये कि धर्म, देव, श्रुत, संघका वैसा स्वरूप नही माना गया है। धर्ममें मद्यादि सेवनकी उलटी निंदा की है देव भी मांसादिसेवी नहीं मानेगये हैं। शास्त्रोंमें वैसा स्वरूप वर्णन भी नहीं किया गया है। साधुओंका आत्मा अतिपवित्र है। जो अपने स्वरूपको समझचुके हों और अतएव शरीरसंस्कारको मिथ्या मानकर शरीर संस्कारसे विमुख होचुके हैं उनसे भी अधिक शुचि कौन होगा? शरीरको आत्मा माननेवाले संसारी जन शरीरके पोषणासे अपना हित समझते हैं। उन्हे आत्मज्ञान नहीं हुआ है इसीलिये वे शरीरशौचको अपना शौच मानतेहैं। परंतु आत्मज्ञानीकेलिये वह क्रिया तुच्छ है। वे पुद्गलसे मिले हुए आत्माको निष्कलंक करनेमें लगे हुए हैं इसलिये वे ही सबसे शुचि

---

१ रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः। मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः॥ यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत्। योऽनीहो देहगेहेपि सोऽनगारः सतां मतः॥ इति यशस्ति० ८ आ०। २ अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः। मांसभक्षणानवद्याभिधानं श्रुतेवर्णवाद। निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मावर्णवाद शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघेवर्णवादः। सुरा मांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः।

है। शूद्रताका दोष भी उनमें नहीं आता। शूद्रका अति असंस्कृत आत्मा साधुपदके योग्य आत्मविशुद्धि नहीं करसकता इसलिये साधुओंमें शूद्रका समावेश नहीं होता। इसीलिये वे शूद्र नही होते। इसलिये साधुओंमें शूद्र भी रहते हैं यह कहना मिथ्या है।

केवलियोंको कवलाहारका दोष लगाया जाता है यह भी मिथ्या है। तीर्थंकरोंमें स्त्रीवेदका दोष लगाया जाता है यह भी मिथ्या है। ये दोनो बातें केवलज्ञानका लक्षण लिखते समय दिखावेंगे।

आत्माके सम्यग्दर्शनगुणको मलिन करनेवाले और भी सभी काम दर्शनमोहास्रवके कारण होते हैं। ऊपर जो अवर्णवाद बताये हैं उनसे आत्मस्वरूपका श्रद्धान तथा तत्त्वश्रद्धान विरुद्ध होजाता है। इसलिये वे सब सम्यग्दर्शनघातक दर्शन मोहकर्मके अनुभाग सामर्थ्यको बढाते हैं। आत्माको न मानना इत्यादि दोष भी दीर्घ दर्शनमोहास्रवके कारण समझने चाहिये।

चारित्रमोहनीयके आस्रवहेतु—

स्यात्तीव्रपरिणामो यः कषायाणां विपाकतः। चारित्रमोहनीयस्य स एवास्रवकारणम्॥ २९॥

अर्थ—क्रोधादि कषायोंका उदय होनेसे जो परिणामोंमें तीव्रता उत्पन्न होती है वह चारित्रमोहनीयकर्मका आस्रवकारण है। क्रोधकी तीव्रता क्रोधकर्मका आस्रवकारण है। मान–माया–लोभकी तीव्रता मान-माया-लोभकर्मकेलिये कारण है। परंतु सामान्यभावसे देखें तो जगके अनुग्रहमें लगे हुए व्रतशीलसंपन्न तपस्वियोंकी निंदा, धर्मका विध्वंसन अथवा धर्म सेवनमें विघ्न डालना, मधुमांसादिसे विरत रहनेवालेके चित्तमें भ्रम उत्पन्न करना, व्रतोंमें दोष लगाना क्लेशदायक वेशधारणकरना अपनेको कषाय उत्पन्न हो या दूसरेको हो ऐसा कार्य करना, इत्यादि कामोंसे चारित्रमोहनीयकर्मका आस्रव होता है। खूब हसना, दूसरोंकी हसी करना, इत्यादि बातोंसे हास्यकर्मका आस्रव होता है। कामोत्पादक कुचेष्टा करना, भोगोपभोगविषयोंमें अतिप्रेम रखना ये बातें रतिकर्मास्रवकी कारण हैं। किसी चीजसे आप द्वेष करना, दूसरोंको अरति उत्पन्न करना पापियोंकी संगत करना ये सब काम अरतिकर्मास्रवके हेतु हैं। दूसरोंको शोक होनेपर आनंदित होना, शोक उत्पन्न करना, दुख उत्पन्न करना ऐसी बातसे शोककर्मका आस्रव होता है। निर्दय रहनेसे, अधिक भययुक्त रहनेसे, दूसरोंको भयउत्पन्न करनेसे भयकर्मका आस्रव होता है। सत्य धर्मके धारक चारो वर्णवालोंका जो वर्ग कुलक्रियाचार उसमें ग्लानि दिखानेसे जुगुप्साकर्मका आस्रव होता है। अर्थात् अपने अपने वर्ग या कुलोंके अनुसार जो क्रियाचार होते हैं वे बहुतसे लोगोंको पसंद नहीं होते—उसमें वे ग्लानि करते

हैं। परंतु ऐसा करना जुगुप्साकर्मका कारण है। पुरुष-स्त्री-नपुंसककी भांत दूसरेको भोगनेकी वांछा रखनेसे स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेदका आस्रव होता है। इसके सिवा स्त्रीवेदकर्मका आस्रव होनेमें अतिमान असत्यभाषण ऐसी बातें भी कारण होजाती हैं स्त्रीभोगकी अल्प आकांक्षा, मायाचार न रखना इत्यादि स्वभाव पुरुषवेदके कारण होते हैं। भोगकी अतिआसक्ति, गुह्येन्द्रियछेदन इत्यादि क्रियाएं नपुंसकवेदास्रवके लिये कारण होती हैं।

चार आयुकर्मोंमेंसे नरकायुके आस्रवकारण—

उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता। मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता ॥ ३० ॥
अजस्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता। परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ॥ ३१ ॥
कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता। जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम् ॥ ३२ ॥
मार्जारताम्रचूडादिपापीयःप्राणिपोषणम्। नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह ॥ ३३ ॥
कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम्। आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ३४ ॥

अर्थ—कठोर पत्थरके समान तीव्र मान रखना, पर्वतमालाओंके समान अभेद्य क्रोध रखना, मिथ्यादृष्टि होना, तीव्रलोभ होना, सदा निर्दयी बने रहना, सदा जीवघात करना, सदाही झूंठ बोलनेमें प्रेम मानना, सदा परधन हरनेमें लगे रहना, नित्य मैथुनसेवन करना, कामभोगोंकी अभिलाषा सदा जाज्वल्यमान रखना, जिन भगवान्‌की आसादना करना साधुधर्मका उच्छेद करना, बिल्ली-कुत्ते-मुर्गे इत्यादि पापी प्राणियोंको पालना, शीलव्रतरहित बने रहना और आरंभ परिग्रहको अति बढाना, लेश्या कृष्ण रहना, चारो रौद्रध्यान जो आगे निर्जराके वर्णनमें लिखेंगे उनमें लगे रहना इतने अशुभकर्म नरकायुके आस्रवहेतु हैं। अर्थात् जिन कर्मोंको क्रूरकर्म कहते है और जिन्हें व्यसन कहते हैं वे सभी नरकायुके कारण हैं।

तिर्यंच आयुके आस्रवहेतु—

नैःशील्यं निर्व्रतत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम्। मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां च देशनम् ॥ ३५ ॥
कृत्रिमागरुकर्पूरकुंकुमोत्पादनं तथा। तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम् ॥ ३६ ॥

सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितिः । वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा ॥ ३७ ॥
तक्रक्षीरघृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम् । वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा ॥ ३८ ॥
कापोतनीललेश्यात्वमार्तध्यानं च दारुणम् । तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः ॥ ३९ ॥

अर्थ—शील न रखना, व्रत न रखना, मिथ्यादृष्टि होना, दूसरोंको ठगते रहना, मिथ्यादृष्टियोंकेखोटे धर्मोंका उपदेश करना, अगर, कपूर, कुंकुम इत्यादि चीजोंको नकली तयार करना बांट तराजू इत्यादि चीजोंको हीनाधिक रखना, सोना मोती इत्यादि वस्तुओंको नकली तयार करना, किसी चीजके रस—गंध—वर्ण—स्पर्शको बदलना, दूध, घी, मठा आदि चीजोंमें दूसरी चीजें मिला देना वचन या शरीरकी क्रियासे दूसरोंको घबडाहट पैदा करदेना ।

कपोत या नील नामकी लेश्या रहना तीव्र आर्तध्यान करते रहना, ये सर्व तिर्यंच योनिके आयुकर्मकेलिये आस्रव कारण हैं । इनके सिवा मायाचार सबसे मुख्य कारण है । दूसरोंको ठगनेमें अति प्रयत्न रखना, दूसरेको ठगलेने पर प्रसन्न होना, ये सर्व मायाचारके ही भेद हैं और ये तिर्यंच आयुके कारण हैं । आर्तध्यानको जो कारण कहा है वह यदि मरण समयमें हो तो अवश्य ही तिर्यंच आयुका कारण हो । बाकी समयमें किसी भी आयुका कारण मिलनेपर भी बन्ध होनेका नियम नहीं रहता । क्योंकि भुज्यमान वर्तमान आयुकर्मकी स्थितिका एक तृतीयांश शेष रहजाने पर उत्तर भवके आयुकर्मका बन्ध होसकता है । उससे प्रथमतो कभी होता ही नहीं । उस प्रथम तृतीयांशमें यदि बन्ध न हो तो उस शेष स्थितिका भी एक तृतीयांश शेष रहनेपर हो । तब भी न हो तो उस शेपके भी तृतीयांश शेष रहने पर हो । ऐसे तृतीयांशोंके प्रसंग किसी किसीको आठ वारतक होजाते हैं । यदि इन आठोंमें बन्ध न हो तो मृत्यु समय अवश्यही हो । इसीलिये चाहे जब आयुबन्ध नहीं होता । यह सभी आयुकर्मोंका सामान्य नियम है ।

मनुष्यायुके आस्रवहेतु—

ऋजुत्वमीषदारम्भपरिग्रहतया सह । स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता ॥ ४० ॥
अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः । आयुषो मानुषस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४१॥

अर्थ—परिणाम सदा सरल रखनेसे, आरंभ व परिग्रह थोडा रखनेसे, स्वभाव कोमल रखनेसे, गुरुजनोंकी पूजा विनय करनेमें सदा तत्पर रहनेसे, कुटुंवादि संवंधी विषयोंके इष्टानिष्ट वियोग संयोग होनेपर संक्लेश कम करनेसे, दान देनेसे, प्राणियोंके घातको छोडनेसे मनुष्यायुकर्मका आस्रव होता है। मनुष्यायुके कारण और भी होसकते हैं। जैसे कि शीलव्रत धारण न करके भी मंद कषाय रखनेसे मनुष्यायुका आस्रव होता है। वह मंदकषाय धूलमें की हुई लकीरके समान जल्दी मिट जानेवाला हो। रति थोडी करनेसे, संतोष रखनेसे, प्रायश्चित्त लेनेसे पापकर्म न करनेसे, थोडा बोलनेसे मधुर स्वभाव रखनेसे जन्मनिर्वाहके लिये दूसरोंके अनुग्रहकी प्रतीच्छा न रखनेसे, कपोत व पीत लेश्या धारनेसे, और मरते समय धर्मध्यान रखनेसे भी मनुष्यायुका आस्रव होता है।

देवायु: कर्मास्रवहेतु—

अकामनिर्जरा बालतपो मन्दकषायता। सुधर्मश्रवणं दानं तथायतनसेवनम् ॥ ४२ ॥
सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः। इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ४३ ॥

अर्थ—बालतप व अकामनिर्जराका अर्थ लिखचुके हैं इनके होनेसे कषाय मंद रखनेसे, श्रेष्ठ धर्मको सुननेसे, दान देनेसे, आयतनसेवी बननेसे, सराग साधुओंका संयम धारण करनेसे, देशसंयम धारण करनेसे, सम्यग्दृष्टी होनेसे देवायुका आस्रव होता है। आयतन नाम स्थानका है। यहांपर प्रसंगवशात् धर्मायतन या धर्माश्रय ऐसा आयतनशब्दका अर्थ होता है। धर्मायतन छह हैं, देव, गुरु, शास्त्र व देवोपासक, गुरूपासक, श्रुतोपासक शिष्यगण। इन धर्मायतनोंकी सेवा करनेसे, संगति रखनेसे धर्मलाभ होता है इसीलिये ये आयतन शुभायुके आस्रवहेतु माने गये हैं।

अकामनिर्जरा, बालतप तथा मंदकषाय ये देवायुके कारण अवश्य हैं परंतु जीव मिथ्यादृष्टि हो तो भवनत्रिक देवोंमें तथा सहस्रारपर्यंत स्वर्गके क्षुद्रक देवोंमें जन्म ले सकता है। तेरहसे सोलहवेंतकके स्वर्गोंमें सम्यग्दृष्टि ही जीव जन्म लेता है। बालतप आदि जो मिथ्यादृष्टिके ही हाथ होते हैं वे इसीलिये उत्कृष्ट देवायुके कारण नहीं होसकते हैं। सम्यग्दर्शन, देशसंयम, सरागसंयम—इत्यादि जो कारण हैं वे सौधर्मादि स्वर्गवासी उत्कृष्ट देवायुकेलिये होते हैं।

दानको देवायुका कारण लिखा है और पहिले मनुष्यायुका भी कारण लिखा है परंतु मनुष्यायुका जो दान कारण होता है

वह साक्षात होता है और देवायुका परंपरा कारण । क्योंकि दानका फल भोगभूमि प्राप्त होना है और भोगभूमिका जीव एकवार देव ही होता है यह नियम है । यह साक्षात् परपराका मतलव है । दूसरें, ऐसा भी है कि एक जातिका परिणाम अन्तर्गत असाधारणताके वश अनेक कार्योंका कारण होसकता है।इसलिये एक ही दानक्रिया भोगभूमिके मनुष्यायुका भी कारण हो सकती है। और देवायुका भी कारण हो सकती है। दान निकृष्ट हो तो तिर्यंच आयुका भी कारण हो सकता है।

चित्तमें दया रखना, प्रोपधोपवास करना, तपोमें भावना रखना—इत्यादि क्रियाएं भी देवायुके आस्रवकी कारण होती हैं।

नामकर्ममेंसे अशुभप्रकृतियोंके आस्रवहेतु—

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता । मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता ॥ ४४ ॥
विषक्रियेष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम् । प्रतिमायतनोद्यानप्रतिश्रयविनाशनम् ॥ ४५ ॥
चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधूपादिमोषणम् । अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम् ॥ ४६ ॥
परुषासह्यवादित्वं सौभाग्याकरणं तथा । अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः ॥ ४७ ॥

अर्थ—मन वचन कायके योगको वक्र रखना, परस्पर विवाद करनेकी आदत पडजाना, मिथ्यादृष्टि वनेरहना, झूठेलेख वनाना, झूठी साक्षी देना, चुगली खाना, चित्त अशान्त रखना, किसीको विष देदेना, ईंटोंका चूनेका भट्टा-पजाया लगाना, जँगलमें आगलगादेना देवप्रतिमाके स्थानका नाश करना, वगीचा उजाडना, सभा—आश्रयस्थानादिका भंग करदेना, देव-प्रतिमाकेलिये रक्खे हुए गन्ध—पुष्प—माला—धूप इत्यादि चीजोंको चुराना, अतितीव्र क्रोधादि कषाय रखना, पापकर्मोंसे जीविका करना, असुहावना कठोर वचन वोलना, किसीके सौभाग्यका विनाश करना या सौभाग्य न होनेदेना, ये सर्व, अशुभ नामकर्मके आस्रवकारण हैं। अशुभ गति अशुभ शरीर इत्यादि अशुभ नामकर्म आगे लिखेंगे । इनके सिवा और भी अशुभ नामकर्मके आस्रव कारण हैं। जैसे कि, मद करना, दूसरोंकी निंदा करना, परस्त्रीवशीकरणमें लगना, वहुत वकना, आभूषण पहरनेमें प्रीति रखना, असत्यवोलना, दूसरोंको सदा ठगते रहना इत्यादि भी अशुभनाम कर्मके कारण हैं।

शुभनामकर्मके आस्रवहेतु—

संसारभीरुता नित्यमविसंवादनं तथा । योगानां चार्जवं नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः ॥४८॥

अर्थ—संसारसे सदा डरते रहना, कभी किसीके साथ झगड़ा विवाद न करना तीनों योगोंको सरल रखना, ऐसे कामोंसे शुभ नाम कर्म का आस्रव होता है। धार्मिकको देखते ही झटसे उठ खडे होना, उसे आगे लाना, उच्चासन देना, प्रमाद न रखना, इत्यादि और भी शुभनाम कर्मास्रवके कारण हो सकते हैं। शुभ नाम कर्म आगे गिनावेंगे।

शुभ नामकर्मोंमें भी तीर्थंकर नामकर्म सर्वोत्कृष्ट है। अनंतानुपम उसका प्रभाव है। अचिंत्य विभूतिका वह कारण है। त्रैलोक्यके स्वामी बननेका चिन्ह है। उसके कारण जुदे गिनाते हैं—

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः। मार्गप्रभावना चैव संपत्तिर्विनयस्य च ॥४९॥
शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता। ज्ञानोपयुक्ताभीक्ष्णं समाधिश्च तपस्विनः ॥५०॥
वैयावृत्यमनिर्हाणिः षड्विधावश्यकस्य च। भक्तिः प्रवचनाचार्यजिनप्रवचनेषु च ॥५१॥
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः। नाम्नस्तीर्थकरत्वस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥५२॥

अर्थ—तीर्थंकरत्व नाम शुभ नामकर्मास्रवके सोलह कारण हैं उनमेंसे प्रथमका नाम दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शन की निर्मलता होनेसे कभी किसी जीवके कषाय ऐसे मंद हो जाते हैं कि जो तीर्थंकरत्वके बंधके लिये कारण हो सकैं। दर्शनविशुद्धिका साधारण शब्दार्थ यही होता है कि सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि हो। परंतु तात्पर्यार्थ, सम्यग्दर्शनके सम्बन्धसे होने-वाली एक विशिष्ट कषायविशुद्धि ऐसा ही लेना चाहिये। जैसे कि वचन कर्मको योग कहते हैं परंतु वचन द्वारा होनेवाला आत्मकर्म ही योग लिया जाता है। क्योंकि वचन केवल कार्यकारी नहीं हो सकता है। जो आत्मामें बन्धास्रव होगा वह आत्मा की चंचलतासे, न कि किसी केवल पुद्गलके निमित्तसे। बस, इसी प्रकार बंधका, कारण कहीं भी हो कषाय ही होगा न कि सम्यग्दर्शनादि। जो सम्यग्दर्शन आत्माको बन्धसे छुडानेवाला है वही बंधका कारण कैसे हो सकता है? तीर्थंकर कर्म चाहे कितना ही उत्तम हो परंतु है तो बंध न? इसलिये दर्शनविशुद्धिका अर्थ दर्शनसहभावी कोई रागांश ही करना ठीक है। उसका उदाहरण श्रीअकलंकदेव ऐसा लिखते हैं कि जिनोपदिष्ट निर्ग्रंथ मोक्षमार्गमें रुचि होनेका नाम दर्शनविशुद्धि है। शंकादि दोष हट जानेसे वह रुचि विशुद्ध या निर्मल होती है।

२ येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति। येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति॥ इतिपुरुषार्थसि०।

२—दूसरा कारण शक्त्यनुसार तप है। यह तप ऐसा करना चाहिये कि मोक्षमार्गसे विपरीत न हो और न शक्ति से अधिक या हीन हो। ३—तीसरा कारण शक्त्यनुसार त्याग है। त्यागका अर्थ दान है । चौथा कारण मार्ग प्रभावना है। ज्ञानके माहात्म्यसे, तपश्चरणके द्वारा, जिनपूजा करके धर्मको प्रकाशित करना सो मार्गप्रभावना है । सबसे उत्तम प्रभावना आत्मप्रभावना है जो कि रत्नत्रयके तेजसे देदीप्यमान किया जाने पर सर्वोत्कृष्ट फलको फलता है। ५-पांचवां विनयसंपत्ति कारण है विनयसे परिपूर्ण रहना सो विनयसंपत्ति है । वह विनय किसका ? ज्ञानादिगुणोंका तथा ज्ञानादिगुणयुक्तोंका—इनमें आदर उत्पन्न होना सो विनय है। कषायको कृष कर देनेसे भी विनय होता है ।

६—छठा, शीलव्रतोंमें अतीचाररहित प्रवर्तना, यह कारण है। अहिंसादि व्रत आगे कहेंगे । शील शब्दके अर्थ तीन होसकते हैं; एक तो सत्स्वभाव, दूसरा स्वदारसंतोष, तीसरा दिग्व्रत आदि सात व्रत अहिंसादिव्रतरक्षार्थ आगे कहे जानेवाले हैं वे। इन तीनों अर्थोंमेंसे पहिला यहां लेना ठीक है। सत्स्वभावका अर्थ क्रोधादि कषायके वश न होना है । यह सत्स्वभाव भी अहिंसादि व्रतरक्षार्थ होता है। अतिक्रोधी या लोभी, मानी, मायाचारीके अहिंसादिव्रत निर्मल कभी नहीं रह सकते हैं। इसीलिये व्रतरक्षार्थ क्रोधादिकषाय छोडने चाहिये। दिग्व्रतादिक भी व्रतरक्षार्थ ही होते हैं और वे भी कषाय अतिमंद करलेनेपर होसकते हैं। इसीलिये दिग्व्रतोंको भी हम शील कहते हैं। इस प्रकार प्रथम व तीसरा अर्थ शीलशब्दका लेना उचित है परंतु दूसरा अर्थ जो स्वदारसंतोष वह नही लेना चाहिये; क्योंकि, वह अर्थ व्रतोंमें आजाता है । शील या स्वदारसंतोष भी गृहस्थोंका एक मुख्य व्रत माना गया है।

७—सातवां कारण संवेगस्वभाव है। संवेग सदा रहना चाहिये। संसार दुःखोंसे उद्विग्न रहनेका नाम संवेग है।

८—आठवां यह कि सदा ज्ञानोपयोगमें रहना। ज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यको विचार कर उसमें प्रवृत्ति करना यह ज्ञानोपयोगका अर्थ है। सिवा, ज्ञानोंके साक्षात् व परंपराफल विचारना, कि अज्ञाननिवृत्ति व हिताहितप्राप्तिपरिहार ज्ञानसे ही

---

१ अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः इति [वार्त्ति०] २ आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव। ज्ञानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ इति रत्नकर०। ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं प्रभावन। ३ ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसपन्नता। ४ चारित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या कायवाङ्मनसां वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। (इति वार्ति०) ५ संसारदुःखान्नित्यभीरुतासंवेगः (इति वार्तिका०)

होता है यह भी ज्ञानोपयोगका ही अर्थ है । इसलिये ज्ञानको अपना हितकारी समझना चाहिये । सदा ज्ञानोपयोगमें रहने को अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहते हैं ।

९—नौवां कारण, तपस्वियोंकी समाधि रखना है । मुनियोंके तप तथा आत्मसिद्धिमें विघ्न आये हुए देख उन्हें दूर करना यह साधुसमाधि है । अर्थात् तपस्वियोंको समाधानमें रखनेका प्रयत्न करना यह साधुसमाधि है ।

१०—दसवां कारण वैयावृत्त्य करना है । वैयावृत्त्यका अर्थ सेवा शुश्रूषा करना है । व्यावृत्तिका अर्थ दूरकरना होता है । साधुओंका दुःख खेद दूर करना यह यहां तात्पर्यार्थ है । इसके प्रकार इस भांत कि, तपस्वियोंको दुःखके कारण उपस्थित हुए हों तो उन्हें दूर करना, उनकी सेवा करना, पैर दावना, उनके स्थानको साफ रखना, इत्यादि । समाधि जो नौवां कारण लिखा है उसका मतलब साधुओंका चित्त संतुष्ट रखना है और इस वैयावृत्त्यका मतलब उनकी सेवा करना है। तप तथा मोक्षमार्गके ध्वंसक कारण उपस्थित होने पर समाधि करनेकी आवश्यकता पडती है और वैयावृत्त्य सदा छोटी २ वातोंमें भी सेवा करनेसे सिद्ध होता है । वैयावृत्त्यमें तात्पर्यार्थ इतना ही है कि तपस्वियोंके योग्य साधन इकट्ठा रखना जो कि सदा उपयोगी पडते हैं । इसीलिये उनको जो दान दिया जाता है वह वैयावृत्त्य कहाता है, न कि साधुसमाधि ।

११—ग्यारहवां कारण छह आवश्यक कर्मों का कभी न छोडना है छह आवश्यक कर्मोंके नाम (१) सामयिक, (२) स्तुति, (३) वंदना, (४) प्रतिक्रमण, (५) प्रत्याख्यान, (६) कायोत्सर्ग । (१) सामायिकका अर्थ ऐसा है कि सब पापक्रिया छोडकर चित्तको ज्ञानमें स्थिर करै । (२) चौवीस तीर्थकरोंके गुणोंका चिंतवन करना स्तुति है । तीनों योग शुद्ध करके खडे या वैठे होकर चारों दिशाओं में एक एक वार शिर नवाना और तीन तीन वार दोनों मुकुलित हातों से आवर्त करना यह वदनाका अर्थ है । आवर्त का मतलब मुकुलित हातों का दक्षिणायन चक्कर लगाना है । (४) लगे हुए दोष दूर करने की प्रार्थना तथा पश्चात्ताप करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं । (५) आगामी दोष न लगने देने की प्रतिज्ञा या संकल्प करलेनेको प्रत्याख्यान कहते हैं । (६) कुछ मर्यादित काल तक शरीरसे ममत्व छोडदेनेको कायोत्सर्ग

१ यथा भाण्डारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात् । तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः । (इति वार्तिका०)

कहते हैं। जो कि पापोंसे अलिप्त रहना चाहते हैं उन्हें ये छः कर्म और तीनों सन्ध्या, अवश्य करने चाहिये इसीलिये इन्हे आवश्यक काम कहते हैं।

१२वां कारण बहुश्रुतभक्ति है बहुश्रुतका अर्थ बहुज्ञानी होता है। स्वपरसमयविस्तारका ज्ञाता बहुश्रुत ही होसकता है इसलिये बहुज्ञानीकी तरफ परिणाम निर्मल रखकर अनुराग या प्रेम करना सो बहुश्रुतभक्ति है।[1]

१३वां कारण आचार्यमें अनुराग या भक्ति रखना है। इसे आचार्यभक्ति कहते हैं। आचार्य भी बहुश्रुत तो होते ही हैं परंतु वे परहितनिरत भी होते हैं।

१४—सर्वधर्मोपदेशके आदि विधाता सर्वज्ञ केवली जिन भगवानमें भक्ति रखना यह चौदहवां अर्हद्भक्ति कारण है। अर्हत् भगवान् सभीसे अधिक परहितमें लगनेवाले होते हैं, साक्षात् ज्ञानी होते हैं, पूर्णवीतराग होते हैं। इसीलिये इन्हे सब से अधिक पूर्ण प्रमाण माना जाता है, सर्वहितू गिना जाता है, निष्पक्षपात माना जाता है।

१५—जिनोपदिष्ट प्रवचन—शास्त्रमें प्रीति करना सो प्रवचनभक्तिनामका पंद्रहवां कारण है।

१६—वां कारण प्रवचनवात्सल्य[2] है। साधर्मियोंके साथ प्रीति रखना सो प्रवचनवात्सल्य है। भक्ति वात्सल्यमें अंतर इस बातका है कि भक्ति अपनेसे बडोमें ही कीजाती है और वात्सल्य छोटे बडे सभीके साथ होसकता है। भक्ति आदर-विशिष्ट अनुरागको कहते हैं और वात्सल्य केवल अनुराग होता है।

ये सोलह[3] प्रकारके कार्य तथा परिणाम तीर्थकर प्रकृतिके आस्रवमें कारण होते हैं। इनका 'षोडशकारण' नामसे व्यवहार प्रसिद्ध है। यद्यपि ये कारण बंधास्रवके हैं तो भी निर्जरा—मोक्षके कारण—ज्ञानदर्शन चारित्रकी भांत पूजे और माने जाते हैं क्योंकि, इस तीर्थकर कर्मके उदयको प्राप्त हुआ जीव अनेक संसार प्राणियोंका उद्धार करता हुआ आप अवश्य मुक्त होता है। ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध दूसरे किसी भी कर्ममें नहीं है। आहारक शरीरका उदय छठे गुण स्थानमें होता है इसलिये वह संयमी जीव भी मोक्षगामी अवश्य है परन्तु यह नियम नहीं है कि वह तद्भव ही मोक्षगामी हो। दूसरी बात तीर्थकर कर्मके अतिशयकी यह भी है कि इस कर्मका स्वामी जीव धर्मका प्रधान नेता अथवा धर्मका

१ अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोनुरागो भक्ति। २ वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। ३ तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि (इति वार्तिका०)

उत्पादक होता है। इसीलिये इस बन्धके कारणोंकी पूजा है। ये समस्त कारण एकत्रित हों तब तो तीर्थंकर कर्म बँधता ही है परन्तु एक दो कारण रहने पर भी बन्ध होता है।

गोत्रकर्मके दो भेदोंमेंसे एक—नीचगोत्र है। उसके हेतु—

असद्गुणानामाख्यानं सद्गुणाच्छादनं तथा। स्वप्रशंसान्यनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य हेतवः ५३

अर्थ—गुण न रहते हुए भी अपने उन गुणोंका वर्णन करना, दूसरोंमें जो गुण हों उनको न कहकर उन्हें दबानेकी इच्छा रखना; अपनी प्रशंसा करना, दूसरोंकी निंदा करना ये कार्य नीच गोत्र कर्मके आस्रवमें हेतु होते हैं। इनके सिवा जाति—कुल—बल—तप—रूप—विद्या—आज्ञा—ऐश्वर्यका मद करना, दूसरोंकी अवज्ञा करना, अपनेसे हीन—स्थिति वालोंकी हंसी करना, धार्मिकोंमें परस्पर विवाद करना, दूसरोंके यशका लोप होना चाहना, गुरुओंका तिरस्कार करना, गुरुओंके दोष कहना; अपनी जगहमें आनेपर अपमान करना, उन्हें डाटना, हात जोडकर उनकी स्तुति न करना, उन्हें आते देख न उठना, तीर्थंकरोंका अपमान करना इत्यादि क्रियाएँ भी नीचगोत्रास्रव की कारण हैं।

उच्चगोत्र कर्मके आस्रव हेतु—

नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकः पूर्वस्य च विपर्ययः। उच्चैर्गोत्रस्य सर्वज्ञैः प्रोक्ता आस्रवहेतवः॥ ५४॥

अर्थ—गुणोंमें अधिक ऐसे गुरुजनोंके साथ नम्रतासे रहनेको नीचवृत्ति कहते हैं। दर्प या अहंकार न करना सो अनुत्सेक है। ये दो कारण उच्चगोत्रकर्मके आस्रव होनेमें उपयोगी पडते हैं। इसके सिवा जितने कुछ नीचगोत्रके आस्रव कारण ऊपर लिखे हैं उनसे उलटे परिणाम उच्चगोत्रकर्मके आस्रवमें कारण होते हैं। जैसे कि गुरुविनय, अभ्युत्थान अष्ट मदका अभाव, इत्यादि।

अन्तरायकर्मके आस्रव हेतु—

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम्। अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम्॥ ५५॥
वध[1]बन्धनिरोधश्च नासिकाच्छेदकर्तनम्। प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा॥ ५६॥

[1] अत्र वधशब्द मस्तपचासत्तमश्लोकवर्ती वधशब्दश्च एकार्थपर एव वारद्वयमागतः।

निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम् । दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा ॥ ५७ ॥
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा । इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ५८ ॥

अर्थ—तपस्वी—गुरु—प्रतिमाओंकी पूजाका विध्वंस करदेना, अनाथ—दीन—कृपणोंको भिक्षा देना बंद करदेना किसीको बांध डालना, किसीको रोक रखना, किसीके नाक कान आदि काटलेना तथा छेददेना, नैवेद्य देवको समर्पण[1] करदेने पर फिर वह लोभवश होकर उठालेना, निर्दोष—निष्पाप भोगोपभोगके उपकरण—साधन छोडदेना, प्राणियोंका वध करना, दान—भोग—उपभोग— लाभ—वीर्य प्राप्ति इन वातोंमें विघ्न डालना, ज्ञानाभ्यासका निषेध करना, धर्ममें विघ्न डालना, ये सब कार्य अन्तराय कर्मबन्धके आस्रवकारण हैं ।

इसके सिवा, किसीके[2] सत्कारमें बाधा डालना, किसीका बढता हुआ विभव देखकर आश्चर्य करना, स्त्रियोंका झूंठा अपवाद करना, देवताको समर्पण किया या न किया हुआ द्रव्य आप लेलेना, दूसरेका बल क्षीण करना, किसीके व्रतचारित्रको बिगाडना, ये भी अन्तराय कर्मके आस्रव कारण हैं । अन्तरायके पांच भेद कहेंगे । वे भेद दानादि विषय पांच होनेसे होते हैं । इसीलिये यद्यपि यहां दानांतरायादि पांचोंके जुदे कारण नहीं लिखे हैं परन्तु विचारनेसे ऊपर लिखे हुए कारणोंमें ही वे सर्व विभाग होसकते हैं । जहां दानके सम्बन्धसे किसी क्रियाका निषेध हो जिससे कि दान देनेका काम बन्द पडजाय वह क्रिया दानांतरायका कारण होगी । इसी प्रकार सर्वविभाग होसकते हैं ।

आस्रवका सामान्य वर्णन तो हुआ परन्तु मोक्षोपयोगी पुण्यास्रवका अब विस्तारसे वर्णन करते; हैं क्योंकि, प्रथम अवस्थामें पुण्यास्रव ही ग्राह्य है । यही बात प्रकारांतरसे दिखा कर आगे पुण्यास्रवका प्रकरण शुरू करेंगे ।

व्रतात्किलास्रवेत्पुण्यं पापं तु पुनरव्रतात् । संक्षेपादास्रवाविंत्थं चिन्त्यतेऽतो व्रतान्यनम् ॥ ५९ ॥

---

१ देवताको अपण करदी गई खानेकी चीजको प्रमादवश होकर ग्रहण करनेवाला अन्तराय कर्मको बाधता है ऐसा इस ग्रन्थमें लिखा। परन्तु राजवार्तिकमें अर्पित अनार्पत दोनोको ही लेनेवाला अन्तराय कर्मका भागी लिखा है । और वह भी नैवेद्य ही नहीं किंतु कोई भी चीज हो। अर्पणका अर्थ पूजा है । अर्पण न की हुइ देव द्रव्य वह समझनी चाहिये कि जो देवदेवालयके उपयोगकेलिये जमीन या धन सपत्ति इकठी की जाती है

२ ये जो अन्तराय के कारण लिखते हैं वे मूल ग्रन्थमे नहीं हैं किन्तु राजवार्तिकके आधारसे लिखे हैं। पहिले भी जो जो अधिक आस्रवकारण लिखे हैं वे सब राजवार्तिकके अनुसार ही लिखे हैं ।

अर्थ—व्रतसे पुण्यकर्म जो कि सुखका कारण है वह आता है। अव्रतसे पाप आता है। इसलिये सामान्य आस्रवका प्रकरण संक्षेपसे ही दिखादिया और पुण्यास्रवका ज्ञान होनेकेलिये व्रत तथा अव्रतका स्वरूप विस्तारसे दिखाते हैं—

व्रत किन्हें कहते हैं ?

हिंसाया अनृताच्च स्तेयादब्रह्मतस्तथा। परिग्रहाच्च विरतिं कथयन्ति व्रतं जिनाः॥ ६० ॥

अर्थ—हिंसासे विरक्त होना, झूंठ बोलनेसे विरक्त होना, चोरी करनेसे विरक्त होना, मैथुनसेवनसे विरक्त होना, परिग्रह जंजालसे विरक्त होना—इसीको जिन भगवान् व्रत कहते हैं। हिंसादिक पापोंका लक्षण आगे लिखेंगे। चारित्र मोह कर्मका उदय जीवकी प्रवृत्ति उक्त पापोंमें कराता है इसलिये उस कर्मका उदय बन्द हो तो व्रत प्राप्त हो सकते हैं। मोह कर्मोदयका बन्द होना यहां अन्तरंग कारण है परन्तु बाहिरमें मर्यादा भी उक्त पापोंकी संकल्पपूर्वक करनी पडती है तभी व्रत हो सकता है। पापाचरणसे विरक्त होना यह व्रतका लक्षण है। पापाचरणके हिंसादि पांच भेद हैं।

इस व्रतके भेद—

कार्त्स्न्येन विरतिः पुंसां हिंसादिभ्यो महाव्रतम्। एकदेशेन विरतिर्विजानीयादणुव्रतम्॥ ६१॥

अर्थ—हिंसादि पापोंका सर्वथा त्याग हो जाना सो महाव्रत है। एकदेशत्यागको अणुव्रत कहते हैं।

व्रतरक्षाका उपाय।

व्रतानां स्थैर्यसिद्ध्यर्थं पंच पंच प्रति व्रतम्। भावनाः संप्रतीयंते मुनीनां भावितात्मनाम् ॥६२॥

अर्थ—व्रतके विषय देखें तो पांच हैं इसलिये व्रतके भेद भी पांच कर सकते हैं—अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, ब्रह्मव्रत, परिग्रहत्यागव्रत। इनमेंसे प्रत्येक व्रतकी रक्षा हो, दृढता हो इसलिये पांच पांच भावना प्रत्येक व्रतके विषयमें बताते हैं। ये भावनाएं मुनिजनोंके ही हातसे हो सकती हैं, क्योंकि वे पूर्ण व्रत धारण करते हैं पूर्णव्रतोंकी संभाल तभी हो सकती है जब

१ यदनिष्ट तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्। अभिसंधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रत भवति॥ इति रत्नक०। व्रतमभिसंधिकृतो नियम। बुद्धिपूर्वकपरिणामोऽभिसंधि। इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्तिर्नियमः। [स एव] व्रतव्यपदेशभाग् भवति। इति वार्तिका०।

जो अनिष्ट है वह छूट ही सकता है जो अनुपसेव्य हो वह भी छोडदेना चाहिये। ये दोनों तो सर्वथा स्वयं त्याज्य है। और जो योग्य तथा संभव विषय हो उनका त्याग परलोक हितकेलिये करना चाहिये। असली वही त्याग है।

कि वारीक-सारीक दोषोंकी तर्फ भी ध्यान दिया जाय। दूसरे, मुनिजनोंका ही आत्मा विषयोंसे पूर्ण शांत हो चुकता है इसलिये वे ही ऐसे वारीक-सारीक दोष टाल सकते हैं। इसलिये गृहस्थोंके हाथसे हों उतनी ठीक हैं, परंतु प्रत्येक व्रतकी पांचो पांचो ही भावनायें मुनियोंको टालनी ही चाहिये। गृहस्थकेलिये यह उपदेश मुख्य नहीं हैं। जो गृहस्थ टालै तो ऊपरका श्रावक हो वह टाल सकता है।

इन्हें भावना इसलिये कहते हैं कि इनका चिंतवन ही अधिक करना पडता है। हिंसादि पापोंकी भांत इन भावनाओंके विषय प्रगट नहीं रहते। यद्यपि इनकी क्रिया किये विना भावना पूर्ण नहीं समझी जाती तो भी बाह्य क्रियाओंकी यहां मुख्यता नहीं है। ये मनके विचारपर अवलंबन रखते हैं इसीलिये इन्हें भावना कहते हैं। केवल विचार ही हो तो चारित्र या व्रतमें इन्हें क्यों गर्भित करें यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो अंतरंगके व्रत या चारित्र होते हैं वे ज्ञानसे जुदे नहीं दीख सकते। ज्ञानके अनुसार दृढता होना ही उनका चारित्रांशतया व्रतांश कहा जासकता है।

अहिंसाव्रतकी भावना—

वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरेव च। ग्रहनिक्षेपसमितिः पानान्नमवलोकितम् ॥ ६३ ॥
इत्येताः परिकीर्त्यन्ते प्रथमे पंच भावनाः।

अर्थ—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, ग्रहणनिक्षेपणासमिति, देखकर अन्नजल ग्रहण करना ये पांच भावनाएँ प्रथम अहिंसाव्रतकी है। वचन न बोलना=वचनगुप्ति। मन न चलाना=मनोगुप्ति। गमन करते समय जंतुघातसे वचनेकेलिये सावधानी रखना, भूमि देखते जाना सो ईर्यासमिति है। किसी चीजके धरने उठानेमें जतुघात न होनेकी सावधानी रखना सो ग्रहणनिक्षेपण समिति है। अवलोकित अन्नपानका यह अर्थ तो है ही कि देखकर भोजन करना; क्योंकि देखे विना सूक्ष्म जीवोंके घात होनेकी आशंका बनी रहती है। परंतु रात्रिमें जंतु दीख ही नहीं सकते इसलिये रात्रिका भोजन सर्वथा वर्ज्य करना चाहिये यह अर्थ भी लिया जाता है।

१ अर्कालोकेन विना भुंजानः परिहरेत्कथं हिंसां। अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनाम् ॥ इति पुरुषा०। ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यं, न भावनास्वन्तर्भावात्। अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यंते ॥ तत्रालोकितपानभोजनभावना कार्येति। इति सर्वार्थसिद्धिः ॥ यहापर सर्वार्थसिद्धिमें रात्रिभोजनको छठा अणुव्रत कहकर ग्रहण करानेकी शंका लिखी

वचनगुप्ति व मनोगुप्तिसे अहिंसावृतकी शुद्धि किसप्रकार होती है? इसका उत्तर—बोलनेसे भी कभी कभी प्राणाघात तथा क्लेश होता है। इसीप्रकार मनकी चंचलता विषयासक्ति बढाती है और दूसरोंके अहितका चिंतवन भी मनकी चंचलतामें हो सकता है। इसलिये दोनोंके रोकनेसे अहिंसावृतका पोषण अवश्य होगा।

अब यह शंका होना संभव है कि कायगुप्ति क्यों नहीं लिखी? इसका उत्तर—यह आस्रवका प्रकरण है इसलिये यहां वचनगुप्ति तथा मनोगुप्तिका मतलब भी ऐसा नहीं लेना चाहिये कि जैसा वास्तव गुप्तियोंमें समझा जाता है। तब? अशुभ वचनका निरोध, अशुभ विचारका निरोध यही अर्थ लेना चाहिये। नहीं तो संवरमें उपयोगी जो गुप्ति वे आस्रवोपयोगिनी कैसे मानी जांयगी? इसीप्रकार कायगुप्ति भी लेनी हो तो अशुभनिवृत्तिमात्र लीजाती है। तो यहां कायगुप्तिका संग्रह क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि ईर्यासमिति तथा ग्रहणनिक्षेपणसमितिका ही अर्थ अशुभ कायगुप्ति हो सकता है। क्योंकि, अशुभ कायप्रवृत्तिका निरोध उक्त दोनो समितियोंमें ठीक हो जाता है। इसलिये दोनो समितियोंका कहना क्या और अशुभकायगुप्तिका कहना क्या? एक ही अर्थ है।

सत्यवृतकी भावना—

क्रोधलोभपरित्यागौ हास्यभीरुत्ववर्जने ॥ ६४ ॥
अनुवीचिवचश्चेति द्वितीये पंच भावनाः।

अर्थ—क्रोधको छोडना, लोभको छोडना, ठट्टा करना छोडदेना, भय कभी किसीका न करना, कुछ बोलना तो धर्ममर्यादाके अनुकूल बोलना अथवा विचारकर बोलना ये पांच भावना सत्यवृतकी हैं। इन पांचो बातोंके न छोडनेसे सत्यवृतमें मलिनता आसकती है क्रोधादि पांचोंमेंसे प्रत्येक कारण ऐसा है कि उसके वश असत्य बोलना हो सकता है। पहिले चार कारण तो स्पष्ट ही हैं। अनुवीचिभाषण भी न रक्खा जाय तो बहुप्रलापमें असत्य वचन निकलना संभव है।

है और उसके उत्तरमें लिखा है कि अलग ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि उसे अहिंसाव्रतकी पांच भावनाओंमेंसे आलोकितपानभोजन नामक पाचवी भावनामें समाविष्ट करलेते हैं। इससे यह दीखता है कि किसी पक्षवालोंने इसे छठा अणुव्रत माना होगा। दर्शनसारमें भी 'छठं च अणुव्वद णाम' ऐसा उल्लेख है।

अचौर्यव्रतकी भावना—

शून्यागारेषु वसनं विमोचितगृहेषु च ॥ ६५ ॥

उपरोधाविधानं च भैक्ष्यशुद्धिर्यथोदिता । ससधर्माविसंवादस्तृतीये पञ्च भावनाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—पर्वतोंकी गुफा, वृक्षोंके कोटर स्थान आदि शून्यागार कहाते हैं। दूसरोंकी जगह हो और उन्होंने रहनेसे छोड़ दी हो उसे विमोचितावास कहते हैं। तपस्वियोंको रहना हो तो शून्यागारोंमें तथा विमोचितावासोंमें रहैं। जो किसीकी मालकीकी जगहमें वे रहैं तो अचौर्यव्रत मलिन होता है। जहां आप रहैं वहां भी यदि कोई दूसरा आवे तो मना न करें। नहीं तो उस भूमि पर स्वामित्वकी भावना उत्पन्न होती है जो कि अचौर्यव्रतको मलिन करनेवाली है। भिक्षा लेनेमें जो शुद्धि रखनी चाहिये वह न रक्खी जाय तो दूषित भिक्षा ग्रहण करनेवाला अचौर्यव्रतमें मलिनता उत्पन्न करेगा। क्योंकि जो दूषित भिक्षा ग्राह्य नहीं थी उसको ले लिया यह भी चोरीका दोष है। समानधर्मके धारक जैन साधु परस्परमें विसंवाद न करें नहीं तो अचौर्यव्रत मलिन होता है। क्योंकि विसंवादसे यह मेरा तेरा ऐसा पक्ष ग्रहण होता है जिससे कि अग्राह्य का ग्रहण करना संभव हो जाता है। यही तो चोरी का प्रकार है। इसलिये शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि सधर्माविसंवाद ये पांच भावना अचौर्यव्रतके रक्षार्थ रखनी ही चाहिये।

ब्रह्मचर्यकी भावना—

स्त्रीणां रागकथाऽऽश्रावोऽरमणीयाङ्गवीक्षणम्। पूर्वरत्यऽस्मृतिश्चैव वृष्येष्टरसवर्जनम् ॥६७॥

शरीरसंस्क्रियात्यागश्चतुर्थे पञ्च भावनाः ।

अर्थ—स्त्रियों की राग भरी कथा न सुनना, उनके रमणीय अंगोंको न देखना, पूर्वके भोगो का स्मरण नहीं करना पुष्ट तथा इष्ट रसों का भोजन नहीं करना, शरीर संस्कार न करना ये पांच ब्रह्मचर्यकी भावना हैं।

यद्यपि स्त्रियोंके देखने सुननेसे या पुष्ट भोजन करनेसे केवल ब्रह्मचर्य मलिन नहीं हो सकता परंतु यहां मना किया है वह इस अभिप्रायसे कि प्रेमपूर्वक देखनेसे ब्रह्मचर्य अवश्य मलिन होगा। जब मनमें विकार हो तो पुष्ट रस भी सहायक हो जाता है।

१ पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए। वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एव ॥ १३६ जीवकाण्ड इति गोम० ॥

इसप्रकार ये पाप साक्षात् भी दुःखदाई हैं और परलोकमें जो दुःख मिलेगा उसके कारण हैं। यदि जीव ऐसे पाप न करै तो क्यों दुर्गतिके दुःख भोगै ! दुर्गतिका दुःख असातावेदनीयके उदयसे होता है। उस असातावेदनीय कर्मके बंधके कारण पांचो पाप हैं। इसीलिये पापोंको भी दुःख कह सकते हैं। अथवा दुःखके कारणोंके कारण इन्हें कहना चाहिये। जैसे अन्नको प्राण कहना उपचार है उसीप्रकार पापोंको दुःख कहना उपचार है और दुःखकारण कहना भी उपचार है। क्योंकि, असली दुःखकारण असातवेदनीय कर्म हैं और पाप उस कर्मके भी कारण हैं। जब मनुष्य दूसरोंको हिंसादि दुःख देना चाहे तब अपने ऊपरसे विचार करै कि मुझे जब इन पापोंसे दुःख होता है तो दूसरोंको भी दुःख क्यों न होता होगा ? ऐसा विचार करनेसे तत्त्वपरायण मनुष्य पापोंसे विरक्त हो सकते हैं। दुःखकी जड होनेसे ये ही दुःख हैं ऐसा भी पापोंको मानना उचित है।

जीवोंमें व्रतीकी क्या भावना होती है ?

सत्त्वेषु भावयेन्मैत्रीं मुदितां गुणशालिषु। क्लिश्यमानेषु करुणामुपेक्षां वापदृष्टिषु ॥ ७२ ॥

अर्थ–प्राणीमात्रमें मैत्री मानना चाहिये। गुणी मनुष्योंमें प्रमोद या हर्ष रखना चाहिये। दुःखी रोगी जो मनुष्य हों उनमें करुणा रखनी चाहिये। जो विरुद्ध तथा क्रूर हों उनका भी बुरा न विचारना चाहिये और उपेक्षा रखना चाहिये। अर्थात् उनसे आप दूर रहै। मैत्रीका[1] अर्थ यह है कि दूसरोंको दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना चाहिये। मुखकी प्रसन्नतासे तथा और भी प्रकारसे जो भीतरका प्रेम–भक्ति प्रगटकर दिखाना सो प्रमोद[2] है प्रीति भी नहीं करना द्वेष भी नहीं करना इसका नाम उपेक्षा[3] है।

व्रतरक्षार्थ और भी भावना हैं उन्हें बताते हैं–

संवेगसिद्धये लोकस्वभावं सुष्ठु भावयेत्। वैराग्यार्थं शरीरस्य स्वभावं चापि चिंतयेत्॥७३॥

अर्थ–जग तथा शरीरका स्वभाव विचारनेसे संवेग व वैराग्यकी सिद्धि होती है। संसारसे भय होनेको संवेग

१ परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री। २ वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। ३ रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं (उपेक्षा)। इति वार्ति०।

कहते हैं। रागके वर्द्धक कारण दूर हो जानेसे जो विषयोंसे उदासी होजाती है उसे वैराग्य[2] कहते हैं।

जग अनादिका है। मूलतत्त्व इसके सभी शाश्वते हैं परंतु परस्पर संयोगवश जीवपुद्गलोंमें नाना विकार उत्पन्न होते हैं। इसीका नाम संसार है। ससारी अशुद्ध जीव पुद्गलके मेलसे जिन दुःखमई पर्यायोंको धारण करते हैं उनमें जन्मते मरते हैं वे पर्याय चार हैं; देव-नरक-तिर्यच-मनुष्य। इन्ही चारोको गति कहते हैं इनमें सतत जीवोंको क्लेश भोगने पडते हैं। यह जगका स्वभाव हुआ।

इन गतियोंमें जो जीवोंको पराधीन कर रखनेवाले शरीर होते हैं वे अपवित्र, नश्वर, जड, रोगोंसे भरे होते हैं और जीवके शांत तथा ज्ञानानंद स्वभावके नाशक होते हैं। इन शरीरोंके टिकनेकी क्षणभरभी आशा नहीं रहती। जलबुद्बुदके समान देखते देखते विघट जाते हैं। शरीर विघटते ही जीवकी जो विषयभोगोंमें शाश्वतके समान आशा थी वह नष्ट हो जाती है। जीव जिन सुखसामिग्रियोंको शाश्वतिक समझकर वडे प्रेमसे इकट्ठा करता था उन्हें अचानक छोड कर परलोकमें जाना पडता है। शरीर नष्ट होते ही जीवकी सुधबुध विगड जाती है। और शरीरके विना जब अकेला वह रहजाता है तब कर्मकी अशांति या प्रेरणासे दूसरे शरीरको धारण करनेमें लगता है यही अनादिकी दशा है। उस दूसरे शरीरकी भी प्रथम शरीरकी भांत अवस्था होती है। इसीप्रकार यह जीव जबतक कर्मबद्ध है तबतक दुःख भोगता है। जीव यदि इस असली अपनी दुःखदाई हालतपर उक्त विचार करे तो संसार-शरीरसे उद्विग्न होकर विरक्त होजाय रागद्वेषके रहने से जो परतंत्रताजनक कर्मबंध होता है, वह वीतराग बननेपर न हो और पूर्वबद्ध कर्मोंका क्रमसे नाश होजाय जिससे कि जीव सुखी हो॥ अब पांचो पापोंके लक्षण दिखाते हैं—

१—हिंसाका लक्षण—

द्रव्यभावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणं। प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा संप्रकीर्तिता॥१४॥

अर्थ—इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति चाहे पापमें हो और चाहें पुण्यमें परन्तु इस वातका विचार न करना इसीका नाम प्रमाद[3] है। प्रमादका अर्थ आलस भी होता है परन्तु वह अर्थ यहां इष्ट नहीं है। अथवा दोनो अर्थोंमें कोई अन्तर नहीं है परन्तु लोग जितने आलसको आलस कहते हैं वह आलस यहां पर्याप्त नहीं है इस मतलबको समझानेकेलिये हम प्रमादका अर्थ आलस

१ संसाराद्भीरुता संवेगः। २ रागकारणाभावाद्विषयेभ्यो विरंजनं विरागः। ३ अनवगृहीतप्रचारविशेष प्रमत्तः। इंद्रियाणां प्रचार-

नहीं लेते सावधानी न रखना यह अर्थ यहां इष्ट है। मद्यादिक पदार्थ मूर्छित करनेवाले होते हैं । उस मूर्छाको भी लोग प्रमाद कहते हैं उसी प्रकार जो कर्म पुद्गलके द्वारा हिताहितकी सावधानी नहीं रहती वह मूर्छा या प्रमाद कहा जाता है।

उस प्रमादका स्वरूप ठीक पहचाननेमें आवे इसलिये उसके भेदकर दिखाते हैं । राजकथा, चोरकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा इन कथाओंमें फसनेवाला जीव आत्मसावधानीसे पराङ्मुख होजाता है इसलिये ये चारो कथाएं प्रमाद हैं । इन्हें विकथा भी इसीलिये कहते हैं। पांच इंद्रियोंकी प्रवृत्ति भी विषयोंमें भुलानेवाली है इसलिये पांचों भी प्रमाद ही कहने चाहिये। क्रोधादि चारो कषाय तो विषयोंमें फसानेके मूल कारण हैं। इसलिये इन चारोंको भी प्रमाद कहते हैं। इस प्रकार चार विकथा प्रमाद पांच इंद्रिय प्रमाद चार कषाय प्रमाद—ये मिलकर तेरह प्रमाद हुए । एक प्रणय दूसरा एक निद्रा ये दोनो भी प्रमाद कहाते हैं। ये सर्व मिलकर प्रमाद पंद्रह होगये । जितनी कुछ विषय प्रवृत्तिमें असावधानी देखनेमें आती है वह पंद्रह भेदोंके भीतर गर्भित हो सकती है।

इस प्रमादपूर्वक जो अपने या दूसरोंके प्राणोंका घात करना है वही हिंसा कर्म है। इंद्रिय-श्वासोच्छ्वासादिको द्रव्य प्राण कहते हैं। ये प्राण जीव व शरीरके प्रदेशोंसे बने हुए होते हैं इसलिये द्रव्यरूप कहाते हैं और ये जीवको शरीरमें रखनेकेलिये सहायक हैं इसलिये प्राण कहाते हैं। चैतन्य सुखादिक जो जीवकी स्वाभाविक अवस्था है उसे भाव प्राण कहते हैं। उसे भाव इसलिये कहते हैं कि वह गुण पर्याय है और प्राण इसलिये है कि वही असली जीवन है।

द्रव्य प्राणोंका घात होनेपर चैतन्यसुखादि भावप्राणोंका घात होता ही है और द्रव्यप्राणोंका घात न होनेपर भी भावप्राणोंका घात होता है। परंतु हिंसाको जो पाप कहा है वह इसीलिये कि अंतमें उसके द्वारा चैतन्यसुखादि भावप्राणोंका घात होता है जो कि किसी भी जीवको इष्ट नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि भावप्राणोंकी ही रक्षा कैसे हो यह समझनेकेलिये हिंसादि पापोंके लक्षण लिखे जाते हैं। जब कि भावप्राणोंके घातका ही नाम हिंसा है तो चोरी आदि करनेसे भी भावप्राणोंका घात होता है इसलिये चोरी आदि पापोंको जुदा नहीं गिनाना चाहिये, किंतु हिंसामें गर्भित करना चाहिये। और ऐसा करने पर पाप पाच नहीं रह सकते किंतु एक ही हिंसा पाप मानना पड़ेगा।

इस शंकाका उत्तर—केवल हिंसा ही वास्तविक पाप है चोरी आदि हिंसासे जुदी चीजें नहीं हैं। तो भी जो जुदा गिनाते

विशेषमनवधार्य प्रवर्त्तते य स प्रमत्त । १ पचदशप्रमादपरिणतो वा प्रमत्त ।

हैं वह इसलिये कि कितने प्रकार हिंसाके हैं यह बात समझमें आ जाय। यदि चोरीको भी पापोंमें न गिनाते तो शायद कोई यह समझ लेता कि किसीका वध हो तो हिंसा होगी नहीं तो नहीं। चोरीसे किसीका वध नहीं होता इसलिये चोरी हिंसा नहीं है। और हिंसाके सिवा कोई पाप नहीं हैं इसलिये चोरी पाप नहीं है। यह समझ दूर करनेके लिये और साधारणजन भी पापोंको समझलें इसलिये चोरी आदि जुदे २ पाप गिनाये हैं।

प्रमादके विना केवल प्राणघात हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती यह समझानेके लिये प्रमादको कारण कहा है। जैसे एक वैद्य किसी रोगीके फोडेको सदिच्छासे चीड़ता है परंतु उसका विपरीत प्रयोग हो जाय तो रोगीका मरना संभव है। तो भी वैद्य हिंसाका कर्ता नहीं हो सकता। यदि उसमें कुछ प्रमाद हुआ तो प्रमादकी मात्रानुसार वैद्य भी हिंसा पाप का भागी कहना ही पड़ेगा। इस प्रकार प्रमादकी ही यहां मुख्यता है।

असत्य वचनलक्षण—

प्रमत्तयोगतो यत्स्यादसदर्थाभिभाषणम्। समस्तमपि विज्ञेयमनृतं तत्समासतः ॥७५॥

अर्थ—सभी पापोंका कारण प्रमाद है। इसलिये असत्य वचनमें भी उसको कारण दिखाते हैं। प्रमादवश जो मिथ्या बोलना उसे असत्य वचन कहते हैं। असत्य शब्दमें सत् शब्द है उसके दो अर्थ होते हैं एक हित साधक दूसरा विद्यमान या मौजूद। विद्यमान अर्थ लेकर चलैं तो जो जैसा मौजूद है वैसा ही उसे कहना सो सत्यवचन कहावेगा। पहला अर्थ लेकर विचार करैं तो हितसाधक वचन सत्य वचन कहना पड़ेगा। फिर चाहें वह जैसा बोला गया है वैसा उसका वाच्यार्थ हो या न हो।

धर्म शास्त्रोंमें जहां सत्यवचनका विचार आता है वहां हितसाधनकी ही मुख्यता देखी जाती है। जो वचन स्वपर-हितसाधक हो वही सत्य वचन माना जाता है। यह बात दूसरी है कि कभी २ वह वचन हितसाधक भी हो और उसका वाच्य अर्थ भी वहा वैसा ही मौजूद हो। परन्तु इस बातका नियम नहीं है और यह बात देखनेकी आवश्यकता भी नहीं है।

इससे उलटा जो वचन अहितसाधक हो उसे असत्य वचन कहते हैं। अहितसाधकको ही यहां असदर्थवचन या मिथ्या

१ आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्। अनृतवचनादि केवलमुदाहृत शिष्यबोधाय ॥ इतिपुरुषार्थ०। २ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ इति वार्तिके उक्तं। छाया–म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयत्नाचारस्य निश्चिता हिंसा। प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ॥ इसका अधिक खुलासा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें है। ३ सच्छब्दोत्र प्रशंसावाची असदप्रशस्तमित्यर्थः इति सर्वार्थसिद्धिः।

वचन कहते हैं। इसके सिवा प्रमाद भी देखना चाहिए। जो वचन प्रमादवश बोला गया हो वही असत्य या अहितसाधक होगा। प्रमाद अहितकी जड़ है क्योंकि एकाध बार सुननेवालेकी चाहें असत्य वचनद्वारा कोई हानि न हो परंतु प्रमादद्वारा बोलनेवालेका तो सुखचैतन्यरूप भावप्राण नष्ट हो ही जाता है। इसलिये प्रमाद रखकर बोला गया अहितसाधक वचन असत्यवचन है और वह पाप है। हिंसाके समान ही इसका सर्व सिद्धान्त है।

चोरीका लक्षण—

प्रमत्तयोगतो यत्स्याददत्तार्थपरिग्रहः। प्रत्येयं तत्खलु स्तेयं सर्वं संक्षेपयोगतः ॥७६॥

अर्थ—प्रमाद योगपूर्वक जो विना दिये हुएका ग्रहण करना वह चोरी समझनी चाहिए। यह संक्षेपार्थ हुआ। इसका विस्तार हिंसा-झूठकी भांत समझना चाहिये। जहां देनेलेनेका व्यवहार संभव हो वहीं पर दत्त अदत्तका विचार हो सकता है। रास्ते परसे चलना—इसके लिये किसीकी आज्ञा लेनी नहीं पड़ती इसलिये उस रास्तेका साधु भी उपभोग करते हैं। परन्तु चोरीका दोष नहीं लगता। हां जिस रास्ते परसे सर्वसाधारणको जानेकी आज्ञा न हो उसपरसे चलने वाला चोरीका भागी अवश्य होगा। प्राचीन पद्धति ऐसी थी कि जल व माटीकी छूट रहती थी। इसलिये जलमाटी लेने-वाला चोरीका दोषी नहीं गिना जाता था। परन्तु जिस जल व माटीकी छूट न हो उसके ले लेनेसे अवश्य चोरीका दोष आवेगा। कर्म नोकर्मोंका संग्रह जीव ही करता है और वह किसीका दिया हुआ नहीं होता परंतु वहां भी चोरीका दोष नही है, क्योंकि जल माटीकी भांत उसका निषेध भी नहीं है। जल माटीका एकाधवार निषेध भी हो सकता है परंतु कर्मनोकर्म लेनेदेनेके विषय ही नहीं है। इसलिये वह चोरीका विषय नहीं है। तात्पर्य इतना ही लेना चाहिये कि दूसरे की चीज, जिसका कि वह उपभोग कर रहा हो या करनेवाला हो और वह दूसरेको देना भी न चाहता हो, तथा उसे ले लेनेसे स्वामीकी हानि भी होना संभव हो वह चीज कभी न छूनी चाहिये। यह सरल व्याख्यान है।

---

१ स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥ यस्मात्सकषायः सन् हंत्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं। पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ इति पुरुषा० ॥ २ 'जलमृतिका विनु और कछु नहिं गहै अदत्ता' यह दौलतरामजीने छहढालामें कहा है। ३ यद्येवं कर्मनोकर्मग्रहणमपि स्तेय प्राप्नोति अन्येनादत्तत्वात्। एव भिक्षोर्ग्रामनगरादिषु भ्रमणकाले रथ्याद्वारादिप्रवेशाददत्तादानं प्राप्नोति ! नैष दोष, सामान्येन मुक्तत्वात्। तथाहि, अयं भिक्षुः पिहितद्वारादिषु न प्रविशति अमुक्तत्वात्। अथवा प्रमत्तयोगादिति वर्तते। न च रथ्यादिप्रविशत प्रमत्तयोगोस्ति। तेनैतदुक्तं भवति—यत्र संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयम्। इति सर्वार्थ०।

मैथुनं मदनोद्रेकादब्रह्म परिकीर्तितम् ।

अर्थ—काम वासना वढनेपर जो मैथुन करने लगना वह अब्रह्म पाप कहाता है। यहां भी प्रमादका सम्बन्ध समझना चाहिये परन्तु कहा इसलिये नहीं है कि मदनोद्रेक उस प्रमादके वदलेमें दिखा चुके हैं। मदनका उद्रेक भी एक प्रमाद ही है और वह सबसे वढकरं प्रमाद है।

ब्रह्म नाम आत्माका है। और आत्माका स्वरूप जिस क्रियाके करनेमें भूलजाना संभव हो उसी क्रियाको अब्रह्म कहना चाहिये। परंतु मैथुन सेवनमें प्रवर्तनेवाला जीव जैसा कुछ आतुर होता है और आपेको भूलता है वैसा दूसरे कामोंमें नहीं भूलता। इसीलिये काम सेवनमें अब्रह्म शब्द रूढ हो रहा है। कामकी दशा विचित्र होजाती है। काम अधिक व्यापे तो मरण तक होजाता है। कामी पुरुष नीचऊंचका विचार नहीं करता। इसीलिये कामसेवनसे असली ब्रह्म नष्ट होता है और इसीलिये इस पापको अब्रह्म कहते हैं अठारह हजार जहा शीलके भेद किये गये हैं वहा किसी भी विषय वासनाका सम्बन्ध नहीं रहता तभी पूर्ण ब्रह्मचर्य होता है।

ममेदमिति संकल्परूपा मूर्छा परिग्रहः ॥ ७७ ॥

अर्थ—किसी भी पदार्थमें यह संकल्प होना कि यह मेरा है, इसीको परिग्रह कहते हैं। यह एक प्रकारकी मूर्छा है शब्दशास्त्रमें मूर्छाका अर्थ मोह तथा समुच्छ्राय ऐसा लिखा है। इस अर्थमें तथा ममत्व अर्थ करनेमें अंतर नहीं पडता। क्योंकि ममत्व भी एक

---

१ नूनं हि ते कविवरा विपरीतवोधा, ये नित्यम दुर्बला इति कामिनीनाम्। यासां विलोलतरतारकदृष्टिपातैः, शक्रादयोपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ?। २ जटा नेयं वेणी कृतकचकलापो न गरलं गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न धवलिमा। इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा, पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर मां किं प्रहरसि ! ३ अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च। उन्मादोथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशा ॥ [साहित्य दर्पण, तृतीय परि०]। ४ अहिंसादयो धर्मा यस्मिन्परिपाल्यमाने वृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद्ब्रह्म। न ब्रह्म—अब्रह्म। किं तत् ? मैथुनम्। तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति। यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्थास्नूंश्चरिष्णूंश्च प्राणिनो हिनस्ति, मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते, परिग्रह गृह्णाति। इति सर्वार्थसिद्धिः रक्ष्यमाणे हि वृंहन्ति यत्र हिंसादयो गुणा। उदाहरन्ति तदब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदाः॥ यशस्ति० आ० ७ कल्प ३१। १ मूर्छा मोहसमुच्छ्राययो इति जैनेंद्रे।

असावधानी है। आत्मा पर वस्तुओंमें ममत्व करनेसे आपेको विसर जाता है। इसीलिए आत्मज्ञानकी यह मूर्छादशा ही समझनी चाहिए। दूसरे मोह यह सामान्य अर्थ लेनेसे ममत्वरूप विशेष मोहका भी अर्थ लिया जा सकता है। हां, लोग मूर्छा शब्दका अर्थ मूर्छित होकर पडना ऐसा करते हैं वह यहां नहीं है। परन्तु यह कोई दोष नहीं है। अध्यात्मदृष्टि रखनेवाले लोक प्रचलित अर्थके अनुसार ही बोलनेके लिये वाधित नहीं हैं। वे इसको भी मूर्छा समझते हैं कि लोग बाह्याभ्यंतर उपाधियोंके भीतर फसकर गुंग बने रहते हैं। इसलिये उपाधियोंके उपार्जन व रक्षण करनेमें लगनेको ही मूर्छा कहना ठीक है और इसीका नाम परिग्रह है।

वास्तविक जो देखा जाय तो पाचों ही पाप जीवोंके परिणाम विशेष हैं अतएव वे आत्माको वांधनेमें कारण होते हैं। इसलिये परिग्रह भी वास्तविक वही समझना चाहिये कि जो परिणामोंमें ममता होती है। अब रही यह बात कि वाहिरी धनधान्यादिको परिग्रह कहैं या न कहैं? इसका उत्तर यह है कि वाह्य परिग्रह ममता बढानेका कारण है इसलिये उसे भी परिग्रह कह सकते हैं। यह कहना उपचाराधीन[3] है।

यहां भी प्रमादको कारण समझलेना चाहिये। वह प्रमाद यहां ममत्व संकल्प ही है। इसीलिये वाह्य परिग्रह कम रहनेपर ममतावान जीव परिग्रही कहाता है। और अधिक परिग्रह भी किसी दूसरे कारण वश यदि इकट्ठा होजाय परन्तु ममता न हो या कम हो तो वह मनुष्य अपरिग्रह या अल्पपरिग्रही कहा जायगा। परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि वाह्य परिग्रह भी ममताको बढाता है इसलिये उसका भी संबंध हेय ही है।

ये हिंसादि पांचो पापोंके लक्षण लिखे। इनको त्याग देनेपर भी आगामी भोगोंकी आकांक्षा बनीरहै अथवा मिथ्यात्व न छूटा हो अथवा मायाचार—कुटिलाई गई न हो तो व्रत कहना ठीक नहीं। देखो,—

मायानिदानमिथ्यात्वशल्याभावविशेषतः। अहिंसादिव्रतोपेतो व्रतीति व्यपदिश्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ—अहिंसादि व्रत धारण करनेपर भी मायाचार, निदान मिथ्यात्व इनका पूर्ण नाश करदे तव मनुष्यका व्रती

१ मूर्छेतिरय मोहसामान्ये वर्तते। सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते इति विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते। इति सर्वार्थ०। २ बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्छा। वातपित्तश्लेष्मविकारप्रसग इति चेन्न विशेषितत्वात्। ३ बाह्यस्याप्रसग इति चेन्नाध्यात्मिकप्रधानत्वात् तस्मिन् सगृहीतेत त्कारणस्याप्यनुषगेण प्रतीते। मूर्छाकारणत्वाद्बाह्यस्य मूर्छाव्यपदेश इति वार्तिका०।

यह नाम सार्थक होता है। माया—मिथ्या—निदानको शल्य कहा है, शल्य नाम कांटेका है। ये तीनो कांटोंकी भांत व्रतीकी आत्माको दुखाते हैं। मायाचारका अर्थ निकृति, वंचना, ठगई ऐसा होता है। मिथ्यात्व लिखचुके हैं। निदान=अप्राप्त विषयभोगसंबंधी वस्तुओंको चाहना है। ये शल्य ऐसे हैं कि वृतका कुछ फल प्राप्त नहीं होनेदेते। इसीलिये वृतीको इन्हें दूर करनेका उपदेश दिया गया है। ये शल्य दूर न हों तो व्रत नाममात्रके लिये होंगे। क्योंकि, व्रतोंसे जो परिणाम निर्मल व निष्पाप होने चाहिये वे शल्य हटानेसे ही होसकते हैं।

वृतियोंके दो भेद—

अनगारस्तथाऽगारी स द्विधा परिकथ्यते। महावृतोऽनगारः स्यादगारी स्यादणुव्रतः॥ ७९॥

अर्थ—व्रतियोंका स्वरूप कहचुके। वे व्रती अनगार तथा अगारी ऐसे दो प्रकारके हैं। महाव्रतधारियोंको अनगार कहते हैं और अणुव्रतियोंको अगारी कहते हैं।

अगार घरका नाम है। घरवाला यह अगारी शब्दका अर्थ है। घर छोडदेनेवाला ऐसा अनगार शब्दका अर्थ होता है। इस अर्थके अनुसार जंगलमें रहनेवाला गृहस्थ भी अनगार और देवालयादि स्थानोंमें आकर वसनेवाला साधु भी अगारी कहा जासकता है। परंतु यहां अगारका अर्थ परिग्रह किया जाता है। जब शब्द उपलक्षणवाची मानलिया जाता है तब उसकेसे और भी अर्थ लेना युक्त होजाता है। यहां अगार शब्द परिग्रहोंका उपलक्षणदर्शक मानते हैं इसलिये यावत् परिग्रहोंका त्याग करनेपर ही अनगार नाम मिलसकता है। यही बाद श्लोकके उत्तरार्धमें अगारी अनगारी शब्दोंका लक्षण करके बतादी है। क्योंकि, उपलक्षणकी बात विना कहे समझमें आना कठिन होती है।

अथवा, जिसकी इच्छा घरसे वास्तविक निवृत्त होगई हो वही असली अनगार होसकता है। वह इच्छा तभी निवृत्त होसकती है जब कि प्रत्याख्यानावरण नाम चारित्रमोह कर्मका नाश होजाय। बस, इस प्रकार जब घरकी इच्छा निवृत्त होगी तब शेष परिग्रहोंकी इच्छा भी निवृत्त हो ही जायगी। इसीलिये परिग्रहके पूर्णत्यागीको ही अनगार कहना उचित है।

अणुशब्दका अल्प अर्थ है। अल्प व्रत जिसको हों वह अगारी कहाता है, व्रत अल्प होनेपर भी पांचो व्रत होने चाहिये किंतु वे व्रत पूर्ण नहीं धारण होसके हैं इसलिये अणु कहे जाते हैं। एक दो व्रत धारण करलेनेसे अणुव्रती नाम प्राप्त नहीं होता यह समझनेकी बात है।

सहायकव्रत (सात शील)—

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः समता तथा । स प्रोषधोपवासश्च संख्या भोगोपभोगयोः॥८०
अतिथेः संविभागश्च व्रतानीमानि गेहिनः । अपराण्यपि सप्त स्युरित्यमी द्वादश व्रताः॥८१

अर्थ—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्ड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगसंख्या, अतिथिसंविभाग ये सात व्रत और भी ऐसे हैं कि जो गृहस्थको धारण करने चाहिये। इस प्रकार गृहस्थके पांच व्रत प्रथमके और सात ये मिलकर बारह होते हैं।

१ दिग्विरतिव्रत—

१ दिग्विरति दिशाओंके त्यागको कहते हैं। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऐशान (उत्तर पूर्व), नैऋत्य (पूर्व दक्षिण) अग्निनेय (दक्षिणपश्चिम,) वायव्य (पश्चिमोत्तर), ऊर्ध्व, अध ये दश दिशाएं हैं। इन दिशाओंकी सदाके लिए मर्यादा कर लेना कि मैं अमुक स्थानोंसे आगे अमुक अमुक दिशाओंमें नहीं जाऊंगा इसे दिग्विरतिव्रत कहते हैं। जैसे किसी तर्फ एक पर्वत हो तो उधर की सीमा उस पर्वतसे करले। इसी प्रकार जहां नदी या समुद्र या जंगल हो वहां उन उनसे सीमा बांध ले। ऐसी प्रसिद्ध व चिरस्थाई चीजोंसे बांधी हुई सीमा चिरकाल तक याद रहती है और टिकती है। इस दिग्विरतिव्रतका इतना बड़ा माहात्म्य है कि अणुव्रतधारी भी दिग्विरतिके बाहिरकी अपेक्षा महाव्रतीकी योग्यताको तथा फलको प्राप्त कर सकता है।

२ देशविरतिव्रत—

२ देशविरतिव्रत भी दिग्विरतिव्रतके समान ही होता है। अंतर इतना है कि दिग्विरतिमें जो मर्यादा कीजाती है वह सदाकेलिये, और उस दिग्विरतिके भीतर फिर कुछ कुछ समयकेलिये जो और भी कम मर्यादा करना वह देशव्रत है।

१ दिग्वलय परिगणित कृत्वातोह बहिर्न यास्यामि। इति सकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ ६८ ॥ २ मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः। प्राहुर्दिशा दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥ ६९ ॥ ३ अवधेर्बहिरणुप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयता। पंच महाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७० ॥ प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः। सत्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥ ७१ ॥

४ देशावकाशिकः स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य। प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ ९२ ॥ गृहहारिग्रामाणा क्षेत्रनदीदावयोजनानां च। देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धा ॥ ९३ ॥ रत्नक०।

देशव्रत जितने समयकेलिये किया गया हो उतना समय समाप्त होनेपर व्रतीका गमनागमन फिर भी दिग्विरतिकी सीमा-
पर्यंत होसकता है। देशव्रत जन्मभरमें सहस्रोंवार वल्कि प्रतिदिन किया जासकता है।

३ अनर्थदण्ड विरतिव्रत—

३ जो विनाप्रयोजन पापकर्म करना है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। उस अनर्थदण्डसे जुदा होना सो अनर्थदण्डविरति
नामका व्रत है। अनर्थदण्डके पांच प्रकार किये गये हैं। १ अपध्यान[१], २ पापोपदेश[३], ३ प्रमादाचरित[४], ४ हिंसादान[५], ५
अशुभश्रुति[६] ये पांचोंके नाम हैं। ये पांचों ही क्रिया पाप वढानेवाली हैं और फल इनका कुछ नहीं है।

अपध्यान=विनाप्रयोजन किसीका जय किसीका पराजय किसीका अंगच्छेद किसीका धनहरण होनेकी इच्छा करते
रहना। इसके सिवा और भी वहुतसे अपध्यान हैं। जैसे इसकी स्त्री मरजाय या पुत्र मरजाय ये सब अपध्यान ही हैं।

पापोपदेश=किसीको क्लेश उत्पन्न हो ऐसा वोलना, वध होजाय ऐसा वोलना, वनस्पति आदि वढाने उपजानेका उप
देश देना। इससे अपना प्रयोजन यदि न हो तो ऐसा उपदेश अनर्थदण्ड है। और अपने लाभार्थ अपने सेवकोंसे करा-
नेकेलिये ऐसा कहाजाय तो वह अनर्थदण्ड न होगा, केवल आरंभादिके द्वारा लगनेवाला दोष लगेगा जो कि गृहस्थके-
लिये क्षम्य है।

प्रमादाचरित=विना प्रयोजन वनस्पति काटना, जमीन खोदना, पानी वहाना, और भी जो जो हिंसाकर्म हैं वे सभी
इस अनर्थदण्डमें गर्भित होते हैं। अर्थात्, वहुतसे लोगोंकी जो ठाले वैठे कुछ करते रहनेकी आदत पडजाती है वह सब
प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है। जैसे कुछ काम न हो तो किसी एक कागदके टुकडेको उठालेना और फाड़ते वैठना, या दो मनुष्यों
को परस्पर भिडादेना और उनका झगडा देख देखकर खुश होना, या हातमें एक तिनका उठालेना उसे तोडते वैठना।

हिंसादान=विष, शस्त्र, चावुक, लकडी इत्यादि वंधवन्धन छेदनकी सामग्रीका दान करना या सहायता करना। कीडे,
खटमल, टिड्डी मारनेके साधन तयार करना और दूसरोंको देना ये सर्व हिंसादान अनर्थदण्डके ही प्रकार हैं।

१ उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्ड । (इतिवार्ति०) २ वधबंधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादे । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने
विशदाः ॥ ७८ ॥ ३ तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् । कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥ ७६ ॥ ४ क्षितिसलिलदहनपवना-
रम्भं विफल वनस्पतिच्छेदम् । सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥ ८० ॥ ५ परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृंगशृंखलादीनाम् । वधहेतूनां दान
हिंसादानं ब्रुवन्ति वुधा ॥ ७७ ॥ ६ आरम्भसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः । चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ ७९ ॥ रत्नक०।

अशुभश्रुति=हिंसापोषक वचन सुनना, खोटी कथाएं सुनना, आरंभ–परिग्रहादिवर्धक उपाय सुनना, सीखना, रागद्वेष वढानेकी वातें सुनना, परस्परमें कलहकारी शिक्षा सुनना । ऐसी वातोंसे अनर्थ तो होता ही है और प्रयोजन थोडा भी सधता नहीं इसलिये ये सर्व अनर्थदंड ही हैं ।

ये पांच अनर्थदण्ड पाप हैं । इन पापोंको दिखानेसे पहिले दिग्विरति व देशविरति कहदिये गये हैं और इनके आगे भोगोपभोगादि व्रत लिखेंगे । इन दूसरे व्रतोंके वीचमें अनर्थदंड इसलिये आचार्योंने लिखा है कि दिग्विरति आदि व्रतोंका प्रमाण भी आवश्यकतासे अधिक न रखना चाहिये; यह वात शिष्योंको मालूम हो ।[1]

४ सामायिक—

४ सामायिक[2] उसे कहते हैं कि जो विषयविचारोंसे मनको हटाकर आत्मचिंतवनमें लगा दिया जाय । ऐसी अवस्थामें बने रहना सदा तो मुनिसे भी नहीं होता तो गृहस्थकी क्या बात है ? इसलिये सामायिक क्रिया करनेवाला गृहस्थ कुछ कालकी मर्यादा करके प्रारम्भ करता है इसके प्रारम्भमें प्रथम अपने केस संभाल कर बांध लेना चाहिये, कपड़े आस पाससे दबालेना चाहिये, पालती मारलेना चाहिये स्थान निश्चिन्त करलेना चाहिए यह एकाग्र बैठनेकी पद्धति[2] है ।

---

१ मध्येऽनर्थदण्डग्रहणं पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थम् । (इति वार्ति०)

२ सम = समता । अय = लाभ इन दोनों शब्दोंका समायशब्द बनता है । समायशब्दका अर्थविशेष न रहनेपर भी स्वार्थिक अण् प्रत्यय करके सामाय बना लिया जाता है । सामायका अर्थ होता है कि एकत्व या समताका लाभ हो, अथवा समता प्राप्त हो जानेसे आत्मज्ञानादिकका लाभ हो । यह प्रयोजन जिस क्रियाके करनेसे सध सकता हो उसे सामायिक कहते हैं प्रयोजनार्थक ठक् इक प्रत्यय व्याकरण में होता ही है ।

किसी किसी ग्रंथमे सामयिक शब्द लिखा रहता है । उसका अर्थ यों किया जाता है कि सम = एकत्वार्थक उपसर्ग, अय = प्राप्तिवाचक धातु, इनके संयोगसे समयशब्द बन जाता है । 'एकत्वेन गमनं समयः' ऐसा राजवार्तिकमें लिखा ही है । इसलिये 'एकत्वकी प्राप्ति ऐसा समयका अर्थ होता है । इस एकत्व प्राप्तिका जो कारण हो उस क्रियाको सामयिक कहते हैं । यह सामयिक या सामायिकका शब्दार्थ हुआ ।

"समस्य = रागद्वेषविमुक्तस्य सत, अयो = ज्ञानादीनां लाभ प्रथमसुखरूपः स समायः । समाय एव सामायः । सामायः प्रयोजनमस्येति ठकि सामायिकम् । रागद्वेषहेतुमध्यस्थतेत्यर्थः । अथवा समयः आप्तसेवोपदेश । तत्र नियुक्तं कर्म सामायिकम् । [इति आशाधरेण सागारधर्मामृतस्य पंचमाध्यायेऽष्टाविंशतितमे श्लोके उक्तम्] । २ जिस भांत वीचमें आकुलता या अतराय न आवे उस भात संभलकर बैठना चाहिये यही इस पद्धति का मतलब है । इस पद्धतिमें मुष्टिबन्ध करनेको लिखा है उसका अर्थ यहा ऐसा होना चाहिये कि हातोंको संकोचले । ध्यानमुद्राकी तर्फ विचारनेसे मालूम होता है वामहात पर सीधा रखलेना यही अर्थ ठीक है ।

इस प्रकार किसी शांत चैत्यालयमें या गुफामें या निर्जन जंगलके प्रदेशमें बैठकर आत्माका चितवन करै, कर्मोंसे रहित = स्वतंत्र मुक्ति प्राप्त करनेके कारणोंका चितवन करै और निश्चय करै कि आत्मादि तत्त्वोंका यही निश्चित स्वरूप है, ये ही दर्शन ज्ञान चारित्र मुक्तिके अंग हैं। इस प्रकार चितवन करते कालकी अवधि पूर्ण करै। यह सामयिक साधनाभ्यासकी अपेक्षा तो सभी श्रावकोंको करना चाहिये परन्तु तीसरी प्रतिमासे लेकर अवश्य करना ही चाहिये। उन व्रतियोंको तीनो संध्या करना चाहिये और बाकी श्रावक प्रातः काल तथा संध्याकालमें करते हैं।

सामायिकके साथ प्रतिक्रमणादि पांच क्रिया जोडनेसे षडावश्यक-कर्म हो जाते हैं। प्रतिदिवस सामायिक या षडावश्यक क्रिया करते रहनेसे पांच अणुव्रत शुद्ध बने रहते हैं और कभी भूलकर भी पापमें मन लग गया हो तो वह हट जाता है। शिक्षा वृतोंका प्रयोजन ही यह है कि पांच अणुवृतोंको न बिगडने देनेकी शिक्षा मिलती रहै। सामायिकादि चार वृतोंको शिक्षावृत कहते हैं। दिग्वृतादि तीन व्रतोंको गुणवृत कहते हैं। गुणवृतका अर्थ 'मूल गुण या पांचवृतोंकी वृद्धि होनेके कारण ऐसा होता है। दिग्वृत, अनर्थ दण्डवृत, भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणवृत हैं और सातमें से बाकीके चार शिक्षावृत हैं सामायिककी महिमा भी ऐसी है कि सामायिकके समय तक महावृतपना आ जाता है।

५ प्रोषधोपवास—

५—प्रोषधोपवास यह पांचवां शीलव्रत है। इसका अर्थ यह है कि पहिले दिन बारह बजेसे विषय, कषाय, व आहार को त्यागकर तीसरे दिन बारह बजे आहार ग्रहण करै। और पहिले व तीसरे दिन भी जो आहार ले वह एक बार ही

१ परं तदेव मुक्त्यंगमिति नित्यमतन्द्रित । नक्तदिनान्तेऽवश्यं तद्भावयेच्छक्तितोऽन्यदा ॥ इतिधर्मामृते । २ दिग्वृतमनर्थदण्डव्रत न भोगोपभोगपरिमाणम् । अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतन्यार्याः ॥ ३ देशावकाशिकं स्यात्सामयिक प्रोषधोपवासो वा । वैयावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥ इति रत्नक० । ऊपर ग्रन्थकारने जहा अतिथिसंविभाग लिखा है वहा उपासकाध्ययनोंमें वैयावृत्य शब्द लिखा गया है । परन्तु अर्थ दोनोंका समानसा ही है यह बात अतिथिसंविभागकी व्याख्यासे मालूम होगी । ४ बाह्य सब विषयोंसे आसक्ति हट जाती है इसलिए महाव्रत कहना अनुचित नहीं है । ऊपरकी शांतता देखनेसे ठीक ही है।

५ कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते । उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥ इति सुभाषितर० । स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमं । साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥ अ० ५ ॥ चतुर्णां भोजनानामशनस्वाद्यखाद्यपेयद्रव्याणाम् । (इतिधर्मामृते) पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु । चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः १०६ (इतिरत्नक०)

ले। इस प्रकार अडतालीस घंटे धर्मध्यानके साथ व्यतीत करने चाहिये। कषाय व विषय यदि न छूट सके हों तो फिर आहारका त्याग करना केवल लंघन है।

आहारके चार भेद करते हैं; (१) अशन, (२) स्वाद्य, (३) खाद्य, (४) पेय कहीं कहीं पर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय ये भी चार नाम मिलते हैं। और कहींपर अन्न, पान, खाद्य, लेह्य ये चार नाम भी दीख पडते हैं। ये चारो ही आहार उपवासवालेको छोडने चाहिये।

इसका फल उन्माद न वढना, इंद्रियदर्प न होना, आत्मभावना करनेमें सावधानी रखना है। यह व्रत, सामायिक व्रत स्वीकारनेवालेकेलिये आगे चलनेपर स्वीकार करना पडता है। इसे प्रतिमाओंके अनुसार चतुर्थप्रतिमा कहते हैं। उसको यह प्रोषधोपवास प्रति अष्टमी व चतुर्दशीको करना चाहिये। और जो साधन अभ्यासके लिये करता हो उसकेलिये कोई नियम नहीं है।

आहारका जैसा त्याग करै वैसा ही अलंकार, सुगंध, पुष्प और सर्व प्रकारके आरम्भका त्याग भी करना ही चाहिये। स्नान, अजन, नस्य=तमाखू, हुलास ऐसी चीजोंको भी छोडना चाहिये। यह उपवासकी उत्कृष्ट विधि है। उपवास करने वाला श्रावक अपना सर्व समय धर्मध्यानमें तो वितावै ही परंतु जव एकान्त रहना न होसकै तब दूसरे श्रावकोंको धर्मामृतका उपदेश दे तथा दूसरोंसे[3] आप सुनै। उपवासके समयको आलस्यसे न विताना चाहिये।

प्रोषधोपवासमें जो उपवासशब्द है उसका अर्थ आहारत्याग है। प्रोषधका अर्थ एकवार भोजन करना है। प्रोषधोपवासका जिस दिन आरंभ होता है उस दिन एकवार भोजन किया जाता है और दूसरे दिन आहारका त्यागकर उपवाससे रहना पड़ता है और फिर तीसरे दिन भी एकवार भोजन किया जाता है इसलिये इसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यह पूर्ण उपवासका व्रत हुआ।

१ प्रथम व दूसरे वार जो नाम लिखे हैं, वे आशाधरके सागारधर्मामृतमें हैं। पञ्चमाध्यायके ३४वें श्लोकमें तथा चतुर्थाध्यायके २४वें श्लोकमें यह जिक है।

२ पञ्चानां पापानामलंक्रियारंभगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ १०७॥ ३ धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥ १०८॥ ४ चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १०० ॥ इति रत्नक०। ५ सागारधर्मामृत में—

६ भोगोपभोगपरिमाणव्रत—

त्रसघात, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट, अनुपसेव्य ये भोगोपभोगपरिमाणके समय पांच विषय छोडने पडते हैं। (१) मधु, मांस ये त्रसघातके स्थान हैं इसलिये इन्हें सर्वथा छोडना चाहिये। (२) मद्यके खानेसे कार्याकार्यविवेक नहीं रहता इसलिये प्रमाद छूटनेके लिये मद्यका त्याग करना चाहिये। केतकी, अर्जुनपुष्प, कंदमूल इत्यादि चीजोंके खानेसे जीव बहुतसे घाते जाते हैं इसलिये इन्हें छोडना चाहिये। (२) जितनेसे काम चल सकता हो उसके अतिरिक्त जितनी वस्तु हों वे सर्व अनिष्ट कहाती हैं। इसलिये उन अनिष्ट वस्तुओंको छोडना चाहिये। (५) जो आवश्यक पदार्थ हों वे भी यदि कुल जात्यादिके अनुकूल न हों तो छोडने चहिये ये पांच प्रकारके विषय छोडनेसे सभी भोगोपभोगका परिमाण हो जाता है। एकवार भोगने योग्य विषयको भोग कहते हैं जैसे भोजन। वार २ भोगनेकी चीजोंको उपभोग कहते हैं। जैसे घर, वाहन, वस्त्रादि।

यह भोगोपभोगपरिमाणव्रत शक्ति हो तो यावज्जीव ग्रहण करना चाहिये। यदि शक्ति न हो तो कुछ कुछ समयके लिये ग्रहण कीया जा सकता है। किसी किसी ग्रंथमें भोगोपभोग शब्द मिलता है और कहीं कहीं उपभोगपरिभोग शब्द मिलता है। परंतु अर्थ 'एकबार व अनेकवार भोगयोग्य' यही करना चाहिये। कहीं पर भोगोपभोग परिमाण यह शब्द व्रतके लिये आता है और कहीं भोगोपभोगपरिसंख्यान यह शब्द आता है।

उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः। आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः॥ ९॥ अ० ५।

अर्थ—जो ऊपर लिखा उपवास करसकतेहैं वे वह करें। परंतु जो उतना नहीं करसकते उन्हे चाहिये कि वे जल लेकर वाकी सर्व आहारका त्याग करै। यह मध्यम उपवास है। इतनी भी शक्ति न हो तो आचाम्लादि भोजन करें। आचाम्लका अर्थ काजीसे मिलाकर भातका खाना। ऐसा ही एक निर्विकृति नाम भोजन भी किया जासकता है दूध, दही, घृत इत्यादि रस छोडकर नीरस भोजनका नाम निर्विकृति है। यह जघन्य उपवास है। इसकी शक्ति न हो तो एकवार भोजन करै। ऐसा क्यों करे? इसलिये कि शक्त्यनुसार करनेसे ही तप कहाता है। 'शक्तितस्तपः' यह आर्ष वचन है

१ मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रति निवृत्तचेतसा। २ मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादपरिहाराय। ३ केतकार्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि, शृंगवेरमूलकार्द्रादीनि अनन्तकायव्यपदेशार्हाणि। एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्। ४ यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम्। ५ न ह्यसत्यभिसंधिनियमे व्रतमिति, इष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यो यावज्जीवं। अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यं। [इति वार्तिक०]

७ अतिथिसंविभागवूत—

७ अतिथिसंविभाग वृत उसे कहते हैं कि अतिथियोंको उपयोगी पडनेवाली चीजें उन्हें दीजांय। जिसके आनेका तिथि—समयं नियत न हो वह अतिथि है। यह अतिथिका शब्दार्थ है। अतिथि, साधु—संन्यासियोंको कहते हैं। उनके-लिये उपयोगी वस्तुओंको देते रहना चाहिये। उनको देने योग्य चीजें चार हैं; १ भिक्षा, २ कमण्डलु—पीछी आदि उपकरण, ३ औषध, ४ मठ, वसतिका आदि स्थान। मुनियोंको दूसरे प्रकारकी चीजें लगती ही नहीं हैं इसलिये दानकी वस्तुओंके उक्त चार ही भेद किये गये हैं।

सल्लेखनाव्रत—

अपरंच व्रतं तेषामपश्चिममिहेष्यते। अन्ते सल्लेखनादेव्याः प्रीत्या संसेवनं च यत् ॥८२॥

अर्थ—एक और भी वारह व्रतोंके अतिरिक्त अनुपम वृत है। वह कोनसा ? मरणके अंतमें सल्लेखनादेवीकी प्रीति पूर्वक सेवा करना यही वह व्रत है। यह भी गृहस्थोंका मुख्य व्रत है।

---

१ ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयं। यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः॥ ४२ ॥ अ. ५। सागारध.। २ अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। (इति वार्तिका०) वैयावृत्य शब्दका मुख्य शब्दार्थ तो यह होता है कि किसीके कष्टको दूर करना। परंतु लक्षणसे यह अर्थ सिद्ध होता है कि साधुओंको दान देकर तथा और भी अनेक प्रकारकी सेवा करके उनके धर्मसाधनेमें सहायता करना। अतिथिसंविभाग तथा वैयावृत्यका मुख्य अर्थ साधुओंको दान देना है। यह अर्थ दोनोंका एक ही है। परंतु श्रावकाचारोंमेंसे केवल सागारधर्मामृतमें तथा तत्वार्थसूत्रमें अतिथिसंविभाग शब्द लिखागया है और वाकी बहुतसे श्रावकाचारोंमें वैयावृत्य शब्द ही आता है।

समन्तभद्रस्वामीने इस वैयावृत्यके ही भेदोंमें देवपूजाको भी बताया है। तत्त्वार्थसूत्र तथा तत्त्वार्थसार ग्रंथोंमें और तत्वार्थसूत्रके टीकाग्रंथोंमे देवपूजाका समावेश बारह व्रतोंमेंसे कहींपर भी नहीं किया तो भी दानके भेदोंमे लेलेनेसे संग्रह हो सकता है। समंतभद्रस्वामीने अपने चतुर्विंशतिस्तोत्रमे भी जिनपूजाका उल्लेख किया है। देखो—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ। दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥५॥

इतना ही नहीं लिखा किंतु यह भी लिखा है कि अध्यात्मवृत्ति साधु भी पूजा करसकता है परंतु उसके पास द्रव्य नहो और वह आरंभ नहीं कर सकता इसलिये वह भाव पूजा करै '**दाणं पूजामक्खो सावयधम्मो**' ऐसे वचन भी मिलते हैं। इससे श्रावकका मुख्य धर्म दान पूजा ही है।

शरीर व कषायोंको संसारभोगोंसे विरक्त होकर कृषकरै घटावै इसीका नाम सल्लेखना है। जब यह मालुम होजाय कि मेरा मरण अब अवश्य निकट आगया है तब यह सल्लेखना व्रत धारण किया जाता है। शरीर भोगोंसे विरक्त होना यह तो धर्मका अर्थ ही है। परंतु इस धर्मको गृहस्थ, विषयसंबंध न छूटसकनेके कारण पूर्ण पाल नहीं सकता। इसीलिये जब मरणके सन्मुख वह अपनेको समझलेता है तब विषय व कषायोंको छोडदेना अपना मुख्य कर्तव्य मानता है और वह पूर्ण विषयविमुख होकर आहारको क्रमसे त्याग देता है। आहारके छूटनेसे शरीर कृष होजाता है। कषाय तो कृष पहिलेसे ही होने लगता है। क्योंकि कषाय कृष न हो तो आहारादिसे ममत्व छूटना असंभव है।

यहां आत्मघातके दोषकी शंका होना संभव है। परंतु वह शका तब होनी चाहिये जब कि मरणका समय न आनेपर ही भोजनका त्याग करदियाजाय। किंतु यह वात सल्लेखनामें नहीं होती। मर जाना तो किसीको भी इष्ट नहीं होता। श्रावक तथा साधु भी ऐसा समझते हैं कि जीते रहेंगे तो कर्मोंकी निर्जरा वहुतसी करेंगे। वह निर्जरा शीघ्र मरनेवालेके हाथसे कैसे होसकती है? तो भी यदि मरण आही गया हो तो उसे टाल तो सकते नहीं; उलटा विषयासक्त वनकर परभवको क्यों विगाडें? यह समझकर वे व्रती कषायाहारका त्याग कर देते हैं और शांतिके साथ शरीरको छोडते हैं। इसमें आत्मवध कैसा?

सल्लेखनाव्रत सात शीलोंके साथमें क्यों नहीं संगृहीत किया जाता? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि सात शीलोंकी भांत यह केवल श्रावकोंकेलिये ही नही है। जो गृहस्थ घरसे विरक्त नहीं हुआ हो उसको विरक्त करनेकेलिये सात शील वताये गये हैं। इसलिये जो सात शील धारण करनेवाला है उसकी सल्लेखना वनी वनाई है। उसको जो विरक्तता प्राप्त हुई है उस विरक्तताको वह मरणान्ततक धारण करता ही है और ठीक मरण जानकर उस विरक्तताको और भी संभाल लेता है। उस श्रावकको यदि सल्लेखना न कहें तो भी वह हानि नहीं उठावेगा। किंतु जिसने मरणांतपर्यंत सात शील धारण नहीं किये उसके लिये सल्लेखनाका उपदेश अधिक सार्थ है। और यों तो मुनियोंको भी सल्लेखना करनेका उपदेश है। इसलिये केवल गृहस्थोंकेलिये जो शील वताये गये हैं उनमें सल्लेखना व्रतका समावेश कैसे होसकता है?

१ जातामय प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा, नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्। लग्नाग्निमावसति वन्हिमपोह्य गेही, निर्याय वा व्रजति तत्र सुधीः किमास्ते ॥ २०५ ॥ आत्मानुशासनम्। मतशीलपुण्यसंचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति, तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते इति कथमात्मवधो भवेत्? [इति वार्तिका०]।

सम्यक्त्वव्रतशीलेषु तथा सल्लेखनाविधौ । अतीचाराः प्रवक्ष्यन्ते पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—एक सम्यग्दर्शन, पांचव्रत, सात शील तथा एक सल्लेखना इन चौदह बातोंमें जो मुख्य दोष लगना संभव है वे दोष अब यथाक्रमसे लिखते हैं। एक एकके मुख्य दोष पांच पांच मानेगये हैं। बाकीके दोष ऊपरसे समझना चाहिये। इन दोषोंको अतीचार[1] कहते हैं।

सम्यक्त्वके पांच दोष—

शंकनं काङ्क्षणं चैव तथा च विचिकित्सनम् । प्रशंसा परदृष्टीनां संस्तवश्चेति पञ्च ते ॥ ८४ ॥

अर्थ—अर्हंतके उपदेशमें शंका करना कि यह ठीक है या नहीं, अर्हंतने सर्वतत्त्व प्रत्यक्ष देखकर कहे हैं अथवा युक्तिद्वारा कल्पित किये हैं—ऐसे विचारोंको शंका दोष कहते हैं इस लोकका, परलोकका, व्याधियोंके विषयका, मरणका, असंयमका, अनाथपनेका, आकस्मिक घटनाओंका भय होना भी शंका दोषमें गर्भित होता है। यह सर्वप्रकारका शंका दोष होता है। इन्हींको सप्त भय कहते हैं। यह सर्वप्रकारका शंका-दोष सम्यक्त्वमें मलिनता उत्पन्न करता है। (२) इस लोक-परलोकके भोगोंकी लालसा रखना सो कांक्षा या आकांक्षा दोष है। मिथ्यादृष्टियोंमें उत्पन्न होनेकी या मिथ्या दृष्टियोंके समागम-सहवासकी इच्छा रखना भी आकांक्षा दोष है। (३) शरीरादि मलिन वस्तुओंको देखकर उनसे अरुचि करना, उस शरीरके संबंधसे पवित्र साधुओंको भी ग्लानिकी दृष्टिसे देखना, अर्हंतके मोक्षमार्गमें तपस्यादि घोर कष्ट देखकर उन कष्टोंको अनुचित समझकर निर्ग्रंथ तपस्वियोंको तथा मोक्षमार्गको ग्लानिसे देखना—इत्यादि अनुचित ग्लानिको विचिकित्सादोष कहते हैं। (४) मिथ्यादृष्टियोंको देखकर मनमें उनके कार्य तथा विचारोंको अच्छा समझना, उन गुणोंपर मोहित होना यह अन्यदृष्टिप्रशंसा नाम दोष है। (५) मिथ्यादृष्टियोंके विचारोंकी उनकी क्रियाओंकी मुखसे प्रशंसा करना यह अन्यदृष्टिसंस्तवन नाम दोष है। इन दोषोंको सम्यक्त्वके दोष इसलिये कहा है कि सम्यक्त्व गुणको इनसे बट्टा

[1] "देशस्य भंगादनुपालनाच्च पूज्या अतीचारमुदाहरंति" इति धर्मामृतटीकायां पूर्वेषामुक्तिरुक्ता। व्रतके कुछ अंशका भंग होजाना या न पालना इसका नाम अतीचार है।

लगता है। ये दोष सम्यक्त्वके अतीचार दोष कहाते हैं, क्योंकि, सम्यक्त्व निर्मूल नष्ट न होकर केवल मलिन होता है। ये सम्यक्त्वके पांच दोष है।

अहिंसाणुव्रतके अतीचार—

बंधो बधस्तथा छेदो गुरुभाराधिरोपणं। अन्नपानानिषेधश्च प्रत्येया इति पंच ते ॥ ८५॥

अर्थ—१ बांधलेना, २ चाबुक वगैरहसे मारना=वध, ३ कान नाक इत्यादि काटना=छेदना, ४ संभव या न्यायसे जितना ठहर चुका हो उतनेसे अधिक बोझा लादना=गुरुभारारोपण, ५ खाना पीना समयपर न देना=अन्नपाननिषेध ये पांच अहिंसाव्रतके अतीचार—दोष[2] हैं।

---

१ सम्यक्त्वके जहां गुण कहे गये हैं वहा आठ कहे हैं, (१) निःशंका, (२) निकांक्षा, [३] निर्विचिकित्सा, [४] अमूढदृष्टि, [५] उपगूहन, [६] स्थितीकरण, [७] वात्सल्य, [८] प्रभावना। यदि इनसे उलटी तरफ देखा जाय तो दोष भी आठ हो सकते हैं। परन्तु यहां जो सम्यक्त्वके दोष लिखे वे पाच ही क्यो लिखे ? उत्तर—पहिले तीन दोष तो प्रथम तीन गुणोंसे ठीक उलटे हैं ही। रहे अतके दो दोष, सो उनमें शेष पाचों गुणोंके प्रतिपक्षी पाच दोष गर्भित किये हैं। वह कैसे ? अर्थ समान होनेसे पाचवे चौथे दोषोंका व्यापक अर्थ मानलेनेसे अतर्भाव हो सकता है। अथवा उपलक्षणसे शेष दोषोंका ले लेना तो सहज ही है। आठों न गिनानेका प्रयोजन यह है कि जहा सभी विषयोंके अतिचार पाच २ ही कहे जायेंगे वहा इसीके लिये सख्या भेद क्यो करें ?

२ पडित आशाधरने इसपर लिखा है कि—**गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं त्यजेद्‌बंधादिना विना ॥ भोग्यान्वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयं** ॥ १६ ॥ अ० ४। उत्तम नैष्ठिक श्रावकका यह काम है कि वह बधवधादि दोषरहित अहिंसाव्रत पालनेकी इच्छासे गाय आदि पशुओंको रक्खै ही नही। काम न चलता दीखे तो वह अवश्य रक्खेगा, परंतु उतने ही रखने चाहिये जितनेसे भोगोपभोगका काम चल जाय। परंतु यह मध्यम श्रावककी वृत्ति कही जायगी। रक्खे तो चाहें जिस कामकेलिये परंतु बधबंधादि न होने देनेकी संभाल करै और निर्दयतासे उनको काममे न ले यह निकृष्ट पक्ष है। ऐसा करनेवाला भी बधवधादि दोष दूर करसकता है परंतु कृत, कारित, अनुमति द्वारा पूर्ण रक्षा नहीं करसकता इसलिये मन मलिन रहैगा और पक्ष अधम ठहरेगा परंतु अतीचार तो भी दूर हो सकते हैं यह ध्यान रहै)। अतीचारोंको अवश्य टालना चाहिये क्योंकि सातीचार व्रत कभी वास्तविक फल नही देसकते। देखो,—

व्रतानि पुण्याय भवंति जंतोर्न सातिचाराणि निषेवितानि। सस्यानि किं क्वापि फलंति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि ॥

शंका—अतिचार यदि पापोंमे गर्भित हैं तो पापके त्यागको जो व्रत कहते हैं उन व्रतोंकी सख्या नहीं हो सकेगी। यदि अतिचार हिंसादि पापोंमें गर्भित नही हैं तो क्यों छोडने चाहिये ? **उत्तर**—विशुद्ध अहिंसादिव्रतोंमे अतीचार नहीं रहते इसलिये छोडने योग्य तो हैं ही और निराले वे पाप नहीं किंतु एकदेश मूलपापोंमें ही गर्भित होते हैं इसलिये इनके त्यागसे भी व्रतोंकी सख्या बढती नही है।

सत्याणुव्रतातीचार—

कूटलेखो रहोऽभ्याख्या न्यासापहरणं तथा। मिथ्योपदेशसाकारमन्त्रभेदौ च पञ्च ते॥८६

अर्थ—(१) जो बात जिसने नहीं कही हो वह बात उसने कही ऐसा ठगनेके लिये लिखना सो कूट लेख है। [२] स्त्री पुरुषोंकी एकांतमें की गई परस्परकी काम चेष्टाओंका प्रकाशित करना सो रहोभ्याख्यान कहाता है कोई लोग कूट लेखका अर्थ ऐसा करते हैं कि दूसरेके हस्ताक्षरका लेख बनाना सो कूट लेख है। [३] धन सम्पत्ति किसीने उसके पास रख दी हो और फिर जितनी रक्खी थी उसमेंसे कमती तकाजा करै तो वह मांगनेवाला तो कितना भूल गया है परंतु आप जानबूझकर भी यह कहना कि जितना तुम्हें याद हो उतना ले जाओ—इसको न्यासापहार कहते हैं। [४] मिथ्या मार्गका उपदेश देना सो मिथ्योपदेश कहाता है। (५) किसीने जो किसीकी बात चौरी हो उसे उसकी किसी चेष्टासे समझकर प्रकाशित कर देना सो साकारमंत्र भेद कहाता है। ये पांच असत्यत्यागी सत्याणुव्रतीके व्रतमें आनेवाले अतीचार हैं।

न्यासापहारमें यह शंका होगी कि यह अतीचार सत्यव्रतका न होकर अचौर्यव्रतका होना चाहिये ? इसका उत्तरः—यहां वचन बोलनेसे दूसरेका अहित होता है। इसलिये यह सत्यव्रतका अतीचार है। कूटलेख यद्यपि वचन नहीं है तो भी वचनकी आकृति है और लोग भी इसे शब्द या वचन कहते ही हैं। इसलिये यह कूटलेख भी सत्यव्रतका ही अतीचार है। रहोभ्याख्यान तथा साकारमंत्रभेद इन दोनोंको लोग दुर्योग्य असत्य नहीं ठहरा सकते हैं तो भी ऐसे वचनोंसे प्राण पीड होती जाते हैं इसलिये ये भी अतीचार हैं। मिथ्योपदेशसे भी तत्कालमें प्रत्यक्ष हानि नहीं कही जा सकती परंतु वास्तवमें बहुत बड़ी हानि होती है इसलिये यह अतिचार है।

अचौर्याणुव्रतके अतीचार—

स्तेनाहृतस्य ग्रहणं तथा स्तेन प्रयोजनम्। व्यवहार प्रतिच्छन्दो मानोन्मानोनवृद्धता ॥ ८७ ॥
अतिक्रमे विरुद्धे च राज्ये सन्तीति पञ्च ते।

१ इसे ठहा समझकर करे तो यह अतीचार होगा। यदि काम वासनाके वश करे तो सत्य भंगका दोष आ सकता है।

२ मन्त्रभेदः परीवादः पैशुन्यं कूटलेखनम्। मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः॥

यशस्तिलकमें सत्यसत्यामके २८ वे कल्पमें ये पांच सत्यातीचार बताये हैं।

अर्थ–(१) चोरी करके जो द्रव्य किसीने लाकर वेचना चाहा तो उसे लेलेना यह स्तेनाहृतादान[1] कहाता है। ऐसा करना भी दूसरोंके लिये दुःखदायक है और इससे राजदंडका भय रहता है इसलिये यह अतीचार है। (२) चोरी करनेवालों को चोरीमें लगाना, लगानेका प्रयत्न करना, चोरी करनेमें कोई लग जाय तो प्रसन्न होना इस सबको स्तेन प्रयोग[3] कहते हैं। (३) व्यापारमें ठगई करना अथवा नकली चीजें असली कहकर वेचना–ऐसे कामोंको व्यवहारप्रतिच्छन्द या प्रतिरूपव्यवहार[4] कहते हैं। (४) सेर–पसेरी आदि वजनकी चीजोंको मान कहते हैं। तराजू पाइली आदि चीजोंको उन्मान कहते हैं। ये चीजें ठीक न रखना किंतु दूसरोंसे माल लेनेकेलिये अधिक रखना और दूसरोंको अपना माल वेचनेकेलिये कम रखना– ऐसे कार्यको मानोन्मानहीनाधिकता या हीनाधिकमानोन्मान[5] कहते हैं। (५) राजाज्ञाका जिसमें उल्लंघन होता हो ऐसे प्रकारसे वहुमूल्य चीजोंको अल्पमूल्यमें खरीदनेकी इच्छा रखना, प्रयत्न करना सो सव विरुद्धराज्यातिक्रम नामका पांचवां अतीचार है।

अचौर्याणुव्रतके ये पांच अतीचार हैं। इनको लोग चोरी नहीं कहते इसलिये तो व्रतभंग नहीं माना जाता और तो भी चोरीकी भांत ये पांचो प्रकारके फायदे जिसके द्रव्यसे होते हैं उसे न जता कर होते हैं। यदि द्रव्यका स्वामी ये वाते समझले तो वह ठगई मानलेता है। इसलिये ये पांचों कार्य चोरीके एक अंग मानेगये हैं। अतीचार भी पापके अवयवोंको कहते हैं। जो पापका पूर्ण सेवन हो तो वह अनाचार कहाता है।

स्वदारसंतोष–अणुव्रतके अतीचार–

अनंगक्रीडितं तीव्रोऽभिनिवेशो मनोभुवः ॥ ८८ ॥
इत्वर्योर्गमनं चैव संगृहीतागृहीतयोः। तथा परविवाहस्य करणं चेति पंच ते ॥ ८९ ॥

१ ‘व्यवहारप्रतिच्छन्दः’ ऐसा मूल मुद्रित पुस्तकमें पाठ था। परन्तु हमने ‘व्यवहारप्रतिच्छन्दो मानोन्मानोनवृद्धता’ ऐसा [illegible] पाठ ठीक समझा है। क्योंकि, प्रतिरूपक व्यवहारकी जगह यह पाठ होना चाहिये। २ चोरानीतग्रहण तदाहृतादानम्। ३ मोषकस्य त्रिधा प्रयोजन स्तेनप्रयोग। मुष्णन्त स्वयमेव वा प्रयुङ्क्ते अन्येन प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यत स्तेनप्रयोग। ४ कृत्रिमहिरण्यादिकरण प्रतिरूपकव्यवहारः। ५ कूटप्रस्थतुलादिभि क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मान।

अर्थ-(१) अनंगक्रीडा, [२) कामकी तीव्रवासना, (३) परिगृहीत-इत्वरिकागमन, [४] अगृहीत-इत्वरिका गमन, ['५) परविवाहकरण ये पांच स्वदारसंतोषके अथवा ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतीचार हैं । योनि तथा जननेन्द्रियका जो संभोग होता है वह उचित स्थानके सिवा अन्यत्र भी करना तथा कुचेष्टा करना सो सब अनंगक्रीडा है । कामभोगों की निरन्तर इच्छा रखना, उत्कट वासना रखना, सो कामकी तीव्र वासना या कामतीव्राभिनिवेश कहाता है। व्यभिचारिणी स्त्रीको इत्वरिका कहते हैं। जो किसीने रखली हो या किसीकी व्याही स्त्री हो उसे परिगृहीत कहते हैं। परिगृहीत व्यभिचारिणी स्त्रीके साथ सम्बन्ध रखनेको परिगृहीत-इत्वरिकागमन कहते हैं। किसीने जिसे रक्खा भी न हो और जो किसीको व्याही भी न हो उसके साथ संबंध रखनेको अगृहीत-इत्वरिकागमन कहते हैं। दूसरोंके लडके लडकियोंका धर्म मानकर व्याह कराना सो परविवाहकरण है।

दूसरोंके लडके लड़कियोंका जो व्याह करादेना है वह दो अभिप्रायोंसे होसकता है; एक तो यह कि उसमें धर्म माना जाय, दूसरा यह कि लड़के लड़कीवाला असमर्थ हो। असमर्थकी सहायता करना धर्मके विरुद्ध नहीं है। हां, किसी व्रतमें दोष न आना चाहिये। असमर्थ मानकर किसीके विवाहमें द्रव्यकी सहायता करना या प्रयत्न करना स्वदारसंतोष-व्रतमें हानि पहुचानेवाला नहीं होसकता है। परंतु जो हिंदु लोग विवाह करादेनेको एक धर्म समझते हैं वह समझ केवल विवाहमें पड़नेवाले मनुष्योंकी कामवासनाको वढानेवाली ही है। दूसरोंके विवाह करानेसे कामभोग वहुतसे मिलसकते हैं यह उस विवाह करानेका हेतु है । अपने कामभोगोंकी लालसा तृप्त करनेका यह हेतु परंपरासाधक है । इसीलिये स्वदार संतोषव्रतमें इसे अतीचार-दोष मानना उचित है। इसी प्रकार अनंगक्रीडा आदि जो चार अतीचार हैं वे भी तभी होसकते हैं जब कि कामभोगोंकी लालसा अति प्रवल होजाती है। इसीलिये वे भी अतीचार-दोष हैं । गुरुपत्नी, साध्वी,

१ परपुरुषानेति गच्छतीतीत्वरी। ततः कुत्सायां क । इत्वरिका। या गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। या पुनरेकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता। [इति वार्तिका०] २ मूल ग्रथमें जो गमन शब्द है उसका अर्थ हमने सम्बन्ध रखना किया है। गमनका अर्थ कार्तिकेयानुप्रक्षाकी टीकमें तथा श्रुतसागरी तत्वार्थ टीकामे ऐसा ही लिखा है परन्तु पण्डित आशाधरके सागारधर्मामृतमें गमनका अर्थ सभोग करना लिखा हैं। कोशोंमे भी गमनका अर्थ सभोग करना होता है।

परन्तु सभोग करना अतीचार नहीं हैं व इअनाचार या व्रतभंग है-यह शका होना यहा संभव है। प० आशाधरने इस शकाका उत्तर देनेकेलिये लोकदृष्टिसे भंग व परमार्थ दृष्टिसे अभंग बताकर अतीचारपना ठहराया है।

तिर्यचिनी इत्यादिकोंमें जो प्रवृत्ति होती है वह भी कामतीव्राभिनिवेशका ही एक प्रकार है।

परिग्रहप्रमाण-अणुव्रतके अतीचार।

हिरण्यस्वर्णयोः क्षेत्रवास्तुनोर्धनधान्ययोः। दासीदासस्य कुप्यस्य मानाधिक्यानि पञ्च ते ॥९०॥

अर्थ—सोने चांदी आदिके सिक्कोंको हिरण्य[2] कहते हैं। स्वर्ण=सोना[3]। यहां सोना उपलक्षण मानना चाहिये और उसका अर्थ 'सोना, चांदी, जवाहिरात' करना चाहिये। क्षेत्र=खेत, वास्तु=घर। धनका अर्थ गाय भैंस इत्यादि पशु। धान्य=गेंहू, चना इत्यादि अनाज। दासीदास=सेवक। कपास, रेशम, चंदन, ऊन तथा किराने की चीजोंको कुप्य[6] कहते हैं। (१) हिरण्यसुवर्ण, (२) क्षेत्रवास्तु, (३) धनधान्य, (४) दासीदास, (५) कुप्य ये पांच ही मुख्य परिग्रहके भेद हैं। इनका जितना जितना प्रमाण हो वह वढाकर यदि अधिक प्रमाण फिरसे किया जाय तो पांच अतीचार होजाते हैं। यहांतक पांच अणुव्रतोंके अतीचार हुए। अब आगे सात शीलोंके तथा सल्लेखनाव्रतके अतीचार लिखते हैं।

---

१ दीक्षितातिबालतैर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेन्न, कामतीव्राभिनिवेशग्रहणादिमेदे। दीक्षितादिषु परिहर्तव्येषु वृत्ति कामतीव्राभिनिवेशाद्भवति। उक्तोत्र दोषो राजभयलोकापवादादिः। (इतिवार्तिका०) अर्थात्, दीक्षितादिकोंमें प्रवृत्ति होना कामतीव्राभिनिवेशमें गर्भित करना चाहिये। इस से यह सिद्ध हुआ कि इत्वरिकागमन और दीक्षितादिकोंमें प्रवृत्ति होना—ये दोनों जुदे जुदे कर्म हैं और उक्त प्रवृत्ति तथा गमनशब्दके अर्थ संभोग करना भी सभव हैं। इनमे स्वकीयापना कथंचित् सभव है, क्योंकि, ये किसीकी नियोगिनी नहीं होती। इसीलिये इनके साथ प्रवृत्ति या संभोग करनेसे अतीचार दोष लगता है। व्रतभग या अनाचारका दोष तब लगता है जब कि पति जीवित रहते हुए उस पतिकी नियोगिनी स्त्रीके साथ संभोग किया जाय। अतीचारोंसे भी व्रत मलिन होता है। और मलिन व्रत भवसमुद्रका निस्तारक नहीं होसकता।

२ हिरण्यं = रूप्यादिव्यवहारतन्त्रम्। ३ सुवर्णं = प्रतीतम्। ४ क्षेत्रं = सस्याधिकरणम्। वास्तु अगारम्। ५ धन गवादि, धान्यं = व्रीह्यादि। ६ कुप्यं = क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि। ७ तीव्रलोभाभिनिवेशादातिरेका प्रमाणातिक्रमाः। [इति वार्तिका०]

८ धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोधिकेषु निस्पृहता। परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ ६१ ॥

धनधान्यादि परिग्रहोंका प्रमाण करके छोडे हुए अधिक विषयोंसे निस्पृह रहना सो परिग्रहप्रमाण अणुव्रत कहाता है। इसीको इच्छापरिमाण भी कहते हैं। समन्तभद्रस्वामीने अपने रत्नकरण्डनाम उपासकाध्ययनमें परिग्रहत्यागका अणुस्वरूप जिस प्रकार लिखा है व्रतोंका अणुस्वरूप उतना स्पष्ट इस ग्रन्थमे नहीं लिखा है। इसके अतीचार भी रत्नकरण्डकमे यहासे दूसरी भांत ही लिखे हैं।

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि। परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच कथ्यन्ते ॥ ६२॥

अर्थ-(१) आवश्यकतासे अधिक वाहन रखना, (२) अतिसंग्रह करना, [३] संपत्ति देखकर विस्मय मानना, [४] संपत्तिमें लुब्धता रखना, [५] अधिक बोझ लादना- ये पांच परिग्रहप्रमाण व्रतके अतीचार हैं। ऊपरके अतीचार और इन अतीचारोंमें अंतर है ऊपर तो परिग्रहोंके प्रमाणकी मर्यादा बढालेनेको अतीचार कहा है और यहां परिग्रहोंमें आसक्ति रखनेको अतीचार कहा है।

[1]दिग्विरतिव्रतके अतीचार—

तिर्यग्व्यतिक्रमस्तद्वदध ऊर्ध्वव्यतिक्रमौ। तथा स्मृत्यन्तराधानं क्षेत्रवृद्धिश्च पंच ते ॥ ११ ॥

अर्थ—दशों दिशाओंमें गमनागमनकी मर्यादा निश्चित करनेका नाम दिग्विरतिव्रत है। दश दिशाओंके तीन स्थूल भेद होते हैं नीचाई, ऊंचाई और इधर उधर तिरछापन। इन तीनो सीमाओंका उल्लंघन करनेसे तीन अतीचार होजाते हैं (१) नीचेकी तर्फ गमनागमनकी जहां तक सीमाकी गई हो वहांसे अधिक नीचे चले जाना सो अधोऽतिक्रम है। (२) ऊपरकी सीमा उलंघनेसे ऊर्ध्वातिक्रम होता है। (३) पूर्वादि दिशाओंकी सीमा उलंघनेसे तिर्यग्व्यतिक्रम कहा जाता है।

ऊपरके तीनो व्यतिक्रम तव कहाते हैं जव कि किसी एक दो समय ऐसा भूलसे हो जाय या तीव्र कषायवश हो जाय परंतु प्रमाण सदाके लिये पूर्ववत् कायम रक्खा जाय। [४] यदि सदाके लिये प्रमाण बढालिये जांय तो उसे क्षेत्र-वृद्धि चौथा अतिचार कहते हैं। (५) इस विषयमें पांचवा एक अतीचार यह है कि सीमाओंका स्मरण ठीक ठीक न रखना। दिग्विरतिव्रतके सर्व पांच अतीचार हुए। इन दोषोंके रहने पर भी उक्त व्रतका पूर्ण भंग नहीं हो पाता और प्रथम तीन दोषोंका काल भी थोड़ासा रहता है इसलिये इन्हें अनाचार न कहकर अतीचार ही कह सकते हैं।

स्मरण ठीक ठीक न रखने पर भी व्रती मनुष्य अपने उक्त व्रतको छोड़ नहीं देता किंतु डिगमगाता हुआ औरसे और स्मरण करलेता है। इसीलिये स्मृत्यन्तराधान नामके दोषको भी अतिचार ही कहते हैं। तिर्यग्व्यतिक्रम गुफादि टेडी मेडी जगहोंमें घुसनेसे होना अधिक संभव है। परंतु सीधा इधर उधर चलने पर भी यदि चलते २ भूल जाय और मर्यादासे आगे चला जाय तो भी तिर्यग्व्यतिक्रम हो जाता है।

देशविरतिव्रत का अतीचार—

अस्मिन्नानयनं देशे शब्दरूपानुपातनम्। प्रेष्यप्रयोजनं क्षेपः पुद्गलानां च पंच ते ॥१२॥

---

१ 'बिलप्रवेशादेस्तिर्यगतीचारः' अर्थात्, बिलप्रवेशादि करनेसे तिर्यगतिक्रम होता है ऐसा राजवार्तिककार लिखते हैं। परन्तु इसका अर्थ कुछलोग ऐसा करते हैं कि ऊपर नीचे तथा पूर्वादि दिशाओंमें सीधा न जाकर तिरछा चलना सो तिर्यग्व्यतिक्रम है परन्तु तिर्यग् शब्दका यह अर्थ लेना भूल है। जैसे तिर्यक सामान्यका अर्थ तिरछासामान्य ऐसा नहीं होता किन्तु इधर उधर ऐसा होता है वैसे ही यहा भी तिर्यक शब्दका अर्थ इधर उधर ऐसा लेना ठीक है। नहीं तो पूर्वादि दिशाओंके उल्लंघनको एक जुदा अतीचार कहना पडेगा। अत एव सदासुखदासजीने अपनी अर्थप्रकाशिकामें जो अर्थ लिखा है वह ठीक नहीं है।

अर्थ—देशावकाशिक या देशविरतिव्रतके चारो तर्फसे गमनका क्षेत्र आकुंचित करके मर्यादित स्थानमें बैठे हुए व्रती को यदि वाहिरकी चीजोंसे काम पडे तो भी वह वाहिरसे उन चीजोंको न मगावै और न वाहिरसे दूसरा ही किसी प्रकारका संबंध रक्खै। तभी व्रत निर्मल रह सकता है। क्योंकि, बाहिरकी चीजोंसे पूर्ण ममत्व छूटनेके लिये ही दिग्विरति तथा देशविरति व्रत धारण किये जाते हैं।

देशमर्यादा कर चुकने पर स्वयं उस बाहिरी देशमें जानेसे व्रतभंग होगा ऐसा समझकर यदि अपना प्रयोजन स्वयं बाहिर न जाकर भी दूसरे किसी प्रकारसे सिद्ध करले तो भी शीलमें दोष लगता ही है, क्योंकि ऐसा करनेसे विषयोंसे पराङ्मुखता पूर्ण नहीं रह सकती है। जिन दूसरे प्रकारोंसे प्रयोजन साधनेवालेको दोष लगता है वे प्रकार पांच हैं। [१] किसी दूसरे मनुष्यको भेजकर चीज मगा लेना, सो आनयन[1] है। [२] काम करनेवाले सेवकके सामने कुछ कहना तो नहीं परंतु खांस, मठार देना सो शब्दानुपात[2] हैं। [३] अपना शरीर या हात, पांव, मुख आदि दिखादेना सो रूपानुपात[3] है। ४ सेवकको काम करनेके लिये भेजना सो प्रेष्यप्रयोग[4] है। ५ सेवकोंके समझानेकी इच्छासे माटीका डेला पत्थरका टुकडा फेंकना सो पुद्गलक्षेप[5] है। ऐसे ये पांच अतीचार देशविरतिव्रतके हैं। इन क्रियाओंके करनेपर भी स्वयं मर्यादाका अतिक्रम नहीं होता तो भी दूसरोंसे अतिक्रम कराना भी अतिक्रम ही है। अर्थात्, यहां कारितपनेके संबंधसे अतीचार दोष आना संभव है।

अनर्थदण्ड विरतिव्रतक अतीचार—

असमीक्ष्याधिकरणं[6] भोगानर्थक्यमेव च। तथा कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि च पंच ते ॥९३॥

अर्थ—(१) आवश्यकताकी तर्फ ध्यान नहीं देना किंतु योंही कुछ कार्य करते जाना और वह भी खूब करना सो असमीक्ष्याधिकरण है। जैसे, किसीकी बुराईका विचार करना, परपीड़ाकारी निष्प्रयोजन कुछ भी बोलना, चलते चलते छोटे छोटे वनस्पति तोडते जाना, बैठे बैठे तिनके तोडते रहना इत्यादि। (२] भोगोपभोगोंकी जितनी सामग्री चाहिये

१ अन्यमानयेत्य.ज्ञापनमानयन। २ अभ्युत्कासिकादिकरण शब्दानुपातः। ३ स्वविग्रहप्ररूपण रूपानुपातः। ४ एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः। ५ लोष्ठादिनिपात पुद्गलक्षेप। स्वयमनाकामन्नन्येनाक्रमयतीत्यतिक्रम। यदि स्वयमतिक्रमेत व्रतलोप एवास्य स्यात्। (इति वार्तिका०)

६ 'असमीक्ष्य' शब्दका 'अधिकरण' शब्दके साथ साधारण कोई समास नहीं बनसकता और एक पद बनाना अवश्य है। इसलिये सुप्सुपा' या 'मयूरव्यंसकादयश्च इस विशेष वचनसे समासका निर्वाह होगा ऐसा राजवार्तिककारने लिखा है ७। असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणम्। तत् त्रेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात्।

उससे अधिक सामग्री इकट्ठी करना सो भोगोपभोगानर्थक्य[1] कहाता है। [२] रागवश होकर हंसीके साथ भराड वचन बोलना सो कंदर्प कहाता है [४] मुखसे तो हसी करते हुए भराड वचन बोलना और शरीरसे कुचेष्टा करके दिखाना सो कौत्कुच्य[3] है। (५) धीट होकर खूब बोलना और कुछ भी बोलना सो मौखर्य है। ये पांच अनर्थ दगड त्याग व्रतके अतीचार हैं।

यदि कुछ भी प्रयोजन सिद्ध करना न हो और पापारम्भका वढानेवाला हो ही तो उस कार्यको अनर्थदगड ही कहेंगे परन्तु रागद्वेषकी पुष्टि और मनका कुछ संतोष ऊपरकी पांचो वातोंसे होना सम्भव है और इस पर भी ये पांचो कार्य अधिक हानि नहीं करते इसलिये इन्हे अतीचारोंमें कहा है। देखो, जिस प्रकार पापोपदेशकी प्रवृत्ति करनेसे जीव पाप भागी वनता है अथवा हिंसाके साधनोंकी सहायता करनेसे हिंसापापका भागी होसकता है उतना कंदर्पादि वचन बोलने से अथवा असमीक्ष्यकारी वननेसे तीव्र पापभागी नहीं होसकता है।

शंका—भोगोपभोगानर्थक्य जो अनर्थदंडत्यागका अतीचार लिखा है वह अनर्थदंडत्यागका नहीं होसकता किंतु भोगोपभोग परिमाणका अतीचार होसकता है। अथवा प्रयोजन मंद समझकर अनर्थदंडत्यागका भी अतीचार कहसकते हैं और भोगोंकी गृद्धताके कारण भोगोपभोगका भी अतीचार कह सकते हैं। परंतु ऐसी विवक्षा हो तो दो वार कहना पडेगा। दो वार कहनेसे पुनरुक्ति दोष प्राप्त होगा? और एकवार कहें तो कहांपर कहें?

उत्तर—पुनरुक्ति दोष यों नहीं है कि अतीचार एक एक व्रतके अनेकों होसकते हैं तो भी सर्व अतीचार कहे नहीं जासकते। इसीलिये प्रत्येक व्रतके मुख्य मुख्य पांच पांच अतीचार लिखेगये हैं। शेष सर्व ऊपरसे समझलेने चाहिये। भोगानर्थक्य अतीचार मुख्यतासे तो अनर्थदंडत्यागका है और अमुख्यतासे भोगोपभोगपरिमाणका भी होसकता है। इसी लिये इसे एक अनर्थदंडव्रतके अतीचारोंमें लिखदिया है और भोगोपभोगपरिमाणके मुख्य अतीचार दूसरे पांच है जो कि आगे लिखेंगे।

---

१ यावतार्थेनोपभोगपरिभोगो सोर्थ । ततोन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम् । २ रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः। ३ रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमशिष्टवचनमित्येतदुभयं परत्र दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यम्। ४ अशालीनतया यत्किंचनानर्थकं बहुप्रलपनं मौखर्यम्।

५ " उपभोगपरिभोगव्रतेन्तर्भावात् पौनरुक्त्यप्रसंग इति चेन्न, तदर्थानवधारणात्। इच्छावशादुपभोगपरिभोगपरिमाणावग्रह सावद्यप्रत्याख्यान

त्रीणि दुष्प्रणिधानानि वाङ्मनःकायकर्मणाम्। अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पंच ते ॥१४॥

अर्थ—वचन, मन व कायको ठीक सावधान न रखना ये तीन अतीचार हुए, १ वचन दुष्प्रणिधान, २ मनोदुष्प्रणिधान, ३ कायदुष्प्रणिधान। ४ सामायिकके करनेमें आदर न रखना सो अनादर कहता है। ५ सामायिक कब करना है इस बातका स्मरण नहीं रखना सो स्मरणानुपस्थान कहाता है। ये पांच सामायिकके अतीचार हैं।

मन वचन तथा शरीरको सावधान रखनेपर भी सामायिकका भंग तो नहीं होता परन्तु जितनी वीतराग अवस्था तथा सकल पापोंका अभाव और अप्रमादीपना प्राप्त होनेके लिये सामायिक व्रत स्वीकार किया जाता है उतना फल उक्त असावधानी रखनेपर प्राप्त नहीं होसकता है। इसीलिये ये तीनो दोष अतीचारोंमें गर्भित किये गये हैं। अनादर होनेसे भी यही बात होती है इसलिये वह भी अतीचारोंमें माना गया है। सामायिककी विधि पूर्ण नहीं होपाती यह हानि तो पांचो ही अतिचारोंसे होना सम्भव है। सामायिकमें यदि अतीचार होसकते हैं तो इसी प्रकारके होसकते हैं। यदि मनुष्य निरन्तर अथवा प्रतिदिन अपने नियत समयपर ध्यान करना चाहें तो वह कुछ दिन बाद प्रायः उस ध्यानके करनेमें प्रेमयुक्त नहीं रहसकेगा और न उत्साही ही रहसकेगा और इसीलिये संभव है कि कभी कभी वह अपने नियत समयपर ध्यानको भूल भी जाया करै, अथवा मन, वचन तथा शरीरको ठीक ठीक न लगावै। परन्तु व्रतमें ये बातें होनेसे फलप्राप्ति यथावत नहीं होगी यह समझकर आचार्य इसमें मन्दोद्यमी न होने देनेकेलिये ऊपरके पांच अतीचार-दोष दिखाते हैं।

मनं स्थिर न रखना किन्तु आत्मतत्त्वादिका शुभ चिंतवन जो करना चाहिये वह न करके मनको विषयोंमें लगाते रहना सो मनोदुष्प्रणिधान है। पाठ ठीक ठीक न बोलना—जल्दी पूरा करना, अशुद्ध बोलना, कुछ पाठ छोड देना सो वचन दुष्प्रणिधान है। शरीरको स्थिर—निश्चल न रखना, आसनच्युत होना, इधर उधर सरक जाना सो सब कायदुष्प्रणिधान है।

चेति तदुक्तम्। रह पुनः कल्प्यस्यैव आधिक्यमित्यतिक्रम इत्युच्यते। नन्वेवमपि तद्व्रतातीचारान्तर्भावादिद वचनमनर्थकम्। नानर्थक, सचित्तायति-क्रमवचनात्।” यह जो राजवार्तिकमें लिखा है उसका भी प्राय ऊपरकासा ही अभिप्राय है। १ दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दुष्प्रणिधानम्।

मनका दुष्प्रणिधान और स्मरणानुपस्थान ये दोनो अतीचार एकसे जान पडेंगे परन्तु सूक्ष्मभेद अवश्य है। यह कि, प्रकरणके विषयमेंसे कभी हटजाना और कभी उसमें लगजाना—ऐसी व्यग्रताको स्मरणानुपस्थान[1] कहते हैं और मनोदुष्प्रणिधान यह है कि प्रकृत विषय छोडदेना दूसरा कुछ भी चिंतवन नहीं करना। यदि करने लगे तो उस प्रकृत विषयका ही करेगा, परन्तु प्रकृत विषयके सम्बन्धसे क्रोधादि कषाय उत्पन्न होजांयगे। यह दोनोका अन्तर है।

प्रोषधोपवासके अतीचार—

संस्तरोत्सर्जनादानमसंदृष्टाप्रमार्जितम्। अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पंच ते ॥ ९५ ॥

अर्थ—(१) न देखकर तथा न झाडपोछ कर विछोना काममें लाना सो एक अतीचार है। इसका नाम अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रम[2] है। (२) अर्हंत—आचार्यकी पूजा सामग्रीको उठाते समय न देखना तथा झाडपोंछ न करना यह दूसरा एक अतीचार है। इसका नाम अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। अपने भोगोपभोगकी सामग्री जो वस्त्रपात्रादि अथवा कपडे लत्ते आदि हों उन्हें भी उठाते समय देख भाल न करनेसे और झाडपोछ न करलेनेसे यही अतीचार लगता है। (३) हगना मूतना इत्यादि कामोंको न देख भाल कर ही करना सो उत्सर्ग या उत्सर्जन नाम अतीचार है। ४) सामायिकादि आवश्यक कार्योंमें अनुत्साही होजाना सो अनादर नाम अतीचार है (५) धर्मकार्योंमें चित्त स्थिर न रखना=मनको व्यग्र करदेना सो स्मृत्यनुपस्थान नाम अतीचार है। सब पांच अतीचार हैं। ये प्रोषधोपवास करनेवालेको लगते हैं।

क्षुधासे पीडित होनेपर उत्साह अवश्य ही घटना संभव है। उत्साह जब घटेगा तो साथ ही किसी चीजके धरने उठानेमें सावधानी कैसे रहसकती है? सावधानी न रहनेके ही ये लक्षण हैं कि विस्तर न देखभाल कर ही इधर उधर रखदेना तथा किसी अपने उपयोगकी चीजको या धर्मोपकरणकी चीजको धरते उठाते सावधानी या जीवबाधा बचानेकी तर्फ लक्ष्य न रखना। देखकर तथा झाडपोंछकर चीज उठाने धरनेसे सावधानी रहती है, जीवदया पलती है मलमूत्रके क्षेपनेमें भी उक्त असावधानी उपोषितके हाथसे होना अवश्य संभव है।

---

१ अनैकाग्र्यस्मृत्यनुपस्थानं। मनोदुष्प्रणिधानं तदिति चेन्न, तत्रान्याचिन्तनात्। तत्र हि अन्यत् किंचिदचिन्तयं दिचन्तयतो वा विषये क्रोधाद्यावेश औदासीन्येन वाऽवस्थानं मनसः। इति वा०

२ ये सर्व नाम अर्थके अनुसार रक्खे गये हैं और नामोंका अर्थ वही है जो कि लक्षणोंमे लिखागया है।

सचित्तस्तेन संबन्धस्तेन संमिश्रितस्तथा । दुष्पक्वोऽभिषवश्चैवमाहाराः पंच पंच ते ॥ १६ ॥

अर्थ—भोगोपभोगपरिमाणनाम व्रतका श्रीसमन्तभद्रस्वामीने ऐसा अर्थ किया है कि इंद्रियविषयोंका परिमाण या मर्यादा करना सो भोगोपभोगपरिमाणव्रत है[1]। आवश्यक चीजोंमेंसे भी कम करते रहना यह भी इसी व्रतका स्वरूप है[2]।

भोगोपभोग ये दो बाते हैं[3] १ भोग व २ उपभोग। जो चीज भोगकर छोड़नेयोग्य होजाय वह भोग कहाता है। वार वार जो चीज भोगी जासकती हो वह उपभोग है। भोग, जैसे भोजन। उपभोग, जैसे कपड़े।

जब कि भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें एक वार तथा अनेक वार भोगने योग्य—दोनो ही प्रकारकी चीजे छोड़ी जाती हैं तो दोनोही प्रकारकी चीजोंके त्यागमें जो मलिनता प्राप्त होसकती है उसे अतीचार कहना चाहिये। इसीलिये श्रीसमन्तभद्रस्वामी इस व्रतके[4] अतीचार यों गिनाते हैं कि १ विषयोंसे उपेक्षा होना २ विषयोंका वार वार स्मरणकरना ३ विषयोंमें अत्यंत लोलुपी वने रहना, ४ विषय संग्रह की तृष्णा अधिक रखना ५ विषयोंका वार वार अनुभव—चिंतवन करना ये पाच अतीचार उक्त व्रतके हैं।

यह वात दूसरे ग्रंथकारकी हुई। परंतु श्रीतत्त्वार्थसूत्रके कर्ता तथा तदनुसार लिखनेवाले श्रीअमृतचन्द्रसूरि अपने उपयुक्त तत्त्वार्थसारमें जो अतीचार लिखरहे हैं वे भोगकी मुख्यतासे अथवा भोजनकी अपेक्षासे। इसका कारण यह है कि भोजनकी चीजे कम तथा मर्यादित होजानेसे उक्त व्रतमें विशुद्धि अधिक प्राप्त होसकती है। दूसरा कारण यह भी है कि उपभोगकी मर्यादा प्रथम ही समाप्तसी होजाती है परंतु भोगका संबंध ग्यारहवीं प्रतिमातक रहता है। तो फिर जो ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक हो वह उपभोगके त्यागमें खुलासा गड़बड करे तो क्या करै। इसलिये खानेकी चीजोंमें जो गडबड

---

१ अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्। अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥ ८२॥ २ आवश्यक चीजोंमेंसे जो घटना है वह यमरूप भी होसकता है ओर नियमरूप भी होसकता है। यमनियमका लक्षणः—नियमो यमश्च द्वेधा विहितौ भोगोपभोगसंहारात्। नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ८७॥ ३ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनप्रभृति पाचेन्द्रियो विषयः ॥ ८३ ॥ ४ विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ। भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥ ९० ॥

होना संभव है वह यहां लिखी है श्रावक पांचवीं प्रतिमाके समय सचित्त वस्तुओंके भक्षणका त्याग करदेता है और गरिष्ठ तथा स्वादिष्ट भोजनसे तो सदा ही वह उपेक्षित रहता है। इसलिये सचित्त गरिष्ठ, व स्वादिष्ट भोजनके खानेसे अतीचार दोष लगना संभव है। देखो—

(१) सचित्त[1] वस्तुका खाना, (२) सचित्तसे[2] संबंध रखनेवाले भोजनका खाना, (३) सचित्तसे मिला[3] हुआ भोजन करना, (४) अभिषव[4] भोजन करना, (५) दुष्पक्व भोजन करना ये पांच भोगोपभोगपरिमाणके अतीचार हैं।

चित्त नाम ज्ञानका है। सचित्तका अर्थ ज्ञानवान् चेतन प्राणी होता है। अर्थात्, जो वस्तुएं देखनेमें तो पुद्गल जड रूप ही दीखती हों परंतु जीवका संबध उनमें अवश्य हो उन्हे सचित्त वस्तु कहते हैं। पानी व यावत् वनस्पतियोंकेलिये यह शब्द काममें आता है। यद्यपि त्रस जीवका शरीर भी सचित्त कहाता है परंतु उसके घातका त्याग प्रथम श्रेणीका श्रावक ही करचुकता है इसलिये उस त्रस सचित्तका अर्थ लेना यहां आवश्यक नहीं है। हां, पानी व वनस्पतिका भोजनमें ग्रहण होना संभव है और वह यदि सचित्त हो तो वह भी त्याज्य है—हेय है। यही अभिप्राय दिखानेकेलिये सचित्तको अतीचारोंमें गर्भित किया है।

सचित्तसे संबंध रखनेवाले पदार्थको खानेसे अतीचार दोष लगेगा परंतु सचित्तसे मिले हुए भोजनके करनेसे और केवल सचित्तभोजन करनेसे तो अतीचार न लग कर व्रतभंग होना चाहिये? यह शंका होना संभव है परंतु अज्ञानवश या कदाचित् ऐसा होनेसे व्रतभंग नहीं होसकता। जैसे कि एक कच्चा फल है और उसे पक्का समझकर खालिया हो तो व्रतभंग नहीं होगा।

अभिषवका[5] अर्थ द्रवपदार्थ और गरिष्ठ पदार्थ होता है। सौवीरादिक जो कि बहुत दिनोंसे रक्खी हुई पतली औषधि आदि पतली चीजें हों उनको द्रवशब्दसे लेते हैं; रवड़ी, दही, वीर्यवर्धक औषधि या लड्डू इत्यादि चीजोंको गरिष्ठ कहते हैं। ऐसी चीजोंके सेवनसे अभिषवाहार नाम दोष लगता है।

---

१ चित्तं विज्ञानम्। तेन सह वर्तत इति सचित्तः। २ तदुपश्लिष्टः संबन्धः। संबध्यते इति संबंधः ३ तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः। ४ कथं पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः? प्रमादसंमोहाभ्याम्। क्षुत्पिपासातुरत्वात्त्वरमाणस्य अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति। (इति वार्तिकालंकारे) ५ द्रवो वृष्य वाभिषव। द्रव सौवीरादिक।

ठीक न पके हुएको दुष्पक्व[1] कहते हैं। जैसे, चावल ऊपरसे पक गये हों पर भीतरका कन कच्चा रहा हो तो वह दुष्पक्व कहावेगा। इसीप्रकार एक कच्ची वनस्पतिको रांधकर पकाना हो और उसे थोड़ासा रंधने पर ही यदि उतार लिया जाय तो उसे दुष्पक्व कहेंगे। ऐसी चीजोंके खानेसे सचित्तभक्षणका और प्रमाद बढनेका दोष लगता है। ऐसा भोजन करनेसे वातादि रोगोंका प्रकोप भी कभी २ हो जाता है जिससे कि अकालमरण और धर्मविघात हो जाता है।

समन्तभद्रस्वामीने कंदमूलादिक[2] चीजोंका त्याग भी भोगोपभोगपरिमाणके अन्तर्गत रक्खा है। क्योंकि जो श्रावक भोगोपभोगकी मर्यादा कर रहा है उसे चाहिए कि जितना जंतुविघात कम होकर उदर निर्वाह हो सकता हो उतना जंतुविघात कम करै। कंदमूलादिके भक्षणका फल तो उतना ही है जितना कि प्रासुक वस्तु खानेका, परंतु जंतुविघात अधिक होता है इसलिये कंदमूलादिका त्याग अवश्य होना चाहिये। ऐसा करनेसे इन्द्रियोंकी लोलुपता भी कम हो जाती है। यद्यपि पकने पर कंदमूलादिक वनस्पति हैं इसलिये प्रासुक हैं परंतु जंतुविघातका पाप तो पकानेकी क्रियामें लगता ही है।

समंतभद्रस्वामीने मद्य, मांस व मधुका त्याग अष्ट मूल गुणोंमें[3] भी कराया है और भोगोपभोगपरिमाण व्रतके समय[4] भी कराया है। अष्ट मूल गुण पंचमगुणस्थानके प्रारम्भसे भी पहिले होजाते हैं और भोगोपभोगपरिमाणका होना पंचम गुणस्थानके प्रारंभ होजाने पर संभव है इसलिये मद्य, मांस व मधुका त्याग कब करना चाहिये?

इसका उत्तर यों होसकता है कि—मद्यादिकोंका त्याग तो मूल गुणोंके समयमें ही होजाना चाहिये। परन्तु रात्रिमें बना हुआ भोजन दिनमें खानेवालेको जो मांसभक्षणका सूक्ष्म दोष प्राप्त होसकता है, आसव[5] औषधियोंके खानेसे जो

---

१ असम्यक् पक्वो दुष्पक्वः। (इतिवार्ति०) २ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ सुक्कं तत्तं पक्कं अम्मिललवणेन मिस्सियं दव्वम्। जं जंतेण य छिण्णं तं फासुयं भणियम्॥ इति कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीकायां गोम्मटसारटीकायां समयसारटीकायां चैतदभिप्राय उक्त। ३ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकं। अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ ६३॥

४ त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये। मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥ ८४॥

५ 'द्रवः सौवीरादिकोऽभिषवः' अर्थात् अभिषवनाम अतीचारका अर्थ लिखते समय राजवार्तिकमें सौवीरादि द्रव वस्तुओंको अभिषव बताया है। सौवीरादिक आसवके भेद हैं और आसवका अर्थ मद्य है। परन्तु सौवीरादिक वे आसव होते हैं कि जिनको औषधियोंमें गिना जाता है। उनके सेवनको मूल ग्रन्थकार अतीचार कहते हैं। और समतभद्रस्वामी भोगोपभोगपरिमाणमें ही इनका संग्रह कराकर पांच अतीचार दूसरे ही गिनाते हैं—यह बात लिखी जाचुकी है। यह बात भोगोपभोगपरिमाण सम्बन्धी मद्य त्यागकी हुई। मद्यके समान नवनीत, नीमका फूल, केवडाकी बाल इत्यादि चीजें भी त्रसघातादि दोष छोडनेकेलिये छोडनी चाहिये। समंतभद्र स्वामीका यह उपदेश है।

मद्य पानका सूक्ष्म दोष प्राप्त होसकता है, और लेपनादि औषधियोंमें मधुको काममें लानेसे जो मधुभक्षणका सूक्ष्म दोष प्राप्त होसकता है वह दोष भोगोपभोगपरिमाण वृतवाले मनुष्यको अवश्य टालना चाहिये । इस अभिप्रायको दिखानेके लिये भोगोपभोगपरिमाणमें मद्यादि त्यागका वर्णन है । फलितार्थ यह हुआ कि मूल गुणोंमें स्थूलत्याग होता है और भोगोपभोगपरिमाणमें सातीचार सूक्ष्मका भी त्याग हो जाता है ।

राजवार्तिकमें भी मद्यमांसादिका त्याग भोगोपभोगपरिमाणके समय लिखा है ।

पेटमें जाकर जो भोजन शीघ्र न पच सकता हो उसे कुछ लोग दुष्पक्व कहते हैं परन्तु यह अर्थ दुष्पक्व शब्दका नहीं है किंतु अभिषवनाम जो अतीचार लिखागया हैं उसका यह अर्थ होता है । यदि दुष्पक्व शब्दका ऊपर वाला अर्थ मानना इष्ट होता तो शब्द दुष्पक्व नहीं बन सकता था किंतु दुष्पच शब्द होजाता । दुष्पच शब्दका ही वैसा अर्थ होता है ।

अतिथिसंविभागके अतीचार—

कालव्यतिक्रमोन्यस्य व्यपदेशोथ मत्सरः । सचित्ते स्थापनं तेन पिधानं चेति पञ्च ते ॥९७॥

अर्थ—अतिथिका अर्थ साधु या तपस्वी होता है । साधुओंको भोजन देना सो अतिथिसंविभाग कहाता है । यह भी गृहस्थियोका सातशीलोंमें अंतिम एक शीलव्रत है भोजन शुद्ध देना और समय पर देना, भक्तिपूर्वक देना यही इस वृत की शुद्धि है शुद्ध भक्तिपूर्वक तथा यथा समय पर न देना यही इस व्रतकी मलिनता है।इस मलिनताको पांच भांतिका गिनाया है, १ कालव्यतिक्रम, २ अन्यव्यपदेश, ३ मत्सरता, ४ सचित्तनिक्षेप, ५ सचित्तपिधान ।

१ साधुओंका भोजनार्थ बारह बजे तक दिनमें भ्रमण होना संभव है । अथवा जब कभी साधु भोजनकी तलासमें आते हों तभी उन्हे भोजन देना चाहिये । परंतु भोजनके लिये उन्हें बुलाकर बैठालकर दूसरे कामोंमें लगजाना और बहुत समय बिताकर भोजन देना यह कालातिक्रम दोष है । कालव्यतिक्रम व कालातिक्रमका एकही अर्थ है २ दूसरे कामोंकी व्यग्रता रहनेसे साधुओंको भोजन देनेमें स्वयं न लगना किंतु किसी दूसरेके हाथसे दिला देना या देनेको कह

१ भोगसंख्यानं पंचविध त्रसघातप्रमादबहुबधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । इसके पाचो भेदोंका खुलासा रत्नकरण्डमे लिखा है ।
२ वृष्यो वाऽभिषव । ३ ननु दुष्पच इति प्राप्नोतीति तन्न, किं कारणम् [?] कृच्छ्रार्थविवक्षाभावात् ॥ [इति वार्ति०]
[४] अनगाराणामयोग्यकाले भोजन कालातिक्रम । ५ अन्यदातृदेयार्पण परव्यपदेश । अन्यत्र दातारः सन्ति दीयमानोप्ययमन्यस्येति वा अर्पण परव्यपदेश (इति वार्तिक०)

देना सो परव्यपदेश दोष है। ३ कोई दूसरा गृहस्थ साधुओंको भोजन दे दे या देता हो तो उसके साथ ईर्ष्या करना अथवा अनादरके साथ भोजन देना सो मत्सर दोष कहाता है। ४ सचित्तनिक्षेप या सचित्तपिधान उस दोषका नाम है कि जो किसी सचित्त चीज पर भोजनकी सामग्री रख दी जाय। साधुओंके सचित्त वस्तुओंके खानेका तथा सर्वप्रकार के उपभोगका त्याग होता है क्योंकि साधु सर्वथा हिंसात्यागी होते हैं, और सचित्त वस्तुओंमें एकेन्द्रियजीवका संबंध रहता है जिसका कि उपभोग करनेसे विध्वंस हो जाता है। इसलिये सचित्त किसी पत्तेपर रक्खा हुआ भोजन देना भी दोष है। और यह दोष दातारको लगता है, क्योंकि, देनेवालेका यह काम है कि भोजनको शुद्ध रक्खै। अशुद्ध समझते हुए ले लेना यह दोष साधुका होगा परंतु उसके दिखानेका प्रकरण नहीं है। ५ भोजनको सचित्त पत्तेसे ढककर रखना और वह भोजन साधुको देना सो सचित्तपिधान नाम दोष है। सचित्त वस्तुओंको भोजनमें मिला देना यह भी अतिथिसंविभागका छट्ठा दोष हो सकता है और दूसरे भी इसी प्रकारके बहुतसे दोष संभव हैं परंतु यह हम लिख चुके हैं कि पांच पांच मुख्य दोष प्रत्येक व्रतके विषयमें दिखा दिये गये हैं और शेष दोष सभी जगह ऊपरसे समझ लेने चाहिये इसलिए पांचके सिवा यदि और दोष भी हों तो कुछ हानि नहीं है।

श्रीसमतभद्रस्वामी कालातिक्रम दोषको न लिखकर असमरण दोष लिखते हैं। असमरण अर्थात् भूल जाना। भावार्थ एक ही है। किसी दूसरे काममें लगजानेसे योग्य कालका विलंब हो जाना सभव है। स्मरण न रहनेसे भी कालका विलंब ही होगा। अन्यव्यपदेश दोषके स्थानमें अनादर दोष लिखते हैं। मत्सरताका लक्षण राजवार्तिकमें अनादर किया गया है परंतु मत्सरता दोष एक जुदा ही समंतभद्रस्वामीने माना है। इसलिये यह समझना चाहिये कि अनादर होने पर व्यपदेश कार्य है और अनादर कारण है तत्त्वार्थसूत्र तथा इस तत्त्वार्थसारमें परव्यपदेश ही गिनाया गया है, और समंतभद्रस्वामीने कारणकी मुख्यतासे अनादरको गिनाया है। अथवा किसी अपेक्षासे भी मानिये परंतु कालातिक्रम तथा परव्यपदेशके स्थानमें अनादर व अस्मरण ये दो नाम समंतभद्रस्वामीने लिखे हैं।

सल्लेखनाव्रतके अतीचार—

पंचत्वजीविताशंसे तथा मित्रानुरंजनम्। सुखानुबन्धनं चैव निदानं चेति पंच ते ॥९८॥

१ सचित्त = सजीव हरे पत्ते फल, फूल इत्यादि। २ हरितपिधाननिधाने ह्यनादराऽस्मरणमत्सरत्वानि। वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥१२१॥
३ प्रयच्छतोऽप्यादराभावो मात्सर्यम्।

अर्थ—मरनेमें विलंब समझकर शीघ्र मरनेकी इच्छा करना सो मरणाशंसा नाम सल्लेखनाका अतीचार है। २ शीघ्र मरण होता हुआ जानकर कुछ और भी अधिक जीनेकी आकांक्षा करना सो जीविताशंसा नाम अतीचार है ३ मरते हुए भी अपने मित्रोंके साथका अनुराग न छूटना सो मित्रानुराग नाम अतीचार है। वाल्यावस्थामें जो मित्रोंके साथ क्रीडा की थी, धूलमें लोटते थे वह सब याद आनेसे मित्रानुराग उत्पन्न होता है। खानेके, पीनेके, सोनेके क्रीडा करनेके निमित्तसे जो सुखका अनुभव गृहस्थाश्रममें किया था उसका वार वार चिंतवन करना और उस सुखको चाहना सो सुखानुबंधनाम अतीचार है। ५ निदान नाम पांचवां अतीचार है। विषयसुखोंकी वढवारी होनेकी अभिलाषा उत्पन्न होने पर जो विषय भोगोंमें मनका आसक्त होजाना सो निदान है।

सल्लेखनाके विषयमें लिख चुके हैं कि यह महाव्रती अव्रती अणुव्रती सभीको हो सकती है जो पहिलेसे महाव्रती या अणुव्रती हैं उनको सल्लेखनामें निदानादि अतीचार प्राय संभव ही नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, निदान यह एक शल्य है और शल्यसहित जीन वृती नहीं हो सकता है। इसलिए जो निदान शल्य उत्पन्न होगा वह व्रतोंको ही मलिन कर देगा। शल्यका त्याग व्रतमात्रके लिये उपयोगी है इसलिए यदि इसे अतीचार कहना था तो सभी व्रतोंका अतीचार वताते। परंतु ऐसा लिखा नहीं है। इसलिये निदानको एक सल्लेखनाका अतीचार वताना यह मतलव जताता है कि सल्लेखनाके समय तो अवश्य ही निदानका त्याग करदेना चाहिए, नहीं तो जन्मभरका प्रयत्न निष्फल हो जायगा।

इसके सिवा जो अव्रती है वह यदि मरण समयमें सल्लेखना धारण करै तो उसकी सल्लेखनामें अहिंसादि पूर्वकथित सर्व व्रत संगृहीत होजाते हैं। क्योंकि, सर्व वृतोंके अभेदरूपसे सल्लेखना व्रतका स्वरूप प्रगट होता है। इसलिए जब कि व्रतोंकी शुद्धि निदान छोडनेसे होसकती है तो सल्लेखनाकी शुद्धि भी निदानके छोडनेपर ही होगी। यह वतलानेके लिये भी निदानको सल्लेखनाका अतीचार कहा है। शेष रहे जो चार अतीचार वे भी निदानके तुल्य विषयासक्तिके द्योतक हैं इसलिये दोष हैं।

सम्यक्त्व, पांच अणुव्रत, सात शील और सल्लेखनाके पांच पांच अतीचार लिख चुके। अधिक जो अतीचार हो सकते हों उनका विचार ऊपरसे करना चाहिये।

विषयभोगोंकी इच्छापूर्वक त्यागमर्यादाका नाम व्रत है। यह व्रत लक्षण पांचो अणुव्रतोंमें जिस प्रकार संभव है उसी

प्रकार शील तथा सल्लेखनामें भी संभव है। इसलिये शील तथा सल्लेखना भी व्रतसे कोई जुदी चीज नहीं हैं। तो भी शील तथा सल्लेखनाको जुदा गिनाना किसी प्रयोजनकेलिये है। सल्लेखनाका प्रयोजन सल्लेखना वर्णनके समय लिख चुके हैं। शीलोंका प्रयोजन व्रतरक्षा है। व्रतोंकी रक्षाके उपाय अथवा प्रकार दिग्विरति आदि सात शील हैं। इसीलिये 'व्रतोंकी रक्षा' या 'रक्षाके उपाय' यह शीलोंका लक्षण है।

सातवां शील अतिथि संविभाग[1] है। पहिले लिख चुके हैं कि दानको ही अतिथिसंविभाग कहते हैं। इसलिये दानका स्वरूप लिखते हैं—

परात्मनोरनुग्राही धर्मवृद्धिकरत्वतः। स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नाम गृहिव्रतम् ॥ ९९ ॥
विधिद्रव्यविशेषाभ्यां दातृपात्रविशेषतः। ज्ञेयो दानविशेषस्तु पुण्यास्रवविशेषकृत् ॥ १०० ॥

अर्थ—अपना और दूसरोंका जिससे हित होसके, जिस धर्मकी वृद्धि होसके, ऐसा जो दान वह गृहस्थियोंका एक मुख्य व्रत है। उसीको अतिथिसंविभाग भी कहते हैं। इसका लक्षण यों है कि जो अपने धन[3]का परित्याग स्वपरहितके लिये हो, धर्मवृद्धिका कारण हो वह दान है। विधि, द्रव्य और दाता, पात्रकी विशेषतासे दानका स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारका हो जाता है और इसी कारण उस दानसे जो पुण्यका संचय होता है वह भी नाना भांतका होता है।

श्रीजिनसेनस्वामी दानको चार[4] प्रकारका बताते हैं; १ दया[5]दान, २ पात्र[6]दान, ३ सम[7]दान, ४ अन्वयदान। अनुग्र-

---

१ अभिसंधिपूर्वको नियमो व्रतमिति कृत्वा दिग्विरत्यादीन्यपि व्रतानि भवन्ति। किन्तु 'व्रतपरिरक्षणं शील' इत्यस्य विशेषस्य द्योतनार्थं शीलग्रहणम्। [इति वार्ति०] २ उक्तं शीलव्रतविधानेऽतिथिसंविभाग इति तस्य दानस्य लक्षणमनिर्ज्ञातं तदुच्यतामित्यत आह। (इति वार्ति०) 'स्वशब्दो धनपर्यायवचनः' अर्थात् धन शब्दके अनेक अर्थ होते हैं परन्तु 'धन' अर्थ यहां पर लेना इट है, ऐसा राजवार्तिककार लिखते हैं। आगे लिखेंगे कि अभयदानादि योगियोंमें भी सभव हैं परन्तु यहा गृहस्थका प्रकरण है इसलिये धनका दान होना लिखा है। वसति आदिक धनके विना नहीं वनती इसलिये धन त्यागका अर्थ वसतिदानादि भी होगा।

४ चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयापात्रसमन्वये ॥ ५॥ वां श्लोक, महापु० पर्व ॥३८॥ ५ सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा। त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥ ३६ ॥ ६ महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरस्सरम्। प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥ ३७ ॥ ७ समानायात्मनान्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः। निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥ ३८ ॥ समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते। समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्त्या श्रद्धयान्विता ॥ ३९ ॥ महापु० पर्व ॥ ३८ ॥

हयोग्य दीन प्राणियोंपर कृपाकर जो उनका भय दूर करना सो दयादान है। करुणादान भी इसे कहते हैं। तपोधन साधुओंको जो भक्तिपूर्वक भोजन तथा कमण्डलु, पुस्तक आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं। गृहस्थ श्रावकको जो धनधान्यादि देना, भोजन कराना सो सब समानदान कहाता है। गृहस्थोंके आपसमें व्रत-मंत्र समान होते हैं इसलिये वे परस्पर समान कहाते हैं। समानोंको जो दान हो वही समानदान कहाता है। भावार्थ—विवाहादिके समय भोजन करना, कन्यादान करना--ऐसे दान समानदान कहाते हैं। ये दान परस्पर उन्हींमें होसकते हैं कि जिनकी रीतरिवाज, व्रतसंस्कार तथा मंत्रविधान समान हों। जिन जातियोंमें परस्परकी रीतरिवाज तथा व्रत-मंत्र समान नहीं मानेजाते उनमें पंक्तिभोजन व कन्यादान ये समानदान नहीं होसकते हैं। हां, किसी सम्यग्दृष्टी व्रती या अव्रती गृहस्थको धर्मबुद्धिसे जो भोजन कराना है वह पात्रदानका एक भेद है, न कि समानदान। पात्रोंके उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन भेद ग्रंथोंमें किये हैं। उनको जो केवल धर्मकी वृद्धिकेलिये भक्तिपूर्वक दान दिया जाता है वह पात्रदान है और जो लोकप्रवृत्तिके अनुसार परस्परमें देना है वह समानदान है। यह समानदान व पात्रदानमें परस्पर भेद है।

अपने वंशको स्थिर रखनेकेलिये जो धन तथा धर्मके साथ अपने समस्त कुटुम्बको पुत्रके अधीन करना सो अन्वयदान[1] है। अन्वयदानको सकलदान भी कहते हैं। इस प्रकार जो दानके चार भेद जिनसेन स्वामीने लिखे हैं उनके अन्तर्गत सभी दान आजाते हैं।

श्रीसमंतभद्र स्वामी जो दानके चार प्रकार बताते हैं वे पात्रदानके विषयोंकी अपेक्षासे हैं। (१) आहार[2] (२) औषध, (३) उपकरण [४] आवास ये चार देनेयोग्य विषय हैं। अर्थात्, भक्तिपूर्वक जो पात्रोंको दान दिया जाता है वह इन्ही चार चीजोंका दिया जाता है। जो कन्यादान आदि हैं वे लोकरीतिके अनुसार मानकर दिये जाते हैं अत एव वे समानदान हैं। जो उन कन्यादि दानोंको पात्र दान समझते हैं वह समझ मिथ्या है और अतएव पात्रदानकी अपेक्षासे ये कुदान हैं। इसीलिये पात्रदानोंमें इनका निषेध है।

१ आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः। समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनं ॥ ४ ॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात्। इति महापु० पर्व ॥ ३८ ॥ २ आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन। वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥ ११७ ॥ रत्नकरण्डके।

आहार व औषधका अर्थ प्रसिद्ध है। पीछी, कमण्डलु, पुस्तक, पथापरे इत्यादि धर्म साधनकी जो सामग्री हो उसका नाम यहां उपकरण है। साधु व त्यागी श्रावकोंकेलिये जो मठ, धर्मशाला वनवाना सो आवास नामका दान है।

समंतभद्रस्वामी जिनेन्द्रदेवकी पूजाको भी दानमें ही गर्भित करते हैं। देवाधिदेवके चरणोंमें जो पुजा की जाती है उससे सर्व दुःखोंका नाश और मनोवांछित इष्ट फलकी प्राप्ति होती है। एक पुष्प मात्रसे पूजाकी तयारी करनेवाले मेंढक ने राजगृहमें यह जगत् भरको दिखा दिया कि जिनपूजासे स्वर्गादि संपत्ति तकके फल मिल सकते हैं।

कहीं कहीं पर आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान ये भी दानके चार भेद कहे हैं। केवलियोंको दानांतरायका सर्वथा नाश होजानेसे क्षायिक दानशक्ति प्रगट होती है उसका मुख्य कार्य यही है कि संसारके शरणागत जीवोंको अभय प्रदान करै। इसलिये अभयदानकी पूर्णता केवलज्ञानियोंके हाथसे हो सकती है। इसी प्रकार ज्ञानदान भी दिव्यवाणी द्वारा तत्त्वोपदेश देनेसे भव्योंको प्राप्त हो सकता है इसलिये उसकी चरमसीमा केवली भगवानको प्राप्त हो सकती है। शेष जो दो दान रहे वे गृहस्थके ही मुख्य कर्म हैं।

दान देनेकेप्रकारको विधि कहते हैं। देने योग्य वस्तुको द्रव्य कहते हैं। देनेवालेका नाम दाता और लेनेवालेका नाम पात्र है। साधुको देखते ही भोजनके लिये भक्तिपूर्वक नम्रतासे बुलाना सो प्रतिग्रह कहाता है। आनेपर उच्चासन देना, पाद प्रक्षालन करना, पूजा करना, प्रणाम करना, मनोयोग-वचनयोग व काययोगको शुद्ध रखना तथा भोजनको शुद्ध रखना ये नौ विधानोंको विधि[2] कहते हैं। जिस भोजनमें तप स्वाध्यायके साधनेकी जितनी अनुकूलता हो उतनी ही द्रव्यकी विशेषता[3] माननी चाहिये। दूसरे दातारोंके साथ ईर्ष्या न होना, दान देनेमें क्लेश न रखना, यदि दूसरा कोई दान देना चाहे या दे रहा हो तो उसके साथ प्रेमका व्यवहार करना, पुण्य कर्मको अच्छा समझना, दृष्ट फलोंकी चाह न रखना, निदान न करना ये गुण दातामें जैसे हीनाधिक हों वही दाताकी विशेषता[4] है। सम्यग्दर्शनादि मोक्षकारणों

---

१ देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणं। कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ ११९ ॥ अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्। भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥ 'दाण पूजामुक्खो सावयधम्मो' इत्यादि वचनोंसे भी देवपूजा व वैयावृत्य-यह गृहस्थका मुख्य धर्म सिद्ध होता है।

२ पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणवणं च। मणवयणकायशुद्धिमेसणशुद्धिं च विधिमाहुः ॥ ३ तप स्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः।

४ प्रतिग्रहीतरि अनसूया, त्यागेऽविषादो, दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलाभिसंधिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादिर्दातृविशेषः।

की जैसी हीनाधिकता दान लेनेवालेमें हो वही पात्रकी[1] विशेषता है। इन चार बातोंके तारतम्यसे दानद्वारा प्राप्त होने-वाले फलमें अंतर[2] पडता है।

आस्रवका उपसंहार—

हिंसानृतचुराब्रह्मसंगसन्यासलक्षणम्। व्रतं पुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपंचितं ॥१०१॥

हिंसानृतचुराब्रह्मसंगसन्यासलक्षणम्। चिन्त्यं पापास्रवोत्थानं भावेन स्वयमव्रतं ॥१०२॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रहके त्यागको व्रत कहते हैं। ये व्रत पुण्यास्रवके कारणरूप भाव समझने चाहिये। इसलिये इन व्रतोंको भावास्रव कहते हैं। जो कर्मास्रवके कारणरूप परिणाम होते हैं उन्हींको भावास्रव कहते हैं। हिंसादि पापोंके त्यागनेसे जो व्रतरूप परिणाम होते हैं वे पुण्यास्रवके कारण हैं इसलिये उन्हें भावपुण्यास्रव कहना चाहिये।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रहके साथ जो आसक्ति है वह पापास्रवका कारण है इसीलिये उसे छोडना चाहिये। परिणामोंमें जो विषयोंसे हिंसादि पापों से उदासी प्राप्त नहीं होती उसे अव्रत कहते हैं और उसकी प्राप्ति स्वयमेव होती है। आत्मज्ञान न होनेसे विषयोंमें जो मोह हो रहा है वह अनादिका है। यह मोह या अव्रतकी अवस्था एक प्रकार का परिणाम या भाव है इसलिये इसे पापकर्मका भावास्रव कहते हैं। अथवा हिंसादि पापोंको भावोंसे छोडना सो व्रत है वह पुण्यास्रवका कारण है और अतएव ग्राह्य है। किंतु जो हिंसादि पापोंमें भावपूर्वक प्रवृत्ति है वह हेय है और पापास्रवका कारण है।

पुण्यपापोंका परस्पर भेद—

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः। हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ॥१०३॥

अर्थ—पुण्य व पापके निमित्त भी जुदे २ माने गये हैं और कार्य भी जुदे होते हैं इसलिये पुण्य व पापको परस्पर जुदा मानना चाहिये। देखो! पुण्योत्पत्तिके कारण शुभ परिणाम माने गये और अशुभ परिणाम पापसंग्रह होनेके कारण माने गये हैं अर्थात्, शुभ परिणामोंसे पुण्य और अशुभ परिणामोंसे पाप संचित होता है। ये पाप व पुण्यके कारण भिन्न भिन्न हुए। फल पुण्यका सुखप्राप्ति और पापका दुःख है। यह पुण्यपापके कार्योंमें भेद रहा। इसलिये पुण्य व पापको जुदा २ माना जाता है परंतु यह सब व्यवहारकी बात है। निश्चयमें तो,—

१ मोक्षकारणगुणसंयोग पात्रविशेषः। २ क्षित्यादिविशेषाद्बीजफलविशेषवत्।

संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः । न नाम निश्चये नास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ॥ १०४ ॥

अर्थ—आत्माका बंधन दोनोंसे ही होता है इसलिये निश्चय या परमार्थसे देखा जाय तो पाप पुण्य दोनों ही समान हैं—कुछ भी विशेषता या भेद नहीं है।

संसारके कारण कर्म हैं; क्योंकि, कर्मके सम्बन्धसे आत्मा परतन्त्र होता है और उस कर्मका उदय प्राप्त होनेपर औ-दारिक शरीर तथा इन्द्रियोंके बन्धनमें पडता है तथा ज्ञानादि गुणोंका घात करता है । इसीका नाम संसार है। इसका निदान कारण कर्म ही है। वह कर्म चाहें पुण्य हो और चाहें पाप, परन्तु बन्धके कारण सभी हैं। इसीलिये निश्चय नयसे पुण्य व पाप कर्ममें कोई भेद नहीं है।

व्यवहार नयके अवलम्बी यहां उन जीवोंको कहते हैं कि जो पाप कर्मसे पुण्यकर्मको कुछ अच्छा समझते हैं। क्योंकि पाप कर्मका उदय रहने पर जीव अशांति या दुःखमें फसे रहते हैं जिससे कि धर्मको धारण करनेकी तरफ सन्मुख होना कठिन पडजाता है। नरक–निगोदादिकी गतियां तीव्र पापकर्मके उदयसे प्राप्त होती हैं जहां कि धर्मका लाभ असंभव और अतिकठिन हो जाता है। इसी प्रकार और भी पाप कर्मके उदयोंका विचार किया जाय तो सर्वत्र यह मालूम होगा कि पापकर्म धर्मधारणाके तथा आत्मज्ञान होनेकेलिये बाधक है। यह बात दूसरी है कि जिन्हें आत्मज्ञान होजाता है वे पाप कर्मके उदयमें भी धर्मसे पराङ्मुख नहीं होते, परन्तु पापकर्म जहांतक होसकता है वहांतक धर्म धारनेमें बाधा ही उत्पन्न करता है और पुण्यकर्म धर्म धारनेकेलिये अनुकूल पडता है । क्षयोपशमादिक जो सम्यक्त्व प्राप्तिकी पांच लब्धियां हैं उनका भी यही अर्थ है कि पापकर्मोंका यथायोग्य क्षयोपशम हो और पुण्यकर्मोंका उदय हो इसीलिये जो आत्मसुख के वाञ्छक होते हैं वे पाप कर्मोंको नहीं चाहते और पुण्य कर्मको चाहते हैं। यह तो हुई ज्ञानियोंकी बात । परन्तु अज्ञानी जीव तो पापसे पुण्यको सदा ही अच्छा समझते हैं, क्योंकि, पाप कर्म इष्ट विषयोंकी प्राप्तिके बाधक होते हैं और पुण्य कर्म साधक होते हैं । संसारी जीव इष्ट विषयोंके ही वांछक होते हैं। इसलिये अपने अभीष्टके साधक पुण्य कर्मको चाहना सहज ही बात है।

सम्यग्दृष्टि यदि पुण्य कर्मोंको अच्छा समझता है तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है और जो सम्यग्दृष्टि है वह पुण्यकर्मोंको अच्छा

नहीं समझेगा। यहां शंका यह होगी कि सम्यग्दृष्टी भी विषयोंमें लगते हैं। उन्हें पुण्य कर्मोंको अच्छा समझनेसे जुदा क्यों माना जाता है! यदि वे पुण्य कर्मके वांछक नहीं होते तो विषयोंमें रत क्यों देखे जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि जब तक चारित्रावरण कर्मके उदयसे व्रती नहीं बनता तब तक अव्रतके नीच पदमें वह रहता है और तभी तक चारित्रावरणके उदयसे विषयोंमें प्रवृत्त भी होता है। परन्तु ऐसी विषयोंमें प्रवृत्ति रहते हुए भी वह पुण्य कर्मका वांछक नहीं होता है। यदि पुण्यका वांछक हो तो मिथ्यादृष्टियोंकी सुमारमें आजायगा। इसलिये पुण्यकर्मका अभिलाषी उसे बताना ठीक नहीं है। यह हुई शंका—

उत्तर—अव्रतसम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीमें अन्तर इतना ही रहता है कि मिथ्यादृष्टी अतितीव्र आसक्ति रखता है और सम्यग्दृष्टी मन्द। परन्तु जब तक चारित्रावरणका उदय रहता है तबतक विषयोंमें और विषयोंके कारणोंमें प्रवृत्ति अवश्य होती है ग्रंथकारका भी यह कहना है कि 'व्यवहारावलंबी जीव पुण्य व पापमें भेद मानते हैं और निश्चयावलंबी जीव दोनोंको एकसा हेय समझते हैं।' सम्यग्दृष्टी भी व्यवहारावलंबी तो होतेही हैं और अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहका उदय भी उनके रहता ही है तो फिर वे पापसे पुण्यको अच्छा क्यों न समझेंगे? हां रत नहीं होते हैं।

असली निश्चयावलंबी वे कहे जाते हैं जो कि शुक्लध्यानकी श्रेणीपर आरूढ होचुके हों या श्रेणीके सन्मुख हो चुके हों। अव्रती सम्यग्दृष्टी तो उस ध्यानकी श्रेणीसे बहुत ही नीचा रहता है। इसलिये उसे व्यवहारावलंबी ही कहना चाहिये। और फिर भी वह पुण्यको मोक्षका सहायक समझता है न कि चाहता है।

---

१ सर्वं तात्पर्यमत्रतद् दुःखं यत्सुखसंज्ञकं। दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनां॥ पञ्चाध्यायीपृष्ट ११२।

२ स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकं। तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान्॥ ३ सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यपदमाश्रितः। चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणं॥ तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात्। ४ तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः॥ [इति पंचा० पृष्ठ ११२]

पांचवां अधिकार ॥ ५ ॥

अथ बंधतत्त्वप्रकरण ।

मंगल और विषय प्रतिज्ञा—

अनन्तकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना बन्धतत्त्वं प्ररूप्यते ॥१॥

अर्थ—केवलज्ञानरूप अपरिमित प्रकाशद्वारा तीनों जगतको प्रकाशित करनेवाले जिनेंद्र भगवानको मस्तक नवाकर प्रणाम करते हैं और अब बन्धतत्त्वका वर्णन करेंगे। अर्थात् अब यह दिखावेंगे कि आत्माका कर्मके साथ बन्धन किसप्रकार होता है और वह कर्मबन्धन क्या चीज है ?

जीवका वास्तविक स्वरूप चैतन्य व अमूर्त है और जिन कर्मोंसे बन्ध होना मानते हैं वे कर्म जड व मूर्तीक हैं। मूर्तिक कहनेसे यह मतलब समझना चाहिये कि दीखने या अन्य बाह्य इन्द्रियों द्वारा छूने समझने योग्य हो। उसे जैनमतमें पुद्गलतत्त्व कहा है। उसका वर्णन विस्तारसे अजीवतत्त्वमें कर चुके हैं। उसकी साधारण पहिचान यही है कि जो बाहिरसे हमारे देखने जाननेमें आता है वही सब पुद्गलतत्त्व है। उसके कुछ सूक्ष्म परमाणुपिंड ऐसे भी स्वयं बनते रहते हैं कि जिनका आत्मा के साथ रागद्वेष मिलने पर बन्धन हो जाया करता है। बस ! उसी पुद्गलपिंडको कार्माण वर्गणा कहते हैं। ऐसी जो एक २ कार्माण वर्गणा होती हैं उसमें पुद्गलके परमाणु गिने जांय तो अनंतो ही होते हैं परन्तु तो भी वह इतना सूक्ष्मपिंड होता है कि कभी हम लोगोंके देखनेमें नहीं आ सकता। इसीलिये उसे सूक्ष्म कहते हैं। कुछ तरतमतालिये हुये वैसे ही सूक्ष्म और भी बहुतसे प्रकारके पुद्गलपिंड होते हैं परंतु सभी वे कर्मयोग्य नहीं हो सकते हैं। परमाणुओंकी संख्या और उन उन परमाणुओंकी परस्परकी बंधविचित्रता किसी एक प्रकारकी नियत है। वही परमाणु संख्या और वही बंधविचित्रता जिनमें होजाती हैं वे ही पुद्गलपिंड कर्म होनेके योग्य हो सकते हैं। वैसे कर्मयोग्यपिंड जगतमें इतर पुद्गलोंकी भांत तथा वायु आदिकी भांत सर्वत्र भरे रहते हैं और नये उपजते रहते हैं पुराने नष्ट भी होते रहते हैं सभी उन पिंडोंका जीवोंके साथ बंधन

होता ही हो यह नियम नहीं है। जिन पिंडोंके साथ जिस जीवके रागद्वेषका संबंध प्राप्त होता है वे पिंड उस जीवमें बंध जाते हैं। शेष यों ही बने रहते हैं और टूटते फूटते भी रहते हैं। इस प्रकार कर्मपिंडोंसे जीव सदा बंधता रहता है और जिस कर्मके बंधनकी अवस्था शिथिल होती जाती है वे कर्म आत्मासे सम्बंध छोडकर जुदे भी होते रहते हैं।

कर्मकी अनादिता।

कर्मबंधनकी यह दशा जीवके साथ कबसे प्राप्त हुई? इसका उत्तर यह है कि जीवोंकी यह दशा अनादिकालसे बनी हुई है। जो जीव तपोबलसे मुक्त हो जाता है कर्मबंधनसे छूट कर शुद्ध हो जाता है उसके साथ फिर कर्मबंधन प्राप्त नहीं हो सकता है। क्योंकि शुद्ध आत्माका स्वरूप आकाशकी भांत अमूर्त ठहराया गया है। इसलिये अमूर्त आत्माको मूर्त पुद्गल पिंड बांध नहीं सकता है। जिस प्रकार मुक्त हुए आत्माका फिर कर्मबंधन होना युक्तिसे बाधित है उसी प्रकार संसारी या जो बद्ध जीव हैं वे भी यदि कभी प्रथम अवस्थामें शुद्ध होते तो इनका बंधन होना असम्भव हो जाता। परन्तु बंधनकी दशा शरीरकी परतंत्रता देखनेसे स्वीकार करनी पडती है। शरीरकी परतंत्रतामें जीव तब तक नहीं रह सकता था जब तक कि किसी बंधनसे पराधीन न होता। बस, वह बंधन अनादिकालका सिद्ध होता है। अर्थात्, जीव की दशा अनादिकालसे बन्धनयुक्त ही चली आ रही है। पूर्व पूर्व बन्धन के कारण उस बंधनके सहारेसे दूसरे नये २ बंधन भी होते चले जाते हैं। जीव वास्तवमें अमूर्त होकर भी उस मूर्त कर्मके बंधनसे मूर्त माना गया है। इसीलिये उसका बंधन उत्तरोत्तर कालमें होता रहता है। ऐसा माननेसे युक्तिकी कोई बाधा आ नहीं सकती है। कुछ लोग जीवको जुदा न मानकर शरीरमें ही चेतनाकी उत्पत्ति होना मानते हैं परन्तु इस मत का खंडन जीव सिद्धि करते समय दिखा चुके हैं। जीव और कर्मोंके बंधनका यह संक्षिप्त स्वरूप है।

कुछ लोग कर्मोंको जीवका गुण-स्वभाव मानते हैं परन्तु गुण हो तो अपने आश्रयभूत जीवद्रव्योंमेंसे नष्ट कैसे हो सकेगा? मुक्तिके समय कर्मोंका नाश हो जाना तो सभी मानते हैं। गुणका नाश द्रव्योंमेंसे होने लगा तो गुणगुणीका एक

१ मूर्छितोऽनादितोष्टामिर्ज्ञानावृत्त्यादिकर्मभिः। बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवत् ॥ यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गल। द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात्संबन्धो जीवकर्मणोः ॥ द्वयोरनादिसंबन्धः कनकोपलसन्निभः। अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः ॥ तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः। बन्धाभावेथ शुद्धेपि बंधश्चेन्निर्वृतिः कथं। ततिसद्धः सिद्धसंबंधो जीवकर्मोभयोर्मिथः। सादिसिद्धेरसिद्धत्वादसत्संदृष्टितश्च तत् ॥ (इतिपंचा० पृष्ठ ९०)

अजहत्-शाश्वता संबंध जो न्यायसंगत माना जाता है वह न रह सकेगा और गुणोंका क्रमसे नाश हुआ तो अंतमें द्रव्य का भी नाश हो जाना मानना पडेगा, क्योंकि न्यायसे यह बात सिद्ध है कि गुणोंके समुदायके सिवा किसी भी द्रव्यमें दूसरी कोई चीज नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि, गुण चैतन्य भी है और कर्म भी है। जब कि कर्म गुणका नाश हो सकता है तो चैतन्य गुणका भी कभी नाश हो सकता है, क्योंकि, गुण सब समान हैं। इस प्रकार चैतन्य यदि नष्ट हो गया तो चैतन्य जीवका लक्षण है, लक्षणका नाश होने पर लक्ष्यरूप जीव कहांसे टिक सकता है?

इसलिये कर्मको जीवका गुण मानना ठीक नहीं है। कर्म तो एक ऐसा ही पदार्थ होना चाहिये जो कि जीवके स्वभावसे सर्वथा विरुद्ध हो और वह द्रव्य हो। जब कि वह द्रव्य होगा तो जीव भी द्रव्य है इसलिये द्रव्य द्रव्यका जो बंधन होगा वह समय पाकर छूट सकता है और विरुद्ध स्वभावका कर्म जब बँधेगा तो उसके विरुद्ध स्वभावका संपर्क होनेसे जीवका चैतन्यस्वभाव व अमूर्तस्वभाव तिरोहित होकर जडता व मूर्तता प्रगट हो जाना भी संभव है। जीवमें जडता प्रगट हो जानेका प्रमाण यह है कि शरीरमिश्रित वह दीख पडता है और वचन तथा चंचलता जो होती है वह भी जडताका तथा मूर्तताका उदाहरण है परंतु अशुद्ध जीवका उत्तरवर्ती कार्य है। मूर्तताका शरीर ही उदाहरण है। जीवके शरीररूप पर्यायमें जडता भी रहती है और मूर्तता भी रहती है। यह तो हुआ अशुद्धताका द्रव्यपर्याय। परंतु गुणपर्यायोंमें भी मूर्तता तथा जडता दीख पडती है। जीवमें जो रागद्वेष प्रगट होते हुए दीख पडते हैं और जो मति व श्रुतज्ञान होते हैं उन सबोंमें चैतन्य तथा अमूर्तत्व गुणका कुछ तिरोभाव हो जाता है और जडता व मूर्तता बढ जाती है। इसीलिये रागद्वेषके वश हुआ जीव दुःखी होजाता है, शरीरको क्षीण करलेता है और कभी कभी तीव्र कषायके वश शरीर-सुख ढलने लगता है। यदि रागद्वेष मूर्तीक व जडतायुक्त न हो तो जड शरीरपर ऐसे ऐसे आघात क्यों हों? छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान भी मूर्तीक मानने चाहिये; क्योंकि, मूर्तीक न हों तो इन्द्रियोंके अधीन न होने चाहिये, थे। एवं प्रत्यक्ष-परोक्षताकी विशेषता और विषयोंकी सीमा ज्ञानकी जडताको भी सिद्ध करती है। यदि छद्मस्थके ज्ञानमें जडता न हो तो यावत् प-

१ मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः। मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत्॥ न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवं। सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति॥ [पंचा० पृष्ठ ८७] अस्त्वमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः। मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत्॥ अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत्। न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात्॥ नासिद्धश्चोपचारोयं मूर्तं यत्तस्वतोपि च। वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः॥ [इति पंचा० पृष्ठ ९२]

दार्थोंको पूर्ण स्पष्ट जाननेकी शक्ति क्यों नहीं दीख पडती है ? क्योंकि 'ज्ञान' शब्दका अर्थ जाननेकी शक्ति है। उस शक्तिमें मर्यादा और अस्पष्टता उत्पन्न होना स्वाभाविक परिणाम नहीं होसकता। इसीलिये ये सर्व उदाहरण जड व मूर्तीक वस्तुके साथके बंधनको सिद्ध करते हैं। केवल जड व मूर्तीक भी ये शरीर तथा ज्ञानादि उदाहरण नहीं हैं—कुछ चैतन्य व अमूर्तीकता भी इनमें सिद्ध होती है—झलकती है। इसलिये जीवकी सत्ता भी माननी ही पडती है।

बंधनके हेतु क्या है ?

बंधस्य हेतवः पंच स्युर्मिथ्यात्वमसंयमः। प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदितः॥ २॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानने मिथ्यादर्शन, असंयम, प्रमाद, कषाय, व योग ये पांच बंधके कारण कहे हैं।

प्रथम ही आस्रवके प्रकरणमें योगको बंधका कारण लिखा है और साथ ही कषायको भी कारण लिखा है। इसप्रकार बंधके हेतु योग व कषाय ये दो हैं। योगोंको कर्मके प्रदेश संग्रह करानेमें कारण माना जाता है और कषायोंको कर्मत्वशक्ति प्रगट करानेमें कारण माना जाता है। ग्रंथांतरोंमें भी बंधके कारण ये दो ही बताये गये हैं। तो फिर ऊपर जो पांच कारण लिखे हैं उनका क्या संबंध है ?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—कारण योग व कषाय ये दो ही हैं और शेष जो कारण हैं वे कषायके ही भेद हैं। असंयम, प्रमाद व कषाय ये तीन तो कषायके भेद मानना स्पष्ट ही है रहा मिथ्यात्व सो उसका कषायमें संग्रह करते हुए मन कुछ संकुचित अवश्य होगा क्योंकि, कषाय चारित्र मोहनीयका नाम या कार्य है और मिथ्यात्व, दर्शनमोहका कार्य है। परंतु मिथ्यादर्शन व कषायके कारणका सामान्य नाम मोहनीय है और मोहमात्रको भी सामान्य दृष्टिसे कषाय कहते हैं इसीलिये दोनोंको मोहकर्म कहा जाता है। मोहका कार्य जीवके ज्ञानको विपरीत करना है। वह विपरीतता मिथ्यात्वसे भी होती है और कषायोंसे भी होती है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मिथ्यात्वके ठीक साथ रहनेवाला जो अनंतानुबंधी कषाय है वह सहचार संबंधसे मिथ्यात्व कहा जासकता है। इसीलिये जहां कषायके उत्तर भेद गिनाये हैं वहां

१ 'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कषायदो होंति' इति श्रीनेमिचंद्रा०। छाया योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः। २ 'मोहनीयस्य का प्रकृति ? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता।' इति द्रव्यसंग्रहस्य त्रयस्त्रिंशत्तमगाथाव्याख्याने ब्रह्मदेवेनोक्तं।

मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद व कषाय ये चार भेद करदिये जाते हैं और जहां संक्षेपसे कथन हो वहां चारोंके स्थानमें एक कषाय नाम लिखा जाता है।

असंयम व प्रमाद ये दोनो कषायके ही कार्य हैं। जब ऐसा तीव्रकषाय होता है जो कि इंद्रियोंसे विमुख नहीं होने देता तब संयमका घात होता है और उस कषायकी प्रवृत्तिको असंयम या अविरति कहते हैं। असंयमजनक कषाय दो हैं देशसंयमघातक व सर्वसंयमघातक। सर्वथा जो संयमको घातता है उसका नाम अप्रत्याख्यानावरण है। जो सूक्ष्मसंयमको घातता है और स्थूलसंयमको होने देता है उसका नाम प्रत्याख्यानावरण है। पहिले भेदको पूर्ण अविरति कहते हैं और दूसरेको देशविरति कहते हैं यह अविरति और इसके कारण कर्म दोनो कषाय ही हैं। इसलिये अविरतिका संग्रह कषायमें होसकता है। अविरति या असंयम न रहनेपर भी संज्वलन कषायके उदयसे जो मल उत्पन्न होता है या व्यक्त सूक्ष्म कषाय उत्पन्न होता है उसे प्रमाद कहते हैं। इसका कार्य यह है कि शिष्योंमें प्रेम, धर्म व धर्मके आयतनोंमें प्रेम उत्पन्न हो। यह दशा छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधुकी होती है। यह प्रमाद भी कषायका ही एक सूक्ष्म उत्तर भेद है।

मिथ्यात्वसे लेकर प्रमादतकके कषाय उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं परंतु सभी कषाय हैं इनके आगे जो चौथा कारण लिखा है वह मिथ्यात्व—अविरति—प्रमादनामके तीनो कषायोंसे अति सूक्ष्म है। वह कषाय सातवें गुणस्थानसे दशवेंतक रहता है। वह भी संज्वलन कषायका ही कार्य है परंतु प्रमादसे अधिक सूक्ष्म है प्रमादतकके कषाय तो व्यक्त रह सकते हैं और यह अव्यक्त सा ही रहता है। इसीलिये जहां प्रमाद घटकर केवल कषाय रहता है वहांसे गुणस्थानोंकी अप्रमत्त संज्ञा रक्खी जाती है। इस प्रकार विचार करनेसे मिथ्यात्वादि चारो, कषायके ही भेद सिद्ध होजाते हैं इसलिये बंधके कारण पांच कहनेमें और दो कहनेमें कोई अर्थभेद नहीं है। जहां कषायोंकी तरतमता दिखाना इष्ट है वहां पांच बंध कारण लिखे गये हैं और जहां सामान्य बंधका वर्णन है वहां दो कारण ही लिखे गये हैं।

शंका—आस्रवके प्रकरणमें जब कि योगको दिखा चुके है तो फिर यहां उसे क्यों लिखा ?

---

१ आत्माको परतंत्र बनाकर जो कारण कषते या घात करते हैं उन कारणोंका नाम कषाय है। ऐसा अर्थ माननेसे मिथ्यात्व सबसे प्रबल कषाय सिद्ध होता है, क्योंकि, मिथ्यात्वके तुल्य दूसरा कोई भी कर्म जीवको विपर्यासित नहीं करसकता। बंधन मिथ्यात्वकर्मका सबसे तीव्र है। यदि मिथ्यात्वका तीव्र बंध हो तो सत्तर कोटीकोटी पर्यंत नहीं टटता है। शेष किसी भी कर्मकी इतनी मर्यादा नहीं है।

उत्तर–आस्रवका अर्थ यह है कि कर्मपिंडोंका संग्रह होना और बंधका अर्थ आत्माको परतंत्र तथा मलिन करनेकी योग्यता प्रगट होना है। इसीलिये आस्रवके प्रकरणमें केवल योगको दिखाया गया और उसका अभिप्राय भी इतना ही है कि कर्मोंका संचय योगद्वारा होता है। परन्तु जब कि बंधका प्रकरण है तब कर्मोंमें आत्माको मलिन तथा परतन्त्र करनेकी योग्यता तो प्रगट होगी ही किंतु सँचय हुए विना वह कार्य या परिणमन हो किसमें ? वह कार्य कर्मपिंडका सचय हुए विना नहीं होगा। इसलिये वन्धके समय भी कर्मसंचयके कारण योगोंके दिखानेकी आवश्यकता प्राप्त हुई। भावार्थ आस्रवके समय जो योगोंको कारण लिखा है और यहां वन्धके समय भी उन्हे जो कारण लिखा है उन दोनोंका अर्थ एक ही है। दोनो जगह लिखने पर भी योगोंका कार्य भिन्न २ नहीं होता। परन्तु प्रदेशबध तथा स्थित्यनुभागरूपशक्ति प्रादुर्भावरूप बधकी मुख्यता रखनेसे आस्रव व बंधके दो प्रकरण होगये और उन्हीं प्रकरणोंकी मुख्यतासे दो जगह एक कारणका नामोच्चारण करना पड़ा है। दो प्रकरण जुदे जुदे करनेका एक मुख्य हेतु यह भी है कि आस्रव व्यापक है और बंध व्याप्य है। इस प्रकरणमें जो कषायसंयुक्तको बन्ध होता है वह दशवें गुणस्थानसे आगे नहीं होता और योग के द्वारा ईर्यापथ कर्म तेरहवें गुणस्थानतक आते रहते हैं। परन्तु उनमें कषाय न रहनेसे स्थिति व अनुभाग उत्पन्न नहीं होपाते हैं। वे ज्योंही आते हैं कि उधर निकल भी जाते हैं। यदि ये दो प्रकरण बन्धकारणोंके न करते तो योगका एकाकी यह कार्य किस प्रकार ध्यानमें आता ? यह इस ग्रन्थकर्ताकी इच्छाका तात्पर्य हुआ। परन्तु कुछ आचार्योंने आस्रवका लक्षण ही बन्धका कारणमात्र ऐसा किया है। इसीलिये वे आस्रवके ही भेदोंमें उक्त पांचों कारणोंको गिनाते हैं। वे आस्रवमें केवल योगको ही गिनाते हों ऐसा नहीं है।

शका–कषायको सामान्य एक न कहकर चार भेद कहनेका प्रयोजन क्या है ? और प्रथम मिथ्यात्व, अंतमें योग तथा बीचमें बीचके अविरति आदि तीन कारण ऐसा क्रम रखनेका प्रयोजन क्या है ?

उत्तर–कर्मोंके उत्तर भेद एक सौ अडतालीस हैं। उनमेंसे कुछ तीव्र पापरूप हैं, कुछ मध्यम पापरूप हैं, कुछ जघन्य पाप रूप हैं और कुछ अपापरूप भी हैं। मिथ्यात्वसे लेकर सयोगकेवल तक तेरह गुणस्थान हैं। उनमेंसे जो नीचेके गुण

१ मिच्छत्ताऽविरदिपमादजोगकोहादओ विण्णेया। पण पण पणदह तिय चउ कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥ २० (द्रव्यसं० छाया–मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयोऽथ विज्ञेयाः। पंच पंच पंचदश त्रयश्चत्वार क्रमशो भेदास्तु पूर्वस्य ॥ पुव्वस्स पूर्वसूत्रोदितभावास्रवस्येत्यर्थः।

स्थान हैं वे अल्प विशुद्ध हैं और ... ऊपर के अधिक विशुद्ध हैं। बंधके कारण जो मिथ्यात्वादि पांच हैं वे भी उत्तरोत्तर घटते जाते हैं। इसलिये उत्तरोत्तरके गुण स्थानोंमें बंध थोडी प्रकृतियोंका होता है एवं, अधिक पाप प्रकृतियोंका बंध रुकता भी जाता है और नीचे नीचे प्रकृतियां बहुत सी बंधती हैं एवं निकृष्ट बंधती हैं। यही कार्यकारण सम्बन्ध दिखानेकेलिये बंध कारणोंके पांच भेद किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जिस जीवका मिथ्यात्व गुणस्थान हो रहा है उसको ऊपरके मिथ्यात्वादि पांचो ही बंधके कारण रहते हैं। परन्तु दूसरे गुणस्थानसे लेकर मिथ्यात्व कारण नहीं रहता असंयमादि केवल चार कारण फिर रहते हैं। मिथ्यात्वकी मुख्यतासे बंधनेवाली सोलह कर्म प्रकृतिका वन्धन होना भी रुक जाता है। भावार्थ, वे सोलह प्रकृति तीव्र पापरूप हैं और उनका बंध प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होता है। और वे प्रकृति ये हैं—१ मिथ्यादर्शन २ नपुंसकवेद, ३ नरकायु, ४ नरकगति, ५ नरकगत्यानुपूर्व्य, ६ एकेन्द्रियजाति, ७ द्वीन्द्रियजाति, ८ त्रीन्द्रियजाति, ९ चतुरिन्द्रिय जाति, १० हुंडक संस्थान, ११ असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, १२ आतप, १३ स्थावर, १४ सूक्ष्म, १५ अपर्याप्त, १६ साधारण शरीर।

दूसरे गुणस्थानसे लेकर चार वन्ध कारण रहे। परन्तु उन चारोंमें प्रथम असंयम कारण है उसके तीन भेद हैं १ अनंतानुवन्धिकषायकृत असंयम, २ अप्रत्याख्यानावरणकषायजनित असंयम, ३ प्रत्याख्यानावरणकषायनिमित्तक असंयम। इन असंयमोंका जैसा जैसा नाश होगा वैसा २ कर्म्मबंधनेका भी संवर होगा। अनंतानुबंधी कषाय दूसरे गुणस्थान तक उदयमें रहता है इसलिये दूसरे गुणस्थान तक अनंतानुबंधिजन्य प्रकृतियोंका बंध होगा और तीसरेसे संवर होगा।

अनंतानुबंधिजनित प्रकृति पचीस हैं; (१) निद्रानिद्रा, (२) प्रचलाप्रचला, (३) स्त्यानगृद्धि, (४) अनन्तानुवन्धी क्रोध, (५) अनंतानुबंधीमान, (६) अनंतानुवन्धी माया, (७) अनंतानुवन्धी लोभ, (८) स्त्रीवेद, (९) तिर्यगायु, (१०) तिर्यग्गति, (११) तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, (१२) स्वाति संस्थान, (१३) कुब्जक संस्थान, (१४) न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान, (१५) वामन संस्थान, (१६) वज्रनाराच संहनन, (१७) नाराच संहनन, (१८) अर्ध नाराच संहनन, (१९) कीलित संहन, (२०) उद्योत, (२१) अप्रशस्तविहायोगति, (२२) दुर्भग, (२३) दुःस्वर, (२४) अनादेय, (२५) नीचगोत्र।

अप्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय चौथे असंयत सम्यग्दृष्टि नाम गुणस्थानपर्यंत रहता है और इसके उदयसे दश प्रकृ

तियोंका बंध मुख्य होता है। ये दश प्रकृति;–(१) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, (२) अप्रत्याख्यानावरण मान, (३) अप्रत्याख्यानावरण माया, (४) अप्रत्याख्यानावरण लोभ, (५) मनुष्यायु, (६) मनुष्यगति, [७] मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, [८] औदारिक शरीर, [९] अंगोपांग, (१०) वज्रर्षभ नाराच संहनन ये हैं। ये दश प्रकृति चौथे गुणस्थानतक बंधती हैं। पांचवेसे इनका निरोध होजाता है।

प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदय पांचवें गुणस्थानतक रहता है और इसीलिये इसके निमित्तसे बंधनेवाली चार प्रकृति पांचवे गुणस्थानतक ही बंधती हैं; छट्ठेसे उनका संवरण होजाता है। वे चार प्रकृति प्रत्याख्यानावरण १ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ ये हैं। इस प्रकार इस पांचवें गुणस्थानपर्यंत थोडी वहुत अविरति वनी रहती है इसलिये बंधके कारण चार माने जाते हैं। परंतु छट्ठेमें अविरतिका अभाव होजानेसे बंधके कारण तीन रह जाते हैं; प्रमाद, कषाय, योग।

प्रमादके निमित्तसे छह प्रकृतियोंका बंध होता है; (१) असातावेदनीय, (२) अरति, [३) शोक, [४] अस्थिर, (५) अशुभ, (६) अयशः—कीर्ति। छट्ठेसे ऊपर प्रमाद नहीं रहता इसलिये इन छह प्रकृतियोंका आना भी सातवेंसे रुक जाता है।

शंका-देवायु कर्मका आस्रव सातवेतक होता है। यदि छट्टे तक होता तो प्रमाद उसका कारण होसकता था परन्तु सातवेंमें प्रमाद रहता नहीं। यदि प्रमादसे आगे सातवेमें रहने वाला कषाय उसका कारण होता तो कषायका सद्भाव दशवें गुणस्थानतक रहता है इसलिये देवायुका आस्रव भी दशवेंतक होना चाहिये था; परंतु दशवेतक इसका बंध होता नहीं है ? इसलिये देवायुका कारण क्या मानना चाहिये ?

---

१ चौथे गुणस्थान तथा तीसरे गुणस्थानमें बंधके कारण समान हैं तो भी तीसरेमें किसी भी आयुका बन्ध नहीं होता और आगे पीछेके गुणस्थानोंमें होता है इसलिये तीसरे चौथे गुणस्थानोंकी बन्धयोग्य प्रकृतिसंख्या एकसी नहीं रहसकती है। नरक व तिर्यंच ये दो आयु तो दूसरे गुणस्थानसे बन्धनेसे सर्वथा रुकही जाती हैं परंतु मनुष्य व देवायु चौथेमें बंधती है और तीसरे मे नहीं बन्धती इसलिये तीसरेकी बन्धसंख्या दो कम रहती है और चौथेकी अधिक। २ 'संयतासयतस्याविरतिर्विरतिमिश्रा, प्रमादकषाययोगाश्च' इस सर्वार्थसिद्धिके वाक्यसे यह अर्थ सिद्ध होता है कि अविरतिके कई तरतम भेद हैं और वे क्रमसे घटते हैं। पाचवेंमें आधी विरति आधी अविरति तथा शेष तीन कारण रहते हैं।

उत्तर—देवायुका कारण है तो प्रमाद ही, परंतु प्रमादका अभाव होनेपर भी जो प्रमादका संस्कार रहता है वह भी उसका[1] कारण है। संस्कार यदि रहै तो सातवेंतक रह सकता है। छठेमें जब कि प्रमादका अभाव होता है तो सातवेंसे आगे उसका संस्कार भी नहीं रह सकता है। इसीलिये देवायुका आस्रव प्रमादजन्य होनेपर भी सातवेंतक होता है और सातवेंसे आगे नहीं होता। संस्कार भी कहीं कहींपर अपना काम दिखाता है। देखो, चौदहवें गुणस्थानके प्रारंभमें योगों तकका निरोध हो जानेसे रत्नत्रयकी पूर्णतामें कुछ कमी नहीं रहती तो भी मोक्षप्राप्ति होनेका बाधक कारण योगसंस्कार बना रहनेसे मोक्षप्राप्तिमें थोडासा विलम्ब हो जाता है। परंतु निर्मूल संस्कारका टिकाव अधिक देरतक नहीं रह सकता है इसलिये योगोंका संस्कार, पांच ह्रस्व अक्षर उच्चारनेमें जितना समय लगता है उतने समयमें नष्ट हो जाता है। वह नष्ट हुआ कि आत्मा मुक्त हो जाता है। यही बात प्रमाद संस्कारकी है। प्रमादका निर्मूल संस्कार भी सातवेंसे आगे नहीं टिकता। यह सातवें गुणस्थानतककी बात हुई।

आठवेंसे कषाय व योग ये दो ही कारण रहजाते है। उनमेंसे भी कषाय दशवेंके अंतमें नष्ट हो जाता है। उस कषायके उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन भेद हैं। ये तीनों भेद भी क्रमसे आठवें, नौवें व दशवें तक रहते हैं। और इनके निमित्तसे होनेवाले कर्म भी वहींतक रहते हैं।

तीव्र कषाय आठवें तक रहता है। उस आठवेंके भी प्रारम्भमें कुछ समयतकका जो कषाय होता है वह दो प्रकृतियों को बांध सकता है, निद्रा व प्रचलाको, इसके ऊपर इन दोनोंका संवरण हो जाता है। इसके ऊपरका कुछ ऐसा कषाय होता है कि पहिलेसे नरम होता है तो भी तीस प्रकृतियोंको बांधता है। वे तीस प्रकृति, १ देवगति २ पंचेन्द्रिय जाति, ३ वैक्रियिक शरीर, ४ आहारक शरीर, ५ तैजस शरीर, ६ कार्मण शरीर, ७ समचतुरस्र संस्थान, ८ वैक्रियिकशरीरांगोपाग, ९ आहारशरीरांगोपांग, १० वर्ण[2], ११ गन्ध, १२ रस, १३ स्पर्श, १४ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, १५ अगुरुलघु १६ उपघात, १७ परघात, १८ उच्छ्वास, १९ प्रशस्त विहायोगति, २० त्रस, २१ बादर, २२ पर्याप्त, २३ प्रत्येक शरीर, २४ स्थिर,

१ देवायुरास्रवस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोपि तत्प्रत्यासन्नः। तदूर्ध्वं तस्य संवरः। (इति सर्वार्थसिद्धिः)

२ वर्ण, गंध, रस, व स्पर्श, इन चार प्रकृतियोंके उत्तर भेद वीस हैं। यहां अभेद दृष्टिसे चार संख्यामें ये गर्भित किये हैं। परंतु एकसौ अडतालीसका जोड यदि बंधनिरोध देखनेकेलिये दिया जाय तो आठवेंकी छत्तीस प्रकृतिसंख्याकी जगह ५२ बावन संख्या रखनी पडेगी।

२५ शुभ, २६ सुभग, २७ सुस्वर, २८ आदेय, २९ निर्माण, ३० तीर्थंकर। ये तीस प्रकृति आठवें गुणस्थानके उपांत्य समय तकके कषाय द्वारा बंधती रहती हैं और अंतिम समयमें इन तीसोंका बंध होना रुक जाता है। अंतसमयमें होने वाला कषाय इतना हीनशक्तियुक्त होता है कि ऊपरकी तीस प्रकृतियोंको नहीं बांधता परन्तु चार दूसरी प्रकृतियोंको तो भी बांधता रहता है। चार प्रकृति, १ हास्य, २ रति, ३ भय, ४ जुगुप्सा ये हैं। इन चारोंका संवर नौमेंके प्रारम्भसे हो जाता है। इस प्रकार आठवेंके अंततकके कषाय द्वारा बंधनेवाली सर्व ३६ प्रकृति हैं उनका नौवेंसे लेकर आगे संवर है। ये छत्तीस प्रकृति जिन कषायों द्वारा बंधती हैं वे कषाय आपसमें तो हीनाधिक होते हैं परन्तु सामान्यतासे सर्व तीव्र ही कषाय कहाते हैं।

नौवेंके जो कषाय होते हैं वे मध्यम कहाते हैं परतु उनमें भी पांच तरमताके भेद होते हैं। क्रमसे पहिले भेद तक पुरुष वेद, दूसरेतक संज्वलन क्रोध, तीसरेतक संज्वलन मान, चौथेतक संज्वलन माया, पांचवेंतक संज्वलन लोभ बंधको प्राप्त हो सकते हैं और अपने अपने भागोंसे ऊपर उस प्रत्येक प्रकृतिका निरोध हो जाता है। सामान्यतासे कहें तो उक्त पांच प्रकृतियोंका दशवेंके प्रारंभसे लेकर संवर हो जाता है।

दशवें गुणस्थानमें जो कषाय रहता है वह जघन्य होता है। वह कषाय सोलह प्रकृतियोंके बंधका कारण है। ये सोलह प्रकृति; पांच ज्ञानावरणकी (१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्यय ज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण,) चार दर्शनावरणकी (६ चक्षुर्दर्शनावरण, ७ अचक्षुर्दर्शनावरण, ८ अवधिदर्शनावरण, ९ केवलदर्शनावरण,) १० यशःकीर्ति, ११ उच्चगोत्र, पांच अंतरायकी, (१२ दानांतराय १३ लाभांतराय १४ भोगांतराय, १५ उपभोगांतराय, १६ वीर्यांतराय) दशवेंसे ऊपर इन सोलहो प्रकृतियोंका संवरण होजाता है।

इसीलिये ग्यारहवें–बारहवें गुणस्थानसे लेकर आगे जो कुछ प्रकृतियोंका आस्रव होता है उसका कारण केवल योग ही होता है। वह प्रकृति एक सातावेदनीय है। योग तेरहवेंतक रहता है इसलिये वहींतक सातावेदनीयका नवीन बंध हो सकता है। चौदहवेंके प्रारंभसे योग नष्ट होजानेसे सातावेदनीयका बन्ध भी रुकजाता है।

यहांसे आगे कोई भी प्रकृति बधनेके योग्य नहीं रहती है। सर्व प्रकृतियोंकी संख्या १४८ है उन १४८का चौदहवेंमें सर्वथा निरोध होजाता है जैसा कि गुणस्थानक्रमसे ऊपर दिखाचुके हैं। उसका जोड–प्रथम गुणस्थानसे आगे

१६ प्रकृति, दूसरेसे आगे २५ प्रकृति, चौथेसे आगे १० प्रकृति, पांचवेंसे आगे ४ प्रकृति, छठेसे आगे ६ प्रकृति, सातवेंसे आगे १ प्रकृति, आठवेंसे आगे ३६ प्रकृति, नौमेंसे आगे ५ प्रकृति, दशवेंसे आगे १६ प्रकृति, ग्यारहवेंसे आगे १ प्रकृति–इस प्रकार बंधनिरुद्ध होनेसे ये सर्व प्रकृति १६+२५+१०+४+६+१+३६+५+१६+१=१२० एकसौ वीस हो जाती हैं। कुल प्रकृति १४८ हैं। परंतु स्पर्शादि चार यहां पर नौमें जो गिनाई हैं उनके उत्तर २० भेद होते हैं जो कि चारकी संक्षिप्त संख्या रखनेसे गर्भित होजाते हैं। इस प्रकार २० की जगह ४ संख्या रखनेसे १६ की कमी होजाती है। एवं, दर्शन मोहकी सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व ये दो प्रकृति वन्धके समय जुदी नहीं मानीजाती किंतु एक मिथ्यात्वमें गर्भित होजाती हैं। इसलिये दोकी संख्या यह भी कम करनी पडती है। इस प्रकार १८ की संख्या १४८में कम कीगई है। तो भी सर्व प्रकृतियां १२० के भीतर ही आजाती है। यह वन्धकारणोंका व वन्ध्यमान प्रकृतियोंका विवरण गुणस्थान क्रमसे हुआ।

शंका–मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय व योग ये पांचो जो बंधके कारण लिखे हैं वे क्या चीज हैं ?

उत्तर–ऊपर जिस बंधका वर्णन होचुका है उसी के ये पांचो परिणाम हैं। उन कर्मोंका जब विपाक समय आता है तब वे कर्म आत्मामें नाना विकार उत्पन्न करते हैं। पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे मिथ्यात्वादि विकार उत्पन्न होते हैं और उन विकारोंके होने से आत्मा पुनः नवीन कर्मोंसे बद्ध होजाता है। जब कोई पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आता है तब फल देकर नष्ट होजाता है और साथ ही दूसरे नवीन बँध जाते हैं। इस प्रकार जीव कर्मकी शृंखला बराबर चलती रहती है। कर्मके विपाकवश जीवमें जो मिथ्यात्वादि विकार होते हैं उन्हें भावकर्म कहते हैं। इनमेंसे प्रत्येक भाव कर्मके मूल कारण पूर्वबद्ध द्रव्य कर्म होते हैं। किस भाव कर्मका कौनसा द्रव्यकर्म कारण है–यह बात आगे कहेंगे और कुछ कह भी चुके हैं। योगोंके कारण दिखा चुके हैं। अब मिथ्यात्वादि कर्मकारणोंका स्वरूप कहते हैं—

मिथ्यात्व:—

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च। आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत् ॥ ३ ॥

---

१ वज्जणचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये ॥ ३४ ॥ २ पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरोकमेण सत्तट्ठी। दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ ॥ ३५ ॥ गोमट० कर्मकाण्ड इसमें लिखते हैं कि मोहकर्मकी २८ प्रकृतियोंकी जगह बंध के समय २६ ही मानी जाती हैं।

अर्थ—विपरीत रुचिका नाम मिथ्यात्व है। अतत्त्वश्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रके श्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है। आत्मज्ञान न होनेका नाम मिथ्यात्व है। ऐसें अनेक भांत मिथ्यात्वका लक्षण किया जाता है परंतु उसका तात्पर्य यह है कि आत्माके सम्यक्त्व गुणका जो कर्मवश विपरीत परिणमन होता रहता है वह मिथ्यात्व है। वह ऐसा एक गुण है कि जबतक उसका स्वयं अनुभव न हो तबतक उसका वर्णन नहीं होसकता है। तो भी उसके रहनेसे उल्लास, प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य तथा शुद्ध आत्मज्ञान—इत्यादि गुण प्रगट होते हैं। जब हम उस सम्यक्त्वका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकते है तब इन प्रशमादि सहभावी गुणोंके चिन्ह दिखाकर उसका वर्णन करते हैं। और उन गुणोंका प्रादुर्भाव मिथ्यात्व के रहते हुए हो नहीं पाता इसलिये अतत्त्व श्रद्धानादि दोषों को हम मिथ्यात्व कहने लगते हैं। जिस प्रकार तत्त्वश्रद्धानादिक जो गुण हैं वे वास्तविक सम्यक्त्व नहीं हैं किंतु सम्यक्त्वके सहभावी दूसरे गुण हैं उसी प्रकार अतत्त्वश्रद्धानादिक भी स्वयं मिथ्यात्व नहीं किंतु मिथ्यात्वके सहभावी दूसरे गुण हैं। जबतक किसी गुणका सीधा अनुभव नहीं होसकता हो तबतक उसके सहवास से उत्पन्न हुए चिन्होंद्वारा ही उसका अनुभव करना पड़ता है। यही दशा सम्यक्त्व व मिथ्यात्व की है। सम्यक्त्वके रहते हुए एक ऐसा अपूर्व आत्मसंबंधी आनद उत्पन्न होता है कि जिसका अनुभव मिथ्यात्वकी दशामें कभी नही होसकता; इसीलिये सम्यक्त्वनामा एक कारण शक्तिका हम अनुमान-द्वारा निश्चय करते हैं। उसी सम्यक्त्व गुणका दर्शनमोहकर्मके उदयसे विपरीत परिणाम होजाता है जिसे कि हम मिथयात्व कहते हैं और जिससे कि कि जीव वहिर्मुख वन जाता है—जीवको आपेका अनुभव नहीं होपाता, आपेमें थिरता नहीं होपाती। वस, इसीका नाम मिथ्यात्व है।

यद्यपि आपेको न जानने देना ज्ञानावरण का कार्य है और आपेमें थिर न होने देना चारित्रमोहकर्मका कार्य है तथापि उसके साथ मिथ्यात्वकी आवश्यकता पडती है। ज्ञानावरण का काम यह है किसी विषयको पूर्ण और कभी कभी ज्ञात न होने दे। इसलिये यदि आत्माके अनुभव होनेको ज्ञानावरण ही केवल रोकता है तो उसके अपूर्णांशका ध्यामल और कभी २ तो ज्ञान होना चाहिये था। परंतु आत्माका ज्ञान थोडा सा भी नहीं होता और कभी २ भी नहीं होता। इसका कारण क्या है? इसका कारण वही मिथ्यादर्शन कर्म है कि ज्ञानावरणके क्षयोपशमको कभी भी और थोडा सा भी कार्यकर होने नहीं देता इसी प्रकार आपे में थिरता न होने देनेका कारण भी वही मिथ्यादर्शन है। इसलिये हम जीव

को बहिर्मुख बनाये रखनेवाले विकारको मिथ्यात्व ठहराते हैं और अंतर्मुख बनानेके कारणभूत गुणको सम्यक्त्व कहते हैं।

जब कि बहिर्मुखताके कारणको हम मिथ्यात्व कहते हैं तो उसी बहिर्मुखताके ये कार्य हैं—अतत्त्वश्रद्धानादि प्रकार प्रगट हों। जबतक बहिर्मुखता बनी हुई है तबतक अतत्त्वश्रद्धान भी होगा, कुदेवादिकोंमें श्रद्धान भी होगा, तत्त्वोंसे अरुचि भी होगी, आत्मज्ञानसे वंचित भी रहना पडेगा। इसीलिये इन दोषोंमें किसी एकेक दोषको मुख्य मानकर निरनिराले आचार्य निरनिराली तरहसे मिथ्यात्वका स्वरूप दिखाते हैं और इन दोषोंके हटनेसे जो एकेक प्रकारकी स्वाभाविक परिणति प्रगट होती है उसे सम्यक्त्व बताते हैं।

जब कि बहिर्मुखता ही मिथ्यात्वकी सूचक है तो अतत्त्वके श्रद्धान करनेको भी मिथ्यात्व कह सकते हैं और अज्ञानरूप अंधताके प्रभावसे तत्त्वमें श्रद्धान न होसकनेको भी मिथ्यात्व कह सकते हैं। जिस समय कोई समनस्क प्राणी तत्त्वपरिचय करना चाहे परंतु अतत्त्वको तत्त्व समझ बैठे तो उससमय 'अतत्त्वश्रद्धान' यह मिथ्यात्वका लक्षण बताया जाता है। परंतु जबतक तत्त्वोंके जाननेकी इच्छा ही प्रगट नहीं हुई हो तबतक तत्त्वश्रद्धानके अभावको मिथ्यात्व कहना पडता है। इस तत्त्वश्रद्धानाभावरूप मिथ्यात्वको अगृहीतमिथ्यात्व कह सकते हैं और जो चाहकर अतत्त्वको तत्त्व मान लेना है उसे गृहीतमिथ्यात्व कहना चाहिये। अगृहीतमिथ्यात्व अनादि कालसे सभी जीवोंमें बना रहता है और गृहीतमिथ्यात्व मिथ्याश्रद्धान करनेपर प्राप्त होता है। इसीलिये गृहीतमिथ्यात्व अनादि न होकर सादि ही होता है। इसप्रकार मिथ्यादर्शनके मूल भेद दो हो जाते हैं।

---

१ श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥ [इति रत्नकरंडके] 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। [इति तत्त्वार्थसूत्रे] 'मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि। ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो' इतिगोमट० जीवकांडे 'श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः। न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ अर्थाज्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्। सर्वतः सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः। अप्यनाकारसाकारलिंगयोस्तद्यथोच्यते ॥ आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः। स्वोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्य तद्विकल्पकाः ॥ 'इतिपंचा०पृष्ठ १२५'

२ मिथ्यादर्शनं द्वेधा, नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात्। तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकम्।' इति वार्तिके

अगृहीतको नैसर्गिक भी कहते हैं। अगृहीत मिथ्यात्वमें विकल्प उत्पन्न होना असंभव है इसलिये उसके उत्तरभेद नहीं किये जाते हैं। परंतु गृहीतके बहुतसे प्रकार होसकते हैं इसलिये उसके मूलभेद जितने होसकते हैं वे बताये गये हैं। वे भेद चार हैं; १ क्रियावाद, २ अक्रियावाद, ३ अज्ञान, ४ वैनयिक। क्रियाकांडको धर्म मानना और वह विपरीत मानना यह क्रियावाद—मिथ्यात्वका अर्थ है। क्रियाकांडकी मुख्यता न रखकर ज्ञानमात्रसे मुक्ति मानना इत्यादि विचारको अक्रियावाद कहना चाहिये। ज्ञानशून्य कायक्लेशादितपको मुक्तिका कारण मानना सो अज्ञानमिथ्यात्व है। भक्ति और विनयसे मुक्ति मानना, सभी धर्मोंको तथा देवोंको मुक्तिका कारण मानना सो सब वैनयिक मिथ्यात्व है।

क्रियावादियोंके चौरासी भेद हैं। उनमेंसे कांठेविद्धिकौशिक, हरि, श्मश्रुमान, कपिक, रोमश, हारित, आश्वमुंड, आश्वलायन इत्यादि जो प्राचीन मत हैं वे सब इन्हीं चौरासी भेदोंमें गर्भित होते हैं। अक्रियावादोंके एकसो अस्सीभेद हैं। मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलिक, मौद्गलायन, इत्यादि इनके नाम हैं।

अज्ञातवादके सरसठ भेद मानेगये हैं। साकल्य, वाकल्य, कुंथुवि, सात्यमुग्रि, चारायण, कठ, माध्यंदिनि, मौद, पैप्पलाद, वादरायण, वसु, जैमिनि, इत्यादि उन मतोंके नाम हैं।

वैनयिकोंके बत्तीस भेद हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकी, रोमहर्षिण, सत्यदत्त, व्यास, इलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अपस्थूल इत्यादि उनके नाम हैं। ये सब चारो प्रकारके गृहीतमिथ्यादृष्टियोंके तीनसौ त्रेसठ भेद होते हैं। भावार्थ यह है कि जो एकांत मतोंके प्रदर्शक दर्शनकार तथा पुराणकर्ता हुए हैं ये सर्व गृहीतमिथ्यादृष्टी हैं।

इसी मिथ्यात्वके दूसरी भांत पांच भेद हैं; १ ऐकान्तिक मिथ्यात्व, २ सांशयिक मिथ्यात्व, ३ विपरीत मिथ्यात्व, ४ अज्ञानिकमिथ्यात्व, ५ वैनयिक मिथ्यात्व। ये पांच भेद मूलग्रंथकर्तानें लिखे हैं।

---

१ परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं, क्रियाऽक्रियावाद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात्। चतुरशीतिः क्रियावादाः कौक्कलकाण्ठेविद्धिप्रभृतिमतविकल्पात्। अशीतिशतमक्रियावादानां मरीचिकुमारोलूककपिलगार्ग्यप्रभृतिदर्शनभेदात्। आज्ञानिकवादाः सप्तषष्टिसंख्याः- साकल्यवाकल्यप्रभृतिदृष्टि भेदात् वैनयिकानां द्वात्रिंशद्वशिष्ठपाराशरादिमार्गभेदात्। वादरायणवसुजैमिनिप्रभृतीनां श्रुतिक्रियानुष्ठायिनां कथमाज्ञानिकत्वमित्युच्यते, प्राणिवधधर्मसाधनाभिप्रायात्। न हि प्राणिवधः पापहेतुधर्मसाधनत्वमापत्तुमर्हति॥ इतिवार्ति०।

१–ऐकान्तिकमिथ्यात्वका लक्षण—

यत्राभिसंनिवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः। इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ–द्रव्यगुणादि तत्त्वोंमें या धर्म तथा धर्मीमें परस्पर सर्वथा भेद मानना, धर्मका या धर्मीका स्वरूप किसी एक प्रकारका मानकर हठ करना, यह इसी प्रकार है, यही है–अर्थात् यह धर्म नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, यह धर्म ही है अथवा धर्मी ही है–ऐसा जो सर्वथा किसीके स्वरूपके विषयमें आग्रह रखना सो ऐकान्तिक मिथ्यात्व है।

उदाहरण:–शब्द अमूर्तीक ही है, आकाशका गुण ही है, अथवा, स्पर्शन इंद्रियके विषयका ज्ञान जब कि इंद्रियसे संबंध होनेपर होता है तो चक्षुके विषयका, मनके विषयका ज्ञान भी विषयसंबंध हुए विना नहीं होना चाहिये। इस सिद्धान्तकी पुष्टि जब कि प्रत्यक्षबाधित होते दीखी तो अलौकिक चक्षुकी कल्पना करली। परंतु वस्तुस्थिति असंबद्ध विषयोंको जानलेनेमें भी अनुकूल है ऐसी अनैकान्तिक कल्पना स्वीकार नहीं की। यद्यपि शाखाचन्द्रमादि अति भिन्न और अन्तरित वस्तुओंके युगपत् दीख पडनेसे ऊपरकी कल्पना बाधित होती है और शब्द बहिरिन्द्रियग्राह्य होनेसे तथा आघात प्रतिघातका कारण होनेसे अमूर्त आकाश का गुण बन नहीं सकता है परंतु उन ऐकान्तिक कल्पनाओंको तो भी न छोडना सो सब ऐकांतिक मिथ्यात्व है।

इसी प्रकार संयोगसंबंध जब कि भिन्न वतुओंका होता है तो गुणगुणीका संबंध भी गुणगुणीको परस्परमें भिन्न सिद्ध करेगा और वह संबंध भी गुणगुणीसे एक भिन्न ही पदार्थ है ऐसी सर्वथा भेदकी कल्पना करना इत्यादि कल्पनाएं सर्व ऐकांतिक मिथ्यात्वके उदाहरण हैं। वस्तुओंके सर्व स्वभाव एकांतरूप या किसी एक एक प्रकारके ही नहीं है तो भी सर्वत्र एकान्त मानना यही एकान्त मिथ्यात्वका अर्थ है।

२–सांशयिकमिथ्यात्वका लक्षण—

किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः। इति यत्र मतिद्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत् ॥५॥

अर्थ—जैन धर्म अहिंसामय है अथवा किसी किसी विषयमें हिंसामय भी है। इत्यादि संशययुक्त जो मनकी द्विविधा वही सांशयिक मिथ्यात्व है।

जो पदार्थ निश्चयरूपसे मालूम न पडा हो उसके विषयमें संशय होना संशयमिथ्यात्व नहीं है । क्योंकि, बडे बडे तत्त्वज्ञानियोंको भी संशय उत्पन्न होता है। जब तक छद्मस्थ अवस्था है तब तक संशय रहना असंभव नही है। श्रुतज्ञानके भी सूक्ष्म तत्त्वोंमें साधुओंतकको संशय हो जाता है। तभी तो आहारक शरीर बनाकर केवलियोंके दर्शन करनेसे मुनि अपना संशय दूर करते हैं। आहारक शरीर बनानेका यह भी एक प्रयोजन माना गया है। इसीलिये संशय होना कोई अनुचित नहीं है। परंतु आगम व युक्तिका प्रमाण मिलते हुए भी तत्त्व व धर्मके मार्गमें संशय रखना सो संशयमिथ्यात्व है। ऐसे संशय होनेके कारण कई होते हैं। एक तो कारण यह होता है कि चिरकालसे मिथ्यातत्त्वोपदेश मिलता रहा हो दूसरा कारण बुद्धि व भद्र परिणामोंकी कमी तीसरा कारण गुरुकुलमें रहकर सिद्धान्तका अध्ययन न करना, चौथा कारण धर्मके बन्धनको कष्ट समझना, पांचवां कारण निरंकुशतामें आनन्द मानना, छठा कारण सर्व विषयोंको खंडित करनेका अभिमान तथा विनोद रखना। इत्यादि कारणवश मनुष्य सच्चे तत्त्वोपदेशमें तथा धर्ममें भी संशय उत्पन्न करने लगता है। यह संशयमिथ्यात्व तभी कहाता है जब कि सदा ही संशय रखनेकी आदत पड जाती है और युक्ति तथा आगमके प्रमाण मिलते हुए भी उन प्रमाणोंकी तरफ ध्यान नहीं पहुंचाना चाहता। जब कि किसी निश्चयके लिये संशय उपस्थित किया जाता हो और विचारोत्तरकालमें ठहरे हुए सिद्धांतको स्वीकार करता हो तो वह संशय है परन्तु मिथ्यात्व नहीं है। जैनधर्म व जैन श्रुत सत्य है या नहीं यह बात तत्त्वोंकी परिक्षा करनेसे मालूम हो सकती है जैन तत्त्वोंमें पूर्वापरविरोध सिद्ध नहीं होता इसीलिये जैनधर्मकी सत्यतामें शंका रखना मिथ्यात्व है।

आगमको स्वतः प्रमाण जब तक न माना जाय तब तक धर्मका स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता है। आगम तभी स्वतः प्रमाण माननेयोग्य हो सकता है जब कि उसे सर्वज्ञके उपदेशके अनुकूल माना जाय। जो देशकालकी तथा मनुष्यों की इच्छाकी अनुकूलता देखकर बनाया गया हो वह एक तो वास्तविक सुखसाधक नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्योंकी इच्छाएं स्वभावसे स्वार्थपर होती हैं स्वार्थपर इच्छाओंका जब जोर बढता है तब चोरी आदि अन्याय भी इच्छानुकूल हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि वह शास्त्र त्रिकालाबाधित और सर्वका हितकर नहीं हो सकता है, क्योंकि, इच्छाएं नाना और एक दूसरेके विरुद्ध हुआ करती हैं इसलिये सबका अभीष्ट हित किस प्रकारसे साधा जा सकता है? ऐसे शास्त्रोंकी सर्वमान्यता होना नितान्त कठिन है इसीलिए शास्त्रको सर्वज्ञके उपदेशाकूल मानना पडता है।

सर्वज्ञका उपदेश वास्तविक तथा सर्वजीवोंके लिये हितसाधक हो सकता है। क्योंकि सर्वज्ञको चराचर सभी बाधक साधक मालूम पडते हैं। इसलिये उसका उपदेश विरोध वा बाधासे रहित हो सकता है और उसीके उपदेशको स्वतः प्रमाणता प्राप्त हो सकती है। शास्त्रको स्वतः प्रमाण माने विना जो धर्मका निश्चय करना चाहते हैं उनके लिये यह कहना चाहिये कि वे अपनी बुद्धिको प्रमाण मानते हैं। परन्तु हम कह चुके हैं कि अल्पज्ञोंकी बुद्धि सर्व स्वरूपका निश्चय नहीं कर सकती है। इसीलिये जो विषय उनके समझनेमें न आया हो वह सूक्ष्मतत्त्व स्वबुद्धिप्रमाणवादियोंको ज्ञात नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्ण धर्मके स्वरूपमें विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है और धीरे २ वास्तविक धर्म इसी प्रकार छिप भी जाता है। यह दोष स्वबुद्धिप्रमाणवादियोंके अनुसार संसारमें फैलता है। यदि आगमको स्वतः प्रमाण माना जाय तो यह दोष उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि किसी आगम प्रमाणवादीके जाननेमें कोई धर्मका स्वरूप या उपदेश न आया हो तो भी वह उसे प्रमाण मानता है जिससे कि सत्यधर्मकी शृंखला विस्खलित नहीं हो पाती। इसीलिये यह लिखा है कि जैन धर्मके स्वरूपमें शंका रखना मिथ्यात्त्व दोष है जिससे कि स्वपरका अहित होना संभव है और आत्मज्ञानसे जो विमुखता हो रही है उसका पोषण होता है।

३—विपरीतमिथ्यात्वका लक्षण—

सग्रन्थोपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली। रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥६॥

अर्थ—ग्रंथ नाम परिग्रहका है। सग्रन्थ अर्थात् सपरिग्रह होनेपर भी निर्ग्रंथ = निष्परिग्रह मानलिया जाय तो ऐसी श्रद्धाको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। इसी प्रकार भोजनरूप परवस्तुमें प्रवृत्ति करते हुए को भी केवलज्ञानी मानना यह भी विपरीत मिथ्यात्वका एक उदाहरण है।

निर्ग्रंथ हो तो वस्त्रादि परिग्रह रखनेके लिये उत्सुक किस प्रकार होगा? यह परस्पर विरोध है। जो वस्त्रादि परिग्रह रखता होगा वह परिग्रहसे विरक्त नहीं हो सकता है और जो परिग्रहको परकीय जानकर उससे विरक्त होगा वह वस्त्रादि परिग्रह ग्रहण करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस प्रकार ये परस्पर विरोधी बातें होकर भी एक जीवमें रहते हुए मानना

१–सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः।

यही बुद्धिका विपर्यास है। जो ऐसा बुद्धिविपर्यास है वह आत्मज्ञानसे वहिर्मुख होनेका लक्षण है इसीलिए इस विपर्यासरूप बहिर्मुखताका विपरीत मिथ्यात्व यह नाम रखते हैं।

केवलज्ञान तव होता है जब कि चारो घाती कर्म नष्ट होजाते हैं घाती कर्मोंका कार्य यह है कि जीवको परवस्तुओंमें मोहित करें, पराधीन करें, परवस्तुओंके विना निर्वाह नहीं होगा ऐसी भावना उत्पन्न करें । इसीलिये जीव जबतक घातिकर्मोंके उदयवश रहता है तबतक क्षुधादिदोषोंसे व्याकुल रहता है और इष्टसंयोग मिलाता रहता है। परंतु जो मोहादि घातिकर्मोंका नाश करके निर्मोह तथा केवलज्ञानी होचुके हैं उनको हम जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्तका अर्थ यह है कि जो परवस्तुसंग्रह करानेवाली सर्व क्रियाओंसे छूट चुके हैं और रत्नत्रयको जो मुक्त जीवोंकी भांत पूर्ण कर चुके हैं परंतु अघातिकर्म तथा पूर्वोपार्जित शरीरमेंसे जुदे नहीं होपाये है इसलिये मुक्त होकर भी जीवित हैं—अर्थात्, शरीर, आयु, श्वासोच्छ्वास तथा इंद्रिय प्राणोंके रहनेसे जीवित कहेजाते हैं। परंतु पुद्गलको बुद्धिपूर्वक अपनानेसे पूरे पराङ्मुख होचुके हैं । ऐसे केवली होकर भी कवलाहारको खावें यह परस्पर असंबद्ध या विरुद्धकार्य है । इसीलिये ऐसा श्रद्धान अनात्मज्ञानको सूचित करता है जिसे कि हम विपर्ययमिथ्यात्व इस अन्वर्थ नामसे सवोधते हैं।

४—अज्ञानिकमिथ्यात्वका लक्षण।

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यंतमदर्शनं। यथा पशुवधो धर्मस्तदज्ञानिकमुच्यते॥ ७॥

अर्थ—जिस मतमें हित और अहितका विलकुल ही विवेचन नहीं है। संसारी प्राणियोंके हितके लिये ही उपदेश न देकर अहितमें प्रवृत्ति करानेका उपदेश है वह अज्ञानिक मिथ्यात्व है इसका सबसे बडा उदाहरण यज्ञमें पशुओंका होम करना और फिर उसको धर्म वतलाना है। जो वध किसी भी कालमें किसीके लिये वास्तविक हितदायी नहीं होसक्ता उसको करनेका लोगोंको उपदेश देना और यह आशा कराना कि इसके करनेसे तुम्हें धर्म होगा, धर्मकी प्राप्तिसे स्वर्गादिके सुख मिलेंगे यह वडा भारी अज्ञान है क्योंकि यह सव कोई जानता है कि संसारमें अपनी अपनी जान सवको प्यारी है और उसके रक्षाकी सव ही छोटे वडे जीव भरसक कोशिश करते हैं तव किसी स्वार्थवश पशुओंको मारनेकी आज्ञा देना और उससे धर्म प्राप्तिका लोभ देना किसी भी हालतमें कोई भी विवेकी न्याय्य या सच्चा ज्ञान नहीं कह सकता।

इसीलिये जिन शास्त्रोंमें या जिन मतोंके प्रवर्तकोंमें उपर्युक्त अज्ञान विद्यमान हैं उन्हें आचार्यने अज्ञानिकमिथ्यात्वी

बतलाया है और यह कहा है कि उन्हें किसीके भी हित अहितका ज्ञान नहीं है। यदि हित अहितका ज्ञान होता तो क्या वे यह नहीं समझ सक्ते कि जिस क्रियासे दूसरोंकों दुःख पहुचता है और ऐसा वैसा भी दुःख नहीं, सबसे बडा दुःख जो कि मौतका है वह प्राप्त होता है उसक्रियासे विपरीत स्वभाव वाले सुखकी उत्पत्ति कैसे हो सक्ती है?

५—वैनयिक मिथ्यात्वका लक्षण—

सर्वेषामपि देवानां समयानां तथैव च। यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत्॥ ८॥

अर्थ—संसारमें जितने भी देव पूजे जाते हैं और जितने भी शास्त्र या दर्शन प्रचलित हैं वे सब सुखदायी हैं, उनमें कोई भेद नहीं है सबसे मुक्ति या आत्माके हितकी प्राप्ति होसक्ती है ऐसा जो मानना है वह विनय मिथ्यात्व है और इस सिद्धांतके माननेवाले लोग वैनयिक मिथ्यात्वी है। वैनयिक मिथ्यादृष्टियोंके वशिष्ट पाराशर आदि बत्तीस भेद ऊपर दिखला आये हैं।

मिथ्यात्वके पाचभेदोंकी आवश्यकता।

१। एकान्त मिथ्यात्व उनकेलिये कहागया है कि जो स्याद्वाद दर्शनके विरुद्ध किसी न किसी एकान्त एकान्त पक्षोंको मानते हैं। जैनदर्शनका शेषदर्शनोंके साथ एकान्तदृष्टिसे ही निषेध किया गया है नहीं तो बहुतसे एकांतवादियोंके सिद्धांत भी जैनदर्शनके अनुकूल होजाते हैं। जैनदर्शनके सिवा जितने दर्शन हैं वे एकांतवादी सभी हैं। इसलिये वे सर्व एकांत मिथ्यादृष्टि ही मानेजाते हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धदर्शन एकांतमिथ्यात्वी है; क्योंकि, वह वस्तुमात्रको पूर्वापरसंबंधरहित क्षणस्थायी मानता है। परंतु क्षणिकताके साथ नित्यतास्वरूप माने विना काम नहीं चलसकता है। यदि निरन्वय वस्तुएं हों तो बीजकी आवश्यकता अंकुरोत्पत्तिमें क्यों होनी चाहिये? इस प्रकार सर्व एकांतवाद दूषित होजाते हैं।

२। विपरीत मिथ्यादृष्टी वे होते हैं जो कि धर्मक्रियाओंको विपरीत करते हैं। सबसे बडा इसका उदाहरण यज्ञसंबंधी पशु

---

१ एयंत बुद्धदरसी विवरीयो, बह्म तावसो विणओ। इंदोवि य संसइयो मक्कडियो चेव अण्णाणी॥ गोमट०। एयंतं विपरीयं विणयं संसइदमण्णाणं॥ गोमट०। २। तत्त्वार्थराजवार्तिकजी में तथा इस ग्रंथमें अज्ञानिक मिथ्यात्व का दृष्टांत यह दिया है और यहां जो विपरीत मिथ्यात्व का लिख रहे हैं वह गोम्मटसारजी जीवकांड की १६ वीं गाथा के अनुसार है।

वध है। संकल्प करके किसी निरपराधको मारना सर्व निष्पक्ष मनुष्योंकी दृष्टिमें पाप है। ऐसे सर्वसंमत पापको जो धर्म समझता है वह सबसे बडा विपरीतज्ञानी है। इसीलिये उसके अनात्मज्ञानको अथवा मिथ्यात्वको विपरीत मिथ्यात्व कह सकते हैं। यो तो एकांत मिथ्यात्व भी स्याद्वादकी अपेक्षा विपरीत होनेसे विपरीत मिथ्यात्व कहा जासकता है परन्तु वह विपरीतता कुछ ज्ञानियोंकी ही समझमें आसकती है, सर्वसामान्यकी दृष्टिमें सुगमतया नहीं आसकती। पर हिंसा या वधको धर्म बनानेवाला सभीकी दृष्टिमें विपरीत भासने लगता है। इसलिये वधादि प्रसिद्ध विपरीत धर्माचरणोंको विपरीत मिथ्यात्वमें गर्भित करना उचित है। ऐसा मिथ्यात्व भी जगत्में एक प्रसिद्ध निराली भांतका वर्तमान है।

३। संशयमिथ्यात्व वह है कि सत्यधर्मके पासतक पहुंचकर भी उसमें शंकित बने रहना, जिससे कि दृढताके साथ धर्ममें प्रवृत्ति नहीं होसके। यह बात भी तभी तक होगी जबतक कि वास्तविक आत्मज्ञान प्रगट न हुआ हो। जो आत्मज्ञानी होचुका है वह आत्माके बन्धमोचनादिके स्वरूपमें भ्रांत क्यों होगा? इसीलिये यह भ्रांतता मिथ्यात्व है। सर्वथा सत्य जैनधर्ममें आपहुंचनेपर भी यह भ्रांतता बनीरहती है; यह बात दिखानेकेलिये यह मिथ्यात्वका भेद संग्रह किया है। इसीलिये इसका उदाहरण श्वेतांबर धर्मको माना है और भी ऐसे संशय मिथ्यात्वके उदाहरण होसकते हैं।

४। अज्ञानिक मिथ्यात्व वह है कि जो वस्तुका सामान्य विशेषरूप स्वरूप यथार्थ नहीं जानना—अपने मनकी प्रेरणासे जो चाहें मानना। इसके उदाहरण मस्करी आदि संन्यासियोंके भेद हैं। आत्माके अमूर्तित्व आदि सामान्य धर्मोंमें तथा उपयोग आदि रूप विशेष धर्मोंमें जब अज्ञान रहता है तब ही मनोनीत कल्पनायें उत्पन्न होती हैं इसीलिये वास्तविक ज्ञानके अभावसे इसको मिथ्यात्वमें दिखलाया है।

५। गुणग्रहणकी अपेक्षासे अनेक धर्मोंमें प्रवृत्ति होना सो वैनयिक मिथ्यात्व है। अर्थात् वैनयिककी प्रवृत्तिमें अज्ञानमुख्य कारण नहीं है किंतु विनयस्वभावका अतिरेक मुख्य कारण है। इसीलिये यह पांचवां भेद अज्ञानसे जुदा दिखाना पडा है। इसका लक्षण ऊपरके चारोंसे भिन्न है और ऐसे मिथ्यादृष्टियोंकी संख्या भी बहुत है इसलिये इसे जुदा एक मिथ्यात्व बतानेकी आवश्यकता थी। आत्माकी शुद्धता क्या चीज है और कैसे होसकती है ऐसा जिसे ज्ञान होगा वह वैनयिक नहीं हो सकता। इसीलिये वैनयिक अनात्मज्ञानोंकी गिनतीमें आता है। अनात्मज्ञानका ही नाम मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्वका सामान्य लक्षण भी वैनयिकमें रहता है। वैनयिकका उदाहरण तापसीलोग हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्वके उक्त पांचो भेद जुदे जुदे और आवश्यक ठहरते हैं। लोगोंके मिथ्याज्ञान और प्रवृत्तियोंके प्रकार स्थूलतासे ये पांच ही बनसकते हैं अधिक नहीं। अधिक भेद करना चाहें तो इन्हींके वे उत्तरभेद होंगे। इसीलिये मध्यम विस्तारको अच्छा समझकर ये पांचभेद कियेगये हैं। मिथ्याज्ञानको ही मिथ्यात्व कहते हैं इसलिये मिथ्याज्ञानके कहीं कहीं पर तीन प्रकार भी दिखाये गये हैं। १ कुछ लोग हितको समझते ही नहीं है और उस असल हितको चाहते भी नहीं हैं। २ कुछ लोग हित समझकर भी उसमें संशय करते हुए दिन विताते हैं। ३ कुछ लोग अहितको हित समझ लेते हैं। इस तीन प्रकारके अज्ञानसे जगत् खेदखिन्न होरहा है।

अविरतिका स्वरूप—

षड्जीवकायपंचाक्षमनोविषयभेदतः। कथितो द्वादशविधः सर्वविद्भिरसंयमः ॥ ९ ॥

अर्थ–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, तथा वनस्पति ये पांच भेद एकेन्द्रिय जीवोंमें होते हैं। द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय–संज्ञी असंज्ञी इन सबोंको त्रस कहते हैं। इसप्रकार पांच एकेंद्रिय व एक त्रस मिलानेसे जीवोंके भेद छहं होजाते हैं। ये जीव जिन शरीरोंमें रहते हैं वे जीवित शरीर भी छह प्रकारके होंगे। शरीरोंको काय कहते हैं इसलिये छह जीवकाय भी ये ही कहाते हैं। इन छह जीवकायोंकी विराधना करनेसे न रुकना सो प्राणाऽविरति है। इसीको हिंसा कहते हैं। हिंसाके विषय जीव छह प्रकारके हैं इसलिये हिंसाके छह भेद विषयकी अपेक्षा किये जासकते हैं।

पांच बाह्य इंद्रिय और एक अंतरग इंद्रिय मन ये छह इन्द्रिय हुए। इन इन्द्रियोंकी जो विषयोंमें निरर्गल प्रवृत्ति होती है उसे छह प्रकारकी इन्द्रियाऽविरति कहते हैं। इंद्रियोंको मन चाहे पाप विषयोंमें न जाने देनेसे इंद्रियकी विरति कहाती है और छहो प्रकारके प्राणियोंका वध सर्वथा रुक जानेसे हिंसा विरति कहाती है। ये सर्व विरति या व्रत या संयमके बारह भेद हुए। इन्हीं बारहोंको पुण्यास्रवके प्रकरणमें पांच अहिंसादि व्रतोंके नामसे पांच प्रकारसे भी कहा है। अर्थात्, पापोंके विषय बारह हैं जब कि हम प्राण व इंद्रियोंके विषयोंको पाप कहते हैं और जब कि हम समुच्चयसे लोकके पाप देखते हैं तो हिंसादि पांच पाप हैं। परंतु अविरति चांहे किसी प्रकारसे भी हो स्वच्छंद विषयभोगोंमें मग्न होनेका ही नाम है।

१ हितमेव न वेत्ति कश्चन भजतेऽन्यः खलु तत्र संशयम्। विपरीतरुचिः परो जगत् त्रिभिरज्ञानतमोभिरावृतम् ॥ (इति चन्द्रप्रभचरिते वीरनन्दी)

मिथ्यात्व रहनेपर तो अविरति रहती ही है परंतु छूट जानेपर भी रह सकती है। मिथ्यात्व न रहनेपर जीवसम्यक्त्वी हो जाता है परंतु अविरति फिर भी चारित्रमोहका उदय हो तो विषयवासना हटनेपर हटती है। सो भी अविरतिका पूर्ण अभाव होजाय और महाव्रत प्रगट हो जाय, यह किसी विरलेको ही होता है। नहीं तो, बहुत हुआ तो एकदेश विरति होती है जिसे कि अणुव्रत कहते हैं। यह बारह प्रकारकी अविरति जो भगवानने पापका कारण कही है वह जबतक छूटती नहीं तबतक अविरतिजन्य कर्मबंध होता ही रहता है। असंयम भी इसीका नाम है।

प्रमादका स्वरूप—

शुद्ध्याष्टके तथा धर्मे क्षांत्यादिदशलक्षणे। योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः ॥ १० ॥

अर्थ—आठ शुद्धि और दश धर्मोंमें जो उत्साह न रखना उसे सर्वज्ञदेवने प्रमाद कहा है। अर्थात्, विरति या संयम हो जानेपर भी जो उसके सँभालनेमें आलसी रहना, असावधानी करना, अनुत्साह रखना सो सर्व प्रमाद है। मिथ्यात्व व अविरतिके रहते हुए तो प्रमाद रहता ही है परंतु विरति हो जानेपर भी जल्दी जाता नहीं है। इसीलिये अविरतिके बादमें यह बंधका कारण लिखा गया है और अविरतिसे ऐक जुदा है।

भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, शयनशुद्धि, आसनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि' वाक्यशुद्धि ये आठ शुद्धि हैं। इनका अर्थ शब्दोपरसे मालूम होता है। शुद्धिका वर्णन आगे संवरके प्रकरणमें भी आवेगा। इन शुद्धियोंके रखनेसे संयम निर्मल होता है। उत्तम क्षमादि धर्मोंके दश भेद आगे संवर प्रकरणमें लिखेंगे। दश धर्मोंमें अनुत्साह रखनेको प्रमाद कहा परंतु यह उपलक्षण है। संवर निर्जराके जो कारण हैं वे सभी धर्मोंकी भांत संभालकर पालनीय हैं इसीलिये समिति गुप्ति परीषहजय इत्यादि संवरके कारणोंमें जो अनुत्साह वह सभी प्रमाद है।

शुद्धि व धर्मादि संवरके कारणोंमें रहनेवाले अनुत्साहको प्रमाद कहनेसे यह बात सिद्ध होती है कि विरति हो जानेपर भी प्रमाद रह सकता है। छट्ठे गुणस्थानमें अविरति नष्ट हो चुकी परंतु प्रमाद विद्यमान है जिससे कि विरति

१ 'प्रमादोऽनवधानता' इति अमरकोषः। प्रमादः कुशलेष्वनादरः। [इति सर्वार्थ०] २ अविरते प्रमादस्य चाविशेष इति चेन्न, विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्। [इति वार्तिका०]

वनी रहनेपर भी भोजन–गमन–शयन–संघ परिरक्षण–गुरुविनयादि कामोंमें कभी कभी असावधानी हो जाती है और उसके दूर करनेकेलिये प्रतिक्रमणादि प्रायश्चित्त कर्म कहे हैं।

कषायविवरण—

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिता। ईषद्भेदो न भेदोत्र कषायाः पंचविंशतिः ॥११॥

अर्थ—तारतम्यके भेदसे अनंतानुवंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन ऐसे कषायके भेद चार हैं। और स्वरूप भी कषायके चार ही हैं, क्रोध, मान, मायाचार व लोभ। इसलिये कषायोंके चार स्वरूपोंको तारतम्यके चार भेदोंसे गुणित करने पर कषाय सोलह हो जाते हैं, १ अनंतानुवंधी क्रोध, २ अनंतानुवंधी मान, ३ अनंतानुवंधी मायाचार ४ अनंतानुवंधी लोभ, ५ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, ६ अप्रत्याख्यानावरण मान, ७ अप्रत्याख्यानावरण माया, ८ अप्रत्याख्यानावरण लोभ, ९ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, १० प्रत्याख्यानावरणमान, ११ प्रत्याख्यानावरणमाया, १२ प्रत्याख्यानावरण लोभ, १३ सज्वलन क्रोध; १४ संज्वलन मान, १५ सज्वलन माया, १६ संज्वलन लोभ। आत्माके शुद्ध चैतन्यका घात या कपन जिस विपरीत भावसे हो वही कषाय है। यह कषायका लक्षण क्रोध करनेमें भी विद्यमान है, मानमें भी है मायाचारके समय भी है, लोभमें भी है।

नौ नोकषाय भी एक जुदे माने जाते हैं, १ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ जुगुप्सा, ७ स्त्रीवेद भाव, ८ पुरुषवेद भाव, ९ नपुंसकवेद परिणाम। कषाय व नोकषायोंको जुदा २ गिननेसे सर्वकषाय पच्चीस हो जाते हैं। नोकषाय भी हैं तो कषाय ही, परन्तु थोडासा यह अंतर है कि कषाय होनेपर जीव जिस प्रकार दुःखी या अशांत वन जाता है वैसा हास्यादि नोकषाय रहते नहीं होता। इसीलिये हास्यादि करने पर भी वह अपनेको सुखी समझता है। दूसरी वात यह है कि कषाय जैसा दूसरेका अहित करा सकते हैं वैसा अहित हास्यादि नोकषायोंके रहनेसे नहीं होता। अरति तथा भयके होनेपर यदि अरति व भयके कारणोंको हटानेका प्रयत्न किया जाय तो उस समय क्रोधादि कषाय प्रगट हो

१ अज्ञाव्यापादनक्रिया अनाकांक्षक्रिया इत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावः (इति सर्वार्थ०) अर्थात् प्रमादका स्वरूप यों समझना चाहिये कि आस्रव प्रकरणमें जो आज्ञाव्यापादनक्रिया तथा अनाकांक्षाक्रिया बताई है वही प्रमाद है। आज्ञाव्यापादनादि क्रियाएं असावधानी रखनेसे ही होती हैं। इसीलिये यह सिद्ध होता है कि विरति हो जानेपर उसका कारण प्रमाद विद्यमान रह सकता है।

जाते हैं। यह छोटासा भेद कोई प्रधान कारण इस बातमें नहीं हो सकता है कि नोकषायोंको कषायोंमें समाविष्ट न करने दें। इसीलिये कषाय सर्व पच्चीस हैं और सभीमें आत्महिंसा करनेका सामर्थ्य रहता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद इन तीन तथा एक दो बंधकारणोंके रहते हुए तो कषाय रहता ही है परन्तु ये तीनों कारण न रहें तो भी इस कषाय कारणका अभाव सर्वत्र नहीं हो पाता है। इसलिये इस कारणको तीनोंके वादमें लिखा है। उत्तरोत्तर कारण पूर्व कारणोंके रहते हुए तो रहते ही हैं परंतु न रहते हुए भी रहते हैं। अनंतानुवंधी कषाय मिथ्यात्वके रहते हुए रहता है। अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषाय अविरति रहते हुए व मिथ्यात्व न रहते हुए भी रहता है। संज्वलन कषाय, मिथ्यादर्शन अविरतिके नष्ट हो जाने पर प्रमाद रहते हुए भी रहता है और अव्यक्त संज्वलन, प्रमादके छूटजाने पर भी रहता है। इन तीनोंका कषायके साथ समान सद्भाव नहीं रह सकता किंतु विषम सद्भाव रहता है। अर्थात् मिथ्यात्वादि जहां हों वहां कषाय अवश्य रहेगा परन्तु कषायके रहते मिथ्यात्वादि रहते भी हैं और नहीं भी रहते हैं एक समयगत एक जीवके परिमाणोंको देखें तब तो मिथ्यात्वादि किसी एकके सिवा दूसरा परिणाम रह ही नहीं सकता है परन्तु ऊपरकी विषम व्याप्ति कारणसद्भाव रहनेसे या योग्यता रहनेसे मानी जाती है। मिथ्यात्व अविरति व प्रमादके साथ कषायका अविनाभावी सर्वदेशीय संबंध नहीं रहता इसीलिये अविरति आदि कारणोंसे कषायको जुदा कारण मानना पडता है। प्रमाद छठे गुण स्थान तक रहता है परन्तु कषाय दशवें तक रहता है। और कषाय कारण है अविरति कार्य है इसमें भी परस्पर भेद मानना पडता है। बंधका यह चौथा कारण हुआ।

योगवर्णन—

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम्। पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगा पंचादशोदिता:१२

अर्थ—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग ये पंद्रहयोग हैं। इनका विशेष वर्णन जीवतत्वके वर्णनमें

१ मिथ्या दर्शनादीना बन्धहेतुत्व समुदाये च वेदितव्यम्। तत्र मिथ्यादृष्टे पचापि समुदिता बन्धहेतव। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वार। संयतासंयतस्याविरतिमिश्रा प्रमादकषाययोगाश्च। प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकपाययोगा। अप्रमत्तादीना चतुर्णां कषाययोगौ। शान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेक एव योग अयोगकेवली अबन्धहेतुः। २ नहि सर्वाणि मिथ्यादर्शनादीनि एकस्मिन्नात्मनि युगपत्सम्भवन्ति। नापि हिंसादय सर्वे परिणामाः। ३। कषायाविरत्योरभेद इति चेन्न कार्यकारणभेदोपपत्ते। कारणभूता हि कषाया कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता। (इति वार्तिका०) ४ कषाय कषणान्मतः। इति।

हो चुका है। योग मिथ्यादृष्टीसे लेकर केवली पर्यंत रहते हैं। योगोंका भी मिथ्यात्वादि बंधकारणोंके साथ अनिश्चित संबंध है। इसीलिये मिथ्यादृष्टी, प्रमादी न कषाययुक्त जीवके साथ भी योग रहता है और मिथ्यात्वादि कारण नष्ट हो जानेपर भी रहता है। इस प्रकार बंधके कारणोंका वर्णन हुआ।

बन्धका स्वरूप—

यज्जीवः सकषायत्वात्कर्मणो योग्यपुद्गलान्। आदत्ते सर्वतो योगात्स बंधः कथितो जिनैः ॥१३॥

अर्थ—सकषाय बनने पर जीव कर्मयोग्य पुद्गलोंको सब तर्फसे ग्रहण करता है यही बंध है। कोई जीव प्रदेश किसी समय भी बंध होनेसे बाकी नहीं रहता है। सदा सर्व प्रदेशोंमें बंध होता ही रहता है कर्मपिंडोंको ग्रहण करनेका हेतु योग है और कर्मरूप परिणमानेका हेतु कषाय हैं यह भी इसीका अर्थ है कि पूर्वबद्धकर्म के उदयसे जीवमें कषाय प्रगट होता है। उसी कषायसे जीवमें आगामी कर्म बंधते जाते हैं। इसलिये जीवकर्मका संबंध अनादिका है तभी तो नवीन कर्म बंधते रहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन लिख चुके हैं।

कर्म आत्माका गुण नहीं है—

न कर्मात्मगुणोऽमूर्तेस्तस्य बन्धाप्रसिद्धितः। अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तेः कर्तुमर्हति ॥१४॥

अर्थ—कर्म आत्माका गुण नहीं हो सकता है। यदि गुण हो तो अमूर्त आत्माका उससे बंधन होना सिद्ध नहीं हो सकेगा। गुण गुणीमें सदा तादात्म्य संबंधसे रहते हैं इसलिये उनका बंधन कहना अयुक्त होता है बंधन उसीका किसी चीजमें माना जा सकता है जो कि स्वयं जुदी जुदी चीजें हो। इसी प्रकार जब कि वह गुण हो तो आत्माको सुखी व दुःखी नहीं कर सकेगा। जो वस्तुका गुण होता है वह अपने आश्रयभूत द्रव्यको कभी विकारी नहीं बनाता। विकारी वही बना सकता है जो कि विजातीय हो। जो गुण होता है वह सजातीय होता है और इसीलिये कभी अपने आश्रयी द्रव्यमें विकार भाव पैदा नहीं करता परंतु कर्म जीवके सर्वज्ञत्वादि जो अनंत गुण हैं उनका तिरोभाव कर उसे विकृत बना देता है, शरीरमें बांधकर स्वभावविरुद्ध रोक रखता है।

जैसे कि अमूर्त आकाश दिशा आदि अमूर्त पदार्थोंका न तो अनुग्राहकही होता है और न प्रतिघात ही करता है

अ० ५

कि अमुक असुक दिशा अमुक अमुक आकाशके प्रदेश तक मानी जाय और आगे या पीछे न मानीजाय, लोगोंकी जैसी कल्पना होती है उसी प्रकार वे करलेते हैं आकाश कुछ व्यवधान बाधा नहीं देता क्योंकि अमूर्तका अमूर्तसे कुछ बनता विगडता नहीं, इसी प्रकार अमूर्त आत्मा का गुण यदि कर्म होता तो उससे भी उसका कुछ विकार भाव न होता पर देखा तो जाता है इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि कर्म आत्माका गुण नहीं है।

कर्मकी मूर्तिमत्ता सिद्धि—

औदारिकादिकार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत् । न ह्यमूर्तेन मूर्त्तनामारंभः क्वापि दृश्यते ॥१५॥

अर्थ—इसके सिवा यदि कर्म आत्माका गुण है यह किसी प्रकार मान भी लिया जाय तो आत्मा अमूर्त होने से उसका गुण भी अमूर्त ही होगा और जब कर्म अमूर्त सिद्ध होगा तो उससे औदारिक आदि मूर्त शरीरोंकी जो उत्पत्ति देखी जाती है वह भी सिद्ध न होसकेगी क्योंकि अमूर्त पदार्थसे मूर्त पदार्थकी उत्पत्ति होना न्यायसे बाधित है। कभी किसीने कहीं न देखी और न सुनी है।

न च बंधाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्तैः कर्मभिरात्मनः । अमूर्तेरित्यनेकांतात्तस्य मूर्तित्वसिद्धितः ॥१६॥

अर्थ—अच्छा ! यदि कर्म मूर्तिक है तो अमूर्त आत्माके साथ उनका बंध किस तरह हो सक्ता है क्योंकि अभी ऊपर ही अमूर्तका मूर्त्तसे संबंध नहीं होता यह सिद्ध कर आये हैं। यह हुआ प्रश्न,

अब इसका इस श्लोकमें उत्तर देते हैं। इस दोषको हटानेके लिये आत्माको अनादिसे कर्मबद्ध मानते हैं। अनादि स्वभाव माननेमें तर्क नहीं होसकता है। जैसे कि शुद्ध हुए सोनेको यदि कोई चांहे कि मट्टी धूलमें मिलाकर अशुद्ध कर दूं तो नहीं करसकता है परतु खानमेंसे जब सोना निकलता है तब मलसे लिप्त या व्याप्त रहता ही है। वह उसकी अशुद्धता अनिमित्तक है, अनादिकालीन है। क्यों हुई ? इस प्रश्नकी वहां आवश्यकता नहीं[1] है। इसीप्रकार जीव व कर्मोंका बध अनादिसे है और उस बंधके सहारेसे दूसरे उत्तरोत्तर बन्ध होते रहते हैं। इसलिये संसारवर्ती जीवको जैनसिद्धांतमें

१ शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्। साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ १०० अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणाया व्यक्तिरनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसंततेरनादित्वात् इति अष्टसहस्री। इस उदाहरणसे जीवकर्मका सबंध भी अतर्कणीय सिद्ध होता है।

वर्तमान दशाकी अपेक्षासे मूर्तीक माना जाता है। यदि केवल मूर्तीक हो तो मुक्त ही क्या हो ! परंतु मुक्त होना युक्ति-साध्य है। चैतन्यादि गुणोंका इंद्रियोंद्वारा ज्ञान नहीं होता इसलिये वह शुद्ध स्वरूप जो मुक्त होनेपर प्रगट होता है वह अमूर्तीक ही होना चाहिये इस प्रकार शुद्ध स्वभाव या निजस्वरूपकी अपेक्षासे उसे अमूर्तीक मानना पडता है। इस लिये केवल मूर्तीक भी नहीं है और केवल अमूर्तीक भी नहीं है यह बात सिद्ध हुई। इसीलिये मूर्तीक कर्मका जब कि बंध होता है तो उस आत्माको भी पूर्वबद्ध कर्मके संबंधसे मूर्तिक मान सक्ते हैं इसलिये ऊपरका प्रश्न नहीं रहता। कर्मोंसे आत्माका बंध इस प्रकार सिद्ध हुआ।

मूर्तिकताका हेतु—

अनादिनित्यसंबन्धात् सह कर्मभिरात्मनः। अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥१७॥

अर्थ—अनादि कालसे शाश्वतिक बंध जीवके साथ कर्मोंका होरहा है। बंधका स्वरूप यह है कि दोनो पूर्वावस्थाएं छूट कर तीसरी अवस्था प्राप्त होजाय या उस समय दोनोकी एकता प्राप्त होजाय ऐसाही बंध आत्मा तथा कर्मोंका होरहा है। इसलिये अमूर्त आत्मामें भी मूर्तीकता प्राप्त हुई माननी पडती है।

अमूर्तीकसे मूर्तीक बननेकी युक्ति—

बंधं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुप्रवेशतः। युगपद्द्रावितस्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः ॥ १८ ॥

अर्थ—कर्म व आत्माके प्रदेश परस्परमें प्रविष्ट हो जाते हैं इसलिये बंधकी अवस्थामें जीव मूर्तीक मानना पडता है। जब कि मूर्तीक कर्मोंसे एकता हो चुकी है तो आत्माको भी मूर्तीक क्यों न मानना चाहिये।

दृष्टांत—एक साथ सुवर्ण तथा चांदीको यदि गलाया जाय तो दोनो मिलकर एकमय हो जाते हैं। क्या उस हालतमें चांदी व सुवर्णको कोई जुदा जुदा बता सकता है ? नहीं। जो चांदीका स्वरूप है वही सुवर्णका है और जो सुवर्णका स्वरूप है वही चांदीका है। चांदी सफेद है इसलिये उस मिश्रित सुवर्णको भी सफेद कहना पडता है और सुवर्ण पीला होता है। इसलिये उस सुवर्णमिश्रित चांदीको भी पीला कहना पडता है। हां, यदि वे दोनो जुदे करदिये जांय तो चांदी पीली नहीं रह सकती और सुवर्ण सफेद नहीं रह सकता है। इसीप्रकार जीव कर्मके बंधनसे जीव मूर्तीक व कर्म चेतन बन जाते हैं। परंतु जुदा करनेपर कर्म जड व जीव अमूर्तीक ही रहेगा। जुदा होनेपर अपने अपने मूलस्वभावको पदार्थ

प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि, स्वभावोंका संबंध तादात्म्य और शाश्वता होता है। खैर ! शुद्ध होनेपर चाहें जीव कैसा ही हो परंतु बंधके समय मूर्तीकता जब कि सिद्ध हो चुकी तो कर्मोंके साथ बंधन होनेमें कोई बाधा नहीं रही। आत्माको मूर्तीक ठहराना इतना ही हमारा प्रयोजन है।

संसारी जीवको मूर्तीक ठहरानेका अनुमान—

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्। नह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥ १९ ॥

अर्थ—इसलिये आत्माको मूर्तिक ही मानना चाहिये इसका समर्थन करनेवाला यह एक हेतु भी है कि आत्मा मूर्तीक है तभी तो मद्यका परिणाम उसपर होते दिखता है कहीं अमूर्तीक आकाशको भी मदिरा मद पैदा करसकती है? नहीं। परंतु आत्माको तो अपने मदसे वह मोहित करती है इसलिये मानना चाहिये कि मूर्तीक मद्यसे मोहित होजानेवाला आत्मा भी मूर्तीक है। भावार्थ, आत्माका असली स्वभाव तो अमूर्तीक ही मानना पडता है जो कि युक्तिसे सिद्ध है परंतु बंधनकी विचित्रशक्ति होनेसे संसार दशामें वह मूर्तीक भी मानना पडता है।

अमूर्त आत्माका बंध मूर्त कर्मोंद्वारा नहीं हो सकता और बंधन है ही इसलिये अनादि बंधनको अतर्कनीय ठहराकर आत्माको बंधपर्यायमें मूर्त बताया जाता है जिससे बंधन न होसकनेकी शंका न रहे। इसके बदलेमें यदि कर्म भी अमूर्तीक माने जाय और उसी अत्माके गुण माने जांय तो क्या बाधा है ? ऐसा माननेसे अमूर्तको मूर्त ठहरानेकी क्लिष्ट कल्पना करनी न पडेगी। नैयायिकोंने अदृष्टको आत्माका गुण माना भी है ही। इस प्रश्नका उत्तर—

गुणस्य गुणिनश्चैव न च बंधः प्रसज्यते। निर्मुक्तस्य गुणत्यागे वस्तुत्वानुपपत्तितः ॥ २० ॥

अर्थ—आत्माको गुणी द्रव्य और कर्मोंको उसका गुण माना जाय तो दोनोंका बंधन होना सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि गुणी व गुणका तादात्म्य संबंध रहनेपर भी वह बंधन नहीं कहा जाता है। बंधन जुदी जुदी दो चीजोंका ही होता है। यदि यह गुण गुणीका बंध ही माना जाय तो यह तो विचारिये कि कर्मबंधन मुक्ति होनेके समय टूट जाता है। यदि ये कर्म गुण थे तो यों कहना चाहिये कि मुक्तिके समय आत्माके गुणका नाश हो जाता है। जहां गुणका नाश हो जायगा वहा गुणी भी नष्ट हो जायगा; क्योंकि, गुणोंके विना द्रव्यकी सत्ता कोई चीज नहीं हो सकती। अथवा यों कहिये कि

द्रव्योंमें जो गुण रहते हैं वे द्रव्योंके लक्षण होते हैं। गुणोंसे ही द्रव्य जाननेमें आता है। जुदा द्रव्यका कोई स्वरूप नहीं सिद्ध होता। इसलिये किसी गुणका नाश मानो उस द्रव्यके लक्षणका नाश है। जब कि लक्षणका नाश हो चुका तो लक्ष्य पदार्थ किस प्रकार सिद्ध किया जासकता है? बस, गुणके नाशके साथ साथ द्रव्यका भी नाश हो जायगा परंतु सत्[1]का विनाश कभी हो नहीं सकता है। इसलिये कर्मको गुण नहीं मानना चाहिये। कर्मको अमूर्तीक आत्मगुण माना जाय तो सुख दुःखका उसके द्वारा होना तथा शरीर बंधन प्राप्त होना असंभव[2] हो जायगा यह बात पहिले और भी इसी प्रकरणमें कही जाचुकी है। दूसरा एक दोष यह भी आता है कि कर्म यदि गुण हैं तो गुणका कभी नाश नहीं होता इसलिये आत्मा कभी कर्मसे मुक्त ही नहीं होसकेगा।

कर्मोंका विशेष स्वरूप—

प्रकृतिस्थितिबन्धौ द्वौ बन्धश्चानुभवाभिधः। तथा प्रदेशबन्धश्च ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ॥२१॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध अनुभवबन्ध और प्रदेशबन्ध ये बन्धके चार प्रकार होते हैं। प्रकृतिका अर्थ स्वभाव[3] है। वह कर्मरूप पर्याय जबतक बना रहै तबतककी काल मर्यादाको स्थिति[4] कहते हैं। रस विशेष जो उत्पन्न होता है जिसको कि आत्मा अनुभव करता है उसका नाम अनुभवबंध[5] या अनुभागबंध है। परमाणुपुंजोंकी[6] संख्याको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार घटको परिणमानेकी उपादान शक्ति या योग्यता घटके अवयवोंमें माननी पडती है तभी घट पर्याय का प्रादुर्भाव होता है। अथवा, जीवमें शरीरादि पूर्ण करनेकी पर्याप्ति नामक शक्ति जब मानते हैं तभी उन पर्याप्तियोंसे प्राणकार्य उत्पन्न होते हैं। यदि पर्याप्ति न हों तो प्राण उत्पन्न नहीं होसकते हैं। प्राण कार्य होते हैं और पर्याप्ति कारण। अथवा, पुद्गलोंमें जब कि स्पर्शगुण होता है तो उसके शीतोष्णादि उत्तरभेद कार्यदशाके समय अनुभवमें आते हैं। मूलमें

---

१ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इति भगवद्गीता। २ पौद्गलिकं कर्मेत्येतदसिद्धमात्मगुणत्वाच्चस्येति-तन्नामूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात्। इति वार्तिक०।

३ प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरं। यथा निम्बस्य का प्रकृतिः? तिक्तता स्वभावः। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः? अर्थानवगमः। ४ तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। ५ तद्रसविशेषोऽनुभवः। यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। ६ इयत्तावधारणं प्रदेशः।

यदि कोई स्पर्शगुण न हो तो शीतोष्णादि पर्याय किसके उत्पन्न हों? इसलिये यों कहना पडताहै कि शीतादिक विशेष धर्म हैं और स्पर्श, यह एक सामान्य गुण या धर्म है। इसी प्रकार सामान्यविशेषता और कार्यकारणता सर्वत्र भरी हुई है किसी गुण या द्रव्यका स्वभाव इससे शून्य नहीं हैं। इसी प्रकार प्रकृति और अनुभागकी बात है। प्रकृति, यह कर्मोंका सामान्य स्वभाव या धर्म है और अनुभाग, यह उसकी विशेषताका नाम है। विशेषता सामान्यको छोडकर नहीं रहती इसीलिये प्रकृतिको छोडकर अनुभाग नहीं रहता। अनुभागका अर्थ कर्मका रसविशेष है तो प्रकृतिका अर्थ कर्मका सामान्यस्वभाव होगा।

प्रकृतिरूप स्वभाव पुद्गलका एक विभावपर्याय है परन्तु उस प्रकृतिको प्रगट करनेकी शक्ति पुद्गलमात्रमें रहती है। केवल कार्माण वर्गणा तयार होनेपर वंधनेकी विचित्रतासे वह प्रगट हो जाती है। ज्ञानावरणादि बंध हो जाने पर भी वह प्रकृति रहती है। यह प्रकृति उतने प्रकारकी होती है जितने कि प्रकारकी बोलनेमें आसकती है। ज्ञानावरणादि मूल आठ भेद, एक सौ अडतालीस उत्तर भेद तथा मति स्मृति इत्यादि अथवा अवग्रह, ईहा इत्यादि अथवा तिर्यग्गतिके सिंह, घोडा, वैल एवं कर्मभूमितिर्यंच भोगभूमितिर्यंच इत्यादि जो उत्तरोत्तर भेद कहे जाते हैं वे सर्व मतिज्ञानावरणकी तथा तिर्यंचगति कर्मकी उत्तरभेद रूप प्रकृतियां हैं। इस उदाहरणको देखकर उत्तरोत्तर प्रकृतिभेदोंको समझ लेना चाहिये। ये सर्व प्रकृतियां ही हैं।

इन प्रकृतियोंमें रहनेवाला अनुभाग पर्याय वह है जो कि भोगनेमें आता है। उसका अनुभाग जो भोगनेमें आता है वह कहा नहीं जा सकता है तो भी वैसी विशेषता रहती अवश्य है। देखिये, खांडका रस कहनेमें तो 'मीठा' इतना ही आ सकता है। उस रसमें जो विशेषता रहती है वह पूरी कहनेमें नहीं आती तो भी खानेसे उसका अनुभव अवश्य होता है। एक खांड खानेमें कुछ कम स्वादिष्ट होती है और दूसरी कुछ अधिक। स्वादकी वह हीनाधिकता कहनेमें नहीं आ सकती है तो भी वह हीनाधिकताकी विशेषता रहती अवश्य है। वस, इसी प्रकार प्रकृतिरूप ज्ञानावरणादिकोंके एक २ पिंडमें जो फल देनेवाली तरतमरूप परस्परकी विशेषता रहती है वह अनुभाग है, और उसे भी शब्दसे कह नहीं सकते हैं, परन्तु वह है अवश्य। ठीक ही है, जो एकसे दूसरेमें फल देनेकी विशेषता है उसे शब्दसे ठीक ठीक कैसे वता सकते हैं इस प्रकार विचार करनेसे मालूम पडता है कि प्रकृति व अनुभागमें सामान्य विशेषताका ही अंतर है। इसलिये

रस विशेषको आचार्योंने अनुभाग कहा है। यदि अनुभाग व प्रकृतियोंके नाम देखें तो एकसे ही रहेंगे जैसे ज्ञानावरणकी
प्रकृति क्या है? ज्ञानका अवरोध। इसी प्रकार ज्ञानावरणमें अनुभाग क्या है? वह किसी ज्ञानविशेषका अवरोध। इन उदाहरणों
के देखनेसे मालूम होगा कि प्रकृति व अनुभागमें केवल सामान्य विशेषका अंतर है किन्तु स्वभाव या सामर्थ्य एक ही है।
शंका–जब कि प्रकृति व अनुभागमें अधिक अंतर न होकर केवल सामान्यविशेषताका ही अंतर है तो दो भेदोंमें जुदा २
दिखानेकी क्या आवश्यकता थी? केवल प्रकृति माननेसे काम चल सकता था। क्योंकि, जहां किसी विषयमें सामान्य
विशेषताका केवल अंतर होता है वहां उस विषयके दो नाम कभी नहीं रक्खे जाते हैं। सामान्यविशेषता प्रत्येक विषयमें
रहती ही है इसलिये उसका ज्ञान न कहने पर भी हो ही जाया करता है।

उत्तर—यद्यपि दो भेद किये विना भी दोनोंका कुछ ज्ञान हो सकता है परंतु कर्मोंका वर्णन, कर्मोंके नाम रक्खे
विना नहीं हो सकता है और अनुभवका स्वरूप नामोंके अर्थानुसार न होकर कुछ विचित्र ही होता है। इसलिये दोनोंको
जुदा २ कहनेकी आवश्यकता पडी। कर्मोंका वर्णन न करें तो उपदेशका मार्ग कैसे प्रवृत्त हो? और वर्णन, नाम रक्खे
विना कैसे हो सकता है इसलिये कर्मों के प्रकृति रूप नाम रक्खे गये हैं और 'प्रकृति' यह एक कर्म वर्णनका जुदा विभाग
करना पडा है। कर्मोंका वर्णन करना ही बंधप्रकरण दिखानेका प्रयोजन नहीं है। तो? कर्मका बंधन होनेसे जो जीवको
अशुद्धताका फल भोगना पडता है वह विचित्र है। नामोंके शब्दार्थ ज्ञानसे भी वह अतिसूक्ष्म है। कहनेमें नहीं आता है।
प्रकृतिका एक ही नाम जिन असंख्यातों तरतम अनुभागोंमें लग सकता है वे ही अनुभाग भोगनेमें असंख्यातों भांतके
होते हैं। फलोद्गम एक एक अनुभागके अनुसार ही होते हैं न कि प्रकृतिके अनुसार। यदि प्रकृतिके अनुसार फलोद्गम
होते तो प्रकृतिके असंख्यातों ही भेद हैं, न कि अनन्त, इसलिये संसारकी सर्व विचित्रता असंख्यात ही प्रकारकी होती,
न कि अनन्त प्रकारकी। परन्तु संसारकी विचित्रता अनंतों भांत है इसलिये वह असंख्यात प्रकारकी प्रकृतिसे जन्य
नहीं हो सकती है। कारण ही जहां अनंत प्रकारके न होंगे वहां कार्य अनन्त प्रकारके कैसे हो सकते हैं? इसलिये प्रकृतिके
अतिरिक्त एक 'अनुभाग' इसनामका जुदा वर्णन करने योग्य बंधतत्त्वाधिकारका अंतराधिकार रखना पडा प्रकृतिके जुदा
कहनेका प्रयोजन कह ही चुके हैं। इस प्रकार 'प्रकृति' व अनुभाग' ये दो यहां बंधतत्त्वके विभाग आवश्यक हुए।

अब रहे स्थितिबन्ध व प्रदेशबंध। सो प्रकृति व अनुभाग जैसे कोई बंधनप्राप्त पुद्गलपिंड नहीं हैं किंतु उन पुद्गलपिंडोंके

सामर्थ्यविशेष हैं परंतु तो भी वे सामर्थ्य ही कर्मोंको इतर पुद्गलपर्यायोंसे जुदी तरहका दिखानेवाले हैं। इसलिये उन दो भागोंको जुदा करके वर्णन किया जाता है। उसी प्रकार 'स्थिति' यह एक बन्धतत्त्वका तीसरा विभाग अवश्य है परंतु कर्मपिंडसे कोई जुदी चीज नहीं है। आत्माके साथ जैसी कषायकी तीव्रता या मंदतासे कर्मबन्ध होता है वैसा ही वह तीव्रता या मंदता से आत्मामें बद्ध होता है और वैसाही वह बन्धनकी मर्यादाको कायम रखसकता है। एक कर्मपिंड जो मंद कषायके द्वारा बंधा है वह अधिक चिपट नहीं सकता है। वह शिथिल ही रह जायगा। इसीलिये आत्मामें अधिक न टिककर जल्दी ही छूटेगा। एवं, जो कर्मपिंड किसी ऐसे तीव्रकषायसे बंधा हो जो कि अधिक चिपटा हो वह जल्दी जुदा नहीं होगा। इसी टिकावका नाम स्थिति है। जब किसीमें बन्धन होता है तो कम या अधिक टिकाव अवश्य निश्चित हो जाता है। उस मर्यादित टिकावके भीतर स्वयमेव उस बन्धका विघटन कभी नहीं होसकता है। इसीका नाम स्थिति है। यदि किसी प्रबल घातक कारणसे मर्यादाके भीतर उसका उद्रेक होजाता है तो उसे स्थितिसे पहिले उद्रेक हुआ कहते हैं। उदीरणा भी उसीको जैनशास्त्रोंमें कहा है। कर्मोंके टिकावका हीनाधिक परिणमन किस किस प्रकारका होता है, उसका प्रयत्नसे उच्छेद बीचमें ही करना हो तो कैसे किया जा सकता है, इत्यादि प्रयोजन स्थितिस्वरूप दिखाने पर सिद्ध होते हैं; इसलिये यह 'स्थिति' का एक तीसरा विभाग बन्धतत्त्वविवेचनमें जुदा रखना पडा है।

चौथा विभाग इस बन्ध तत्त्वमें 'प्रदेशबंध' इस नामका है। यही विभाग वास्तवमें बन्धके पदार्थको दिखाता है। इस विभागमें 'प्रदेशोंकी संख्या कितनी कितनी बन्धती है, उसकी आकृति कैसी होती है, आत्माके कितने प्रदेशोंमें ये पुद्गल बन्धते हैं' इत्यादि बातों का खुलासा किया जाता है। यह प्रदेशबंध बाकी तीन भावरूप बंधोंका आश्रय है। इसलिये यह चौथा 'प्रदेशबन्ध' नामका विभाग बन्धतत्त्वके प्रकरणमें अवश्य कहने योग्य है।

१ प्रकृतिबंधके भेद।

ज्ञानदर्शनयो रोधौ वेद्यं मोहायुषी तथा। नामगोत्रान्तरायौ च मूलप्रकृतयः स्मृताः ॥२२॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय ये मूल प्रकृतिबन्धके आठ भेद हैं।

१ सव्वट्ठिदीण मुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण। विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥१३४॥ सव्वुक्कस्सठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो ॥१३५॥

ज्ञानावरण कर्म ज्ञानगुणको घातता है या प्रगट होनेसे रोकता है। दर्शनावरण देखनेकी शक्तिको व्यक्त होने नहीं देता है। वेदनीय सुख तथा दुःखका अनुभव कराता है। मोहनीयकर्म आत्मपरिणतिमेंसे हटाकर बाह्य विषयोंमें झुकाव कराता है। आयुःकर्म औदारिक वैक्रियिक शरीरोंमें जीवको रोकनेका काम करता है। नामकर्म शरीर व शरीरके अवयवोंको बनाता है, उनमें उचित अनुचितपनेको भी उत्पन्न करता है। गोत्रकर्म जीवको शरीरके संबंधसे नीच व ऊंच ठहराता है। अन्तराय जीवके इष्ट प्रयोजनोंमें तथा जीवकी शक्तिमें विघ्न डालता है—अपना उदय होनेपर शक्तिको प्रगट नहीं होने देता है।

इन आठों कर्मोंके जो कार्य कहे वे सुगमतासे समझनेमें आजांय इसलिये उन्हींके कार्योंसे मिलते हुए लोकमें जिन चीजोंके कार्य होसकते हैं, उदाहरणार्थ वे चीजें बताते हैं। ज्ञानावरणका उदाहरण पडदा है। किसी वस्तुके ऊपर पडदा पडजानेसे वह वस्तु दीखती नहीं है। दर्शनावरणका उदाहरण द्वारपाल है। द्वारपालके रोकदेनेसे स्वामीका दर्शन नहीं हो सकता है। वेदनीयका उदाहरण सहत लपेटी तलवार है। उसके चाटनेसे सहत लगते ही सुखानुभव होता है और जीभ कटजानेसे दुःखानुभव भी होता है। मोहनीयका उदाहरण मद्य है। मद्यके पीनेसे मनुष्य अंतरंगके विचारसे शून्य होकर वाहिरी विषयोंमें मोहित होजाता है। आयुःकर्मका उदाहरण वेडी है। वेडी पडजानेसे जीव जहांका तहां रुका रहता है। नाम कर्मका उदाहरण चित्रकार है। चित्रकार चित्र बनाता है सो छोटे वडे बनाता है, अच्छे बुरे बनाता है। गोत्रकर्मका उदाहरण कुंभार है। कुंभार घडेको उत्कृष्ट बनादेता है, और चाहे तो निकृष्ट बनादेता है। अंतरायका उदाहरण भण्डारी है। स्वामीकी आज्ञा रहते हुए भी भण्डारीसे किसी चीजके मिलनेमें अंतराय पडता है।[1]

उक्त आठ कर्मोंमेंसे चार घाती व चार अघाती माने जाते हैं। आत्मगुणोंको सीधे घातनेवाले जो हों वे घाती कहे जाते हैं। वे घाती चार कर्म हैं, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अंतराय। शेष रहे चार अघाती हैं, क्योंकि, वे किसी आत्मीयगुणको घातते नहीं हैं। वेदनीय सुख दुःखका अनुभव कराता है इसलिये घातीसा मालूम होगा, क्योंकि, सुख दुःखके साधनभूत विषयोंमें फंसना पडता है जिससे कि शांति या निराकुलतारूप असली सुख गुणका घात हो जाता है। वेदनीयके द्वारा अव्याबाध गुणका घात होना माना जाता है।[2] परन्तु यह घात केवल वेदनीयसे नहीं होता किन्तु

१ पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं। जह एदेसिं भावा तहविह कम्मा मुणेयव्वा ॥ २१ ॥ गोमट० कर्म०
२ अगुरुगुलहुगं गोदं. सुहुमं च णामकम्मं अव्वाबाधं हणेइ वेयणियं।

मोहनीयका बल प्राप्त होने पर वेदनीयसे होता है। इसलिये वेदनीय असली उस गुणका घातक नहीं माना जाता है। परन्तु मोहनीयकी सहायतासे-अवश्य उसके कार्यमें घातीके कार्यकीसी शंका हो जाती है। यही कारण है कि आठ प्रकृतिं गिनाने में वेदनीयको घाती कर्मोंके बीचमें रखदिया है और शेष घाती व अघाती कर्मोंको जुदे २ वर्गोंमें रक्खा है। जब कि ऐसा है तो अंतरायको सबके पीछे अघातियोंके भी अंतमें क्यों रक्खा है ? इसका उत्तर यह है कि अंतराय कर्म जीव के जिस गुण को घातता है वह गुण है तो जीवका ही; परंतु वैसा ही वीर्यगुण निर्जीव यावत् द्रव्योंमें भी रहता है। इसलिये वह गुण एक साधारण गुण है। ज्ञानादि गुणोंकी भांत जीवका ही केवल असाधारण नहीं है यह बात दिखानेके लिये जीवकी अशुद्धि करनेवाले यावत् कर्मोंके पीछेसे इस अंतरायको स्थान दिया गया है और यह रहते हुए भी जीव शक्तिको सर्वथा घात नहीं सकता है।

इसके सिवा तीसरा और भी एक कारण है कि नामादि अघाती कर्मोंकी सहायता विना वह कुछ कर नहीं सकता है। इससे नामादिकके पीछे लिखना ही न्याय युक्त है।

शंका—अघाती कर्मोंके विषयमें यह शंका होना सहज है कि अघाती कर्म जब कि जीवके गुणोंको घातते ही नहीं है तो उन्हें कर्म क्यों कहना चाहिये ? कर्मका साधारण लक्षण यही है कि वह जीवको परतंत्र करे। जो परतंत्रता होती है वह किसी गुणकी ही हो सकती है। इसलिये या तो सर्वकर्म घाती ही होने चाहिये और या जो घाती नहीं हैं वे कर्म भी न होने चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि आठो ही कर्मोंके घातनेयोग्य जीवके आठ गुण कहीं कहीं पर लिखे गये हैं। जब कि आठो ही कर्म गुणोंके घातनेवाले हों तो चारको अघाती कहकर शेष चारको भी क्यों घाती कहना चाहिये ?

उत्तर—जो घाती कर्म हैं वे वास्तविक और सविकल्प तथा अनुजीवी गुणोंको घातते हैं और अघाती कर्म निर्विकल्प तथा प्रतिजीवी गुणोंको घातते हैं। प्रतिजीवी गुण एक ऐसी बात होती है कि उन्हे गुण न कहकर स्वभाव कहें तो भी चलता है। प्रतिजीवी गुण वास्तविक अपनी सत्ता नहीं रखते किंतु दूसरे प्रतिपक्षी गुणवाले पदार्थकी अपेक्षासे एक किसी वस्तुको उस प्रतिपक्षीसे उलटी मनाना यही प्रतिजीवी गुण या स्वभावका अर्थ है। इसीलिये उन गुणोंको यदि वास्तविक

१ घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं। इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पडिदं तु ॥ १९॥ गो० क०

२ घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो। णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि ॥ १७॥ गो० क०॥

न माना जाय तो कुछ अनुचित नहीं है। जैसे कि सूक्ष्मत्व स्वभाव जो किसी वस्तुमें माना जाता है वह एक दूसरे स्थूलत्वगुणवाले पदार्थकी अपेक्षासे। इसी प्रकार सर्व प्रतिजीवी गुणोंकी कल्पनाएं की जाती हैं। इसलिए उन्हें गुण न लिखकर स्वभावमात्र[1] लिखें तो भी कुछ हानि नहीं है। अघाती कर्म जिन गुणोंको घातते हैं वे भी ऐसे ही प्रतिजीवी गुण हैं। इसलिये उन्हे गुणघाती न मानकर स्वभावके विरोधी मानें तो भी ठीक होगा और उन कर्मोंको अघाती कहना भी संभव हो जायगा। देखिये, अघाती चारो कर्मोंसे जो चार गुण घाते जाते वे ये हैं, १ वेदनीयकर्मसे घाता जानेवाला गुण अव्याबाध, २ आयुः कर्मका प्रतिपक्षी अवगाहन गुण, ३ नामकर्मका सूक्ष्मत्व गुण। ४गोत्रकर्म का अगुरुलघु गुण। इन चारोंमेंसे एक भी ऐसा गुण नहीं है जो कि घाती कर्मों द्वारा घाते जानेवाले ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणोंकी भांत साक्षात् सत्तावान अनुजीवी गुणहो।

अघातियोंका अघातीपना—

परस्परमें एक दूसरी चीजें मिलनेपर जो संघट्टन होता है उससे चीजोंमें क्षोभ उत्पन्न होजाता है—वे चीजें स्वस्थ अवस्थामें रह नहीं पाती हैं। वस, इसीको बाधा या व्याबाधा कहते हैं। ऐसे क्षोभके निमित्त मिलनेपर जा आत्मामें व्याबाधा उत्पन्न होती है उसका अंतरंग कारण वेदनीय कर्म माना जाता है। सर्व प्रकारकी मोहजन्य विषयकांक्षाओंके अनुभव करानेमें आत्माको लगानेवाला वेदनीय कर्म है। वेदनीय वेद्य या वेदन शब्दोंका तात्पर्यार्थ भी यही होता है। और इसीलिये वह मोहके उदय विना अपना फल नहीं दिखा सकता है। उस वेदनीयके नष्ट होजानेसे जो आत्मामें क्षोभ मचानेवाली व्याबाधा थी वह नहीं रहती। उसी समय कहाजाता है कि अव्याबाधा अवस्था या गुण प्रगट हुआ। यहा देखनेकी वात यह है कि क्या तो पहिले वेदनीयकी उदयावस्थामें नहीं था और क्या अब वह प्रगट होगया? कुछ नहीं, जो विकार होजानेके कारण बाधासंवेदन होता था वह नहीं रहा। इसे वास्तवमें कोई गुण नहीं कहसकते है। केवल विरुद्ध अवस्थाके संवेदनका अभाव होगया है, इतनी अपेक्षा लेकर यदि चांहे तो उसे प्रतिजीवी गुण कहसकते हैं, नहीं तो कुछ नहीं है। और वह भी असली कार्य मोहनीयका है, जो कि मोहनीय घाती कर्म है। जो अशुद्ध अवस्था हुई वह तो मोहका ही कार्य है; वेदनीय केवल उस अवस्थामें सुखी दुःखी बनानेकी तर्फ जीवको उन्मुख करता है। इसीलिये उस कार्यको

१ 'गुणाः स्वभावा भवन्ति स्वभावा गुणा भवन्ति न भवन्ति च। इति आलापपद्धति'।

वास्तवमें मोहका ही कहना चाहिये। यदि मोहका यह कार्य न होकर वेदनीयका ही केवल होता तो इसे भी घाती अवश्य कहना पडता और फिर मोहको जुदा माननेकी आवश्यकता भी न रहती। जो लोग केवल वेदनीयको भी कार्यकारी मानते हैं उन्हे इसका उत्तर देना चाहिये कि वेदनीय घाती क्यों नहीं है ? इसीलिये तो आचार्योंने उसे घाती नहीं माना जिससे कि मोह न रहनेपर वह कुछ कार्यकारी नहीं होता। देखिये, ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर आगे मोह नहीं रहता इसलिये वेदनीय कुछ भी कार्य वहां नहीं कर सकता है। यदि वह वहां कुछ कार्य करे तो यों कहना चाहिये कि तेरहवें गुणस्थानमें भी दुःख–अशांती छूट नहीं पाती। जब कि ऐसा है तो तेरहवें गुणस्थानको जीवन्मुक्ति कहना भी ठीक नहीं बनेगा। 'जीवन्' का अर्थ अघाती कर्मोदय है, और मुक्तिका अर्थ कर्मकृत दुःखोंसे पूरा छूट जाना है।

ऊपरके कथनसे यह सिद्ध हुआ कि वेदनीय किसी गुणका घाती न होनेसे अघाती है। अब आयुः कर्मको देखिये, आयुः[2]कर्मका कार्य शरीर या भवमें जीवको रोक रखना है। इसीको यों कह सकते हैं कि वह अवगाहन-गुणको घातता है। इससे यह फलितार्थ सिद्ध हुआ कि शरीरमें रुकनेका नाम अवगाहनघात है। अब यहां यह देखिये कि, अवगाहन क्या है और उसका घात क्या हुआ है ?

क्षेत्रकी लम्बाई, चौडाई व ऊंचाई के परिमाणको अवगाहन कह सकते हैं। अथवा[3] उस परिणाममें समाकर रहना सो अवगाहन है। जीवकी शुद्ध अवस्थाका और अशुद्ध अवस्थाका अवगाहन तो एकसा ही होता है परन्तु प्रदेशसंख्याकी तर्फ देखें तो जीवके प्रदेश उतने हैं जो कि लोकाकाश भरमें पसर सकें और एक दूसरेसे जुदे भी न हों। केवलसमुद्घातमें ऐसा माना भी गया है कि आत्माके प्रदेश पसरकर लोकाकाशभरमें क्षणभरके लिये व्याप जाते हैं। इतर समयोंमें सदा शरीर परिमाण होकर रहते हैं और मुक्त होनेपर भी अंतिम शरीरके बराबर ही विस्तृत रहते हैं। जब कि अवगाहन शब्दका यही अर्थ है तो इसमें घात किसीका भी नहीं हुआ। जब तक कर्म बंधन है तबतक प्रदेशोंके विस्तारमें हीनाधिकता होती रही और कर्म न रहने पर प्रदेशविस्तार कायम होकर टिका रहा। इसीलिये जो

१ इसका अधिक खुलासा अंतमें लिखेंगे।

२ आउबलेण अवट्ठदि भवस्स इदि आउणाम पुव्व तु। भवमस्सिय णीचुयं इदि गोदं णामपुव्व तु॥ ३ करणार्थमें प्रत्यय करनेसे परिमाणशब्दका पहिला अर्थ होगा ओर भावप्रत्यय करनेमें यह दूसरा अर्थ होता है।

अवगाहनके परिवर्तन होते रहनेका कार्य आयुःकर्म करता है वह वास्तविक कोई घात नहीं है, जैसा कि ज्ञानावरणादिके उदयसे ज्ञानादि गुणोंका घात होता रहता है। हां, अवगाहन गुणका उसे घाती बतानेका मतलब यह समझना चाहिये कि वह कर्म उस अवगाहनका फेरफार कराता रहता है। प्रथम तो अवगाहन कोई अनुजीवी सत्तात्मक गुण ही नहीं है और फिर अवगाहनके फेरफारसे उसका घात हुआ मानना ही भूल है 'घात' यह शब्द जो आचार्योंने लिखा है उसका अर्थ भी वास्तविक 'घात' ऐसा नहीं है। इसलिये इस आयुः कर्मको अघाती मानना असंगत नहीं है।

तीसरा अघाती कर्म नाम कर्म है। यह सूक्ष्मत्व गुणको घातता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अमूर्तीक होने से सूक्ष्म माना जाता है। सूक्ष्मका अर्थ परमाणुकी भांत, और सूक्ष्मता न रहनेका अर्थ घटपटादि स्थूल पदार्थोंकी भांत, आत्मामें स्थूलता व सूक्ष्मता नहीं मानी जाती है। तो? रूपादिगुणोंका अत्यंताभाव होनेसे सूक्ष्मता है और कर्मसंयोग व शरीरसंयोगके हो जानेसे उपचरित स्थूलता मानी जाती है। पुद्गलके परमाणुओंमें रूपादि गुण तो रहते हैं परन्तु इंद्रियगोचर नहीं होते, इसलिये सूक्ष्मता मानी जाती है। बडे पुद्गलस्कन्धोंमें रूपादिगुण इंद्रियग्राह्य रहते हैं इसलिये वे पुद्गल स्थूल माने जाते हैं इस कथनसे यह मालूम हो जायगा कि पुद्गलकी स्थूलता तथा सूक्ष्मता, दूसरी भांतकी है और आत्माकी सूक्ष्मता, स्थूलता दूसरी भांतकी है आत्माकी सूक्ष्मता तो वास्तविक हो सकती है; क्योंकि स्थूलताका कारण रूपादियोग उसमें नहीं रहता। परन्तु स्थूलता शरीरके सम्बन्धसे औपचारिक ही हो सकती है। क्योंकि, रूपादिगुणोंकी सत्ता हो तो वह कभी इन्द्रियग्राह्य होनेपर स्थूलरूप धारण कर सकेगी, किंतु जहां रूपादिका अत्यन्ताभाव होगा वहां वास्तविक स्थूलता आ ही कहांसे सकती है? इस प्रकार जब कि आत्मामें वास्तविक स्थूलता नहीं हो सकती है तो सूक्ष्मताका वास्तविक विघात हुआ कैसे माना जा सकता है? इसीलिये सूक्ष्मताका घातक नामकर्मको मानना औपचारिक है। इस उपचारका निमित्त शरीर सम्बन्ध होनेसे जिस प्रकार आत्माको मूर्तिक मानना औपचारिक है वैसे ही स्थूल मानना भी औपचारिक है। इस उपचारकी कल्पनाका प्रयोजन क्या है? नामकर्मके संबंधसे जीवकी अवस्था क्या बदलती है, यह बात दिखाना इस उपचारका प्रयोजन है। इस नामकर्मके उदयसे शरीरका संबंध होना मुख्यकार्य है परन्तु स्थूलता प्राप्त होना औपचारिक ही है, इस बात में एक दूसरा भी प्रमाण है वह यह कि, कर्मके बन्धनेसे आत्मामें मूर्तीकता होना मानना सर्वथा व वास्तविक जैसे नहीं है वैसे ही स्थूलता भी सर्वथा वास्तविक नहीं हो सकती है। जब कि वास्तविकस्थूलता नहीं हुई तो सूक्ष्मताका घात भी

नामकर्म द्वारा वास्तविक हुआ नहीं मानना चाहिये।

अब रहा अघातीकर्म गोत्रकर्म। यह अगुरुलघू गुणको घातता है। यह घातना भी औपचारिक है। गोत्रकर्मका वास्तविक कार्य जीवको ऊंचा–नीचा ठहराना है। इसीको दूसरे शब्दोंमें कहें तो यों कह सक्ते हैं कि अगुरुलघूगुणका वह घात करता है। अगुरुलघू गुण वह है जो कि सर्व जीवाजीव द्रव्य मात्रका साधारण गुण है। उसका कार्य यह है कि अपने अपने द्रव्यके अंतर्गत जितने गुण हों उनको सीमाके अनुसार छह प्रकारसे घटाता रहे और बढाता रहे। उसगुणका कभी घात नहीं होसकता है। वह गुण जिस प्रकार शुद्ध अवस्थामें रहता है उसी प्रकार अशुद्ध अवस्थामें भी रहता है और अपना काम करता है। परनिमित्तक व स्वनिमित्तक पर्यायोंमेंसे स्वनिमित्तक पर्याय होना तथा कराना उसीका कार्य है। वे स्वनिमित्तक पर्याय होना अशुद्ध अवस्थाके समयमें भी वस्तुओंमें होते ही हैं। यदि अगुरुलघु गुणका गोत्रकर्म घात करता होता तो अशुद्ध संसारी जीवमें स्वनिमित्तक पर्याय होना ही बंद हो जाता और साथ ही अगुरुलघुगुणका एक यह भी कार्य है कि वस्तु या गुणको सर्वथा नष्ट न होने दे। यदि उस गुणका घात होगया तो जीवका सर्वनाश होनेसे भी कौन रोक सकता है? परंतु वस्तुमात्रमें स्वनिमित्तक पर्याय होनेसे रुकजाना भी असंभव है और किसी वस्तुका सर्वनाश होना भी असंभव है। इसलिये मानना पडता है कि इस गोत्रकर्मका वह घात नहीं करसकता है। तो? संतानक्रमसे प्राप्त हुए ऊंच नीच आचरणको गोत्र कहते हैं। यह ऊंच नीचता वास्तविक जीवका स्वभाव नहीं है। जीव सर्व चैतन्यादि समशक्तिके धारण करनेवाले हैं। उनमें नीच ऊंचताका माननेका कोई हेतु ही नहीं है। परन्तु शरीरके होनेसे शरीरयुक्त जीवमें यह नीचऊंचता आरोपित होजाती है। इसका आरोपणकारण गोत्रकर्म है और सहकारी कारण नामकर्मजनित शरीर है। शरीर है तो शरीरके संबंधसे जो जीवमें दोष प्रगट होंगे उनके कारण कर्म होने ही चाहिये। क्योंकि, कर्मके विना जीवकी विकृत अवस्था होना संभव नहीं है। इसीलिये जितने प्रकारके विकार हों उतने ही प्रकार कर्ममें मानने पडते हैं। यदि ऐसा न होता तो कर्मके शेष भेद करना भी व्यर्थ होजाता। परन्तु कारण भेदके विना कार्योंका भेद होना न्यायवाधित है। इसलिये ऊंचनीचपनेका कारण एक जुदा कर्म मानना ही पड़ता है।

ऊचनीचको ही गुरुलघु भी कहसकते हैं। इसलिये जिस शुद्ध आत्मस्वरूपमें गुरुता तथा लघुता वास्तविक नहीं थी उसमें शरीरके संबंधसे प्राप्त होगई–यही अगुरुलघु स्वभावका घात हुआ कहना चाहिये। यहां जिस अगुरुलघु स्वभावका

घात हुआ बताते हैं वह अगुरुलघु सत्ताप्राप्त जीवका अगुरुलघु गुण नहीं समझना चाहिये। क्योंकि, उसका घात होना संभव नहीं है। यह अगुरुलघु केवल गुरुलघुत्वकी या नीचऊंचपनेकी कल्पनाके अभावका नाम है। जीवमें यह गुरुलघुत्व की कल्पना होनेका कारण नहीं था, परन्तु बन्धनके वश तो भी यह कल्पना होजाती है। बस, यही अगुरुलघु प्रतिजीवी आपेक्षिक स्वभावके घात करदेनेका अर्थ समझना चाहिये। अब विचारिये कि गोत्रकर्मने किसका घात किया? किसी भी सत्तात्मक गुणका घात नहीं किया। गोत्रकर्मने यदि कुछ किया तो इतना ही कि, जिस आरोपका जीवमें नाम भी नहीं था उस जीवमें शरीरके संबन्धसे वह आरोप प्राप्त करादिया। इसलिये वास्तवमें यह कर्म किसीका घातक नहीं रहा परन्तु तो भी इस कर्मकी आवश्यकता रही। इसीलिये इसे अघाती कर्म कहते हैं। यदि यह कर्म न माना जाय तो ब्राह्मणकी तथा ब्रह्मकी संतानको ब्राह्मण कहना एवं विशू या वैश्यकी संतानको वैश्य कहना कैसे संघटित होगा? क्योंकि, ये शब्द अपत्यके अर्थमें रहते हैं। अपत्य नाम संतानका है। संतान परंपरासे होसकती है। इसलिये यह गोत्रकर्म जो ऊंच नीचता ठहराता है वह ऊंच नीचपना रहता जीवके शरीरमें ही है परन्तु सतानके संबन्धसे। यह गोत्रकर्म जीव विपाकीकर्म माना गया है। जीवविपाकी उसे कहते हैं कि जिस कर्मका फल जीवपर ही प्राप्त हो।

इस सर्व लेखका तात्पर्य यह है कि चार कर्म वास्तवमें अघाती ही हैं। उन्हे घाती जो कहा है वह उपचारसे या प्रतिजीवी स्वभाव मानकर कहा है।

हम यह भी लिखचुके हैं कि अघाती कर्मोंद्वारा जिन स्वभवोंका घात होना लिखा है वे ज्ञानादि गुणोंकी भांत सविकल्पक नहीं हैं किंतु निर्विकल्पक हैं। सविकल्पक तथा निर्विकल्पक गुणोंमें क्या अंतर होता है वह देखिये, जिन गुणोंका इंद्रियों द्वारा या स्वानुभवद्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होसकता हो वे सविकल्पक गुण कहाते हैं शेप सर्व निर्विकल्पक। पुद्गलके रूप, रस, गंध, स्पर्शका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है इसलिये पुद्गलके ये चार गुण सविकल्पक कहाते हैं,। शेप सर्व निर्विकल्पक।

जीवके ज्ञान, दर्शन स्वानुभवगोचर होते हैं इसलिये सविकल्पक हैं। ज्ञान-दर्शनका अर्थ जानना देखना है परंतु

१ संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥१७॥ गोमट० कर्म०। २ वेद णियगोदघादीणेकावण्णं तु णामपयडीणं। सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवपाईओ ॥ ४९ ॥ ॥ तित्थयरं उस्सासं बादरपज्जत्त सुस्सुरा देज्जं। जस तसविहायसुभगदु चउगइ पणजाइ सगवीसं ॥ ५० ॥ कर्म०।

देखना जानना जहां रहता है वहां उन्ही ज्ञानदर्शन-गुणोंके वर्तनरूपसे होसकता है उसी प्रकार उस जाननेका वर्तन या चरण भी ज्ञानदर्शनके साथ ही अनुभवगोचर होता है । क्योंकि जानना, देखना व प्रवर्तना ये तीनो स्वभाव एक ही वस्तुके, एकही कालमें रहनेवाले, एक ही विषयगत धर्म हैं। इसलिये चारित्रगुण भी प्रत्यक्ष हुए विना रहता नही है। ये तीन घाती कर्मोंके द्वारा घाते जाते हैं।

अब रहा वीर्य जो कि अंतरायके द्वारा घाता जाता है। वह वीर्यगुण भी सविकल्पक है। क्योंकि; चारित्रकी भांत वह भी ज्ञानदर्शनसे जुदा होकर नहीं रहता और न ज्ञानादि धारनके सिवा उसका दूसरा कोई उपयोग ही है । इसीलिये जैसे चारित्र सविकल्पक है वैसे वीर्य भी सविकल्पक होना चाहिये । ज्ञानका धारना वीर्य, और वर्तना चारित्र—ये दोनो समान विषयके धर्म हैं। जो जाननेवाला होगा वह अपनी ज्ञानशक्ति व दर्शनशक्तिको जिस प्रकार जानेगा उसी प्रकार उस ज्ञानकी या अपनी वर्तना शक्तिको भी जानेगा और धारणाशक्तिको भी अवश्य जानेगा। वस, इसीलिये हम चारोको स्वानुभवगोचर कहते हैं और स्वानुभवगोचरका ही नाम सविकल्पक है। ये चारो शक्तियां सविकल्पक हैं इसीलिये इनके घातक कर्मोंको असली घाती कर्म कहते हैं।

इस प्रकार जब कि आत्माके चार ही गुण सविकल्पक हैं, सत्ताधारी हैं, वास्तविक हैं तो आठो कर्म घाती किस प्रकार माने जासकते हैं ? इसलिये आठो गुणोंके घातक आठो कर्मोंको मानना एक अपेक्षावश है। वास्तवमें चार घाती और चार अघाती ही हैं। अब शंका यह रही कि तीन कर्म तीन गुणोंको घातते हैं और मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्र इनदो गुणोंको घातता है। तो मोहनीयकर्मके सम्यक्त्व मोहनीय व चारित्र मोहनीय ये दो भेद किये गये है। इसलिये मोहनीय को केवलचारित्रका घातक वताना ठीक नहीं है। जब कि मोहनीय दो गुणोंका घातक रहा तो चारघातिकर्मोंसे चार गुणोंका घात होना क्यों वताया गया है ? किंतु पांच गुणोंका घात कहना चाहिये । दूसरी शंका यह है कि शुद्ध जीवोंके कर्मनष्ट होनेपर प्रगट होनेवाले जो आठ गुण[3] कहे हैं उनमें चारित्र को न कहकर सम्यक्त्वकोही कहा है। सो

१ कथं तेषां (दानादीनां) सिद्धेषु वृत्तिः ? परमानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः । केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत् । (इति सर्वार्थसिद्धिः)

२ आवरणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो। आउगनामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ॥ ७॥ गो० कर्म ।

३ सम्मत्तणाण दंसण विरियं सुहमं तहेव अवगहणं। अगुरुगलहुगमबाधं अट्ठ गुणा होंति सिद्धाणं॥

क्यों ? वहां चारित्र क्यों छोडा गया ? कहीं कहीं पर चारित्र व सम्यक्त्वमें से एकको भी न कहकर सुख गुणका ही उल्लेख किया है। सो क्यों ? मोहनीयके विषयमें एक चौथी शंका यह होसकती है कि मोहनीय जब कि सम्यक्त्व व चारित्र इन दो गुणोंका घातक है तो मूल प्रकृतियों में उसके दो भेद मान कर कर्म नौ कहने चाहिये थे । परंतु कहे आठ ही हैं। सो भी क्यों ? इस प्रकार मोहनीय के विषयमें अनेक शकाएं होसकती हैं।

उत्तर—प्रथम देखना चाहिये कि मोहनीय कर्मका क्या स्वरूप है और वह एक जुदा क्यों मानागया है ?

शंका—मोहनीयका कार्य यह है कि वह जीवका निज स्वरूप प्रगट न होनेदे—संसारीक दशाको बढावे । संसारीक दशाका अर्थ यह है कि जीवमें आकुलता बढै, अशांति बढै, क्षोभ बढै। जब कि विजातीय द्रव्यका मिश्रण होगा तो एकाकी जीवकी शुद्धदशाकीसी शांति या निराकुलता कैसे रहसकती है ? इस अशांतिमें तीन विभागोंकी कल्पना करनी पडती है: एक तो, अशांतिरूप वेदन, दूसरा, उस वेदन की तर्फ लगाने वाला या झुकानेवाला कारण, तीसरा उस वेदनका विषय । जो अशांतिका वेदन है वह तो ज्ञानरूप होनेसे ज्ञानगुणमें गर्भित होगा और उसका कारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम होगा । दूसरा प्रकार जो अशांतिका होगा वह वेदनीय कर्मका कार्य होगा। तीसरा अशांतिका प्रकार जो अशांतिवेदनका विषय है उसे भी अशांति ही कहना चाहिये और वह मोहनीयका कार्य समझा जायगा । इन तीनों अर्थोंका संग्रह एक अशांतिक—शब्दमें होसकता है । इन तीनोंमेंसे मोहनीयका कार्यरूप जो अर्थ है वह वाच्यरूप अर्थ है और ज्ञानकी अपेक्षासे ज्ञेयरूप अर्थ है । अशांतिरूप जो ज्ञान उत्पन्न हो उसमें अशांति—यह विशेषण होगा । इसीलिये विशेषण निकाल दिया जाय तो ज्ञान ही ज्ञान शुद्ध रहसकता है और जो विशेषण जुदा किया गया है उसे चाहे शांति कहिये या अशांति परंतु रागद्वेषका ही वह स्वरूप मानना पडेगा । रागद्वेषरूप कार्य मोहनीयका कार्य समझा जाता है। परन्तु अशांति व शांतिको

१ अब्भरहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो हि दंसणं होदि । सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे ॥ १९ ॥ गो० कर्म- । 'परमानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः [इति सर्वा० अ० २] २ अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यतामनन्तसौख्यत्वमनन्तदर्शनम् । बिभर्ति योनन्तचतुष्टयं विभुः स नोस्तु शान्तिर्भवदुःखशान्तये ॥ (श्रीवीरनन्दिकृतचन्द्रप्रभचरित)

कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि ॥ २१॥ गोम्म० कर्म० । नैवं-यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयो । मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥ मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् । इष्टानिष्टार्थसंयोगात्स्वयंरज्यद्द्विषद्यथा ॥

वेदनीयका भी कार्य कहते हैं इसका तात्पर्य यही मानना पडेगा कि अशांतिरूप विषयका जनक मोहनीय है और उसके अनुभवमें आत्माको लगाना सो वेदनीयका कार्य है एवं उसे ज्ञान कहे विना भी रहा नही जा सकता है परन्तु ज्ञानका प्रकाश ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमकी आवश्यकता रखता है तभी तो हमने कहा है कि अशांति यह तीनों कर्मोंका कार्य है। परन्तु जो उस विषयको उत्पन्न करै, मुख्य उसी कर्मको कहना चाहिये और वही आत्मा को असली बांधनेवाला है। इससे यहा तात्पर्य यह लेना कि अशांति, मोह, आत्मज्ञानपराङ्मुखता तथा विषयासक्ति ये सर्व कार्य मोहके ही हैं।

मोहके इन कार्योंको हम दो प्रकारसे विभक्त करते हैं; (१) आत्मासे विमुखता, और (२) विषयोंमें प्रवृत्ति। ये दोनों ही बात वास्तवमें तो कोई जुदी जुदी नहीं हैं; क्योंकि, इसमें एक आत्मसंबन्धी मल या अशांतिको ही निषेध व विधिमुख होकर दिखाया है। आत्मस्वरूपको भूलकर उससे हटना यह निषेधमुखी दोष है और फिर विषयोंमें रमना यह विधिमुखी दोष है। इन दोनोंको एक शब्दसे कहना हो तो आत्ममल, आत्मक्षोभ या आत्म–अशांति–इत्यादि किसी भी शब्दसे कहसकते है। बस, इसी दोषके पहिले भेदको हम मिथ्यादर्शन–शब्दसे कहेंगे और दूसरेको कषाय–शब्दसे कहेंगे। पहिला भेद अधिक बलवान् माना जाता है और दूसरा कुछ कम। इसका कारण यह है कि प्रथम ही यदि आत्माको भूलकर जीव उससे विमुख हो तो पीछे विषयासक्ति उत्पन्न होगी। यद्यपि इन दोनो कार्योंमें विलंब नहीं लगता है तो भी कार्यकारण सबन्ध माना जासकता है।

कारणके नाशसे कार्य भी नष्ट होजाता है; इसलिये विषयासक्ति घटानेसे प्रथम ही आत्मज्ञान उत्पन्न करनेका आचार्य उपदेश देते हैं। आत्मज्ञान और सम्यक्त्वमें कोई अंतर नहीं है। इसीलिये आत्मज्ञानको सम्यक्त्व[1] कहते हैं। इसमें यदि अन्तर है तो विषयविषयीपनेका है। आत्मज्ञान विषयी है और आत्मशुद्धि विषय है। अशुद्धताका ज्ञान तो सभीको होता है परंतु उसकी अशुद्धतामात्र जबतक दीख पडती है तबतक वह मिथ्यादर्शन[2] कहाता है और शुद्धताका जब ज्ञान होने लगता है तब वही सम्यत्व कहाने लगता है। इसका कहना सुना सुगम नहीं है और आत्मशुद्धिरूप सम्यक्त्व

---

१ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। २ शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये। अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परं ॥ न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणं। शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥ [पचा० पृष्ठ० १०७]

एक निर्विकल्प भाव है इसीलिये इसे साधारण ज्ञान और यावद्वचनोंके अगम्य माना है। हां, उसीके ज्ञानको सम्यक्त्व कहते हैं तो सुगम भी पड़ता है और कुछ दोष भी नहीं आता।

शंका—यद्यपि मिथ्यात्व व कषाय एक ही बात है, इसलिये मिथ्यात्वके नाश होने पर कषायका अभावभी होना ही चाहिये, जिसे कि चरित्रप्राप्ति कहते हैं। परन्तु ऐसा होता नहीं है सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर भी चौथे गुणस्थानमें चरित्र प्राप्त नहीं होता। इसीलिये चौथे गुणस्थानको अव्रतरूप कहते हैं। थोडेसे व्रत हो जानेपर पांचवां गुणस्थान होता है। पूर्ण व्रत होनेपर व्रतीसंज्ञा होते हुए भी यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार विचारनेसे मालूम होगा कि सम्यक्त्व क्षायिकरूप पूर्ण प्राप्त होनेपर भी चारित्रकी प्राप्तिमें व पूर्णतामें विलंब लगता है। इसलिये सम्यक्त्व व चारित्रमें और मिथ्यात्व व कषायोंमें एकता तथा कार्यकारणपना मानना कैसे ठीक हो सकता है ?

उत्तर--मिथ्यात्व न रहने पर जो कषाय रहते हैं वे मिथ्यात्वके साथ रहनेवाले अतितीव्र अनंतानुबंधी कषायोंके समान नहीं होते किंतु अतिमन्द हो जाते हैं। इसीलिये वे कषाय भी चाहें बंध करते रहें परन्तु दीर्घसंसारके कारण भूत-बंधको नहीं होने देते हैं और इसीलिये ज्ञानचेतना भी सम्यग्दर्शन होते ही सुरू हो जाती है जो कि बंधनाशका कारण है। इससे प्रथम मिथ्यात्व रहते समय जो चेतना होती है वह कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है जो कि पूर्णबंधका कारण मानी जाती है। इससे सारांश यह लेना चाहिये कि कषाय तो सम्यक्त्वीमें भी शेष रहते हैं परन्तु—मिथ्यात्वके नाश होने

१ सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरं। गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः॥ न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक्। नापि देशावधेस्तत्र विषयानुपलब्धितः॥ अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकं। तदृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः॥ तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोरेरिव रश्मिभिः। दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः॥ दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः। (पंचा० पृष्ठ० १२४) २ अर्थाज्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् (पंचा० पृष्ठ-१२५) सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरं। तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्। (पंचा० पृष्ठ-१२६]

३ । अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक्प्राप्तावस्थान्तरं यदा। आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना॥ सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः। न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसंभवात्॥ पंचा०पृ० १०६ ॥ ४ अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात्। न ज्ञानचेतना किंतु कर्मतत्फलचेतना ॥पंचा० पृष्ठ० १०७॥

से अतिमंद हो जाते हैं और कुछ अंशोंमें अबंध व निर्जराके सहायक बन जाते हैं। इसलिये मिथ्यात्व व कषायका कुछ अविनाभाव जरूर है।

अब रही यह बात कि मिथ्यात्वनाशके साथ ही कषायोंका पूर्ण नाश क्यों नहीं होता? सो इसका उत्तर यह है कि-कषाय व मिथ्यात्व सर्वथा एक चीज तो हैं ही नहीं। सामान्य स्वभाव दोनोंका एक है परंतु विशेष अपेक्षासे कुछ भेद भी है; नहीं तो दो नाम ही जुदे जुदे क्यों होते; और दोनोंके जनक कर्म भी जुदे जुदे क्यों होते? देखिये, 'विशेषसामान्यकी अपेक्षासे भेदाभेद दोनों ही यहां मानने चाहिये।' यह भाव दिखानेकेलिये ही तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताने सम्यक्त्व व आत्मशांतिको घातनेवाली मूल प्रकृति एक रक्खी और उत्तरमें सम्यक्त्व मोहनीय व चारित्रमोहनीय ये दो भेद करदिये हैं। जब कि उत्तरमें दो भेद हैं ही तो उनके नाशका ठीक अविनाभाव कैसे होसकता है? हाँ, परंतु मूल कारण न रहनेपर चारित्र-मोहनीयका टिकाव फिर भी अधिक नहीं, रहता है। साथ नहीं तो भी कुछ ही कालमें चारित्रमोहनीय भी नष्ट होजाता ही है।

अथवा, यों कहना चाहिये कि चारित्रमोहनीय मिथ्यात्वके अभावमें रहता तो है परंतु जब तक चारित्रमोहनीय रहता है तबतक सम्यक्त्वकी भी पूर्ति नहीं होपाती है—क्षायिक सम्यक्त्व भी केवल सम्यक्त्व नाम नहीं पाता है जोकि रत्नत्रयकी पूर्णताका एक चिन्ह है। भावार्थ, कुछ संस्कारवश हो या चारित्रमोहके ही संबंधसे हो, चारित्रमोहनीयके तथा घाती कर्मोंके समयतक सम्यक्त्व पूर्ण नहीं होता।

अथवा, सम्यक्त्व होजानेपर भी ज्ञान सदा स्वानुभूतिमें ही तो नहीं रहता है। ज्ञानका जब बाहिरी लक्ष्य होजाता है तब स्वानुभूतिसे हट जानेके कारण सम्यग्दृष्टी भी अल्प स्वल्प विषयोंमें तन्मय होता है। परंतु यह छद्मस्थ ज्ञानकी चंचलताका दोष है और इसका भी कारण कषायें ही हैं परंतु ज्ञानकी केवल कषायनिमित्तक चंचलता थोडे समयतक ही रहसकती है और फिर भी वह तीव्र बंधका कारण नहीं होपाती है।

---

१ कषाय तो कभी भी अबंधके कारण नहीं होते परन्तु जितने अंशोंमें वे क्षीण हो जाते हैं उतने ही अंशोंमें स्वरूपाचरणादि चारित्र प्रगट होते हैं वे निर्जरा व अबंध करते हैं। भावार्थ, सम्यक्त्व चाहे कषायोंका पूर्ण नाश न करे परन्तु कुछ करता है और चारित्रको कुछ प्रगट करता ही है।

२ अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम्। सुदृशां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन॥ तद्यथा सुखदुःखादि-रूपेणात्मास्ति तन्मयः। तदात्वेहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत्॥ (पंचा० पृष्ठ-१०७)

३ क्योंकि, कषाय नष्ट होते ही ध्यान स्थिर होजाता है और अंतमें स्थिर केवलज्ञान को उत्पन्न करदेता है।

भावार्थ, सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे संसारकी जड तो टूट जाती है परन्तु इतर कर्मोंका तत्क्षण ही सर्वनाश होनेका नियम नहीं है । कर्म अपनी अपनी योग्यतानुसार बन्धते व उदयमें आते हैं। देखो, मिथ्यात्वका साथी चारित्रमोहनीय भी चालीस कोटी कोटी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति उत्पन्न करसकता है और मिथ्यात्व सत्तर कोटीकोटी सागरपर्यंतकी स्थिति उत्पन्न करलेता है। इससे भी यह पता लगता है कि मिथ्यात्व ही सब कर्मोंमें अधिक बलवान् है और दीर्घ तथा असली संसारकी स्थापना करता है। इसीलिये वह नष्ट हुआ कि संसारका किनारा आलगा समझना चाहिये । परन्तु साथ ही यह न भूलना चाहिये कि मोह दोनो ही हैं–एक अमर्यादित है तो दूसरा समर्याद, परतु कारण दोनो संसारके ही हैं।

ससारका संक्षेपसे स्वरूप कहें तो दुःखमय है। इसीलिये आनुषंगिक चाहें दुःखके कारण दूसरे कर्म भी हों परंतु मुख्य कारण मोहनीय कर्म है। जब कि इस सर्व दुःखका कारण मोहनीयकर्ममात्र है तो मोहके नाशको सुख कहना चाहिये। बस, जो ग्रंथकार मोहके नाशसे सुख गुणकी प्राप्ति मानते हैं वह मानना मोहके संयुक्तकार्यकी अपेक्षासे ठीक है। वह मानना अभेद या व्यापक दृष्टिसे है। इसीलिये जो सुखको अनंतचतुष्टयमें गर्भित करते हैं वे चारित्र तथा सम्यक्त्वको फिर जुदा नहीं गिनाते हैं। क्योंकि, सम्यक्त्व व चारित्रके ही समुदित स्वरूपको सुख कहा जासकताहै। बाह्य विषयोंसे उपेक्षा सो चारित्र है और अन्तरंग परिणतिकी प्राप्ति सो सम्यक्त्व है। दोनोंका पर्यवसान सुखगुणमें या स्वरूपलाभमें ही होता है। यद्यपि चारित्र तथा सम्यक्त्वका भी सुख अर्थ होसकता है परन्तु शास्त्रकारोंने व्यवहार इस दृष्टिसे किया नहीं दीखता है। इसलिये जो सुखशब्दका प्रयोग है उसीका अर्थ हम समुदित करते हैं । जो सुख या वीर्य गुणका उल्लेख अनंतचतुष्टयमें करते हैं वे उस उस गुणकी मुख्यता मानते हैं और शेषको गौण समझकर न कहनेपर भी संगृहीत होजाना समझते हैं। क्योंकि, एक सुखगुणके ही उक्त दोनो विशेषाकार हैं। इस कथनसे मोहनीयकर्मसे कोनसे गुणका घात होता है यह शंका भी दूर होसकती है और वेदनीयकी अघातकता भी सिद्ध होसकती है । क्योंकि वेदनीय किसी को घातता नहीं हैं, केवल घात हुए स्वरूपका अनुभव करानेमें जीवको लगाता है।

१ पुद्गलपरिवर्तार्धं परितो व्यालीढवेदकोऽशमौ । वसतः संसाराब्धौ क्षायिकदृष्टिर्भवचतुष्कः॥ इतिसर्वार्थसिद्धिटिप्पणं

- खसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः । सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात् ॥ ८ ॥

* तत्वज्ञानतरंगिणी अ १७ -

अब अन्तरायके विषयमें कुछ लिखते हैं। अन्तरायका कार्य जीवकी शक्तिको घातना है। जीवका जो शुद्ध स्वरूप हो वही उसकी शक्ति कहना चाहिये। अथवा, उसका उपयोग करलेनेमें समर्थ होना सो शक्ति है। जीवका जब कि ज्ञानके सिवा कोई समझलेने योग्य जुदा स्वरूप या गुण ही नहीं है तो उसीकी प्रवृत्तिमें शक्तिका उपयोग होना मानना चाहिये। बस, ज्ञानकी प्रवृत्तिमें जो आत्माकी शक्ति खर्च होती है वही वीर्य या शक्ति कहाती है और वैसी शक्ति होनी ही चाहिये। उसीके घातनेवाले कर्मको अंतराय कहते हैं। इसी वीर्यरूप शक्तिका घातक अंतरायको मानना मुख्यताकी अपेक्षासे है। मुख्यता यह है कि ज्ञानगुणकी प्रवृत्तिमें बाधा लानेवाला वीर्यान्तराय ही होसकता है; क्योंकि वह ज्ञानकी साधक वीर्यशक्तिको नाशता है और ज्ञानमें बाधा होजाना साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें भी आसकता है। इसीलिये वीर्य-गुण सर्व कार्यकारिणी शक्तियोंमें या बलोंमें एक मुख्य माना गया है और उसीका घातना अन्तरायका कार्य बताया गया है। परन्तु वास्तवमें देखे तो देने, लेने, भोगने, उपभोगनेमें जो शक्ति काम देती हैं उन्हें दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति व उपभोगशक्ति कहते हैं और उनके घातनेवाला भी अंतराय कर्म होना ही चाहिये। जब कि ऐसा विचार करते हैं तो अंतरायका जो अर्थ ऊपर किया है वह उस अंतरायके एक भेदका अर्थ रहजाता है। इसीलिये अंतरायका सामान्य अर्थ शक्ति मात्रका घातक, ऐसा होगा, और उस घातक कर्मके उत्तर भेद वीर्यान्तराय, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगांतराय उपभोगान्तराय ये पांच होंगे जो कि आगे लिखे जायंगे।

हमने वीर्यान्तरायका अर्थ जो ऐसा लिखा है कि ज्ञानकी सहायक वीर्यशक्तिको वह घातता है सो मुख्यकार्यकी दृष्टि से लिखा है कि वास्तवमें उसका कार्य यह है कि किसी भी काममें जो वीर्यकी आवश्यकता है उसे वह घातता रहता है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग ये चार सामर्थ्य भी वीर्यकी भांत और हैं जो कि वास्तवमें तो वीर्यसे जुदे नहीं हैं परन्तु शरीरसहित जीवमें जुदे २ दीख पडते हैं। इसीलिये उस वीर्यके घातक कर्मको भी पांच भांतका मानते हैं। दानादि शक्तिया यदि वास्तवमें जुदी २ नहीं हैं तो भेद क्यों होते हैं? इसका उत्तर:—

शरीर सहित जीव १ देने २ लेनेका व्यवहार करता है ३ भोगने ४ उपभोगनेमें भी लगता है, और ५ धरने उठाने,

१। शरीरमें जो वीर्य नामक धातु है वह वीर्यनाम आत्म सामर्थ्यका सहायक रहता है इसलिये उसे वीर्यनाम प्राप्त हुआ है। वास्तवमें देखें तो वीर्यका अर्थ सामर्थ्य है। इसीलिये उस शक्तिके घातक कर्मको वीर्यान्तराय कहते हैं और शक्तिको वीर्य कहते हैं।

बोलने, चलने, विचार करने आदि कामोंके समय भी शक्ति लगानी पडती है। ये पांच भेद यावत् व्यवहारोंके हो सकते हैं—इन भेदोंमें गर्भित न हो ऐसा एक भी व्यवहार नहीं है। परन्तु ये पांच प्रकार, शरीर न रहने पर शुद्ध जीवोंमें नहीं मिल सकते हैं। इसीलिये इन भेदोंको वास्तविक नहीं मानते किंतु शरीर रहनेसे ये उत्पन्न हो जाते हैं या संसारियोंके ये व्यवहार कल्पित किये हुए हैं। यदि वास्तवमें होते तो शुद्ध जीवोंमें इन पांचोंके कार्य संसारियोंके कार्योंकी भांत जुदे २ होते हुए माने जाते। परन्तु ऐसा न मानकर शुद्ध जीवोंमें एक वीर्यगुण ही माना गया है। इसलिये हम यह बात ठहराते हैं जिसको बल कहते हैं और जिसका कार्य सर्वकार्यो में सहायता पहुंचाना है वह एकही गुण है, शरीर की उपाधिसे उस बलके पांच भांतिके उपयोग होते हैं और उन पांच भांतके उपयोगोंमें तरतमता सिद्ध करनेवाला उनका घातक अंतरायकर्म पांच प्रकारका है। उन पांचो ही भेदोंका नाश हो जाने पर जो गुण प्रकट होता है उसे वीर्यके नामसे ही कहते हैं और वह एकही है। वह वास्तवमें एक न होता तो घातककर्मको भी मूल एक भेदमें ही गर्भित क्यों करते? मूल व उत्तर प्रकृतिभेद लिखनेका तो मतलब ही यह है कि जो वास्तवमें तथा सामान्यतासे भिन्न जातिके स्वभाव हों उनके अनुसार मूल प्रकृति भेद हैं और उस एक २ स्वभावके फिर जो उत्तर भेद हो सकते हैं उनके अनुसार उत्तर प्रकृति भेद ठहराये गये हैं।

अब ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दो घाती कर्म रहे और मोहनीय तथा अंतराय इन दो घातियोका विचार हो चुका। ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दो कर्म ज्ञानदर्शनों को घातते हैं। ज्ञान तो जीवका एक ऐसा प्रसिद्ध गुण और लक्षण है कि जो जीवकी उतनी ही सत्ता कही जाय तो भी अतिशयोक्ति न होगी। ज्ञान है इसीलिये जीव एक निराला तत्त्व माना जाता है। इसलिये ज्ञान क्या है यह बात सिद्ध करनेमें समय न विताकर दर्शन क्या है यह विचार करते हैं।

दर्शन भी ज्ञानके समान चैतन्यका एक सूक्ष्म परिणाम है। पदार्थमात्रके दो स्वभाव माने जाते हैं; सामान्य व विशेष। सामान्य वह है जो कि किसी दूसरेसे मिलता जुलता स्वभाव हो। विशेष वह है कि जो दूसरेसे मिलता न हो। इन दोनो स्वभावोंकी सीमा सबसे व्यापक भी है और सबसे छोटी भी है और मध्यके भेदोंको तो कुछ गिना ही नहीं सकते

१ यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि सिद्धेष्वपि तत्प्रसंगः, नैष दोषः, शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्। तेषां तदभावे तदप्रसंगः। कथं तर्हि तेषां सिद्धेषु वृत्तिः? परमानन्ताव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्ति। (इति सर्वार्थ०)

हैं। जैन शास्त्रोंमें जो संग्रह व व्यवहार नयका क्षेत्र या विषय है वही सामान्य तथा विशेष है। नय ज्ञानरूप होनेसे ग्राहक या विषयी हैं और ये सामान्यविशेष ग्राह्य या विषय हैं। इसी सामान्यविशेषका हम दूसरी भांत यों भी वर्णन करसकते हैं कि जो किसी एक लक्षण या आकृतिका न हो वह सामान्य है और जो एकेक लक्षणको—एकेक आकृतिको धारण करता हो वह विशेष है। इत्थंलक्षण विशेष तथा अनित्थंलक्षण सामान्य यह भी सामान्य विशेषका ही अर्थ है सामान्य बडेसे बडा महासत्ता है और उसके ठीक समीपवर्ती द्रव्य, गुण, पर्याय ये विशेष हैं। इससे छोटे सामान्यविशेषोंके उदाहरण जीव जीवादि व पट घट संसारी मुक्त इत्यादि उत्तरोत्तर अनेकों हो सक्ते हैं। सामान्य सदा व्यापक रहता है और विशेष व्याप्य, क्योंकि, सामान्य एक अवयवीकी भांत होता है और विशेष उसके अवयवोंकी भांति।

हमने यह सामान्यविशेषका स्वरूप लिखा वही दर्शन ज्ञानका विषय है। दर्शन उस चैतन्य परिणामको कहते हैं जो कि सामान्यमात्रका प्रतिभास होता है और वह भी महासामान्यका। महासामान्य या महासत्ता ये दोनों एक अर्थके शब्द हैं। ज्ञानमें भी सामान्यका प्रतिभास होता है परंतु वह साथ ही कुछ और विशेषता भी रखता है। विशेषता रखनेसे ज्ञानके स्वरूपको साकार कहते हैं। दर्शन का विषय केवल सामान्य होनेसे आकारकी कल्पना नहीं की जा सकती है इसलिये दर्शनको निराकार कहते हैं। ज्ञानके आकारका अर्थ 'लंबाई चौडाई व ऊंचाई' ऐसा नहीं होता किंतु विषय जिस भांतका हो उसी भांतका अनुभव हो जाना यह अर्थ है। क्योंकि, ज्ञान वास्तवमें अमूर्त आत्माका गुण होनेसे स्वयं अमूर्त है जो स्वयं एक तो अमूर्त हो और फिर भी द्रव्य न होकर गुण हो वह अपना जुदा आकार नहीं रख सकता है गुणोंके आकार, अपने अपने

१ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। यथा सत्, द्रव्यं घट इति। सदित्युक्ते सदिति-वाग्विज्ञानानुपपत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानामविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। एवंप्रकारोन्योपि संग्रहनयः। संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। को विधिः? यः संग्रहगृहीतोर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः प्रवर्तते इत्ययं विधिः। तद्यथा—सर्वसंग्रहेण यत्संगृहीतं तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते। यत्सत् तद्द्रव्यं गुणो वेति। द्रव्येणापि संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवविशेषानपेक्षेण न शक्यः संव्यवहार इति जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति वा व्यवहार आश्रीयते। जीवाजीवावपि संग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेति देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते। एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः। २ तयोः कथं भेदः? साकारानाकारभेदात्। (इति सर्वार्थ०)

आधारभूत द्रव्योंके जो आकार होते हैं वे ही हो सकते हैं। ज्ञान गुणका आधार आत्मद्रव्य है इसलिये उसीका आकार ज्ञानका आकार है। आत्मा सदा किसी भी आकारके पदार्थको जानता रहै परन्तु आकारमें शरीराकार ही रहता है। बस, इसलिये ज्ञानमें भी वास्तविक विषयाकार न होकर शरीर या आत्माका आकार रहेगा। ज्ञानज्ञेयका सामर्थ्य, दूर २ और भिन्नाकार होने पर भी ऐसा मानना पडता है कि ज्ञान ज्ञेयका ग्रहण करै और ज्ञेय गृहीत होता रहै। ऐसा उसमें होनेमें नियमित कारण ज्ञानावरणादि कर्मबंधनोंकी शिथिलता या क्षयोपशम बाह्य विषयोंका सद्भाव संस्कार व इच्छा का झुकाव मानना पडता है। विषयाकारज्ञानका होना यह जाननेमें कारण जो कुछ लोगोंने माना है वह असंबद्ध है।

इस प्रकार ज्ञानको विशेषाकारग्राही होनेसे साकार या अज्ञाननाशका कारण अथवा विषयप्रतिबोधक मानते हैं परंतु दर्शन केवल सामान्यग्राही होनेसे निराकार या विषयका अप्रतिबोधक है। ये एक ही चेतनागुणके दो पर्याय हैं परंतु ज्ञानकी तरतम वृद्धिके समान दर्शन ज्ञानमें ज्ञानकी तरतम अवस्थारूप केवल भेद नहीं मान सकते हैं। क्योंकि 'एक विषय का बोधक है और दूसरा नहीं है' ऐसा जो विशाल अंतर पडा हुआ है वह दर्शनको 'ज्ञान' ऐसा कहाने नहीं देता।

शंका—जब कि दर्शन सामान्यका ग्राहक है तो कुछ भी विषयका बोधक होचुका। इसलिये उसे अबोधक क्यों कहते हैं?

सामान्यका ग्राहक दर्शनको माना अवश्य जाता है परन्तु केवल सामान्यका स्वरूप ही जब कि ठहराया नहीं जासकता कि सामान्यका अमुक स्वरूप है, तो उसका ग्राहक दर्शनको मानना ठीक नहीं है। जो सत्ताको महासामान्य मानकर उसी सत्ताका ग्राहक दर्शनको मानते हैं वह भूल है। क्योंकि, सामान्यदृष्टिसे सत्ता या सत्का ग्रहण करना संग्रह

१ ननु 'निराकारत्वे ज्ञानास्याखिलं निखिलार्थवेदकं तत्स्यात् क्वचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात्।' इत्यप्यपेशलं, प्रतिनियतसामर्थ्येन तत्तथाभूतमपि प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकमित्यग्रे वक्ष्यते [योग्यतासमर्थने]। नीलाकारवज्जडाकारस्यादृष्टेंद्रियाद्याकारस्य चानुकरणप्रसंगः, कारणत्वाविशेषात्तत्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावाच्च' इति चोद्ये भवतो [बौद्धस्या] पि योग्यतैव शरणं। किंच प्रतिनियतघटादिवत्सकलं वस्तु निखिलज्ञानस्य कारणं स्वाकारार्पकं वा किन्न स्यात्? वस्तुसामर्थ्यात्किञ्चिदेव कस्यचित्कारणं न सर्वं सर्वस्येति चेत्तर्हि तत एव किञ्चित्कस्यचिद्ग्राह्यं ग्राहकं वा न सर्वं सर्वस्य। इत्यलं प्रतीत्यपलापेन। इत्युक्तं प्रमेयकमलमार्तण्डस्य प्रथमपरिच्छेदे स्वव्यवसायत्वसमर्थने] किंच 'न विषयाकारधारिणी बुद्धिरमूर्तत्वादाकाशवत्। यत् विषयाकारधारि तन्मूर्तं यथा दर्पणादि। न चासिद्धो हेतुरन्यथा तस्या बाह्येंद्रियप्रत्यक्षत्वप्रसंगः।'

नयका काम है जो कि एक ज्ञानविशेष है। दूसरी बात यह भी विचार करनेकी है कि उस सत्ता या सामान्यका ग्राहक संग्रहनयको भी माना जाता है और दर्शन को भी माना जाता है परन्तु दर्शन निराकार है और संग्रह नय–ज्ञान साकार है, सो क्यों ? ज्ञान विना विशेषताके कभी होता ही नहीं है। पदार्थ तथा गुणस्वभाव भी विशेषताके विना नहीं रहते। इसलिये जब कि सत्ताका प्रतिभास दर्शनमें होगा तो साथ ही सत्तान्तर्गत विशेषताओंका ग्रहण भी होना ही चाहिये जैसा कि संग्रह ज्ञानमें होता है। जबकि विशेषताओंका ग्रहण दर्शनमें हुआ तो दर्शन तथा ज्ञानमें कुछ अंतर ही नहीं रहा। इसलिये दर्शनको सत्ताका ग्राहक मानना न चाहिये। यदि ऐसा है तो दर्शनको 'सत्तालोचन इत्यादि नामों से क्यों संबोधते हैं ? सत्तालोचन–शब्दका अर्थ सत्ताप्रतिबोध ऐसा होता है।

उत्तर–सत्तालोचन शब्दका अर्थ यदि सत्ताका प्रतिबोध माना जाय तो प्रतिबोध साकार होगा और साकार ज्ञान ही होसकता है। अथवा, प्रतिबोध, ज्ञान, आलोचन इत्यादि शब्द ज्ञानके ही वाचक हैं। ज्ञानका तथा साकार बननेका अर्थ यह है कि वह किसी वस्तुको जानता है। जब कि दर्शन भी एक महासामान्यरूप सत्ताको जानता है तो वह भी साकार व ज्ञान क्यों न होगा ? ऐसा विवेचन करनेपर ज्ञान व दर्शनमें भेद सिद्ध नहीं होता और यदि भेद सिद्ध होगा तो ज्ञानके इतर उत्तरभेदोंकी भांत होगा जो कि निरुपयोगी है। यदि ऐसा ही अन्तर्गत भेद हो तो मूल प्रकृतियोंमें ज्ञानावरण व दर्शनावरण ये दो घातक कर्म जुदे जुदे माननेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिये मूलभेदोंमें दो भेद रखनेसे यही बात जान पडती है कि ज्ञान दर्शन ये दोनो भेद किसी विशेष प्रयोजनकेलिये मानेगये हैं और लक्षण–स्वरूप दोनोंके भिन्न हैं। अर्थात्, ज्ञान साकार व वस्तुग्राही है तो दर्शन वस्तुका अग्राही और अतएव निराकार है। दर्शन ऐसा होकर भी ज्ञानके साथमें रक्खा जाता है, चेतनागुणका पर्याय माना जाता है और मूल घातक कर्मोंमें उसके घातनेवाली एक स्वतंत्र प्रकृति भी मानी गई है इसलिये उसका स्वरूप चेतनासे संबंध रखनेवाला अवश्य है और वह क्या है ? इसका उत्तर–

किसी भी पदार्थको जाननेकी योग्यता प्राप्त होनेपर जो आत्माकी उस पदार्थकी तर्फ उन्मुखता, प्रवृत्ति अथवा इतर

१ इंद्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनानंतरभावी ज्ञानविशेषोऽवग्रहः। [इतिन्यायदीपिका]

२ उपयोगो लक्षणम्। स द्विविधः। 'दर्शनोपयोगो ज्ञानोपयोगश्च, [इति तत्त्वार्थवचनं]

विषयोंसे हटकर उस विवक्षित पदार्थकी तर्फ उत्सुकता प्रगट होती है वही दर्शन है । वह उत्सुकता होती चेतनामें ही है परन्तु तबतक पदार्थका थोडासा अंश भी जाननेमें नहीं आता है । उदाहरणार्थ देखिये कि एक मनुष्य भोजन करनेमें लग रहा है और उसका मन या बुद्धि भी उसीमें आसक्त है । अकस्मात् उसकी इच्छा हुई कि वाहिर कोई पुकार तो नहीं रहा है यह मैं समझलूं। अथवा किसीकी आवाज कानमें पडनेसे उसका उपयोग उस भोजनकी तर्फसे हटकर शब्दकी तर्फ लगजाता है।

पूर्वविषयसे हटना और उत्तर विषयकी तर्फ उत्सुक होना, यह विषय ज्ञानका पर्याय नहीं हो सकता है। इसी चेतना-पर्यायको दर्शन कहते हैं। इसके ठीक उत्तर समयमें जो कुछ ग्रहण हो जाता है वह ज्ञान है । प्रथम समयमें ग्रहण हो जाय तो वह चाहे कैसा ही सामान्य हो परन्तु ग्रहणका आकार अवश्य वदलेगा। यदि आकार वदला तो वह प्राप्त हुआ आकार चेतनाको साकार वना देगा। चेतनाका साकार होना सो ज्ञान है, न कि दर्शन। इसलिये जब कि प्रथम समयमें दर्शन होना माना जाता है तो वह दर्शन किसीका भी ग्राहक नहीं हो सकता है ऐसा मानना ही पडेगा । दूसरें यह भी विचार करना चाहिये कि प्रत्येक कारण जो कार्यको पैदा करते हैं सो प्रथम ही समयमें नहीं कर देते किंतु प्रथम समयमें कार्यका पूर्वरूप होता है और फिर कार्य उत्पन्न होता है। पूर्वरूपको कारणदशामें गर्भित किया जाता है । यदि कार्य प्रथम ही समयमें होने लगै तो कार्यकारणका भेद कहना ही संभव न होगा। इसी प्रकार दर्शन व ज्ञानमें भी पूर्वा-परपनेका भेद है। अर्थात्, ज्ञान चेतनाका कार्य है और दर्शन ज्ञानकी पूर्वदशा है। ज्ञान-यह जाननेरूप कार्य है तो दर्शन-रूप पूर्वदशामें यह जाननेकी क्रिया प्रगट हुई नहीं कही जा सकती है । पूर्वोत्तर दशाओंको कारणकार्य मानना हो तो दर्शनको भी कारण कहा जा सकता है। परन्तु कारणके समय कार्यकी अवस्था व्यक्त हुई मानना ठीक नहीं है और कार्यकी अवस्थाका यदि अर्थ विचारा जाय तो जानना ही है। इसलिये दर्शनके समय जानना किस प्रकार माना जा सकता है? जब कि दर्शनमें जानना असंभव है तो 'सत्तालोचन' जो दर्शनका स्वरूप वताया जाता है उसका अर्थ, 'विषयकी तर्फ उन्मुख होना' ही करना चाहिये । उन्मुख होना यह निश्चयात्मक नहीं है इसलिये ज्ञान नहीं हो सकता। परंतु अभावरूप भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, किसीकी तर्फ उन्मुखता पैदा होना, इसमें उन्मुखता न होनेकी अवस्थासे तो कुछ विशेषता अवश्य है। और विशेषता जो होती है वह किसी एक प्रकारकी ही नहीं होती किंतु सर्व

उन्मुखताओंकी अवस्था एक भांतकी रहती है उसे निष्कारण हुई भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, सामनेका पदार्थ उसका निमित्त मौजूद है । सामनेके पदार्थ नाना भांतके होते हैं परन्तु उन्मुखता सर्वदा एकसी ही होती है। इसलिये यह मानना पड़ता है कि उस उन्मुखताका कारण तो सामनेका पदार्थ ही है परन्तु उस पदार्थकी कोई भी विशेषता उस का कारण नहीं है किन्तु सर्व पदार्थगत जो कोई महासाधारण धर्म है वह उसका कारण हो सकता है। यदि किसी प्रकारकी पदार्थसंबंधी विशेषता उसका कारण होती तो उस दर्शनमें नाना प्रकार उत्पन्न होते। परन्तु दर्शनमें सदा समानता रहती है इसलिये उसका जनक, सर्वपदार्थगत महासामान्य जो एक धर्म है वही हो सकता है। बस, यही कारण है कि दर्शनका स्वरूप सत्तालोचन कहा जाता है। वास्तवमें आलोचन तो वहां हो ही नहीं सकता है परन्तु उन्मुखताके लिये अवलंबन सत्ता धर्म है इसलिये सत्ताको आलोचक और दर्शनको आलोचन कह देते हैं।

वास्तवमें यदि दर्शनमें किसीका आलोचन होता तो दर्शनका ज्ञानकी भांत प्रतिपादन भी होना संभव हो जाता। जैसे कि घटके ज्ञानको 'घटोयं' या 'यह घट है' ऐसी आकृति बनाकर दिखा सकते हैं। वैसे दर्शन किसी भी पदार्थका हुआ हो परन्तु उसे दिखा नहीं सकते हैं। कुछ लोग दर्शनको भी 'कुछ है' ऐसे शब्दोंसे कहा करते हैं परन्तु अनध्यवसाय ज्ञानको इन्हीं शब्दोंसे उल्लिखित करना पडता है। अब कहिये, दर्शनमें व अनध्यवसायज्ञानमें क्या अंतर रहा ?

अंतर है, वह यह है कि अनध्यवसायके 'कुछ है' इस शब्दका मतलब जानी हुई वस्तुओंमेंसे अनिश्चित वस्तु और दर्शनका 'कुछ है' इस शब्दका अर्थ सर्वथा न जानी हुई कुछ वस्तु ऐसा होता है। भावार्थ, अनध्यवसायमें, जानी हुई-अनुभवकी हुई बहुतरी वस्तुओंमेंसे कोई है ऐसा भास होता है और दर्शनके समय यद्यपि किसीका भास नहीं होता तो भी उन्मुखताका अवलंबन कुछ होना ही चाहिये यह अनुमानका वाक्य वहां उत्पन्न होता है। यद्यपि शब्दाकृति दोनोंकी समान है परन्तु विवक्षा भिन्न २ है अथवा वास्तवमें बोलनेवालेका अभिप्राय जुदा २ है।

यहांतकके विचारसे यह बात सिद्ध हुई दर्शनको निराकार कहा इसलिये वह किसी विषयका ग्राहक नहीं है परंतु उसका अवलंबन महासत्ता धर्म है इसलिये उसे सत्तालोचनरूप कहसकते हैं। दर्शनका स्वरूप उन्मुखता है इसलिये दर्शन मिथ्या नहीं होसकता है।

अब शंका यह है कि उन्मुखता यह चेतनाका ही एक पर्याय है तो उसे ज्ञानसे जुदा क्यों रखते हैं ? और यदि

जुदा ही रखना है तो मोहके उत्तर भेद दर्शनमोह-चारित्र मोहकी भांत चेतनावरणके उत्तर भेद ज्ञानावरण व दर्शनावरण ये दो करने चाहिये थे ऐसा करते तो मूल प्रकृतियोंके भेद सात ही रहजाते।

उत्तर—यद्यपि ये दोनो भेद एक चेतनाके ही हैं तो भी इन दोनोंका उदय व इनके घातकोंका क्षयोपशम सदा एकसा वना रहता है। जिस विषयके संवधमें जव ज्ञानावरणका क्षयोपशम होगा तभी और उसी विषयके संवंधमें दर्शनावरणका भी क्षयोपशम होगा। ज्ञानदर्शनोंका परिणाम भी एकेक विषयमें ही होता है। यद्यपि ज्ञान सुरू होजानेके वाद केवल उन्मुखता नहीं रहती है और इसलिये दर्शनज्ञानोंको क्रमवर्ती कहा है परंतु तोभी जिस समय जिस विषयका ज्ञान होरहा है उस समय उसी विषयसंवंधी दर्शनावरणका भी क्षयोपशम रहता ही है और उस विषयकी तर्फ उन्मुखता भी रहती ही है। इसलिये ज्ञानके समयमें भी उन्मुखतारूप दर्शनका सद्भाव मानना पडता है। दर्शनज्ञानोंको जो क्रमवर्ती कहा है उसका मतलव इतनाही है कि ज्ञानके समय दर्शनका जुदा सद्भाव अनुभव गोचर नहीं होसकता है। दर्शन, केवल सामान्यावलंवी प्रतिभास या उन्मुखता और ज्ञान, विशेषस्वरूपका अनुभावक चैतन्यपर्याय। इस विशेषावभासी ज्ञानमें उन्मुखताको केवल जुदा कैसे दिखाया या देखा जासकता है[1]। एवं जव दर्शन है ज्ञानावरणका क्षयोपशम तव भी है परंतु विशदावभासरूप कार्य क्रमसे ही व्यक्त होगा। इस प्रकार ज्ञानदर्शनावरणका क्षयोपशम सदा और ज्ञानके समय दर्शनका सद्भाव अवश्य मानना चाहिये।

ग्रंथोंमें ज्ञानदर्शन जो छद्मस्थोंके होते हैं वे क्रमवर्ती कहे हैं और हम यह कहते हैं कि दर्शनके समय ज्ञान नहीं रहता परन्तु ज्ञानके समय दर्शन अवश्य रहता है। इस लेखमें कुछ नयापन मालूम पडेगा परतु विचार करनेपर सर्व ठीक होसकता है। जव कि क्षयोपशम दोनोंका सदा रहता है और उन्मुखता ज्ञानके समयमें भी रहती ही है तो ज्ञानके समय दर्शनको क्यों न मानें? क्योंकि, उन्मुखता विना ज्ञानका होना असंभव है और उन्मुखता ही दर्शन है। यदि ज्ञानदर्शनके युगपत् रहनेमें कोई असंभवता होती या परस्पर विरोध होता तो छद्मस्थोंकी भांत केवलियोंमें भी वह विरोध रहता और अतएव दोनों युगपत् वहां भी न होते। परन्तु वहां तो दोनो ही युगपत् होते हैं। इसलिये छद्मस्थोंमें भी ज्ञानके समय दर्शनका रहना कोई असंगत नहीं है।

१ दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा। जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि। [द्रव्यसंग्रह]

दूसरी बात यह भी है कि छद्मस्थोंका ज्ञान परिवर्तनशील होता है इसलिये जब वह एक विषयपरसे हटाकर दूसरेपर लगाया जाता है तब उस ज्ञानकी जाननरूप क्रिया एकाध समयकेलिये कार्यपरिणत न रहकर उत्सुकताके स्वरूपमें परिणत होजाती है और फिर उस उत्सुकताका जाननेरूप क्रियामें परिवर्तन होता है। अर्थात्, विषय परिवर्तनके साथ ज्ञान या चेतनाकी क्रियामें वृद्धिह्रास होते रहते हैं। ह्रासके समयकी क्रियाको दर्शन कहते हैं। उस समय वर्द्धमान क्रियारूप ज्ञान का संभव न होनेसे ज्ञानका असद्भाव मानना पडता है। इस प्रकार युगपत्पनेका जो निषेध किया है उसका अर्थ इतना ही करें तो वचनपालन होता है कि दर्शनके समय ज्ञान नहीं होता। दर्शनके तुल्य प्रथम ही समयमें ज्ञानाकार परिणत नहीं होसकता ऐसी क्रमोत्पत्ति दिखानेकेलिये ही युगपत्पनेका निषेध किया है सर्वत्र ज्ञानदर्शनका युगपत्पना निषिद्ध करना कुछ विशेष फल भी नहीं दिखाता है, स्वभाव भी वैसा सिद्ध नहीं होता है और केवलियोंका दृष्टान्त देखनेसे अनुचित भी जान नहीं पडता है।

ऐसा अविनाभाव सम्यक्त्व व चरित्रमें नहीं है। सम्यक्त्व होजानेपर भी विरति या संयम बहुतोंको उत्पन्न जल्दी नहीं होता है। इसीलिये सम्यक्त्व एकवार होजानेपर भी चिरकालतक कुछ लोग संसारमें परिभ्रमण करते हैं।

इसीलिये सम्यक्त्व व चारित्रके घातक मोहकर्मकी भांत ज्ञान दर्शनावरणको एक मूल प्रकृतिमें नहीं रक्खा। दूसरा कारण यह भी है कि हम जिसको ज्ञान कहते हैं उसके सिवा दर्शनको दूसरे दर्शनकारोंने भी एक जुदी और विलक्षण अवस्था मानी है उसे वे निर्विकल्पक ज्ञान—शब्दसे कहते हैं परंतु ज्ञानसे पूर्वक्षणमें वह एक निर्विकल्पक या निराकार चैतन्य परिणाम होता अवश्य है ऐसा मानते हैं। उसको ज्ञान कहना चाहें ठीक न हो परंतु चेतनाके निराकार व साकार ऐसे दो प्रकारके पर्याय माननेकी पद्धति प्राचीन दर्शनकारोंमें थी यह बात सिद्ध होजाती है। जब कि इन दोनो प्रकारोंको समुच्चयसे दिखानेकी इच्छा हो तो उपयोग शब्दसे वैसे भी कहते ही हैं। परंतु इतने प्रसिद्ध दो भेदोंके घातक

१ आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ॥ आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। तथा च सामान्यलक्षणेत्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोर्थः। तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते। ननु संयोगादिकं विनापि सामान्यज्ञानं यत्र वर्तते तत्र सकल घटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्ष स्यादत आह तदिन्द्रियजेति। तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥ 'सिद्धांतमु० वैशेषिक ग्रंथ, तत्र न तावत्प्रत्यक्षस्याविसंवादित्वं, तस्य निर्विकल्पकत्वेन स्वविषयानिश्चायकस्य समारोपविरोधित्वाभावात्। (इति न्यायदीपिकाप्रथमप्रकाशे बौद्धप्रमाणखण्डनप्रकरणे उक्तम्)

कर्मोंको मूल दो भेदोंमें मानलेना कुछ अनुचित नहीं है। क्योंकि, इनके आवरणोंके मूल भेद माननेसे यह बात सिद्ध होजाती है कि इन दोनोंका बंध समान समयोंतक होगा और उनके उदय तथा क्षयोपशमसे होनेवाले कार्य भी दोनो ही समान समय तक रहेंगे। जो मूल भेदमें नहीं है उनके कार्योंमें परस्पर सहभावका कोई नियम नहीं रहता है। इसीलिये मोहनीयकर्मके दोनो भेदोंका नाश भिन्न समयमें होता है और उदयका भी सहभाव रहना निश्चित नहीं है। परंतु ज्ञान-दर्शनके आवरणोंका उदय तथा क्षयोपशम भी सहभावी रहता है और क्षय भी सहभावी होता है। इसलिये इन दोनोंको घातक दो मूल प्रकृति मानना आवश्यक है।

यहांतक आठ कर्मोंकी आठो कृति व आवश्यकताएं दिखा चुके। अब इस बातका विचार करते हैं बंध आत्माको किस किस रूपमें वास्तविक बांधता है और आठ कर्मोंसे हीनाधिक कर्म भी होसकते हैं या नहीं ?

कर्मोंसे वास्तविक बंध दो बातोंका होता है; एक तो आत्मप्रदेशोंका और दूसरा ज्ञान गुणका। प्रदेशबंध तो आठो कर्मोंका एकसा ही होता है। यदि भेद है तो अनुभागबन्धमें। हम यहां दो कार्योंमें जो बन्धका प्रयोजन लिखरहे हैं उसका भी मतलब अनुभाग आठो कर्मोंके जुदे जुदे हैं परंतु असली घातको दो ही अनुभाग करते हैं, एक मोह, दूसरा ज्ञानावरण। मोह आत्म द्रव्यकी अवस्थाको स्वाभाविक न रखकर अस्वस्थ या मलिन करता है। एक तो यह कार्य हुआ। एक जो ज्ञान या चेतनागुण है उसको विकृत करनेवाला ज्ञानावरण कर्म है। दूसरा यह कार्य हुआ। दर्शनावरण ज्ञानकी ही उन्मुखताको रोकता है इसलिये ज्ञानावरणका ही सहायक है। अंतराय है वह ज्ञानावरणके कार्यका भी सहायक है और मोहनीयके कार्यका भी सहायक है। जब कि मोहके प्रभावसे आत्मा मलिन होता है तब वह सभी कार्य करनेमें असमर्थ होता है। इसलिये आत्मप्रदेशोंसे होनेवाला कार्य जो हलना, चलना, खाना पीना इत्यादि—वह पूर्ण शक्तियुक्त नहीं रह

---

१ शरीर व अंगोपांगों का उदय एकसाथ होता है पर वे अघाती कर्म हैं और उनको मूलभेदोंमें गिनाना साफ साफ विरुद्ध भासता है।

२ सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव। समयपवद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं ॥ ४ ॥ . गोम्० कर्म०

अर्थात्, अनतवर्गणाओंका पिंड सदा ही बन्धता है और फिर उसके आठ ना साग मूलविभाग होजाते हैं। कैसे ?

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो। घातितियेवि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥ १३२ ॥ गो० कर्म०

प्रतिसमयके कर्मपिंडमेंसे सबसे थोडा आयुका भाग होता है, नामगोत्रका समान होता है पर आयुसे अधिक। उमसे तीन घातियोंका अधिक अधिक होता है। मोहका उससे भी अधिक और वेदनीयका सबसे अधिक होता है।

सकता है और ज्ञानगुण भी अपना पूर्णकार्य दिखा नहीं सकता है। वाकी जो कर्मोंके कार्य रहे वे इन्हीं दो कार्योंके सहायक हैं। वीर्य तो ज्ञानकी और प्रदेशोंकी शक्तिको कम करता है इसलिये उसको जुदा माननेकी आवश्यकता नहीं ही है और दर्शनावरणको जुदा न गिननेका हेतु प्रथम ही कहचुके हैं। यद्यपि दर्शनावरण व अंतरायके भिन्न भिन्न कार्य होते हैं परन्तु मुख्य कार्य देखें तो ज्ञान व मोहके अतिरिक्त कुछ भी नही हैं। इसलिये चार घातियोंके दो कार्य रहे।

रहे अघाती कर्म सो अघातियोंके कार्य तो जुदे २ अवश्य होते हैं अथवा, यों कहिये कि अघातियोंके पिंड तो जुदे २ अवश्य होते हैं। परंतु वे सब मोहके उदयमें ही अपने कार्य दिखा सकते हैं। अर्थात् मोहके द्वारा जब आत्मा मलिन होता है तब नीच-ऊंचपनेका व्यवहार करता है, इसलिये गोत्रकर्मकी आवश्यकताको उत्पन्न कर लेता है। गोत्रकर्म जो नीच-ऊंचताको सिद्ध करता है वह आत्माको प्रत्यक्ष कराये विना कैसे कर सकता है? इसलिए सूक्ष्म आत्माको स्थूल वना देनेवाला अर्थात् शरीर संबंध करा देनेवाला नाम कर्म आवश्यक जान पडजाता है। नामकर्मसे जो शरीर होता है उसे आत्मासे सदा जोड रखनेवाला आयुःकर्म है। यदि आयुः कर्म न माना जाय तो प्राप्त हुए शरीरसे आत्मा वाहिर चाहें जब हो जाय तो उसे कौन रोकेगा? मोहकर्म या सभी जो कर्म हैं वे तो सीधे आत्माको ही वांधते हैं और आप स्वयं वहां वंधते हैं इसलिये उन कर्मपिण्डोंमें आत्माको रोक रखनेके लिये किसी आयु सरीखे कर्मकी जुदी आवश्यकता नहीं पडती है। परंतु नामकर्मके द्वारा जो शरीर प्राप्त होते हैं वे आत्माको कर्मकी भांत जकड नहीं सकते हैं। यदि कर्म निःशेष नष्ट हो जांय तो अपने आप शरीरसे आत्मा जुदा हो जायगा। कर्मोंकी भांत शरीरकी निर्जराका प्रयत्न नहीं करना पडता है। इसीलिये शरीर व कर्मोंमें यह अंतर है कि शरीर आत्माके ऊपरका अवलेप है और कर्म आत्ममय तिल में तेलके समान हैं। वस, इसीलिये शरीरमें आत्माको रोके रखनेकी सामर्थ्यसे युक्त एक जुदा कर्म मानना पडता है जिसे कि आयु कहते हैं। यह आयुःकर्म नामकर्मके शरीरादि कार्योंकी अपेक्षा रखकर चरितार्थ होता है। इस प्रकार ये तीन अघाती कर्म मोहकर्मसे

---

१ केवलज्ञानरूपेणानंतवीर्यवृत्तिवत्। इति सर्वार्थ०।

२ आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि आउणामपुव्वं तु। भवमस्सिय णीचुच्चं इति गोदं णामपुव्वं तु ॥१८॥ [गो० कर्म०]

अर्थात्, आयुके होनेपर ही भव या शरीरका टिकाव हो सकता है इसलिये आयुको नामकर्मसे प्रथम लिखा। भवके या शरीरके विना गोत्रकर्म कार्यकारी नहीं हो सकता इसलिये शरीरजनक कर्म माना गया और गोत्र आगे रक्खा गया है।

उत्पन्न हुई मलिनताने संगृहीत किये ऐसा मानना पडता है। अर्थात् ये तीनों कर्म मोहके कार्यके अनुगामी हैं अथवा, मोहके कार्यको ही ये पुष्ट करते हैं। वेदनीय जो चौथा है वह तो मोहके अनुभव करानेका केवल कार्य करता है इसीलिये वह स्पष्ट ही मोहके अधीन है और मोह सभीका स्वामी है।

इस प्रकार अघाती कर्मोंको जुदे कार्यकारी न समझें तो भी काम चलता है। परन्तु शंका यह होगी कि मोहकर्मका दशवें गुण स्थानमें नाश हो जानेपर अघाती कर्म कार्यकारी नहीं रहेंगे और अतएव उनके शरीरादि कार्य ही नष्ट हो जाने चाहिये। परन्तु शरीर तो चौदहवें गुणस्थानके अंत तक रहता है सो क्यों?

उत्तर—अघाती कर्मोंका बंध होना ही तभीतकका है जब तक कि मोहका बंध होता रहता है। मोहकी सर्वथा बंध व्युच्छित्ति दशवें गुण स्थानसे आगेके लिये हो जाती है और अघाती कर्म भी तभीसे रुक जाते हैं, घाती भी तभीसे रुक जाते हैं। एक वेदनीयके साताभेदका बंध फिर भी माना है परन्तु वह आते ही चला जाता है शरीरमें विपरिणाम कुछ भी करता नहीं है। उसका बंध होना न होना बराबर है। भावार्थ, वह बंधता तो क्या है परन्तु यों कहना चाहिये कि योगकी चंचलता उस साताको लाती है पर वह न टिककर यों ही चला जाता है। अग्नि नष्ट हो जाय तो भी धुआं सा उठते हुए कुछ समय तक दीखता ही है पर वह सचमुच धुआं नहीं है। इसीप्रकार कोई भी कार्य निःशेष होनेपर भी कुछ समय तक उसकीसी वासना रहा ही करती है। यही बात यहां साताके बंधनेमें है। पर टिकनेवाला वह बंध नहीं है इसलिये उसे बंध कहना एक उपचार है। वह संसारका कारण भी कुछ नहीं है इसलिये भी उसे उपचरित बंध कह सकते हैं। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि मोहके आश्रित सर्व बंध होना है। चौदहवें गुणस्थानके अंततक जो शरीर रहता है वह बंधका कार्य नहीं है किंतु उदयका है। जो बंध मोहकर्मके सहवाससे हो चुका है उसका निर्मूलनाश तो प्रयत्नों

---

१ नामकर्मके उत्तर भेदोंका प्रथम गुणस्थानसे लेकर क्रम क्रमसे कुछ कुछका नाश होते हुए दशवें तक सर्वनाश हो जाता है दशवेंके अंतमें यशस्कीर्तिकी व्युच्छित्ति होना बताया है। आयुमें—नरकायुका प्रथम गुणस्थानमें, तिर्यंच आयुका दूसरेमें मनुष्यायुका चौथेमें, देवायुका सातवेंमें बंध व्युच्छेद हो जाता है। गोत्रमेंसे—नीच गोत्रका दूसरे गुणस्थानमें, उच्चगोत्रका दशवेंके अंतमें बंध व्युच्छेद होता है। असाताका असाता वेदनीय का छठे गुण स्थानके अंतमें, साता का तेरहवेंके अंतमें बंध व्युच्छेद होता है। २ उवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी साद। णायव्वो पयडीण बंधस्संतो अणंतो य ॥१०२॥ [गो० कर्म०]

से और धीरे धीरे ही होगा न ? वह प्रयत्न शुक्लध्यानकी पूर्णता है जो कि चौदहवेंके अंतमें ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये तभी नामकर्मके कार्यका पूर्ण अभाव भी हो पाता है। इस प्रकार मोहकर्मके बंधको समस्त कर्मोंका स्वामी मानना युक्ति व आगमके सर्वथा अनुकूल है।

अब यह बात और देखनेकी है कि मोह व ज्ञानावरणके बीचमें क्या अंतर है ? ज्ञान आत्माका गुण है। मोहकर्म जब कि आत्माको घातता है तो फिर उसके असली लक्षणको मलिन करनेमें क्यों न प्रेरक होगा ? इसलिये ज्ञानावरण भी चाहे अपना कार्य एक जुदा ही करता है परन्तु मोहके आश्रित होकर ही करता है। जबतक मोहका बंध होता रहता है तभीतक ज्ञानावरणका भी बंध होता है। दशवेंके अंतमें मोहकर्मके बंधका व्युच्छेद होता है और ज्ञानावरणका बंध भी तभीतक होता है। अब हम वास्तवमें बंधका विचार करें तो एक मोहकर्म तो प्रधान ठहरता है और दूसरे सर्व अप्रधान ही ठहरते हैं। इसीलिये संसारको कर्मकृत मोहद्वारा बढानेवाला माना जाता है और मोहके नाशसे विद्यमान सर्व कर्मोंका भी कुछ आगे तक नाश हो ही जाता है। अब अभेद नयसे देखें तो बंध एक है और बंधके अभावरूप मुक्ति भी एक ही है। इसीलिये भेदविवक्षासे चाहे मोक्षका स्वरूपज्ञान दर्शन व चारित्र इन तीन गुणरूप होगा परन्तु अभेद विवक्षासे रत्नत्रयका स्वरूप एक शुद्ध आत्मा ही है। उसका बंध होना एक प्रकारकी अशुद्धता है। भेदविवक्षासे बंधके प्रधान भेद आठ हैं। जीवके गुण तो अनंत होते हैं परन्तु कर्म उन सभी गुणोंको घातते नही हैं। जीवकी शुद्ध अवस्था जैसी कुछ युक्ति व आगमसे ठहराई गई है उससे संसारमें विकार आठ ही प्रकारका दीखपडता है। इसलिये मूल कर्मप्रकृतियां न आठसे अधिक माननी चाहिये और न कम।

उत्तर भेद कितने है ?

अन्याः पंच नव द्वे च तथाष्टाविंशतिः क्रमात्। चतस्रश्च त्रिसंयुक्ता नवतिर्द्वे च पंच च ॥२३॥

अर्थ—आठो मूल प्रकृतियोंके उत्तरभेद इस प्रकार हैं;—ज्ञानावरणके पांच भेद। दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुके चार, नामके तिरानवै, गोत्रके दो, और अंतरायके पांच हैं।

१ ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ। कम्मकयमोहवड्ढिय, ऐसा गोमटसारका वचन है।

मतिः श्रुतावधी चैव मनःपर्ययकेवले। एषामावृतयो ज्ञानरोधप्रकृतयः स्मृताः ॥ २४ ॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान ये पांच ज्ञानके प्रकार हैं इसलिये इनका आवरण करनेवाली प्रकृतियां भी पांच हैं। प्रत्येक ज्ञानके नामके आगे आवरण—शब्द जोडदेनेसे ज्ञानावरणोंके नाम होजाते हैं। अर्थके अनुसार ये सर्व नाम हैं इसलिये आवरणको रोध भी कहसकते हैं आवृति भी कहसकते हैं। इसी प्रकार ज्ञानावरण के बदले, बोधरोध, बोधावरण इत्यादि शब्द भी कहसकते हैं।

प्रत्यक्ष परोक्ष ऐसे भी ज्ञानके साधारण दो भेद करते हैं परन्तु ये भेद ज्ञानावरणकी तीव्रता व मंदताके सबबसे किये जाते हैं। ज्ञानोंमें यह कोई जातिभेद नहीं है। अथवा ये भेद ज्ञानकी जाति भिन्न भिन्न माननेसे माने जांय तो भी कुछ हानि नहीं है। प्रत्यक्ष व परोक्षके ही मतिज्ञानादिक उत्तरभेद हैं। इसलिये मतिश्रुतावरणको परोक्षावरण और अवधि-मनःपर्यय—केवलज्ञानावरणको प्रत्यक्षावरण कहसकते हैं।

परोक्ष मतिश्रुतज्ञान हैं। इनके उत्तरभेद न्यायग्रंथोंमें अनुभव, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान व आगम ऐसे भी किये हैं। इनका स्वरूप पीठिकामें लिखा जाचुका है। इन सर्वोंके आवरण भी जुदे जुदे होने ही चाहिये। परन्तु मति-श्रुतावरणके मानलेनेसे इन सभीका अंतर्भाव होजाता है। अनुभवावरण, स्मरणावरण इत्यादि आवरण परस्परमें भिन्न अवश्य हैं परन्तु मत्यावरण व्यापक होनेसे उसके अंतर्गत होजाते हैं। यही बात सर्व आवरणोंमें समझनी चाहिये। प्रत्येक ज्ञानके उत्तरभेद अपरिमित होते हैं इसलिये आवरणोंके भी उत्तर भेद उतनेतक होसक्ते हैं।

सर्वसत् पदार्थोंको और उनके गुण पर्यायोंको पूर्ण जानलेनेकी शक्तिका नाम केवलज्ञान शक्ति है। अथवा यों कहिये कि जानलेनेकी शक्तिमें यदि कोई आवरण न हुआ हो तो जो सत् पदार्थ है उसे यह शक्ति अवश्य जानेगी; क्योंकि, उस शक्तिका, जानलेना ही स्वभाव है। उस अखंड असहाय शक्तिको मलिन करनेवाले कर्म आलगनेसे वह केवलज्ञान शक्ति दब जाती है। इसीका नाम केवलज्ञानावरण है।

यह केवलज्ञानावरण जीवमें प्रयत्न विना ही प्रगट रहनेवाले पूर्ण ज्ञानको घातता है; जैसे कि प्रत्याख्यानावरण सकल संयमको घातता है। परन्तु कोई प्रयत्न करके उपयोग किसी तर्फ लगावै तो फिर भी उपयोगमात्र प्रत्यक्ष ज्ञान होसकता

है जिसे कि मनःपर्यय व अवधि कहते हैं। जैसे कि प्रत्याख्यानावरणका उदय रहते हुए भी देशविरत होते हैं। जो उपयोग लगानेपर भी सीधा असहाय प्रत्यक्ष ज्ञान न होने दे उसे मनःपर्ययज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण कहते हैं। मनके चिंतवनका वास्तविक स्वरूप अमूर्तीक होनेपर भी उपचार मात्रसे मूर्तीक माना जाता है। यही विषय मनःपर्यय ज्ञानका होता है। अवधिज्ञानका विषय मूर्तीक पदार्थ होता है। इसलिये अवधिज्ञानसे मनःपर्ययज्ञान अधिक सूक्ष्म विषयवाला है। यह अधिक महिमा होनेके कारण ही केवलज्ञानसे दूसरा दर्जा इसका माना गया है। इसका आवरण भी ऐसे ही स्वभावको घातता है।

इस प्रकार मनःपर्यय व अवधिके स्वभाव सामर्थ्यमें बहुत बडा अंतर है। इसीलिये परमनोगत चिंतवनके विषयको जानलेनेकी महत्त्वपूर्ण शक्तिका घातक एक कर्म और दूसरा उपस्थित पदार्थोंको सीधा साक्षात् जाननेकी शक्तिका घातक कर्म ये दो कर्म हुए। इन्हींको मनःपर्यय ज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण कहते हैं। अपने अपने आवरणोंका नाश होनेपर भी ये ज्ञान चाहें जिस पदार्थको नहीं जान सकते हैं किंतु जहां तक उपयोग लगाया जा सकता है वहीं तक जान सकते हैं। मनःपर्ययका उपयोग अढाई द्वीप पर्यन्तके मनुष्योंमें लग सकता है। अवधिज्ञानका विषय किसीका मन नहीं है किन्तु सीधापदार्थ विषय होता है इसलिये उसकी सीमा कुछ द्वीप समुद्र व कुछ आगे पीछे कालमें मर्यादित है। जो उपयोगमय ज्ञान होते हैं वे अपने प्रसारकी सीमा कुछ न कुछ अवश्य रखते हैं। केवल ज्ञानके सिवा सभी ज्ञान उपयोगमय हैं इसलिये निरवधि व युगपत् सर्व जाननेकी योग्यता केवलज्ञानमें ही है। केवलज्ञानावरण इसी वातको रोकता है। अर्थात् उपयोग लगानेपर जाननेकी शक्ति केवलज्ञानावरणसे रुकती नहीं है केवल निरवधिपनेका वह घातक है और विषयमें अवधिके हो जानेपर भी जो उपयोग लगाने पर साक्षात् जाननेकी शक्ति थी उसे मनःपर्ययज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण ये दो कर्म रोक देते हैं। इसीलिये संसारी जीवोंमें मतिश्रुतज्ञान रहते हुए भी साक्षात् ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता है।

यह ऊपरके तीन आवरणोंका स्वरूप हुआ। अब मतिश्रुतावरणोंको विचारिये। उपस्थित विषयका प्रथमज्ञान सो मतिज्ञान है और मतिज्ञानसे जाने हुए विषयके संबंधसे अर्थान्तरका निश्चय करना सो श्रुतज्ञान है श्रुतज्ञान मनका ही काम है और मतिज्ञानकी अपेक्षा सूक्ष्म विषयोंका ज्ञान है। इसीलिये उतरते हुए ज्ञानोंके दर्जोंमेंसे मतिज्ञानसे इसका दर्जा ऊपर ऊपर है। यद्यपि इनके घातक दोनों कर्मोंका क्षयोपशम सर्वत्र माना गया है परन्तु श्रुतज्ञानका उत्कृष्ट सामर्थ्य मतिज्ञान के

सामर्थ्यसे बहुत ऊंचा है। मतिज्ञान चाहे जब होता है परन्तु श्रुतज्ञान, अधिक उपयोग लगाने पर ही होता है। इसीलिये मति व श्रुत ये ज्ञानके दो विशाल विभाग माने गये और उनके आवरण भेदोंमें विभक्त माने गये हैं।

दर्शनावरणके उत्तर ९ भेद—

चतुर्णां चक्षुरादीनां दर्शनानां निरोधतः। दर्शनावरणाभिख्यं प्रकृतीनां चतुष्टयम् ॥२५॥
निद्रानिद्रा तथा निद्रा प्रचलाप्रचला तथा। प्रचला स्त्यानगृद्धिश्च दृग्रोधस्य नव स्मृतिः ॥२६॥

अर्थ—चक्षु दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन ये चार दर्शन हैं। इन दर्शनोंके घातक या रोकनेवाले कर्मोंके भी इसीलिये चार भेद होते हैं। निद्रा पांच प्रकारकी मानी जाती है । वह निद्रा भी दर्शनावरणरूप मानी जाती है इसलिये दर्शनावरणके भेद नौ माने जाते हैं । १ चक्षुदर्शनावरण, २ अचक्षुदर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण ४ केवलदर्शनावरण, ५ निद्रानिद्रा, ६ निद्रा, ७ प्रचलाप्रचला, ८ प्रचला, ९ स्त्यानगृद्धि ये उन दर्शनावरणोंके नाम हैं।

चक्षुदर्शनादिके आगे जैसे आवरण लगाने पर दर्शनावरणोंके नाम होते हैं वैसे निद्राओंके आगे आवरण-शब्द लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि, निद्रा स्वयं आवरण अर्थको सूचित करती है । इसीलिये यदि निद्राओंके आगे आवरण शब्द लगा भी दिया जाय तो ऐसा अर्थ होगा कि ये निद्रारूप आवरण हैं । चक्षुर्दर्शनावरणादिकोंका अर्थ ऐसा होता है कि ये चक्षुर्दर्शनादिकोंके आवरण हैं। इसीलिये चक्षुर्दर्शनादिकोंके आगे आवरण शब्द जोडे विना काम नही ही चल सकता है।

इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप अब बताते हैं—

चक्षुइंद्रिय द्वारा होनेवाले ज्ञानके प्रथम जो चक्षुकी विषयप्रति उन्मुखता होती है वह चक्षुर्दर्शन है। उसे जो आवरण कर्म रोकता है वह चक्षुर्दर्शनावरण है। चाक्षुषदर्शनावरण भी इसे कह सकते हैं। चक्षुके सिवा जो चार बाहिरी इंद्रियां और एक भीतरी इंद्रिय मन इन सबोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह प्रथम ही दर्शन हो जाने पर होता है। उसी दर्शनको अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। उस दर्शनको घातनेवाला जो कर्म हो वह अचक्षुर्दर्शनावरण है। यदि स्पर्शनदर्शनावरण आदि इनके उत्तर भेद किये जांय तो हो सकते हैं परंतु अभेद विवक्षा रखकर आचार्योंने उन सबोंको एक भेदमें ही गर्भित किया है।

शेषेन्द्रियोंके आवरणको एक संख्यामें रखनेका एक दूसरा भी हेतु होना चाहिये। वह यह है कि, चक्षुसंबंधी दर्शनका काम अधिक पडता है और शेष इंद्रियोंके दर्शनका कम। इसलिये दर्शनको आवरण करनेवाला कर्म भी अधिक लगता है। उतना अचक्षुदर्शनका आवरण करनेवाला कर्म नहीं लगता है। अत एव मूल प्रकृति बंधके अनुसार दर्शनावरणमें प्रदेशोंका बटवारा होजानेपर उत्तरभेदोंमें चक्षु वा अचक्षुका समान विभाग होता है। उसमेंसे चक्षुदर्शनावरणका तो फिर अधिक विभाग नहीं माना गया है परंतु अचक्षुदर्शनावरणमेंसे स्पर्शनादिपांच इंद्रियोंके पांच विभाग मानने पड़ते हैं। जो दर्शनावरण स्पर्शनेन्द्रियजन्य दर्शनको रोक सकता है वही रसनेन्द्रियादि जन्य दर्शनको नहीं रोक सकता है। यदि एक दूसरेके दर्शनको एकही आवरण रोक सकता होता तो उत्तरभेद करने की आवश्यकता ही न रहती। परंतु उत्तर भेदोंका मानना तथा कार्यकारण न्याय इस बातको मनाता है कि प्रत्येक अचक्षुदर्शनावरणके कार्य भी जुदे ही होने चाहिये और वे अचक्षुदर्शनावरण भी जुदे जुदे ही हैं।

यद्यपि चक्षुदर्शनावरणमें भी विषयोंके भेदसे उत्तरभेद होंगे परंतु वैसे भेद तो स्पर्शनेन्द्रिय अचक्षुदर्शनावरणादिकोंमें भी हो ही सकते हैं। इसलिये यह मानना पडता है दर्शनावरणके साधारण उत्तर भेदोंमें एक चक्षुके लिये एक विभाग और शेष पांचों इंद्रियोंके लिये उतना ही एक विभाग होता है। अत एव शेष पांचो इंद्रियोंके आवरण कर्मका चक्षु आवरणकी अपेक्षा खर्च कम है।

यद्यपि मनका कार्य अधिक रहता है परंतु वह केवल सेनी पंचेंन्द्रियमें काम आता है और चक्षुइंद्रियका उपयोग चौइंद्रियसे लेकर सेनीपर्यंत काममें आता है। इसलिये उसका रोधक कर्म ही अधिक रहना चाहिये। जहां जो इंद्रिय नही है वहां तो कर्मोंका उदय एकसा ही काम देगा वह चाहे अल्प हो चाहें अधिक, परंतु इंद्रिय न होनेसे एकसा काम होगा। किंतु जहां क्षयोपक्षमजन्य ज्ञानका प्रकाश और उपयोग अधिक है कर्मका भी उपयोग वहींपर अधिक होगा।

वेदनीयके उत्तरभेद—

द्विधा वेद्यमसद्वेद्यं सद्वेद्यं च प्रकीर्तितम्।

अर्थ—वेदनीय कर्मके दो भेद कहे हैं, एक असातावेदनीय, दूसरा सातावेदनीय। सातावेदनीय सुखका कारण है और असातावेदनीयका फल दुःखानुभव करना है।

संसारी जीवोंमें इसका बंध भी निरंतर ही होता रहता है। इसके बन्धके कारण आस्रव-प्रकरणमें कहचुके हैं। सर्व कर्मोंके साथमें इसका जबतक बन्ध होता है तबतकके बन्धकी अपेक्षा लेकर वे कारण बताये गये हैं। वे कारण संसारी जीवोंमें सदा बदलते रहते हैं। इसलिये बन्ध भी कभी साताका और कभी असाताका होता रहता है। परन्तु कषायोंका नाश होजाने पर जब केवल योगप्रवृत्ति रहजाती है उस समय केवल साता वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। योगप्रवृत्ति प्रकृति व प्रदेशबन्धकेलिये कारण मानी गई है। आठोकर्मोंकी प्रकृतियोंका और प्रदेशोंका जो बंध होता है उसका कारण भी योग ही है परन्तु केवल योगके द्वारा आठो कर्मोंका प्रकृतिप्रदेशबन्ध नहीं होता। केवलयोगके समय केवल सातावेदनीयका बन्ध होता है। इसलिये यों कहना चाहिये कि आठोंकर्मोंके प्रकृतिप्रदेशका कारण जो योग होता है वह कषाय सहित होनेपर होता है। नहीं तो, केवलयोगमें इतनी निर्बलता है कि वह आठो कर्मोंके प्रकृतिप्रदेशोंको आत्मामें नहीं ला सके। इसीलिये केवलयोग द्वारा केवल सातावेदनीयका बन्ध होता है।

इसके सिवा यहां यह शंका भी होसकती है कि स्थिति व अनुभागकी उत्पत्तिका कारण कषाय होता है। दशवे के ऊपर कषाय नष्ट होजाता है। इसलिये नवीन बंधनेवाले सातावेदनीयमें स्थिति व अनुभाग हो तो कैसे हो?

उत्तर—नवीन विशेषता उत्पन्न हो तो कारणकी आवश्यकता होती है। जिस समय सातावेदनीय बंधरूप होता है उसी समय उदयरूप होकर निर्जर जाता है। इसलिये तो स्थिति रखनेवाले कारणकी आवश्यकता नहीं पडती और अनुभागकेलिये यों आवश्यकता नहीं पडती कि जो प्रकृतिप्रदेश आते समय उस पिण्डमें स्वभाव होता है वही बन्धके समयमें बना रहता है। सातारूप जो स्वभाव है वह साथमें ही आता है। इतररूप परिणाम जिनमें होसके ऐसे प्रदेश आते ही नहीं है तो फिर कारणकी आवश्यकता क्यों पडे?

मोहके उत्तरभेद—

त्रयः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वभेदतः ॥२७॥

क्रोधो मानस्तथा माया लोभोऽनन्तानुबन्धिनः। तथा त एव चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञिकाः ॥२८॥

प्रत्याख्यानरुधश्चैव तथा संज्वलनाभिधाः। हास्यं रत्यरती शोको भयं सह जुगुप्सया॥ २९ ॥

नारीपुंषण्ढवेदाश्च मोहप्रकृतयः स्मृताः ।

अर्थ—मोहकर्मके उत्तर भेद दो बताये गये हैं। पहिलेका नाम दर्शनमोह और दूसरेका चारित्रमोह । दर्शनमोहका अर्थ है कि सम्यग्दर्शनको मोहित करे। अर्थात् सम्यग्दर्शनकी विपरीत अवस्था करदे। चारित्रमोह चारित्र गुण की विपरीत अवस्था करदेता है। दर्शनमोहके तीन भेद हैं, (१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिथ्यात्वमोहनीय, (३) सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय। जो सम्यग्दर्शनगुणको बाधा पहुंचाते हुए भी नष्ट न करसके उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहा है। इसके उदय रहते जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उस सम्यग्दर्शनको क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्यात्वमोहनीयके उदयमें सम्यग्दर्शनकी अवस्था पूरी २ विपरीत हो जाती है। उस अवस्थाको मिथ्यात्व अथवा मिथ्यादर्शन कहते हैं। सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीयके उदयका फल यह है कि जीवका सम्यग्दर्शन गुण कायम तो नहीं रह पाता है परन्तु मिथ्यात्वमा पूरा मलिन भी नहीं हो जाता है। वह अवस्था मिथ्यात्वकीसी निकृष्ट नहीं, पर सम्यग्दर्शनकीसी उज्वल व स्वाभाविक भी नहीं रह पाती है इसलिए उस अवस्थाको सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। यह अवस्था मिथ्यात्वसे भी जुदी जातिकी होती है और सम्यग्दर्शनसे भी निराली ही होती है। तीसरे गुणस्थानका स्वरूप गुणस्थानोंके वर्णनके समय कह चुके हैं। वह इसी अवस्था का नाम है। ये तीनों दर्शनमोहके भेद हुए।

चारित्रमोहके सामान्य उत्तरभेद तो दो हैं और विशेष उत्तर भेद पचीस हैं। कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय ये दो भेदोंके नाम हैं। कषाय वेदनीयके क्रोधादि सोलह भेद हैं और अकषाय वेदनीयके नौ। इस प्रकार मिलनेसे विशेष उत्तर भेद पचीस होते हैं। कषाय वेदनीयके सोलह भेद इस प्रकार है—कषायोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य ये चार दर्जे होते हैं। उत्कृष्ट कषायको अनन्तानुबन्धी कहते हैं और अनुत्कृष्टको अप्रत्याख्यानावरण तथा अजघन्यको प्रत्याख्यानावरण और जघन्यको संज्वलन। अनंत प्रमाण संसारकी अमर्यादित अवस्था अति तीव्र कषायके रहनेसे हो सकती है। इसलिये उत्कृष्ट कषायको अनन्तका अर्थात् अमर्यादित संसार बंधन करनेवाला समझकर अनंतानुबंधी नाम रक्खा गया है। यह कषाय सम्यग्दर्शनसे तथा अर्धसम्यक्त्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वसे पहिले तक उदयमें आता है। अनादि मिथ्यादृष्टी जीवोंमें मिथ्यादर्शनका और इस अनन्तानुबन्धी कषायका उदय निरंतर बना रहता है। इन दोनों ही कर्मोंका उदय जब हटता है तभी प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। दूसरे कषायको अप्रत्याख्यानावरणीय इसलिए कहते हैं कि वह एक अंशरूप

भी प्रत्यख्यान अर्थात् विषय त्याग नहीं होने देता । तीसरा कषाय अधूरासा विषय त्याग होनेमें आड नहीं आता परन्तु पूरा त्याग होनेमें अवश्य आत्माके परिणामोंको रोकता है इसलिए इसे प्रत्याख्यानावरणीय कहते हैं । विषयसे आत्मपरिणाम पूरा हट जानेपर भी उस परिणाममें कुछ मालिन्य बनाये रखनेवाला चौथा कषाय है। इसीलिये उसका नाम संज्वलन है । विषयसे उपेक्षा हो जानेको चारित्र कहते हैं पूर्ण उपेक्षाके समय जो चारित्र होता है उस चारित्रको रखते हुए उसके साथ वह कषाय जाज्वल्यमान बना रहता है इसलिये संज्वलन-नाम सार्थक है । छट्टे गुणस्थानवर्ती सन्यासीसे लेकर दसवें गुणस्थान तकके योगियोंमें यह कषाय उत्तरोत्तर कृष होता हुआ टिकता है । इस प्रकार चारो कषायोंके ये जुदे जुदे फल हैं । इन फलोंकी प्राप्ति जिन कर्मोंके उदयमें होती है उन कर्मोंके भी कार्यकारण संबंधसे ये ही चारो नाम है । और भी बहुतसे कर्मोंके नाम उनके फलोंके नामपरसे रक्खे गये हैं यह बात शरीर नामादि कर्मोंके देखनेसे माननी पडती है । उक्त चार भेद जो कषायोंमें हुए हैं वे शक्तिकी तरतमादि अवस्थाके रहनेसे हुए हैं परन्तु प्रत्येक कषायमें जातिभेद चार चार हैं १ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ । चारों कषायोंमें ये चार चार जाति मानी जांय तो चार कषायके सोलहभेद हो जाते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनंतानुबंधी माया, अनंतानुबंधी लोभ । इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध; मान, माया, लोभ । प्रत्याख्यानावरण-क्रोध, मान, माया, लोभ । संज्वलन क्रोध, संज्वलनमान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ । कषयावेदनीय चारित्रमोहके ये सोलह भेद हुए ।

अकषाय वेदनीय चारित्रमोहके नौ भेदोंके नाम:–(१) हास्यवेदनीय, (२) रतिवेदनीय, (३) अरतिवेदनीय, (४) शोकवेदनीय, (५) भयवेदनीय, (६) जुगुप्सावेदनीय, (७) स्त्रीवेदनीय, (८) पुरुषवेदनीय, (९) नपुंसक वेदनीय । नामोंपरसे जो अर्थ प्रतीत होते हैं वे ही इन कर्मोंके फल हैं ।

पहिले जो सोलह कषाय लिखे हैं उनका असर आत्मपरिणामपर इतना उत्कट होता है कि साफ साफ परिणामोंकी मलिनता दीखने लगती है । दूसरे जो अकषायके नौ भेद लिखे हैं उनका भी आत्मापर असर तो होता है परन्तु आत्मपरिणामोंमें कषायोंकी बराबर मलिनता दीख नहीं पडती इसीलिये सोलह भेदोंको कषायवेदनीय कहा और नौ भेदोंको अकषायवेदनीय कहते हैं । हास्यादिक कषाय कषायोंसे कुछ कम असर करते हैं परन्तु कषायोंसे मिलते जुलते अवश्य हैं–यही अर्थ दो भेद करनेका समझना चाहिये । नहीं तो दोनो भेदोंका 'चारित्रमोह' ऐसा एक ही नाम है । यदि

और भी व्यापक नाम देखना हो तो मोह नाम एक ही है जिससे कि दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दोनोंका अर्थज्ञान होसकता है। इससे भी व्यापक नाम देखना हो तो कर्म अथवा प्रकृति है। इस नामसे आठो ही कर्मोंका बोध होता है। किसी एक स्वभावके विशेष विशेष रहनेसे भेद होजाता है और वह विशेषता न मानी जाय तब अभेदसे ही व्यवहार होता है। यह सब अपेक्षाकी बात है।

इस प्रकार मोहकर्मके ३ व १६ व ९ मिलनेपर कुलभेद २८ होते हैं। इनके नाम थोडे थोडे अंतरसे और और भी हैं। जैसे, सम्यग्दर्शनका नाम सम्यक्त्व; अप्रत्याख्यानावरणका अप्रत्याख्यान तथा अप्रत्याख्यानरोधी अथवा अप्रत्याख्यानावरणीय; एवं अकषाय अथवा अकषायवेदनीय, कषाय अथवा कषायवेदनीय। दूसरे कर्मोंमें भी यह बात दीख पडती है कि एक एक कर्मके कई कई नाम हैं। कुछ नाम तो पूरे या अधूरे व्यवहारमें आनेके कारण जुदे जुदे दीखने लगते हैं; जैसे, प्रत्याख्यानावरण पूरा नाम है और प्रत्याख्यान नामका एकदेश है। कुछ नाम समानार्थक अनेक क्रियापदोंके कारण जुदे जुदे होजाते हैं; जैसे, प्रत्याख्यानावरण अथवा प्रत्याख्यानरोधी।

आयुः कर्मके भेद—

श्वाभ्रतिर्यग्नृदेवायुर्भेदादायुश्चतुर्विधम् ॥ ३० ॥

अर्थ—नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु व देवायु ये चार उत्तर भेद आयुः कर्मके हैं।

नामकर्मके उत्तर भेद—

चतस्रो गतयः पंच जातयः कायपंचकम्। अंगोपांगत्रयं चैव निर्माणप्रकृतिस्तथा ॥३१॥
पंचधा बन्धनं चैव संघातोपि च पंचधा। समादिचतुरस्रान्तं न्यग्रोधं स्वातिकुब्जकम् ॥३२॥
वामनं हुण्डसंज्ञं च संस्थानमपि षड्विधम्। स्याद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचमेव च ॥३३॥
नाराचमर्धनाराचं कीलकं च ततः परम्। तथा संहननं षष्ठमसंप्राप्तासृपाटिका ॥३४॥
अष्टधा स्पर्शनामापि कर्कशं मृदु लघ्वपि। गुरु स्निग्धं तथा रूक्षं शीतमुष्णं तथैव च ॥३५॥

मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायः पंचधा रसः। वर्णाः शुक्लादयः पंच द्वौ गन्धौ सुरभीतरौ॥३६॥
श्वभ्रादिगतिभेदात् स्यादानुपूर्वीचतुष्टयम्। उपघातः परघातस्तथाऽगुरुलघुर्भवेत् ॥३७॥
उच्छ्वास आतपोद्द्योतौ शस्ताशस्ते नभोगती। प्रत्येकं त्रसपर्याप्तवादराणि शुभं स्थिरम्॥३८॥
सुस्वरं सुभगादेये यशः कीर्तिः सहेतरैः। तथा तीर्थकरत्वं च नाम प्रकृतयस्तथा ॥३९॥

अर्थ—गति चार हैं; [१] देवगति [२] मनुष्यगति, [३] तिर्यंचगति, [४] नारक गति । जाति पांच हैं; [५] एकेन्द्रिय जाति, [६] द्वीन्द्रिय जाति, [७] त्रीन्द्रिय जाति, [८] चतुरिन्द्रिय जाति, (९] पंचेन्द्रियजाति। शरीर पांच हैं; (१०) औदारिक शरीर [११] वैक्रियिक शरीर, [१२] आहारक शरीर, (१३) तैजस शरीर। [१४] कार्मण शरीर। अंगोपांग तीन हैं; [१५] औदारिक शरीरांगोपांग, (१६) वैक्रियिक शरीरांगोपांग, (१७) आहारक शरीरांगोपांग (१८) एक निर्माण कर्म है। इसके भी प्रमाणनिर्माण और स्थाननिर्माण ये दो भेद होते हैं । परन्तु उन भेदोंके वश दो प्रकृति मानी नहीं जाती हैं। इसलिए इसकी एक संख्या ही लेनी चाहिए, पांच वन्धन हैं, [१९] औदारिक शरीर वन्धन, (२०) वैक्रियिक शरीर वन्धन, (२१) आहारक शरीर बंधन, [२२] तैजस शरीर बंधन, [२३] कार्मण शरीर बंधन। पांच संघात हैं, [२४] औदारिक शरीर संघात, (२५) वैक्रियिक शरीर संघात, [२६] आहारक शरीर संघात, [२७] तैजस शरीर संघात, [२८] कार्मण शरीर संघात। संस्थान छह प्रकारके होते हैं ; (२९) समचतुरस्र, (३०) न्यग्रोध, (३१) स्वाति, (३२), कुब्जक, (३३) वामन, (३४) हुण्डक । संहननके छह भेद होते हैं; [३५) वज्रर्षभनाराच, (३६) वज्रनाराच, (३७) नाराच, (३८] अर्धनाराच, (३९) कीलक, (४०) असंप्राप्तसृपाटिका । स्पर्श आठ प्रकारका है; (४१) कर्कश, (४२) मृदु, (४३) लघु, (४४) गुरु, (४५) स्निग्ध, (४६) रूक्ष, (४७) शीत, (४८) उष्ण। रसके पांच भेद हैं; (४९) मधुर, (५०) अम्ल, (५१) कटु, (५२) तिक्त, (५३) कषाय। वर्णके पांच भेद हैं, [५४] शुक्ल, ५५ रक्त, ५६ नील, ५६ पीत, ५८ कृष्ण। गन्ध दो हैं; ५९ सुगंध, ६० दुर्गंध। आनुपूर्व्य चार हैं, ६१ नरकगत्यानुपूर्व्य, ६२ तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, ६३ मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, ६४ देवगत्यानुपूर्व्य। ६५ एक उपघात। ६६ एक परघात। ६७ एक अगुरुलघु। ६८ एक उच्छ्वास।

६९ एक आतप। ७० एक उद्योत। विहायोगति, अथवा आकाश गति दो हैं, ७१ प्रशस्त विहायोगति, ७२ अप्रशस्त विहायोगति, ७३ प्रत्येक शरीर, ७४ त्रस, ७५ पर्याप्त, ७६ बादर, ७७ शुभ, ७८ स्थिर, ७९ सुस्वर, ८० सुभग, ८१ आदेय, ८२ यशः कीर्ति, ८३ साधारण शरीर, ८४ स्थावर, ८५ अपर्याप्त, ८६ सूक्ष्म, ८७ अशुभ, ८८ अस्थिर, ८९ दुःस्वर, ९० दुर्भग, ९१ अनादेय, ९२, अयशः कीर्ति, ९३ तीर्थकरत्व नाम कर्मके ये तिरानवें उत्तर भेद हैं। इनके फल नामों परसे जाने जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—

जिस कर्मके उदयका फल भवान्तरमें जाना हो वह गति[1] कर्म है। उन गतियोंमें जो सदृशता अवश्य होती है उसके कारण कर्मको जाति[2] कहते हैं। जिस कर्मके उदयका फल यह हो कि आत्माके साथ शरीर उत्पन्न हो वह कर्म शरीर कर्म है अंगोपांगकी रचना होनेमें जो कर्म सहायक होता है वह अंगोपांग कर्म है। तैजस और कार्मण शरीरमें अंगोपांग नहीं होते। तीन ही शरीरमें अंगोपांगकी रचना होती है। इसलिये अंगोपांग कर्मके भी भेद तीन ही माने जाते हैं।

गोत्रकर्मके उत्तर भेद—

गोत्रकर्म द्विधा ज्ञेयमुच्चनीचविभेदतः।

अर्थ—गोत्रकर्म दो प्रकारका है, एक ऊंच गोत्र और दूसरा नीच गोत्र। इन कर्मोंका फल यह है कि जीव ऊंचकुली नीचकुली माननेमें आता है। इसका लक्षण यह है कि संतान परम्परासे चले आनेवाले जीवाचरणका नाम गोत्र[3] है।

अन्तरायकर्मके उत्तर भेद—

स्याद् दानलाभवीर्याणां परिभोगोपभोगयोः ॥४०॥
अन्तरायस्य वैचित्र्यादन्तरायोपि पंचधा।

अर्थ—अन्तरायका अर्थ यहां पर विघ्न करनेवाला है। विघ्न पांच बातोंमें पड सकते हैं-देनेमें, लेनेमें, सामर्थ्यमें, भोगमें, उपभोगमें। इन पांच बातोंमें विघ्न डालनेवाला अंतराय कर्म भी इसीलिये पांच प्रकार है; १ दानांतराय, २

१ यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गति। २ तत्राव्यभिचारिसादृश्यैकीकृतोर्थात्मा जातिः। यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम। यदुदयादंगोपांगविवेकस्तदंगोपांगं नाम। तत त्रिविधम्। ३ संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। उच्च णीचं चरण उच्च णीच हवे गोदं ॥गो० कर्म॥

लाभान्तराय ३ वीर्यान्तराय, ४ भोगान्तराय ५ उपभोगान्तराय। एक बार ही जो वस्तु भोगनेमें आ सके उसे भोग कहते हैं जैसे—भोजन। अनेकवार भोगनेमें जो वस्तु आ सकती है वह उपभोग है। जैसे कपडे। भोगको परिभोग भी कहते हैं। इन पांचो कर्मोंका कार्य दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यमें विघ्न डालना है। केवल ज्ञान होनेसे पहिली अवस्थामें इन पांचो कर्मोंका सद्भाव रहता है। मतिज्ञानावरणादिकोंके क्षयोपशमके अनुसार जैसे मतिज्ञानादि प्रगट होते रहते हैं वैसे ही दानान्तरायादिकोंका क्षयोपशम जब जैसा तीव्र मन्द मध्यम होता है तब वैसा ही दानादि परिणाम प्रगट होता है। वीर्यान्तरायके क्षयोपशमानुसार जीवकी शक्ति हीनाधिक प्रमाणमें प्रगट रहती है। ये इन कर्मोंके क्षयोपशमोंसे होनेवाले जीव स्वभाव हैं। शक्तिके विना ज्ञानादि गुण भी प्रगट हों तो टिक नहीं सकते हैं। इसलिये वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाला सामर्थ्य अथवा बल ज्ञानके प्रगट होनेमें भी उपयोगी पडता है। अतएव ज्ञानका साक्षात् घातक तो ज्ञानावरण ही है परन्तु परंपराघातक अंतराय भी माना गया है।

शंका—मोहके उदयसे जिस प्रकार जीवका दर्शन चारित्र गुण विपरीत हो जाता है उस प्रकार आवरणके तथा अंतरायके उदयोंसे जीवके वीर्य तथा ज्ञानगुण विपरीत नहीं होते किंतु नष्ट होते हैं। जो विपरीत होता है वह नष्ट हुआ नहीं कहा जा सकता है। इसलिये मिथ्यादृष्टि जीवके दर्शन चारित्र गुण पूरे विपरीत हो जानेपर भी नष्ट नहीं होते हैं। परन्तु आवरणके तथा अंतरायके उदयसे ज्ञानवीर्यगुण नष्ट हुए माने जाते हैं सो कैसे हो सकता है? क्योंकि, जो सत् है उसका नाश होना सभव नहीं है?

उत्तर—कोई भी आवरण अथवा अंतराय अपने विषयको नष्ट अवश्य करता है परन्तु निःशेष नष्ट नहीं करता। इसीलिये जैसा कि मोहकर्मका मिथ्यादृष्टि जीवमें पूरा उदय होजाता है वैसा आवरण तथा अंतरायका पूरा उदय कभी किसी जीवमें नहीं होपाता है। जीवका छोटेसे छोटा ज्ञान और थोडेसे थोडा बल सदा ही प्रकाशमान बना रहता है। उसके ऊपर फिर जैसा जहां उदय या क्षयोपशम होता है वैसा वहां ज्ञान तथा बल अप्रगट तथा प्रगट होता रहता है। यदि आवरणका तथा अंतरायका पूरा उदय भी कहींपर हुआ करता तो जीवके ज्ञान और बलगुण निःशेष नष्ट होजानेसे जीवका ही नाश होजाना मानना पड़ता। परन्तु जीवका नाश होना असंभव है। इसलिये उसके गुणका भी निःशेष घात होना असंभव है और अतएव आवरणका तथा अंतरायका पूरा उदय होना भी असंभव है। इससे यह तात्पर्य सिद्ध हुआ कि ज्ञान और

बलकी सत्तामें यह सामर्थ्य है कि अपने घातक कर्म सदा विद्यमान रहते हुए भी उनका उदय न होने दे । अतएव उतने आवरणका और अंतरायका सदा उदयाभावी ही क्षय होता रहता है । वह कभी उदयमें नहीं आसकता। निरुपयोगी होकर भी वह बंधता अवश्य है ।

इस कथनसे इस बातका समर्थन तो अवश्य होजाता है कि जीवके ज्ञान व बल गुण नष्ट नहीं होते जिससे कि सत्का अभाव होना मानना पडे । तो भी जितने अंश नष्ट होते हैं उनके विषयमें तो यह आशंका बनी ही रही कि सत्का विनाश होता है । इसी प्रकार जब क्षयोपशम द्वारा उन गुणोंके अंश प्रगट होने लगेंगे तब असत्के उत्पादका भी दोष आजायगा ?

इसका उत्तर यह है कि—जो अविभाग प्रतिच्छेदोंका हीनाधिक होना है वह पर्यायका स्वरूप है। पर्याय अर्थात् विशेषता । गुणोंमें ही यह बात संभवती है कि सत्का विनाश न हो और असत्का उत्पाद न हो। गुण अर्थात् सामान्य अथवा शक्तिमात्र। यदि पर्यायोंमें भी शाश्वतिकता मान ली जाय तो उत्पादव्ययका स्वरूप कैसे बनेगा ? इसलिये पर्यायोंका होना तो मानना ही पडता है। अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकता होनेसे तथा परिवर्तन होनेसे ही पर्यायका होना संभवेगा। अगुरुलघुगुण इस कार्यमें सहायक होता है । उस गुणका यही कर्तव्य है कि प्रत्येक गुणके अविभाग प्रतिच्छेदोंको खूब ही घटावे बढावे परन्तु गुणकी सत्ताको नष्ट न होने दे और मर्यादासे अधिक बढने भी न दे । वस्तुओं में दृष्ट स्वभावोंको स्वीकार न करना अन्याय है । रूपरसादि गुणोंमें वृद्धि ह्रास होता हुआ अनुभवगोचर होता है इसलिये अविभागप्रतिच्छेदोंका हीनाधिक होना मानना ही चाहिये। तो भी बीजवृक्षादिकोंमें कार्यकारण संबन्ध दीखनेसे सत्का विनाश और असत्का उत्पाद होना असंभव भी मानना ही चाहिये ।। जब कि ये दोनों नियम परस्पर विरोधीसे जान पडते हैं परंतु मानने अवश्य पडते हैं तो इनका विरोध मिटानेवाला एक गुण अवश्य ऐसा मानना पडता है जो कि अविभागप्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकता भी कराता रहे और निःशेष नष्ट होनेसे तथा अधिकका उत्पाद होनेसे रोकता भी रहे। उस गुणका नाम अगुरुलघु गुण है। यह गुण द्रव्यमात्रका सामान्य गुण है । इसीलिये द्रव्यमात्रमें अथवा सन्मात्रमें उत्पादव्यय भी होना मानना पडता है और ध्रौव्यस्वभाव भी मानना पडता है । जो लोग इस गुणको नहीं मानते उन्हें या तो उत्पाद व्यय मानलेने पर प्रत्यक्षसिद्ध ध्रौव्यका अपलाप करना पडता है और या ध्रौव्यको मानलेने पर उत्पादव्ययका अपलाप करना पडता है । ऐसा एकांत वाद इसीलिये न्यायाभास है कि कुछ न कुछ प्रत्येक एकांतवादमें प्रत्यक्ष विरोध करना पडता है । आर्हत अनेकांत वादमें

दृष्टविरोधका दोष नहीं आता। इसलिये मानना चाहिये ज्ञान बलमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हीनाधिकता होते हुए भी वे नष्ट नहीं होते।

कुछ लोग सूर्य प्रकाशके आवरणका दृष्टांत सामने रखकर यों कहते हैं कि ज्ञानगुणके अविभागप्रतिच्छेद आवरण द्वारा नष्ट नहीं होते किंतु ढक जाते हैं। परन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि, दृष्टांत एकदेशमें ही संभव होता है और वह भी जहां संभव न हो वहां दृष्टांतका अर्थ औपचारिक ही मानना पडता है। अमूर्तीकगुणोंका ढकना संभव नहीं है। यदि ढका जाना ही माना जाय तो जिस स्थानमें ज्ञानगुण रहेगा व्हांपर तो केवलज्ञानका अनुभव होना चाहिये। परन्तु ऐसा होना संभव नही है। इसलिये आवरणका अर्थ घात होना ही मानना पडता है।

द्वे त्यक्त्वा मोहनीयस्य नाम्नः षड्विंशतिस्तथा ॥ ४१ ॥
सर्वेषां कर्मणां शेषा बन्धप्रकृतयः स्मृताः।

अर्थ—संपूर्ण कर्मोंके उत्तर भेद १४८ हैं। पांच ज्ञानावरणके, नौ दर्शनावरणके, दो वेदनीयके, अट्ठाईस मोहनीयके, चार आयुके, तिरानवे नामके, दो गोत्रके, पांच अंतरायके। ये १४८ धर्म सत्ताके समय पाए जाते हैं। वे भी किसी एक जीवमें नहीं किंतु नाना जीवोंमें देखनेसे कही कोई और कहीं कोई प्रकृति दीखपडती है। कुछ ऐसे भी कर्म हैं जोकि सर्वत्र पाये जाते हैं। कुल मिलाकर देखें तो १४८ हो जाते हैं। परंतु बंधके समय जो बंधनमें नहीं आते ऐसे अट्ठाईस कर्म हैं। मोहनीय कर्मके दो और नामके छब्बीस कर्मोंका जुदा बंध नहीं होता। बाकी सर्व कर्मोंकी सभी प्रकृतियां बँधनेमें आती हैं।

उन २८ कर्मों के नाम—

अबन्धाः मिश्रसम्यक्त्वे बन्धसंघातयोर्दश। ४२ ॥ स्पर्शे सप्त तथैका च गन्धेऽष्टौ रसवर्णयोः।

अर्थ—एक सम्यग्मिथ्यात्व और दूसरा सम्यक्त्व ये दो मोहनीय कर्म ऐसे हैं जो बंधनके समय जुदे बद्ध नहीं होते परंतु बँधने पर सत्तामें जुदे माने जाते हैं और उदय भी निरनिराले समयोंमें निरनिराले स्वरूपमय होता है। नाम कर्मके जो छब्बीस अबंध हैं उनमेंसे पांच शरीर बंधन और पांच शरीर संघात ये दश तो शरीरके घटक होनेसे पांचो शरीर कर्मोंमें गर्भित होजाते हैं। इनका जुदा बंध नहीं होता और वीस भेद जो स्पर्शादिकोंके हैं उनमेंसे स्पर्शका रसका गंधका वर्णका एकेकही बंध

होता है। इसलिये उत्तर भेद वीसमेंसे चारका वंध होनेसे सोलहकी संख्या इनमेंसे घटजाती है। स्पर्शके कुल आठ भेद बताये गये हैं। उनमेंसे एक बंधनयोग्य होनेपर बाकी सात अबंध रहजाते हैं। गंधके कुल दो भेद हैं। उनमेंसे बंधनके समय सामान्य एक ही संख्या रहती है। इसलिये एक संख्या कम होजाती है। रस और वर्णके पांच पांच भेद कहे गये हैं। उनमेंसे प्रत्येकका एकरूपमें बंध होनेसे चार चार संख्या छूट जानेसे आठकी संख्या कम हो जाती है। इस प्रकार मिलानेसे अबंधकी सर्व प्रकृति २८ हो जाती हैं।

कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति—

वेद्यान्तराययोर्ज्ञानदृगावरणयोस्तथा ॥४३॥ कोटीकोट्यः स्मृतास्त्रिंशत् सागराणां परा स्थितिः। मोहस्य सप्ततिस्ताः स्युर्विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥४४॥ आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत् सागराणां परा स्थितिः।

अर्थ—वेदनीय, अन्तरायकी व ज्ञानावरण, दर्शनावरण की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण होती है। मोहकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण होती है। नामकर्मकी और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागर प्रमाण होती है। आयुः कर्मकी तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। यह उत्कृष्ट स्थिति मूल कर्मोंकी है। आठो मूल कर्मोंके उत्तर भेद एकसौ अडतालीस होते हैं। उनमेंसे प्रत्येक मूल कर्मके किसी एकाद भेदमें ही उत्कृष्ट स्थिति संभवती है, सर्वभेदोंमें उत्कृष्ट स्थिति संभव नहीं होती। जैसे, मोहके उत्तरभेदोंमेंसे एक मिथ्यात्वमें ही सत्तर कोडाकोडी सागरकी स्थिति होसकती है। चारित्रमोहमें अधिकसे अधिक चालीस कोडाकोडी सागर प्रमाण ही होसकती है। इसी प्रकार उत्तर भेदोंमें जघन्यसे उत्कृष्ट भेदकी स्थिति पर्यंत स्थितियोंमें एकैक समयकी हीनाधिकतासे असंख्यातों भेद होजाते हैं।

कर्मोंकी जघन्य स्थिति—

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया वेद्येऽष्टौ नामगोत्रयोः ॥ ४५ ॥ स्थितिरन्तर्मुहूर्तस्तु जघन्या शेषकर्मसु।

अर्थ—वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तमात्र है। नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्तप्रमाण जघन्य स्थिति है। बाकी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह आयु और अंतराय कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है। एक समय अधिक एक

आवली प्रमाण काल से लेकर अंतर्मुहूर्त शुरू होता है, और दोघडीमें एक समय कम रहने तक अंतर्मुहूर्त माना जाता है। मुहूर्तके भीतरके समयका नाम अन्तर्मुहूर्त है।

जघन्य स्थितिसे एक समय अधिक यदि किसी कर्मकी स्थिति हो तो वह मध्यम स्थिति कहाती है। ऐसी मध्यम स्थिति जहां तक उत्कृष्ट स्थितिसे एक समय कम मर्यादा रहे वहां तक मानी जाती है। स्थितिके मध्यम भेद एकेक समय के बढनेसे असंख्यातों होंगे यह बात कह चुके हैं। उत्कृष्ट स्थितिके समयोंमेंसे एक संख्या तो उत्कृष्टकी घटा देनी चाहिये और एक समय अधिक आवली प्रमाण जघन्य स्थितिके असंख्यात समयोंकी वह असंख्यात संख्या घटा देनी चाहिये। फिर जो उत्कृष्ट स्थितिके समयोंकी मध्यम असंख्यात संख्या रही उतने भेद मध्यम स्थितिके प्रत्येक कर्ममें होते हैं। जघन्यका और उत्कृष्टका भेद एकेक हो सकता है। इस प्रकार कर्मोंकी तीन २ प्रकारकी स्थिति मानी गई है।

जो कर्म जितने कालकी स्थिति बंधते समय धारणकरता है उतनी स्थिति पूर्ण होने पर उस कर्मका आत्मासे बंधन छूट जाता है। फिर चाहें वह पुद्गल आत्माके साथ ही रहै अथवा वहांसे हट जाय। जो फिर आत्माके साथ ही बना रहता है उसे विस्रसोपचय कहते हैं। ऐसे विस्रसोपचयका प्रमाण बंधे हुए कर्मोंके प्रमाणसे बहुत कुछ अधिक सदा इकट्ठा बना रहता है। प्रायः उसीमेंसे कुछ स्कंध रागद्वेषादि निमित्तके वश आत्माके साथ बंधते रहते हैं और स्थिति पूर्ण होने पर छूटते रहते हैं।

प्रत्येक समयमें असंख्यातों स्कध कर्मरूप होते हैं। परन्तु उनकी स्थिति जितनी होती है उतनी सभी पूर्ण होनेपर वे एक दम निर्जीर्ण नहीं होते, किन्तु निर्जराका क्रम एक दूसरा ही है।

कल्पना करिये कि एक सागर प्रमाण एक कर्मकी स्थिति हुई। उसकी निर्जरा तो एक सागरके अंततक हो ही जायगी। परंतु शुरू कुछ पहिलेसे ही होती है। उसका अंदाज ऐसा है कि एक सागर की स्थितिवाला कर्म सौ वर्षके बादसे निर्जीर्ण होने लगता है और एक सागरके अंततक पूरा निर्जीर्ण हो जाता है। सौ वर्षतक उसमेंसे कुछ भी अंश निर्जीर्ण नहीं होते। इसलिये एक सागरकी स्थितिवाला कर्म यदि बराबर फल दे तो सौ वर्ष घाट सागरपर्यंत बराबर फल देगा। यहां पर सौ वर्षका काल जो फल देनेसे शून्य रहा उसे आबाधाकाल कहते हैं। इसी प्रकार एक सागरके प्रति सौ वर्षके हिसाबसे प्रत्येक कर्मकी स्थितिमेंसे जो आबाधाकाल हो सकता है उतनी आबाधा सर्वत्र माननी चाहिये। अल्पस्थितिवाले कर्मोंकी यदि छोटीसे छोटी आबाधा हो तो एक समय अधिक एक आवलीप्रमाणकाल होगा। आबाधाका

यह सर्व सामान्य नियम सात कर्मोंके विषय में है। आयुःकर्मकी आवाधा सर्वत्र उतनी होती है जितनी कि आयुःकर्म वांधते समयसे उस वर्तमान [भुज्यमान] पर्यायमें ठहरना हो। जो जघन्यादि आयुका स्थितिमान बताया गया है उसकी गिनती उत्तर पर्यायके प्रति सन्मुख होनेके समयसे ही मानी जाती है। जैसे, एक मनुष्यने तेतीस सागर की स्थितिवाला देवायुःकर्म बांधकर मरण किया और देव होगया तो मरणके बादसे ही तेतीस सागरकी स्थितिका उपयोग होगा। मरनेसे चाहें जितने पहिले उसने उस कर्म को वांधा हो पर तेतीस सागरमें उसकी गिनती नही होगी। इस प्रकार स्थितिका स्वरूप है । परन्तु यह सब कब ? जब कि यथाकाल कर्मोंकी निर्जरा हो तब, यदि यथाकाल न आने पावे किंतु प्रबल निमित्त उससे पहिले ही मिल जाय तो कर्म यथासमयसे प्रथम भी निर्जीर्ण होजाता है। उसका नाम उदीरणा है। किसी कर्मके बँधने पर यदि ऐसी उदीरणा बहुत ही जल्दी हो तो एक समय अधिक एक आवलीप्रमाण कालके बाद ही होसकती है। इसके बाद स्थिति पूर्ण होनेसे प्रथम कभी भी वह उदीरणा होसकती है। परन्तु वह उदीरणा यदि आयुःकर्मकी हो तो उसका भोगना शुरू होजानेपर ही होगी। उत्तर भवकेलिये बंधे हुए आयुमें उदीरणा कभी नहीं होती। इसी प्रकार और भी कोई कोई कर्म कभी कभी ऐसी तरहसे बधते हैं कि उनमें भी उदीरणा नहीं होती उनकी स्थिति जितनी बंधते समय ठहरती है उतनी पूरी होनेपर ही वे पूरे निर्जीर्ण होसकते हैं। इसके सिवा परिणामोंकी उत्कट सरागता अथवा वीतरागता आदि निमित्त मिलनेपर भी स्थितिमें हीनाधिकता होजाया करती है। जो स्थिति घटती है उसे अपकर्षण कहते हैं और जो बंधनेके समयकी ठहरी हुई स्थितिसे बढजाती है उसे उत्कर्षण कहते हैं। यह ध्यान रखनेकी बात है कि चाहें जैसा उत्कर्षण हो परन्तु किसी भी कर्मकी सर्वोत्कृष्ट स्थितिसे अधिक स्थिति नहीं रह सकती है। यह स्थितिका स्वरूप हुआ।

अनुभागबंधका स्वरूप—

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम् ॥ ४६ ॥
असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः ।

अर्थ—पूर्वोपार्जित शुभाशुभकर्मोंका जिस रूपमें फल प्राप्त होता है उसका उस रूपवाली विशेषशक्तिको अनुभव अथवा

१ । आवलियं आवाहा उदीरणासिज्ज सत्तकम्माणं । परभवियआउगस्स य उदीरणा णत्थि णियमेण ॥ गो० ॥

अनुभाग कहते हैं। कर्मोंके जैसे नाम होते हैं वैसे और उन्ही नामवाले अनुभाग होते हैं । प्रकृतियोंके और अनुभागोंके नामोंमें अंतर नहीं होता। प्रकृति सामान्य स्वभावको कहते हैं और उन्ही स्वभावोंकी तरतमरूप विशेषताओंको अनुभाग कहते हैं। प्रकृति और अनुभागोंमें यदि अंतर है तो इतना ही है।

प्रकृतियोंके नामानुसार अनुभाग जो कहा वह मूल प्रकृतियोंमें तो सर्वत्र नामानुसार ही होता है । फन्तु उतरभेदोंमें दूसरे समानजातीय कर्मोंके अनुसार भी अनुभाग हुआ करता है। जैसे, अप्रत्याख्यानावरण अनंतानुवंधी–प्रत्याख्याना-वरण–संज्वलनरूप होकर फल देसकता है। अनंतानुवंधी प्रत्याख्यानावरणादिरूप होकर फल देसकता है। आयुःकर्मोंके परस्पर परिवर्तन नहीं होसकते हैं। देवायुका मनुष्यादि आयुरूप होकर परिवर्तन नहीं होता । दर्शन व चारित्रमोहमें भी परस्पर परिवर्तन नहीं होता है। जैसे, मिथ्यात्व अनंतानुवंधी आदि रूपसे और अनंतानुवंधी आदिक मिथ्यात्वरूपसे फल नहीं देसकते हैं। इस प्रकार आयुका व दर्शनमोह चारित्रमोहका परस्परमें आनुभाग वदलता नहीं है वाकी उत्तर प्रकृतियोंमें निमित्त मिलनेपर सजातीयरूप वदल भी जाता है।

इन कर्मोंमेंसे चार घाती और चार अघाती कहाते हैं । ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अतराय ये चार घाती हैं। क्योंकि, सत्तारखनेवाले ज्ञानादि गुणोंका इनसे घात होता है। शेष चारो भी सूक्ष्मत्व–अव्यावाध–अगुरुलघु–अवगाहन गुणोंको घातते हैं। परंतु ये गुण सत्तात्मक नहीं है। इसलिये उनके घातक होनेपर भी ये चारो अघाती कहाते हैं। सूक्ष्मत्वका घातक नामकर्म है। वेदनीय अव्यावाधका धाती है । गोत्रकर्मसे अगुरुलघु गुण घाता जाता है और आवगाहनका घात आयुःकर्मद्वारा होता है।

कर्मोंके विपाक एक दूसरी भांतसे देखें तो चार प्रकारके होजाते हैं। १ पुद्गलविपाक, २ क्षेत्रविपाक, ३ भवविपाक और ४ जीवविपाक। शरीरादि कर्मोंका पुद्गलपर ही परिणाम होता है इसलिये वे पुद्गलविपाकी हैं। ऐसे पुद्गलविपाकी कर्म ३६ हैं। शरीर पांच, अंगोपांग तीन, निर्माण एक, स्पर्श–रस–गंध–वर्ण चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक शरीर, साधारणशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ,–एकेक, संस्थान छह, संहनन छह–ये पुद्गलविपाकियोंके नाम हैं। चारो अनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं। क्योंकि, विग्रहगतिके क्षेत्रमें ही उनका फल प्राप्त होता है । चारो आयु भवविपाकी हैं। क्योंकि, नरकादि भव उत्पन्न करनेके लिये आयु ही कारण होते हैं। वाकी अठहत्तर कर्म जीवविपाकी हैं।

उनका परिणाम जीवके ऊपर ही सीधा होता है। उन अठत्तरमेंसे सैंतालीस तो घाती कर्म, दो वेदनीय, दो गोत्र और बाकी २७ नामकर्म। उन नामकर्मोंके नाम—चार गति, पांच जाति, उच्छ्वास एक, विहायोगति दो, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, तीर्थकरत्व-ये एकैक।

प्रदेशबंधका स्वरूप—

घनांगुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः ॥ ४७ ॥
एकद्वित्र्याद्यसंख्येयसमयस्थितिकांस्तथा। उष्णरूक्षहिमस्निग्धान् सर्ववर्णरसान्वितान् ॥४८॥
सर्वकर्मप्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत्। द्वि(वि)विधान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः॥४९॥
सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान्। आत्मसात् कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते ॥ ५० ॥

अर्थ—जीव अनंतानंत पुद्गलस्कन्धोंको सर्व भावोंमें और प्रत्येक समयमें अपने साथ तन्मय करता हुआ बांधता है इसीका नाम प्रदेशबन्ध है। वे पुद्गल संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें बद्ध होते हैं। एक भी आत्मप्रदेश उनसे बचता नहीं। वे पुद्गल अनेक प्रकारके होते हैं–परमाणुओंकी संख्या सबोंमें एकसी नहीं होती। प्रकृतिस्वभाव भी उनके परस्परमें अनेक प्रकारके होते हैं। स्पर्शादिके अविभागप्रतिच्छेद भी सबके समान नहीं होते। इत्यादि अनेक ऐसे विशेष धर्म रहते हैं जिनसे कि वे विविध प्रकारके मानने पडते हैं। बंधयोग्य पुद्गल स्थूल नहीं होते किन्तु सूक्ष्म होने चाहिये। सर्वकर्म प्रकृतिरूप परिणमनेकी योग्यता भी उनमें होनी चाहिये। चाहें जिस वर्णके और चाहें जिस रसके धारक वे पुद्गल होसकते हैं। आठ स्पर्शोंमें से स्निग्ध–रूक्ष–शीत–उष्ण इनचार[1] स्पर्शोंका उन स्कन्धोंमें प्रादुर्भाव रहता है। मृदु-कर्कश-गुरु-लघु ये चार स्पर्श स्थूल

[1] इन चार स्पर्शोंमेंसे भी एकैक स्कन्धमें दो दो ही स्पर्श रह सकते हैं। चार बताये हैं वे नानास्कन्धोंकी अपेक्षासे ठीक हैं। जैसे कि किसीमें शीत होगा तो उष्ण न होगा परंतु स्निग्धरूक्षमेंसे एक स्पर्श रहेगा। स्निग्धरूक्षमेंसे भी जहा स्निग्ध होगा वहा रूक्ष न रहेगा परन्तु शीतोष्णमेंसे एक रह सकता है इस प्रकार एक एक स्कधमें दो २ ही स्पर्श रहेंगे। परमाणुमें जो 'अविरुद्धस्पर्शद्वयम्' इस वचनसे दो २ अविरुद्धस्पर्श बताये हैं वे ही कार्माण वर्गणाओंमें संभव होते हैं। क्योंकि परमाणुमें जो सूक्ष्मता थी वह यहां तक बनी हुई है। जहा पर यह सूक्ष्मता हट कर स्थूलता आती है वहीं पर शेष चार स्पर्श हो सकते हैं।

पर्यायोंमें ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये वे चारभेद यहांपर नहीं मानेगये हैं। एक दो तीन आदि संख्येय असंख्येय समयोंकी स्थितिवाले वे स्कन्ध होते हैं। उनकी सूक्ष्मताका अंदाज होनेकेलिये उनकी अवगाहना घनांगुलके असंख्यातैकभागमात्र क्षेत्रप्रमाण मानीगई है। इस प्रकारके अनंतानंत पुद्गलस्कन्ध प्रति समय प्रत्येक जीवके साथ बंधा करते हैं। इस प्रदेशबंधकी टिकनेकी जो अवधि उसे स्थिति कहते हैं। प्रदेश जिन स्वभावोंको साथ लिये बंधते हैं उनका नाम प्रकृति है। फलदानका जो तारतम्य होता है उसे अनुभाग कहते हैं। ये बंधके चार प्रकार हुए।

प्रदेशबंधका मुख्य कारण योग है। वह जैसा तीव्र मंद या मध्यम वेगरूप रहता है वैसा ही प्रदेशबंध हीनाधिक बंधता है, यदि योग तीव्र हो तो प्रदेश बहुत बंधेंगे। यदि योग मध्यम या जघन्य हो तो प्रदेशोंकी संख्या भी मध्यम या जघन्य प्राप्त होगी। इसीलिये काययोग या मनोयोग, वचनयोगमेंसे किसी योगकी जहां पर अधिक संभावना होती है वहां पर ही प्रदेशबंध सबसे अधिक होता है। परन्तु यह ध्यान रहै कि योग जघन्यसे जघन्य भी हो तो भी अनंतानंत प्रदेशके भीतर जितनी संख्या कम हो सकती है उतनी कम प्राप्त होगी परन्तु अनन्त अथवा संख्यातासंख्यात आदि प्रदेश किसी समय भी प्राप्त नहीं होते। प्रदेशोंकी संख्या इतनी कम कभी नहीं होती। दशवें गुण स्थानके ऊपर जहां शेष सर्व कर्मोंका बंध रुक जानेपर केवल सातावेदनीयका बंध रह जाता है वहां भी प्रदेश प्रतिसमय अनन्तानन्त ही आते हैं। वह योग—

शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा।

अर्थ—एक शुभ एक अशुभ ऐसे दो प्रकारका है। ये दो प्रकार बंधके दो प्रकार करनेमें निमित्तभूत होते हैं। शुभ परिणामोंके होने पर जो आत्म प्रदेशमें चंचलता होती है वह शुभ योग कहाता है। अशुभ परिणामोंके द्वारा जो योग उत्पन्न होता है उसे अशुभ योग कहते हैं। अहिंसा, अचौर्य ब्रह्मचर्य इत्यादि शुभ काययोग हैं। सत्य व हितमित भाषण इत्यादि शुभ वचन योग हैं। अर्हंतमें भक्ति, श्रुतमें विनय इत्यादि शुभ मनोयोग हैं। इनसे उलटे-हिंसा चोरी मैथुन इत्यादि अशुभ काययोग हैं। असत्य व कठोर वचन इत्यादि अशुभ वचन हैं। वधचिंतवन व ईर्ष्या इत्यादि अशुभ मनोयोग हैं। इन शुभाशुभ योगोंके द्वारा जो कर्मबंध होता है उसके दो भेद ये हैं—

पुण्यपापतया द्वेधा सर्वं कर्म प्रभिद्यते ॥५१॥

अर्थ—सर्व एक सौ अडतालीस कर्म हैं। उनमेंसे कुछ पुण्यरूप और कुछ पाप रूप हैं।

पुण्यकर्मोंके नाम—

उच्चैर्गोत्रं शुभायूंषि सद्वेद्यं शुभनाम च। द्विचत्वारिंशदित्येवं पुण्यप्रकृतयः स्मृताः ॥५२॥

अर्थ—उच्च गोत्र, देवायु, मनुष्यायु, तिर्यगायु—ये तीन शुभायु साता वेदनीय, देवगत्यादिक सैंतीस नाम कर्मकी शुभ प्रकृति ये सर्व मिलकर ब्यालीस पुण्यकर्म माने गये हैं।

पाप कर्मों के नाम—

नीचैर्गोत्रमसद्वेद्यं श्वभ्रायुर्नाम चाशुभम्। द्व्यशीतिर्घातिभिः सार्धं पापप्रकृतयः स्मृताः॥५३॥

अर्थ—नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगत्यादि अशुभ नामकर्म चौंतीस, घातिकर्मकी पैंतालीस-ये सर्व मिलकर ब्यासी कर्म प्रकृति पापरूप हैं।

इत्येतद् बन्धतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥५४॥

अर्थ—इस प्रकार इस बंधतत्त्वको शेष छह तत्त्वोंके साथ साथ जो श्रद्धान करता है, जानता है और उपेक्षा धारण करता है वही निर्वाण प्राप्त कर सकता है।



छठा अधिकार।

संवरतत्त्ववर्णन—

मंगल व विषय प्रतिज्ञा—

अनन्तकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना संवरः संप्रवक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—अपरिमित केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा तीनों लोकको प्रकाशित करनेवाले जिन भगवानको मस्तकसे नमस्कार करके संवरतत्त्व कहता हूं।

संवरका लक्षण—

यथोक्तानां हि हेतूनामात्मनः सति संभवे। आस्रवस्य निरोधो यः स जिनैः संवरः स्मृतः ॥२॥

अर्थ—आत्माका अस्तित्व संभव होने पर जो आस्रवका रुक जाना वह भगवानने संवर कहा है। आस्रवके बहुतसे भेद प्रभेद पहिले कहे जा चुके हैं। कषायादिके निमित्तसे आस्रवमें जो अनेक भेद हो जाते हैं वे सभी कर्मागमके कारण होते हैं। उन सभीको आस्रव कहते हैं। उन सबके रुक जानेसे कर्मोंका आना भी रुक जाता है। इस सर्व निरोध को संवर कहते हैं।

संवरके कारण—

गुप्तिः समितयो धर्मः परीषहजयस्तपः। अनुप्रेक्षाश्च चारित्रं सन्ति संवरहेतवः ॥३॥

अर्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र ये सर्व संवर होनेमें कारण हैं। इन सबोंका स्वरूप व भेद आगे कहने वाले हैं।

गुप्तिके लक्षण, भेद और फल—

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिरित्यभिधीयते। मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च सा त्रिधा ॥ ४ ॥

तत्र प्रवर्तमानस्य योगानां निग्रहे सति। तन्निमित्तास्रवाभावात् सद्यो भवति संवरः ॥५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान पूर्वक ऐहिक वांछारहित योगोंके यथार्थ निग्रह करनेको गुप्ति कहते हैं। गुप्तिके तीन भेद हैं, मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति, ३ कायगुप्ति। गुप्तिमें प्रवर्तनेवालेके योगोंका निग्रह हो जाता है इसलिये योगोंके निमित्तसे आनेवाले कर्मोंका आना बंद पड जाता है। कर्मोंका आना बंद पडा कि संवर उसी समय हो जाता है।

समितियोंके भेद।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गभेदतः। पंच गुप्तावऽशक्तस्य साधोः समितयः स्मृताः ॥ ६ ॥

अर्थ—गुप्तिरूप प्रवर्तनमें जब साधु असमर्थ होजाता है उस समय ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप व उत्सर्ग ये पांच समिति साधुकेलिये मानी गई हैं।

ईर्यासमितिका लक्षण—

मार्गोद्योतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः। गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृतेर्यासमितिर्यतेः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मार्ग शुद्ध हो—जिसमें दूसरे लोग भी चलते हों, प्रकाश बराबर पडता हो--साफ साफ दीख सकता हो, उपयोग चलनेमें लगरहा हो—सावधानी मनमें हो, चलनेके समय जो आलंबनका विषय हो वह भी शुद्धतासे ग्रहण किया गया हो; इस प्रकार सूत्रमार्गके अनुकूल यति गमन करें तो उनके ईर्यासमिति मानी जासकती है। गमनसंबन्धी शुद्धप्रवृत्तिका नाम ईर्यासमिति है।

भाषासमिति—

व्यलीकादिविनिर्मुक्तं सत्यासत्यामृषाद्वयम्। वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—सूत्रमार्गके अनुसार सत्य और सत्यासत्य वचन बोलनेसे भाषासमिति होसकती है। चार प्रकारके वचन होते हैं। १ सत्य, २ असत्य, ३ सत्यासत्य, ४ सत्यासत्य रहित=अनुभय। इनमेंसे अनुभय वचन तो द्वीन्द्रियादिकोंका माना जाता है। जिसमें सत्यासत्यकी कल्पना--विभाग न हों वह अनुभय होता है। इसलिये वैसा बचन तो ये साधु बोल ही नहीं सकते। असत्य बोलनेसे भी पापके भागी बन जाते हैं इसलिये असत्य बोलना ही नहीं चाहते हैं। इसलिये सत्य ही बोलना चाहिये। रहा सत्यासत्यका तीसरा भेद। वह ऐसी जगह होता है जहां कि बोलनेका अभिप्राय असत्य न ठहराया जासके किन्तु वाच्यार्थ उपलब्ध न होनेसे सत्य भी न कहा जासके। जैसे, आज्ञावचन। ऐसे बचन बोलने

पडते हैं। इसलिये दो प्रकारसे बोलनेको भाषासमिति कहा है तात्पर्य—मित हो, अनर्थक न हो, बहुप्रलापरूप न हो, अर्थ उसका साफ झलकता हो, संदेहरहित हो, अक्षर उसके साफ हों, ऐसे बोलनेका नाम भाषा समिति है। उस बोलनेमें मिथ्यापना नहीं होना चाहिये, ईर्ष्या—असूया न होनी चाहिये, अप्रियता न होनी चाहिये, कठोरता न होनी चाहिये, किसीका गुह्य प्रकाशित न होना चाहिये, निस्सार अथवा अल्पसार न होना चाहिये, कषायका तथा हास्यादिका संबन्ध न होना चाहिये, असभ्यपना न होना चाहिये, अधर्मोपदेश न होना चाहिये, देशकालके अयोग्य न होना चाहिये, अतिशय निंदा तथा स्तुति नहीं होनी चाहिये इत्यादि बातोंको देखकर उक्त दोष टाल कर बोलना भाषासमिति है।

एषणासमिति—

पिण्डं तथोपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिना। साधोः शोधयता शुद्धा ह्येषणासमितिर्भवेत् ॥९॥

अर्थ—एषणासमितिका अर्थ भोजनमें निर्दोषतासे प्रवर्तना है। उद्गम-उत्पादनादि भोजनके दोष यत्याचारोंमें लिखे हैं। उनको टालकर पिण्ड, उपधि तथा शय्याकी शुद्धि रखते हुए भोजन ग्रहण करनेसे साधुकी एषणासमिति सुधरती है।

आदाननिक्षेपसमिति—

सहसादृष्टदुर्मृष्टाप्रत्यवेक्षणदूषणम्। त्यजतः समितिर्ज्ञेयाऽऽदाननिक्षेपगोचरा ॥१०॥

अर्थ—धरने उठानेमें सावधानीसे प्रवर्तनको आदाननिक्षेप समिति कहते हैं। किसी चीजका धरना या उठाना थोडासा ही देख कर न करे, न देखते हुए न करे, ठीक झाडे पोंछे विना न करे। न झाडना पोंछना आदि दोष टालते हुए साधुको धर्मोपकरणादि धरने उठाने चाहिये।

उत्सर्गनिक्षेपसमिति—

समितिर्दर्शितानेन प्रतिष्ठापनगोचरा। त्याज्यं मूत्रादिकं द्रव्यं स्थण्डिले त्यजतो यतेः ॥

अर्थ—किसी शुद्ध भूमिपर मलमूत्रादिका क्षेपण करना यह साधुकी प्रतिष्ठापन समिति अथवा उत्सर्ग समिति कहाती है।

समितियोंके पालनेका फल—

इत्थं प्रवर्तमानस्य न कर्माण्यास्रवन्ति हि। असंयमनिमित्तानि ततो भवति संवरः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस प्रकार पांच समितियोंके अनुसार प्रवर्तनेवाले साधुके असंयमनिमित्तक कर्म नहीं आते इसलिये संवर होजाता है।

धर्मोंके नाम—

क्षमा मृद्वृजुते शौचं ससत्यं संयमस्तपः। त्यागोऽकिञ्चनता ब्रह्म धर्मो दशविधः स्मृतः ॥१३॥

अर्थ—क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य ब्रह्मचर्य—ये दश धर्मके भेद हैं।

क्षमाका लक्षण—

क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानामत्यन्तं सति संभवे। आक्रोशताडनादीनां कालुष्योपरमः क्षमा ॥ १४॥

अर्थ—गाली सुनना, मार खाना—इत्यादि बातोंसे क्रोध उत्पन्न होना संभव है। परंतु ऐसे क्रोध उत्पन्न होनेके निमित्त अत्यंत संभव होजानेपर भी क्रोध उत्पन्न न होने देना सो क्षमा है।

मार्दवका स्वरूप—

अभावो योऽभिमानस्य परैः परिभवे कृते। जात्यादीनामनावेशाद् मदानां मार्दवं हि तत् ॥१५॥

अर्थ—जात्यादि निमित्तोंसे होनेवाले मद उत्पन्न न होने पावे। यदि ऐसी सावधानी रक्खी जाय तो अभिमान भी उत्पन्न न होगा। बस, इसीका नाम मार्दव है दूसरे लोग चाहे जितना तिरस्कार करें परंतु उस समय आप किसी बातसे कम न होते हुए भी यदि अभिमान न करे तो परिणामोंमें मृदुता रहसकती है। अभिमानके कारण आठ होते हैं—१ जाति २ कुल, ३ रूप, ४ बल, ५ ऋद्धि, ६ ज्ञान, ७ तप, ८ शरीरसौन्दर्य।

आर्जवका स्वरूप—

वाङ्मनःकाययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम्।

अर्थ—वचन—मन—कायकी प्रवृत्तियोंको कुटिल न करना किंतु सरल रखना सो आर्जव है।

शौचका स्वरूप—

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः ॥१६॥ चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते।

अर्थ—भोगका उपभोगका जीनेका और इन्द्रिविषयोंका लोभ होना चार बातोंमें संभव है । उन चारोंही प्रकारके लोभका त्याग करनेसे शौच प्राप्त होता है । मलिनताका और ग्लानिका सबसे मुख्य कारण लोभ है। उसके छूटते ही आत्मामें जो अत्यंत प्रसन्नता या निर्मलता भासने लगती है वही असली शौच है।

सत्यधर्मका स्वरूप—

ज्ञानचारित्रशिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते। धर्मोपबृंहणार्थं यत् साधु सत्यं तदुच्यते ॥१७॥ (षट्पदी)

अर्थ—धर्मकी वृद्धि करनेके लिये यथार्थ और धर्मसहित जो बोलना वह सत्य कहाता है । इस सत्यधर्मके व्यवहार करनेकी आवश्यकता ज्ञानचारित्रके सिखानेमें तथा धर्मोपदेशादि वीतराग कथा करनेमें लगती है। अपने सधर्मा दीक्षित जनों के साथ अथवा अपने भक्त श्रावकोंके साथ बोलना वह चाहें जितना बोलना परंतु धर्मानुकूल बोलना चाहिये, सत्य धर्ममें इतनी ही बात देखी जाती है।

संयमधर्म—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम्। समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः ॥ १८ ॥

अर्थ—इंद्रियोंके विषयोंसे वैराग्य होना और प्राणियोंकी हिंसा बचाना तथा समितिरूप प्रवर्तना यही संयम है। साधु जबतक समितिरूप न प्रवर्तेगा तबतक इंद्रियसंयम व प्राणिसंयम पलना कठिन है । इसलिये समितियोंको पालना भी आवश्यक है। संयमके इंद्रियसंयम प्राणिसंयम ये दो भेद हैं।

संयमका जो अर्थ किया है कि 'प्राणीन्द्रियपरिहार' वही ठीक है। कुछ लोग दूसरा २ अर्थ करते हैं परंतु वे अर्थ ठीक नहीं है। जैसे, कुछ लोग बोलने आदि कार्योंसे निवृत्त होनेको संयम कहते हैं । परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि बोलने आदिका त्याग होना गुप्तियोंमें गर्भित हो जाता है।

कुछ लोग विशेष प्रकारकी शरीरादिक प्रवृत्तिको संयम कहते हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है। शरीरादिकी प्रवृत्ति संभालकर करनेको हम समिति कह चुके हैं।

---

१ तच्चतुर्विधं जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात्। इति वार्तिकालंकारे, वार्तिककारने जीवनका, आरोग्यका, इन्द्रियोंका और उपभोगका ऐसे चार विषयोंका लोभ चार प्रकारसे माना है। २ न भाषादिनिवृत्तिसंयमो गुप्त्यन्तर्भावात्। ३ नापि कायादिप्रवृत्तिविशिष्टा संयमः समितिप्रसंगात्।

कुछ लोगोंका कहना है कि त्रसस्थावर जीवोंकी विराधना न करना यह पूर्ण[1] संयम है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, परिहारविशुद्धि नामक चारित्रके लक्षणमें कहा जा चुका है।

ये कोई भी संयमके लक्षण ठीक नहीं हैं। इसलिये प्राणी और इन्द्रिय इन दोनोंका परिहार होना-यही लक्षण ठीक है। यद्यपि भाषादिनिवृत्ति, कायादिकी विशेष यत्नाचाररूप प्रवृत्ति, अथवा त्रसस्थावरवधका त्याग ये जो संयमके स्वरूप बताये वे भी संयमसे जुदे नहीं रहते परन्तु यहां पर जो संयम इष्ट है उसके अविनाभावी हैं, एकेक अंशरूप हैं और कुछ कार्यकारणरूप हैं। इस लिये संयमका निर्दोष लक्षण जो कहा है वही है[2] उपेक्षारूप परिणामको भी संयम कहते हैं परंतु यहां जो संयम कहा है वह अपहृत संयम कहाता है। इस संयमके विशेष दिखानेके लिये आठ[3] शुद्धि बताई गई हैं। उनके नाम—१ भावशुद्धि, २ कायशुद्धि, ३ विनयशुद्धि, ४ ईर्यापथ शुद्धि, ५ भिक्षाशुद्धि, ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७ शयनासन शुद्धि ८ वाक्यशुद्धि। इन आठो शुद्धियोंके पालनेसे निराबाध संयम पलता है।

तपका स्वरूप व प्रयोजन।

परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्।

अर्थ—परिपूर्ण कर्मक्षयकेलिये जो तपा जाय उसे तप कहते हैं। भावार्थ, किसी भी कार्यकी सिद्धिके लिये जब तक कसकर स्वयं मेहनत नहीं की जाती है तब तक फल प्राप्ति नहीं होती। कर्मक्षयके लिये भी जब तक स्वयं कसकर मेहनत नहीं की जाय तब तक कर्मक्षय नहीं हो सकता है। इसलिये मेहनत स्वयं करनी पडती है। उसीको तप कहते हैं। वह मेहनत दो प्रकारसे होती है, एक तो शरीरको उसके लिये एकाग्र करना और कृश करना, दूसरे उपयोगका उस तरफ लगाना और दूसरे विषयोंसे हटाना। इन्हींको दो प्रकार बाह्य व आभ्यंतर ऐसे नामोंसे कहते हैं। इन दोनों प्रकार के परिश्रमोंमें खूब खेद होता है इसलिये ये तप कहाते हैं। ऐसे तपश्चरणके विना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। इसलिये सभी कार्योंको सिद्ध करनेमें तप करना पडता है। तो भी यहां पर दूसरे कार्य सिद्ध करना इष्ट नहीं है इसलिये केवल

१ त्रसस्थावरवधप्रतिषेध आत्यन्तिकः संयम इति चेन्न, परिहारविशुद्धिचारित्रान्तर्भावात्। २ संयमो द्विविध उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्च। ३ तत्प्रतिपादनार्थं शुद्ध्यष्टकोपदेशः (इति वार्तिका०)।

कर्मक्षयार्थ किये जाने वालेको तप कहा है। ध्यान तपका ही भेद है। उस ध्यानसे ही सर्व कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं। इसलिये तप ही कर्मक्षय करनेमें समर्थ है।

त्याग धर्मका स्वरूप—

त्यागस्तु धर्मशास्त्रादिविश्राणनमुदाहृतम् ॥१९॥

अर्थ—धर्मशास्त्रादिकोंके दान करनेको त्याग कहते हैं। कहीं २ पर परिग्रहके छोडनेको त्याग कहा है। परंतु वहां पर भी धर्मशास्त्रादिके अथवा ज्ञानादिके दानको त्यागमें ही गर्भित किया है। जहां पर परिग्रह निवृत्तिको त्याग कहा है वहां पर विद्यमान परिग्रहका त्याग करना—ऐसा अर्थ किया है। शौच धर्ममें जो लोभनिवृत्ति बताई है वह इसलिये कि परिग्रह न रहते भी कदाचित् लोलुपताका होना संभव है। उस लोलुपताको दूर कराना शौचधर्म बतानेका जुदा फल है। इसीलिये शौचसे त्याग धर्म जुदा है। आकिंचन्य धर्म से भी यह धर्म जुदा है।

आकिंचन्यधर्मका स्वरूप।

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषचित्। अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिंचन्यमुच्यते ॥२०॥

अर्थ—जो कुछ शरीरादिक 'मेरे हैं' ऐसा समझकर ग्रहण कर रक्खे थे और अपना रक्खे थे उनमेंसे ममत्वसंकल्पका छूट जाना यह आकिंचन्य है। मेरा कुछ नहीं है ऐसा जो मानने लगना है उसे अकिंचन कहते हैं। उसके अकिंचनत्व रूप परिणामको अथवा कृतिको आकिंचन्य कहते हैं। त्यागमें विद्यमान परिग्रहका त्याग होना, शौचका अर्थ अविद्यमानमेंसे भी लोलुपता छूट जाना कहा। परन्तु भिन्न दीखने वाले पदार्थोंके ही विषयसे उक्त दोनो धर्मोंके होनेपर निवृत्ति होना मुख्य फल है और जो जुदे नहीं जान पडते हैं तथा छूट भी नहीं सकते हैं ऐसे शरीरादि परपदार्थोंसे भी ममत्व छूटना इस आकिंचन्य का फल है इसीलिए इसे शौचादिके बादमें कहा है कि यह आकिंचन्य शौचत्यागादि धर्म हुए विना नहीं हो सकता है। इसकी महिमा भी इतनी है कि ठीक ठीक इस धर्मकी भावना रहे तो जीव सब कुछ छोडते हुए भी

१ विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्। इत्यमरः। २ परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः ३ अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः। ४ शौचवचनात्सिद्धिरिति चेन्न, तत्रासत्यपि गर्धोत्पत्तेः। ५ ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यम्। (इति वार्तिका०)

त्रैलोक्यका स्वामी बन सकता है। सर्व धर्म हो जाने पर ही यह हो सकता है। इसके बाद यदि भेदरूपसे कहा जा सकता है तो वह एक ब्रह्मचर्य ही है जो कि पूर्णरूपसे देखने पर अंतिम स्वरूप जान पडेगा और जिसका कहना आकिंचन्यादि धर्मोंकी पुष्टिके लिये ही है।

ब्रह्मचर्यधर्मका स्वरूप—

स्त्रीसंसक्तस्य शय्यादेरनुभूतांगनास्मृतेः। तत्कथायाः श्रुतेश्च स्याद् ब्रह्मचर्यं हि वर्जनात्॥२१॥

अर्थ—स्त्रीसंबंधी शयनस्थानादिकोंका त्याग करनेसे, अनुभवकी हुई स्त्रियोंके स्मरणका त्याग करनेसे और स्त्रियोंकी कथाका तथा कथा सुनने तकका त्याग करनेमे ब्रह्मचर्य धर्म प्राप्त होता है। गुरुओंके पास, इस धर्मकी सिद्धिके लिये जो वास करना वह भी ब्रह्मचर्य ही है।

कर्मप्रवृत्तिका फल—

इति प्रवर्तमानस्य धर्मे भवति संवरः। तद्विपक्षनिमित्तस्य कर्मणो नास्रवे सति॥२२॥

अर्थ—इन धर्मोंमें प्रवर्तनेसे धर्मके विरुद्ध परिणामोंद्वारा आनेवाला कर्म रुक जाता है इसलिये संवर[2] सिद्ध हो जाता है। कर्मास्रव रागद्वेषादि निमित्तोंद्वारा होता है। धर्म उन रागद्वेषादिकोंका विरोधी है। इसलिये फिर कर्म आना क्यों बंद न हो।

परीषहोंके नाम व जीतनेकाफल—

क्षुत्पिपासा च शीतोष्णे दंशमत्कुणनग्नते। अरतिः स्त्री च चर्या च निषद्या शयनं तथा॥२३॥
आक्रोशश्च वधश्चैव याचनाऽलाभयोर्द्वयम्। रोगश्च तृणसंस्पर्शस्तथा च मलधारणम्॥ २४॥
असत्कारपुरस्कारं प्रज्ञाऽज्ञानमदर्शनम्। इति द्वाविंशतिः सम्यक् सोढव्याः स्युः परीषहाः॥२५॥
संवरो हि भवत्येतानऽसंक्लिष्टेन चेतसा। सहमानस्य रागादिनिमित्तास्रवरोधतः॥ २६॥

अर्थ-क्षुधापरीषह पिपासापरीषह शीत, उष्णपरीषह दंशमशकपरीषह नग्नतापरीषह अरतिपरीषह स्त्रीपरीषह

१ आकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्॥ (इति आत्मानुशासन) २ सर्वेषां स्वगुणप्रतिपक्षदोषभावनात् संवरहेतुत्वम्।

चर्यापरीषह निषद्यापरीषह शयनपरीषह आक्रोशपरीषह वधपरीषह याचनापरीषह अलाभपरीषह रोगपरीषह तृणस्पर्शपरीषह मलपरीषह असत्कारपुरस्कारपरीषह प्रज्ञापरीषह अज्ञानपरीषह अदर्शनपरीषह ये वाईसपरीषह विषयसंबंधी सर्वबाधा छोड़कर सहने चाहिये। शांत चित्तसे इन परीषहोंको सहन किया जाय तो रागादिनिमित्तोंसे होनेवाले कर्मास्रव रुक जाते हैं इसलिये संवर होजाता है।

तपो हि निर्जराहेतुरुत्तरत्र प्रवक्ष्यते।
संवरस्यापि विद्वांसो विदुस्तन्मुख्यकारणम् ॥२७॥

अर्थ—तपको आगे निर्जराका हेतु कहेंगे। परन्तु आचार्योंने उसे संवरका मुख्यकारण माना है।

अनेककार्यकारित्वं न चैकस्य विरुध्यते। दाहपाकादिहेतुत्वं दृश्यते हि विभावसोः ॥ २८ ॥

अर्थ—एक चीज अनेक कार्योंको करसकती है। इसमें कुछ विरोध नहीं है। यह देखा जाता है कि जिस अग्निसे दाह होता है उसीसे पाक भी होजाता है। इसी प्रकार संवरका तथा निर्जराका एक ही तप कारण होसकता है।

अनुप्रेक्षा—

अनित्यं शरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता। अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा ॥ २९ ॥
लोको दुर्लभता बोधेः स्वाख्यातत्वं वृषस्य च। अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः ॥ ३०॥

अर्थ—१ अनित्यता, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकता, ५ अन्यता, ६ अशुचिता, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभता, १२ धर्मके स्वरूपवर्णनकी श्रेष्ठता—इन वारह विषयोंके वार वार चिंतन करनेको वारह अनुप्रेक्षा कहते हैं। इनके लक्षण आगे कहते हैं—

अनित्यअनुप्रेक्षा—

क्रोडीकरोति प्रथमं जातजन्तुमनित्यता। धात्री च जननी पश्चाद् धिग् मानुष्यमसारकम् ॥३१॥

अर्थ—इस प्राणीको उत्पन्न होते ही प्रथम तो अनित्यता गोदमें लेती है और वादमें माता तथा धाय गोदमें लेसकती है। इसलिये इस असार मनुष्यजन्मको धिक्कार हो।

अर्थात्, अनित्यता तो किसी भी चीजके उत्पाद होनेके साथ ही लगी हुई है। मनुष्य जन्मनेके कुछ बाद ही माता तथा धायके गोदमें आसकेगा परन्तु जो उत्पन्न हुआ है उसका मरना उसी समयसे उसके साथ लगा हुआ है। इसलिये इन शरीरादिकोंको स्थिर मानकर इनमें प्रीति करना बडी भूल है। ऐसी मूर्खताको धिक्कार हो।

अशरणअनुप्रेक्षास्वरूप—

उपघ्रातस्य घोरेण मृत्युव्याघ्रेण देहिनः। देवा अपि न जायन्ते शरणं किमु मानवाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—भयंकर मृत्युरूपी व्याघ्र जब जीवको आघेरता है तब देव भी बचानेको समर्थ नहीं होते, मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? ऐसे शरणरहित इस जीवनको धिक्कार हो।

संसारानुप्रेक्षाका स्वरूप—

चतुर्गतिघटीयन्त्रे सन्निवेश्य घटीमिव। आत्मानं भ्रमयत्येष हा कष्टं कर्मकाक्षिकः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जैसे घटीयत्रमें घटीको लगाकर फिरानेवाला मनुष्य फिराता है उसी प्रकार चतुर्गतिरूप घटीयंत्रमें यह कर्मरूपी फिरानेवाला मनुष्य जीवरूप घटीको लगाकर निरंतर फिराता है। यह बडा कष्ट है। इस कर्मके वश प्राणी कभी तिर्यंच तो कभी देव, कभी मनुष्य तो कभी नारकी—इस प्रकार जीवको नानायोनियोंमें फिरना पडता है। कभी चैनसे थिर नहीं होपाता है। इस फिरानेका कारण कर्म है। इस परिभ्रमणका नाम ही संसार है। इसलिये समझना चाहिये कि संसार कोई सुखकी चीज नहीं है।

एकत्वानुप्रेक्षाका स्वरूप—

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी। एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ॥३४॥

अर्थ—किसका कोन पुत्र और कोन किसका पिता? किसकी कोन मा और कोन किसकी स्त्री? दुस्तर संसारसमुद्रमें जीव अकेले ही इधरसे उधर भटकते हैं। इसलिये किसीको अपना समझना नितान्त भ्रम है।

अन्यत्वानुप्रेक्षाका स्वरूप—

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम्। हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥३५॥

अर्थ—जीव अन्य है और शरीर अन्य है। जीवका चैतन्य लक्षण है और शरीरका जडता लक्षण है। इन लक्षणोंसे दोनो जुदे जुदे अनुभवमें आसकते हैं। तो भी, बडा खेद है कि, मनुष्य शरीरको अपनेसे जुदा नहीं मानते हैं। जब दोनो ही भिन्न भिन्न हैं तो इस शरीरको अपनाना बडी भूल है। जैसे शरीर भिन्न है वैसे ही पुत्र धनधान्यादिक मनुष्य भी भिन्न हैं।

अशुचित्वभावनाका स्वरूप—

नानाकृमिशताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते। आत्मनश्च परेषां च क शुचित्वं शरीरके ॥ ३६ ॥

अर्थ—अनेक प्रकारके सैकडों कृमि–कीटोंसे यह शरीर भरा रहता है, दुर्गन्ध रहता है और मूत्र–विष्ठा–थूकखकार–पीव इत्यादि मलोंसे पूरित रहता है। इसलिये न अपना शरीर पवित्र है और न दूसरोंका। जैसा अपना शरीर वैसा ही दूसरोंका। इसमें पवित्रता कहांसे आई? ऐसे अपवित्र नीच शरीरमें स्नेह करना, यह बडी भूल है।

आस्रवानुप्रेक्षाका स्वरूप—

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोसौ योगरन्ध्रसमाहृतैः। हा दुरन्तेभवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत् ॥३७॥

अर्थ—कर्मोंके भरजानेसे जीव संसारमें डूबता है। संसार मानो एक समुद्र है। कष्ट है कि समुद्रका कदाचित् अंत भी लगजाय परंतु इस का अंत कभी नहीं लगता है। जीव जहाजके समान है। योगरूप छिद्रोंद्वारा संचित हुए कर्मरूप जलसे यह प्राणी परिपूर्ण होरहा है इसलिये समुद्रके समान इस संसारमें डूबता है। योगही आस्रव है इसीके द्वारा कर्म आते हैं। न कर्म आते और न यह प्राणी डूबता। इस सब दुःखका कारण योग अथवा आस्रव है।

संवरानुप्रेक्षाका स्वरूप—

योगद्वाराणि रुन्धन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः। आपतद्भिर्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः ॥ ३८॥

अर्थ—योग अथवा आस्रवरूप द्वारोंको जो कवाडोंके समान गुप्तिद्वारा बंद करदेते हैं वे धन्य हैं। वे आते हुए तीव्र कर्मोंद्वारा भी बाधित नहीं होपाते हैं। आनेका द्वार ही रुकगया तो आपत्तियां आकहांसे सकती हैं इसलिये जो योगद्वारोंको रोकदेते हैं वे ही कर्मोंके जालसे बचते हैं। वे धन्य हैं। उन्हीका अनुकरण सब को करना चाहिये। यह हुआ आनेवाले नवीन कर्मोंके रोकनेका उपाय। अब संचित कर्मोंके खिपानेका उपाय कहते हैं—

निर्जरानुप्रेक्षाका स्वरूप—

गाढोपजीर्यंते यद्वदामदोषो विसर्पणात्। तद्वन्निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसंचितम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—रेचनकी औषध सेवन करनेसे जिस प्रकार गाढ जमाहुआ आम दोष अथवा अजीर्णता का दोष दूर होजाता है उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्म तपश्चरण करनेसे नष्ट हो जाता है। यह संचित कर्मके दूर करनेका उपाय है। इससे कैसा ही दृढ वद्ध कर्म भी नष्ट हो जाता है।

लोकानुचिन्तन स्वरूप—

नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि। वसतिस्थानवत् कानि कुलान्यध्युषितानि न ॥४०॥

अर्थ—जीव सदा ही भ्रमण करता है। रास्तागीर ही सदा वना रहता है। लोक मात्र इसके भ्रमण का मार्ग है। घर द्वारकी भांत असंख्यातों ऐसे शरीराकार हैं कि जिन्हें कुल कहते हैं। उनमेंसे ऐसे कौनसे कुल हैं जो कि जीवने अपने भ्रमणमें घररूप न वना लिये हों—जिनमें कि जीव भ्रमते हुए वास न कर चुका हो। जब कि अनादिसे भ्रम रहा है तो कौनसा लोकक्षेत्र तथा कुल इससे छूट सकता है। एक वार नहीं, किंतु अनेक अनेकवार एकेक क्षेत्रमें जन्ममरण हो चुके हैं। इस प्रकार लोकका अपने साथ घनिष्ट संवंध है। यह कैसे छूटे?

वोधिदुर्लभानुप्रेक्षा स्वरूप—

मोक्षारोहणनिःश्रेणिः कल्याणानां परम्परा। अहो कष्टं भवाम्भोधो वोधिर्जीवस्य दुर्लभा॥४१॥

अर्थ—देखो, यह वडा कष्ट है कि, जो मोक्षतक चढनेके लिये सीढियोंके समान हैं, कल्याणोंकी परंपरा है ऐसी वोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति संसारसमुद्रमें जीवके लिये अत्यन्त दुर्लभ हो रही है। यदि जीव इस संसार समुद्रसे तरना चाहें तो रत्नत्रयके द्वारा ही तर सकता है। उसीके द्वारा मोक्षमें पहुंच सकता है। संसारमें जब तक जीव रहे तवतक भी उससे अनेक और सातिशय सुख प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु उस रत्नत्रयकी प्राप्ति होना अत्यंत कठिन हो रहा है। जीव का नित्यनिगोद पहिला निवास स्थान है। वहांसे मनुष्यजन्म तक आना अति कठिन है। यहीं पर रत्नत्रयका लाभ हो सकता है। यदि यह जन्म गया तो फिर समुद्रमें चिंतामणि रत्न फेंक देनेके वरावर हानि होगी।

धर्मानुचिन्तनस्वरूप——

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुंगवैः। अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम् ४२

अर्थ—उत्तमक्षमादिरूप धर्मका सच्चा स्वरूप जिनेन्द्रभगवानने ही कहा है। संसारसमुद्रमें डूवते हुए प्राणियोंको यही आश्रय देनेवाला—उन्हें थांमनेवाला खंभ है। इसीके सहारेसे प्राणी संसारसमुद्रमेंसे डूवनेसे वचते हैं और पार होते हैं।

भावनाओंका एकमात्र फल——

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः। ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः॥ ४३ ॥

अर्थ—इस प्रकार वारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करनेसे साधुके धर्मका महान् उद्योत होता है—धर्ममें साधु दृढ होता है—धर्मकी रक्षा करनेमें और बढानेमें महान् उद्यम करने लगता है ऐसा करनेसे उस तपस्वीके प्रमाद दूर होजाते हैं और प्रमाद रहित होनेसे कर्मोंका महान् संवर होता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षाओंको संवरका कारण कहा। अव चारित्रको दिखाते हैं——

चारित्रके भेद——

वृत्तं सामायिकं ज्ञेयं छेदोपस्थापनं तथा। परिहारं च सूक्ष्मं च यथाख्यातं च पञ्चमम् ॥ ४४॥

अर्थ—वृत्त अर्थात् चारित्र। चारित्रके पांच भेद हैं; (१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापन, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसांपराय, (५) यथाख्यात।

सामायिक चारित्रका स्वरूप——

प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्यकर्मणः। नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामायिकं स्मृतम् ॥ ४५॥

अर्थ—सर्वपाप क्रियाका अभेदरूपसे सदाकेलिये अथवा कुछ कालकेलिये त्याग करना इसे सामायिक चारित्र कहते हैं। छेदोपस्थापनादि चारित्र भेदरूपसे पापक्रियाओंके छोडनेपर होते हैं और यह चारित्र अभेदरूपसे पापक्रिया छूटनेपर होता है। छेदोपस्थापनसे यही इसमें अंतर है।

छेदोपस्थापन——

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः। व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ॥४६॥

अर्थ—जहां पर हिंसा चोरी इत्यादि विशेषरूपसे भेदपूर्वक पाप क्रियाका त्याग किया जाता है और व्रत भंग हो जाने पर उसकी शुद्धि की जाती है उसको छेदोपस्थापन कहते हैं। व्रतका लोप होना किसी विशिष्ट क्रिया द्वारा ही संभव होता है। इसलिये उसकी शुद्धि करते समय भी किसी विशेष पाप क्रियाके हटानेमें ही लक्ष्य रहता है। अतएव भेद पुरस्सर पाप क्रियाका त्याग करना—यह छेदोपस्थापनका लक्षण ठीक हो जाता है। सामयिक चारित्रसे जो इसमें भेद बता चुके हैं वह भी ठीक जुडता है। यह चारित्र दोनों तरहसे हुआ करता है एक तो, किसी व्रतका भंग हो जानेपर उसकी शुद्धि करते समय जो प्रायश्चित्तके रूपमें किया जाता है वह समझना चाहिये। दूसरा, व्रतधारण करते समय ही भेदरूपसे सावद्यक्रियाके छोडनेरूप जो परिणाम होता है वह समझना चाहिये। ये दोनों प्रकार कहने मात्र के जुदे २ हैं। स्वरूप दोनोंका एक ही है। अर्थात्, एक तो व्रत भंग हो जाने पर किया जाता है और दूसरा प्रथमसे ही किया जाता है अथवा चाहें जब किया जा सकता है। बस, इतनी अपेक्षासे दोनोंमें भेद माना जा सकता है। परन्तु लक्षण दोनोंका इतना ही है कि विशेष रूपसे सावद्यका परिहार किया जाय। इसकी और प्रथम चारित्रकी स्थिति छट्ठेसे नौमेतक चलती है।

इसके बाद दशवां गुणस्थान प्राप्त हो जाता है जिसमें कि सूक्ष्मसांपराय नामका चौथा चारित्र प्रगट होता है। परन्तु किसी विशिष्ट सुखी पुरुष को दृष्टिवादके चौदह पूर्वोंमेंसे नौमे प्रत्याख्यान नाम पूर्वतक तीर्थंकर केवलीके समीप श्रुतज्ञान प्राप्त करनेका सौभाग्य मिलगया हो तो उसे परिहारविशुद्धि नामकी ऋद्धि प्रगट हो जाती है जिससे कि जीववध उसके शरीरसे न होसके। बस, इसीका नाम परिहारविशुद्धि चारित्र है। यही आगे कहते हैं।

परिहारविशुद्धिका लक्षण—

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि। शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥ ४७ ॥

अर्थ—ऊपर जो निमित्त बताचुके हैं उसके द्वारा शरीरसे जीववध होना छूट जानेके कारण जो प्राणिघातका विशिष्ट परिहार होजाता है उससे आत्मामें एक अपूर्व शुद्धि उत्पन्न होती है। इसीका नाम परिहारविशुद्धि है। यह तीसरा चारित्र किसी विरलेको ही प्राप्त होता है। शरीरक्रिया करते हुए भी इससे पाप नहीं लगता है। इसलिये इसे प्रायश्चित्तकी या

१ तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं च तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो संझूण दुगाउ परिहारो॥ गो० जी०। छाया—त्रिंशद्वर्षाणि जन्मनि वर्षपृथक्त्वं च तीर्थकरमूले। प्रत्याख्यानं पठितः सन्ध्योनद्विगव्यूति परिहारः॥

छेदोपस्थापन करनेकी आवश्यकता नहीं पडती है। सामायिक चारित्रवाला भी कभी कभी छेदोपस्थापनकी आवश्यकता न रखता हुआ ही नौमे गुणस्थानतक जासकता है परन्तु उसका व्रतभंग होजाना असंभव नहीं है। इसीलिये सामायिक व छेदोपस्थापनकी सत्ता नौमेतक सुखसे एकसी रहसकती है परन्तु परिहारविशुद्धि चारित्र सातवेंतक ही होता है। यदि श्रेणीका आरोहण करना हो तो परिहारविशुद्धि छोडकर सामायिक-छेदोपस्थापनका अवलंबन लेना पडेगा। इसलिये यह मानना चाहिये कि उत्तरोत्तर गुणस्थानोंकी वृद्धि करते हुए केवलज्ञानकी तरफ लेजानेवाले ये दो ही चारित्र हैं। परिहारविशुद्धि केवल प्राणिवध बंद होजानेसे विशुद्ध माना जाता है और वह भी तबतक, जबतक कि छट्ठे सातवेंमें उतरने चढनेकी संभावना रहती है। श्रेणीपर चढनेवाले जीवको इस महत्त्वकी कीमत नहीं रहती। वह स्वयं सर्व तरफसे अति विशुद्ध बनने लगता है। उसमें परिहारविशुद्धि की महिमा गर्भित होजाती है इसीलिये फिर उनमें परिहार विशुद्धि नहीं रहता। यद्यपि जहां सामायिक-छेदोपस्थापन समाप्त होजाते हैं वहांसे भी उपर सूक्ष्मसांपराय और फिर यथाख्यात चारित्र ऐसे उत्तरोत्तर परिणामोंकी वृद्धि होती जाती है परतु सामयिक-छेदोपस्थापनके बादकी जो विशुद्धिवृद्धि होती है उससे परिहारविशुद्धिके बादकी सामायिकादिरूप विशुद्धिवृद्धि एक जुदे प्रकारकी है वह ऐसी कि, जिन छट्ठे सातवें गुणस्थानोंमें सर्वसामान्य साधुको सामायिक—छेदोपस्थापन होते हैं उन्हीं गुणस्थानोंमें परिहारविशुद्धि ऋद्धि प्राप्त होनेपर सामायिक या छेदोपस्थापन न रहकर परिहारविशुद्धि चारित्र होजाता है। इससे यह मानना पडता है कि उन गुणस्थानोंके सामायिक—छेदोपस्थापनसे यह चारित्र अधिक विशुद्ध है। तभी तो उन दोनोंको हटाकर आप प्रकाशमान होजाता है। परंतु जब श्रेणी आरोहण करने लगता है तब वही साधु परिहारविशुद्धिसे ऊंचादर्जा ग्रहण करता हुआ सामायिक—छेदोपस्थापन नामके चारित्रको पाता है। उस समय परिहारविशुद्धि छूट जाता है। अर्थात्, एक वार नीचे दर्जेमें परिहारविशुद्धि दोनो चारित्रोंको पराभूत करती है और दूसरे वार आप उनसे पराभूत होती है। इससे यह बात सिद्ध होजाती है कि परिहारविशुद्धि चारित्र एक ऋद्धिविशेषकी महिमाका नाम है जो कि गुणस्थान बढानेके कारणभूत चारित्रकी कोटीका नहीं होसकता है और जो सामायिक—छेदोपस्थापन हैं वे गुणस्थान बढानेमें कारणभूत होते हैं। इसीलिये नौमें गुणस्थान तक सामायिक या छेदोपस्थापनके द्वारा परिणामो की वृद्धि होजानेपर जो चारित्र होता है उसका नाम सूक्ष्मसांपराय चारित्र है। उसकी

१ परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम्। इति वार्ति०।

संख्या यद्यपि चौथी मानी है परंतु सामायिक छेदोपस्थापनको ही केवल मुख्य मानने हुए परिहारविशुद्धिको न गिनें तो उसे तीसरा चारित्र कहना अनुचित नहीं है।

सूक्ष्मसांपरायका स्वरूप—

कषायेषु प्रशान्तेषु प्रक्षीणेष्वखिलेषु वा। स्यात् सूक्ष्मसांपरायाख्य सूक्ष्मलोभवतो यतेः ॥४८॥

अर्थ—संपूर्ण कषायोंको उपशांत अथवा क्षीण करते करते जब थोडासा सूक्ष्म लोभ उदयमें शेष रहजाता है उस समय जो परिणामोंमें विशुद्धता अधिक प्राप्त होती है वह सूक्ष्मसांपराय चारित्र है। उससे पूर्वमें कषायोंकी अधिकताके वश जीवको विशुद्ध परिणाम करनेकेलिये प्रयत्न तीव्र करना पडता था। क्योंकि, परिणामशुद्धिके विरोधी कर्मोंका उदय तबतक प्रबल था। अब वह उदय प्रबल न रहने पर भी प्रयत्न तो करना पडता है परन्तु मंदोदयसे अब काम चलजाता है। इसीलिये नौमे गुणस्थानतकके परिणामोंकी जातिसे इसको एक जुदा माना है। छट्टे गुणस्थानसे नौमेतक चारगुण स्थान बदलते बदलते होगये और इन चार गुणस्थानोंके परिणाम परस्परमें भिन्न रहे परन्तु उनमें चारित्रका भेद न करके दशवेंमें आनेपर ही किया। इसका कारण वही है जो कि ऊपर कहचुके हैं।

इससे भी जो ऊपर चारित्र होता है उसका नाम यथाख्यात है। उसमें प्रयत्नका अभाव ही हो चुकता है। उसके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता ही नहीं रहती है। उसकी उत्पत्ति प्रयत्नके नष्ट होनेपर होती है। प्रयत्न कषायका कार्य है। वह रहता है तबतक यथाख्यात स्वरूपका होना असंभव है। इसीलिये प्रयत्नके न रहनेपर यह चारित्र होता है। इसलिये सूक्ष्मसांपरायकी जातिसे इसकी जाति जुदी है। अर्थात्, सामायिक—छेदोपस्थापन प्रयत्नप्रधान हैं। सूक्ष्मसांपराय गौणप्रयत्नवान् हैं और यह प्रयत्नशून्य है। इसप्रकार इस चारित्रमें पूर्वसे विशेषता है। यही बात आगे कहते हैं—

यथाख्यातचारित्रका स्वरूप—

क्षयाच्चारित्रमोहस्य कात्स्न्येनोपशमात्तथा। यथाख्यातमथाख्यातं चारित्रं पञ्चमं जिनैः ॥४९॥

अर्थ—चारित्रमोह कर्मका पूरा क्षय होजानेपर जिनभगवानने पांचवां यथाख्यात चारित्र होना बताया है। अथाख्यात भी इस का दूसरा नाम है। जिनेन्द्रभगवानने पूरा शुद्ध आत्मस्वरूप जैसा कहा है वैसा स्वरूप ही यहांपर प्राप्त होता है।

इसलिये इसे यथाख्यात कहते हैं। अथाख्यातका अर्थ यह है कि आजतक जिसकी कथामात्रकी थी परन्तु जो प्राप्त नहीं हुआ था वह अब प्राप्त हुआ है। मोहकर्मका पूरा उपशम होजानेपर भी यथाख्यात चारित्र हुआ माना जाता है। क्योंकि, मोहोदयके विना पूर्ण शुद्ध स्वरूपमें मलिनता कोन उत्पन्न करै ? वह उदय जैसा मोहक्षयके समय नष्ट होजाता है वैसा ही मोहोपशमके समय भी नष्ट होजाता है । इसलिये उपशान्तकषायवाले जीवमें भी यथाख्यात प्रगट हुआ माना जाता है। परन्तु वह हुआ न हुआ कि मोहोदय होआता है जिससे कि यथाख्यातकी दशा फिर भी छूट जाती है। क्षीणमोहके यथाख्यातसे इस यथाख्यातका स्थान भी नीचा है और फल भी अल्प है। इसलिये असली वही चिरस्थायी यथाख्यात है जो कि क्षीणमोहको प्राप्त होता है।

चारित्रका फल—

सम्यक्चारित्रमित्येतद् यथास्वं चरतो यतेः। सर्वास्रवनिरोधः स्यात्ततो भवति संवरः॥ ५०॥

अर्थ—इस प्रकार इस सम्यक् चारित्रका यथायोग्य आचरण करनेवाले साधुका सर्व कर्मास्रव होना रुक जाता है। इससे उसका संवर होना सिद्ध होजाता है।

तपस्तु वक्ष्यते तद्धि सम्यग्भावयतो यतेः। स्नेहक्षयात्तथा योगरोधाद् भवति संवरः॥ ५१॥

अर्थ—तप आगे कहेंगे। उस तपकी यथार्थ भावना करनेवाले योगीका रागद्वेष नष्ट होजाता है और योग भी रुक जाते हैं इसलिये उसके कर्मोंका आना रुकता है और संवर सिद्ध होता है।

उपसंहार।

इति संवरतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार संवरतत्त्वका बाकी छहतत्त्वोंके साथ साथ जो श्रद्धान करता है, उसे जानलेता है और उपेक्षित होकर चारित्र धारण करता है वही निर्वाणका भागी होता है।

---

१ पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तु परिप्राप्तं प्राग् मोहक्षयोपशमाभ्यामित्यथाख्यातं। अथवा यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वाद्यथाख्यातमित्याख्यायते। इतिवार्तिक०।

सातवां अधिकार

निर्जरातत्त्ववर्णन।

मंगल व विषय प्रतिज्ञा—

अनन्तकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना निर्जरातत्त्वमुच्यते ॥१॥

अर्थ—केवल ज्ञानरूप अनंत ज्योतिके द्वारा तीनो जगतको प्रकाशित करनेवाले जिनेन्द्र भगवानको मस्तक नमाकर निर्जरा तत्त्वका वर्णन करते हैं।

निर्जराके लक्षण व भेद—

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा। आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥२॥

अर्थ—बंधे हुए कर्मोंके झडजानेका नाम निर्जरा है। निर्जरा दोप्रकारकी है, पहिली विपाकज निर्जरा, दूसरी अविपाकज निर्जरा।

विपाकजनित निर्जराका लक्षण—

अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्तिनः। कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥ ३ ॥

अर्थ—अनादि कालसे कर्म बंधनकी जो उपाधि लगी हुई है उसका जब जब फलकाल उपस्थित होता है तबतब वे कर्म फल देदे कर खिरते हैं। बस, इसीका नाम विपाकज निर्जरा है। ऐसी निर्जरा सदा ही होती रहती है। कोई भी कर्म बँधता है वह कुछ न कुछ स्थिति की मर्यादा रखता हुआ ही बँधता है। इसलिये उतनी स्थिति पूरी होनेपर वह कर्म खिरना ही चाहिये। इसी प्रकार अनादि कालसे पूर्व कर्म खिरते जाते हैं और नवीन कर्म बँधते जाते हैं। ऐसी लडी बराबर चली आरही है। जिन कर्मोंके फल भोगनेके योग्य फलकालमें बाह्य निमित्त मिलजाते हैं वे फल देकर खिरते हैं। जिनके फलकालमें साधक निमित्त नहीं मिलते वे यों ही खिरजाते हैं। उनका फल भोगना नहीं पडता है। कभी कभी किसी किसी कर्मकी पूर्वबद्ध स्थिति खतम होजानेपर भी उस समय स्थितिवर्धक निमित्त मिलजानेसे स्थिति

बढजाती है। ऐसा होनेपर भी कभी न कभी उनका भी अंत आता ही है। इस प्रकार यह सर्व विपाकज निर्जरा सदाही होती रहती है यह निर्जरा होते हुए भी जीव कर्मोंसे छूट नहीं पाता है। क्योंकि, एक खिरता है तो दूसरा बँधता है। कर्मोंसे छूटनेका उपाय अविपाकज निर्जरा है इस प्रकरणमें वही निर्जरा लीजाती है।

अविपाकज निर्जराका लक्षण—

अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम्। प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥ ४ ॥

अर्थ—कर्मोंका उदयकाल प्राप्त न हुआ हो तो भी जहांपर तपश्चरणके सामर्थ्यद्वारा उसे परिपक्व हुई उदयावलीमें प्रवेश कराकर बंधनसे छुडादिया जाता है उस समयकी उस निर्जराको अविपाकज निर्जरा कहते हैं। फल देनेका नाम उदय है। परंतु फल न देकर भी जो खिरना है उसे भी कभी कभी ग्रंथकार उदय कहदेते हैं। क्योंकि, कर्म फल दे या न दे परंतु बंधनकी दृढ अवस्थासे उसकी शिथिल अवस्था दोनो ही वार होती है। उसीको उद्रिक्त नामसे भी कहते हैं। फल भोगनेमें आना न आना—यह बात केवल कर्माधीन नहीं है किंतु बाह्य निमित्तका होना न होना भी फल भुगानेमें कारण होता है। तपश्चरणके द्वारा जो कर्म खिपाये जाते हैं उनके भुगानेवाले बाह्य निमित्तोंका एक दम एकत्रित होना कठिन तथा असंभव बात है। इसीलिये तपश्चरणद्वारा खिपनेवाले कर्म उद्रिक्त होकर विना फल दिये खिरजाते हैं। परंतु भोगनेमें आनेवाले कर्मोंका और विना भोगें ही खिरनेवाले कर्मोंका खिरनेके समय जो उद्रेक होता है वह एकसा ही होता है इतनी समानताको देखकर ग्रंथकार अविपाकज निर्जरावाले कर्मोंको भी उदयावलीमें प्रविष्ट होनेवाले मानते हैं और उनका वेदन होना भी बताते हैं। परंतु यहांपर यह ध्यान रखना चहिये कि फल भोगनेका नाम जो उदय है वह उदय यहांपर नहीं होता। यदि इस उदीर्ण उदयावलीमें भी फल भोगनेका नियम हो तो निर्जराका यह दूसरा भेद ही न बनसकेगा। एवं फल भोगनेवालेकें नवीन कर्म भी नियमसे बँधते ही हैं। ऐसी हालतमें उसका मुक्त होना असंभव होजायगा। इसलिये मानना चाहिये कि निष्काम तपश्चरण करने वाले के जो कर्म खिरते हैं वे विना फल भोगें ही खिराये जाते हैं।

शंका—यदि फल विना भोगें भी कर्म खिरजाते हैं तो कृतनाशका दोष क्यों न आवेगा?

उत्तर—जो काम किया जाता है उसका जहांपर कोई भी फल संभव नहीं होता वहांपर कृतनाशका दोष आता है।[1]

[1] इस उत्तरसे इस वचनका भी समाधान होजाता है कि "अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"।

बांधे हुए कर्मोंद्वारा जीव परतंत्र बनजाता है। इसलिये कर्म का बंध निष्फल नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार उदय-संबंधी फल न मिलनेपर भी कृतनाशका दोष नहीं आसकता है। इसलिये बद्ध कर्मोंको भोगकर खिरानेका नियम मानना असंगत बात है।

अविपाकनिर्जराका उदाहरण—

यथाम्रपनसादीनि परिपाकमुपायतः। अकालेऽपि प्रपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनाम् ॥५॥

अर्थ—जिस प्रकार आम, फनस-इत्यादि कच्चे फल पालमें रखदेनेसे असमयमें भी पक जाते हैं उसी प्रकार जीवों के कर्म उदयकाल आनेसे पहिले भी तपश्चरणादि प्रयोगद्वारा परिपक्व हो जाते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि विना फल दिये भी कर्म खिर सकते हैं। उसीका यह उदाहरण है। जीवसे संबंध छोडने के सन्मुख हो जाना ही परिपाक होनेका अर्थ है। वह कर्म संबंध छोडनेके सन्मुख होता हुआ फल दे सके या नहीं—इस बातका कोई नियम नहीं है। उदाहरणका भी यही तात्पर्य है। पालमें देनेसे चाहें कच्चा आम पके या काल पाकर वृक्षपर लगा हुआ ही पक जाय। परन्तु कच्चा न रहै यही पकनेका अर्थ है। इसी प्रकार कर्मका भोगनेके योग्य हो जाना परिपाकका अर्थ है। भोगने के योग्य होनेका अर्थ यह है कि जीवके साथ जो दृढ बद्ध था उससे शिथिल हो जाना, जिससे कि आगे संबध न रह सके। फलके भी पकनेका यही अर्थ है कि जो वृक्षके साथ दृढ संबंध था उसका शिथिल हो जाना और उसके जो अवयव दृढ थे उनका भी शिथिल हो जाना। फल पकने पर वृक्षसे अपने आप जुदा हो जाता है। क्योंकि, उसके डंठलमें फिर जुडे रहनेकी शक्ति नहीं रहती है। इस प्रकार कर्मका परिपाक होते ही आत्मासे जुदा होना पडता है। उसमें बंधनकी शिथिलता हो जानेसे उसका फिर वहां पूर्वरूपसे रहना अशक्य हो जाता है। इसके भोगनेका अर्थ यह है कि पके हुएका जो उपयोग हो सकता है वह उपयोग हो जाना। जैसे फलका उपयोग यह है कि उसको खाकर जीव सुखी या दुःखी हो जाय। उसी प्रकार कर्मको भोगकर उसके द्वारा सुखी दुःखी बनना कर्मके भोगनेका मतलब है। जिस प्रकार यह नियम नहीं है कि पके हुए फलका भक्षण कोई न कोई करे ही, उसी प्रकार कर्म उदयमें आने पर उसका फल भोगा ही जाय-यह नियम नहीं हो सकता है। इसलिये इस फलके उदाहरण परसे यह बात माननी चाहिये कि अविपाक निर्जरा फल विना दिये ही हो जाती है।

उदाहरणमें जो फलका भोक्ता हैं वह मनुष्य या प्राणी फलसे जुदा दीख पडता है। फल परिपक्व होनेपर जो वृक्षसे संबंध छोडता है उतनी तुलना दार्ष्टांतके साथ मिलजाती है। क्योंकि कर्मोंके परिपाकका फलभोक्ता भी वही प्राणी होता है और जिससे कर्म संबन्ध छोडता है वह भी वही प्राणी होता है। अर्थात्, कर्मोंके विषयमें यह बात है कि कर्मोंका कर्ता भोक्ता तथा उनसे बंधनेवाला और छूटनेवाला एक ही प्राणी होता है परन्तु फलके कर्ता, भोक्ता, और उससे संबन्ध रखनेवाले जुदे जुदे होते हैं। इतनी विषमता दृष्टांतमें जान पडेगी। परन्तु यह कोई दोष नहीं है। जगतमें कारकके और भी ऐसे दृष्टांत मिलते हैं जो कि दोनो प्रकारके होते हैं। उदाहरणार्थ, 'अमुक मनुष्य कुल्हाडीसे लकडी कटरहा है'— इस वाक्यमें कर्ता कर्म करण जुदे जुदे हैं। अमुक मनुष्य ज्ञानद्वारा अपनेको जानरहा है'—इस वाक्यमें कर्ता कर्म करण एक ही हैं। इसी प्रकार आम्रादि फलोंके कर्ता भोक्ता आदि जुदे जुदे हैं और कर्मके कर्ताभोक्ता आदि एक ही हैं। इतनी विषमतासे फलके परिपाकका उदाहरण मिथ्या नहीं होसकता है।

अथवा कर्ता कर्म करण आदिको कहीं भी जुदा जुदा मानना व्यवहारनयाधीन है। वास्तवमें और सूक्ष्म कार्यकारणादि संबंध देखे जांय तो सर्वत्र यही बात सिद्ध होती है कि कर्ता कर्म आदि एक ही होने चाहिये। जुदा पदार्थ जुदे पदार्थके साथ कुछ नहीं करसकता है। क्योंकि, कुछ भी करनेमें और होनेमें शक्तिका विनियोग होता है। जब कि दूसरे पदार्थकी शक्ति दूसरेमें परिवर्तन कर ही नहीं सकती है तो वह दूसरेमें करेगी क्या? यदि दूसरेका दूसरेमें परिवर्तन होना मानलिया जाय तो विश्वका उथला पथल होजाय। इसलिये मानना चाहिये कि दूसरा कोई किसीका कुछ भी करता नहीं है। इस सिद्धांतके अनुसार आम्रफलादिकोंमें क्या और कर्ममें क्या? सर्वत्र कर्ताकर्मादि तथा कर्ताभोक्तादि एक वस्तुके ही धर्मविशेष तादात्म्य संबंधसे मानने चाहिये। इसीलिये कर्मका कर्ता करणादि संबंध कर्मपुद्गलोंमें ही माना जाता है और जीवको जीवके परिणाममें ही कर्ता भोक्ता तथा कर्ता करणादिरूप माना जाता है[1]। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि भोग न होते हुए भी कर्मका, कृत्रिम उपायोंसे, विपाक होसकता है। यही बात आगे दिखाते हैं—

दोनों निर्जराओंके स्वामी—

अनुभूय क्रमात्कर्म्म विपाकप्राप्तमुज्झताम्। प्रथमास्त्येव सर्वेषां द्वितीया तु तपस्विनाम्।

१ पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो। चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥ द्रव्यसंग्रहः।

अर्थ—काल क्रमसे विपाकको प्राप्त हुए कर्मोंका फलानुभव करके जो छोडना है वह प्रथम निर्जरा है। ऐसी निर्जरा सभी जगतके जीव करते हैं। परन्तु दूसरी जो निर्जरा है उसे तपस्वी ही कर सकते हैं। अर्थात्, उसमें इतना ही विशेष है कि कर्मोंका परिपाक होनेपर उसका अनुभव नहीं किया जाय तो जो विपाकानन्तर निर्जरा होगी वह अविपाकज समझी जायगी। अविपाकज निर्जरामें भी कर्मका विपाक तो होता है परन्तु वह विपाक इस अविपाक-शब्दमेंका नहीं है। अविपाकज कहते समय जिस विपाकका निषेध किया गया है वह भोगरूप विपाक है वह विपाक सविपाक निर्जरामें होता है और अविपाक निर्जरामें नहीं होता। एवं दोनों ही निर्जरा विपाकप्राप्त कर्मोंकी होती है ऐसा जो कहा है वह विपाक उदयावलीमें कर्मका प्राप्त होना है अथवा उद्रेक होना है अथवा फल देनेके सन्मुख होना है। कर्मकी ऐसी अवस्था दोनो ही निर्जराओंमें होती है। यदि अविपाक निर्जरामें कर्मोंका विपाक होना न माना जाय तो तपस्वियोंके भी जो कुछ कर्म स्वयमेव कालपाकर उदयको प्राप्त होते हैं उनका विपाक होना ही असंभव होजायगा। परन्तु जिनकी स्थिति समाप्त होचुकी है उनको उदयावलीमें आनेसे कैसे रोका जासकता है? इसलिये मानना चाहिये कि उदयावलीमें तो सभी कर्म आते हैं; परन्तु अविपाकनिर्जरावाला तपस्वी उनका अनुभव नहीं करता है और जो जीव कर्मके उदयका अथवा उदीरणाका अनुभव करते हैं उनके उन कर्मोंकी निर्जरा सविपाक मानी जाती है। कारिकामें क्रमप्राप्त कर्मका अनुभव होनेपर होनेवाला जो क्षय उसे सविपाक निर्जरा कहा है। परन्तु क्रमप्राप्त एक तो वे कर्म होते हैं जो कि यथाकाल उदयको प्राप्त होते हैं; और दूसरे उन्हें भी क्रमप्राप्त ही मानना चाहिये जो कि उदीरणाद्वारा उद्रिक्त होते हैं। तपश्चरणद्वारा उदयावलीमें आनेवाले वे कर्म समझे जाते हैं जो कि केवल निर्जराकी इच्छासे तपोद्वारा उद्रिक्त किये गये हों।

तपश्चरणके भेद।

तपस्तु विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः। प्रत्येकं षड्विधं तच्च सर्वं द्वादशधा भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—तपके मूल दो भेद हैं, एक बाह्य तप, दूसरा आभ्यन्तर तप। दोनोंके उत्तर भेद छह छह हैं। इस प्रकार सर्व बारह भेद तपके होजाते हैं। संवर प्रकरणमें तपका लक्षण कह चुके हैं कि "परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्"। इसलिये यहां पर लक्षण न कहकर भेद मात्रकी संख्या दिखादी है।

वाह्य तपके छह भेदोंके नाम—

वाह्यं तत्रावमोदर्यमुपवासो रसोज्झनम् । वृत्तिसंख्या वपुःक्लेशो विविक्तशयनासनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—उन दोनो भेदोंमेंसे वाह्य तपके जो छह भेद हैं उनके ये नाम हैं: (१) अवमोदर्य, (२) उपवास, (३) रसत्याग, (४) वृत्तिसंख्या, (५) कायक्लेश, (६) विविक्तशय्यासन।

अवमोदर्यका स्वरूप—

सर्व तदवमोदर्यमाहारं यत्र हापयेत् । एकद्वित्र्यादिभिर्ग्रासैराग्रासं समयान्मुनिः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसमें आहारको घटाया जाता है उस सर्व प्रवृत्तिको अवमोदर्य तप कहते हैं। इसके घटानेकी विधि यह है कि मुनिका जो पूर्ण भोजन है उसमेंसे एक दो आदि ग्रास घटाकर मुनि भोजन करे। इसके घटानेकी उत्कृष्ट सीमा एक ग्रास शेष रहै वहांतक है। एक ग्रास घटाकर भोजन करना जघन्य अवमोदर्य है। एक ग्रासमात्र भोजन करना उत्कृष्ट अवमोदर्य है। वीचके भेद मध्यम अवमोदर्यमें गर्भित होते हैं।

उपवासतपका स्वरूप—

मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्नाहारोऽपि चतुर्विधः । उपवासः स तद्भेदाः सन्ति षष्ठाष्टमादयः ॥ १० ॥

अर्थ—केवल मुक्तिफलकी इच्छा रखते हुए सर्व विषयोंसे उपेक्षित होकर चारो प्रकारके आहारका त्याग जिसतपमें किया जाता है उसे उपवास कहते है वेला तेला आदि उपवासके ही भेद हैं। आहार चार हैं—अन्न, खाद्य, पेय, लेह्य। इन चारो आहारोंका पूर्ण त्याग होनेपर उपवास तप होता है। अवमोदर्यका अभ्यास वढजानेपर उपवास तप करने में प्रवृत्ति की जाय तो सुखसाध्य होता है। इसीलिये अवमोदर्यके वादमें उपवासका नाम है।

रसत्यागतप—

रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषाम् । एकद्वित्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा ॥ ११ ॥

अर्थ—तेल, दूध, खांड, दही, घी—ये पांच रस हैं। इनका यथासाध्य त्याग करना रसत्याग तप है। इसके पांच प्रकार होजाते हैं, (१) किसी एक रसका त्याग करना, (२) दो रसोंका त्याग करना, (३) तीन रसोंका त्याग करना,

(४) चार रसोंका त्याग करना, (५) पांचो ही रसोंका त्याग करना । पहिला जघन्य है । अंतका उत्कृष्ट है । बीचके तीनो भेद मध्यम तप समझने चाहिये ।

वृत्तिसंख्यान तप—

एकवस्तुदशागारपानमुद्गादिगोचरः । संकल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः ॥ १२ ॥

अर्थ—भोजनके प्रथम मुनि इस प्रकार संकल्प करे कि मैं आज एक वस्तुका ही भोजन करूंगा, अथवा दिश घरसे अधिक न फिरूंगा, अथवा अमुक पानमात्र करूंगा, अथवा मूंग ही खाऊंगा । इत्यादि अनेक प्रकारके संकल्प इच्छानिरोध केलिये किये जाते हैं । इसीको वृत्तिसंख्यान तप कहते हैं एक वस्तु, दश अगार, पान, मूंग इत्यादि नाम उदाहरणार्थ बताये गये हैं । इन उदाहरणोंपरसे यह मतलब समझलेना चाहिये कि इस प्रकारसे वृत्तिकी अर्थात् भोजनप्रवृत्ति की संख्या अर्थात् मर्यादा बांधी जासकती है ।

कायक्लेशतप—

अनेकप्रतिमास्थानं मौनं शीतसहिष्णुता । आतपस्थानमित्यादि कायक्लेशो मतं तपः ॥१३॥

अर्थ—अनेक प्रकारके प्रतिमायोग धारण करना, मौनसे रहना, शीतबाधा सहना, धूपमें जाकर खडे होना इत्यादि कायक्लेश तपके प्रकार हैं ।

विविक्तशय्यासनतप—

जन्तुपीडाविमुक्तायां वसतौ शयनासनम् । सेवमानस्य विज्ञेयं विविक्तशयनासनम् ॥१४॥

अर्थ—जंतुओंकी पीडारहित वसतिकामें सोना, बैठना इसका नाम विविक्तशय्यासन तप है । अर्थात्, एकांत स्थानमें सोने बैठनेको विविक्तशय्यासन कहते हैं ।

अंतरंग तपके छहभेदोंके नाम—

स्वाध्यायः शोधनं चैव वैयावृत्त्यं तथैव च । व्युत्सर्गो विनयश्चैव ध्यानमाभ्यन्तरं तपः ॥१५॥

अर्थ—(१) स्वाध्याय, (२) प्रायश्चित्त, (३) वैयावृत्त्य, (४) व्युत्सर्ग, (५) विनय, (६) ध्यान ये छह अंतरंगतपके भेद हैं ।

स्वाध्याय तपका स्वरूप व भेद—

वाचना पृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना। अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पञ्चधा जिनैः ॥१६॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मदेशना, अनुप्रेक्षा ये पांच प्रकार स्वाध्याय तपके मानेगये हैं। स्वाध्यायका अर्थ विद्याभ्यास करना है। पढना, पढाना, शुद्ध पाठ उच्चारण करना, धर्मसंबंधी उपदेशकरना, अथवा तत्त्वोंका चिन्तवन करना ये सर्व वातें विद्याभ्यासमें ही गर्भित होती हैं।

वाचनास्वाध्यायका स्वरूप—

वाचना सा परिज्ञेया यत् पात्रे प्रतिपादनम्। ग्रन्थस्य (निरव) वार्थपद्यस्य[1] तत्त्वार्थस्योभयस्य वा १७

अर्थ—ग्रन्थ पढाना अथवा तत्त्वार्थका स्वरूप वताना अथवा ग्रन्थ अर्थ—दोनों पढाना इसका नाम वाचना है। जो पढानेका या बतानेका पात्र हो उसीको पढाना चाहिये। पात्रताका, जिज्ञासु होना, यह एक लक्षण मुख्य है। इसके सिवा बुद्धिमान् हो, दुराग्रही न हो, पढकर मनन करनेवाला हो, गुरुकी और विद्याकी भक्तिविनय करनेवाला हो, गुरुकी आज्ञा माननेवाला हो—इत्यादि और भी पात्रताके सूचक गुण माने गये हैं। परंतु वे गुण यथासंभव हों तो भी अनुचित नहीं होता। इसीको पढाना अथवा अध्यापन अथवा वाचना कहते हैं।

पृच्छनास्वाध्यायका स्वरूप—

तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय च। परं प्रत्यनुयोगो यः[2] पृच्छनां तद्विदुर्जिनाः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो वाचना द्वारा अध्ययन किया हो अथवा कररहा हो उसके शब्दमें, अर्थमें अथवा दोनोंमें संशय दूर करनेकेलिये अथवा उसका दृढ निश्चय होनेकेलिये जो गुरुसे अथवा सपाठी आदि से पूछना—विचारना इसका नाम जिन भगवानने पृच्छना कहा है। इसीको पढना भी कह सकते हैं।

---

१ "ग्रन्थस्य वाथ पद्यस्य" ऐसा पाठ था परंतु 'निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना' इस वार्तिक के अनुसार ऊपरका पाठ शुद्ध समझा गया, २ 'परं प्रत्यनुयोगाय' ऐसा प्रथम पाठ था।

आम्नायस्वाध्यायका स्वरूप—

आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम् ।

अर्थ—पाठ कंठस्थ करनेकेलिये बार बार शुद्ध उच्चारण करना अथवा आवृत्ति करना—यह आम्नाय कहाता है। 'पाठ करना'—इस शब्दका यही अर्थ है।

धर्मदेशनास्वाध्यायका स्वरूप—

कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना ॥ १९ ॥

अर्थ—पूर्व पुरुषोंके चरित्र अथवा धर्मादि विषयोंका स्वरूप श्रोताओंको सुनाना सो धर्मदेशना है। धर्मोपदेश भी इसका दूसरा नाम है।

अनुप्रेक्षास्वाध्यायका स्वरूप—

साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत्। अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः ॥२०॥

अर्थ—जो तत्त्वज्ञान होचुका है उसका मनमें बार बार चिंतन करना—इसको जिनेन्द्रने स्वाध्याय कहा है। संवर व निर्जराको मुख्यतासे साधु ही करसकता है। इसलिये इस अधिकारमें अनेक बार साधुको अधिकारी बताया है। इसका अर्थ प्रमुखता ही लेना चाहिये। क्योंकि, गृहस्थ उक्त संवर निर्जराका उत्कृष्ट अधिकारी नहीं होसकता है; तो भी एकदेश यथा साध्य संवर निर्जराको वह भी करता ही है।

अनुप्रेक्षानामका स्वाध्याय पढनेके अंतमें चाहें जबतक होसकता है और ज्ञानवृद्धिका यही अंतिम उपाय है। इसलिये इसे अंतमें गिनाया है। तत्त्वार्थकर्ताने धर्मोपदेशको अंतमें गिनाया है। उसका यह मतलब है कि प्राप्त हुए श्रुतज्ञानका उपयोग सर्वसामान्यको कराना—यही श्रुतज्ञानका फल है। वह धर्मोपदेशद्वारा ही होसकता है। परन्तु उन्होंने भी पढने और पढानेके बादमें इस अनुप्रेक्षाको गिनाया है। इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि पठन-पाठनके अथवा वाचना—पृच्छनाके अंतमें ही इसका उपयोग होता है और उन दोनोंसे यह अधिक दृढताका कारण है। इस प्रकार स्वाध्याय तपके पांच स्वरूपोंका वर्णन हुआ।

१ दूसरे लोग जो श्रवणमनननिदिध्यासन ऐसे तीन भेद ज्ञानाभ्यासके करते हैं वे वाचना—पृच्छना—अनुप्रेक्षामें गर्भित होसकते हैं।

प्रायश्चित्तके भेद—

आलोचनं प्रतिक्रान्तिस्तथा तदुभयं तपः। व्युत्सर्गश्च विवेकश्च तथोपस्थापना मता ॥ २१ ॥
परिहारस्तथा छेदः प्रायश्चित्तभिदा नव।

अर्थ—(१) आलोचन, (२) प्रतिक्रमण, (३) आलोचन प्रतिक्रमणोभय, (४) व्युत्सर्ग, (५) विवेक, (६) उपस्थापना, (७) परिहार, (८) छेद (९) तप—ये नौ प्रायश्चित्तके भेद हैं। आवश्यकता और पात्रता जुदी जुदी होने से इन नौ भेदोंका उपयोग जुदा जुदा होता है सुवर्णकी शुद्धि जिस प्रकार तपाये विना नहीं होती उसी प्रकार तपके विना आत्माकी भी कर्म मलसे शुद्धि नहीं होती। परंतु यह प्रायश्चित्त, तप की भी शुद्धि करता है जैसे, संस्कारके विना अग्नि मलशोधनका काम नहीं कर सकती इसी प्रकार प्रायश्चित्तके विना तप कर्ममल शोधनेका काम नहीं करसकता है। इसीलिये इसको अंतरंगके एक जुदे भेदमें गिनाया है। दोष टालनेका उपाय—यह प्रायश्चित्तका सामान्य अर्थ है।

आलोचनका स्वरूप—

आलोचनं प्रमादस्य गुरवे विनिवेदनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—गुरुके पास जाकर अपनेसे हुए प्रमादका सुनाना यह आलोचन है। आकंपितादि दोष न लगाते हुए यह निवेदन करना चाहिये।

जो दश दोष लग सक्ते हैं उनका स्वरूप—

(१) उपकरण देनेसे गुरु मेरे दोषके प्रायश्चित्तको हलका करदेंगे—ऐसा विचार कर पहिले कुछ दानदेना और फिर दोष निवेदन करना—यह प्रायश्चित्त का प्रथम दोष है।

(२) मैं असमर्थ हूं, दुर्बल हूं। उपवासादि कठिन तप नहीं कर सकूंगा। यदि आप कोई छोटासा प्रायश्चित्त दें तो मैं दोष निवेदन करता हूं। ऐसा बोलना फिर दोष कहना दूसरा दोष है।

---

[1] महदपि तपः कर्म अनालोचनपूर्वकं नाभिप्रेतफलप्रदम्। कृतालोचनस्यापि गुरुदत्तप्रायश्चित्तमकुर्वतोऽपरिकर्मसस्यवन्महाफलं न स्यात्। कृतालोचनचित्तगतप्रायश्चित्तं परिस्पष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते। इति वार्ति०

(३) जिस दोषको किसीने देखा न हो उसे तो छिपा लेना और उस दोषको कह देना जो कि दूसरोंने देख लिया हो यह तीसरा मायाचार-दोष है।

(४) आलस्यके या प्रमादके वश होकर दोष निवेदन करनेमें उत्साह न रखना, किंतु आवश्यकता समझकर मोटे २ कह देना यह चौथा स्थूल दोष प्रतिपादन नामा प्रायश्चित्त दोष है।

(५) महादोषका प्रायश्चित्त भी दुर्धर होगा-ऐसा विचारकर उस प्रायश्चित्तसे डरता हुआ बडे दोषको यदि छिपा ले और नित्यक्रमानुसार प्रमादाचारका निवेदन करदे तो प्रमादाचार विबोधन नाम पांचवां दोष लगता है।

(६) गुरूसे ऐसी तरह पूछे कि महाराज, ऐसे दोषका क्या प्रायश्चित्त होता है। इस तरह पूछकर प्रायश्चित्त करले परन्तु गुरू आदिको मालूम न होने दे यह गुरूपासना नाम छठा दोष है।

(७) सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आदिके समय कोलाहल अधिक उठने पर अपने पूर्वदोषका निवेदन कर दे, जिससे कि कोई सुनने न पावे। यह सातवां शब्दाकुलित नाम दोष है।

(८) गुरूके बता देने पर भी उस प्रायश्चित्तमें शंका समझकर दूसरोंसे पूछे कि इस दोषका प्रायश्चित्त ऐसा ही होना चाहिये ? या कोई दूसरा होना चाहिये इसे अन्यसाधुपरिप्रश्न नामका आठवां दोष कहते हैं।

(९) कुछ बहाना बताकर यदि किसी अपने समान साधुसे ही प्रायश्चित्त पूछकर कर लिया जाय तो वह बडा प्रायश्चित्त भी फलीभूत नहीं होता। इसलिए यह भी एक दोष है।

(१०) अपने दोषके समान दूसरोंका दोष आलोचित होते हुए सुनकर उसीके प्रायश्चित्तको आप धारण करले परंतु अपना दोष प्रगट न करे। यह स्वदुश्चरितसंवरण नाम दशवां दोष है।

इनके सिवा और भी बहुतसे दोष हैं। परन्तु ऐसे सब दोष लगते तभी हैं जब कि मायाचार पूर्वक प्रायश्चित्त करता हो। यदि सरल भावोंसे आलोचनादि करे तो कोई भी दोष नहीं लगता है।

प्रतिक्रमण और तदुभयका स्वरूप—

अभिव्यक्तप्रतीकारं मिथ्या-मे-दुष्कृतादिभिः। प्रतिक्रान्तिस्तदुभयं संसर्गे सति शोधनात् ॥२३॥

अर्थ—मेरा अमुक दुष्कृत-पाप मिथ्या हो—इत्यादि शब्दोंद्वारा किसी पापका प्रतीकार करना प्रगट दिखाया जाय सो

प्रतिक्रमण है। पाप होजानेपर उसके पछितावेको प्रकाशित करना-यह प्रतिक्रमणका अर्थ है। कोई प्रबल दोष दोनो क्रिया किये विना छूटता नहीं दीखता तब आलोचन और प्रतिक्रमण ये दोनो करने पडते हैं—इसका नाम तदुभय अथवा आलोचनप्रतिक्रमणोभय है।

तपप्रायश्चित्तका स्वरूप—

भवेत्तपोऽवमोदर्यं वृत्तिसंख्यादिलक्षणम्।

अर्थ—अवमोदर्य तथा वृत्तिपरिसंख्यान आदि जो पहिले तप कहे हैं वे ही तप किसी दोषका प्रायश्चित्त करनेकेलिये जब धारण किये जाते हैं तब तप नाम प्रायश्चित्त कहेजाते हैं।

व्युत्सर्गका स्वरूप—

कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः परिभाषितः॥ २४॥

अर्थ—कायोत्सर्ग उसे कहते हैं जो कि प्रतिमायोग आदि धारण करते समय शरीरसे ममत्व छोडा जाता है। कायोत्सर्ग आदि क्रिया प्रायश्चित्तकी इच्छासे की जाय तो उन्हें व्युत्सर्ग कहते हैं।

विवेक प्रायश्चित्तका स्वरूप—

अन्नपानौषधीनां तु विवेकः स्याद् विवेचनम्।

अर्थ—संसक्त जो अन्न, पान अथवा औषधि उनका विभाग करके ग्रहण करना—यह विवेक नामका प्रायश्चित्त है।

उपस्थापना प्रायश्चित्तका स्वरूप—

पुनर्दीक्षाप्रदानं यत् सा ह्युपस्थापना भवेत्॥ २५॥

अर्थ—कोई महान् दोष लगजैपर आजतक का तपनष्ट करके फिरसे यदि साधु नया दीक्षित बनाया जाय तो उस प्रायश्चित्तको उपस्थापना कहते हैं।

परिहारप्रायश्चित्तका स्वरूप—

परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम्।

अर्थ—महीने पंद्रह दिन आदि कुछ नियत समयकेलिये संघमेंसे निकाल देनेको परिहार प्रायश्चित्त कहते हैं।

छेदप्रायश्चित्तका स्वरूप—

प्रव्रज्याहापनं छेदो मासपक्षदिनादिना ॥ २६ ॥

अर्थ—एक दिन या महीना-पंद्रह दिन आदि कुछ समय दीक्षाके दिनोंमेंसे कम करदेनेको छेद प्रायश्चित्त कहते हैं। ये नौ भेद प्रायश्चित्तके हैं।

वैयावृत्त्य-अंतरंग तपके भेद—

सूर्युपाध्यायसाधूनां शैक्ष्यग्लानतपस्विनाम्। कुलसंघमनोज्ञानां वैयावृत्त्यं गणस्य च ॥२७॥
व्याध्याद्युपनिपातेपि तेषां सम्यग् विधीयते। स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते ॥२८॥

अर्थ—किसीके कष्टको दूर करना सो वैयावृत्त्य है। कोई कष्ट तो शरीरका श्रम करनेसे दूर हो सकते हैं कोई दूसरे प्रकारसे हो सकते हैं। जैसे, कोई थक गया हो तो उसका शरीर दबानेसे थकावट दूर हो सकती है। यह काम शरीरके श्रमसे ही सिद्ध हो सकता है। अथवा, किसीको कुछ उपसर्ग हो रहा हो तो वह अपने शरीरके प्रयत्नसे दूर हो सकता है। यदि कोई रोगी है तो उसको औषध देनेसे उसका कष्ट दूर होगा। कोई भयभीत हो रहा हो तो उसको वचनोंसे धैर्य बंधाने पर वह भयसे मुक्त हो सकता है। प्रयोजन यहां यह है कि किसी भी भांत दूसरोंका कष्ट दूर करना चाहिये। इसीको वैयावृत्त्य कहते हैं।

१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ साधु, ४ शिष्य, ५ ग्लान, ६ तपस्वी, ७ कुल, ८ संघ, ९ मनोज्ञ, १० गण—साधुओंके ये दश भेद हैं। इन दशो प्रकारके साधुओंका वैयावृत्त्य जैसे हो सकता हो वैसे करना चाहिये। इनको कोई व्याधि अथवा उपसर्गादि होने लगा हो तो उसका निर्दोष रीतिसे प्रतीकार करना चाहिये। जहां तक अपनी शक्ति हो वहां तक करना चाहिये। इसीका नाम वैयावृत्त्य है। वैयावृत्त्यमें कोई विशेष भेद नहीं है परन्तु जिनका वैयावृत्त्य करना चाहिए उनके दश भेद ऊपर कहे हैं इसलिये उपचारवश वैयावृत्त्यके ये भेद मानलिये गये हैं।

१ संघके स्वामी होते हैं उन्हें सूरी या आचार्य कहते हैं। २ शिक्षा देनेवाले अथवा पढानेवाले साधुओंको उपाध्याय

कहते हैं। ३ बहुत पुराने तपस्वियोंको साधु कहते हैं। ४ पढने सीखनेवालोंको शिष्य अथवा शैक्ष्य कहते हैं। ५ रोगी मुनियोंको ग्लान कहते हैं। ६ बडे बडे उपवासादि तप करनेवालोंको तपस्वी कहते हैं। ७ आचार्यके शिष्य समूहको कुल कहते हैं। ८ ऋषि मुनि अनगार तपस्वी इन चारोके समुदायको संघ कहते हैं। जैसे, गृहस्थोंमें ब्राह्मणादि चार वर्ण होते हैं वैसे ही साधुओं में ऋषि आदि चार प्रकार होते हैं। उन्हें भी चार वर्ण कहते हैं। ऋषि आदि चारो प्रकारके साधुओंके लक्षण जुदे जुदे होते हैं। ९ लोकमें जिसकी मान्यता अधिक हो, जो महाकुलमें उत्पन्न हुआ हो, वडा विद्वान हो, वक्ता हो उसे मनोज्ञ कहते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं। १० वृद्ध साधुओंके समूह को गण कहते हैं।

इन दश भेदों में से नौ तो साधुओंके ही भेद हैं। और एक मनोज्ञ ऐसा है कि जिसमें गृहस्थ व साधु दोनों का अंतर्भाव किया है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टिको भी मिथ्यात्वादि दोषोंसे वचाने के लिये वैयावृत्त्य होने योग्योंमें गर्भित करते हैं।

इन दशोंमेंसे किसीको भी रोग होजाय परीषह या उपसर्ग आजाय अथवा मिथ्यात्वका दोष होता दीखे तो प्रासुक औषध देकर, भोजनादि कराकर, रहने के लिये स्थान देकर विछोना आसनादि देकर और भी जैसे होसके वैसे उपचार करके शरीर स्वस्थ करना तथा धर्ममें दृढ करना चाहिये। यह सब वैयावृत्त्यका स्वरूप है।

व्युत्सर्गतप—

वाह्यान्तरोपधित्यागाद् व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत्। क्षेत्रादिरुपधिर्बाह्यः क्रोधादिरपरः पुनः ॥२९॥

अर्थ—दूसरे पदार्थमें वल उत्पन्न करनेवाला जो अन्य वस्तु उसे उपधि अथवा उपाधि कहते हैं। दूसरोंको भी जो पदार्थ जुदा दीखे वह वाह्य उपाधि है। क्रोधादि अंतरंग भावोंको अंतरंग उपाधि कहा है। इन दोनो उपाधियोंके छोडनेको व्युत्सर्ग कहते हैं। उपाधि दो प्रकारकी हैं इसलिये व्युत्सर्ग के भी दो भेद होजाते हैं। पहिलेका नाम वाह्योपधिव्युत्सर्ग है। दूसरेका नाम अभ्यंतरोपधिव्युत्सर्ग है। शरीरसे ममत्वसंवंध छोडनेको भी अभ्यंतरोपाधिव्युत्सर्ग कहते हैं। शरीरसे ममत्वसंवंध एक तो कुछ समयके लिये ध्यानावस्थामें छूट जाता है दूसरा यावज्जीवन त्याग होता है जो कि सल्लेखनासमाधिके समय किया जाता है।

१ व्यावृत्तिव्यपनोदः पदयोः सवाहनं च गुणरागात्। वैयावृत्यं यावानुपग्रहोन्योपि संयमिनाम् ॥ ११२। रत्नक०।

दीक्षाके समय भी बाह्य अभ्यंतर उपाधियोंका त्याग किया जाता है परंतु उस समय उपस्थित धन धान्यादि वस्तुओंके त्यागका अभिप्राय मुख्य रहता है। यहांपर तो ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जो कि छोडने योग्य हो। तो भी कषाय मंद करनेकेलिये, ध्यानसिद्धिकेलिये शरीरादिकोंसे ममत्व हटानेका प्रयोजन इसमें सिद्ध होता है। इसलिये इसे जुदा कहा है। धर्मोंमें भी त्याग-धर्म आगया है। परंतु वहांपर आहारादि दान करना त्यागका अर्थ होता है। इसलिये उससे भी यह एक निराला सिद्ध होजाता है। प्रायश्चित्तोंमें जो व्युत्सर्ग कहा जाता है उसका अर्थ और इसका अर्थ स्वरूपसे तो जुदा नहीं होता है परंतु प्रयोजन दोनोंके जुदे जुदे हैं। प्रायश्चित्तोंमें जो व्युत्सर्ग है वह व्रतोंके अतीचारदोष दूर करनेके लिये है यहांपर जो व्युत्सर्ग है वह किसी प्रतिद्वन्द्वीके हटानेकी इच्छासे नहीं है किंतु उत्साहके बढानेकेलिये है और उत्तरोत्तर गुणोंमें वृद्धि होनेकेलिये है। इसलिये व्युत्सर्गतप एक जुदा ही तप है जिसका कि दूसरे किसी भी व्रतमें या धर्मादिकमें अंतर्भाव नहीं होसकता है। व्युत्सर्ग तपके करनेसे ममत्व छूट जाता है, परिणाम निर्मल होजाते हैं, जीवनकी आशाका अभाव होजाता है, दोष दूर होते हैं, मोक्षमार्गकी भावना सुदृढ होजाती है। इत्यादि अनेकों इसके फल हैं।

विनयतपके भेद—

दर्शनज्ञानविनयौ चारित्रविनयोऽपि च। तथोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः ॥३०॥

अर्थ—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय और उपचारविनय, विनयके ये चार भेद हैं।

दर्शनविनयका स्वरूप—

यत्र निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता भवेत्। श्रद्धाने सप्ततत्त्वानां सम्यक्त्वविनयः स हि ॥३१॥

अर्थ—जहांपर सातो तत्त्वोंका श्रद्धान ऐसा दृढ हो और यथार्थ हो कि शंकादि दोषोंका लेश भी न दीख पडे। इस प्रकार निःशंकादि गुणोंसे युक्त सम्यग्दर्शन रखना सो सम्यग्दर्शन विनय है। सम्यक्त्वविनय या दर्शनविनय भी इसीको कहते हैं।

ज्ञानविनयका स्वरूप—

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यासस्मरणादीनि कुर्वतः। बहुमानादिभिः सार्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत्॥३२॥

अर्थ—बहुमानपूर्वक आलस्यरहित शुद्धान्तःकरण द्वारा देशकालकी विशुद्धि रखते हुए मोक्षोपयोगी ज्ञान का स्वीकार करना, ज्ञानका अभ्यास करना, ज्ञानका स्मरण रखना—यही ज्ञानविनय है।

चारित्रयविनयका स्वरूप—

दर्शनज्ञानयुक्तस्य या समीहितचित्तता। चारित्रं प्रतिजायेत चारित्रविनयो हि सः ॥ ३३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होते हुए जो चारित्र निर्मल करने की इच्छा प्रगट हो, चारित्रमें भक्ति उत्पन्न हो, चारित्र की तरफ लक्ष्य जाने पर रोमांच व हर्ष उत्पन्न हो सो चारित्रविनय है। भाव सदा चारित्ररूप रखना यह भी चारित्रविनय ही है।

उपचारविनयका स्वरूप—

अभ्युत्थानानुगमन-वन्दनादीनि कुर्वतः। आचार्यादिषु पूज्येषु विनयो ह्यौपचारिकः ॥ ३४ ॥

अर्थ—अपने पूज्य आचार्य उपाध्याय आदि प्रत्यक्ष हो जाने पर उनके लिये उठ खडे होना उनके पीछे २ चलना, उनकी वंदना करना हाथ जोडना इत्यादि कृतिको उपचार विनय कहते हैं। उनके परोक्ष रहने पर भी गुणानुवाद गाना, हाथ जोडना, गुण चिंतवन करना सो भी उपचार विनय ही है। पूजाके कारण गुण होते हैं। इसलिये साक्षात् सम्यग्दर्शनादि गुणोंका विनय तो सम्यग्दर्शनादिकोंको निर्मल धारण करनेसे होता है, परन्तु उन गुणोंके कारण पूजना यह गुणोंके साथ उपचरित संबंधद्वारा सिद्ध होता है इसलिये इसे उपचार विनय कहते हैं। विनय तपके होनेसे ज्ञानका लाभ हो सकता है, आचार विशुद्ध हो जाता है, दर्शनादि आराधनाओंकी सिद्धि हो सकती है। धर्मकी पात्रता विनय गुणके ही रहनेसे हो सकती है। अविनीत मनुष्यमें कोई भी गुण प्रवेश नहीं करते हैं। विनयतपकी इसीलिये आवश्यकता है। इस प्रकार स्वाध्याय आदि पांच अंतरंग तपोंका स्वरूप हो चुका।

अब ध्यानोंके हेयोपादेय भेद कहते हैं—

आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्। ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोंगमुभयं भवेत्॥३५॥

१ बहुमाने समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम्।

अर्थ—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान इस प्रकार ध्यानके चार भेद हैं। इनमेंसे अंतके दो ध्यान मोक्षके कारण और तपमें गर्भित हैं। पहिले दोनों संसार वृद्धिके कारण होते है इसलिये वे हेय हैं।

आर्तध्यानका भेदपूर्वक स्वरूप—

प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये। आर्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥३६॥

अर्थ—१ इष्टका नाश हो जाने पर, वह इष्ट मुझे कैसे प्राप्त हो, ऐसी जो चिंता शुरू होती है उसे इष्टवियोगज नाम आर्तध्यान कहते हैं। यह प्रथम आर्तध्यानका भेद है। २ अनिष्ट वस्तुका संयोग हो जाने पर उसे दूर हटानेकी चिंताको अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान कहते हैं। यह दूसरा भेद है। ३ अप्राप्तपूर्व वस्तुओंके प्राप्त होनेकी आकांक्षाको निदान कहते हैं। यह आर्तका तीसरा भेद है। ४ दुःखकी वेदना होनेपर अधीर होकर उससे मुक्त होनेकी चिंता करना सो वेदनाजनित चौथा आर्तध्यान है। आर्तध्यानके ये चार भेद हैं यद्यपि इष्ट वियोगज आर्तध्यानमें निदानका समावेश करनेकी इच्छा हो सकती है परन्तु वे दोनों भिन्न २ हैं। प्राप्त हुए इष्ट का वियोग होजाने पर पुनः प्राप्त करनेकी चिंतामें लगनेसे इष्टवियोगज आर्तध्यान होता है। निदान वहां पर होता है जिसकी कि प्राप्ति हुई ही नहीं है। केवल उसके संकल्पसे जीव लालायित बनता है। निदानमें भी जो वस्तु चाही जाती है वह इष्ट अवश्य होती है परंतु वह अभी तक प्राप्त ही नही हुई है तो उसका वियोग कैसा ? अथवा पूर्वजन्मादिकमें प्राप्त भी हुई हो परंतु अब प्राप्त होनेकी सी समझ कहा है ? क्योकि; विस्मरणरूप समारोपद्वारा भूल जानेसे अब वह नवीन ही माननी चाहिये। यदि ऐसा न हो तो संसारमें कोई चीज नवीन ही न रहै। इसलिये निदान व इष्टवियोगज आर्तध्यानमें परस्पर फर्क है।

इसी प्रकार अनिष्टसंयोगज और वेदनामें भी फर्क है। क्योंकि, वेदना स्वयं दुःखरूप है और अनिष्टसंयोग दुःखका कारण होता है। जैसे, विष या शस्त्र, शत्रु आदिक संबंध दुःखका कारण होनेसे अनिष्ट माना जाता है। मनुष्य आगामी दुःखोत्पत्तिकी आशंका करके डरते हैं और उस कारणके हटानेकी चिन्तामें लगते हैं। परन्तु वेदना स्वयं दुःखरूप है। इसलिये इसके होनेसे जीव स्वस्थ नहीं रह पाता है। अतएव इसे हटानेकी चिंतामें लगता है। इस प्रकार अनिष्ट संयोग और वेदना भिन्न भिन्न हैं।

रौद्रध्यानके भेद व स्वरूप—

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे। रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥ ३७ ॥

अर्थ—क्रोधादि कषायपूर्वक हिंसा करनेमें रत होना, झूंठ बोलनेमें रत होना, चोरी करनेमें रत होना या विषयोंकी रक्षा करनेमें मगन होना सो रौद्र ध्यान है हिंसा, झूठ, चोरी, विषयसंरक्षण-ये विषय भिन्न भिन्न होनेसे ध्यान भी चार होजाते हैं; [१] हिंसानंद, [२] मृषानंद, [३] स्तेयानंद, [४] विषयसंरक्षणानन्द ।

ध्यानका लक्षण व उत्कृष्ट कालप्रमाण—

एकाग्रत्वेऽतिचिन्ताया निरोधो ध्यानमिष्यते। अन्तर्मुहूर्तस्तच्च भवत्युत्तमसंहते: ॥ ३८ ॥

अर्थ—अनेक विषयोंमें जो चिंता पसर रही है उसका निरोध करके एक विषयमें स्थिर करना सो ध्यान है। उत्तम संहननवाले जीवमें वह ध्यान अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं टिकता है। जो जीव हीनसंहननवाले हैं उनका ध्यान उनसे भी कम समय तक रहसकता है। यह कालकी मर्यादा है। एकवार लगाया हुआ ध्यान अंतर्मुहूर्ततक टिक कर जब छूटता है तभी दूसरा तीसरा क्रमसे होजाय तो ध्यानका संतान चिर कालपर्यंत भी रह सकता है।

उत्तम संहनन तीन होते हैं। [१] वज्रर्षभनाराचसंहनन, [२] वज्रनाराच, [३] नाराच। इन तीन संहननोंमेंसे भी मोक्षोपयोगी सबसे प्रथम संहनन ही है। शेष दो संहनन द्वारा ध्यान होता है वह कर्मोंका विशेष नाश नहीं कर सकता है। संहननका अर्थ कहचुके हैं।

दूसरे लोग ध्यानकी सिद्धिके उपाय यम नियम प्राणायाम इत्यादिकों को बताते हैं। परंतु जैनसिद्धांतानुसार यम नियमादिकोंका निषेध नहीं है तो भी ध्यानसिद्धिके मुख्य उपाय गुप्ति समिति आदिक हैं। गुप्ति समिति आदिकों का स्वरूप प्रथम कहचुके हैं। गुप्त्यादि प्रथम कहनेका हेतु ही यह है कि वे गुप्त्यादि सध जांय तब ध्यानसिद्ध होसके।

यहांपर प्रकरण मोक्षमार्गका होनेसे शुभध्यानोंके कहनेकी मुख्यता है इसीलिये आनुषंगिक आर्तरौद्र अशुभ ध्यानोंको नाममात्र गिनाकर शुभध्यानोंके प्रथम ध्यानका लक्षण किया है।

---

१ आद्यं संहननत्रयमुत्तमम्। तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव। इति वार्ति०।

धर्मध्यानके भेद—

आज्ञापायविपाकानां विवेकाय च संस्थितेः। मनसः प्राणिधानं यद्धर्म्यध्यानं तदुच्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—धर्मयुक्त मनकी एकाग्रताको धर्म्यध्यान कहते हैं। विवेक, विचार, विचिति, विचय इन शब्दोंका अर्थ एक ही है। वह अर्थ यह है कि विचार करना। आज्ञाका अपायका विपाकका और संस्थानका विचार[3] करनेके लिये धर्म्यध्यानमें मनकी एकाग्रता होती है। आज्ञादि विषय चार होनेसे धर्म्यध्यानके चार भेद होजाते हैं।

आज्ञाविचयधर्म्यध्यान—

प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम्। गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचयमुच्यते ॥४०॥

अर्थ—सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण मानकर गहन सूक्ष्म पदार्थोंका निश्चय करना अर्थात् श्रद्धान करना-यह आज्ञा विचय धर्म्यध्यान है।

[१] इस ध्यानके पहिले भेदको आज्ञाविचयधर्म्यध्यान कहते हैं। आगमकी प्रमाणता मानकर जो अर्थका निश्चय करना यह आज्ञाविचय है। ऐसा आज्ञाविचय तब होता है जब कि अपना ज्ञान मंद हो और उपदेशक कोई दीखता न हो, पदार्थ अतिसूक्ष्म होनेसे वहां पर हेतु तथा दृष्टान्तका मिलना कठिन होगया हो। उस समय सर्वज्ञप्रणीत मार्गको प्रमाण मानकर जो दृढ निश्चय करना सो आज्ञाविचय है। यह आज्ञाविचय अथवा आज्ञाविचार बराबर कुछ देरतक चलता रहे तो एकाग्रचिंतानिरोध होजानेसे ध्यान कहाजाता है। अथवा अपनेको सर्वज्ञकी आज्ञा और मार्ग मालूम है। परंतु जो उस आज्ञाको न स्वीकार करता हो उसे कथमार्गके आश्रयसे तर्क हेतु दृष्टान्त नय प्रमाण आदिके द्वारा सिद्ध करके बताना और लोगोंमें उस आज्ञाका प्रकाश तथा सत्यपना प्रसिद्ध करना-यह भी आज्ञाविचयधर्म्यध्यानका ही अर्थ है।

१ धर्मादनपेतं धर्म्यम्। (इति वार्ति०) २ विचयस्तत्र मीमांसा प्रमाणनयतः स्थितः। तस्मिश्छिन्नाप्रबन्धो नुश्चिन्तान्तरनिरोधतः ॥ (श्लोकवा०) ३ तदर्थम् [आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयार्थम्] आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय। ४ आगमप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचयः। ५ अथवा विदितस्वपरसमयपदार्थनिर्णयस्य अर्थं प्रतिपिपादयिषतस्तत्समर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः, सार्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः इति वार्ति०। ६-तत्राज्ञा द्विविधा हेतुवादेतरविकल्पतः। सर्वज्ञस्य विनेयान्तःकरणायसवृत्तय.। (इति श्लोकवा०)

अपायविचय—

कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः। अपायमिति यो चिन्ता तदपायविचारणम् ॥४१॥

अर्थ—सुखके विरुद्ध मार्गोंमेंसे ये प्राणी हटकर सुमार्गमें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ? इस प्रकार दुःखी संसारी जीवों के दुःख दूर होनेका चिंतवन और सुखमें प्रवृत्त करनेके उपायका चिंतवन करना अपायविचार अथवा अपायविचय धर्म्य ध्यान है। दुःख दूर होनेका नाम यहां अपाय है। उसका विचार करना सो अपाय विचय है। सन्मार्गमें प्रवृत्ति करानेका उपाय विचारना भी इसी ध्यान में होता है। इसलिये उपायविचय भी इसीका दूसरा नाम हो सकता है। परंतु प्रतिपेध की मुख्यतासे अपायविचय नाम बोला जाता है।

[२] सत्य जैनमार्गके अपायका चिंतवन करना सो अपायविचयधर्म्यध्यान है। जैसे कोई अंधा मनुष्य जंगलमें पडा हो और किसी ग्रामकी तर्फ जाना चाहता हो तो कोई मार्गदर्शक न मिलनेपर यों ही इधर उधर भटकता रहेगा। उसका इष्ट स्थानमें पहुंचना कठिन है। इसी प्रकार जैन धर्मका अवलंबन न हो तो मोक्षके सुखसे जीव सदा ही वंचित रहेगा। संसारमें ऐसे जीव वहुत हैं जो कि आत्यंतिक सुख चाहते हैं परतु सचे उपायोंको नहीं जानते इसलिये इष्ट विषयको प्राप्त नहीं करसकते हैं। उनका भटकना अंधेके समान है। वे जीव संसारमें ही भटकते हैं और दुःखी होते हैं। ऐसे चिंताप्रवधको अपायविचय धर्म्यध्यान कहते हैं।

विपाकविचय—

द्रव्यादिप्रत्ययं कर्मफलानुभवनं प्रति। भवति प्रणिधानं यद्विपाकविचयस्तु सः ॥४२॥

अर्थ—कर्मकी स्थिति पूरी हो जाने पर भी जो कर्मका फल प्राप्त होता है उसके लिये निमित्त कारण, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होते हैं। उन निमित्तोंके वश होकर ही कर्म फल दे सकते हैं। निमित्तोंकी प्रबलता हो तो कर्म स्थिति पूर्ण होनेसे पहिले

---

१ 'अपायमिति वा' ऐसा पाठ भी हो सकता है। तब अर्थ ऐसा होगा कि जन सन्मार्गमें कैसे प्रवृत्त हों अथवा उन्मार्गसे दूर कैसे हों। अर्थात् 'या' की जगह 'वा, रखनेसे विधिमुख व निपेधमुख ऐसें दो पक्ष सिद्ध हो जाते हैं। यही भाव टि० न० २ में श्लोक वार्तिकका दिखाया है। २ असन्मार्गादपाय स्यादनपाय स्वमार्गत । स एवोपाय इत्येष ततो भेदेन नोदितः। (श्लोकवार्तिक)

भी उदीर्ण हो जाते हैं। स्थिति पूर्ण होने से पहिले जो फल भोगनेमें आ जाता है उसे उदीरणा कहते हैं। स्थिति पूर्ण करके यदि फल भोगा जाय तो उसे उदय कहते हैं। चाहे उदय रूप फल भोगा जाय और चाहें उदीरणारूप परन्तु फल भोगनेपर निर्जरा अवश्य हो जाती है। निमित्त होने पर उदयकालमें फल तो सभी कर्मोंका होता है परन्तु कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका अनुभवयोग और नामानुसार फल उदीरणा होनेपर ही होता है। जैसे मैथुनमें प्रवृत्ति होना वेद कर्मका कार्य है परन्तु यह वेदकी उदीरणा होने पर ही होता है। वेदका उदय सदा ही रहता है। परंतु सदा मैथुनमें प्रवृत्ति नहीं होती। इत्यादि विचारमें एकाग्रता होना विपाकविचय धर्मध्यान है।

संस्थानविचय—

लोकसंस्थानपर्यायस्वभावस्य विचारणम्। लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत् ॥४३॥

अर्थ—लोकके संस्थानका विचार करना सो संस्थानविचय धर्म्य ध्यान कहाता है। [1] आकाशके ठीक बीचमें अकृत्रिम स्वभाव वाला वेत्रासन झल्लरी मृदंग समान अथवा पुरुषाकार लोकका आकार है। नीचेसे ऊपर तक चौदह राजू ऊंचा है। उत्तर-दक्षिण दिशाओंमें सर्वत्र सात राजू विस्तीर्ण है। पूर्व-पश्चिममें नीचे सातराजू विस्तीर्ण है। ऊपर की तर्फ सातराजूपर्यंत प्रमाण घटता हुआ मध्यलोकमें एक राजू विस्तीर्ण रह गया है। फिर ऊपरकी तर्फ साढे तीन राजू की ऊंचाई पर्यंत विस्तार बढता गया है। वह विस्तार पांचवें स्वर्गकी जगह पांच राजू प्रमाण हो गया है। फिर ऊपरकीतर्फ विस्तार घटने लगा है। सो अंतमें एक राजू विस्तार रह गया है। ऊर्ध्वलोकमें सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक तथा अनुदिश अनुत्तर विमानोंकी रचना है और अंतमें सिद्धस्थान है। नीचे सात राजू गहरा अधोलोक है जिसमें कि सात मुख्य और उनंचास अवांतर नरक स्थान हैं। सर्वत्र प्रत्येक नरकादिकोंके नीचेकी तर्फ तथा समग्र लोकके चौगिर्द तीन २ वायु मंडल है। उस वायु मंडलपर्यंत लोकका घनाकार देखा जाय तो तीनसौ तेतालीस राजू प्रमाण होता है। इस प्रकार लोकसंस्थान है। इसका विचार करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान है।

१ सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झसठिओ लोओ। सो केणवि णत्थि कओ णय धरिओ हरिहरादीहिं ॥ सत्तेक्कपंच इक्का मूले मज्झे तहेव बंभंते। लोयंते रज्जूओ पुव्वावरदो य वित्थारो॥ दक्खिण उत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवेइ सव्वत्थ। उड्ढो चउदस रज्जू। सत्त विरज्जूघणोलोअ.॥ मेरुस्स हिट्ठभाए सत्त विरज्जू हवे अहोलोओ। उड्ढम्मि उड्ढलोओ मेरुसमो मज्झिमोलोओ ॥ ११५-१२० (इति लोकानुप्रेक्षा कार्तिकेयकृता)

(२) लोकमें जो वस्तुओंका स्वभाव दीख पड़ता है उसका विचार करना भी संस्थानविचय धर्म्यध्यानमें गर्भित होता है क्योंकि अमूर्तीक लोकका तो संस्थान दीख ही नहीं सकता है। इसलिये लोकमें स्थित जो जीवपुद्गलोंके पर्याय हैं उन्हींको लोक कह सकते हैं। अतः उनके स्वभावका चिंतवन करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान होसकता है। लोकमें आलोकित होनेवाली चीजोंका जो निरनिराला तथा समुदायरूप जो आकार हो वही लोकका संस्थान है। निरनिराला आकार—जैसे, मेरुपर्वतका आकार, विन्ध्यादि पर्वतोंका तथा नदी, ग्राम, नगर आदिका आकार—ये सर्व लोकके ही आकार हैं। सामान्य आकार—जैसे तीनों लोक पुरुषाकार। इत्यादि सर्व लोकके ही आकार हैं।

(३) लोकमें स्थित मनुष्यादि प्राणियोंके शरीर प्रमाणादि भी लोक संस्थानरूप ही हैं। इसलिये इनका विचार करना भी संस्थानविचय धर्म्यध्यान ही समझना चाहिये।

(४) लोकगत द्वीप समुद्रादि वस्तुओंकी संख्याका-चिंतवन करना, उनका रचनाविशेषपर विचार करना सो भी संस्थानविचय धर्म्यध्यान ही है। इस प्रकार लोकके संस्थानका विचार चार विकल्पसे होसकता है। इसलिये ऊपरकी चारो बातोंपर विचार करना—उसके चिंतवनमें रत होना सो सर्व संस्थानविचय धर्म्मध्यान कहाता है।

लोकके संस्थानको ही संस्थानशब्दसे यहांपर लेते हैं। वह लोक लोकानुयोगमें विस्तारके साथ बताया है। इसलिये लोकानुयोगके अनुसार संस्थानका चिंतवन करना चाहिये।

यद्यपि अनुप्रेक्षा और ध्यानमें कोई अंतर नहीं है परन्तु दोनोंके फल भिन्न भिन्न हैं। अनुप्रेक्षाका फल यह है कि अनित्यता आदिका चिंतवन करके विषयोंसे उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न की जाय और बढाई जाय। इस ध्यानका फल यह है कि चित्तको अनेक विषयोंमेंसे हटाकर स्थिर किया जाय। इसलिये अनुप्रेक्षा लिख चुकनेपर भी इस ध्यानका स्वरूप लक्षण व भेद दिखाकर जुदा लिखा है।

---

१ लोकः संस्थानभेदाद्वा स्वभावाद्वा निवेदितः। तदाधारो जनो वापि मानभेदोऽपि वा क्वचित् ॥ लोकस्याधो मध्योर्ध्वभेदस्य संस्थानं सन्निवेशो लोकस्य ।नस्वभावस्य च लोकस्य संस्थानं प्रति द्रव्यस्याकृतिः, तदाधारस्य च जनस्य लोकस्य संस्थानं स्वोपात्तशरीरपरिमाणाकारो. मानभेदस्य च संख्याविशेषाकारः संस्थानम् तस्य निचयः संस्थानविचयः। इति श्लोकवार्तिकः।

शुक्लध्यानके भेद—

शुक्लं पृथक्त्वमाद्यं स्यादेकत्वं तु द्वितीयकम् । सूक्ष्मक्रियं तृतीयं तु तुर्यं व्युपरतक्रियम् ॥४४॥

अर्थ—अत्यन्त मन्द संज्वलनकषाय रह जानेपर जब जीव श्रेणीपर आरूढ होता है तबके जीवके परिणाम अत्यन्त एकाग्र होते हैं। उन परिणामोंकी एकाग्रताको शुक्लध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं। (१) पृथक्त्ववितर्क वीचार, (२) एकत्ववितर्क वीचार, (३) सूक्ष्मक्रिया—प्रतिपाती, [४] व्युपरतक्रियानिवर्ती।

पृथक्त्ववितर्कवीचारका स्वरूप—

द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यस्त्रिभिः। शान्तमोहस्ततो ह्येतत् पृथक्त्वमिति कीर्तितं ॥४५॥

अर्थ—द्रव्योंके जुदे जुदे भेदोंको तीनों योगद्वारा योगी इस ध्यानके समय चिंतता है इसलिये इसे पृथक्त्व नाम प्राप्त हुआ है। इस ध्यानका पात्र योगी तब होसकता है जब कि शांतमोह होगया हो। जब तक मोहकी अवस्था शांत नहीं हुई तबतक शुक्लध्यानमें प्रवेश नहीं होता है। यह पृथक्त्व विशेषण प्राप्त होनेका कारण हुआ।

वितर्कविशेषणका कारण—

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः। पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥४६॥

अर्थ—पृथक्त्वका स्वरूप ऊपर कहा है। श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। श्रुतज्ञानके बारह भेदोंमेंसे अंतिमभेदका नाम दृष्टिवाद है। उसके चौदह भेद कहे गये हैं। उन्हींको चौदह पूर्व कहते हैं। इसलिये चौदह पूर्वका जिसे ज्ञान हो उसे पूरा श्रुतज्ञानी कहसकते हैं। श्रुतज्ञानी योगी ही श्रुतज्ञानके आश्रयसे श्रेणीके प्रारम्भसे दशवें गुणस्थानके अंततक द्रव्यगुण पर्याय आदि नानाभेदरूप वस्तुओंका ध्यान करते हैं इसलिये इस शुक्लध्यानको सवितर्क कहा है।

यद्यपि श्रुतज्ञानी ही इसके अधिकारी होते हैं परन्तु शुक्लध्यानके आरम्भ करनेवाले सभी योगी पूर्णश्रुतज्ञानी नहीं हो सकते हैं। इसलिये श्रुतज्ञानकी यहांके योग्य जघन्य मर्यादा भी बतादी गई है। वह मर्यादा तीन गुप्ति और पांच समिति हैं। इसी मर्यादाको आठ प्रवचनमाताके नामसे भी कहा है।

तीसरा विशेषण—

अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो मतः। वीचारस्य हि सद्भावात् सवीचारमिदं भवेत् ॥४७॥

अर्थ–द्रव्यगुणपर्यायोंके समुदायको अर्थ कहते हैं। व्यंजन नाम शब्दका है। योग आत्मप्रदेशचंचलताको कहते हैं। ये तीनो बातें परिवर्तनस्वरूपसे यहां होती हैं । अर्थात् अर्थभी, जो कि ध्यानका विषयभूत होता है, वह बदलता रहता है। कभी द्रव्यस्वरूप ध्यानमें रहता है तो कभी पर्याय अथवा गुण रूप। योगी कभी द्रव्यका स्वरूप ध्याने लगता है और कभी उसे छोडकरके गुण या पर्यायको ध्याने लगता है। गुण या पर्यायको छोडकर फिर भी कभी द्रव्यका ध्यान करनेलगता है। इस प्रकार थोडे थोडे समयमें ध्येय विषयको यह योगी बदलता रहता है। अथवा, योंभी कहसकते हैं कि प्रथम ध्यानकी अवस्था शिथिल होनेसे उस ध्यानका एक विषय चिरकाल तक टिक नहीं पाता है। इसलिये विषयांतर हुआ करता है। जिस प्रकार एक ही विषय चिरकाल पर्यंत टिकता नहीं है उसी प्रकार श्रुतज्ञानके शब्द तथा योग भी बदलते रहते हैं।

जिस एक श्रुतवचनको लेकर प्रथम ध्यान करता है उसको थोडे ही समय बाद छोड कर एक दूसरा श्रुतवचनका आसरा लेलेता है। थोडेही समय बाद उसे भी छोडकर तीसरा श्रुतवचन धरलेता है । उसे भी छोडकर फिर कभी पहिले श्रुतवचनको ही धरलेता है। इस प्रकार श्रुतवचनोंमें परिवर्तन करता रहता है। योगपर कायम नहीं रहता।

काय योगको लेकर कभी तो ध्यान करता है और कभी उसे छोडकरके मनोयोगको अथवा वचनयोगको लेलेता है। फिर कभी काय योगपर आजाता है इस प्रकार योगोंका परिवर्तन सतत होता रहता है। इस ध्येयका, आगमके वचनोंका और योगोंका बराबर परिवर्तन इस प्रथम ध्यानमें होता रहता है । इस परिवर्तनका नाम वीचार रक्खा गया है। वीचार रहनेसे इस ध्यानको सवीचार कहते हैं। इस प्रकार इस ध्यानके नाममें जो तीन शब्द जोडेगये थे उनकी सार्थकता होती है। वे तीन शब्द पृथक्त्व, वितर्क और वीचार हैं नाम तो 'पृथक्त्ववितर्क' ऐसा ही है। परंतु आगेके ध्यानमें दृढता आजाती है इसलिये परिवर्तन होना बंद होजाता है, इस ध्यानमें उतनी दृढता न होनेसे परिवर्तन होता रहता है। यह शिथिलता वीचार-विशेषण लगानेसे ही जानी जाती है। अर्थात् यह प्रथम ध्यान भी सुदृढ नहीं होता, इसका विषय भी सुदृढ नहीं रहता और ध्यानका साधन भी सुदृढ नहीं रहता है । अर्थ-व्यंजन-योगोंका परिवर्तन होना बताकर उक्त तीनोंही बातोंमें शिथिलता बतादी गई है।

दूसरे ध्यानका स्वरूप—

द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च । ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—दूसरे ध्यानका नाम एकत्ववितर्क है। प्रथम ध्यानमें ध्येयका परिवर्तन होता था परंतु इस ध्यानमें वह परिवर्तन बंद होजाता है अथवा यों कहना चाहिये कि उसी प्रथम ध्यानकी शिथिलता घट जानेपर सुदृढता जब प्राप्त होजाती है तब परिवर्तन होना बंद पडजाता है उसी अवस्थाको दूसरा ध्यान कहते हैं।[1] ध्यानके विषयको यहां द्रव्य कहा है। वह द्रव्य एक ही बना रहता है। योग भी कोई एक ही बना रहता है। ऐसा ध्यान क्षीणमोह वीतरागी परम योगीको प्राप्त होता है। इस प्रकार विषयमें द्रव्य गुण पर्यायोंमेंसे एक मात्र द्रव्य रहजानेसे एकत्वरूप इस ध्यानको कहते हैं। अभी श्रुतज्ञान के वचनोंका आलंबन इस ध्यानमें भी लगा हुआ रहता है। इसी बातको आगे दिखाते हैं।

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः । एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥४९॥

अर्थ—द्वादशांगपूर्वपर्यंत श्रुतज्ञानका ज्ञाता इस एकत्व ध्यानका आरंभ करता है श्रुतज्ञानका नाम वितर्क है; इसलिये इस ध्यानको एकत्वसहित तथा सवितर्क अथवा वितर्कसहित कहते हैं।

दूसरे ध्यानमें वीचार है या नहीं?—

अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः[2] संक्रमो मतः । वीचारस्य ह्यसद्भावादवीचारमिदं भवेत् ॥५०॥

अर्थ—अर्थव्यजनयोगोंके संक्रमणको वीचार कहचुके हैं। वह वीचार इस ध्यानमें नहीं रहता है इसलिये इस दूसरे ध्यानको अवीचार कहते हैं प्रथम ध्यानको पृथक्त्ववितर्क कहा था और इसे एकत्ववितर्क कहते है अर्थात् वितर्क दोनोंमें ही रहता है। परंतु पृथक्त्व बदलकर यहां एकत्व प्राप्त होजाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि अर्थव्यंजनयोगोंके संक्रमणको जो वीचार कहते हैं वह वीचार प्रथम ध्यानमें रहनेसे ध्यानमें एकता नहीं कही जासकती है। प्रथम ध्यान जहांतक मानागया है वहां तक सचमुच वह एक ध्यान नहीं होता किंतु अनेकों ध्यान होते हैं तो भी लक्षण समान रहनेसे उन अनेकों ध्यानोंकी संतानको भी एक ध्यान कह देते हैं।

---

१ तीनो योगोंमेंसे कोई एक योगका रहना मानागया है। इसके लिये अन्यतर शब्द बोलागया हैं। परंतु यह कोई दोष, नहीं है। अन्यतर शब्दही स्वतत्र शब्द है। २ 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये' इति दीर्घत्वम्।

इस प्रकार प्रथम ध्यानमें एकता उपचार सिद्ध है। इसीलिये उसे एक संख्यामें गर्भित करते हुए भी ग्रन्थकार पृथक्त्व विशेषण द्वारा उसका अनेकपना द्योतित करते हैं। वीचार-विशेषणसे भी यही बात सिद्ध होती है। परन्तु वीचार-विशेषण ध्यानके कारणोंमें अनेकता दिखाता है और पृथक्त्व-विशेषण साक्षात् ध्यानमें अनेकता दिखाता है। इसीलिए ध्यानके नामके साथ पृथक्त्व-पद जोडा गया है और वीचार नहीं जोडा गया है परन्तु समर्थन करते समय वीचारको ही दिखाया है इसलिये मानना चाहिये कि प्रथम ध्यानमें पृथक्त्व है और वह वीचारके होनेसे होता है। वह वीचार न रहनेसे दूसरे ध्यानका नाम एकत्ववितर्क है। एकत्व कहनेसे ही वीचारका अभाव सिद्ध हो जाता है।

तीसरा शुक्ल ध्यान----

अवितर्कमवीचारं सूक्ष्मकायावलंबनम्। सूक्ष्मक्रियं भवेद् ध्यानं सर्वभावगतं हि तत् ॥५१॥

अर्थ—तीसरे ध्यानमें न वितर्कका आलंवन रहता है और न संक्रमण ही होता है। योगोंमेंसे भी एक कायमात्रका आलवन रह जाता है। वह भी अतिसूक्ष्म रहता है। इसलिये इस तीसरे ध्यानको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती अथवा सूक्ष्मक्रिय कहते हैं। सर्व भावोंको जाननेवाले केवली भगवानका यह ध्यान है इस लिये इस ध्यानको सर्वभावगत कहते हैं।

तीसरे ध्यानका समय व प्रयोजन—

काययोगेऽतिसूक्ष्मे तद्वर्तमानं हि केवली। शुक्लं ध्यायति संरोद्धुं काययोगं तथाविधम् ॥५२॥

अर्थ—योगनिरोधके समय अति सूक्ष्म हुए काययोगके सहारेसे केवली भगवान् तीसरे शुक्ल ध्यानका आरम्भ करते हैं उसका प्रयोजन योगनिरोध करना है। उस अंत्य समयमें दूसरे कोई योग तो रहते ही नहीं है। केवल काययोग रहता है वह भी अतिसूक्ष्म। उतने का ही निरोध इस तीसरे ध्यान द्वारा किया जाता है। उसका फल यह होता है केवली भगवान् सयोगसे अयोग बन जाते हैं। अयोग बने कि—

चौथा शुक्लध्यान—

अवितर्कमवीचारं ध्यानं व्युपरतक्रियं। परं निरुद्धयोगं हि तच्छैलेश्यमपश्चिमं ॥ ५३ ॥

१ स कथं ध्यानं इति चेत् ध्यानसंतानोपि ध्यानं इत्युपचर्यते। इति सर्वार्थसिद्धिः।

तत्पुना रुद्धयोगः सन् कुर्वन् कायत्रयासनम् । सर्वज्ञः परमं शुक्लं ध्यायत्यप्रातिपत्ति तत् ॥५४॥

अर्थ—व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान प्रगट होता है। चौदहमे गुणस्थानवर्ती भगवान् केवलीको यह ध्यान प्रगट होता है। इसमें योगनिरोध पूरा पूरा हो चुकता है। इसीलिये इसके स्वामीको शीलेशी अथवा शैलेश्य कहते हैं। आत्माके अठारह हजार शुद्ध शील-स्वभाव गिनाये हैं। वे सर्व स्वभाव इस अवस्थामें प्रगट होजाते हैं। क्रिया अर्थात् योगप्रवृत्ति पूरी बंद पडजानेसे इसध्यानको 'व्युपरतक्रिय' ऐसा कहते हैं। योगनिरोध पूरा होजानेसे तीनो विद्यमान शरीरोंका विश्लेष होने लगता है। वे तीन विद्यमान शरीर कोनसे हैं? औदारिक, तैजस, कार्मण। आत्मा जो शरीरोंको सहारा देता है उसीको योग कहते हैं। उसी सहारेके सामर्थ्यसे शरीरोंका पोषण होता रहता है—शरीरपोषक पुद्गल बाहिरसे आआकर शरीरोंमें मिलते रहते हैं और शरीरोंको पुष्ट करते रहते हैं। वह सहारा छूट जानेसे उक्त तीनों शरीर जीर्ण होने लगते हैं। यही शरीरोंका ह्रास करना है। योगक्रिया सर्वथा बंद पडजानेसे शरीरोंके ह्रास होने में अधिक विलंब नहीं लगता है। ठीक भी है आश्रय का अभाव होने पर आश्रयीके नष्ट होनेमें विलंब कैसे संभव होसकता है? इसीलिये पांच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने कालमें योगीके तीनो शरीर छूट जाते हैं। इसीलिये उसे अप्रतिपत्तिक कहा है। इस प्रकार योगी चौथे परम शुक्ल ध्यानको वितर्क—वीचार रहित ध्याता है। इससे अधिक विशुद्ध दूसरा कोई ध्यान नहीं है। इसी ध्यान से परम निर्जरा होती है।

निर्जराका वृद्धिकर्म—

सम्यग्दर्शनसपन्नः संयतासंयतस्ततः संयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धिप्रवियोजकः ॥५५॥
दृङ्मोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्ततः। उपशान्तकषायोऽतस्ततस्तु क्षपको मतः ॥५६॥
ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनैः। दशैते क्रमतः सन्त्यसंख्येयगुणनिर्जराः ॥५७॥

अर्थ—१ सम्यग्दर्शन युक्त चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव २ संयतासंयत, ३ संयत छट्टे गुणस्थानवाला, ४ चौथेसे

१ सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो। कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥ गो० जीव०। छाया—शीलेशित्वं संप्राप्तो निरुद्धनिःशेषास्रवो जीवः। कर्मरजोविप्रमुक्तो गतयोगो केवली भवति॥

सातवें गुणस्थान पर्यंत कहींपर भी अनंतानुबंधी कर्मका विसंयोजन करनेवाला जीव, ५ दर्शनमोहका क्षय करने वाला चौथेसे सातवे गुणस्थान पर्यंतका जीव, ६ उपशमश्रेणी चढनेवाला जीव, ७ उपशांतमोह ग्यारवें गुणस्थानवर्ती जीव, ८ क्षपक श्रेणी चढनेवाला जीव, ९ क्षीणमोह बारहवे गुणस्थानवाला जीव, १० घाति कर्मोंसे मुक्त हुए केवली भगवान्। इन दश स्थानोंमें उत्तरोत्तर असंख्यात असंख्यात गुणित निर्जरा होती है। अर्थात्, विद्यमान कर्मोंके अंश प्रत्येक स्थानोंमें क्रमसे असंख्यात २ गुणे अधिक अधिक नष्ट हो जाते हैं।

साधुओंके भेद—

पुलाको बकुशो द्वेधा कुशीलो द्विविधस्तथा। निर्ग्रन्थः स्नातकश्चैव निर्ग्रन्थाः पंच कीर्तिताः ५८

अर्थ—१ पुलाकनामा मुनि, २ दो प्रकारका बकुशनामा मुनि ३ दो प्रकारोंमें विभक्त हुआ कुशीलनामा मुनि, ४ निर्ग्रंथ तथा ५ स्नातक निर्ग्रंथ साधुओंके ये पांच भेद हैं।

१ जिनके उत्तर गुण तो हों ही नहीं, किंतु व्रत भी परिपूर्ण न हों उन्हें पुलाक कहते हैं। उत्तर गुणोंकी तरफ तो परिणाम ही नहीं हो पाता परंतु व्रतोंमें जो परिपूर्णता नहीं होती वह किसी किसी समयमें व किसी २ क्षेत्रमें समझनी चाहिये। सदा ही उनके व्रत अपरिपूर्ण रहते हों यह बात नहीं है। धानके ऊपरका जो तुष उसे पुलाक कहते हैं। उसके लगे रहनेसे जैसे चावलका स्वरूप प्रगट नहीं होता, उसी प्रकार साधुके चारित्र मोहकी ऐसी कोई मलिनता बनी रहती है कि उसके परिणाम वीतरागताकी तरफ कुछ झुकते है।

२ व्रतोंको तो जो कभी और किसी क्षेत्रमें भी नहीं बिगडने देते हैं परतु शरीरके संस्कारमें, ऋद्धि प्राप्त होनेकी अभिलाषामें, सुखकी इच्छामें, यश व विभूति बढानेमें मन आसक्त बना रहता है उन्हें बकुश कहते हैं बकुश-शब्दका शबल-अर्थ होता है। जो शरीरके संस्कारोंमें लगे रहते हैं उन्हें शरीर बकुश कहते हैं। उपकरणोंमें आशक्ति रखनेवालोंको उपकरण बकुश कहते हैं। ऐसे बकुशोंके दो भेद हो जाते हैं।

---

१ उत्तरगुणेष्वनपेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित्परिपूर्णतामप्राप्नुवन्तोऽविशुद्धपुलाकसादृश्यात् पुलाकव्यपदेश मर्हंति। २ अखण्डितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणा बकुशाः। शबलपर्यायवाची बकुशशब्दः।

३ शीलोंमें कुछ मलिनता रखनेवाले साधुको कुशील कहते हैं। उसके प्रतिसेवना कुशील व कषाय कुशील ऐसे दो भेद हैं। मूल गुण तथा उत्तरगुण-ये दोनों प्रकारके गुण तो जिसके परिपूर्ण ही रहते हों परंतु कदाचित् कथंचित् उत्तर गुणोंमें विराधना कर लेता हो उसे प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं। उदाहरणार्थ—स्नानत्यागी होकर भी वह साधु ग्रीष्म ऋतुमें कभी कभी जांघ पर्यंत जलसे प्रक्षालन कर डालता है। कषाय कुशील उसे कहते हैं जो कि अन्य कषायोंको वश कर चुका हो परन्तु संज्वलन कषायके वशीभूत बना हुआ हो। श्रेणी चढ जाने पर जो दशवें गुणस्थान तक साधु रहते हैं वे कषाय कुशील माने जाते हैं।

(४) जलकी रेखा जिस प्रकार जल्दी ही विलयको प्राप्त होजाती है उसी प्रकार जिन साधुओंको क्षणभर बाद ही केवल ज्ञान होनेवाला है, जिनके घातीकर्म नाशके सन्मुख होचले हैं उन्हें निर्ग्रंथ कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधुकी दशा वर्तमानमें कषायके उदयसे रहित होती है। इसलिये उसे भी निर्ग्रंथ कहते हैं। इस प्रकार दशवें गुणस्थानके बाद निर्ग्रंथ संज्ञा प्राप्त होजाती है। क्योंकि, बाह्य परिग्रह पहिलेसे ही छूट जाता है। रहा अंतरंग ग्रंथ क्रोधादि, वह दशवेंके ऊपर छूटजाता है। इसलिये अंतरंग परिग्रहके छूटते ही निर्ग्रंथ—यह विशेषण साक्षात् माननेमें आने लगता है। यों तो पांचो प्रकारके साधुओंको ग्रंथकारने निर्ग्रंथ ही कहा है। परन्तु इस निर्ग्रंथसे पूर्वके तीनों निर्ग्रंथ बाह्य ग्रंथके अभावकी मुख्यतासे ही निर्ग्रन्थ कहाते हैं।

(५) केवलज्ञान प्राप्त होजानेपर स्नातक नाम प्राप्त होता है। ज्ञानकी पूर्णता होजानेकी अपेक्षासे स्नातक—शब्दका प्रयोग होता है। स्नातकका शब्दार्थ भी ऐसा ही है।

इन पांच प्रकारके साधुओंमें यद्यपि अंतरंग विशुद्धिका अन्तर रहता है परन्तु सभी ये निर्ग्रंथ गुरुपदके धारी होते हैं। जैसे, चारित्र, अध्ययन आदि क्रियाओंका भेद होनेसे ब्राह्मणोंमें अंतर्भेद अनेकों होते हैं परंतु सभी को ब्राह्मण[3] तो कहा ही जाता है। उसी प्रकार इनपांचो प्रकारके साधुओंमें निर्ग्रंथ—शब्दका प्रयोग होसकता है। अथवा सम्यग्दर्शन और

१ कुशीला द्विविधा प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्। २ स्नातको वेदसमाप्तौ इति साधितं। ३ ब्राह्मणशब्दवत्। ४ दृष्टिरूपसामान्यात्। भग्नव्रतेऽपि प्रसंग इति चेन्न, रूपाभावात्। अन्यस्मिन् स्वरूपेऽतिप्रसंग इति चेन्न, दृष्ट्यभावात्। इति वार्तिका०।

निर्ग्रंथताका वेश सभीमें एकसा पाया जाता है इसलिये वे सभी निर्ग्रंथ कहाने चाहिये। कहीं सम्यग्दर्शन नहीं होता और कहींपर निर्ग्रंथ वेष नहीं होता। इसलिये दोनो विशेषणोंका समावेश देखकर पांचो प्रकारके साधुओंको निर्ग्रंथ कहनेमें कोई बाधा नही आती है।

साधुओंके परस्पर भेदका दूसरा हेतु—

संयमश्रुतलेश्याभिर्लिङ्गेन प्रतिसेवया। तीर्थस्थानोपपादैश्च विकल्प्यास्ते यथागमम् ॥ ५९ ॥

अर्थ-(१) संयम भेद (२) श्रुत भेद, (३) लेश्याभेद (४) लिङ्गभेद, (५) प्रतिसेवनाभेद, (६) तीर्थभेद, (७) स्थानभेद (८) उपापदभेद-ये आठ और भी ऐसे निमित्त हैं जिनसे कि साधुओंमें परस्पर भेद सिद्ध होजाता है। पुलाकादि जो पांच भेद किये हैं वे तो हैं ही। किंतु उन्हीके इन आठ निमित्तोंद्वारा उत्तर अनेकों भेद होजाते हैं। इनके द्वारा जैसे भेद संभव होते हैं वे आगममें बताये हैं। जैसे आगममें बताये हैं वैसे ही वे भेद समझने और करने चाहिये। जैसे—

(१) सयमकी अपेक्षा पुलाकादिकों को देखें तो किसीमें कोई संयम रहता है, किसीमें कोई, सर्व साधुओंमें एक ही कोई संयम नहीं रहना है। सामायिकादि पांच चारित्रोंको संयम कहते हैं। उन पाचोंमेंसे पहिले दोसंयम सामायिक व छेदोपस्थापन पुलाकमें मिलेंगे, बकुशमें मिलेंगे और प्रतिसेवना कुशीलमें मिलेंगे। कषायकुशीलोंमें यथाख्यात छोडकर चारोही संयम मिलसकते हैं। स्नातक व निर्ग्रंथ यथाख्यात एक संयमके ही धारी होते हैं।

(२) श्रुतज्ञान पुलाक बकुश प्रतिसेवना कुशीलोंमें यदि उत्कृष्ट हो तो अभिन्नाक्षर दशपूर्व पर्यंत होसकता है। कषायकुशील व निर्ग्रंथ उत्कृष्टतासे चौदह पूर्वतक अर्थात् द्वादशांगके पूरे धारी होसकते हैं। जघन्यतासे पुलाकको आचारवस्तु पर्यंतका ज्ञान होता है। बकुश कुशील निर्ग्रंथोंको जघन्य श्रुतज्ञान हो तो तीन गुप्ति व पांच समिति-इन आठ प्रवचन माताओंका ज्ञानमात्र होता है। स्नातकोंमें श्रुतज्ञानकी कल्पना ही छूट जाती है।

(३) लेश्या—पुलाकमें तो आगेकी तीन रहती हैं। बकुशमें और प्रतिसेवना कुशीलमें छहो लेश्या संभवती हैं। कषायकुशील यदि परिहार विशुद्धिवाला हो तो अंतकी चार लेश्या संभवती हैं। यदि सूक्ष्मसांपरायवाला कषाय कुशील हो तो एक शुक्ललेश्या ही रहती है। निर्ग्रंथ तथा स्नातक शुक्ललेश्यावाले ही होते हैं। अयोगी स्नातकोंमें एकभी लेश्या नहीं रहती है।

(४) चौथा साधन लिंग है। लिंग दो प्रकारसे कहा जा सकता है। एक द्रव्यलिंग, दूसरा भावलिंग। भावलिंगसे तो पांचो प्रकारके साधु निर्ग्रंथलिंगी ही होते हैं। द्रव्यलिंगकी अपेक्षा परस्परमें भेद रहता है।

(५) प्रतिसेवनाका अर्थ कषायके अधीन होकर मूलोत्तर गुणोंमें विराधना करते रहना है। पुलाक साधु, पांच मूल-गुण और छट्ठा रात्रिभोजन त्याग नामाव्रत,—इन छहोंमेंसे एकाद व्रतमें कभी २ पराधीन होकर दोष लगा लेता है। वकुश दो प्रकारका होता है, १ उपकरण वकुश, २ शरीर वकुश। उपकरणोंमें जिसका चित्त आसक्त रहता हो, वहुमूल्यादि विशेषतायुक्त उपकरणोंकी इच्छा रखनेवाला, उपकरणोंके संस्कार करनेमें लगा रहता हो वह उपकरण वकुश कहाता है। शरीरको संस्कारयुक्त वनाता रहै वह शरीरवकुश है। इन दोनोंसे कषायके कार्य होते हैं जिससे कि उत्तर गुणोंमें विराधना होती है। प्रति सेवनाकुशील मूलगुणोंको संभालता है। परंतु उत्तरगुणोंमेंसे किसी २ गुणको विराधता रहता है। इसलिये प्रतिसेवना कुशीलको भी प्रतिसेवना प्राप्त हो जाती है। कषाय कुशील तथा निर्ग्रन्थ, स्नातक प्रतिसेवना नहीं करते हैं।

(६) जिस २ तीर्थंकरके वारेमें जो २ मुनि होते हैं वे वे उस तीर्थवाले कहाते हैं।

(७) स्थानका अर्थ कषाय स्थान है। कषायोंके निमित्तसे जो संयम भेद होते हैं वे भी स्थान ही हैं। पुलाक और कषाय कुशील सुरूमें सवसे हीन संयमस्थानोंमें रहता है। कषायकुशीलके वे स्थान छूटकर ऊपरके अधिक विशुद्ध भी हो जाते हैं। वहां पर पुलाक नहीं पहुंच पाता है। उन स्थानोमें कुशील, प्रतिसेवनाकुशील तथा बकुश साथ रह सकते हैं। कुछ ऊपर जाने पर बकुश छूट जाता है। उसके ऊपर और भी चलने पर प्रतिसेवना कुशील छूट जाता है। अर्थात्, उन उच्च संयमस्थानोंमें कषायकुशील ही रहता है। उससे भी असंख्यातों स्थान ऊंचे जांय तो वहां कषायकुशील भी नहीं रहता है। इसके ऊपर फिर कषायरहित स्थान हैं। उनमें निर्ग्रंथ रहता है। वह भी असंख्यातों भेदवाले असंख्यातों संयम स्थानों तक ऊपर चढकर समाप्त हो जाता है। इसके एकही स्थान ऊपर स्नातकका संयम स्थान होता है।

(८) मरकर स्वर्गमें जन्म लेनेके स्थानोंको यहां उपपाद कहते हैं उपपाद निरनिराले साधुओंके निरनिराले हैं। पुलाक सहस्रार बारहवें स्वर्गके उत्कृष्टस्थितिवाले देवोंमें उपजता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील पद्रहवें—सोलहवें आरण-अच्युत स्वर्गोंमेंबाईस सागरकी स्थिति रखते हुए देव होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रंथ तेतीस सागरके आयुवाले अनुत्तरविमानवासी देव

होते हैं। यह उत्कृष्ट उपपादकी मर्यादा है। जघन्य देखें तो दो सागरकी स्थिति रखते हुए सौधर्म स्वर्गमें ऊपर कहे हुए चारो ही प्रकारके साधु देव हो सकते हैं। स्नातकका स्वर्गमें उपपाद न होकर निर्वाण ही होता है। इन आठ अनुयोगों द्वारा साधुओंका परस्परका अंतर बहुत जाना जाता है।

उपसंहार—

इति यो निर्जरातत्त्वं श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते। शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार जो साधु शेष छह तत्त्वोंके साथ २ निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है, जानता है और उससे उपेक्षित होकर मध्यस्थरूप वीतराग चारित्रधारी होता है वही निर्वाणका भागी होता है।

इसप्रकार निर्जरातत्त्ववाला सातवां अधिकार समाप्त हुआ ॥ ७ ॥



आठवां अधिकार।

मोक्षतत्त्व निरूपण—

मंगल और अधिकार प्रतिज्ञा—

अनंतकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्। प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना मोक्षतत्त्वं प्ररूप्यते ॥१॥

अर्थ—अनंतानंत केवलज्ञानरूप ज्योतिके द्वारा तीनो जगतको प्रकाशित करनेवाले जिन भगवान्को मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हू और मोक्षतत्त्वका स्वरूप कहता हूं।

मोक्षका साक्षात्कारण और लक्षण—

अभावाद् बन्धहेतूनां बन्धनिर्जरया तथा। कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते ॥२॥

अर्थ—आस्रव, मिथ्यात्व, कषायादि बंधहेतुओंका अभाव होजानेसे और बंधनको प्राप्त हुए कर्मोंकी निर्जरा होनेसे संपूर्ण कर्मोंका नाश हो जाना है वही मोक्ष माना जाता है।

कर्मबंधना कब छूटता है? इसका उत्तर—

बध्नाति कर्म सद्वेद्यं सयोगः केवली विदुः। योगाभावादयोगस्य कर्मबन्धो न विद्यते ॥३॥

अर्थ—और जीव तो कर्मोंका सतत बंध करते ही है परन्तु सयोग केवली भगवान भी योगके रहनेसे एक सातावेदनीय कर्म का बंध करते हैं। उपयोगका अभाव हो जानेसे अयोग केवलीके कर्म बंधनका पूरा अभाव हो जाता है।

संवरपूर्वकनिर्जराकी सिद्धि—

ततो निर्जीर्णनिःशेषपूर्वसंचितकर्मणः। आत्मनः स्वात्मसंप्राप्तिर्मोक्षः सद्योऽवसीयते ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्रकार नवीन कर्मबंधन होना बंद होजानेपर पूर्वसंचित कर्मोंकी भी निःशेष निर्जरा शीघ्र ही होजाती है। इसलिये स्वस्वरूपकी शुद्ध पूर्ण प्राप्ति होनेमें अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होनेमें कोई विलंब नहीं लगता है। वह स्वरूप प्राप्त होजाना ही जीवका मोक्ष है। वह मोक्ष संवरपूर्वक निःशेष निर्जरा करनेवालेको शीघ्र ही प्राप्त होजाता है।

अब मोक्षावस्थामें कर्मके अतिरिक्त और क्या नहीं रहता है? इसका उत्तर कहते हैं—

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात्। मोक्षः सिद्धत्वसम्यक्त्वज्ञानदर्शनशालिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—कर्मोंकी भांत और कर्मोंके कार्यभूत शरीरादिकोंकी भांत औपशमिकादि भावोंका तथा भव्यत्व भावका भी क्षय होजाने पर मोक्ष प्रगट होता है। उस मोक्ष अवस्थामें सिद्धत्व, सम्यग्दर्शन केवलज्ञान तथा केवल दर्शन—ये सर्वथा शुद्ध स्वभाव शेप रहजाते हैं। यदि कुछ भी शेप न रहै तो मोक्षके समय आत्माकी सत्ता किस प्रकार सिद्ध होसकेगी? आत्माका यदि नाश ही होना मानलिया जाय तो मोक्षप्राप्तिका प्रयत्न करना निरर्थक होजाता है इसलिये विकारीभावोंके नाश होनेपर भी ज्ञानादि शुद्ध भावोंका वहांपर सद्भाव मानना पडता है।

अनादि कर्मके नष्ट होनेमें युक्ति—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मवन्धनसंततेः। अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तवीजवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस वस्तुका कोई उत्पत्तिका आद्य समय नहीं होता उसको अनादि कहते हैं। जो भाव अनादि होता है उसका अन्त भी कभी नहीं होता। यदि अनादिका अन्त होजाय तो सत्का विनाश होना मानना पडेगा। परन्तु सत्का विनाश होना सिद्धांतसे भी विरुद्ध है और युक्तिसे भी विरुद्ध है। सिद्धांतमें द्रव्यमात्रको नित्य कहा है। अकारणक कार्योत्पत्ति न होना यहांपर युक्ति है। यदि अकारणक कार्योत्पत्ति होसकती हो तो अंकुरोत्पत्तिके लिये बीजकी अपेक्षा किसीको भी नहो।

इस न्यायके आधारपर इस प्रकरणमें यह शंका होती है कि अनादि कर्मवन्धन संततिका भी नाश कैसे होसकता है? अर्थात् कर्मवंधनका कोई आद्य समय नियत नहीं है इसलिये कर्मवन्धन अनादि है। जब कि वह अनादि है तो उसका अन्त भी न होना चाहिये। जैसा अनादिसे चला आरहा है वैसा ही अनन्त कालतक जीवके साथ सदा वना रहना चाहिये। इसका फल यह होगा कि जीव मुक्त कभी न होसकेगा।

इस शंकाके दो रूप होजाते हैं। एक तो यह कि जीवसे कर्मका संबंध कभी छूटना न चाहिये। दूसरा यह कि कर्मत्व रूप जिन पुद्गलोंमें हैं उनमें कर्मत्व ही सदा बना रहना चाहिये। क्योंकि, कर्मत्व एक जाति है। वह सामान्य होनेसे ध्रुव

होनी चाहिये। फिर चाहे उसके पर्याय कितने ही बदलते रहें परन्तु वे सर्व पर्याय कर्मरूप रहेंगे। जैनसिद्धान्तमें भी जो द्रव्य जिसस्वभावका होता है वह उसी स्वभावका सदा बना रहता है। जीव अपने चैतन्य स्वभावको कभी छोडता नहीं है। पुद्गल रूप रसादि स्वभाव को कभी छोडता नहीं है। जब दूसरे द्रव्य अपने अपने स्वभावोंको छोडते नहीं है तो कर्मद्रव्य अपने कर्मत्व स्वभावको कैसे छोड सकता है?

उत्तर—कर्मका संबंध यद्यपि अनादि है परंतु वह अनादि संबंध किसी एकेक कर्मका ही नहीं है किंतु एकेक कर्म कुछ अवधि पर्यंतही रहता हैं। एकेक कर्मकी उत्पत्तिका भी कोई न कोई समय रहता है और छूटनेका भी समय नियत रहता है। परंतु कोई न कोई कर्म जीवके साथ बना अवश्य रहता है। संसारी जीवोंमें ऐसी अवस्था अनादिसे होरही है। कर्मोंका संबंध होना किसी नियत कालसे ठहरा हुआ नहीं है। इसीसे संबंधको अनादि कहना पडता है। इस कहनेसे यह सिद्ध होता है कि कोई एककर्म अनादि कालसे जीवके साथ लगा हो-यह बात नहीं है। इसलिये एकेक संबंधकी जब कि अवधि है तो जिस प्रकार उत्पत्तिकी अवधि होसकती है उसी प्रकार उसके नाशकी भी अवधि होसकती है। उस एक अंतिम कर्मका नाश होते समय यदि नवीन कर्मका बंधन न होने दिया तो कर्मका संबंध निर्मूल नष्ट होसकता है। इसलिये यह तात्पर्य सिद्ध हुआ कि जुदी जुदी चीजोंका संबंध अनादि कालसे हो तो भी वह नष्ट होसकता है।

इसकेलिये उदाहरण भी मिलते हैं। बीजवृक्षका संबंध अनादि कालका मानना पडता है। कोई भी बीज विना अपने पूर्वके वृक्षके नहीं पैदा होसकता है। बीजका उपादान करण पूर्ववृक्षको भी कहसकते हैं और पूर्व बीजको भी कह सकते हैं। इस प्रकार का उपादान प्रत्येक बीजके पूर्वमें कोई न कोई मानना ही पडेगा। जब कि प्रत्येक बीजका कोई न कोई उपादान होता ही है तो बीजवृक्षकी अथवा बीज बीजकी सतति अनादि होजाती है। संतति अनादि होनेपर भी उस सततिके अंतिम बीजको यदि पीस कूट कर अथवा जला गला कर नष्ट करदिया जाय तो आगे के लिये वह संतति नष्ट होजाती है।

इसी प्रकार नाशके प्रयोगोंद्वारा पूर्वार्जित कर्मोंमेंसे अंतिम रहे हुए कर्मका नाश करदिया जाय तो फिर संतति निःशेष नष्ट होसकती है। पूर्वार्जितके नाशका और नवीनकी उत्पत्ति न होने देनेका उपाय पहिले संवरनिर्जराके प्रकरणमें लिख चुके हैं। कर्मका संबंध जीवसे छूट नहीं सकता है-ऐसी जो शंका थी वह इस उत्तरसे दूरहो जाती है।

शंकाका दूसरा अर्थ ऐसा था कि जो कर्मरूप पदार्थ है वह अकर्मरूप कैसे होसकता है ? इसका उत्तर यह है कि कर्म कोई द्रव्य नहीं है। जिस द्रव्यमें कर्मत्व प्राप्त होता है उस द्रव्यका नाम पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल द्रव्यमें जिस प्रकार निमित्त-वशात् शरीरादिक तथा माटी पत्थर आदि कार्यरूप अवस्थाएं होती रहती हैं और अवधि समाप्त होने पर विनशती रहती हैं उसी प्रकार निमित्तवशात् कुछ पुद्गलोंमें जीवके साथ बंधन होनेपर जीवको परतंत्र बनानेका सामर्थ्य प्रगट होता रहता है। वह सामर्थ्य जबतक जिस पुद्गलमें रहता है तबतक उस पुद्गलको कर्म कहते हैं। इसलिये कर्म पुद्गलमेंसे उत्पन्न होने-वाला पुद्गलद्रव्यका एक पर्याय है। उसकी अवधि नष्ट होते ही कर्मत्व अवस्था बदलकर उस पुद्गलकी कोई दूसरी अवस्था होसकती है। अथवा किसी पुद्गलद्रव्यका एक कर्मपर्याय नष्ट होनेपर दूसरा जो पर्याय हो वह भी कर्मरूप होसकता है। परन्तु कोई नियम इस बातका नहीं होसकता है कि जो कर्म एक बार है वह दूसरे बार भी कर्म ही होना चाहिये अथवा दूसरे बार अकर्मरूप ही होजाना चाहिये। जैसे निमित्त मिलते हैं वैसा पर्याय होता है। एक किसी द्रव्यको यदि उत्त-रोत्तर कालमें एकसे निमित्त मिलते रहैं तो उसके पर्याय एकसे होते रहेंगे। यदि निमित्त बदलते रहेंगे तो पर्याय उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न भांतके होंगे। जैसे किसी माटीमें घट बननेके निमित्त मिलजानेपर एकवार घट बनजाता है फिर भी यदि निमित्त मिलजाय तो पहिला पर्याय नष्ट होनेपर फिर भी घट बनसकता है। यदि फिर घट बननेका निमित्त न मिले तो जैसा दूसरा निमित्त मिले वैसा दूसरा पर्याय होजाता है। इसीप्रकार कर्मत्व पर्यायकी बात है। यदि कर्मरूप कोई निराला द्रव्य होता तो उसका अकर्मरूप होना असंभव होजाता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, इसलिये कोई भी कर्म जीवसे चाहे जब छूट सकता है और छूटकर वह कर्म अकर्मरूप भी बनसकता है।

इसकेलिये भी उदाहरण बीजका ही होसकता है। चाहें जो बीज अपनी अवधि पूर्ण होनेपर नष्ट होते हुए यदि फिर भी बीज बननेके ही निमित्तोंको मिला ले तो वे ही बीजके अंश फिर भी बीज बनसकते हैं। यदि उन्हे दूसरे समय कोई दूसरा निमित्त मिले तो वे दूसरा पर्याय बनासकते हैं। यदि उसी बीजसंततिमें उन्हें उत्पन्न होनेके योग्य निमित्त मिल जांय तो उसी संततिमें वे अंश फिर भी बीजावस्था धारण कर सक्ते हैं। यदि उसी जातिकी दूसरी बीजसंततिमें उत्पन्न होने योग्य निमित्त मिल जाय तो उसी जातिकी दूसरी बीजसंततिमें भी वे अंश दूसरी जातिकी बीजावस्था धार सकते हैं। यदि बीजकी दूसरी किसी जातिवाली संततिमें भी उत्पन्न होने योग्य उन्हें अनुकूल निमित्त न मिलें तो वे अबीजाव-

स्थाको भी धारण करलेते है। इसी प्रकार जो पुद्गल कर्मरूप अवस्थामें प्राप्त हुआ है उसकी भी यही दशा है। वह पुद्गल उसी जीवके कर्मसंतानमें भी निमित्त मिलनेपर कर्मरूप होसकता है, दूसरे जीवके कर्मसंतानमें भी कर्मरूप जाकर होसकता है। यदि किसी जीवके भी कर्मसंतानमें उत्पन्न होनेयोग्य निमित्त न मिलें तो अकर्मरूप भी वह होसकता है।

इस प्रकार कोई पुद्गल किसी जीवमेंसे कर्मरूप अवस्थाको छोडकर अकर्मरूप घटपटादि अवस्था धारण कर सकता है। परंतु उस हालतमें भी इधर वह जीव उतने पुद्गलके अकर्मरूप हो जानेसे कर्ममात्रसे छूट नहीं जाता है। जैसे एक कर्मरूप पुद्गल कर्मरूपको छोडकर अकर्मरूप बन जाता है वैसे ही अन्य अकर्मरूप पुद्गल निमित्त मिलने पर कर्मरूप होते रहते हैं। इसलिये जीवकी परतंत्रता, एकेक पुद्गल अकर्मरूप होते हुए भी दूसरे पुद्गलों द्वारा, कायम बनी रहती है। अर्थात्, संसारमें यह शृंखला जारी ही रहती है कि एक पुद्गल कर्मरूप होकर छूट जाता है और दूसरा वही अथवा दूसरा अकर्मरूपसे कर्मरूप बन जाता है। एक कर्मका छूटना दूसरे का बंधना यह प्रक्रिया सभी जीवोंमें जारी रहती है। न कर्म सदा कर्म ही रहते हैं और न जीव सदा किसी एक कर्मसे बद्ध ही रहता है एवं, न सर्व कर्म कभी छूट पाते हैं और न जीव कभी सर्वथा मुक्त ही हो पाता है। यह साधारण संसारी जीवमात्रकी दशा है।

इसकेलिये भी उदाहरण बीजका ही हो सकता है। जो पुद्गल एक बार किसी बीजरूप परिणत होते हैं वे सदा ही बीजरूप नहीं रहते हैं। इधर बीजमें भी जो जनन शक्ति रहती है वह किसी एक ही पुद्गलके अवयवसे सदा संबंध नहीं करती है। पुद्गल कुछ छूटते रहते हैं और कुछ आते रहते हैं। परंतु वह शक्ति सदा ही किसी न किसी पुद्गलके सहारेसे बद्ध बनी रहती है। यह सर्व सामान्य बीजकी शृंखलाओंका स्वरूप है।

इस प्रकार दृष्टांतमें भी और दार्ष्टांतमें भी अनादिकालीन शृखला अनंतकाल पर्यंत चलती ही रहती है—ऐसा देखने में आता है परंतु शृंखलाओंका ऐसा नियम नहीं हो सकता है कि अनादिकालीन होनेसे वे अनंतकाल पर्यंत रहनी ही चाहिये। क्योंकि, बलवत्तर ध्वंस कारणके मिलजाने पर जिस प्रकार बीजकी शृंखला सर्वथा नष्ट होती हुई दीख पडती है उसी प्रकार चाहें जो शृंखला नष्ट हो सकती है। शृंखला संयोगज होती हैं और संयोगका कभी न कभी वियोग हो सकता है। वह वियोग जब तक अंशतः होता रहता है तब तक शृंखला जारी रहती हैं। जब वह अवयव वियोगपूर्ण हो जाता है तब शृंखला विस्खलित हो जाती है। पूर्ण अवयववियोग होनेके लिये बलवत्तर ध्वंसकारणकी अपेक्षा होती है।

बलवत्तर कारण सर्वदा सुगमतासे प्राप्त नहीं होते इसलिये शृंखलाएं भी सुगमतासे पूर्ण नहीं हो पाती हैं। यही देखकर साधारण बुद्धिवाले लोग उसकी अनादिता देखकर शंका भी करने लगते हैं। परन्तु बलवत्तर कारण चाहें कदाचित् ही प्राप्त हो सकते हों किंतु हो सकते अवश्य हैं जब वे बलवत्तर ध्वंसके कारण उपस्थित हो जाते हैं तब किसी बीजकी शृंखला जिस प्रकार निर्मूल उच्छिन्न हो जाती है उसी प्रकार किसी विरले जीवकी संसार शृंखला भी निर्मूल नष्ट हो जाती है। न तो विकारी शृंखलाओंमें अनंतता का नियम हो सकता है और न विकारी पर्यायोंमें अनंतताका नियम हो सकता है। इसलिये जीव के कर्म बंधनका संबंध भी छूट सकता है और उन कर्मोंके कर्मत्व पर्याय भी नष्ट हो सकते हैं।

कर्मके नाशसे संसारका नाश कैसे हो सकता है?

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥८॥

अर्थ—बीज पूरा जल जानेपर जैसे अंकुर उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कर्मबीज जल जानेपर संसाररूप अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता है। जब कारणका ही नाश हो गया तो कार्य किस प्रकार हो सकता है? भवकी उत्पत्तिका कारण कर्म है। उस कर्मका नाश होने पर भवकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? मनुष्यादि योनियोंमें मरना उत्पन्न होना इसका नाम भव है। इस भवका कर्मबन्धनके साथ कार्यकारण भाव संबंध है। जीवकी स्वाभाविक दशा कुछ और रहती है और कर्मके सहभावसे कुछ और प्रकारकी होती है। उसके विकारका कारण कर्म है। इसलिये कर्मके अभावमें भी जीवका परिणमन होना तो बंद नहीं पड सकता है परन्तु विकार मात्रका अभाव हो जाता है। स्वाभाविक दशाका स्वरूप ज्ञानदर्शनसुखसत्तामय है। विकारी दशाका स्वरूप रागद्वेषादि भाव और शरीर हैं। कर्म विकारका कारण है इस-लिये कर्मके नष्ट होते ही रागद्वेषादि भाव और शरीर नहीं रहते हैं रागद्वेषादि तथा शरीरादि नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान-दर्शन स्वाभाविक होनेके कारण बने रहते हैं और पूर्ण विकाशको प्राप्त हो जाते हैं, जैसे आर्द्रेन्धन संयोग होनेसे धुआं होता है और थोडा सा धुंधला प्रकाश भी होता है परंतु आर्द्रेन्धन हट जानेपर तो वह पूरा और शुद्ध होता ही है परन्तु धुआं होना बंद हो जाता है। इसलिये आर्द्रेन्धन संयोग धुआंमात्रका कारण माना जाता है। उसे उपाधि भी इसीलिये कहते हैं कि वह स्वाभाविक स्वयं भी नहीं होता और स्वाभाविकपना कार्यमें भी नहीं रहने देता है। इसीप्रकार कर्म उपाधि है। उपाधिके हटनेसे वस्तुका स्वाभाविकपना नष्ट नहीं होता किंतु शुद्ध और पूर्णरूपसे प्रगट हो जाता है। इसलिये कर्मोपाधिके

हटनेसे रागद्वेषादि तथा शरीर उत्पन्न होना बंद हो जाता है न कि जीवकी स्वाभाविक दशा । इस प्रकार मोक्षावस्थाका स्वरूप शून्यरूप न होकर उलटी अधिक जाज्वल्यमान दशा है।

आत्मबंधनसिद्धिका दृष्टान्त—

अन्यवस्था न बन्धस्य गवादीनामिवात्मनः ।

अर्थ—यदि कोई आक्षेप करे कि आत्माका बंधन सिद्ध नहीं होता तो उसके लिये यह उत्तर है कि बंधनके विना परतन्त्रता नहीं होती है । जैसे गाय भैंस आदि पशु जब तक बंधनमें नहीं पडते तब तक वे परतन्त्र नहीं होते। बंधनमें पडने पर ही वे परतन्त्र होते हैं—जहांके तहां खडे रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी शरीरके परतन्त्र होनेसे बंधनबद्ध होना चाहिये। इसलिये आत्माका बंधन मानना असिद्ध अथवा अयुक्त नहीं है। शरीरमें आत्माका रहना परतन्त्रताका सूचक है। परतन्त्रता उसे कहते हैं जो कि अनिष्ट होने पर भी करना पडे । दुःखके कारणभूत शरीरमें रुकना जीवके लिये अनिष्ट है तो भी उसे शरीरमें रुकना पडता है। इसलिये शरीरमें रुककर रहना आत्माकी परतंत्रता है । जो दुःखका कारण होता है उसे अनिष्ट कहते हैं शरीर दुःखोंका कारण है इसलिये अनिष्ट है। जैसे कारागृह दुःखका कारण होनेसे ही अनिष्ट माना जाता है। इसलिये उसमें परतन्त्रताके विना कोन रुककर रहेगा। शरीर भी विविध बाधाओंका कारण होनेसे दुःखका कारण माना गया है। इसलिये उसमें रुककर वही रहेगा जो परतंत्र हो । इस प्रकार संसारी आत्माका बंधन होना मानना पडता है।

मुक्तहोनेपर भी बंध होनेकी आशंकाका परिहार—

कार्यकारणविच्छेदाद् मिथ्यात्वादिपरिक्षये ॥ ८ ॥
जानतः पश्यतश्चोर्ध्वं जगत् कारुण्ययोगतः। तस्य बन्धप्रसंगो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शनादि भावोंका अभाव होनेसे जो कर्मका कार्यकारण सम्बन्ध था वह भी छूटजाता है। जानना देखना कर्मबन्धनका कारण नहीं होता किन्तु उन पर अनित्य अशुचि वस्तुओंमें रागद्वेषरूप आत्मीयपनेकी भावना तथा नित्य—शुचिपनेकी भावना करना बन्धका कारण होता है । ऐसी मिथ्याभावना करानेके कारणभूत ज्ञानदर्शनको मिथ्याज्ञान

मिथ्यादर्शन कहते हैं । जगके चराचर वस्तुओंको जानना देखना मिथ्याभावना छूटजानेपर भी होता है । क्योंकि, ज्ञान दर्शन जीवके स्वाभाविक धर्म हैं, असाधारण लक्षणधर्म हैं । स्वाभाविक असाधारण लक्षणधर्मका किसी वस्तुमें भी नाश नहीं होता है । यदि स्वाभाविक असाधारण लक्षणधर्मोंका नाश होजाय तो वस्तुका ही नाश होजाय । इसलिये जानना देखना मिथ्यावासनाओंके अभावमें भी होना ही चाहिये । बन्धके कार्यकारणभावका अभाव मिथ्यावासनाओंके अभावके साथ ही होजाता है। कर्मागमनके कारणोंका अभाव होजानेसे फिर देखते जानते हुये भी आत्मा कर्मोंसे बद्ध नहीं होपाता ।

देखने जाननेके और रागद्वेष होनेके कारण जुदे जुदे हैं । देखने जाननेका कारण जीवका स्वभाव ही है । रागद्वेषके कारण मिथ्यावासना है । मिथ्यावासना स्वभाव नहीं है । इसलिये मिथ्यावासनाके होते हुए रागद्वेष व कर्मबन्ध उत्तरोत्तर होते रहते हैं । स्वभाव बन्धके कारण नहीं होते हैं । इसलिये देखने जाननेका कार्य जारी रहते हुए भी मिथ्यावासनाओं का अभाव होजानेपर बंध नहीं होता । स्वाभाविक भाव कभी नष्ट नहीं होसकते हैं इसलिये मुक्त अवस्थामें भी ज्ञानदर्शन रहने ही चाहिये । कहीं कहींपर योगी जगत्के ऊपर करुणा उत्पन्न होनेके कारण भी जगत्को देखते हैं जानते हैं और उपदेश देते हैं परन्तु उसमें आसक्ति उत्पन्न न होनेके कारण कर्मोंसे बद्ध नहीं होते । इसीलिये किसी किसी विद्वान्ने करुणाको भी जीवका स्वभाव सिद्ध किया है । भगवज्जिनसेन स्वामी परमात्माकी स्तुति करते हुए परमात्माको जगत्पर करुणा करनेवाला[1] कहते हैं । भावार्थ इतना ही है कि करुणा होनेसे भी यदि रागद्वेष न हों तो बन्ध नहीं होता ।

बंध स्वाभाविक धर्म नहीं है—

अकस्माच्च न बन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गतः । बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥१०॥

अर्थ—सदा ही बंध होना चाहिये । मुक्त आत्मा कोई निराले प्रकारका नहीं होसकता है । जीवोंका स्वरूप जैसा कुछ दीख पडता है वैसा ही है और सदा वैसाहीं रहना चाहिये । ऐसी कल्पना कुछ लोग करते हैं । परंतु जबतक बंधको आत्माका स्वाभाविक धर्म न माना जाय तबतक यह कल्पना नहीं होसकती है । परंतु बंध होना स्वाभाविक धर्म नहीं है ।

बंध यदि स्वाभाविक धर्म हो तो जीवोंमें परस्पर अंतर न दीखना चाहिये । भिन्न कारणोंके विना एक जातिके पदार्थोंमें कभी विरोध नहीं होसकता है । परंतु जीवोंमें परस्पर अंतर देखनेमें आता है । इसलिये अंतरका कारण कोई

१ ' जगत्कारुण्यको मन्ता ' ऐसी स्तुति है ।

भिन्न वस्तु होना चाहिये। जो भिन्न वस्तुसे होगा वह सदा एकसा रहै—यह नियम नहीं है। जो सदा एकसा नहीं रहता उसका होना न होना पराधीन मानना पडता है। वह पराधीनता जिसके अधीन हो वही उस पराधीनताका और बंधका कारण होसकता है। इसलिये मानना चाहिये कि बंध स्वाभाविक धर्म भी नहीं है और अकस्मात् भी नहीं है। किंतु कारण-परत्वेन होता है। कारण न होनेपर नहीं होता। उस कारण भाव का एक देश अभाव रहनेपर एकदेश बंधोंका सद्भाव और एक देश अभाव होता रहता है, किंतु जब कारणका पूरा अभाव होजाता है तब कर्मबंधनसे मुक्ति भी पूर्ण होजाती है। बंधका एकदेश अभाव होना ईषन्मुक्ति है और पूर्ण अभाव होना पूर्ण मुक्ति है। बंधका होना अकस्मात् अर्थात् निर्हेतुक मानलिया जाय तो ईषन्मुक्ति भी कभी न हो और पूर्ण मुक्ति भी कभी न हो। अथवा मुक्ति के बादभी बंध होजाना चाहिये। परंतु मुक्तिके बाद बंधन होना असंभव और दृष्टान्तशून्य है।

सुवर्णपाषाणके दृष्टांतको जब हम देखते हैं तो कहना पडता है कि बन्धनका ध्वंस हो जाने पर फिर बन्ध नहीं हो सकता है। एक बार शुद्ध हुआ सुवर्ण विरुद्ध वस्तुओंका कितना ही संबन्ध रहते हुए फिर अशुद्ध नहीं होता। जो विजातीय वस्तु हैं उन सबका यही हाल है। या तो आकाशकी भांत अशुद्ध पहिलेसे ही नहीं होते। यदि पहिलेसे हों तो छूटनेपर सुवर्णकी भांत फिर अशुद्ध नहीं होते। जीवकी भी ईषन्मुक्ति तो अनुभव गोचर ही होती रहती है किन्तु पूर्ण मुक्ति ईषन्मुक्तिके द्वारा ही होती रहती है। जहां किसी बातका तारतम्य दीख पडता हो वहां मानना चाहिये कि कारणवशात् वह तारतम्य है। नहीं तो, वस्तुका पूर्णरूप क्यों तो छूटे और क्यों नयारूप उत्पन्न हो? इस प्रकार जहां कारणाधीनता परिवर्तन होनेमें सिद्ध हुई कि वहां उस कारणका निःशेष अभाव होने पर पूर्ण मुक्ति भी अनायास ही सिद्ध हो जाती है। इसलिये मानना चाहिये कि न मुक्ति होना ही असभव है कि और न मुक्तिके बाद बंध होना ही संभव है। जो इस प्रकार न मानकर बंधको अकस्मात् मानते हैं वे न्याय और दृष्टान्तके विरुद्ध चलते हैं। न्यायका सिद्धान्त यह नहीं है कि विजातीयका विजातीयके साथ बंध निष्कारण हो अथवा तारतम्य निष्कारण हो। जो तारतम्यके कारण हैं वे आकाशादिकी भांत सदा योगी नहीं हो सकते हैं नहीं तो तारतम्य होना ही असंभव हो जाय। जिसके कारण शाश्वतिक होते हैं वह कार्य भी शाश्वतिक होना चाहिये। परंतु तारतम्य शाश्वातिक नहीं हो सकता है। शाश्वतिकता और तारतम्य शीतोष्णताकी भांत परस्पर विरोधी हैं। तारतम्यके कारण क्षणभंगुर हैं। अब यह देखना चाहिये कि जिसके

कारण क्षणिक हों वह कार्य शाश्वतिक कैसे हो सकता है। बंध और उदय तारतम्यके साथ ही होता है इसलिये बंध निष्कारण और शाश्वतिक चीज नहीं है अतएव बंधके हेतुओंका अभाव होने पर पूर्वबंधकी समाप्ति होते मोक्ष होना ही चाहिये।

पातोपि स्थानबन्धत्वात्तस्य नास्रवतत्त्ववत्: । आस्रवाद् यानपात्रस्य प्रपातोऽधो ध्रुवं भवेत् ॥११॥

अर्थ—यदि यहां यह कहा जाय कि आत्मा मुक्त होने पर स्थानवाला होता है और जो स्थानवाला होता है वह अवश्य ही किसी एकस्थान में स्थिर न रह कर गिरता पडता वा विचलित होता रहता है इसलिये आत्मा भी ऊर्ध्वलोक में स्थिर न रह कर नीचे गिरना वा स्थानसे स्थानांतरित होना चाहिये, तो इसका यह उत्तर है कि–पदार्थों के स्थानांतरित होने में स्थानवत्व कोई कारण नहीं है किंतु आस्रवत्वकारण है। जिसप्रकार नाव में जब जल आकर भर जाता है तो वह डूब जाती है उसीप्रकार आत्मा में जब कर्मास्रव होता रहता है तब संसार में डूबता वा स्थान बदलता रहता है और जब मुक्ति अवस्थामें वह कर्मास्रवसे रहित हो जाता है तो स्थानांतरित नहीं होता।

यदि स्थानवत्वकोही स्थानांतरित होनेमें कारण माना जायगा तो ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो स्थानवाला न हो क्योंकि जितने भी पदार्थ हैं वे कहीं न कहीं अवश्य रहते हैं और रहते हैं इसीलिये वे हैं तो सर्वपदार्थ ही स्थानांतरित होते रहने चाहिये पर ऐसा काल आदि द्रव्यों को देखने से मिथ्या ठहरता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि मुक्त आत्मा कर्मास्रव से सर्वथा रहित है इसलिये अपने स्थान से विचलित नहीं होता।

आत्मा नीचे न पडनेका हेतु—

तथापि गौरवाभावान्न पातोस्य प्रसज्यते। वृन्तसंबन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ॥ १२ ॥

अर्थ–पुद्गल गुरुलघुगुणके कारण बन्धन छूटते ही नीचेकी तरफ गिरजाते हैं। जैसे, डंठलका सम्बन्ध वृक्षसे छूटते ही आमका फल नीचे गिरजाता है। इसी प्रकार आत्मा भी बन्धन छूटते ही नीचे गिरना चाहिये। परन्तु आत्मामें गुरुत्वगुण नहीं है इसलिये कर्म बंधनसे छूटनेपर वह नीचे नहीं गिरता है।

गुरुत्व गुणका होना न होना ही किसी चीजके नीचे गिरने न गिरनेका कारण होता है। अथवा गुरुत्व गुण दो प्रकारसे कहा जासकता है; १ एक तो अधोगुरुत्व, २ दूसरा ऊर्ध्वगुरुत्व। पुद्गलमें अधोगुरुत्वगुण है अधोगुरु होनेसे वह नीचे की तरफ जाता है। जीव में ऊर्ध्व गुरुत्व गुण है इसलिये कर्म बन्धन छूटते ही जीवको ऊपरकी तरफ जाना पडता है।

जीव मनुष्य पर्यायसे ही सिद्ध होते हैं। मनुष्योंका रहना अढाई द्वीपके ही भीतर है। इसलिये संसारसे जो कोई जीव मुक्त होता है वह अढाई द्वीपके भीतरसे ही होगा। मुक्त होनेपर जीव ऊर्ध्वगमन करता है—यह बात आगे कहनेवाले हैं। इस अढाई द्वीपमेंसे जो मुक्तोंका गमन होता है उसमें मोडे नहीं होते किन्तु सीधा होता है। इसीलिये यहांसे अंतपर्यंत गमन करनेमें उन्हे एक ही समय लगता है यह बात कहचुके हैं। जिस प्रकार यहांसे उनके निकलनेका क्षेत्र अढाई द्वीप-मात्र है उसी प्रकार ऊपर पहुंचकर जहां ठहरते हैं वह भी अढाई द्वीपके बराबर ही चौडा और लंबा है। क्योंकि, जो मोडा न लेकर सीधे जायंगे वे निकलनेके स्थानसे अधिक लंबे चौडे स्थानमें पसर नही सकते हैं। स्थान उतना होकर भी मुक्त जीवोंकी संख्या आज पर्यंत अनन्तों होचुकी है। यहां शंका यह है कि थोडेसे क्षेत्रमें अधिक जीव किस प्रकार रहसकते हैं?

अधिक जीवोंका थोडेसे क्षेत्रमें रहनेकी युक्ति—

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रमज्यते। परस्परापरोधोपि नावगाहनशक्तितः ॥ १३ ॥

अर्थ—चरमशरीरी जीवकी अवगाहना छोटीसे छोटी साढे तीन हाथकी होती है। बडीसे बडी सवा पांच सौ धनुष ऊंची होती है। जीव मुक्त होने पर चाहें छोटी अवगाहना वाला हो और चाहें बडी अवगाहना वाला, परंतु प्रत्येक की अवगाहनाके भीतर आकाशके असंख्यातों प्रदेश आ जाते हैं। सिद्ध स्थान अढाई द्वीप सम होनेसे उस स्थानके भीतर क्रमसे जुदे २ यदि सिद्ध रहें तो बहुत ही थोडे आ सकेंगे। परन्तु सिद्ध जीवोंकी आजतक संख्या अनंत है। वे सर्व इसलिये वहां समा जाते हैं कि जहां एक सिद्ध जीव होता है वहीं पर दूसरे तीसरे आदि अनंतों आ जाते हैं। जो जिस सीधमें आता है वह वहां पर रह जाता है। इस प्रकार आज पर्यंत एक एक स्थानमें अनंतों २ सिद्ध एकत्रित हो चुके हैं। थोडेसे क्षेत्र में अधिक जीवोंका आ जाना युक्तिबाधित इसलिये नहीं होता कि आकाशमें चाहें जिसको अवकाश देने-की शक्ति सदा विद्यमान रहती है। जहां पर एक चीज कोई भी समाजाने पर दूसरी चीज प्रवेश नहीं कर सकती है वहां परभी आकाशके अवकाशदानरूप सामर्थ्यमें कोई हीनता नहीं होती। किंतु वे चीजें ही एक दूसरेसे टकराती हैं और प्रवेश नहीं होने देती। यदि वहां प्रवेश हो जाय तो आकाश उन्हें निकाल नहीं देगा। इसलिये आकाशकी अवकाशदान-शक्ति सदा ही अव्याहत बनी रहती है और परस्पर में जो चीजें एक दूसरेको रोकती हैं वे स्थूल हों तभी रोकती हैं, नहीं तो नहीं। अब इसका दृष्टांत कहते हैं—

नानादीपप्रकाशेषु मूर्तिमत्स्वपि दृश्यते । न विरोधः प्रदेशेऽल्पे हन्ताऽमूर्तेषु किं पुनः ॥१४॥

अर्थ—मूर्तिमान् पदार्थ भी ऐसे बहुतसे हैं जो कि थोडेसे आकाशमें बहुतसे समा जाते हैं । इसका दृष्टान्त दीपका प्रकाश है। जितने आकाश-क्षेत्रमें एक दीपका प्रकाश पसर कर रह जाता है उतने ही क्षेत्रके भीतर दूसरे तीसरे आदि दीपकोंके प्रकाश भी समा जाते हैं। जब कि यह बात सूक्ष्म मूर्तिमान् पदार्थोंमें ही दीख पडती है तो फिर अमूर्तिक अनेकों जीव एकत्र आ जांय तो क्या हानि है ?

भावार्थ, एक दूसरेको अवरोध करनेकी शक्ति स्थूल मूर्तिमान् पदार्थमें ही रह सकती है । सूक्ष्म मूर्तिमान् पदार्थमें वह शक्ति दबी रहती है और अमूर्तिकमें वह शक्ति रहती ही नहीं है। आत्मा अमूर्तिक द्रव्य है इसलिये वे एकैक क्षेत्र में अनंतों रह सकते हैं और रहते हैं।

यदि जीव द्रव्य अमूर्तिक हैं तो निराकार होनेसे उसका सद्भाव भी सिद्ध कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर—

आकारभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते । अनन्तरपरित्यक्तशरीराकारधारिणः ॥१५॥

अर्थ—जीव अमूर्तिक अवश्य है। परन्तु जो अमूर्तिक होता है उसका भी आकार अवश्य होता है। जिस शरीरको छोड कर जीव मुक्त होता है उसी शरीरके बराबर जीवका मुक्तावस्थामें आकार रहता है । इसलिये जब कि जीवका आकार है तो अभाव कैसे कहा जा सकता है ? यह नियम तो अवश्य है कि जिसका कोई आकार न हो वह कोई चीज नहीं हो सकती है। इसीलिये जो वस्तु है उसका आकार अवश्य होता है।

आकारके अर्थ दो होते हैं, एक तो लंबाई-चौडाई-मोटाई, दूसरा मूर्तिकता। मूर्तिकता तो सबोंमें नहीं होती । परंतु लंबाई चौडाई मोटाईकी अपेक्षासे सभी आकारवान् हैं। यदि मूर्तिकता अर्थ माना जाय तो पुद्गल आकारवान् है और बाकी सर्व निराकार हैं। जहां सद्भावसे आकारका संबंध माना जाता हैं वहां लंबाई चौडाई मोटाई ही आकारका अर्थ होता है।

आत्माकी शरीराकारता—

शरीरानुविधायित्वे तत्तद्भावाद्विसर्पणम् । लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः ॥ १६ ॥

अर्थ—शरीर जीवके आकारको अपने अपने बराबर बनाया करते हैं। जब जो शरीर जीवको प्राप्त होता है तब वह

पहिले शरीराकारको मिटाकर अपने बराबर करलेता है। अनादिकालसे यही हालत जीवकी होरही है। कुछकुछ समयके बाद नये नये शरीर जैसे प्राप्त होते हैं वैसे ही जीवको उन शरीरोंके पराधीन होना पडता है।

जीवके साथ जिस प्रकार शरीरका सम्बन्ध होना संभव है उसी प्रकार शरीरके भीतर प्रवेशकरके रहना भी संभव है। शरीरका सम्बन्ध होना जो मानते हैं उन्हें शरीरके भीतर प्रवेश करना भी मानना ही पडता है। यह प्रवेश जीवके कुछ थोडेसे हिस्सेका नहीं होकर पूरा ही प्रवेश हुआ मानना चाहिये। यदि थोडासा प्रवेश हुआ माना जाय तो शेष अंश मुक्त कहना पडेगा। ऐसी अवस्थामें जीव कुछ मुक्त और कुछ अमुक्त कहना पडेगा। परन्तु एक ही समयमें ये दोनो बातें होना असम्भव हैं। इसलिये जीव यद्यपि वास्तविक देखा जाय तो लोकाकाशके तुल्य विस्तीर्ण होने योग्य है। कभी कभी उतना विस्तीर्ण भी होजाता है। परन्तु शरीरके सम्बन्धको छोडकर कभी कहीं जा भी नहीं सकता है और रह भी नहीं सकता है। कर्मबन्धकी अथवा शरीरसम्बन्धकी यह सब महिमा है।

जब यह जीव इन कर्मबन्धनोंसे और सम्बन्धसे छूटकर मुक्त होता है तब जिस अंतिम शरीरको छोडकर यह जुदा होता है उसी शरीरके आकारको रखता है। फिर उस आकारमें कभी फेर फार नहीं होता बंधनवश जो फेर फार होता था उस फेर फारको अब कौन करे? निष्कारण कोई भी कार्य नहीं होसकता है। संकोच व विस्तार पराधीनतावश होता था और इसलिये वह संकोच–विस्तारका होना विकार रूप कार्य था। विकारके हटते ही वह कार्य होना भी अतएव बन्द पडजाता है।

शरीराकार होनेका दृष्टांत—

शरावचन्द्र(?)शालादि द्रव्यावष्टम्भयोगतः। अल्पो महांश्च दीपस्य प्रकाशो जायते यथा॥१७॥

अर्थ—सरवा, घट, मकान—इत्यादि जैसे आवरण करनेवाले छोटे बडे द्रव्यका सम्बन्ध होता है दीपक वैसा ही अपने प्रकाशको संकुचित तथा विस्तृत बनाकर रहने लगता है। जब जिसके भीतर वह दीपक रहता है उस समय उस द्रव्यके बाहिर अपना प्रकाश नहीं ले जासकता किंतु उसीके भीतर समाकर रहता है। अपने प्रकाशको भी उसीके भीतर रखता है यदि आवरण करनेवाले द्रव्यके बाहिर दीपकका प्रकाश चला जाय तो उसका आवरण ही क्यों कहाजाय?

इस दृष्टान्तका उपसंहार—

संहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः। तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे॥ १८॥

अर्थ—जिस प्रकार आवरणवश दीपकके प्रकाशका संकोच [illegible] विस्तार होता है उसी प्रकार कर्म व शरीरके वन्धनसे पराधीन हुआ जीव तदनुसार संकोचको तथा विस्तारको प्राप्त होता रहता है। पराधीनताके कारण जब नहीं रहते हैं तब न संकोच होता है न विस्तार होता है।

अब रही यह बात कि जिस प्रकार आवरण द्रव्यका अभाव होनेपर दीपकका प्रकाश अंतिम आवरणकी मर्यादासे अधिक पसरजाता है उसी प्रकार शरीरादिबन्धनोंका अभाव होनेपर आत्मा लोकाकाशके बराबर अपने सर्व प्रदेशोंका विस्तार क्यों नहीं करता है?

इसका उत्तर एक तो यह है कि दृष्टांतके सर्व गुणधर्मोंकी दार्ष्टांतमें तुलना नहीं होती है। यदि सर्व गुणधर्म दोनोंके एकसे ही हों तो एकको दृष्टांत और दूसरेको दार्ष्टांत कौन कहै? दूसरा इसीसे मिलता हुआ उत्तर यह भी है कि दीपकके प्रकाशका पसरनेका स्वभाव तो स्वयं है और संकोच होना पराधीन है। इसीलिये आवरणोंके वश वह रुकता है और आवरण हटने पर पसर जाता है। आत्मामें यह बात नहीं है। आत्मामें न संकोच होनेका ही धर्म स्वभावरूप है और न पसरना ही स्वभाव है। इसका पसरना और संकुचित होना—ये दोनो बातें पराधीन हैं।

दीपकसे इसके स्वभावमें इतना अन्तर होनेका कारण मूर्तिकता व अमूर्तिकता होसकता है। दूसरा यह भी कारण होसकता है कि दीपकके और प्रकाशके प्रदेश तो भिन्न भिन्न हैं। शब्दसे शब्दांतर उत्पन्न होनेकी भांत प्रकाशसे प्रकाशांतर उत्पन्न होता हुआ कुछ दूरतक पसरता है। वह उत्पत्ति आवरणके होते हुए मर्यादित क्षेत्रमें होती है और आवरण न हो तो जहांतक होसके वहां तक होती है। आत्मामें यह बात नहीं है आत्मामें जो कुछ पसरना है या संकुचित होना है वह उसीके प्रदेशोंका है। इसलिये जब संकोचक निमित्त मिलते हैं तब उसका संकोच होता है और जब विस्तारके निमित्त मिलते हैं तब उसका विस्तार होता है।

संकोच और विस्तार परस्परमें विरोधी स्वभाव हैं। विरोधी स्वभाव एक वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकते हैं। विरोधी [illegible] प्रगट करनेका कारण केवल वह पदार्थ नहीं हो सकता जिसमें कि वे विरोधी धर्म रहते हों। किंतु उनके प्रगट करनेका कारण परवस्तु हुआ करता है जिसे कि उपाधि कह सकते हैं। जिस प्रकार कि जलमें शीतलता और उष्णता [illegible] कारण सूर्य परिभ्रमणके द्वारा होनेवाले ऋतु आदि होते हैं इसीलिये शीतोष्णताका होना उपाधिके अधीन

है। इसी प्रकार आत्मामें संकोच विस्तारका होना उपाधिके अधीन है। जो बातें उपाधिजन्य होती हैं उनमेंसे उपाधि हटने पर एक भी बात नहीं होती।

ऐसे उपाधिजन्य परस्पर विरोधी अनेक कार्योंमेंसे कहीं पर तो एक कोई धर्म वस्तुमें रहता है और शेष उपाधि मिलने पर होते हैं नहीं तो नहीं। जैसे जलकी उष्णता उपाधिजन्य है और शीतता मूलका ही धर्म है। अथवा प्रकाश-का विस्तार होना मूलसे ही है और संकोच होना पराश्रित है। एवं कहीं २ पर ऐसे दो धर्मोंमेंसे एक भी मूल वस्तुका नहीं होता। जैसे, स्फटिकमें हरे पीले लाल आदि जो कुछ रंग दीख पडते हैं वे सभी उपाधिजन्य होते हैं। अथवा दर्पण में जितने प्रकारकी छाया पडती हैं वे सब उपाधिजन्य होती हैं। एक भी प्रतिबिंब स्वाभाविक नहीं होता। इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्मोंके ये दो प्रकार हैं कि कोई तो ऐसे कि उनमें से एक मूल का, बाकी उपाधि जन्य और कोई ऐसे कि अनेकोंमेंसे सभी उपाधिजन्य। आत्माके जो संकोचविस्तार धर्म हैं वे भी सभी उपाधिजन्य हैं। उन दोनोंमेंसे मूलका एक भी धर्म नहीं है। इसीलिये इसके लिये जो दीपका प्रकाश दृष्टान्त बताया है वह एकदेशी दृष्टांत समझना चाहिये।

शरीर संबंध छूटने पर आत्माका संकोच विस्तार न होनेके विषयमें गीले कपडेका दृष्टान्त भी दिया जाता है। गीलेकपडेको कोई संकोचना चाहें तो संकुचित भी हो जाता है और विस्तारना चाहै तो विस्तर भी जाता है। परन्तु जितने विस्तार या संकोच की दशामें उसे छोड दिया जाय उससे अधिक अपने आप न संकोच ही होता है और न विस्तार ही होता है। उसी प्रकार आत्मा शरीरसंबंधों द्वारा संकुचित भी होता है और विस्तृत भी होता है। परंतु शरीर सम्बन्ध छूटने पर वह न अधिक संकुचित ही होता है और न विस्तृत ही होता है।

शंका—जिस प्रकार बंधन छूटने पर न विस्तार होता है न संकोच होता है उसी प्रकार क्या गमन भी नहीं होता?

उत्तर—

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात्। अवस्थानं न मुक्तानामूर्ध्वव्रज्यात्मकत्वतः ॥१९॥

अर्थ—जड पदार्थ कुछ ऐसे होते हैं कि सांकल रस्सी आदिके बंधन जो पहिले थे वे छूट जाने पर पदार्थ ज्योंके त्यों पडे रहते हैं। परन्तु यह बात जीवोंमें नहीं है। जीव प्रत्येक बातमें पुद्गलसे प्राय उलटे स्वभाववाला है। पुद्गल निष्क्रिय है तो जीव सक्रिय है। पुद्गल मूर्तिक है तो जीव अमूर्तिक हैं। पुद्गल जड है तो जीव चेतन है। पुद्गलके तिरछे

व ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी हैं परतु एकेक पर्यायगत वे सर्व स्वभाव हैं। यथार्थमें गुरुत्व धर्मके होनेसे पुद्गलका अधोगमन स्वभाव है। ठीक उससे उलटा जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। पुद्गल के वायु अग्नि आदि पर्यायोंमें संबंधविशेषसे इधर उधर भी गमन होता है परतु वह उपाधिजन्य है। उसी प्रकार जीवके संसार अवस्थामें जो गमन होते हैं वे भी उपाधिजन्य होते हैं। जीवमें उपाधि कर्म होता है और पुद्गलमें आपसके ही दूसरे पुद्गल बंधनकी विचित्रता करके उपाधि रूप बन जाते हैं।

कर्मक्षयका क्रम—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्तस्यात्मनो भृशम्। निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसंततौ ॥२०॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः। संसारबीजं कात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥२१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रके सामर्थ्यसे आत्मा आस्रवको रोकता है जिससे कि नवीन आनेवाली कर्मसंतति रुकजाती है। नवीन कर्मोंका आना रुका कि आत्मा पूर्वार्जित कर्मोंका भी क्षय करना सुरू करता है। कर्मक्षपणाके हेतु जो पहिले कह चुके हैं वे ही हैं। उन हेतुओं द्वारा सबसे प्रथम मोहनीय कर्मका क्षय होता है। मोहनीय कर्म ही सब कर्मोंका और संसारका असली कारण है। उसका यहांपर संपूर्ण क्षय करना पडता है। जबतक इसका समूल नाश न हो तबतक दूसरे कर्मोंकी जड कटना असंभव है।

मोहक्षयके बाद किन कर्मोंका क्षय होता है?—

ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्। प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥२२॥

अर्थ—मोहक्षय हुआ कि बादमें एकसाथ अन्तराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण—ये तीन घाती कर्म समूल नष्ट होजाते हैं। मोहका क्षय होनेपर शेष कर्म टिक ही नहीं सकते हैं।

दृष्टात—

गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा बालो विनश्यति। तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥२३॥

अर्थ—जिस प्रकार गर्भसूची नष्ट होते ही गर्भगत बालक मरजाता है उसी प्रकार मोहकर्म हटते ही कर्म नष्ट होने

लगते हैं। गर्भसूची विगडनेपर जिस प्रकार बालक थोडी देरतक भी जी नहीं सकता उसी प्रकार मोहनष्ट होनेपर कर्मोंमें टिकनेकी शक्ति नहीं रहती है इस प्रकार यहांतक घाती चारो कर्मोंका नाश होजाता है।

स्नातक अवस्थाकी प्राप्ति—

ततः क्षीणचतुष्कर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्। बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ॥२४॥

अर्थ—चारो घातीकर्म नष्ट होते ही अथाख्यात अथवा यथाख्यात संयमकी प्राप्ति होती है। बीजके समान बंधनका निर्मूल नाश होनेसे बन्धनरहित हुए योगी स्नातक कहाने लगते हैं। उसी समय परम ऐश्वर्यके प्रगट होनेसे वे परमेश्वर कहाने लगते हैं।

परमैश्वर्यके चिन्ह—

शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥२५॥

चारो—घाती कर्मोंका नाश हो जानेसे वे योगी सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं। बुद्ध कहाने लगते हैं। सर्व आधि व्याधियोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् अठारह दोषोंसे रहित हो जाते हैं इसलिये निर्दोष कहाने लगते हैं। एवं सर्वज्ञाता सर्वदृष्टा केवली जिन इत्यादि परमेश्वरताके सूचक अनंतों गुण प्रगट होते हैं। इतने गुण प्रगट होनेपर भी अघाति कर्मोंके फलानुसार शरीरसहित रहना पडता है। इसीको जीवन्मुक्त अवस्था कहते है।

निर्वाणप्राप्ति—

कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति।

अर्थ—शेष रहे हुए अघाती कर्मोंका जब नाश पूरा हो जाता है तब बादमें जीव शरीर छोडकर निर्वाणको प्राप्त होता है।

दृष्टान्त—

यथा दग्धेन्धनो वन्हिर्निरुपादानसंततिः ॥२६॥

अर्थ—जैसे, संगृहीत ईंधनको जलाकर अग्नि शांत हो जाता है। जब ज्वाला बढनेका उपादान कारण ईंधन रहेगा ही नहीं तो ज्वाला उठेगी और भडकेगी कहांसे? इसी प्रकार बंधनका, भडकानेका या उद्विग्न करनेका कारण कर्म है। वह जब नष्ट हो चुका तब जीवका निर्वाण होना ही समय प्राप्त है।

निर्वाण होने पर ऊर्ध्वगमन—

तदनन्तरमेवोर्ध्वमा लोकान्तात् स गच्छति । पूर्वप्रयोगासंगत्वाद्बन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥२७॥

अर्थ—निर्वाण होते ही जीव ऊपरकी तरफ लोकाकाशके अंत पर्यंत गमनकर चला जाता है। इस गमनके हेतु चार हैं, (१) पूर्वप्रयोग, (२) असंगता, (३) बंधनच्छेद, (४) ऊर्ध्वगमन स्वभाव, अथवा ऊर्ध्वगौरव धर्म।

पूर्वप्रयोगहेतुका सदृष्टांत स्वरूप—

कुलालचक्रं दोलायामिषौ चापि यथेष्यते । पूर्वप्रयोगात्कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥२८॥

अर्थ—कुलाल चक्रको एक बार फिरा देता है बादमें लकडी हटालेने पर भी पूर्वप्रयोग वश वह चक्र फिरता है। अथवा बाण छोडते समय एक बार छोडनेकी क्रिया करनी पडती है, बादमें वेग ऐसा उत्पन्न होता है कि वह बाण विना ही प्रेरणाके आगे चलता चला जाता है। इसी प्रकार जीवने मुक्तिके लिये जो बहुतसा निरंतर संयमधारणरूप प्रयत्न किया था उसी पूर्वप्रयोगके वश शरीर छूटनेपर भी सिद्ध स्थानकी तरफ गति होती है।

असंगतारूप हेतुका सदृष्टान्त स्वरूप—

मृल्लेपसंगनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाऽप्स्वऽलाबुनः । कर्मबन्धविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥२९॥

अर्थ—बंधन छूटना-यह असंगताका अर्थ है। बंधन छूटनेसे बहुतसी चीजें नीचे से ऊपरकी तरफ आया करती हैं। जैसे, माटीका लेप लगी हुई तूंबडी ऊपर आ जाती है। इसी प्रकार कर्म बंधन छूटने पर सिद्ध जीवोंकी ऊर्ध्वगति होती है।

बंधनच्छेद हेतुका सदृष्टान्त स्वरूप—

एरण्डस्फुटदेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः । कर्मबन्धनविच्छेदाज्जीवस्यापि तथेष्यते ॥३०॥

अर्थ—अंडीका बोंड सूखकर जब फूटता है तब अंडीके बीज उसमेंसे उछल कर ऊपर जाते हैं। यह जिस प्रकार दृष्टांत है उसी प्रकार बंधनच्छेद होनेपर जीव भी ऊर्ध्वकी तरफ गमन करता है। इसलिये विशिष्ट बंधनच्छेद ऊर्ध्वगति करानेवाला मानना चाहिये।

ऊर्ध्वगौरव हेतुका सदृष्टान्त स्वरूप—

यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः । स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनः ॥३१॥

अर्थ—पदार्थोंके स्वभाव तर्कणीय नहीं हो सकते हैं। जो जिसका स्वभाव जैसा दीख पडता है उसका वह वैसा ही स्वभाव मानना चाहिये। जिस प्रकार माटी पत्थर आदिकोंका स्वभाव है कि उन्हें कोई रोकनेवाला न हो तो वे नीचेकी तरफ गिरते हैं एव, वायुका स्वभाव तिरछा चलनेका है। अग्निका स्वरूप ऊर्ध्वगामी है। उसी प्रकार जीव मुक्त होने पर ऊपर जाता है इसलिये ऊर्ध्वगति जीवका स्वभाव मानना चाहिये।

अग्निका ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी वह वायुके झकोरोंसे तिरछा चलने लगता। अनेक वायु परस्पर टकराते हैं उस समय वायुका भी ठीक तिरछा गमन नहीं रहता है पत्थरको ऊपरकी तरफ फेका जाय तो ऊपरकी तरफ भी वह चला जाता है। ये सर्व प्रकारके गमन स्वाभाविक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनकी प्रवृत्ति परनिमित्तोंसे होती है। जो इनकी परनिमित्त न रहने पर गति होती है वह एकेक प्रकारकी ही होती है और वही गति स्वाभाविक समझनी चाहिये। इसी प्रकार कर्माधीन जीवकी भी जो गति होती है वह सर्व औपाधिक समझनी चाहिये।

जीव पुद्गलोंके गतिभेदका हेतु—

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः । अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥३२॥

अर्थ—कुछ लोग गुरुत्व-शब्दका अर्थ ऐसा करते हैं कि जो नीचेकी तरफ चीजको गिराता है वह गुरुत्व धर्म है। परंतु हम इसका अर्थ करते हैं कि जो किसी भी तरफ किसी चीजको ले जाय वह गुरुत्व है। वह चाहे नीचेकी तरफ ले जानेवाला हो अथवा ऊपरकी तरफ। नीचेकी तरफ ले जानेका सामर्थ्य तथा ऊपरकी तरफ ले जानेका सामर्थ्य इत्यादि उसी गुरुत्वके उत्तर भेद हो सकते हैं। इसलिये गुरुत्वका जो सामान्यार्थ हमने किया है वह ठीक है। इन उत्तर भेदोंमेंसे पुद्गल अधोगुरुत्व-धर्मवाले होते हैं और जीव ऊर्ध्वगुरुत्ववाले होते हैं। पुद्गलद्रव्यमात्रका यदि गुरुत्व धर्म देखना हो तो अधोगुरुत्व ही है। तिर्यग्गुरुत्व आदि जो वायु आदिकोंमें दीख पडता है वह भी पर्याय विशेषोंका धर्म है। इसलिये पुद्गलका अर्थ यहां पर लोष्टपाषाणादि करनेसे वायु आदिकोंमेंसे दोष परिहार हो सकता है। अतः मानना चाहिये कि जिनेन्द्र भगवानने जो गुरुत्वके उत्तर भेद किये हैं वे ठीक हैं।

जीवकी नाना गतियोंका हेतु—

अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते। कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ॥३३॥

अर्थ—ऊर्ध्वगमन जीवका स्वभाव होनेसे जो गति इस शुद्ध ऊर्ध्वगतिसे विकृत दीख पडती है सर्व कर्मकी प्रेरणासे और कर्मके आघातसे होनेवाली समझनी चाहिये।

शंका—ऊर्ध्वगतिके अतिरिक्त जो अधोगति अथवा तिर्यग्गति हैं ये तो कर्मजन्य हो सकती हैं क्योंकि वे शुद्धगतिसे विरुद्ध हैं। परन्तु जो स्वर्गादिगामी संसारी जीवोंका ऊर्ध्वगमन होता है उसे विकृत गमन समझना चाहिये या शुद्ध?

उत्तर—शुद्ध उसे कहते हैं जो कि पर निमित्तके विना ही हो और एकरूप ही सदा परिणमती हो। संसारी जीव-की गति चाहे तिरछी हो चाहें ऊर्ध्व परंतु वह सभी कर्मजन्य होती है। इसलिये संसारी जीवकी ऊर्ध्वगतिको भी विकृत गति ही कहना चाहिये।

उपसंहार—

अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः। ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम् ॥३४॥

अर्थ—जीवोंकी कर्मजन्य गति तीनों प्रकारसे हो सकती है, अधोगति भी हो सकती है और तिर्यक् तथा ऊर्ध्वगति भी हो सकती है। परंतु जो कर्मोंका नाश कर चुके हैं उन जीवोंकी ऊर्ध्वगति ही होती है और वही स्वाभाविक है।

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीचयः। समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात् ॥३५॥

अर्थ—जिस प्रकार द्रव्य कर्मोंकी उत्पत्ति होनेके साथ २ ही प्रदेशपरिस्पन्दादिरूप अशुद्धताके कार्य सुरू हो जाते हैं उसी प्रकार कर्म बंधन पूरा नष्ट होते ही जीवका संसारवास नष्ट होता है और मोक्षस्थानकी तरफ गमन सुरू हो जाता है।

अर्थात् शुद्ध गमनका कारण भवक्षय होना है और अशुद्ध प्रवृत्तिका कारण कर्मका सहवास है। सूक्ष्मतासे विचार किया जाय तो कारण कार्यका एक ही समय होता है। इसीलिये जीवका जब भव क्षीण होता है उसी समय ऊर्ध्वगमन कार्य सुरू हो जाता है।

उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह। युगपद्भवतो यद्वत् तद्वन्निर्वाणकर्मणोः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाश और अंधकारके उत्पाद तथा नाश युगपत् होते हैं उसी प्रकार कर्मका नाश और निर्वाण के उत्पाद युगपत् होते हैं।

परस्पर विरोध रखनेवालोंमें यही नियम होता है कि एकका नाश हो तो दूसरा उत्पन्न हो। अथवा किसी भी कार्यके कारण दो प्रकारके होते हैं; एक तो उसके साधकरूप, दूसरे बाधकाभावरूप। जो साधकरूप होते हैं वे कार्यके पूर्वक्षणमें रहसकते हैं। परन्तु जो बाधकाभावरूप होते हैं वे जिस क्षणमें उत्पन्न होते हैं उसीक्षणमें कार्य सिद्ध होता है।

उदाहरणार्थ प्रकाश अंधकारका विरोधी है इसलिये इन दोनोंमें यही नियम स्वयं सिद्ध बना हुआ है कि जब एक हो दूसरा न हो। अथवा तम प्रकाशका बाधक है और प्रकाश तमका बाधक है। इसलिये बाधकरूप तमका जब अभाव होगा उसी समय प्रकाशका प्रादुर्भाव होगा। इसी प्रकार कर्म निर्वाण अवस्था होनेका बाधक है। इसलिये कर्मका अभाव जिस क्षणमें होगा उसी क्षणमें निर्वाणावस्थाका प्रादुर्भाव भी होगा।

कर्मजन्य अवस्थाको संसारावस्था कहते हैं। कर्म आठ हैं। संसारावस्थाके भी इसीलिये आठ प्रकार किये जा सकते हैं।

(१) ज्ञानावरणके रहनेसे अज्ञानांशका होना—यह एक भेद हुआ।

(२) दर्शनावरणके रहनेसे दर्शनांशका अभाव रहना दूसरा भेद हुआ।

(३) वेदनीयके रहनेसे आकुलता रहना अथवा व्याबाधा बनी रहना—यह तीसरा भेद हुआ।

(४) मोहनीयके रहनेसे आत्माका मोहित होकर रहना चौथा भेद हुआ।

(५) आयुके रहनेसे शरीर सहित स्थूल होकर रहना पांचवां भेद हुआ।

(६) नामकर्मके रहनेसे अपनी अवगाहनामें न रहकर शरीरावगाहनमें रहना—यह छट्ठा भेद हुआ।

(७) गोत्रकर्मके होनेसे पराधीन ऊंचपना या नीचता रहना—यह सातवां भेद हुआ।

(८) अंतरायके रहनेसे निर्बल होकर रहना—यह आठवां भेद हुआ।

इस प्रकार कर्मजन्य जीवकी आठ अवस्था होसकती हैं। इन्हीं आठ अवस्थाओंको समुदायरूपसे कहा जाय तो एक असिद्धत्व अथवा संसार—यह नाम प्राप्त होता है। इन आठों विकारोंके हट जानेसे जो अवस्था होती हैं उनका सामान्य एक नाम निर्वाण है। विशेष नाम देखें तो आठ होंगे। आगे उन्हीं प्रत्येक नामोंको क्रमसे सहेतुक दिखाते हैं—

प्रथमज्ञानस्वभाव—

ज्ञानावरणहानात्ते केवलज्ञानशालिनः ।

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मका पूर्णनाश होजानेसे भगवानको केवलज्ञान प्राप्त होता है। यह निर्वाण अवस्थाका एक मुख्य स्वरूपविशेष है।

दूसरा दर्शन—

दर्शनावरणोच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—दर्शनावरणका पूरा ध्वंस होजानेसे मुक्त जीव केवलदर्शनयुक्त होजाते हैं। यह दूसरा मुक्तिका विशेष स्वरूप है।

तीसरा अव्याबाध—

वेदनीयसमुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः ।

अर्थ—वेदनीयकर्मका नाश होजानेसे मुक्त जीवोंमें अव्याबाध नाम का तीसरा गुण प्रगट होता है।

चौथा सम्यक्त्व—

मोहनीयसमुच्छेदात् सम्यक्त्वमचलं श्रिताः ॥ ३८ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मका नाश होजानेसे अचल सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है। यह निर्वाणका एक चौथा स्वभावविशेष है। मोहके भेद यद्यपि दर्शनमोह तथा चारित्र ये दो होते हैं परन्तु मोहित करना—ऐसा सामान्य अर्थ माननेसे मोह एक ही कहा जाता है। उसी प्रकार उस मोहके अभावसे प्रगट होनेवाले गुणको भी सामान्यरूपसे कहें तो मोहका उलटा सम्यक्त्व होजाता है। उसीके उत्तरभेद दर्शन व चारित्र होजाते हैं। यहांपर सामान्यकी विवक्षा होनेसे सम्यक्त्व—ऐसा एक गुण इसीलिये कहा है। चारित्रका इसीमें अंतर्भाव होजाता है। इसीबातको ग्रंथकारने अचल विशेषण द्वारा सूचित किया है। अचलता अर्थात् चारित्र। उस अचलताको अन्तर्गत करनेवाला सम्यक्त्व स्वरूप मोहके सर्वसामान्य अभावसे ही प्रगट होसकता है। जो केवल दर्शनमोहनीयके अभावसे सम्यक्त्वका प्रकाश होता है उसमें अचलता नहीं आसकती है। इसीलिये चारित्रको जुदा न कहनेपर भी चारित्रमोहके अभावसे होनेवाली अवस्थाका ग्रहण होजाता है और आठ कर्मोंके अभावसे आठ गुणोंका कहना ही युक्तियुक्त ठहरता है।

पांचवां, सूक्ष्मत्वस्वभाव—

आयुःकर्मसमुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः ।

अर्थ—आयुःकर्मका अभाव होजानेसे आत्मा परम सूक्ष्मत्व गुणको प्रकाशित करता है। अमूर्तिक आत्माका यह भी एक पांचवां स्वभावविशेष है।

छट्ठा अवगाहन स्वभाव—

नामकर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः ॥ ३९ ॥

अर्थ—नामकर्म शरीरको उत्पन्न करके आत्माकी अवगाहनाको आत्मामें नहीं रहने देता किन्तु शरीराश्रित करदेता है। इसीलिये नामकर्मके अभावसे जो आत्मामें अवगाहित होकर रहनेकी अवस्था प्रगट होजाती है उसे छट्ठा अवगाहन नाम का गुण विशेष कहते हैं और यह भी निर्वाणावस्थाका ही एक भेद है।

सातवां अगुरुलघुत्व—

गोत्रकर्मसमुच्छेदात् सदाऽगौरवलाघवाः ।

अर्थ—गोत्रकर्मके अभावसे गुरुता और लघुता—ये दोनो ही बाते हटकर अगुरुलघुत्व अवस्था प्रगट होती है। संतान क्रमसे जो जीवोंमें आनुवंशिक संस्काराधीन प्रवृत्ति होती है उसे गोत्र कहते हैं। उसके सामान्य भेद दो हैं; उच्चता व नीचता। इसी उच्चता अथवा नीचताकी प्राप्तिमें जो कर्म असाधारण सहायक होता है उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इस गोत्रकर्म का निर्मूल नाश होजानेसे वंशानुविधायी उच्चत्व भी नष्ट होजाता है और नीचत्व भी नष्ट होजाता है। इसी अवस्थाविशेष को अगुरुलघुत्व कहते हैं। यह निर्वाणावस्थाकी सातवीं अवस्था अथवा विशेषता हुई।

आठवा बलगुण—

अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यमाश्रिताः ॥ ४० ॥

अर्थ—अन्तरायकर्मका नाश होजानेसे परिपूर्ण बल प्रगट होता है। किसी प्रकारकी निर्बलता अथवा निर्बलतासंबंधी कार्यकी अपूर्णता न दीख पडनेसे इस गुणका सद्भाव माना जाता है। निर्वाणरूप सामान्य अवस्थाका यह एक आठवां भेद है।

इस प्रकार निर्वाण अवस्थामें प्रगट होनेवाले ये आठ विशेष स्वभाव ऐसे हैं जो कि संसारावस्थामें कर्मके सम्बन्धसे नष्ट प्राय होकर रहते हैं। जो गुण अथवा स्वभाव कर्मोंसे नष्ट नहीं होते वे यहां इसलिये नहीं गिनाये हैं कि उनके द्वारा निर्वाणकी विशेषता जाननेमें कोई सहायता नहीं होती। इसका कारण यह है, कि वे संसारावस्थामें भी रहते हैं और सिद्धावस्थामें भी रहते हैं। इन दोनों ही प्रकारके स्वभाव गुणोंके उत्तरभेद देखें तो अनन्तों दीख पडते हैं।

सिद्धावस्था प्राप्त हो जाने पर जीवोंके सर्व ही गुण स्वभाव बाधक-घातक न रहने पूर्णरूपसे और एकसे प्रगट हो जाते हैं। इसीलिये सिद्ध जीवोंमें साक्षात् देखा जाय तो परस्परमें कोई अंतर नहीं होता। यद्यपि समान होनेपर भी प्रदेशादिक जुदे २ तो रहते ही हैं तो भी समानताके कारण उन्हें जुदे २ कहना नहीं बनता। क्योंकि, जुदे पनेका व्यवहार विसदृश वस्तुओंमें ही होता है और जुदापन करनेका कारण विसदृशता ही होती है। सिद्धावस्थामें किसी भी प्रकारकी विसदृशता न रहनेसे जुदेपनका व्यवहार कैसे हो? इस आकांक्षाको मिटानेके लिये ग्रंथकार उपचरित जुदापन सिद्ध करनेवाले कुछ कारण दिखाते हैं। वे कारण बारह प्रकारसे दिखाये गये हैं।

सिद्धोंमें भेद साधक कारणोंके नाम—

काललिंगगतिक्षेत्रतीर्थज्ञानावगाहनैः। बुद्धबोधितचारित्रसंख्याल्पबहुतान्तरैः ॥४१॥

अर्थ—१ काल, २ लिंग, ३ गति, ४ क्षेत्र, ५ तीर्थ, ६ ज्ञान, ७ अवगाहन, ८ गतिबोध, ९ चारित्र, १० संख्या, ११ अल्पबहुत्व, १२ अन्तर—इन बारह नातोंसे सिद्धोंमें परस्पर उपचरित भेद सिद्ध होता है।

कालादिकोंका विनियोग कैसे होगा? इसका उत्तर—

प्रत्युत्पन्ननयादेशात्ततः प्रज्ञापनादपि। अप्रमत्तैर्बुधैः सिद्धाः साधनीया यथागमम् ॥४२॥

अर्थ—प्रत्युत्पन्ननयोंकी अपेक्षासे और प्रज्ञापननयोंकी अपेक्षासे सावधान विद्वान् मनुष्य आगमानुसार कालादिकोंका विनियोग करके सिद्धोंमें परस्पर भेद सिद्ध कर सकते हैं। ऋजुसूत्र नयको तथा तीनों शब्दनयोंको प्रत्युत्पन्न नय कहते हैं। शेष तीनो नयोंको प्रत्युत्पन्न भी कहते हैं और प्रज्ञापननय भी कहते हैं।

---

१ ऋजुसूत्रनय· शब्दभेदाश्च त्रय· प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिण। शेषा नया उभयभावविषयाः। इति वार्ति॰।

(१) कालका विनियोग—सिद्ध होनेका काल देखकर सिद्धोंमें परस्पर भेद मानना कालकृत भेद है। सामान्य रूपसे देखें तो किसी भी एकेक समयमें जीव सिद्ध होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि कोई उत्सर्पिणीमें व कोई अवसर्पिणी में सिद्ध होता है। एक समयमें सिद्ध होना कहना प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे ठीक है। प्रज्ञापन नय यहां पर भूत अथवा भावी हो सकता है। उसके भी फिर दो प्रकारसे विनियोग होंगे, जन्मसे और संहरणसे। जन्म नाम उत्पत्ति। सहरण नाम मरण। जन्म से देखें तो अवसर्पिणीके तीसरे कालके अंत भागमें जन्मा हुआ अथवा चतुर्थ कालमें जन्मा हुआ सिद्ध होता है। जिसका जन्म तीसरेमें हुआ हो वह तीसरेमें भी सिद्ध हो सकता है और चौथेमें भी सिद्ध हो सकता है चौथे में उत्पन्न हुआ चौथे में सिद्ध हो सक्ता है और पांचवेंमें भी हो सकता है। परन्तु पांचवें कालमें जन्मनेवाला सिद्ध नहीं हो सकता है। पहिले, दूसरे तथा छट्ठे कालमें जन्मनेवाला भी सिद्ध नहीं होता है। यह जन्मकी अपेक्षा सिद्ध होनेका कालविभाग हुआ। मरण की अपेक्षा से चाहें जिस कालमें मरण करनेवाला सिद्ध हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि विदेहमें सदा ही चतुर्थ काल रहता है और मुक्त होनेका क्रम भी सदा ही जारी रहता है। वहांका जन्मा हुआ जीव यदि सिद्ध होनेकी सन्मुख अवस्था होनेपर भरत ऐरावतमें प्रथमादि कालोंके समय लाकर रखदिया जाय तो उस कालमें भी उसका मरण हो सकता है। परन्तु यह बात उपसर्गकी अपेक्षासे संभवती है। इस प्रकार कालकृत भेद सिद्धोंमें परस्पर हो सकता है।

(२) लिंगका अर्थ वेद भी है और निर्ग्रंथ तथा सग्रंथवेश भी है। वेद—भाववेद तथा द्रव्य वेद। भूतनयकी अपेक्षा से तीनों भाववेद सहितकी मुक्ति होती है। कोई किसी भाववेद सहित वेदका नाश करके मुक्त होता है और कोई किसी भाववेद सहित। द्रव्य वेद सबोंका पुरुष वेद ही हो सकता है। ऋजुसूत्र नयसे देखें तो सर्व भाववेद नष्ट होनेपर मुक्ति होती है और द्रव्यवेद अंतपर्यंत रहता ही है। लिंगका अर्थ वेश किया जाय तो भूतनयसे सग्रंथलिंगी भी मुक्त होता है। ऋजुसूत्र नयसे निर्ग्रंथलिंगी ही मुक्त होता है।

(३) वर्तमानकी अपेक्षा सिद्धगतिमें ही सिद्धि होती है। नैगमनयसे देखें, तो अनंतरभवसे देखनी चाहिये अथवा एक अंतर देकर पूर्वभवसे देखनी चाहिये। अनंतर भव तो मनुष्यभव ही है। एकांतरित भव चारो गति हो सकती हैं। चारो गतिसे आकर मनुष्य होनेवाला सिद्ध हो सकता है।

(४) ऋजुसूत्र नयसे देखें तो अपने प्रदेशोंमें ही सिद्धि होती है अथवा सिद्धक्षेत्रके आकाशक्षेत्रमें सिद्धि होती है। भूतनयकी अपेक्षासे पंद्रहकर्मभूमियोंका जन्मा हुआ जीव सिद्ध होता है। मरणकी अपेक्षासे अढाई द्वीपके व दोनो समुद्रोंके बीच कहींसे भी सिद्धि होसकती है।

(५) कुछ जीव तीर्थंकरके रहते हुए सिद्ध होते हैं और कुछ पीछेसे होते हैं यह तीर्थ की अपेक्षासे सिद्धों में भेद है।

(६) मुक्त होनेसे पूर्व जो ज्ञान है वह प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षासे तो एक केवलज्ञान ही होता है परन्तु भूतपूर्वनयकी अपेक्षासे किसीको मतिश्रुत—ये दो ज्ञान रहते हैं। किसीको अवधि अथवा मनःपर्यय ज्ञान होजानेसे तीन ज्ञान रहसकते हैं। किसीके मति श्रुत अवधि मनःपर्यय—ये चारो भी रहसकते हैं। जिसको जितने ज्ञान रहे हों उसकी मुक्ति उतने ही ज्ञानपूर्वक हुई कहनी चाहिये। यह ज्ञान भेदसे सिद्धोंका भेद हुआ।

(७) शरीरकी ऊंचाईको अवगाहन कहा है। सिद्ध होनेवाले जीवोंमेंसे कुछका अवगाहन उत्कृष्ट होता है, कुछका जघन्य होता है और कुछ मध्यवर्ती अवगाहनवाले होते हैं। मोक्षोपयोगी जघन्य अवगाहन—कुछ कम साडे तीन हाथका होता है। उत्कृष्ट सवा पांचसौ धनुषका होता है। इसके बीच जितनी हीनाधिकता होगी वे सर्व मध्यम अवगाहन समझने चाहिये। इन अवगाहनोंमें भेद होनेसे सिद्ध जीवोंका परस्परमें भेद सिद्ध होजाता है।

(८) प्रतिबोध होनेके दो मार्ग हैं। कोई तो स्वयं प्रतिबोधको प्राप्त होकर विरक्त होकर मुक्त होते हैं। कोई दूस-रोंके उपदेशद्वारा प्रतिबुद्ध होकर दीक्षालेकर मुक्त होते हैं। जो स्वयं प्रतिबुद्ध होते हैं उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं। जो परो-पदेश सुनकर प्रतिबुद्ध होते हैं उन्हें बोधित कहते हैं। अथवा बोधितबुद्ध कहते हैं। इन दो भेदोंसे भी सिद्धोंमें परस्पर भेद कहा जासकता है।

(९) जिसकी जिस चारित्रसे सिद्धि होती है उसकी उस चारित्रसे सिद्धि हुई मानकर सिद्ध अवस्थामें भेद आरोपित करना इस चारित्रकारणके माननेका प्रयोजन है। ठीक सिद्धि होनेके समयमें देखें तब तो चारित्रमें कोई भेद होता नहीं है। उस समय केवल यथाख्यात चारित्र अथवा अनिर्वचनीय शुद्धभावरूप परिणाम रहता है और वह सभीका एकसा होता है। परन्तु पूर्वज्ञापकनयकी अपेक्षासे देखें तो चार अथवा पांच चारित्रोंसे सिद्धि होती है। जिनको परिहार विशुद्धि ऋद्धि प्रगट नहीं होती उनको चार चारित्र प्राप्त होते हैं। जिन्हें परिहारविशुद्धि होजाती है उनको पांच चारित्र तक होते हैं।

(१०) एकेक समयमें सिद्ध होनेवाले जीवोंकी संख्याका विचार कर परस्पर भेद मानना सो संख्याकृत भेद है। कमसे कम एक समयमें एक जीव सिद्ध होसकता है। अधिक हो तो एक समयमें एकसौ आठ जीव सिद्ध होसकते हैं।

(११) अभीतक भेदके कारण दश तो कहे, एक आगे कहेंगे। उन प्रत्येकके विषयमें परस्परमें संख्याकी हीनाधिकता देखनेको अल्प बहुत्व कहते हैं। कालकृत अल्प बहुत्व ऐसे देखना चाहिये कि उत्सर्पिणीमें बहुत थोडे जीव सिद्ध होते हैं। अवसर्पिणीमें कुछ अधिक सिद्ध होते हैं। जहां उत्सर्पिणी अवसर्पिणी की कल्पना नहीं है, वहांके कालमें बहुत अधिक जीव सिद्ध होते हैं। लिंगकी अपेक्षा जो सिद्ध होना माना गया है उसका अल्पबहुत्व नपुंसक स्त्री तथा पुरुष वेदका उत्तरोत्तर संख्यात गुणा है। गतिकी अपेक्षासे देखें तो देवगतिसे मनुष्य होनेवाले जो सिद्ध होते हैं वे सबसे अधिक होते हैं, उनसे नरकगतिवाले संख्यातगुणा कम होते हैं। तिर्यंच गतिवाले उनसे भी संख्यातगुणा कम होते हैं। इसी प्रकार आगमानुसार सर्वत्र हीनाधिकता समझलेनी चाहिये।

(१२) बारहवां भेदका कारण अंतर है। जिस कालमें कोई भी जीव सिद्ध न हो उसकालको अन्तरकाल अथवा विरहकाल कहते हैं। यह नियम है कि आठ समय अधिक छह महीनाके भीतर छहसौ आठ जीव मुक्त होते हैं। निरन्तर सिद्ध होना यदि बहुत शीघ्र बन्द पडजाय तो दो समयके बाद ही पड सकता है। यदि बहुत अधिक समयतक भी बराबर जीव सिद्ध होते रहें तो आठ समयतक होंगे। बादमें अवश्य ही थोडे बहुत समयतक अन्तर पडेगा। वह अन्तर बहुत थोडा हो तो एक ही समय हो। बादमें फिर भी जीव सिद्ध होने लगेंगे। यदि बहुत ही अन्तर पडा तो छह महीनेका पडसकता है। बादमें अवश्य ही सिद्ध होने लगेंगे। इस प्रकार निरन्तर तथा सांतर मिलाकर छह महीना आठ समयमें छहसौ आठ जीव मुक्त होजाते हैं। इसके द्वारा सिद्धोंमें अन्तर इस प्रकारसे देखना चाहिये कि कोनसा जीव तो सांतर सिद्ध हुआ है और कोनसा निन्तर सिद्ध हुआ है। ऐसा देखनेसे भी परस्परमें सिद्धोंका कुछ भेद सिद्ध होजाता है। परन्तु हम कह चुके हैं कि ये सब भेद उपचरित हैं। उनके गुणस्वभावोंमें परस्पर कोई भी भेद नहीं है।

गुण स्वभावोंकी अपेक्षा सिद्धोंकी समानता—

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने। सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निष्क्रियाः॥ १३॥

अर्थ—केवलज्ञानमें, केवल दर्शनमें तथा केवलसम्यक्त्वमें सिद्ध भगवान् तन्मय होकर रहते हैं और उनका पर्याय

कर्मकलंकोंसे सर्वथा मुक्त होनेके कारण पूर्ण सिद्ध पर्याय कहाता है। यद्यपि शरीरसे छूटने पर ऊर्ध्वलोककी तरफ वे लोकके अंत पर्यंत गमन करते हैं परंतु उसके भी ऊपर जानेसे वे बंद हो जाते हैं। क्योंकि, लोकके ऊपर गमन होनेका साधन नहीं रहता है। इसीलिये सिद्ध गतिमें पहुंच कर वे निष्क्रिय[1] होकर ठहरते हैं।

अलोकमें गमन न होनेका कारण—

ततोप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः। धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गतेः परम्[2]॥४४॥

अर्थ—सिद्ध जीव जिस प्रकार लोकपर्यंत ऊर्ध्वगमन करते हैं उसी प्रकार क्यों नहीं जाते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर इतना ही है कि ऊपर धर्मास्तिकाय नामका द्रव्य नहीं है। धर्मास्तिकाय ही गति होनेमें प्रधान सहकारी कारण होता है। वह लोक भरमें ही व्याप्त है। इसके बाद नहीं है।

सिद्धोंका सुख—

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्। अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः॥४५॥

अर्थ—सिद्धजीवोंको वह सुख प्राप्त होता है कि जो संसारमें रहनेवालेको विषयोंके द्वारा कभी प्राप्त न हुआ हो। वह सुख स्वाधीन होता है। इसीलिये उसका कभी उच्छेद नहीं होता है। उस अविनाशी सुखको परम अव्याबाध कहते हैं। वेदनीय संसारमें रहनेवालेके इसी सुखका घात करता है। वह वेदनीय कर्म सिद्धोंमें नहीं रहता है। इसलिये उस बाधा का अभाव होकर जो अविनाशी अनंत निराकुलता सिद्धोंमें उत्पन्न होती है उसे अव्याबाध कहते हैं।

शंका—

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः। कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु॥४६॥

अर्थ—सुखका साधन शरीर है। सिद्ध जीवमें शरीरका भी उच्छेद हो जाता है और उसके कारणभूत अष्ट कर्मोंका भी अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्थामें मुक्त जीवको सुख क्या होगा-यह समझमें नहीं आता? इस शंका का उत्तर सुनो—

---

१ अथवा योगके परिस्पंद को भी क्रिया कहते हैं उस क्रियाका भी वहां कोई साधक कारण न होनेसे सिद्ध जीव निष्क्रिय हो जाते हैं। २ 'परः' ऐसा भी पाठ है।

मुख-शब्दका अर्थ—

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते । विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥४७॥

अर्थ—जगत्में सुख-शब्दके चार अर्थ माने जाते हैं, (१) विषय, (२) वेदनाका अभाव, (३) पुण्यकर्मका फल प्राप्त होना, (४) मुक्त हो जाना ।

विषयका दृष्टान्त—

सुखो वन्हिः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।

अर्थ—शीत ऋतुमें अग्निका स्पर्श सुखकर होता है । ग्रीष्म ऋतुमें ठंडी हवाका स्पर्श सुखकर होता है । इत्यादि आभिमानिक सुखके साधनोंको यहां सुख कहा है । जहां सुखकर कहना चाहिये वहां सुख कहा है। अर्थात् सुखके कारणमें कार्य का उपचार किया है। यह सुख-शब्द पहिला एक अर्थ हुआ ।

वेदनाभावका दृष्टांत—

दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोस्मीति भाषते ॥ ४८ ॥

अर्थ–प्रथम किसी प्रकारका दुःख अथवा क्लेश होरहा हो और फिर उस दुःखका—उस क्लेशका थोरे समयकेलिये अभाव होजाय तो जीव मानता है कि मैं सुखी होगया । उदाहरणार्थ, किसीके सिरपर बोझ रक्खा है । उस बोझसे वह दुःखी होरहा है । बोझ उतर जानेपर वह अपनेको सुखी समझने लगता है। सुख-शब्दका यह दूसरा अर्थ हुआ ।

पुण्यकर्मके उदयसे होनेवाले सुखका दृष्टांत—

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।

अर्थ–पुण्य कर्मोंका परिपाक समय आनेपर इंद्रियोंके इष्ट विषयकी प्राप्ति होनेसे जो सुखका संकल्प होता है वह सुख शब्दका तीसरा अर्थ है । जैसे, ठंडीके दिनोंमें अग्निके पास बैठनेसे सुख प्रतीत होता है । भूख लगनेपर भोजन मिल-जानेसे, प्यास लगनेपर पानी मिलजानेसे सुखका अनुभव होता है । उस समय जीव अपनेको सुखी मानने लगता है ।

पहिला सुख जो विषयको कहा उसका मतलब यह था कि सुखके कारणमें सुखका उपचार किया है । इस तीसरे

अर्थका यह मतलब है कि उन्हीं विषयोंका सम्बन्ध होनेपर अपने आत्मामें सुखोत्पत्तिका अभिमान होता है। इसलिये यह सुख उन विषयोंका तथा कर्मोदयका कार्य है। पहिला और तीसरा ये दोनो ही सुख-शब्दके अर्थ परस्परमें कारण-कार्य रूप सम्बन्ध रखते हैं इसलिये एकसे प्रतीत होसकते हैं परन्तु वास्तवमें एक नहीं हैं।

पहिले और तीसरेमें एक यह भी भेद है कि लाभांतरायके क्षयोपशमकी पहिलेमें अपेक्षा मानी जाती है और दूसरेमें सातावेदनीयके उदयकी अपेक्षा होती है। अर्थात् विषयोंकी अनुकूल प्राप्ति होना लाभांतरायकर्मके क्षयोपशमका अर्थ है। वह क्षयोपशम होनेपर सुखके साधन विषय मिलजाते हैं। असातावेदनीयका उदय हो तो जीव उन प्राप्त हुए सुखसाधनों से भी सुखी नहीं होता परन्तु यह वह स्वीकार करता है कि ये विषय सुखकर हैं। यह प्रथम भेदका अर्थ है। तीसरे प्रकारका सुख हम तब कह सकते हैं जब कि जीवके सातावेदनीयका उदय हो, उसका उदय होनेपर जीव सुखसाधनोंसे सुख उत्पन्न हुआ मानता है। उस समय उसे सुख और सुखसाधन—इन दोनोंमें परस्पर भेदप्रतीति होती है और वह भेदरूप व्यवहार करता है। एवं सुखसाधनोंको जहां सुख कहा है वहां सुखसे सुखसाधनको अभेदरूप देखनेकी मुख्यता रहती है। यह तीसरेका और पहिलेका परस्पर अर्थभेद हुआ। तीसरे व दूसरेमें परस्पर क्या भेद है? इसका उत्तर—

रागकी कृतिको तीसरे प्रकारका सुख कहते हैं और द्वेषकी कृतिको दूसरे प्रकारका सुख कहते हैं। दुःखसे तथा दुःखसाधनोंसे जीव द्वेष करता है। इसीलिये द्वेषका फल यह होता है कि दुःखोंको और दुःखके साधनोंको जीव दूर करता है। दुःख तथा दुःखसाधन दूर होते ही जीव अपनेको सुखी मानने लगता है। यहां पर सुख साधनोंके संयोगकी अपेक्षा नहीकी जाती है और जो तीसरे प्रकारसे सुख कहा है वह रागात्मक है। उसमें सुखसाधनोंके संयोगकी अपेक्षा रहती है। अर्थात् एक तो सुख ऐसा होता है कि जिसमें अनिष्टसंयोग दूर करनेकी जीवकी प्रवृत्ति रहती है और जीव अनिष्ट संयोगके दूर होनेसे अनिष्ट संयोगजन्य फलका अभाव हुआ मानता है। दूसरा सुख ऐसा होता है कि उसके लिये जीव इष्ट संयोग करनेकी तरफ प्रवृत्ति करने लगता है और इष्ट संयोग होनेपर उस इष्ट संयोगका अपनेमें फल प्राप्त हुआ मानता है। इन दोनों प्रकारके सुखोंमेंसे जो पहिले प्रकारका है वह वेदनाभावरूप दूसरे भेदमें गर्भित किया गया है। जो दूसरे प्रकारका है वह सुख तीसरे भेदमें गर्भित होता है।

सुखका चौथा प्रकार—

कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥४९॥

अर्थ—कर्मजन्य क्लेशोंसे छुटकारा हो जानेके कारण मोक्षावस्थामें जो सुख होता है वह अनुपम सुख है। यह सुख का चौथा भेद है। पहिले तीनो सुख आभिमानिक हैं, नश्वर हैं, पराधीन हैं, ज्ञानादि सुख साधनोंके घातक हैं इसलिये वास्तविक वे दुःख ही हैं। यह सुख आभिमानिक नहीं है, अविनश्वर है, स्वाधीन है, ज्ञानादि सुखसाधनोंका अविनाभावी है और पोषक है इसलिये यही परम और सच्चा सुख है।

अन्य मतमें जो निर्वाणका स्वरूप माना है उसका निराकरण—

सुषुप्त्यवस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्। तदयुक्तं क्रियावत्त्वात् सुखातिशयतस्तथा ५०॥
श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्। मोहोत्पत्तिविपा(रा)काच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ॥५१॥

अर्थ—कुछ लोग सुषुप्तिके समान निर्वाणावस्थाको मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना असंगत है। क्योंकि, सुषुप्त्यवस्था जिस प्रकार ज्ञानक्रियाके रोकनेवाली मानी जाती है वैसी निर्वाण अवस्था ज्ञानके रोकनेवाली नहीं होती। जो आजपर्यंत कभी ज्ञान नहीं हुआ, वह ज्ञान मुक्त जीवको रहता है। इसलिये ज्ञानक्रिया प्रवर्तती है। सुषुप्तिका अर्थ गाढ निद्रा है। उसमें ज्ञानके साधनभूत मनका और इंद्रियोंका विषयोंसे उपराम हो जाना माना है। इसलिये उसके समय क्रिया का निरोध है। जहां ज्ञान दर्शनका निरोध होगा वहां सुखका संकल्प भी नहीं हो सकता है। सुखका संकल्प ज्ञानका अविनाभावी है। इसलिये सुषुप्तिके समय जब कि ज्ञानका अभाव मानलिया है तो जागृत अवस्थाके बराबर भी वहां सुख नहीं कहा जा सकता है। अतः साधारण सुखका भी जो दशा ह्रास करती है वह सुखकी अत्यंत वृद्धि करनेवाली निर्वाण अवस्थाके तुल्य कैसे हो सकती है? मोक्षावस्थामें श्रम नहीं, मद नहीं, क्लम नहीं, आधि व्याधि नहीं, मदनोद्रेक नहीं, मोह नहीं और दर्शनावरण कर्मका उदय नहीं पर सुषुप्तिमें ये सभी बातें रहती हैं।

---

१ दूसरे मतोंमें सुषुप्तिके समय ज्ञानका अभाव माना है। जैन सिद्धान्तमें दर्शनावरणका उदय होनेसे दर्शनका अभाव माना गया है। दर्शनोपयोग के विना नवीन ज्ञानका होना भी असंभव है। इसलिये सुषुप्त्यवस्थामें ज्ञानका अभाव मानना अनुचित नहीं है।

मोक्षसुखकी निरुपमता—

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते । उपमीयते तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतं ॥५२॥

अर्थ—संपूर्ण जगतमें मोक्षसुखके समान दूसरा कोई पदार्थ नहीं है जिससे कि इसकी तुलना कर सकें। इसलिये मोक्ष-सुखको ऋषि महर्षियोंने निरुपम माना है।

दूसरे प्रकारसे निरुपमता—

लिंगप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः । अत्यन्तं चाप्रसिद्धं यत्तत् तेनानुपमं स्मृतम्॥५३॥

अर्थ—अनुमान तथा उपमान प्रमाणकी प्रमाणिकता—असलियत उनके लिंगोंकी प्रसिद्धिके आधीन है अर्थात् धूम आदि हेतु और सादृश्य रूपलिंगका जब चक्षु आदिसे साक्षात्कार हो जाता है उससमय अनुमान और उपमान प्रमाणीक गिने जाते हैं परंतु मोक्ष पदार्थ इंद्रियोंके अगोचर है तथा उसकी अगोचरतासे उसके सादृश्यका भी इंद्रियोंसे ज्ञान नहिं हो सकता इसलिये मोक्ष अनुपम पदार्थ है वह उपमान ज्ञानके विषयभूत नहिं हो सकता—समस्त पदार्थोंसे वह एक विजातीय विलक्षण ही पदार्थ है।

यदि अत्यन्त अप्रसिद्ध है तो उसे कैसे मानें ?—

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैः प्रभाषितं । गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया ॥५४॥

अर्थ—यह सुख अर्हंत केवली भगवान्को साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। उन्हींके कहनेसे विद्वान् लोग भी मानते हैं कि मोक्षमें निरुपम सुख है। अल्पज्ञ मनुष्य उसकी परीक्षा करके जब ठहरावे तभी मानना चाहिये-यह बात ठीक नहीं है। अत्यन्त परोक्ष वस्तुओंको अल्पज्ञानी क्या ठहरा सकता है ? यदि कोई अनुमान द्वारा अथवा उपमान द्वारा उसे ठहराना चाहें तो उसका सामान्य स्वरूपमात्र ठहर सकेगा। विशेषरूप ज्ञान प्रत्यक्षके विना नहीं होता। इसलिये साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञ केवलीके वचनोंसे प्रतीति करनी चाहिये।

अधिकारका सारांश—

इत्येतन्मोक्षतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते । शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥५५॥

अर्थ–इस प्रकार इस मोक्षतत्त्वका जो शेष छहो तत्त्वोंके साथ सम्यक् श्रद्धान करता है उन्हें सम्यक् जानता है और हेयोपादेयताकी कल्पना छोडकर इनमें मध्यस्थ बनता है वही निर्वाणको पासकता है।

इस प्रकार मोक्षतत्त्वका स्वरूप वर्णन पूरा हुआ।

१ इस मोक्ष प्रकरणमें सिद्धस्थानका वर्णन करनेवाले दो श्लोक अधिक कहीं कहींपर दीख पडते हैं। वे ये हैं—**तन्वीमनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा। प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता। त्रिलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिताः** ॥ २ ॥ अर्थ–अति सूक्ष्म, मनोज्ञ, सुरभि, पुण्यपरमाणुओंसे बनीहुई परम दीप्यमान एक लोकके अन्तमें पृथ्वी है। उसका नाम प्राग्भारपृथ्वी है। त्रिलोकके तुल्य वह पसरी हुई है। सफेद छत्रके समान धवलवर्ण तथा छत्रके आकारके समान है। अति शुभ है। उस पृथ्वीभागके ऊपर लोकके अतमें मुक्त जीव जाकर ठहरते हैं।



नवमाधिकार।

ग्रन्थका सारांश।

उपसंहार—

प्रमाणनयनिक्षेपनिर्देशादिसदादिभिः। सप्ततत्त्वीमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥ १ ॥

अर्थ—सात तत्त्वोंका स्वरूप क्रमसे जो कहा है उसे प्रमाणके द्वारा नयके द्वारा निक्षेपके द्वारा निर्देशादि तथा सदादि अनुयोगोंके द्वारा जान ले तब मोक्षमार्गमें प्रवेश करना चाहिये। प्रमाणादिकोंका स्वरूप पीठिका प्रकरणमें कहचुके हैं। मोक्षमार्गका स्वरूप भी कहचुके हैं।

मोक्षमार्गका क्रम—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः। तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

अर्थ—मोक्षमार्गके दो भेद हैं; एक निश्चय मोक्षमार्ग, दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग। अन्तिम दशामें प्राप्त होनेवाला संपूर्ण प्रयत्नका फलरूप अवस्थाको निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं वह इस निश्चय मोक्षमार्गका साधक है। इसलिये प्रथम आलंबन व्यवहार मोक्षमार्गका ही लिया जाता है।

निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः। सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥

अर्थ—शुद्ध निजात्माका अभेदरूपसे श्रद्धान करना, उसे अभेदरूपसे ही जानना और अभेदरूपसे ही उसमें लीन होना—इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्रवृत्ति होती है वह निश्चय मोक्षमार्ग है।

व्यवहार मोक्षमार्गका स्वरूप—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना। सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

अर्थ—आत्मामें जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र भेदकी मुख्यतासे प्रगट होरहा हो, उस सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयको व्यवहार मोक्षमार्ग समझना चाहिये। अर्थात् उसी एक तत्त्वका व्यवहाररत्नत्रयमें भी प्रकाश होता है और उसीका निश्चय रत्नत्रयमें प्रकाश होता है। परन्तु जबतक भेदरूपसे होता है तबतक व्यवहाररूप उसे कहते है। जब वह अभेदरूपसे होता है तब निश्चयरूप उसे कहते हैं।

व्यवहारावलंबीकी प्रवृत्ति—

श्रद्दधानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि। तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो सातो तत्त्वोंका भेदरूपसे श्रद्धान करता है और वैसे ही भेदरूपसे उसे जानता है तथा वैसे ही भेदरूपसे उसे उपेक्षित करता है उस मुनिको व्यवहारावलंबी कहते हैं।

निश्चयावलंबीका स्वरूप—

स्वद्रव्यं श्रद्दधानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि। तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो श्रद्धानमय आत्माको बनालेता है और ज्ञानमय भी आत्माको ही बनालेता है अथवा ज्ञान ही ज्ञानरूप जिसे आत्मा भासने लगता है; एव उपेक्षारूपही जिसके आत्माकी प्रवृत्ति होजाती है वह श्रेष्ठ मुनि निश्चयावलम्बी निश्चयरत्नत्रययुक्त माना जाता है।

निश्चयीका अभेदसमर्थन—

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः। स्वस्थो दर्शनचारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥७॥

अर्थ—जो जानता है वह आत्मा है। जानता है ज्ञान, इसलिये ज्ञान ही आत्मा है। इसी प्रकार जो सम्यक् श्रद्धान करता है वह श्रद्धानी या आत्मा कहाता है। श्रद्धान करता है सम्यग्दर्शन, इसलिये वही श्रद्धानी है वही आत्मा है। जो उपेक्षित होता है वह आत्मा है। उपेक्षित होता है उपेक्षागुण इसलिये वही आत्मा है अथवा वह आत्मा ही है। यह अभेदरूप रत्नत्रयका स्वरूप है। ऐसी अभेदरूप स्वस्थ दशा उसी तपस्वीकी होसकती है जो कि दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयके उदयाधीन नहीं रहता है।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्षका कारण रत्नत्रयको बताया है। उस रत्नत्रयको मोक्षका कारण मानकर उसीके

स्वरूपको जाननेकी जवतक इच्छा रहती है तवतक साधु उस रत्नत्रयको विषयरूप मानकर उसीका चिंतवन करता है। वह विचार करता है कि रत्नत्रय इस प्रकारके होते हैं। जवतक ऐसी दशा रहती है तवतक अपने विचारसे रत्नत्रय भेदरूप ही जान पडता है। इसीलिये उस साधुके उस प्रयत्नको भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं। वह व्यवहारकी दशा है ऐसी दशामें रत्नत्रयका अभेदरूप कभी नहीं होसकता है। परंतु ऐसी दशा जब तक न हो अथवा इस प्रकार जवतक साधु रत्नत्रयको समझ न ले तवतक रत्नत्रयमय निश्चय दशा कैसे प्राप्त होसकती है? इसलिये इस दशाकी उत्पत्ति प्रथमावस्थामें मानीगई है और उत्तरकी निश्चयदशाका कारण मानीगई है।

यह दशा हो जानेपर जब साधु विषयों का श्रद्धान ज्ञान चारित्र करने लगता है तब वह सम्यग्दर्शनमय सम्यग्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय स्वयमेव होजाता है। इसीलिये वह अपनेसे अभेदरूप रत्नत्रयकी दशा है और वही यथार्थ वीतराग दशा होनेसे निश्चयरत्नत्रयरूप कहाती है।

इस अभेदभेदका तात्पर्य समझ जानेपर यह बात भी माननी पडेगी कि व्यवहार रत्नत्रय यथार्थरत्नत्रय[1] नहीं है। इसी लिये इसे हेय कहते हैं। हेय होनेपर भी उत्पन्न प्रथम यही होता है इसलिये वह उत्तरके लिये उपयोगी है और वर्तमान समयमें उपादेय है। परन्तु साधु इसीमें लगारहे तो उसका यह व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है, निरुपयोगी है। कहना चाहिये कि उसने उसे हेयरूपसे न जानकर यथार्थरूप जान रक्खा है। जो जिसे यथार्थरूपसे जाना हुआ मानता है वह उसे कभी छोडता नहीं है। इसीलिये उस साधुका वह व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है अथवा अज्ञानरूप संसारका कारण है।

इसी प्रकार जो साधु व्यवहारको हेय समझकर उसका आलंवन ही करना नहीं चाहता है वह उभयभ्रष्ट[2] है। उसे व्यवहारके विना निश्चयकी प्राप्ति तो हो नहीं सकती है और व्यवहारको हेय मानकर आलंवन ही नहीं करता है। जो व्यवहारको हेय समझकर आलंवन नहीं करता वह निश्चयतक पहुंच नहीं पाता—यह बात यद्यपि निर्विवाद है तो भी वह निश्चयका आलंवन करना अवश्य चाहता है। इसलिये उसे उभयभ्रष्ट कहा है।

---

१ निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयत्यभूतार्थं ॥ (पुरुषार्थसि०) २ निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ (पुरुषार्थसि०)

इस ऊपर श्लोकमें अभेदरूप रत्नत्रयका स्वरूप कृदंत शब्दोंद्वारा कर्तृ-भावसाधन शब्दोंका अभेद दिखाकर सिद्ध किया। अब आगे क्रियापदोंद्वारा कर्ता कर्मभाव आदिकोंमें सर्व विभक्तियोंके रूप दिखाकर अभेद सिद्ध करते हैं।

रत्नत्रयका कर्ताके साथ अभेद—

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो अपने निज स्वरूपको देखता है, जो अपने निज स्वरूपको जानता है और जो अपने निज स्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है; इसलिये आत्मा ही दर्शनज्ञानचारित्र त्रयरूप है।

कर्मरूपके साथ अभेद—

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति च चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपको देखा जाता है, जिस निज स्वरूपको जाना जाता है और जिस निज स्वरूपको धारण किया जाता है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। परन्तु तन्मय आत्मा ही तो है इसलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

करणरूपके साथ अभेद—

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेपि च। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १० ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपद्वारा देखा जाता है, जिस निज स्वरूपद्वारा जाना जाता है और जिस निज स्वरूपद्वारा स्थिरता होती है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। परन्तु वह कोई जुदा चीज नहीं हैं किंतु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

संप्रदानरूपके साथ अभेद—

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस स्वरूपको प्राप्तिकेलिये देखता है, जिस स्वरूप-प्राप्तिकेलिये जानता है और जिस प्राप्तिकेलिये प्रवृत्ति करता है वही दर्शन ज्ञान चारित्र नामवाला रत्नत्रय है। परन्तु वह दूसरी कोई चीज नहीं है किंतु तन्मय आत्मा ही है। अथवा आत्मा उस रत्नत्रयसे जुदा नहीं है किन्तु तन्मय ही है।

अपादान स्वरूपके साथ अभेद—

यस्मात्पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपसे देखता है, जिस निजस्वरूपसे जानता है और जिस निज स्वरूपसे प्रवर्तता है वही दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है। परंतु वह दूसरा कुछ नहीं है किंतु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

संबंधी स्वरूपके साथ अभेद—

यस्य पश्यति जानाति स्वरूपस्य चरत्यपि । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपके संबंधको देखता है, जिस निज स्वरूपके संबंधको जानता है और जिस निज स्वरूपके संबंधकी प्रवृत्ति करता है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। परंतु वह आत्माके अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं है। आत्माही तत्तन्मय होता है।

आधार स्वरूपके साथ अभेद—

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१४॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपमें देखता है जिस निज स्वरूपमें जानता है और जिस निज स्वरूपमें स्थिर होता है वही दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रय है। परंतु वह आत्मासे कोई भिन्न चीज नहीं है किंतु आत्माही तत्तन्मय होता है।

क्रिया स्वरूपका अभेद—

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१५॥

१ अपादान वहां पर कहा जाता है जहांपर कि कोई कर्म किसी जगहसे हट कर करना हो। जहांसे हटना होता है उसीको अपादान कहते हैं, जब कि देखने जानने आदिकाही नाम दर्शन ज्ञान चारित्र है तो वहांपर देखने आदिका स्वयं हटना कैसे संभव होसकता है? और जिससे हटना माना जायगा वह चीज दर्शनादिरूप नहीं कही जासकेगी। इसलिये अपादानका स्वरूप यहां कैसे संभव होसकता है?

इस शंकाका उत्तर यह है कि कारकोंकी कल्पना विवक्षाधीन होती है। ऐसा कहा भी है कि "विवक्षाधीना हि कारकप्रवृत्तिः।" अब रही यह बात कि यहां विश्लेष कैसे संभव होसकता है? इसका उत्तर भी यही है कि भेदकी विवक्षा बुद्धिद्वारा ही सिद्ध होजाती है। जैसे, सर्पसे डरते समय बुद्धिमेंही विश्लेष होजाता है वैसेही यहां पर भी पदार्थ पदार्थका विश्लेष नहीं किंतु बुद्धिका विश्लेष है। दूसरी बात यह भी है कि ल्यबन्त शब्दका यहां अध्याहार माना जाय तो विना विश्लेषके भी अपादानता सिद्ध होजाती है।

अर्थ—जो देखनेरूप, जाननेरूप, तथा चारित्ररूप क्रियाएं होती हैं वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। परन्तु वे क्रियाएं आत्मासे कोई जुदी चीज नहीं हैं। तत् तत् रूप आत्मा ही परिणत हुआ मानना चाहिये। अथवा आत्मा उनसे कोई निराली चीज नहीं है तन्मय ही आत्मा है।

गुण स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥ १६॥

अर्थ—जो यहांपर दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणोंका आश्रय है वही दर्शनज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। आत्मासे दर्शनादि गुण कोई जुदी चीज नहीं हैं किन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिये अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायोंके स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः॥ १७॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप पर्यायोंका जो आश्रय होता है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मासे कोई जुदी चीज नहीं है। आत्माही तन्मय हुआ रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा इनसे कोई जुदी चीज नहीं है।

प्रदेश स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रप्रदेशा ये प्ररूपिताः। दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते॥ १८॥

अर्थ—दर्शनके ज्ञानके चारित्रके जो प्रदेश बताये गये हैं आत्माके प्रदेशोंसे कोई भिन्न नहीं है। दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्माके ही वे प्रदेश हैं। अथवा दर्शन ज्ञान चारित्रोंके प्रदेशरूप ही आत्मा है और वही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्माके प्रदेश और रत्नत्रयके प्रदेश भिन्न भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार परस्परमें भी दर्शनादि तीनोंके प्रदेश जुदे जुदे नहीं हैं इसी लिये आत्मा और रत्नत्रय परस्परमें भिन्न भिन्न नहीं हैं किन्तु आत्मा तन्मय है।

अगुरु लघु स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः। दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्यात्मन एव ते॥ १९॥

अर्थ—अगुरु लघु नाम गुणके रहनेसे वस्तुके भीतर जितने गुण होते हैं वे सीमासे अधिक अपनी हानि तथा वृद्धि नहीं

कर पाते हैं। यही अगुरुलघु गुणका प्रत्येक द्रव्यमें प्रयोजन रहता है। उस गुणके निमित्तसे जो यावत् गुणोंमें सीमाका उल्लंघन नहीं होता उसको भी अगुरुलघु ही कहते हैं। इसलिये यहां पर अगुरुलघुको दर्शनादिकोंका विशेषण कहना चाहिये।

अर्थात्, अगुलघुरूप प्राप्त होनेवाले जो दर्शन ज्ञान चारित्र हैं वे आत्मासे जुदे नहीं हैं और परस्परमें भी जुदे जुदे नहीं हैं। किंतु दर्शनज्ञानचारित्ररूप जो रत्नत्रय है उसीके वे स्वरूप हैं और तन्मय ही हैं। एवं उसी अगुरुलघुरूप रत्नत्रयमय आत्मा है। आत्मा भी उनसे जुदा कोई चीज नहीं है। क्योंकि, आत्माके वे अगुरुलघुस्वभाव हैं और आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है इसलिये आत्मासे वे सर्व अभिन्न हैं।

उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूपका अभेद—

दर्शनज्ञानचारित्रध्रौव्योत्पादव्ययास्तु ये। दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ २० ॥

अर्थ—दर्शनज्ञानचारित्रमें जो उत्पादव्ययध्रौव्य होते हैं वे सर्व आत्माके ही हैं। क्योंकि, दर्शन ज्ञान चारित्ररूप जो रत्नत्रय है वह आत्मासे भिन्न नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ही आत्मा है। अथवा दर्शनज्ञानचारित्र आत्ममय ही हैं। इसलिये जो रत्नत्रयके उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं वे उत्पादव्ययध्रौव्य भी आत्माके ही हैं और परस्परमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी अभिन्न ही हैं। जब कि रत्नत्रयके जितने विशेषण हैं वे सभी आत्माके हैं और आत्मासे अभिन्न हैं तो रत्नत्रयको भी आत्मस्वरूप ही मानना चाहिये।

इस प्रकार अभेदरूपसे जो निजात्माके दर्शन ज्ञान चरित्र होते हैं वे निश्चयरत्नत्रय हैं। उनके समुदाय को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। इसी मोक्षमार्गको तथा इन्ही-रत्नत्रयको कर्ता कर्मादि ऊपर बताए हुए भेदपूर्वक माना जाय तो व्यवहाररूप होजाते हैं। इसलिये ऊपरके जितने श्लोक निश्चय रत्नत्रयको दिखानेवाले हैं वे ही व्यवहारको भी दिखाते हैं।

निश्चय व्यवहार माननेका तात्पर्य—

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः, पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः, स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो जीवको सम्यग्दर्शनरूप, सम्यग्ज्ञानरूप तथा सम्यक्चारित्ररूप निरनिराले पर्यायोंद्वारा निरनिराला हुआ

मानना है वह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है। इन सर्व पर्यायोंमें ज्ञाता जीव एक ही सदा रहता है और पर्याय तथा जीव कोई भेद नहीं है। इस प्रकार रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न देखना द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

अर्थात्, रत्नत्रय जीवसे अभिन्न हैं अथवा भिन्न हैं ऐसा मानना द्रव्यार्थिकका तथा पर्यायार्थिकका स्वरूप है। परंतु रत्नत्रयमें भेदपूर्वक अथवा अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना व्यवहार तथा निश्चय मोक्षमार्ग है। इससे ऊपरके श्लोकोंमें निश्चय रत्नत्रयका जो समर्थन किया है उसका भी यही तात्पर्य है कि भेदाभेद प्रवृत्तिको व्यवहार तथा निश्चयरूप रत्नत्रय कहना चाहिये और रत्नत्रयके भेदाभेदरूप माननेको पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक नय कहना चाहिये।

तत्त्वार्थसार ग्रंथका प्रयोजन—

तत्त्वार्थसारमिति यः समधिर्विदित्वा, निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह,-श्चैतन्यरूपमचलं शिवतत्त्वमेति ॥ २२ ॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् संसारसे उपेक्षित हुआ प्राणी इस तत्त्वार्थसार ग्रन्थको अथवा तत्त्वार्थके सारको इस उक्त प्रकारसे समझकर निश्चलताके साथ मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगा वह मोहका नाश करता हुआ संसारबन्धनको दूरकरके निश्चल चैतन्य स्वरूपी मोक्षतत्त्वको प्राप्त करसकता है।

ग्रंथकर्ताकी नम्रता—

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः। वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम् ॥ २३ ॥

अर्थ—वर्णोंसे पद बन गये हैं। पद वाक्योंको बनानेवाले हैं। वाक्योंसे यह शास्त्र बनगया है। कोई यह न समझे कि हमने इस शास्त्रको रचा है।

जब कि सर्वस्व लिखनेवाले ग्रन्थकार अपनी इस प्रकार नम्रता दिखारहे हैं तो हम सिद्धान्तको न समझते हुए ही थोडासा इस ग्रन्थका तात्पर्यार्थ दिखाकर कर्तृत्वका परिहार और अधिक किन शब्दोंमें कहें? इसलिये हम अब यही कहेंगे कि यदि हमारे लिखनेमें कुछ तात्पर्यार्थ सत्य हो तो वह हमारे गुरुकी ही कृपा है।

गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादुमद्वचः। तरूणां हि स्वभावोऽयं यत्फलं स्वादु जायते ॥

(श्रीगुणभद्रस्वामी)

इति उपसंहार।

ग्रन्थ समाप्तिः।